भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रकाशित

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

प्रथम भाग

तीर्थंकर चरितावली

प्रेरक

अध्यात्म योगी प्रमुख आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज विद्यालंकार

लेखक

बलभद्र जैन

प्रकाशक

मे० केशरीचन्द्र श्रीचन्द्र चावलवाले

नया बाजार, दिल्ली-६

प्रकाशक
मैसर्स केशरीचन्द्र श्रीचन्द्र चावलवाले
नया बाजार, दिल्ली६

प्रथमावृत्ति : ११००
वीर नि० सवत् : २५००

मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक
राजस्थानी प्रिंटिंग एजेन्सी द्वारा
एस० नारायण एण्ड संस ७११७/१८
पहाड़ी धीरज, दिल्ली-६ मे मुद्रित
फोन : ५१३६६८

प्राक्कथन

पुराण बनाम इतिहास

प्रत्येक सस्कृति, देश और जाति का अपना एक इतिहास होता है। इतिहास तथ्यों का सकलन मात्र नही है, अपितु परिस्थितियो के परिप्रेक्ष्य मे उत्थान और पतन, विकास और अवनति, जय और पराजय की पृष्ठभूमि और तथ्य सकलन ही इतिहास कहलाता है। देश और जाति के समान व्यक्ति और धर्म का भी इतिहास होता है। वस्तुत धर्म का इतिहास भी व्यक्तियों का ही इतिहास होता है क्योंकि धर्म धार्मिकों के उच्च नैतिक आचार और आदर्शों में ही परिलक्षित होता है। व्यक्तियो और धर्म के इतिहास का एकमात्र प्रयोजन वर्तमान और भावी पीढ़ी को प्रेरणा देना होता है, जिससे वह भी उन आचारों और आदर्शों को जोवन व्यवहार का अभिन्न अग बनाकर अपने जीवन को उस उच्च भूमिका तक पहुँचा सके। इससे मनुष्य के निजी जीवन मे तो शान्ति और सन्तोप का अनुभव होता ही है, उसके व्यवहार में जिन व्यक्तियों का सम्पर्क होता है, उन्हे भी शान्ति और सन्तोष की अनुभूति हुए बिना नही रहती।

इतिहास लेखन की परम्परा अति प्राचीन काल से उपलब्ध होती है। किन्तु प्राचीन काल के महापुरुषों का चरित्र जिन ग्रन्थो मे गुम्फित किया गया है, उनका नाम इतिहास न होकर पुराण रखा गया है और इतिहास की सीमाङ्कित अवधि और उसके पश्चात्काल के महापुरुषो का चरित्र-चित्रण जिन ग्रन्थो में किया गया है अथवा किया जाता है, उसका नाम इतिहास, इतिवृत या ऐतिह्य कहलाता है। यद्यपि पुराण भी इतिहास ही होता है, किन्तु पुराण और इतिहास में कुछ मौलिक अन्तर भी होता है। 'इतिहास केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है, परन्तु पुराण महापुरुषो के जीवन में घटित घटनाओ का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्य फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा साथ ही व्यक्ति के चरित्र निर्माण की अपेक्षा बीच बीच में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिहास में केवल वर्तमानकालिक घटनाओ का उल्लेख रहता है परन्तु पुराण में नायक के अतीत अनागत भावो का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिये कि जन साधारण समझ सकें कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है। अवनत से उन्नत बनने के लिये क्या-क्या त्याग और तपस्याये करनी पड़ती है। मनुष्य के जीवन निर्माण मे पुराण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्ण अक्षुण्ण है।'

भारत के प्राचीन जैन, वैदिक और बौद्ध धर्मों में से बौद्ध धर्म में पुराण-साहित्य नही मिलता। उसमें जातक नाम से कथाये दी गई है। किन्तु जैन और वैदिक धर्म में पुराण साहित्य विपुल परिमाण में उपलब्ध होता है। वैदिक धर्म मे १८ पुराण है। ये महापुराण कहलाते है। १८ उपपुराण भी हैं। महापुराणो के नाम इस प्रकार है—१ मत्स्य पुराण, २ मार्कण्डेय पुराण, ३ भागवत पुराण, ४ भविष्य पुराण, ५ ब्रह्माण्ड पुराण, ६ ब्रह्मवैवर्त पुराण, ७ ब्राह्म-पुराण, ८ वामन पुराण, ९ वराह पुराण, १० विष्णु पुराण, ११ वायु पुराण, १२ अग्नि पुराण, १३ नारद पुराण १४ पद्म पुराण, १५ लिग पुराण, १६ गरुड़ पुराण, १७ कूर्म पुराण और १८ स्कन्द पुराण।

उपपुराणो के नाम इस प्रकार हैं—१ सनत्कुमार, २ नरसिंह, ३ स्कन्द, ४ शिवधर्म, ५ आश्चर्य, ६ नारद

७ कपिल, ८ वामन, ९ उशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ वरुण, १२ कालिका, १३ महेश्वर, १४ साम्ब, १५ सौर, १६ पराशर, १७ मारीच और १८ भार्गव।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पुराण उपलब्ध है। इतिहासकार इनका निर्माण-काल ईसा की तीसरी से आठवी शताब्दी मानते है। कुछ विद्वान रामायण और महाभारत की भी गणना पुराण साहित्य मे करते है।

जैन धर्म मे वैदिक धर्म की तरह पुराणो और उपपुराणो का विभाग नही मिलता। जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा मे पुराण साहित्य विपुल परिमाण मे मिलता है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मे पुराण नामक साहित्य का अभाव है। दिगम्बर परम्परा मे सस्कृत, अपभ्र श और कन्नड भाषा में ज्ञात पुराणो की सख्या ५० से ऊपर है जिनमें भगवज्जिनसेन का आदि पुराण, आचार्य गुणभद्र का उत्तर पुराण, आचार्य जिनसेन का हरिवश पुराण, आचार्य रविषेण का पद्म पुराण सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त कवि पप का आदि पुराण (कन्नड), महाकवि पुष्पदन्त का महापुराण (अपभ्रश), कविवर रइधू का पद्म पुराण (अपभ्रश) और कवि स्वयम्भू का पउमचरिय (अपभ्र श) भी साहित्य जगत में गौरवपूर्ण स्थान रखते है।

जैन वाङ्मय को चार भागो में विभाजित किया गया है, जिन्हे चार अनुयोग कहा जाता है। उनके नाम इस प्रकार है—द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोग। इनमे प्रथमानुयोग मे पुराण, आख्यायिका, कथा और चरित ग्रन्थ सम्मिलित है। जैन साहित्य मे प्रथमानुयोग सबधी ग्रन्थो की सख्या विपुल परिमाण में है। इन ग्रन्थो मे, विशेषतः पुराण ग्रन्थो में प्राचीन राजवशो और महापुरुषो का इतिहास सुरक्षित है। इसलिए यह कहा जाता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने के लिये जैन पुराणो और कथा ग्रन्थो से बडी सहायता प्राप्त होती है। जैन पुराणो की अपनी विशिष्ट वर्णन-शैली अवश्य है, किन्तु उसमे इतिहास की जो यथार्थता सुरक्षित है वह जैनेतर पुराणो मे देखने को नही मिलती। जैन पुराणो और कथा ग्रन्थो की एक विशेषता की ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है। उनकी मूल कथावस्तु में विभिन्न लेखको मे कोई उल्लेखनीय मतभेद दृष्टिगोचर नही होता, जब कि जैनेतर पुराणो मे कथावस्तु मे भारी अन्तर और मतभेद दिखाई पड़ते है। उसका मुख्य कारण यह है कि भगवान महावीर के पश्चात् आज तक आचार्यो की अविच्छिन्न परम्परा रही है। उन्होने गुरु मुख से जो सुना और अध्ययन किया, उसको उन्होने अपनी रचना मे ज्यो का त्यो गुम्फित कर दिया। इसलिये दिगम्बर और श्वेताम्बर पुराणो और आगमो के कथानको में भी प्राय. एकरूपता मिलती है। इसलिये उनकी प्रामाणिकता असदिग्ध है। यहाँ उनकी विश्वसनीयता के लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। जैनेतर पुराणो मे हनुमान, नल, नील, जामवन्त, रावण आदि प्रसिद्ध पुरुषो को बानर, रीछ, राक्षस आदि लिखा है, जब कि जैन पुराणो ने उन्हे विद्याधर लिखा है और उनकी जाति का नाम बानर, रीछ, राक्षस आदि दिया है। जैन पुराणो मे विद्याधरो और उनके विभिन्न वज्ञानिक अनुसधानो और उपलब्धियो का विस्तृत वर्णन मिलता है। जैन पुराणो मे वर्णित इन विद्याधर जातियो की सत्ता प्राचीन काल मे थी, इन बात को नृवश विज्ञान और विद्वानो ने सिद्ध कर दिया है। अत कहा जा सकता है कि जैन पुराण कल्पना और किम्वदन्तियो पर आधारित न होकर पूर्वाचार्यो की अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त तथ्यों पर आधारित है।

धर्म के इतिहास की आवश्यकता

किसी धर्म का इतिहास उसके उत्थान-पतन, प्रचार और ह्रास का इतिहास होता है। किन्तु उसका कोई स्वतत्र इतिहास नही होता। धर्म कोई मूर्तिमान स्थूल पदार्थ नही है; वह तो जीवन के उच्च नैतिक व्यवहार मे परिलक्षित होता है। धर्म-सस्थापना के दो उपाय है—हृदय-परिवर्तन और दण्ड-भय। धर्मनायक प्रथम उपाय करते है, जबकि लोकनायक दूसरा उपाय काम मे लाते है। जिन्होने जीवन में धर्म का पूर्ण व्यवहार करके अपने जीवन को धर्ममय बना लिया है और दूसरो को उस धर्म का उपदेश देते है, वे धर्म नायक होते है। मुख्य धर्मनायक तीर्थकर होते है। वे जन्म-जन्मान्तरो की धर्म साधना द्वारा तीर्थकर जीवन मे धर्म के मूर्तिमान स्वरूप बन जाते है। क्योकि उनके जीवन मे किसी प्रकार की मानवीय दुर्बलता, मानसिक, आत्मिक और दहिक

दुर्बलता नही रहती, अत· वे कल्याण का उपदेश देकर असख्य प्राणियो के जीवन को धर्ममय बनाने मे सफल होते हे । दूसरा उपाय है दण्ड द्वारा लोक जीवन को अधर्म से विमुख करना । ऐसे व्यक्ति लोकनायक कहलाते हैं । इन लोक नायकों में मुख्य चक्रवर्ती, नारायण और बलभद्र होते हे । पहला उपाय सृजनात्मक है और दूसरा निषेधात्मक । पहला उपाय है—अधार्मिको के जीवन मे से अधर्म दूर करके उन्हे धार्मिक बनाना अर्थात् हृदय परिवर्तन द्वारा धर्म को स्थापना जब कि दूसरा उपाय है—अधर्मियो और दुष्टो को दण्ड भय द्वारा अधर्माचरण और दुष्टता से रोकना। न मानने पर उन्हे दण्डित करना । हृदय परिवर्तन का प्रभाव स्थाई होता है । प्राणी का कल्याण हृदय-परिवर्तन द्वारा ही हो सकता है, जब कि दण्ड केवल भय उत्पन्न करके अस्थाई रूप से दुष्टता का निवारण कर सकता है। इसलिये धर्म नायक तीर्थकरो की मान्यता और प्रभाव सर्वोपरि है ।

इन धर्मनायको का इतिहास पुराणो और कथा ग्रन्थो मे सुरक्षित है किन्तु लोक भाषा में एक ही ग्रन्थ मे सब नायकों का इतिहास नही मिलता । इसलिये ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है, जिसमे सरल भाषा और सुबोध शैली मे इन धर्मनायकों और लोकनायको का इतिहास हो ।

प्रस्तुत ग्रन्थ-निर्माण का इतिहास

उपर्युक्त आवश्यकता के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास' की सयोजना की गई है। इस सयोजना के सूत्रधार पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज रहे है । उनकी हार्दिक इच्छा थी कि भगवान महावीर के २५०० वे निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य मे एक ऐसे ग्रन्थ का निर्माण किया जाय, जिसमे चोबीस तीथ-करों का पावन चरित्र गुम्फित हो । साथ ही जिसमे चक्रवर्तियो, बलभद्रो, नारायणो और प्रतिनारायणो का भी चरित्र हो। उन्होंने अपनी यह इच्छा मुझ पर व्यक्त की और यह कार्य भार लेने के लिये मुझे आदेश दिया । मैं आजकल 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थो का इतिहास' तैयार करने मे व्यस्त हूँ, जो भारतीय ज्ञानपीठ के तत्वावधान मे भारत-वर्षीय दिगम्बर जैन तीथ क्षेत्र कमेटी की ओर से पाँच भागो में तैयार हो रहा है। इस व्यस्तता के कारण मैने विन-म्रतापूर्वक आचाय महाराज से अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी । किन्तु आचार्य महाराज ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता और उपयोगिता का तीव्रता से अनुभव कर रहे थे । उन्होंने स्वनामधन्य साहू शान्ति प्रसाद जी से अपनी यह इच्छा व्यक्त की । साथ ही उन्होंने यह दायित्व मुझे सौपने का आग्रह किया । मान्य साहू जी भी ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता मे सहमत थे । अत उन्होने मुझसे यह दायित्व स्वीकार करने की प्रेरणा की । मै इस दायित्व की गुरुता का अनु-भव कर रहा था । किन्तु मै इन सम्माननीय और कृपालु महानुभावो की आज्ञा की उपेक्षा करने का साहस न कर सका और मैने बडे सकोच के साथ यह दायित्व ओढ लिया।

तभी मैने विचार किया कि यदि त्रेसठ शलाका पुरुषो के चरित्र की तरह भगवान महावीर की परम्परा के दिगम्बर जैन आचार्यो, भट्टारको, कवियो और लेखको का भी इतिहास तैयार किया जा सके तो भगवान ऋषभ देव मे लेकर अबतक का दिगम्बर जैन धर्म का यह एक सर्वाङ्ग सम्पूर्ण इतिहास हो जायगा । अब तक न तीर्थकरो आदि का चरित्र आधुनिक शैली में हिन्दी भाषा में लिखा गया और न आचार्यों के इतिहास से सम्बन्धित ही कोई ग्रन्थ लिखा गया । तीर्थकरो आदि के चरित्र प्राचीन पुराणो आदि मे तो अवश्य गुम्फित मिलते है, किन्तु एक तो वे प्राकृत, सस्कृत या अपभ्रश भाषा मे है, दूसरे उनकी अपनी वर्णन शैली है, जिसमे कथाओ मे अवान्तर कथाये, भव-भवान्तरो का निरूपण, उपमा और उत्प्रेक्षा अलकारो के द्वारा चरित्र निरूपण और सिद्धान्तो और उपदेशो की बहुलता रहती है। आज का व्यस्त किन्तु जिज्ञासु पाठक सरल भाषा में सक्षेप मे तीर्थ-करो आदि का चरित्र पढना चाहता है । इसी प्रकार जैनाचार्यों, भट्टारको आदि के सम्बन्ध मे पत्र-पत्रिकाओ और ग्रन्थो की भूमिकाओ में परिचयात्मक सामग्री तो निकलती रही है, किन्तु समस्त आचार्यों आदि का परिचयात्मक इतिहास सम्बन्धी कोई एक ग्रन्थ अबतक प्रकाशित नही हुआ । श्वेताम्बर आचार्यो के सम्बन्ध में तो इस प्रकार के कई ग्रन्थ निकल चुके है, किन्तु दिगम्बर आचार्यों के सम्बन्ध में इस प्रकार का कोई प्रामाणिक ग्रन्थ आज तक प्रगट नही हुआ।

यही विचार करके मैने जैन इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान प० परमानन्द जी शास्त्री से आचार्यो सम्बन्धी खण्ड का दायित्व स्वीकार करने के लिए अनुरोध किया। मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई, जब उन्होने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लिया।

मैंने अपनी यह योजना पूज्य आचार्य महाराज के समक्ष रक्खी। मुझे अत्यन्त हर्ष है कि पूज्य आचार्य महाराज ने भी कृपापूर्वक इस योजना से अपनी सहमति व्यक्त की और उसे तत्काल स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार 'जैनधर्म का प्राचीन इतिहास' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ दो भागो मे प्रकाशित करने की योजना बन गई। इसका प्रथम भाग तीर्थंकर चरितावली सम्बन्धी है जो आपके हाथों में है तथा दूसरा भाग महावीर और उनकी सघ परम्परा से सम्बन्धित है जो इस ग्रन्थ के साथ ही प्रकाशित हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भाग १ में आदि पुराण, उत्तर पुराण, हरिवश पुराण, पद्म पुराण, पासणाहचरिउ, असग कवि कृत वर्द्धमान पुराण, जैनेतर पुराणो तथा अनेकात आदि पत्रो से सहायता ली गई है। इतिहास और पुरातत्व के लिए तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। इसके लिए उनके लेखको और सम्पादको का मै ऋणी हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ भाग १ में चौबीस तीर्थकरो का चरित्र पौराणिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे निबद्ध किया गया है। प्रसगवश उनके तीर्थ मे होने वाले चक्रवर्तियों, बलभद्रो, नारायणो और प्रतिनारायणो का भी चरित्र दिया गया है। पाठको की जिज्ञासा के समाधान की दृष्टि से जैन दृष्टिकोण मे रामचरित और कृष्ण चरित भी विस्तार के साथ दिए गए है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी महापुरुष के जीवन चरित्र पर किसी सम्प्रदाय विशेष का अथवा किसी ग्रन्थ विशेष का एकाधिकार नही है। ऐसा आग्रह करना महापुरुष की महत्ता और व्यापकता को कम करना है। महापुरुष सबके होते है। उनको लेकर सबको गर्व और गौरव करने का अधिकार है। इसलिए वे देश, काल, जाति और सम्प्रदाय की सीमा मे अतीत होते है। सभी सम्प्रदायो ने अपने अपने दृष्टिकोण से उनका जीवन विभिन्न भाषाओ मे गुम्फित किया है। इससे उनके जीवन के विविध रग और वैविध्य उभर कर हमारे समक्ष प्रगट होते है। यदि कोई अपने ही रग को यथार्थ और दूसरे रगो को अयथार्थ कहता है तो यह उसका दुस्साहस ही कहना चाहिए।

तीर्थ शब्द की परिभाषा

तीर्थ शब्द की व्युत्पत्ति तृधातु के साथ थक् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होती है। इस शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार है—'तीर्यते। अनेन वा। तृ प्लवन-तरणयो (भ्या० प० सै०) 'पातृ तुदि'—(उ० २।७) इति थक्'। अर्थात् जिसके द्वारा अथवा जिसके आधार से तरा जाय।

जैन शास्त्रो मे तीर्थ शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो मे किया गया है। यथा—

> **'संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते।**
> **चेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा ॥**
>
> — भगवज्जिनसेनकृत आदि पुराण ४/८

अर्थात् जो इस अपार संसार-समुद्र से पार करे, उसे तीर्थ कहते है। ऐसा तीर्थ भगवान जिनेन्द्र का चरित्र ही होता है। अत उसके कथन करने को तीर्थाख्यान कहते है।

परमागम षट्खण्डागम (भाग ८, पृ० ६१) मे तीर्थकर को धर्मतीर्थ का कर्ता बताया है। आदिपुराण (२।३९) में मोक्ष-प्राप्ति के उपायभूत सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को तीर्थ बताया है। इसी शास्त्र मे श्रेयान्सकुमार को दान तीर्थ का कर्त्ता बताया है। आवश्यक निर्युक्ति मे चातुर्वर्ण अर्थात् मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध सघ अथवा चतु वर्ण को तीर्थ माना है। आचार्य समन्तभद्र ने युक्त्यनुशासन ६२ मे भगवान् जिनेन्द्रदेव के शासन को सर्वोदय तीर्थ बताया है। इन्ही आचार्य ने वृहत्स्वयभूस्तोत्र में मल्लिनाथ

भगवान की स्तुति करते हुए उनके तीर्थ को जन्म-मरण रूप समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिए तरण-पथ बताया है।

तीर्थ के कर्ता तीर्थंकर

तीर्थंकर तीर्थ के कर्त्ता होते है। वे धर्म-तीर्थ की पुनः स्थापना करते हैं। तीर्थंकर केवल चतुर्थ काल मे ही उत्पन्न होते हैं। वही काल उनकी उत्पत्ति के अनुकूल होता है। एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल में तीर्थकरो की सख्या २४ ही होती है। न इससे कम, न इससे अधिक। इसे हम प्रकृति का नियम कह सकते है। वे किसी अव्यक्त शक्ति के अवतार नही होते। जैन धर्म में ससार की उत्पत्ति, विनाश और सरक्षण करने वाली कोई ऐसी अव्यक्त शक्ति नही मानी है, जो ससार का सचालन करती हो। बल्कि ससार में जो जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक षड् द्रव्य हैं, उनके अपने स्वभाव और कार्य-कारण भाव से ससार का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य माना है। आधुनिक विज्ञान भी इस कार्य कारण भाव को स्वीकार करता है। तीर्थकर भी मनुष्य होते है, किन्तु सामान्य मनुष्यों मे असाधारण होते है। उनमें वह असाधारणता तीर्थकर नाम कर्म के कारण होती है। तीर्थंकर नाम का एक कर्म होता है। उस कर्म का बन्ध उस व्यक्ति को होता है, जिसने किसी तीर्थंकर, केवली या श्रुतकेवली के पाद मूल मे किसी जन्म मे ग्यारह अगो का अध्ययन किया हो, दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तन किया हो तथा भावना की हो कि मैं ससार के दुखी प्राणियों का दु ख किस प्रकार दूर करूँ। ऐसी उच्च भावना और आशय वाले व्यक्ति को तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध होता है। तीर्थकर नामक कर्म प्रकृति महान पुण्य का फल होती है। इसलिये शास्त्रो मे इस कर्म प्रकृति के लिये कहा गया है-'पुण्ण फला अरहन्ता'। इस महान पुण्य फल वाली तीर्थकर प्रकृति का बन्ध करके वह व्यक्ति किसी जन्म मे तीर्थंकर बनता है। तीर्थंकर केवल क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होता है। चूंकि तीर्थकर असाधारण पुण्य सचय करके उत्पन्न होते है, इसलिए असाधारण पुण्य के फलस्वरूप उन्हे असाधारण सासारिक लक्ष्मी प्राप्त होती है। उनके असाधारण पुण्य का ही यह फल है कि इन्द्र, देव, मनुष्य और तिर्यच उनके चरणो के सेवक बन जाते है। उनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण के अवसर पर इन्द्र और देव यहाँ आकर उनकी स्तुति करते है। और पाचो अवसरो पर, जिन्हे कल्याणक कहा जाता है, वे उत्सव मनाते है। वे अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये उनके गर्भ मे आने से छह माह पूर्व से गर्भ काल अर्थात् पन्द्रह मास तक रत्न वर्षा करते है। केवल ज्ञान होने पर उनके लिए समवसरण की रचना करते है तथा विभिन्न अवसरो पर अपनी भक्ति का प्रदर्शन दैवी रीति से करते है जो मनुष्य लोक को विस्मयकारी और अद्भुत प्रतीत होता है।

विदेह क्षेत्र में भरत क्षेत्र मे भिन्न प्राकृतिक नियम है। वहाँ चौवीस नही, बीस तीर्थकर होते हैं और सदा बीस ही विद्यमान रहते है। उनके जो नाम समझे जाते है, उन्ही नामो से तीर्थकर के निर्वाण होने पर दूसरा तीर्थंकर उस स्थान की पूर्ति कर देता है। वहाँ पाच कल्याणको का भी नियम नही है। वहाँ किसी तीर्थंकर के पाच कल्याणक होते है, किसी के कम। कम से कम दो कल्याणक अवश्य होते है-केवल ज्ञान और निर्वाण कल्याणक।

इस भरत क्षेत्र के २४ तीर्थकरो में ५ तीर्थंकरो ने विवाह नही किया था। वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। उनके नाम है-वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर। दिगम्बर परम्परा में ऐसी ही मान्यता है। श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आगम ग्रन्थो की मान्यता भी इसी प्रकार है, किन्तु 'कल्पसूत्र' के काल से इससे भिन्न मान्यता का प्रचलन प्रारम्भ हो गया। उसके पश्चात्कालीन श्वेताम्बर आचार्यों ने भी उसी मान्यता का अनुकरण किया। किन्तु उनमे भी मत-विभिन्नता उपलब्ध होती है। वासुपूज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ अविवाहित रहे तथा महावीर ने विवाह किया, इस विषय में उन आचार्यों में ऐकमत्य पाया जाता है। किन्तु पार्श्वनाथ के विवाह के सम्बन्ध में उनमें भी मतभेद है, यहाँ तक कि हेमचन्द्राचार्य ने 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र' में एक स्थान पर पार्श्वनाथ को विवाहित लिखा है और दूसरे स्थान पर उन्हें अविवाहित घोषित किया है। लगता है,

हेमचन्द्र को पार्श्वनाथ के विवाहित होने की कल्पना रुची नहीं। कल्पसूत्रकार और उसका अनुसरण करने वाले आचार्यों को प्राचीन परम्परागत मान्यता के विरुद्ध महावीर आदि को विवाहित होने की नवीन कल्पना क्यों करनी पड़ी, यह अवश्य अनुसन्धान का विषय है। संभवतः उन्हें इस विषय में बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित बुद्ध चरित्र अनुकरणीय प्रतीत हुआ हो।

इसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा मे महावीर का ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आना, फिर इन्द्र की आज्ञा से नैगमेषी देव द्वारा उस गर्भस्थ शिशु को त्रिशला के उदर मे पहुँचाना विज्ञान की लाख दुहाई देने पर भी बुद्धि को रुचता नही है। श्वेताम्बर विद्वान् प० सुखलाल जी सघवी इस कल्पना को कृष्ण के गर्भपरिवर्तन की कल्पना का अनुकरण मानते हैं।

दिगम्बर परम्परा मे यह मान्यता है कि तीर्थंकर दीक्षा लेने पर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक अर्थात् छद्मस्थ काल में मौन रहते हैं। किन्तु श्वेताम्बर मान्यता ऐसी नही है। वहाँ महावीर को छद्मस्थ काल में चण्डकौशिक सर्प को उपदेश देते हुए बताया है।

इन मान्यता - भेदो का उल्लेख इसलिए किया गया है जिससे तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे सामान्य नियमों की एकरूपता दृष्टि मे आ सके। प्रस्तुत ग्रन्थ मे, तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में जहाँ मान्यता भेद है, उसका निष्पक्ष दृष्टि से उल्लेख किया गया है।

प्रत्येक तीर्थंकर के मुनि सघ में सात प्रकार के सघ होते हैं— पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, विक्रिया ऋद्धिधारी, विपुल मति और वादी। इसी सप्त संघ के आधार पर प्रत्येक तीर्थंकर के मुनियो की सख्या इस ग्रन्थ में दी गई है।

एक तीर्थंकर का तीर्थकाल आगामी तीर्थंकर के तीर्थ-स्थापन तक रहता है। इस प्रकार धर्म की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। किन्तु इस हुण्डावसर्पिणी के काल-दोष से सात काल ऐसे आये, जब धर्म की व्युच्छित्ति हो गयी। ये सात समय सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ और धर्मनाथ के तीर्थकाल मे आये। शेष तीर्थंकरो के काल में धर्म की परम्परा निरन्तर चलती रही। इसका कारण यह था कि उस समय किसी ने दीक्षा नही ली थी। उक्त सात तीर्थों में क्रम से पावपल्य, अर्द्धपल्य, पौनपल्य, पल्य, पौन पल्य, पल्य, और पाव पल्य प्रमाण धर्म-तीर्थ का उच्छेद रहा।

अन्तिम निवेदन और आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत ग्रन्थ समय की आवश्यकता का परिणाम है। समाज मे बहुत समय से इस आवश्यकता का तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था। यह आवश्यकता थी-तीर्थंकरो का चरित्र पौराणिक शैली से उबार कर आधुनिक परिप्रेक्ष्य, भाषा और शैली में निबद्ध किया जाय किन्तु शैली बदलने पर भी उसके मूल रूप अर्थात् मौलिक चरित्र को और विशेषताओ को सुरक्षित रक्खा जाय। इसके साथ-साथ यदि उनके व्यक्तित्व का समर्थन जैनेतर ग्रन्थो, इतिहास और पुरातत्व से किया जा सके तो किया जाए। ऐसे चरित्र-ग्रन्थ से तीर्थंकरो का सही परिचय पाठको को मिल सकेगा।

परम पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज ने इस प्रकार के ग्रन्थ की आवश्यकता बताते हुए मुझे इसे तैयार करने का अवसर प्रदान किया। इस कृपा के लिए मै पूज्य आचार्य श्री का ऋणी हूँ। जो कुछ भी और जिस रूप मे भी यह ग्रन्थ तैयार हो सका है, वह सब आचार्यश्री के आशीर्वाद का परिणाम है। उन्होंने न केवल मुझे यह अवसर प्रदान किया, बल्कि उन्ही की कृपा से इसके प्रकाशन के सब साधन जुट सके। आचार्यश्री की मेरे ऊपर सदा से कृपा रही है। यह मेरा परम सौभाग्य है। उनके चरणो मे मेरा बार-बार नमोऽस्तु।

सभवतः यह ग्रन्थ तैयार न हो पाता, यदि माननीय साहू शान्तिप्रसादजी इसके लिए मुझे प्रेरणा न करते। मै इसके लिये उनके प्रति अपनी आभार भावना व्यक्त करना अपना कर्तव्य मानता हूँ।

श्री मती एवं श्री लाला श्री चन्द जैन चावल वाले

इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे श्री लाला केशरीचन्द्र श्रीचन्द्र चावल वाले दिल्ली ने सम्पूर्ण आर्थिक सहयोग दिया। आप अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति है। आप आचार्य श्री के अनन्य भक्तो में से हैं। आपका स्वभाव अत्यन्त सरल, सौम्य एव उदार है। धार्मिक कार्यों में आप समय-समय पर मुक्तहस्त दान देकर अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग किया करते है। आपकी उदारता सराहनीय है। मै आपके अमूल्य योगदान के लिये हृदय से आपका आभारी हूँ।

मैं सम्राट प्रेस के प्रोप्राइटर और अपने मित्र श्रीनारायण सिंह जी शास्त्री के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रगट करता हूँ जिन्होंने इसके मुद्रण मे व्यावसायिक भावना के स्थान पर अपनत्व की भावना को अपनाया। उनका तथा उनके कर्मचारियो का मुझे सदा पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ।

अन्त मे विद्वान् पाठको से निवेदन है कि इस ग्रन्थ में प्रमाद या अज्ञानवश कही कोई स्खलन हुआ हो अथवा कोई त्रुटि उनकी दृष्टि मे आवे तो वे कृपा करके उसको सूचना मुझे अवश्य देने का कष्ट करे, जिससे आगामी सस्करण मे वे सुधारी जा सके।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा
वीर निर्वाण संवत् २५००

बलभद्र जैन
(भूतपूर्व सपादक दैनिक सन्देश, जैन सन्देश, दिव्यध्वनि)

भूल-शुद्धि

इस ग्रन्थ मे एक बहुत भयंकर भूल हो गई है। पृष्ठ सख्या १४४ से आगे पृष्ठ सख्या १६१ चालू हो गई है। बीच के १६ पृष्ठो की सख्या छूट गई है। पाठ्य सामग्री तो पूरी है किन्तु पृष्ठ सख्या छूट गई है। इस भूल के लिये हमे हार्दिक दु ख है। पाठकों की सूचना के लिये यह निवेदन किया गया है, जिससे उन्हे कोई भ्रम न हो।

—बलभद्र जैन

विषयानुक्रमणिका

भरत-बाहुबली खण्ड

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पंचम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

त्रयोदश परिच्छेद

चतुर्दश परिच्छेद

पंचदश परिच्छेद

षोडश परिच्छेद

सप्तदश परिच्छेद

अष्टादश परिच्छेद

एकोनविंशति परिच्छेद

विंश परिच्छेद

एकविंश परिच्छेद

द्वाविंश परिच्छेद

त्रयोविंशतितम परिच्छेद

चतुर्विंशतितम परिच्छेद

पंचविंशतितम परिच्छेद

षड्विंशतितम परिच्छेद

सप्तविंशतितम परिच्छेद

———

चौबीस तीर्थंकरों के चिन्ह

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

तीर्थंकर चरितावली

प्रथम भाग

❖ ❖

प्रथम परिच्छेद

जैन धर्म

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। क्षुद्र कीट पतग से लेकर महान शक्ति-सामर्थ्य और ज्ञान विवेक से युक्त देव और मानवो तक सभी की इच्छा और प्रयास सुख की प्राप्ति के लिये ही होता है। अपनी इच्छा और कामना की पूर्ति मे ही सुख समाया रहता है। दूसरो द्वारा बलात् थोपा गया सुख पीडा ही निपजाता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी सुख की अभिलाषा करता है और उसका काम्य सुख स्वाधीनता मे प्रगट होता है। अर्थात् साध्य सबका सुख है और उसका साधन स्वाधीनता है। स्वाधीनता के बिना सुख मिलता नही, पराधीनता मे दुःख जाता नही। स्वाधीनता हो तो सुख मिल सकता है। इसलिए सुख की उपलब्धि स्वाधीनता के बिना सभव नही है। इसलिये कहना होगा कि सुख और स्वाधीनता ही विश्व का अनादि सत्य है और यही चरम सत्य भी है।

विश्व का अनादि सत्य

किन्तु यह भी सत्य है कि समग्र प्राणधारी सत्व, विश्व के समस्त जीव सुख चाहते है, प्रयत्न भी सुख के लिये करते है, किन्तु उनके हर प्रयत्न का परिणाम दुःख होता है, उनके सारे आयोजनो का परिपाक अनचाहे दुःख में होता है। सुख के लिये उनकी यह दौड मृग-मरीचिका बनकर रह जाती है। यह कैसी विडम्बना है कि सब सुख चाहते है, किन्तु सुख मिलता नही, दुःख नही चाहते, किन्तु दुःख टलता नही। दुःख के कटु बीज बोकर सुख के मीठे फल लगेगे, यह कभी सभव नही। किन्तु प्रत्येक जीव आशा यही करता है। क्षुद्र प्राणियो की तो बात ही क्या है, बुद्धि के कौशल से सुविधा के साधनो का अम्बार इकट्ठा करने वाले मनुष्य को भी अभी समझना शेष है कि सुख के स्वादिष्ट फल सुख के वृक्ष पर ही लगेगे और सुख का वह वृक्ष सुख का बीज बोकर ही उगेगा।

सुख का बीज स्वाधीनता है। दुःख कोई दूसरा नही देता, दुःख पर की आधीनता से आता है। सुख कोई दूसरा देता नही है, सुख स्वाधीनता मे से आता है। सुख और दुःख का यह विचार अनुभव मे से निकला है। यह दर्शन शास्त्र का दुरूह तत्व नही, यह चिन्तन का सहज फल है। दुःख मिलता है तो उसका कोई कारण भी रहा होगा। विचार करते है तो दृष्टि की पकड मे दोष दूसरो का आता है। इसलिये उपालम्भ भी दूसरो को देते है। दुःख से बिलबिलाते है किन्तु दूसरो को उपालम्भ देकर हम उसका निदान करने की झझट से बच जाते है। इससे दुःख की मात्रा तो कम होती नही, उपालम्भ की मात्रा बढ जाती है। दुःख का यही एकमात्र निदान व्यक्ति के

पास शेष रह गया है। किन्तु क्या इससे दु खो से मुक्ति मिल जाती है ? निश्चय ही नही मिलती। तब समझना चाहिये कि दु ख का यह निदान ही गलत है। सही निदान हो तो सही उपचार की आशा की जा सकती है। गलत निदान हो तो रोग की हर औषधि व्यर्थ हो जाती है।

दु ख प्राणी मात्र का रोग है आज का नही, अनादि का रोग है। इस रोग को दूर करना है तो उसका सही निदान करना ही होगा। रोग का कारण पकड में आ जाय तो उस कारण को दूर करके रोग दूर किया जा सकेगा। रोग का कारण बना रहे और रोग दूर हो जाय, यह कभी सभव नही हो सकेगा।

ससार की प्रत्येक वस्तु मुलत शुद्ध है और स्वतन्त्र भी। जब दूसरे तत्व से ससर्ग होता है, तब वस्तु अपने मूल रूप को छोडकर अशुद्ध बनती है, उसमें विकार आता है। वह पराधीन होकर ही विकारी बनती है। संसार में प्राणी नाम का कोई मूल तत्व नही है। प्राणी तो प्राणधारी को कहते है। प्राण दस है—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाच इन्द्रिया, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु। ससार के प्रत्येक प्राणधारी जीव में इन दस प्राणो में से कम से कम चार प्राण और अधिक से अधिक दस प्राण होते हैं। इन प्राणो को लेकर ही जीवन है। प्राण है, इसीलिये तो वह प्राणी कहलाता है। किन्तु प्राण शाश्वत रहने वाले नही हैं। आयु की मर्यादा को लेकर प्राण हैं। आयु समाप्त होते ही प्राणो का वियोग हो जाता है। इसलिये प्राण नामक कोई मूलतत्व नही है। आत्मा मूल तत्व है, प्राण उसके साथ सयुक्त है। अत. कहना होगा कि आत्मा और प्राण दो भिन्न वस्तु हैं। इसके साथ प्राणो का सयोग-वियोग चलता रहता है। प्राणो के सयोग-वियोग की यह आख मिचौनी ही जन्म-मरण कहलाती है। किन्तुयह जन्म-मरण आत्मा का नही होता, प्राणो का होता है। प्राण शरीर के अग है, अत वस्तुत. जन्म-मरण आत्मा का नही, शरीर का होता है। प्राण और शरीर जड है, आत्मा चेतन है।

आत्मा का शाश्वत रूप

चेतन का अर्थ है ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ये दोनो उपयोग सभी आत्माओं के स्वभाव है। ये किसी के निमित्त से नही है, ये तो आत्मा के गुण धर्म है। इनमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नही है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल के गुण धर्म है। प्राण और शरीर पुद्गल है। पुद्गल की पहचान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से होती है। वह अचेतन है।

आत्मा का एक गुण आनन्द है। आनन्द को ही सुख कहते है। आत्मा मे सुख और आनन्द का अनन्त सागर लहरा रहा है, उसके स्वभाव में दु ख का लेश भी नही है। दु ख जड पुद्गल का धर्म नही। पुद्गल मे दु ख नाम का कोई गुण नही, सुख नाम का भी गुण नही। उसका स्वभाव तो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श है। तब प्रश्न उठता है—दु ख न आत्मा का स्वभाव है, न पुद्गल का। तब आत्मा को दु ख क्यो है ? जबकि सुख आत्मा का स्वभाव है तो आत्मा को सदाकाल सर्वत्र सुख ही मिलना चाहिये। दु ख कभी नही मिलना चाहिए। किन्तु ससार के प्राणी सुखी नही, बल्कि दु खी है। प्राणी के जीवन मे सुख का आभास तक नही होता और दु ख प्रति पल होता है। इसलिये ससार मे कोई प्राणी सुखी नही, सभी दुखी है, ऐसा क्यो है ?

जब हम दु ख के कारणो की खोज करते है तो लगता है कि दु ख आत्मा ने स्वय उपार्जित किये हैं। वह स्व में स्थित नही रहा, पर मे स्थित हो गया। स्व मे स्थित रहता तो सुख मिलता क्योकि स्व के भीतर ही सुख रहता है। स्व के साथ अनुभूति हो तो निश्चय ही सुख प्राप्त होता है। किन्तु वह पर के साथ सलग्न हो गया, पर मे स्थित हो गया, अत उसे दु ख प्राप्त हुआ। अर्थात् स्वाश्रितता मे सुख और पराश्रितता मे दु ख है। 'स्वस्थ' रहे तो सुख मिले, किन्तु वह 'अस्वस्थ' रहा, अत उसे दु ख मिला। दु ख आत्मा का रोग है। यह रोग नाना नाम-रूप वाला है, किन्तु सबका कारण एक ही है और वह है अस्वस्थता। आत्मा अपना आलम्बन छोडकर हर क्षण हर अवसर पर पुद्गल का आलम्बन करता है। पर का आलम्बन तभी लिया जाता है, जब स्वय पर विश्वास नही रह जाता। पुद्गल आत्मा से भिन्न है, पर है। आत्मा को अपने ऊपर, अपनी शक्ति पर, अपने स्वरूप पर विश्वास नहीं है, इसलिये ही उसे पुद्गल का सहारा लेना पड रहा है। पुद्गल का सहारा लेते-लेते वह इस स्थिति तक जा पहुचा है कि वह अपने सुख के लिए पुद्गल पर निर्भर हो गया है। अपने भीतर रहने वाले सुख पर अविश्वास करने लगा है और यह विश्वास करने लगा है कि सुख पुद्गल में है, पुद्गल से ही उसे सुख मिल सकता है। स्पर्शन, रसना,

घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचो इन्द्रियां और मन पुद्गल की रचना है। इनकी सचालक शक्तियां आत्मा का पुद्गल अर्थात् अनात्मा के साथ सम्पर्क की परिणाम है। आत्मा अनात्मा की भाषा मे सोचता है, उसी पर विश्वास करता है और उसी के सहारे कार्य करता है। आत्मा की यह असहाय स्थिति ही उसके सारे दुःखो की मूल है।

आत्मा जब बहुत दुखी होता है तो वह इस असह्य स्थिति से छुटकारे का प्रयत्न करता है, कभी छुटकारे की भावना उसके अन्दर जागने लगती है। इस प्रकार की स्थिति कभी-कभी सत्संगति पाकर होती है, कभी सन्तो-मुनियो की अमृतवाणी सुनकर होती है, कभी सत् शास्त्र का अध्ययन-मनन करने पर होती है और कभी ससार के दुःखो से मुक्त होने का प्रयत्न करने वाले अथवा मुक्त हुए महापुरुषो के जीवन से प्रेरित होकर होती है। किन्तु इस प्रकार की स्थिति प्राय अल्पकालिक होती है। अधिकाशत तो वह पौद्गलिक सरचनाओं के प्रति आसक्ति और उनके प्रति विभिन्न प्रकार के मानसिक द्वन्द्वो से अभिभूत ही बना रहता है। यह आसक्ति ही विषय और मानसिक द्वन्द्व ही कषाय कहलाते है। इन्द्रियो की अपने भोगो के प्रति आसक्ति ही विषय कहलाते है। दूसरों को लेकर मन मे क्रोध, अहंकार, माया और लोभ की जागृति कषाय कहलाती है। वस्तुत आत्मा अपने भीतर के इन विषय-कषायो को लेकर ही दुखी रहता है। दुःख विषय-कषाय का परिणाम मात्र है, विषय-कषाय तो स्वयं दुःख रूप है। ये तो ऐसी आग है जो आत्मा के सम्पूर्ण गुणो को, शान्ति एव सुख को भस्म कर देती है। ये तो ऐसी अमर बेल है कि ये जिस आत्मा के सहारे उगती है, उसी का रस पी-पीकर बढती जाती है। ये तो ऐसे विष-वृक्ष है कि एक बीज बोकर हजारो विष-फल लगते है। आत्मा अपने भीतर इन्ही विष-बीजो को बोती रहती है और जब इसके विष वृक्ष बड़े होते है और उन पर विष-फल लगते है तो उन्हे खाकर निरन्तर बिलबिलाता और छटपटाता रहता है।

आत्म और अनात्म का चिरकालिक संघर्ष

कौन आत्मा है जो सुख नही चाहता। किन्तु कितनी आत्मा है जो इन विषय और कषायो से मुक्त होने का प्रयत्न करती है। ससार की अधिकाश आत्माये तो यह भी नही जानती कि विषय-कषाय आत्मा के शत्रु है या ये आत्मा का अहित करते है। ये आत्माये तो घोर अज्ञानान्धकार मे भटक रही है। वे दुःख का सही निदान नही जानती, फिर दुःख से उनका छुटकारा कैसे हो। शेष आत्माये-जिनकी सख्या अत्यल्प है—यह जानती है कि आत्मा के शत्रु केवल मेरे अपने ही विषय-कषाय है। जानती तो है किन्तु इसे मानती नही है, सुनकर-पढकर जान लिया अवश्य किन्तु उनकी मान्यता (विश्वास) और आचरण उन आत्माओ जैसा है, जो अज्ञान के कारण जानती तक नही। जानती है, किन्तु मानती नही, क्योंकि उन्हे पुद्गल के प्रति मोह है, उन्हे अपने प्रति आस्था नही, उनकी आस्था पुद्गल के प्रति है। आस्था अपने प्रति हो तो उनके भीतर आत्मा के सच्चिदानन्द रूप को पाने की ललक भी जागे। इसलिये उनका जानना भी निरर्थक हो जाता है।

किन्तु कुछेक आत्मा ही है जो इस तथ्य को जानती है, इसे मानती भी है और उसके लिये अपने आचरण मे सुधार भी करती है। इस प्रकार वे ज्ञान-दर्शन और चारित्र की समन्वित एकता के द्वारा अज्ञान और मोह से सघर्ष करती है। पुद्गल उन्हे बलात् पथभ्रष्ट नही करता, उनको पथभ्रष्ट करने की सामर्थ्य तो उनके अपने भीतर के अज्ञान और मोह नामक विकार मे है। ये अनादिकालीन सस्कार क्षण भर मे दूर नही हो पाते। सत्य सकल्प का सबल लेकर इनसे सघर्ष करने का पुरुषार्थ जगाना पडता है। सकल्प और पुरुषार्थ मे जितना तेज और बल होगा, मुक्ति की राह उतनी तीव्रता और शीघ्रता से तय होती जायगी। यह तथ्य सदा स्मरण रखना होगा कि 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन' अर्थात् स्वय आत्मा ही अपना शत्रु है और आत्मा स्वय अपना मित्र है। इस तत्व-दर्शन में अभाव-अभियोगो को कोई अवकाश नही है। यह तो आत्मा की अनन्त सामर्थ्य के प्रति अडिग आस्था का लौह-लेख है। अज्ञान और मोह आत्मा की निर्बलता के प्रमाण-पत्र है। इन प्रमाण-पत्रो को नष्ट कर ही आत्मा की शुचिता के दर्शन होते है। यह तो आत्मा का सम्पूर्ण अनात्म के प्रति—चाहे वह आत्मा का अज्ञान और मोहरूप विकार हो, चाहे पुद्गल की संरचना हो—सघर्ष की उद्घोषणा है और उस आत्म-अनात्म के सघर्ष में आत्मा की विजय की स्वीकृति है।

आत्मा अज्ञान, मोह अथवा भ्रम के कारण अनात्म पुद्गल के प्रति अपनत्व का नाता जोड़ लेता है। इस

अपनत्व की प्रक्रिया के कारण एक ऐसी आकर्षण-विकर्षण की सतत लहरे आन्दोलित होने लगती हैं कि आत्मा अपने आपको भूल जाता है और पुद्गल को अपना मान बैठता है, पुद्गल को लेकर सुख-दुःख की कल्पना करने लगता है, पुद्गल के सयोग-वियोग को इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-प्राप्ति अथवा अपना लाभ-हानि मान बैठता है। इस मिथ्या मान्यता में फसकर उसका सम्पूर्ण ज्ञान और क्रिया भी मिथ्या हो जाती है। तब पुद्गल की वर्गणाये आकृष्ट होकर उसके साथ सश्लिष्ट हो जाती है। पुद्गल का यह सश्लेष ही कर्म-बन्ध कहलाता है। कर्मों के बन्धन मे बद्ध होकर आत्मा जड पुद्गल के लिये ही सारा व्यापार करने लगता है।

अनात्म पर आत्म-विजय की राह

किन्तु गहराई मे उतर कर देखे तो हम पायेंगे कि आत्मा को पुद्गल कर्मों ने कभी नही बाधा। उसके बन्धन तो उसके निजी विकार है। दोष पुद्गल का नही, स्वय आत्मा का है। जब तक दृष्टि स्व पर न लग कर पर पर लगी है, तब तक उसके विश्वास, चिन्तन और कार्य कलाप का केन्द्र-बिन्दु पर रहेगा। जब तक केन्द्र-बिन्दु पर रहेगा, तब तक वह पर मे ही उलझा रहेगा। और वह अपने सारे दुःखो के लिये पर को उत्तरदायी बनाता रहेगा। इन अभाव-अभियोगो के जाल को वह कभी तोडकर बाहर नही निकल पायेगा। किन्तु जब अन्तर्दृष्टि पर से हट कर स्व पर केन्द्रित हो जाती है, तब उसकी अनुभूति का केन्द्र स्व बन जाता है। स्व की अनुभूति मे सुख का सम्वेदन होने लगता है। दृष्टि बदली कि सृष्टि बदली। अत आवश्यक है कि सुख के अन्वेषण की राह मे कदम बढाने से पहले दृष्टि बदले। मिथ्या दृष्टि को छोडकर सम्यग्दृष्टि अपनाये। दृष्टि का सम्यक्त्व यह है कि आत्मा स्व की ओर उन्मुख हो, पर की ओर उन्मुखता बन्द करे।

स्व की ओर उन्मुखता का अर्थ स्पष्ट समझ ले। आत्मा तो सत् चित् और आनन्द स्वरूप है। उसे दुःख मिलता है अपनी भूल से। भूल से आत्मा मे विकार उत्पन्न होते है, जिन्हे विषय-कषाय कहते है। अत दुःख की जिम्मेदारी पदार्थ की नही, हमारी अपनी है। अत पदार्थो का जोड-तोड करना बन्द करे। न पदार्थ हमारे सुख-दुःख का कर्ता है, न हम पदार्थ के भोक्ता है। न हम पदार्थ के कर्ता है, न पदार्थ हमारा भोक्ता है। प्रत्येक पदार्थ स्वय अपने परिणमन का कर्ता-भोक्ता है। ससार मे अनन्त पदार्थ है, रहे। हम उनके ज्ञाता-दृष्टा रहे। मै अपना कर्ता-भोक्ता स्वय हूँ, अन्य नही, इस दृष्टि को जगाये तो अपने प्रति आस्था जागेगी। तब यह विश्वास सतेज हो उठेगा कि मै ही अपने दुःख का उत्तरदायी हू। मेरी भूल, अज्ञान और मोह ही मेरे शत्रु है, अन्य नही। यह दृष्टि आई कि पर निर्भरता और पराधीनता दूर हुई। इससे पर के प्रति आसक्ति दूर होगी और अपनी अनन्त शक्ति के प्रति विश्वास प्रबल होगा। तब हमारा ज्ञान सार्थक हो उठेगा और जो कुछ करेगे, वह अपने लिये स्वयं करेगे। यही स्व के प्रति उन्मुखता कहलाती है।

आत्म-विजय के पुरस्कर्ता-जिन

ससार मे ऐसे मनुष्य मिल जायगे, जो सिंह को चारो पैर पकड कर पछाड दे, ऐसे भी व्यक्ति मिलेंगे जो मदोन्मत्त हाथी का मद अपने मुष्टिका-प्रहार से गलित करदे, ऐसे लोगो की भी कमी नही है, जो भयानक शत्रु-वीरो को युद्ध मे पराजित करदे। ऐसे व्यक्तियो को वीर कहा जाता है। किन्तु जो अपने आत्म-विकारो पर विजय प्राप्त कर ले, अथवा अपने ऊपर विजय प्राप्त करले, ऐसे व्यक्ति विरल मिलेंगे। ऐसे आत्मजयी पुरुष 'जिन' कहलाते है, वे वीर नही महावीर कहे जाते है।

'जिन' किसी व्यक्ति विशेष का नाम नही है। जो आत्म-विकारो पर सदा-सर्वदा के लिये विजय प्राप्त कर लेते है, उन विकारो को सदा के लिये आत्मा मे से दूर कर देते है, ऐसे आत्मजयी व्यक्ति ही 'जिन' कहलाते हैं। आत्म-विजय किसी के अनुग्रह का फल नही है, वह तो आत्मा के स्व के प्रबल पुरुषार्थ से निपजती है। आत्म-विजय अस्वस्थता-परोन्मुखता से हटकर आत्मा की स्वोन्मुखता एव स्वस्थता द्वारा होती है। आत्म-विजय साधना से निष्पन्न होती है। जो आत्म विजय कर लेते है, उनके अन्तर की विषय-कषाय और कर्ममल नष्ट हो जाते है। तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप-सच्चिदानन्द रूप प्रगट हो जाता है। वे ही महाभाग 'जिन' कहलाते हैं।

जब तक 'जिन' इस मानव-शरीर को धारण किये हुए रहते है, तब तक ही उन्हे 'जिन' कहा जाता है। उन्हे अर्हत्, सकल या सशरीरी परमात्मा भी कहा जाता है। जब आयु समाप्त हो जाती है और इस शरीर से

मुक्त हो जाते है, तब वे सिद्ध या निकल अर्थात् अशरीरी परमात्मा कहलाने लगते है। फिर उनका जन्म-मरण नही होता। उन्हे शरीर नही धारण करना पडता। उनके सम्पूर्ण विकार, समस्त कर्म नष्ट हो जाते है और आत्मा का अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि सहज और वास्तविक स्वरूप प्रगट हो जाता है। वे अपने इसी स्वरूप मे स्थित रहते है।

'जिन' को ही सम्मानसूचक अर्थ में जिनदेव, जिनेश्वर, जिनेन्द्र आदि शब्दो द्वारा व्यवहृत किया जाता है। आशय की दृष्टि से इन शब्दो मे कोई अन्तर नही है। इन्ही को पूज्य अर्थ में अर्हत्, अर्हन्त, अरिहन्त अथवा अरहन्त भी कहा जाता है। अरहन्त शब्द मे शब्दार्थ की दृष्टि से यह भी आशय निगूढ है कि उन्होने आत्मा के जो विषय, कषाय अथवा कर्म शत्रु थे, उन्होने इन सबका नाश कर दिया। विषय और कषाय आत्मा की सहज स्वाभाविक परिणति नही है, ये तो वैभाविक-विकारी परिणमन है। इन भावनात्मक विकारो को आत्मा मे से निर्मूल कर दिया, उनको जीत लिया है। इसी आशय मे कहा जाता है कि उन शत्रुओ का नाश कर दिया है। विषय और कषाय रूप विकृतियो को ही राग-द्वेष कहा जाता है। इन राग-द्वेष रूप विकृतियो को जीतकर ही वीतराग और जिन बनते है।

जिनदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही जैन धर्म है

उन वीतराग जिन ने आत्म-विजय का जो उपदेश दिया, जो राह बताई, उसका एक निश्चित रूप तो है, किन्तु नाम कुछ नही है। किन्तु लोक मे व्यवहार के लिए, सुविधा के लिये उसका एक नाम रख लिया। वह 'जिन' का धर्म था, अत 'जिन' का धर्म 'जैन धर्म' कहलाने लगा। यही यह समझ लेना रुचिकर होगा कि 'जिन' किसी अमुक व्यक्ति का नाम नही है, यह तो एक पदवाचक शब्द है। जिसने भी आत्म-विजय की है, वही जिन कहलाने लगा। चूंकि आत्म-विजय करने वाला वीतराग होता है, इसलिये उन्होने आत्म-विजय के लिये जिस धर्म का उपदेश दिया, वह धर्म भी वीतराग धर्म है। उसका प्रारम्भ अथवा उसकी स्थापना किसी व्यक्ति विशेष ने नही की, इसलिये जैनधर्म का प्रारम्भ किसी काल-विशेष मे नही हुआ। वह तो आत्म-विजय की चिरन्तन राह है, वह तो आत्मा के सच्चिदानन्द रूप की प्राप्ति की सार्वदेशिक और सार्वकालिक जीवन-पद्धति है। यह तो वह जीवन-दर्शन है, जिस पर चलकर 'जिनो' ने आत्म-विजय की है और भविष्य मे भी जो आत्म-विजय करेगे, वे इसी राह पर चलकर ही करेगे। इसलिये कहना होगा कि जैन धर्म वस्तुत शाश्वत सत्य है। आज धर्म सम्प्रदाय के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। किन्तु जैन धर्म सम्प्रदाय नही, किन्तु यह तो आत्मा के लिये है, आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है, आत्मा मे प्रतिष्ठित होता है। इसलिये इसे आत्म-धर्म कहना तथ्य को स्वीकार करना होगा। सुविधा के लिये इसे हम जिनधर्म, जैनधर्म, आर्हत धर्म कह सकते है और चाहे तो इसे निज धर्म भी कहा जा सकता है।

प्राचीन साहित्य में जैनधर्म का नामोल्लेख

उपर्युक्त सन्दर्भ मे यह बात विशेष महत्वपूर्ण है कि प्राचीन साहित्य में जैनधर्म का नामोल्लेख नही है। इससे उन लोगो का तर्क स्वय खण्डित हो जाता है, जो यह कहते है कि जैनधर्म का उदय तथाकथित ऐतिहासिक काल की उपज है अथवा यह कि जैनधर्म की स्थापना पार्श्वनाथ अथवा महावीर ने की या यह कि जैनधर्म ब्राह्मण धर्म की हिंसामूलक यज्ञ-परम्परा की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व मे आया। वस्तुत जैनधर्म आत्म-दर्शन के रूप मे उस समय से प्रतिष्ठित रहा है, जबसे आत्म-विजय की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ है। वेदत्रयी के परवर्ती साहित्य मे जिन और जैन मत के स्पष्ट उल्लेख होने लगे थे। सभवतः इस काल मे आकर लोग इस धर्म को जैनधर्म और उसके पुरस्कर्ताओ को 'जिन' नाम से व्यवहृत करने लगे थे। योगवाशिष्ठ,[1] श्रीमद् भागवत,[2] विष्णुपुराण,[3] शाकटायन व्याकरण,[4] पद्मपुराण,[5]

१. योगवाशिष्ठ अ० १५ श्लोक ८

२. श्रीमद्भागवत ५।५

३. विष्णुपुराण २।१

४. शाकटायन-अनादि सूत्र २८६ पाद ३

५. पद्म पुराण (व्यंकटेश प्रेस) पृ०२

मत्स्यपुराण[1] आदि में जिन, जैनधर्म आदि नामों से उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य में जैनधर्म के लिये **श्रमण** शब्द का भी प्रयोग मिलता है। अतः श्रमण क्या है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति की दो धाराऐं-श्रमण और वैदिक

भारतीय सस्कृति विश्व की प्राचीनतम सस्कृति कही जाती है। भारतीय संस्कृति पावनतोया गगा है। उसमें दो महान नदियाँ आकर मिली है—श्रमण और वैदिक। इन दोनो के सगम से विशाल भारतीय सस्कृति की गंगा बनी है। न अकेली श्रमण धारा को हम भारतीय सस्कृति कह सकते है और न अकेली वैदिक धारा को हम भारतीय सस्कृति का नाम दे सकते है। ये दोनो धाराऐ परस्पर विरोधी लगती है, किन्तु दोनो ने मिलकर ही भारतीय सस्कृति का निर्माण किया है।

दोनो धाराओ की भी अपनी अपनी सस्कृति रही है। उन दोनो सस्कृतियो के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है—

"मुनि शब्द के साथ ज्ञान, तप और वैराग्य जैसी भावनाओ का गहरा सम्बन्ध है। मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक सहिताओ मे बहुत ही कम हुआ है। श्रमण सम्कृति मे ही यह शब्द अधिकाशत प्रयुक्त है। पुराणो में जो वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओ का समन्वय प्रस्तुत करते है, ऋषि और मुनि दोनो शब्दो का प्रयोग बहुत कुछ मिले जुले अर्थ में होने लगा था। दोनो सस्कृतियो मे ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से भिन्नता है। ऋषि या वैदिकी सस्कृति में कर्मकाण्ड की प्रधानता और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढी तो श्रमण सस्कृति या मुनि सस्कृति मे अहिसा, निरामिषता तथा विचार सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखाई पडी"।

श्रमण और वैदिक सम्कृति के अन्तर को सक्षेप मे समझने के बाद यह समझना आवश्यक है कि श्रमण का अर्थ या आशय क्या है ?

दशवैकालिक सूत्र १७३ की टीका में आचार्य हरिभद्र सूरि ने श्रमण शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है— श्राम्यन्तीति श्रमणा· तपस्यन्ते इत्यर्थ ।' अर्थात् जो श्रम करता है, कष्ट सहता है, तप करता है वह श्रमण है।

श्रमण संस्कृति

श्रमण शब्द की इस व्याख्या मे ही श्रमण सस्कृति का आदर्श अन्तर्निहित है। जो श्रम करता है, तपस्या करता है और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करता है, वही श्रमण कहलाना है। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाले और पुरुषार्थ द्वारा आत्म-सिद्धि करने वाले क्षत्रिय होते है। इसलिये कहना होगा कि श्रमण सस्कृति पुरुपार्थमूलक क्षत्रिय सस्कृति रही है।

प्राचीन वैदिक साहित्य मे-विशेषत वेदो मे याज्ञिक कर्मकाण्ड द्वारा विभिन्न देवताओ को प्रसन्न करने और उनसे सासारिक याचना करने के विधान पाये जाते है। याचना करना ब्राह्मणो का धर्म है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक सस्कृति ब्राह्मण सस्कृति है। इसीलिये इस सस्कृति मे ब्राह्मणो को ही सर्वाधिक गौरव प्रदान किया गया है। यह संस्कृति परम्परामूलक रही है।

हमारी इस मान्यता का समर्थन वैदिक साहित्य से भी होता है। तैत्तिरीय आरण्यक मे (२ प्रपाठक ७अनुवाक १-२) में वर्णन आया है कि—

"वातरशन श्रमण ऋषि ब्रह्मपद की ओर उत्क्रमण करने वाले हुए। उनके पास अन्य ऋषि प्रयोजनवश उपस्थित हुए। उन्हे देख कर ऋषि कही अन्तर्हित हो गये। वे वातरशन कूष्माण्ड नामक मत्र वाक्यो में अन्तर्हित थे। तब उन्हे अन्य ऋषियो ने श्रद्धा और तप मे प्राप्त कर लिया। ऋषियो ने उन वातरशन मुनियो से प्रश्न किया—'किस विद्या से आप अन्तर्हित हो जाते है। वातरशन मुनियो ने उन्हे निलय आये हुए अतिथि मानकर कहा—'हे मुनिजनो! आपको नमोऽस्तु है। हम आपका सत्कार किससे करे ?' ऋषियो ने कहा—'हमे पवित्र आत्म-विद्या का उपदेश दीजिये जिससे हम निष्पाप हो जाय।'

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि श्रमण मुनि आत्म विद्या मे निष्णात थे, जबकि वैदिक ऋषियो को आत्मविद्या

---

१. मत्स्य पुराण अ० २४ श्लोक ५४-५५

का ज्ञान नही था । आत्मविद्या के जानकार केवल क्षत्रिय श्रमण ही होते थे, वैदिक ऋषियो के लिये आत्मविद्या अज्ञात थी । श्रमण जैन परम्परा की यह मान्यता कि सभी तीर्थंकर केवल क्षत्रिय ही होते हैं, हमारी इस धारणा को पुष्ट करती है कि श्रमण परम्परा क्षत्रियो की परम्परा रही है ।

श्रीमद्भागवत में श्रमणों की प्रशसा करते हुए कहा गया है कि जो वातरशन ऊर्ध्वमन्थी श्रमण मुनि है, वे शान्त, निर्मल, सम्पूर्ण परिग्रह से सन्यस्त ब्रह्म पद को प्राप्त करते है ।'

श्रमणो की उपर्युक्त पहचान वस्तुत. सही है । इसलिये निघण्टु की भूषण टीका में श्रमण शब्द की व्याख्या इस रूप में की है—

'श्रमणा दिगम्बराः श्रमणा वातरशनाः ।'

श्रीमद्भागवत ११।२ में उपर्युक्त व्याख्या का ही समर्थन इस प्रकार किया गया है—श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदा ।

श्रमण दिगम्बर मुनि होते थे । उन मुनियो को ही भागवतकार ने ऊर्ध्वरेता, वातरशना, आत्मविद्या में विशारद बतलाया है ।

भागवतकार ने स्कन्ध १२ अध्याय ३ श्लोक १८-१९ मे श्रमणो की जो प्रशसा की है, वह उनके उच्च आचार-विचार की द्योतक है । महर्षि शुकदेव राजा परीक्षित को उपदेश देते हुए कहते हैं—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतिः ।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप ॥
सन्तुष्टा करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः ।
आत्मारामाः समदृश प्रायशः श्रमणा जनाः ॥

अर्थात् हे राजन ! कृतयुग (सतयुग) मे धर्म के चार चरण होते है—सत्य, दया, तप और दान । इस धर्म को उस समय लोग निष्ठापूर्वक धारण करते है । सतयुग मे प्राय श्रमण ही सन्तुष्ट, करुणाशील, मैत्रीपरायण, शान्त, इन्द्रियजयी, सहनशील, आत्मा मे रमण करने वाले और समदृष्टि वाले होते है ।

इस प्रकार के दिगम्बर श्रमणो का उल्लेख अति प्रचीन काल से होता आया है । ऋग्वेद १०।९४।११ में श्रमणो का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है । रामायण (बाल्मीकि) में भी अनेक स्थलो पर श्रमणो का उल्लेख बडे सम्मान के साथ किया गया है । रामचन्द्रजी ने जिस शबरी का आतिथ्य ग्रहण किया था, वह श्रमणी थी (श्रमणी शबरी नाम श्रमणा श्रमणोत्तमा) । राजा जनक जिस प्रकार तापसो को भोजन कराते थे, श्रमणो को भी वैसे ही कराते थे (तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते)

इस प्रकार हम देखते है कि श्रमण दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनियो को कहा जाता था । भारत में श्रमणो का अस्तित्व अति प्राचीन काल से पाया जाता है । श्रमण आत्मविद्या में पारगत थे । वैदिक ऋषि उनसे आत्मविद्या सीखते थे । डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[1] के अनुसार 'श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म मे वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला ।'

प्राचीन काल मे जैनो को ही श्रमण कहा जाता था । प्राचीनतम भारतीय साहित्य में श्रमणो के उल्लेख मिलते है ।

वैदिक ग्रन्थो मे जैनधर्मानुयायियो को अनेक स्थलो पर व्रात्य भी कहा गया है । व्रतो का आचरण करने के कारण वे व्रात्य कहे जाते थे । सहिता-काल में व्रात्यो को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था । सहिताओं मे

व्रात्य

व्रात्यो के लिये बडे आदरसूचक विशेषणो का प्रयोग किया गया है । जब तक वैदिक आर्य व्रात्यो के निकट सम्पर्क में नही आये थे और उनके साथ वैदिक आर्यों को निरन्तर सघर्ष करना पडा था, उस समय ऋग्वेद में जो मत्र लिखे गये, उनसे ज्ञात होता है कि कीकट (मगध) देश का राजा प्रमगद था । वह व्रात्य था । उसके राज्य मे व्रात्यों के पास अपार धन, गाये और वैभव था ।

१. प्राक्कथन जैन साहित्य का इतिहास, पृ० १३

इन्द्र से अनेक मंत्रों[1] द्वारा उनके धन और गायो को दिलाने की प्रार्थना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि कीकट देश में व्रात्यो का शासन था और व्रात्यो की राजनैतिक और सैनिक शक्ति वैदिक आर्यों से श्रेष्ठ थी।

किन्तु धीरे धीरे जब वैदिक आर्य व्रात्यो के निकट सम्पर्क मे आये और उनकी आत्म-साधना, उन्नत आध्यात्मिक ज्ञान एव उच्च मान्यताये देखी तो वे उनसे बडे प्रभावित हुए और उन्होने यज्ञो के विरोधी व्रात्यो की प्रशसा मे अनेक मन्त्रो की रचना की। व्रात्यो की यह प्रशसा ऋग्वेद काल से लेकर अथर्ववेद काल तक प्राप्त होती है। अथर्ववेद में तो स्वतत्र व्रात्य सूक्त[2] की रचना भी मिलती है।

इसी व्रात्य सूक्त में एक मत्र द्वारा व्रात्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

'जो देहधारी आत्माये है, जिन्होने अपनी आत्मा को देह से ढका है, इस प्रकार के जीव समूह समस्त प्राण-धारी चैतन्य सृष्टि के स्वामी हैं, वे व्रात्य कहलाते हैं।'

एक मंत्र मे व्रात्य के निन्दको की भर्त्सना करते हुए कहा है—

'जो ऐसे व्रात्य की निन्दा करता है, वह ससार के देवताओ का अपराधी होता है।'

कर्मकाण्ड को ही धर्म मानने वाले ब्राह्मणो की अपेक्षा साधारण व्रात्य को श्रेष्ठ बताते हुए एक मत्र में कहा गया है—

'यद्यपि सभी व्रात्य आदर्श पर इतने ऊचे चढे हुए न हो, किन्तु व्रात्य स्पष्टतः परम विद्वान्, महाधिकारी, पुण्यशील, विश्ववद्य, कर्मकाण्ड को धर्म मानने वाले ब्राह्मणो से विशिष्ट महापुरुष होते है, यह मानना ही होगा।'

वैदिक ऋषि व्रात्यो के उच्च नैतिक मूल्यो से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होने वेदो की ऋचाओ[3] द्वारा याज्ञिको को यहा तक आदेश दिया कि—

'यज्ञ के समय व्रात्य आजाय तो याज्ञिक को चाहिये कि व्रात्य की इच्छानुसार यज्ञ को करे अथवा उसे बन्द करदे। जैसा व्रात्य यज्ञ-विधान करे, वैसा करे।

'विद्वान् ब्राह्मण व्रात्य मे इतना ही कहे कि जैसा आपको प्रिय है, वही किया जायगा। वह व्रात्य आत्मा है। आत्मा का स्वरूप है। आत्म साक्षात् दृष्टा महाव्रत के पालक व्रात्य के लिये नमस्कार हो।'

इस प्रकार सहिता काल में व्रात्यो के प्रति अत्यन्त सम्मान के भाव प्रगट किये गये है। इसमे सन्देह नही है कि व्रात्य शब्द का प्रयोग श्रमण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ये श्रमण और व्रात्य ही परवर्ती काल मे जैन कहलाने लगे।

इतिहासकार यह स्वीकार करते है कि सहिताओ का निर्माण-काल भारतीय सस्कृति का स्वर्णिम काल था। उस समय भारत में जन्मी श्रमण सस्कृति और भारत की मिट्टी मे पनपी वैदिक सस्कृति मुक्त और उदार भाव से परस्पर लेन-देन कर रही थी। भारत की स्वस्थ जलवायु मे एक नई सस्कृति जन्म ले रही थी। भौतिक दृष्टि वाली वैदिक सस्कृति श्रमण सस्कृति के आध्यात्मिक मूल्यो पर मुग्ध हो रही थी। उस काल में वैदिक ऋषियो ने श्रमण अथवा व्रात्यो के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट की और तभी उन्होने व्रात्य सूक्त, ऋषभ सूक्त तथा स्वतन्त्र मत्रो द्वारा महाव्रात्य ऋषभदेव, महाव्रत पालक व्रात्य श्रमणसाधु और सामान्य व्रात्य-श्रमण परम्परा के अनुयायी जनो की स्तुति और प्रशसा[4] की।

किन्तु लगता है, ब्राह्मण साहित्य, स्मृति और पुराण-काल विशेषत विष्णुपुराण के रचना काल मे आकर वैदिक ऋषियो के ये भाव स्थिर नही रह सके और वे व्रात्यो की निन्दा करने लगे। सभवत इसका कारण यह रहा हो कि व्रात्यों की आध्यात्मिक धारा से प्रभावित होकर वैदिक कर्मकाण्डमूलक विचारधारा अपने मूल रूप को छोडकर औपनिषदिक ज्ञान काण्ड की ओर मुडने लगी थी। ऐसी स्थिति में अपने मूल रूप को स्थिर रखने के लिये वैदिक

१ ऋग्वेद १।३३।५, १।१०।११, १।१३०।८, ७।१०४।२, ३।३०।१७

२. अथर्ववेद काण्ड १५ मे २२० मत्रो द्वारा व्रात्यो की स्तुति की गई है।

३. अथर्ववेद काण्ड १५

४ ऋग्वेद २।३३।१५, ४।६।२६।४, अथर्ववेद १९।४२।४

ऋषियों की चिन्ता स्वाभाविक थी । अत इस काल में व्रात्यों को अयज्वन, अन्यव्रत, अकर्मन् आदि शब्दो द्वारा वैदिक अनुयायियो की दृष्टि में गिराने के प्रयत्न किये जाने लगे । इसी काल मे व्रात्यो और वैदिक आर्यों के धार्मिक विश्वासों के आधार पर प्रादेशिक सीमाये स्थिर की गई । इतना ही नही, अग-वग-कलिग-सौराष्ट्र और मगध में जाना निषिद्ध घोषित कर दिया गया और जाने पर प्रायश्चित्त का विधान तक किया गया । पुराणो में इस प्रकार के कल्पित कथानको तक की रचना की गई कि एक राजा-रानी को एक व्रात्य (जैन) से केवल बात करने के अपराध का प्रायश्चित्त अनेक जन्म धारण करके करना पडा । अथवा प्राणो पर सकट आने की दशा में यदि जैन मन्दिर में जाकर प्राण-रक्षा की सभावना हो सकती है तो भी जैन मन्दिर मे प्रवेश करके प्राण-रक्षा करने की अपेक्षा मृत्यु का वरण करना श्रेयस्कर घोषित कर दिया । व्रात्यो की लोक-भाषा प्राकृत को हीन घोषित करना, अथवा उसे स्त्रियो और शूद्रो की भाषा करार देना भी व्रात्यो के विरुद्ध वैदिक ऋषियो द्वारा आयोजित घृणा-प्रसार-आन्दोलन का ही एक अग रहा है ।

किन्तु वैदिक ऋषियों की इस चिन्ता अथवा इस घृणा-आन्दोलन का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुचते है कि उन श्रमणो और व्रात्यों—जिनकी प्रशसा सहिता ग्रन्थो मे की गई है—की कर्मकाण्ड विरोधी और अध्यात्म मूलक सस्कृति अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली थी । उसके प्रभाव से वैदिक सस्कृति अपना स्वरूप बदलने को बाध्य हो रही थी । उपनिषदो पर श्रमण-व्रात्य सस्कृति का प्रभाव स्पष्ट ही था । ऐसी दशा मे ही वैदिक सस्कृति को बचाने की चिता वैदिक ऋषियो को करनी पडी । कल्पना करे, यदि उन्होने श्रमणो-व्रात्यो के विरुद्ध ये घृणा की दीवारे खडी न की होती और ये घृणा-आन्दोलन न चलाये जाते तो भारतीय सस्कृति का वह रूप न होता जो आज दिखाई पडता है, अथवा वैदिक सस्कृति शुष्क कर्मकाण्ड और भौतिकवाद की दलदल से निकलकर शुद्ध अध्यात्म प्रधान सस्कृति का रूप ग्रहण कर लेती ।

जैन अर्थ मे श्रमण और व्रात्य शब्दो के समान आर्हत शब्द का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है । सभवत पौराणिक काल मे इस शब्द का प्रयोग खुलकर होने लगा था । श्रीमद्भागवत मे तो आर्हत शब्द का प्रयोग कई स्थानो पर हुआ है । एक स्थान[1] पर भगवान ऋषभदेव के सन्दर्भ मे लिखा है—'तपाग्नि से कर्मो को नष्टकर वे सर्वज्ञ 'अर्हत्' हुए और उन्होने 'आर्हत मत का प्रचार किया । विष्णुपुराण[2] मे देवासुर सग्राम के प्रसग में मायामोह का उल्लेख करते हुए लिखा है—'माया मोह ने असुरो मे 'आर्हत' धर्म का प्रचार किया ।' वह माया मोह एक दिगम्बर मुनि के रूप मे चित्रित किया गया है । हिन्दू 'पद्म पुराण' मे इस माया मोह की उत्पत्ति बृहस्पति की सहायता के लिये विष्णु द्वारा बताई गई है । इस मुडे सिर और मयूर पिच्छिकाधारी योगी दिगम्बर मायामोह द्वारा दैत्यो (असुरो) को जैन धर्म का उपदेश और उनके द्वारा जैन धर्म में दीक्षित होने का स्पष्ट उल्लेख है । 'मत्स्य[3] पुराण' मे बताया है कि अहिसा ही परम धर्म है, जिसे अर्हन्तो ने निरूपित किया है ।

आर्हत

इस प्रकार विभिन्न हिन्दू पुराणो मे 'आर्हतमत' और अर्हन्तो का उल्लेख मिलता है ।

सक्षेप में श्रमण, व्रात्य, आर्हत, जैन इन शब्दो का प्रयोग समान अर्थ मे हुआ है । वैदिक ग्रन्थो मे वातरशना, ऊर्ध्वरेता, ऊर्ध्वमन्थी शब्दो का प्रयोग भी श्रमण मुनियो के लिए ही हुआ है । जहाँ भी इन शब्दो का प्रयोग हुआ है, वह अत्यन्त सम्मान पूर्ण आशय से ही हुआ है ।

इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता अब इस बात को स्वीकार करने लगे है कि भारत में वैदिक सभ्यता का जब प्रचार -प्रसार हुआ, उससे पहले यहाँ जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत थी । प्राग्वैदिक काल का कोई साहित्य नही मिलता । किन्तु पुरातत्त्व की खोजो और उत्खनन के परिणामस्वरूप नये तथ्यो और मूल्यो पर प्रकाश पडा है । सन् १९२२ में और उसके बाद मोहन-जो-दडो और हडप्पा की खुदाई भारत सरकार की ओर से की गई थी । पश्चिमी पाकिस्तान में सिन्ध प्रान्त

पुरातत्त्व और प्राग्वैदिक संस्कृति

१. श्रीमद्भागवत ५।६

२. विष्णुपुराण अध्याय १७-१८

३. मत्स्य पुराण अध्याय २४

के लरकाना जिले में सिन्धु नदी तथा नरनहर के मध्य मे मोहन-जो-दडो स्थित है। मोहन-जो-दडो का अर्थ है मृतको का टीला। यहाँ पर जल को स्पर्श करती हुई सात तहो तक खुदाई हुई थी। हडप्पा मोण्टगोमरी जिले में एक स्थान है। मोहन-जो-दड़ो सिन्धु नदी के काठे मे तथा हडप्पा रावी के काठे में अवस्थित है। इन दोनो स्थानो में जिस सस्कृति की खोज हुई, वह सिन्धु घाटी की सभ्यता अथवा हडप्पा सस्कृति कही जा सकती है।

भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर सर जान मार्शल ने इस सभ्यता के सम्बन्ध मे लिखा है—'पाच हजार वर्ष पूर्व पजाब और सिन्ध प्रदेश में आर्यों मे भी पहले ऐसे लोग रहते थे, जिनकी सस्कृति बहुत उच्च कोटि की थी और अपने समकालीन मेसोपोटामिया तथा मिश्र की सस्कृति से किसी बात मे भी कम न थी। हा, कई बात उत्कृष्ट अवश्य कहा जा सकता है।'

इन स्थानो पर जो पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उसमे तत्कालीन भारतवासियो के रहन-सहन, पहनाव-पोशाक, रीति-रिवाज, और धार्मिक विश्वासो पर प्रकाश पडता है। इन स्थानो पर यद्यपि कोई देवालय-मदिर नही मिले है, किन्तु वहा पाई गई मुहरो (Seals), ताम्रपत्रों, धातुमिट्टी तथा पत्थर की मूर्तियो से उनके धर्म और विश्वास का पता चलता है।

मोहन-जो-दडो मे कुछ मुहर ऐसी मिली है, जिन पर योग मुद्रा मे योगी-मूर्तियां अकित है। एक मुहर ऐसी भी प्राप्त हुई है, जिसमे एक योगी कायोत्सर्ग मुद्रा (खड्गासन) मे ध्यान लीन है। उसके सिर के ऊपर त्रिशूल है। वृक्ष का एक पत्ता मुख के पास है। योगी के चरणो मे एक भक्त करबद्ध नमस्कार कर रहा है। उस भक्त के पीछे वृषभ खड़ा है। वृषभ के ऊपर वृक्ष है। योगी को वेष्टित किये हुए वल्लरी है। नीचे सामने की ओर सात योगी उसी कायोत्सर्ग मुद्रा मे भुजा लटकाये ध्यान मग्न है। प्रत्येक के मुख के पास वल्लरी के पत्र लटक रहे है।

योगी के इस परिवेश और परिकर को आदि तीर्थकर वृषभदेव के परिप्रेक्ष्य मे जैन शास्त्रो के विवरण से तुलना करे तो अत्यन्त समानता के दर्शन होते है और कुछ रोचक तथ्य उभर कर सामने आते है। आचार्य जिन-सेन ने'आदि पुराण' सर्ग १८ श्लोक ३,६ और १० मे भगवान की कायोत्सर्ग मुद्रा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। श्लोक १० मे आचार्य लिखते है—'उनकी दोनो बडी बडी भुजाए नीचे की ओर लटक रही थी। और उनका शरीर अत्यन्त देदीप्यमान तथा ऊचा था। इसलिए वे ऐसे जान पडते थे मानो अग्रभाग मे स्थित दो ऊची शाखाओ से सुशोभित एक कल्पवृक्ष ही हो।'

इसी सर्ग के श्लोक १२ मे वर्णन है—'मन्द मन्द वायु से समीपवर्ती वृक्षो की शाखाओ के अग्रभाग हिल रहे थे।

आदि पुराण सर्ग १७ श्लोक २५३ मे वर्णन है—'जो भगवान के चरणो की पूजा कर चुके है, जिनके दोनो घुटने पृथ्वी पर लगे हुए है और जिनके नेत्रों से हर्ष के आसू निकल रहे है, ऐसे सम्राट् भरत ने अपने उत्कृष्ट मुकुट मे लगे हुए मणियो की किरण रूप स्वच्छ जल के समूह से भगवान के चरण-कमलो का प्रक्षालन करते हुए भक्ति से नम्र हुए अपने मस्तक से उन भगवान के चरणो को नमस्कार किया।'

आदि पुराण सर्ग १७ श्लोक २१८—'जिनका सयम प्रगट नही हुआ है, ऐसे उन द्रव्यलिगी मुनियो से घिरे हुए भगवान वृषभ देव ऐसे सुशोभित होते थे मानो छोटे-छोटे कल्प वृक्षो से घिरा हुआ कोई उन्नत विशाल कल्प-वृक्ष ही हो।'

इसी प्रकार का वर्णन महाकवि अर्हद्दास विरचित 'पुरुदेव चम्पू' मे भी मिलता है। मोहन-जो-दडो मे प्राप्त मुहर को सामने रखकर आदिपुराण और पुरुदेव चम्पू के भगवान वृषभदेव सम्बन्धी ध्यान विवरण को पढे तो दोनो मे ऐसी समानता मिलेगी, मानो इन पुराणकारो ने उक्त मुहर की ही व्याख्या की हो। इसलिये उक्त मुहर और उक्त पौराणिक विवरण से तुलना करके मुहर की व्याख्या इस प्रकार कर सकते है—

भगवान वृषभदेव कायोत्सर्गासन मे ध्यानारूढ खडे है। कल्प वृक्ष हवा से हिल रहा है और उसका एक पल्लव भगवान के मुख के पास डोल रहा है। उनके सिर पर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र यह त्रिरत्न रूप त्रिशूल है। सम्राट् भरत भगवान के चरणो मे भक्ति से झुक कर आनन्दाश्रुओ से उनके चरण प्रक्षालन कर रहे है।

उनके पीछे वृषभ लाछन है। नीचे सात मुनि भगवान का अनुसरण करके कायोत्सर्ग मुद्रा मे ध्यानमग्न है। जो चार हजार राजा दिगम्बर मुनि बन गये थे, उन्ही के प्रतीक स्वरूप ये सात मुनि है। वे भी कल्प वृक्ष के नीचे खडे हुए हैं और उनके मुख के पास भी पत्ता हिल रहा है।

सभवत उक्त मुहर की तर्कसगत व्याख्या इसके अतिरिक्त दूसरी नही हो सकती।

इस मुहर का अध्ययन करके प्रसिद्ध विद्वान् रा० व० प्रो० राम प्रसाद चन्दा ने जो व्याख्या प्रस्तुत की, उसमे इतिहास वेत्ताओं को अपनी प्रचलित धारणा मे सशोधन करने के लिए वाध्य होना पडा। प्रो० चन्दा का आशय इस प्रकार है—

"सिन्धु मुहरों में से कुछ मुहरो पर उत्कीर्ण देव-मूर्तिया न केवल योग-मुद्रा मे अवस्थित है और उस प्राचीन युग मे सिन्धु घाटी मे प्रचलित योग पर प्रकाश डालती है, उन मुहरो में खडे हुए देवता योग की खडी मुद्रा भी प्रगट करते है। और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनो से सम्बन्धित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खडे होकर ध्यान करने की है। आदिपुराण सर्ग १८ मे ऋषभ अथवा वृषभ की तपश्चर्या के सिलसिले मे कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्व सग्रहालय मे एक शिलाफलक पर जैन ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा मे खडी हुई चार प्रतिमाये मिलती है जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई है। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति सख्या १२ मे प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवशो के काल की मिश्री स्थापत्य कला में कुछ प्रतिमाये ऐसी भी मिलती है, जिनकी भुजाए दोनो ओर लटकी हुई है। यद्यपि ये मिश्री मूर्तिया या ग्रीक कूरो प्राय उसी मुद्रा मे मिलती है, किन्तु उनमे वैराग्य की वह झलक नही, जो सिन्धु घाटी की इन खडी मूर्तियों या जैनो की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं मे मिलती है। ऋषभ का अर्थ है वृषभ (बैल) और वृषभ जिन ऋषभ का चिन्ह है।"

—माडर्न रिव्यू, अगस्त १९३२, पृ० १५५-१६०

प्रो० चन्दा के इन विचारो का समर्थन डॉ० प्राणनाथ विद्यालकार ने भी किया है। वे भी सिन्धु घाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओ को ऋषभ देव की मानते है। इन विद्वानो ने सील न० ४४९ पर जिनेश्वर शब्द भी पढा है। हमारी विनम्र मान्यता है कि सभी ध्यानस्थ प्रतिमाये जो सिन्धु घाटी मे मिली है, जैन तीर्थकरो की है। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष और नाग ये सभी जैन कला की अपनी विशेषताये है। विशेषत कायोत्सर्गासन जो जैन श्रमणो द्वारा ध्यान के लिए प्रयुक्त होता है।

T. N Ram Chandran का अभिमत

These two ricks place before us the truth that we are perhaps recognising in the Harappa statue a full fledged Jain Tirthankar in the characteristic pose of physical abandon (kayotsarga).

The statue under description is therefore a splendid representative specimen of this thought of Jainism at perhaps its very inception

T N Ram Chandran
Director General Indian Archeological Department

सिन्धु सभ्यता अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत सभ्यता थी। पुरातत्ववेत्ताओ ने सिन्धु सभ्यता का जो मूल्याकन किया है, उसके बडे रोचक निष्कर्ष निकले है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी[1] लिखते है—'मुहर सख्या F G H फलक दो पर अकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है। सभव है, यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।"

१. हिन्दू सभ्यता, तृतीय सस्करण, पृ० ३९

प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामधारी सिह दिनकर[1] इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—'मोहन-जो-दडो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले है और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभ देव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ सम्बन्धित थी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानो का यह मानना अयुक्तियुक्त नही दीखता कि ऋषभ देव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व है।'

इसी सन्दर्भ में डा० ऐम० ऐल० शर्मा[2] लिखते है—'मोहन-जो-दडो से प्राप्त मुहर पर जो चित्र अकित है, वह भगवान ऋषभ देव का है। यह चित्र इस बात का द्योतक है कि आज से पाच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत मे प्रचलित थी। और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ देव थे। सिन्धु निवासी अन्य देवताओ के साथ ऋषभ देव की भी पूजा करते थे।'

१. सस्कृति के चार अध्याय, पृ० ३६
२. भारत मे सस्कृति एव धर्म, पृ २०

२—जैन धर्म में तीर्थंकर-मान्यता

जैन परम्परा मे सर्वोपरि उपासनीय देवाधिदेव अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक पच परमेष्ठी माने गये है। अर्हन्त आत्म-साधना द्वारा ज्ञानावरणी, दर्शनावरणो, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों—जो घातिया कर्म कहलाते है—के क्षय मे बनते है। इन कर्मों के क्षय से उनकी आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य गुण प्रगट हो जाते है। अर्हन्त, अरहन्त, अरिहन्त ये शब्द समानार्थक है। इन सबका एक ही अर्थ है—अरि अर्थात् शत्रु, हन्त अर्थात् नाश करने वाला। आत्मा के शत्रु कर्म है। उनका नाश करने वाला अर्हन्त कहलाता है। सिद्ध वह आत्मा कहलाती है, जिसने सम्पूर्ण कर्मो का क्षय करके शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति कर ली है अर्थात् जो ससार मे सदा काल के लिए जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो चुका है। अर्हन्त और सिद्ध दोनो ही परमात्मा कहलाते है। अन्तर इतना ही है कि अर्हन्त सशरीरी परमात्मा है और सिद्ध अशरीरी परमात्मा है। आयु कर्म शेष रहने के कारण अर्हन्त के चार कर्म—जो अघातिया कर्म कहलाते है—अभी शेष है। जब उनके वे चारो अघातिया कर्म नष्ट हो जाते है, तब वे अशरीरी परमात्मा बन जाते है। वे ही सिद्ध कहलाते है।

पंच-परमेष्ठी

शेष तीन परमेष्ठी—आचार्य, उपाध्याय और साधु साधक दशा मे है और उनका लक्ष्य आत्म-साधना द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्त कर क्रमश अर्हन्त और सिद्ध बनना है। साधु समस्त आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके ध्यानाध्ययन द्वारा आत्म-साधना करते है। उन साधुओ में विशिष्ट ज्ञानी साधु, जो अन्य साधुओ को अध्ययन कराते है, उपाध्याय कहलाते है। उन साधुओ मे से विशिष्ट ज्ञानवान, आचार सम्पन्न, शासन-अनुशासन मे सक्षम, व्यवहार कुशल साधु को साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका यह चतुर्विध संघ अपना धर्मनायक स्वीकार करके उसे आचार्य पद प्रदान करता है, वह आचार्य कहलाता है।

इस प्रकार साधु, उपाध्याय और आचार्य ये तीन और परमेष्ठी होते है। ये ही पच परमेष्ठी कहलाते है। जैन परम्परा में मान्य महामन्त्र णमोकार मे इन्ही पच परमेष्ठियो को नमस्कार किया गया है। किसी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख न करके तत्तद् गुणो से विभूषित आत्माओ को ही परमेष्ठी माना गया है। इससे यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैन धर्म मे व्यक्ति-पूजा को स्थान नही दिया गया, अपितु वहा गुण-पूजा पर विशेष बल दिया गया है।

तीर्थंकर अर्हन्तो में मे ही होते है। वे धर्म तीर्थ की पुन स्थापना करते है, अत तीर्थंकर कहलाते है। जो साधक किसी जन्म मे ऐसी शुभ भावना करता है कि मैं जगत के समस्त जीवो का दुःख निवारण करूँ, उन्हे ससार के दु खो से छुडाकर मुक्त करूँ तथा इस प्रकार की भावना के साथ सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तन करे, उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है अर्थात् वह आगामी जन्म में अथवा एक जन्म के पश्चात् तीर्थंकर बनता है। कोई जीव उसी जन्म मे (विदेह क्षेत्र में) तीर्थंकर बनता है। वे सोलह कारण भावनाऐं इस प्रकार है—

तीर्थंकर धर्म नेता हैं, धर्म-संस्थापक नहीं

१ दर्शन विशुद्धि—पच्चीस दोषो से रहित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति । यह गुण तीर्थकर प्रकृति के लिए आवश्यक ही नही, अनिवार्य है ।
२ विनय सम्पन्नता—देव, शास्त्र और गुरु तथा रत्नत्रय का हृदय मे सम्मान करना ।
३. शील और व्रतो का निरतिचार पालन—व्रतो तथा व्रतो के रक्षक नियमो (शीलो) मे दोष न लगने देना ।
४ अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—निरन्तर सत्य ज्ञान का अभ्यास, चिन्तन, मनन करना।
५ अभीक्ष्ण सवेग—धर्म और धर्म के फल से अनुराग होना ।
६ शक्ति के अनुसार त्याग—अपनी शक्ति के अनुसार कषाय का त्याग, ममत्व का त्याग तथा आहार, अभय, औषधि और ज्ञान का दान करना।
७ शक्ति के अनुसार तप—अपनी शक्ति को न छिपा कर अन्तरग और बहिरग तप करना
८ साधु समाधि—साधुओ का उपसर्ग दूर करना तथा समाधि पूर्वक मरण करना
९ वैयावृत्य करण—व्रती त्यागी और साधर्मी जनो की सेवा करना, दुखी का दुःख दूर करना
१० अर्हन्त भक्ति—अर्हन्त भगवान की हृदय मे भक्ति करना
११ आचार्य भक्ति—चतुर्विध सघ के नायक आचार्य की भक्ति करना
१२ बहुश्रुत भक्ति—उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना
१३ प्रवचन भक्ति—तीर्थकरो द्वारा उपदिष्ट जिनवाणी की भक्ति करना
१४ आवश्यकापरिहाणी—छह आवश्यक कर्मों का सावधानी पूर्वक पालन करना
१५ मार्ग प्रभावना—जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करना
१६ प्रवचन वात्सल्य—साधर्मी जनो से निश्छल प्रेम करना

तीर्थंकर किसी नये धर्म की स्थापना नही करता, न वह किसी नये सत्य का उद्घाटन ही करता है। वह तो सनातन सत्य का ही प्ररूपण करता है । इसे ही तीर्थ-प्रवर्तन कहा जाता है । यह धर्म तीर्थ का प्ररूपक धर्मनेता होता है, धर्म सस्थापक नही होता । धर्म तो अनादि निधन है । उसकी स्थापना नही हो सकती । धर्म के कारण जो व्यक्ति तीर्थकर बना है, वह किस नये धर्म की स्थापना करेगा क्योकि धर्म तो उससे पूर्व भी था । वस्तुत धर्म से तीर्थकर बनता है, तीर्थकर से धर्म नही बनता । जो व्यक्ति से धर्म बनता है, वह धर्म नही, व्यक्ति की मान्यता है। वस्तु का स्वभाव धर्म है, वह तो वस्तु के साथ है । वह स्वभाव किसी के द्वारा बनाया नही जाता, केवल बताया जाता है । अत· तीर्थकर धर्मनेता है, धर्म सस्थापक नही ।

जैन धर्म में अवतारवाद नहीं है

जैन धर्म में किसी ऐसे ईश्वर की मान्यता नही है जो अवतार लेता है । तीर्थकर ईश्वर नही होते । वे तीर्थकर कर्म के कारण तीर्थकर कहलाते है । तीर्थकर नामकर्म सातिशय पुण्य प्रकृति है । तीर्थकर नाम कर्म के कारण कल्याणक प्रत्येक तीर्थकर के होते है । उनके ३४ अतिशय अर्थात् जन साधारण की अपेक्षा अद्भुत बाते होती है । जन्म के समय १० अतिशय होते है, केवल ज्ञान हो जाने के अनन्तर १० अतिशय स्वय होते है तथा १४ अतिशय देवो द्वारा सम्पन्न होते है । इन अतिशयो के अतिरिक्त तीर्थकर के अपनी माता के गर्भ मे आने मे ६ मास पहले सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है । तब वह अवधिज्ञान से ६ मास पश्चात् होने वाले तीर्थकर के गर्भावतरण को जानकर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि ५६ कुमारिका देवियो को तीर्थकर की माता का गर्भ-शोधन के लिए भेजता है तथा कुबेर को तीर्थकर के माता-पिता के घर पर प्रतिदिन तीन समय साढे तीन करोड रत्न बरसाने की आज्ञा देता है । यह रत्नवर्षा जन्म होने तक अर्थात् १५ मास तक होती है । छह मास पीछे जब तीर्थकर माता के गर्भ मे आते है, तब माता को रात्रि के अन्तिम प्रहर मे १६ स्वप्न दिखाई देते है । यह सब पुण्य का फल है ।

वस्तुत पुण्य के कारण तीर्थकर को जो लाभ होता है, उसमे यह सूचित होता है कि वे तीर्थकर बनेगे । किन्तु जब केवल ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वे भाव-तीर्थ की स्थापना अथवा तीर्थ-प्रवर्तन करते हैं, तीर्थकर तो वे तभी कहलाते हैं । गर्भ से तीर्थकर द्रव्य दृष्टि से कहलाते हैं और भाव से धर्मतीर्थ-प्रवर्तन के कारण तीर्थंकर कहलाते

हैं । किन्तु वे तीर्थंकर बनते है अपनी साधना, तपस्या और पुरुषार्थ द्वारा । तीर्थंकर कर्म नष्ट करने पर परमात्मा बन जाते है, किन्तु कोई परमात्मा कर्म-बन्ध करके तीर्थंकर नही बनता । इसलिये तीर्थंकर अवतार नही कहलाते । सिद्ध परमात्मा बनने पर उनके कोई कर्म शेष नही रहता । जन्म, मरण, रोग, शोक चिन्ता आदि कर्म के फल है । जब कर्म ही नही तो ये आधि व्याधि भी नही हो सकती । इसीलिए जैन धर्म मे अवतारवाद की कल्पना को कोई स्थान नही है ।

तीर्थंकर चौबीस होते है । वर्तमान तीर्थंकरो के नाम इस प्रकार है—

तीर्थंकरों के नाम

१ ऋषभदेव, २ अजितनाथ, ३ सभवनाथ, ४ अभिनन्दननाथ, ५ सुमतिनाथ, ६ पद्मप्रभ ७ सुपार्श्वनाथ, ८ चन्द्रप्रभ, ९ पुष्पदन्त, १० शीतलनाथ, ११ श्रेयासनाथ, १२ वासुपूज्य, १३ विमलनाथ, १४ अनन्तनाथ, १५ धर्मनाथ, १६ शान्तिनाथ, १७ कुन्थुनाथ, १८ अरहनाथ १९ मल्लिनाथ, २० मुनिसुव्रतनाथ, २१ नमिनाथ २२ नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) २३ पार्श्वनाथ, २४ महावीर वर्धमान ।

तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञातव्य

तीर्थंकरो के वश, वर्ण, विवाह, आसन आदि की जानकारी करना भी अत्यन्त रोचक होगा, अत उनके सम्बन्ध मे कुछ ज्ञातव्य बातो का उल्लेख यहा किया जा रहा है ।

वश—भगवान महावीर नाथवश मे उत्पन्न हुए । श्वेताम्बर परम्परा मे इनका वश णाय वश (ज्ञातृ वश) बताया है । भगवान पार्श्वनाथ का जन्म उग्रवश मे हुआ । मुनि सुव्रत नाथ और नेमिनाथ हरिवश मे उत्पन्न हुए । धर्मनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ कुरुवश मे पैदा हुए । शेष १७ तीर्थंकर इक्ष्वाकु वश मे हुए ।

वर्ण—सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथ तीर्थंकर हरित वर्ण के थे । मुनिसुव्रतनाथ और नेमिनाथ नील वर्ण थे । चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त का शरीर सफेद था । पद्मप्रभ और वासुपूज्य का रग लाल था । शेष १६ तीर्थंकरो के शरीर का वर्ण सतप्त स्वर्ण जैसा था ।

विवाह—वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पाच तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी थे । इन्होने विवाह नहीं किया था, कुमार अवस्था मे ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी । शेष तीर्थंकरो ने विवाह किया था ।

इस विषय मे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा मे कुछ मान्यता-भेद है । दिगम्बर परम्परा मान्य 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थ मे इस सम्बन्ध मे इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'नेमी मल्ली वीरो कुमार कालम्मि वासुपुज्जो य ।
पासो वि य गहिद तपा शेष जिणा रज्ज चरमम्मि ।।४।६७०

अर्थात् भगवान नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पाच तीर्थंकरो ने कुमार-काल मे और शेष तीर्थंकरो ने राज्य के अन्त मे तप को ग्रहण किया ।

'तिलोयपण्णत्ति' की इस मान्यता का समर्थन दिगम्बर परम्परा के शेष सभी ग्रन्थो ने किया है । इसलिए दिगम्बर परम्परा मे इन पाच तीर्थंकरो को पचकुमार अथवा पच बालयति माना है । इन पच बालयतियो की मूर्तियां भी अत्यन्त प्राचीन काल से उपलब्ध होती है ।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मे इस सम्बन्ध मे दो मान्यताये प्रचलित रही है । 'आवश्यक निर्युक्ति' में जो कि प्राचीन आगम ग्रन्थ माना जाता है, इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है—

'वीरं अरिट्ठनेमि पासं मल्लि च वासुपुज्जं च ।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ।।२४३।।
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवसेसु खत्तिअकुलेसु ।
ण य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया ।।२४४।।

अर्थात् महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, मल्लिनाथ, और वासुपूज्य ये पाच तीर्थंकर विशुद्ध क्षत्रिय राज-

कुल में उत्पन्न हुए और कुमार अवस्था में ही मुनि-दीक्षा ली। इन्होने न तो विवाह किया, न इनका राज्याभिषेक हुआ। शेष सभी तीर्थंकरो का विवाह तथा राज्याभिषेक हुआ। पीछे उन्होने प्रव्रज्या ग्रहण की।

'ण य इत्थिआभिसेआ' का अर्थ टिप्पणी में लिखा है—'स्त्री पाणिग्रहण इत्यादि रहिता इत्यर्थ अर्थात् स्त्री-पाणिग्रहण और राज्याभिषेक से रहित उक्त पाच तीर्थंकर थे।

आवश्यक निर्युक्तिकार की इस मान्यता के अनुसार ही स्थानाग, समवायाग, भगवती आदि सूत्रो में भी इन पाच तीर्थंकरो के विवाह का उल्लेख नही किया है। समवायाग सूत्र (न० १६) में आगारवास का उल्लेख करते हुए १६ तीर्थंकरो का घर में रहकर और भोग भोग कर दीक्षित होना बतलाया है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति में 'शेषास्तु पंचकुमार भाव एवेत्याह च' वाक्य के साथ 'वीर अरिट्ठणेमी' नामक गाथा उद्धृत की है। 'स्थानांग' सूत्र के ४७६ वे सूत्र में भी पाच तीर्थंकरो को कुमार प्रव्रजित कहा है। 'आवश्यक निर्युक्ति' की २४८ वी गाथा में भी इसी आशय को स्पष्ट किया है। वह गाथा इस प्रकार है—

'वीरो अरिट्ठणेमी पासो मल्लिवासुपुज्जो य।
पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिमवयंसि ॥

इस गाथा की टीका करते हुए टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है—'प्रथम वयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिता. शेषा पुन ऋषभस्वामि प्रभृतयो मध्यमे वयसि यौवनत्वलक्षणे वर्तमाना प्रव्रजिता।

यद्यपि इन सूत्रग्रन्थो में इन पाच तीर्थंकरो को स्पष्ट रूप से कुमार स्वीकार किया है तथा शेष तीर्थंकरो को घर मे रहकर और भोग भोगकर दीक्षित होना लिखा है, जिसका अर्थ है कि उन पाच तीर्थंकरो ने भोग नही भोगे। किन्तु पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर आगम ग्रन्थो—कल्पसूत्र, आवश्यक भाष्य, आचाराग आदि मे पार्श्वनाथ और महावीर को विवाहित माना है, तथा वासुपूज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ को बिना विवाह किये दीक्षित होना माना है।

आचार्य हेमचन्द्र 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष-चरित' के वासुपूज्य-चरित्र मे उल्लिखित पाच तीर्थंकरो मे से महावीर के सिवाय चार को अविवाहित कहते है। यथा—

मल्लिर्नेमिः पार्श्व इति भाविनोऽपि त्रयो जिनाः।
अकृतोद्वाह साम्राज्याः प्रव्रजिष्यन्ति मुक्तये ॥१०३॥
श्री वीरश्चरमश्चार्हन्नीषद्भोग्येन कर्मणा।
कृतोद्वाहोऽकृतराज्यः प्रव्रजिष्यति सेत्स्यति ॥१०४॥

परन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ चरित पर्व ६ सर्ग ३ मे हेमचन्द्र पार्श्व को विवाहित सूचित करते है। इस पर्व के २१० वे श्लोक का एक चरण इस प्रकार है—'उद्वाह प्रभावतीम्'

इससे ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र को इस सर्ग की रचना करते समय अपनी पूर्व स्थापना का स्मरण नही रहा तथा उनके समक्ष कोई दूसरी भी परम्परा विद्यमान थी। उस परम्परा के अनुसरण के आग्रह के कारण ही उन्होने पार्श्वनाथ का विवाह प्रभावती के साथ होना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा मे तीर्थंकरो के विवाह के सम्बन्ध में दो मान्यताये प्रचलित रही है।

३—तीर्थंकर और प्रतीक-पूजा

जन-मानस मे तीर्थंकरो के लोकोत्तर व्यक्तित्व की छाप बहुत गहरी रही है। उन्होने जन-जन के कल्याण और उपकार के लिए जो कुछ किया, उस अनुग्रह को जनता ने बडी श्रद्धा के साथ स्वीकार किया। जब जो तीर्थंकर विद्यमान थे, उनकी भक्ति, पूजा और उपदेश श्रवण करने के लिए जनता का प्रत्येक वर्ग उनके चरण-सान्निध्य मे पहुचता था और वहाँ जाकर अपने हृदय की भक्ति का अर्घ्य उनके चरणो में समर्पित करके अपने आपको धन्य मानता था। किन्तु जब उस तीर्थंकर का निर्वाण हो गया, तब जनता का मानस उनके अभाव को तीव्रता के साथ अनुभव करता और अपनी भक्ति के पुष्प समर्पित करने को आकुल हो उठता था। जनता के मानस की इसी तीव्र अनुभूति ने प्रतीक-पूजा की पद्धति को जन्म दिया।

प्रतीक दो प्रकार के रहे-अतदाकार और तदाकार। ये दोनो ही प्रतीक अविद्यमान तीर्थंकरो की स्मृति का पुनर्नवीकरण करते थे और जन-मानस मे तीर्थंकरो के आदर्श की प्रेरणा जागृत करते थे। इन दोनो प्रकार के प्रतीको मे शायद अतदाकार प्रतीको की मान्यता सर्व प्रथम प्रचलित हुई। ऐसा विश्वास करने के कुछ प्रबल कारण है। सर्व प्रथम आधार मनोवैज्ञानिक है। मानव की बुद्धि का विकास क्रमिक रूप से ही हुआ है। प्रतीको का जो रूप वर्तमान मे है, वह सदा काल से नही रहा। हम आगे चलकर देखेगे कि तदाकार मूर्ति-शिल्प मे समय, वातावरण और बुद्धि-विकास का कितना योगदान रहा है। अतदाकार प्रतीक से ही तदाकार प्रतीक की कल्पना का जन्म सभव हो सकता है। दूसरा प्रबल कारण है पुरातात्त्विक साक्ष्य। पुरातात्त्विक साक्ष्य के आधार पर यह माना गया है कि तदाकार प्रतीक के रूप (मन्दिर और मूर्ति के रूप मे) बहुत अधिक प्राचीन नही है और वे हमे ईसा पूर्व की सात-आठ शताब्दियो से पूर्वकाल तक नही ले जाते, जबकि अतदाकार प्रतीक इससे पूर्व के भी उपलब्ध होते है। यदि हडप्पाकाल की शिरविहीन ध्यानमग्न मूर्ति को निर्विवाद रूप मे तीर्थंकर प्रतिमा होने की स्वीकृति हो जाती है तो तदाकार प्रतीक का काल ईसा पूर्व तीन सहस्राब्दी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि उस काल मे भी तदाकार प्रतीको का बाहुल्य नही था। एक शिरोहीन मूर्ति तथा कुछ मुद्राओ पर अकित ध्यानलीन योगी जिन के रूपाकन के अतिरिक्त उस काल में विशेष कुछ नही मिला। ऐसी स्थिति मे यह भी विचारणीय है कि हडप्पा सस्कृति अथवा सिन्धु सभ्यता के काल से मौर्य काल तक के लम्बे अन्तराल में तदाकार प्रतीक-विधान की कोई कला-वस्तु क्यो नही मिली? इसका एक ही बुद्धिसगत कारण हो सकता है कि तदाकार प्रतीक-विधान का विकास तब तक नही हो पाया और उसने पर्याप्त समय लिया।

जैनधर्म के अतदाकार प्रतीको मे स्तूप, त्रिरत्न, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, पूर्णघट, शराव सम्पुट, पुष्पमाला, पुष्पपडलक आदि मुख्य है। अष्ट मगल द्रव्य-यथा स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीनयुगल, पद्म और दर्पण-तथा तीर्थंकरो के लाछन भी अतदाकार प्रतीको मे माने गये है। अष्ट प्रातिहार्य एव आयापट्ट भी महत्त्वपूर्ण प्रतीक माने गये है। कला के प्रारम्भिक काल में इन अतदाकार प्रतीको का पर्याप्त प्रचलन रहा है।

किन्तु जैसे-जैसे कला-बोध विकसित हुआ, त्यो-त्यो प्रतीक की तदाकारता को अधिक महत्त्व मिलने लगा। इसी काल मे तीर्थंकरो की तदाकार मूर्तियो का निर्माण होने लगा। प्रारम्भ मे प्रकृत भूमि से कुछ ऊचे स्थान

पर देव-मूर्ति स्थापित की जाती थी। उसके चारो ओर वेदिका (बाड) का निर्माण होता था। धीरे धीरे वेदिका को ऊपर से आच्छादित किया जाने लगा। यही देवायतन, देवालय या मन्दिर कहे जाने लगे। प्रारम्भ में ये देवायतन सीधे सादे रूप मे बनाये जाते थे। पुरातत्त्वावशेषो मे कई मूर्तियो, सिक्को, मुद्राओ आदि पर देवायतनो का अकन मिलता है। उससे ही ज्ञात होता है कि प्रारम्भ मे मन्दिरो का रूप अत्यन्त सादा था। कालान्तर मे कलात्मक रुचि मे अभिवृद्धि के साथ साथ देवायतनो के स्वरूप मे विकास होता गया। मूर्ति-स्थापना के स्थल पर गर्भगृह को परि-वेष्टित करने के अतिरिक्त उसके बाहर चारो ओर प्रदक्षिणापथ का निर्माण हुआ। गर्भगृह के बाहर आच्छादित प्रवेशद्वार या मुख-मण्डप का निर्माण हुआ। धीरे धीरे गर्भगृह के ऊपर शिखर तथा बाहर मण्डप, अर्धमण्डप, महा-मण्डप आदि का विधान हुआ। गुप्तकाल में आकर मन्दिर शिल्प और मूर्ति शिल्प के शास्त्रो की रचना भी होने लगी, जिनके आधार पर मन्दिर और मूर्तियो की रचना सुनियोजित ढग मे होने लगी।

मन्दिर-निर्माण की पृष्ठभूमि

प्रागैतिहासिक काल के पूर्व पाषाण युग मे, जिसे जैन शास्त्रो मे भोगभूमि बताया है, मानव अपनी जीवन-रक्षा के लिए वृक्षो पर निर्भर था, वृक्षो से ही अपने जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओ की पूर्ति करता था। कुलकरो के काल मे मानव की बुद्धि का विकास हुआ और उस काल में मानव को जीवन-रक्षा के लिए सघर्ष करना पडा। अत जीवन-रक्षा के कुछ उपाय ढूढने को बाध्य होना पडा। छुटपुट रहने के स्थान पर कबीलो के रूप मे रहने की पद्धति अपनाई गई। किन्तु इस काल मे भी वृक्षो की निर्भरता समाप्त नही हुई, बल्कि वृक्षो के कारण कबीलो मे पारस्परिक सघर्ष भी होने लगे। प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। वृक्ष घट रहे थे, मानव की आवश्यकताये बढ रही थी। कुलकरो ने वृक्षो का विभाजन और सीमाकन कर दिया। किन्तु फल वाले वृक्षो की सख्या कम होते जाने से जीवन-यापन की समस्या उठ खडी हुई। वन्य पशुओ से रक्षा के लिए सुरक्षित आवास की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी थी।

तब ऋषभदेव का काल आया। इसे नागरिक सभ्यता का काल कहा जा सकता है। इस काल मे तीर्थंकर ऋषभदेव ने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करने की प्रेरणा दी और मानव समाज को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणि-ज्य और शिल्प की शिक्षा दी। इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की। भवन-निर्माण करने की विद्या बताई, जिससे भवनो का निर्माण होने लगा। इस काल मे सघटित जीवन की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने ग्रामो, पुरो, नगरो को जन्म दिया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और जीवन की प्रत्येक आवश्यकता-पूर्ति के लिए ऋषभदेव ने जो विविध प्रयोग करके मानव समाज को बताये और उसे व्यवस्थित नागरिक जीवन बिताने की जो शिक्षा दी, उसके कारण तत्कालीन सम्पूर्ण मानव समाज ऋषभदेव के प्रति हृदय से कृतज्ञ था। और जब ऋषभदेव ने ससार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली तथा दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि के रूप मे घोर तप करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, उसके पश्चात् समवशरण मे, गन्धकुटी में सिहासन पर विराजमान होकर उन्होंने धर्म-देशना दी। मानव समाज के लिए वह धर्म-देशना अश्रुतपूर्व थी, समवशरण की वह रचना अदृष्टपूर्व थी। उनका उपदेश कल्याणकारक था, हितकारक था, सुखकारक था और शान्तिकारक था। इससे सम्पूर्ण मानव-समाज के मन मे तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अजस्र धारा बहने लगी। वे सम्पूर्ण मानव समाज के आराध्य बन गये और उसके मन में समवशरण की प्रतिकृति बनाकर उसमे ऋषभदेव की तदाकार मूर्ति बनाकर उसकी पूजा करने की ललक जागृत हुई।

इन्द्र ने अयोध्या का निर्माण करते समय नगर की चारो दिशाओ मे और नगर के मध्य मे पाच देवालयो या जिनायतनो की रचना करके जिनायतनो का निर्माण करने और उसमे मूर्ति-स्थापना करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

एक बार जब सम्राट भरत कैलाश गिरि पर भगवान ऋषभदेव के दर्शन करके अयोध्या लौटे तो उनका मन भगवान की भक्ति मे ओतप्रोत था। उन्होने भगवान के दर्शन की उस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए कैलाश शिखर के आकार के घण्टे बनवाये और उन पर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति का अकन कराया। ये घण्टे नगर के चतुष्पथो, गोपुरो, राजप्रासाद के द्वारो और ड्योढियों में लटकवाये। यह मानवकृत प्रथम अतदाकार प्रतीक-स्थापना थी।

किन्तु इतने से सम्राट भरत के मन को सन्तुष्टि नही हुई। इसमे भगवान की पूजा का उनका उद्देश्य पूरा नही होता था। तब उन्होने इन्द्र द्वारा बनाये गए जिनायतनो से प्रेरणा प्राप्त करके कैलाशगिरि पर ७२ जिनायतनो का निर्माण कराया और उनमें अनर्घ्य रत्नो की प्रतिमाये विराजमान कराई। मानव के इतिहास में तदाकार प्रतीक-स्थापना और उसकी पूजा का यह प्रथम सफल उद्योग कहलाया। अत साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर यह स्वीकार करना असगत न होगा कि नागरिक सभ्यता के विकास-काल की उषा-वेला मे ही मन्दिरो और मूर्तियो का निर्माण प्रारम्भ हो गया था।

पौराणिक जैन साहित्य मे मन्दिरो और मूर्तियो के उल्लेख विभिन्न स्थलो पर प्रचुरता से प्राप्त होते है। सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्रो ने भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये हुए इन मन्दिरो की रक्षा के लिए भारी उद्योग किया था और उनके चारो ओर परिखा खोदकर भागीरथी के जल से उसे पूर्ण कर दिया था। लकाधिपति रावण इन मन्दिरो के दर्शनो के लिए कई बार आया था। लका मे एक शान्तिनाथ जिनालय था, जिसमे रावण पूजन किया करता था और लका-विजय के पश्चात् रामचन्द्र, लक्ष्मण आदि ने भी उसके दर्शन किये थे।

साहित्य मे ई० पूर्व ६०० मे पहले के मन्दिरो के उल्लेख मिलते है। भगवान पार्श्वनाथ के काल मे किसी कुवेरा देवी ने एक मन्दिर बनवाया था, जो बाद मे देवनिर्मित बौद्ध स्तूप कहा जाने लगा। यह सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल मे सोने का बना था। जब लोग इसका सोना निकाल कर ले जाने लगे, तब कुवेरा देवी ने इसे प्रस्तर खण्डो और ईंटो से ढक दिया। (विविध तीर्थ कल्प-मथुरापुरी कल्प)। स्थापत्य की इस अनुपम कलाकृति का उल्लेख ककाली टीला (मथुरा) से प्राप्त भगवान मुनिसुव्रत की द्वितीय सदी की प्रतिमा की चरण-चौकी पर अकित मिलता है।

भगवान पार्श्वनाथ के पश्चात् दन्तिपुर (उडीसा) नरेश करकण्डु ने तेरापुर गुफाओ मे गुहा-मन्दिर (लयण) बनवाय और उनमे पार्श्वनाथ तीर्थंकर की पाषाण प्रतिमा विराजमान कराई। ये लयण और प्रतिमा अब-तक विद्यमान है। 'करकण्डु चरिउ' आदि ग्रन्थो के अनुसार तो ये लयण और पार्श्वनाथ-प्रतिमा करकण्डु नरेश से भी पूर्ववर्ती थे।

आवश्यक चूर्णि, निशीथ चूर्णि, वसुदेव हिण्डी, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित आदि ग्रन्थो मे एक विशेष घटना का उल्लेख मिलता है जो इस प्रकार है—

'सिन्धु सौवीर के राजा उद्दायन के पास जीवन्त स्वामी की चन्दन की एक प्रतिमा थी। यह प्रतिमा भगवान महावीर के जीवन-काल में ही बनी थी। इसलिए उसे जीवन्त स्वामी की मूर्ति कहते थे। उज्जयिनी के राजा प्रद्योत ने अपनी एक प्रेमिका दासी के द्वारा यह मूर्ति चोरी से प्राप्त करली और उसके स्थान पर तदनुरूप काष्ठ-मूर्ति स्थापित करा दी थी।

किन्तु यह मूर्ति किसी देवालय मे विराजमान थी, ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नही होता।

आश्चर्य है कि पुरातत्त्व वेत्ताओ ने अभी तक इन मन्दिरो और मूर्तियो को स्वीकृति प्रदान नही की।

मूर्ति-निर्माण का इतिहास

पुरातत्त्ववेत्ताओं की धारणा है कि आरम्भ मे मूर्तियाँ मिट्टी की बनाई जाती थी। बहुत समय तक इन मृण्मूर्तियो का प्रचलन रहा। उत्खनन द्वारा जो पुरातत्त्व सामग्री उपलब्ध हुई है उसमे इन मृण्मूर्तियो का बहुत बडा भाग है। हडप्पा, कौशाम्बी, मथुरा आदि मे बहुसख्या में मृण्मूर्तियाँ मिली है। किन्तु मृण्मूर्तियाँ अधिक चिरस्थायी नही रहती थी। अत. मृण्मूर्तियो को पकाया जाने लगा। प्राय पकी हुई मृण्मूर्तियाँ ही विभिन्न स्थानो पर मिली है। किन्तु पकी मृण्मूर्तियाँ भी स्थायित्व की दृष्टि से असफल रही; तब पाषाण की मूर्तियाँ निर्मित होने लगी।

प्रारम्भ में पाषाण-मूर्तियाँ किसी देवता या तीर्थंकर की नही बनाई गई, बल्कि यक्षो की पाषाण-मूर्तियाँ प्रारम्भ में बनाई गई। इस काल में पाषाण में तक्षण-कला का विकास नही हुआ था। अत यक्षो की जो प्रारम्भिक पाषाण-मूर्तियाँ मिलती है, उनमे सौन्दर्य-बोध का प्रायः अभाव है। एक प्रकार से ये मूर्तियाँ बेडौल है, मानो किन्ही नौसिखिये हाथो ने इन्हे गढा हो। मथुरा में ककाली टीला, परखम आदि स्थानो से इसी प्रकार की विशालकाय

बेडौल यक्ष-मूर्तियाँ मिली है। यह कहा जा सकता है कि मृण्मूर्तियो मे तो कला के दर्शन होते हैं, किन्तु इन प्रारम्भिक यक्ष-प्रतिमाओं में कला नाम की कोई चीज नही मिलती। मृण्मूर्तियो में कला का विकास शनैः शनैः हुआ। इसलिए पाषाण-मूर्तियो के प्रारम्भिक निर्माण-काल में भी मृण्मूर्तियो मे वैविध्य के दर्शन होते है। स्त्री-पुरुषो के अलकृत केश-विन्यास, पशु-पक्षियो के रूप, पचशर कामदेव, विभिन्न मुद्राओ में स्त्रियो के नानाविध रूप इन मृण्मूर्तियो की विशेषता है। दूसरी ओर पाषाण-मूर्तियाँ प्रारम्भ में अविकसित रूप मे दीख पडती है।

पुरातत्त्ववेत्ताओ के मत मे लोहानीपुर (पटना का एक मुहल्ला) मे नाला खोदते समय जो तीर्थकर-प्रतिमा उपलब्ध हुई है, वह भारत की मूर्तियों में प्राचीनतम है। यह आजकल पटना म्यूजियम में सुरक्षित है। इसका सिर नही है। कुहनियो और घुटनो मे भी खण्डित है। किन्तु कन्धों और बाहों की मुद्रा से यह खड्गासन सिद्ध होती है तथा इसकी चमकीली पालिश से इसे मौर्यकाल (३२०-१८५ ई० पू०) की माना गया है। हडप्पा मे जो खण्डित जिन-प्रतिमा मिली है, उससे लोहानीपुर की इस जिन-प्रतिमा मे एक अद्भुत सादृश्य परिलक्षित होता है। और इसी सादृश्य के आधार पर कुछ विद्वानो ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय मूर्ति-कला का इतिहास वर्तमान मान्यता से कही अधिक प्राचीन है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि देव-मूर्तियो के निर्माण का प्रारम्भ जैनो ने किया। उन्होने ही सर्व प्रथम तीर्थकर-मूर्तियो का निर्माण करके धार्मिक जगत को एक आदर्श प्रस्तुत किया। उन्ही के अनुकरण पर शिव-मूर्तियो का निर्माण हुआ। विष्णु, बुद्ध आदि की मूर्तियो के निर्माण का इतिहास बहुत पश्चात्कालीन है।

एक अन्य मूर्ति के सम्बन्ध मे उदयगिरि की हाथीगुफा में एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख के अनुसार कलिग नरेश खारवेल मगध नरेश वहसतिमित्र को परास्त करके छत्र-भृगारादि के साथ 'कलिग जिन ऋषभदेव' की मूर्ति वापिस कलिग लाये थे जिसे नन्द सम्राट कलिग से पाटलिपुत्र ले गये थे। सम्राट् खारवेल ने इस प्राचीन मूर्ति को कुमारी पर्वत पर अर्हत्प्रासाद बनवाकर विराजमान किया था। इस ऐतिहासिक शिलालेख की इस सूचना को अत्यन्त प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार मौर्य-काल से पूर्व मे भी एक मूर्ति थी, जिसे 'कलिग-जिन' कहा जाता था। 'कलिग-जिन' इस नाम से ही प्रगट होता है कि सम्पूर्ण कलिगवासी इस मूर्ति को अपना आराध्य देवता मानते थे। नन्द सम्राट इसे अपने साथ केवल एक ही उद्देश्य से ले गये थे और वह उद्देश्य था कलिग का अपमान। लगभग तीन शताब्दियों तक कलिगवासी इस अपमान को भूले नहीं और अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिकार कलिग सम्राट खारवेल ने किया। वह मगध को विजय करके अपने साथ अपने उस राष्ट्र-देवता की मूर्ति को वापिस ले गया। किन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि अबतक एक भी पुरातत्त्व वेत्ता और इतिहासकार ने इस ऐतिहासिक मूर्ति के सम्बन्ध मे कोई खोज नही की। आखिर ऐसी ऐतिहासिक मूर्ति कुमारी पर्वत से कब किस काल मे किसने कहाँ स्थानान्तरित कर दी? यदि यह मूर्ति उपलब्ध हो जाय तो इससे लोहानीपुर की मूर्ति को प्राचीनतम मानने वाले पुरातत्त्ववेत्ताओ के मत को न केवल असत्य स्वीकार करना पडेगा, वरन् मूर्ति-निर्माण का इतिहास और एक-दो शताब्दी प्राचीन मानना होगा। कुछ अनुसन्धानकर्त्ता विद्वानो की धारणा है कि जगन्नाथपुरी की मूर्ति ही वह 'कलिग जिन' मूर्ति है। किन्तु इस सम्बन्ध मे अभी साधिकार कुछ कहा नही जा सकता।

इसके पश्चात् शक-कुशाण काल मे मूर्ति कला का द्रुत वेग से विकास हुआ। इस काल मे भी सर्व प्रथम तीर्थकर-मूर्तियो का निर्माण प्रारम्भ हुआ। मथुरा इस काल मे मूर्ति-कला का केन्द्र था। तीर्थकर-मूर्तियो मे भी अधिकाशत पद्मासन ही बनाई जाती थी। इस काल मे तीर्थकर-मूर्तियो के वक्ष पर श्रीवत्स, लाछन और अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन प्राय नही दीखता। तीथकर-मूर्तियो मे अलकरण का भी अभाव था। मूर्तियो की चरण-चौकी पर अभिलेख अकित करने की प्रथा का जन्म हो चुका था। जिस बौद्ध स्तूप की चर्चा ऊपर आ चुकी है, उसकी सूचना भी भगवान मुनिसुव्रतनाथ की चरण-चौकी के अभिलेख मे ही मिलती है। इस काल की तीर्थकर-प्रतिमाओ का अध्ययन करने पर एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नही रहता। ईसा की इन प्रथम द्वितीय शताब्दियो मे भी आदिनाथ, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थकरो के समान जनता मे नेमिनाथ की भी मान्यता बहुप्रचलित थी। इस काल की भगवान नेमिनाथ की तीन प्रतिमाये विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुई है। एक मे नेमिनाथ पद्मासन लगाये ध्यान-मुद्रा में अवस्थित है और उनके दोनो ओर

बलराम और कृष्ण खडे है। दोनो ही द्विभुजी है। दूसरी प्रतिमा मे ध्यानमग्न नेमिनाथ के एक ओर शेषनाग के अवतार के रुप में चतुर्भु जी बलराम खडे है। उनके सिर पर शेषनाग का प्रतीक फण-मण्डप है। दूसरी ओर विष्णु के अवतार के रूप मे चतुर्भु जी कृष्ण खडे है। उनके हाथो मे चक्र, पद्म आदि सुशोभित है। तीसरी मूर्ति अर्धभग्न है। इसमें नेमिनाथ ध्यानावस्थित है। एक ओर बलराम खडे है। उनका हल-मूशल उनके कन्धे पर विराजित है। इन मूर्तियो की प्राप्ति पुरातत्त्व की महान् उपलब्धि मानी जाती है। इससे नारायण कृष्ण को ऐतिहासिकता के समान उनके चचेरे भाई भगवान नेमिनाथ को ऐतिहासिक महापुरुष मानने मे कोई सन्देह नही रह जाता।

इस काल मे तीर्थंकर-प्रतिमाओ के अतिरिक्त आयागपट्ट, स्तूप, यक्ष-यक्षी, अजमुख हरिनैगमेशी, सरस्वती, सर्वतोभद्रिका प्रतिमा, मागलिक चिन्ह, धर्मचक्र, चैत्यवृक्ष आदि जैनकला की विविध कृतियो का भी निर्माण हुआ। इन कलाकृतियो के वैविध्य और प्राचुर्य से प्रभावित कुछ विद्वान् तो यह भी मानने लगे है कि जैन मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ ही मथुरा से हुआ है। यद्यपि यह सर्वांशत: सत्य नही है क्योकि जैन मूर्तियो और जैन मूर्ति-पूजा के प्रमाण इससे पूर्वकाल मे भी उपलब्ध होते है। इतना अवश्य माना जा सकता है कि जैन धर्म का प्रचार करने और उसे लोकप्रिय बनाने मे मथुरा की जैन कला का विशेष योगदान रहा है।

मथुरा की तीर्थंकर-मूर्तियो के अध्ययन मे एक परिणाम सहज ही निकाला जा सकता है। दिगम्बर-श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भेद यद्यपि ईसा से तीन शताब्दी पूर्व हो चुका था, किन्तु उसका कोई प्रभाव मथुरा की तीर्थंकर मूर्तियो पर नही दिखाई पडता। यहाँ तक कि श्वेताम्बरो द्वारा प्रतिष्ठित तीर्थंकर-प्रतिमाये भी दिगम्बर ही बनाई जाती थी। और यह क्रम उत्तर मध्य काल तक चलता रहा।

कुषाणकालीन तीर्थंकर-प्रतिमाओ के साथ यक्ष-यक्षी भी प्राप्त नही होते। प्रतिमाओ के आजू बाजू खडे चमर धारी यक्षो का भी अभाव मिलता है। इन यक्षो के स्थान पर इस काल की प्रतिमाओ में दाता, उपासक, उनकी पत्नी, मुनि और आर्यिकाओ का अकन मिलता है। जिन-प्रतिमा के सिहासन के दोनो कोनो पर एक-एक सिह और बीच मे धर्मचक्र अकित होता है जिसके दोनो ओर मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका अकित रहते है।

कुषाण काल के पश्चात् गुप्त काल मे जैन मूर्ति-कला का बहुत निखार हुआ। इस काल की मूर्तियो में सौन्दर्य पर विशेष ध्यान दिया गया। मूर्ति के अलकरण पर बल दिया गया। अब मूर्तियो पर श्रीवत्स, लाछन और अष्ट प्रातिहार्य की योजना भी की जाने लगी। द्विमूर्तिकाये, त्रिमूर्तिकाये, सर्वतोभद्रिका, चतुर्विंशति तीर्थंकर प्रतिमाये, तीन चौबीसी, सहस्रकूट स्तम्भ आदि की सरचना होने लगी। मूर्तियो के केश-कुन्तल अत्यन्त कलापूर्ण बने। आदिनाथ के जटा-जूटो के नानाविध रुप उभरे। इस काल मे तीर्थंकरो के अतिरिक्त, तीर्थंकर-माता, तीर्थंकरो के सेवक-सेविका के रूप मे यक्ष-यक्षियो, विद्या देवियो, पचपरमेष्ठियो, भरत-बाहुबली की मूर्तियो का निर्माण भी प्रचुरता से हुआ। इनके अतिरिक्त अष्ट मगलद्रव्य, अष्ट प्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, नवग्रह, नवनिधि, मकरमुख, कीर्तिमुख, कीचक, गगा-यमुना, नाग-नागी आदि के अकन की परम्परा भी विकसित हुई। इस काल में देवी-मूर्तियो के अलकरण और उनकी साज-सज्जा पर विशेष ध्यान दिया गया। कुछ देवियाँ द्विभुजी, चतुर्भु जी, षड्भुजी दशभुजी, बारहभुजी, विंशतिभुजी और चतुर्विंशतिभुजी भी मिलती है। देवगढ की विकसित मूर्ति-कला गुप्तकाल की ही देन है।

गुप्तकाल के पश्चात् गुर्जर-प्रतिहार काल मे तथा कलचुरि काल मे श्वेताम्बर परम्परा की तीर्थंकर-प्रतिमाओ का निर्माण प्रारम्भ हो गया। इससे पूर्व तक श्वेताम्बर प्रतिमाओ का विशेष प्रचलन नही मिलता। सभी जैन प्रतिमाये दिगम्बर रूप मे ही बनाई जाती थी।

इस प्रकार जैन मूर्तियो के रूप, शिल्प विधान और उनकी सरचना का एक क्रमबद्ध इतिहास मिलता है। इससे उत्खनन में प्राप्त जैन मूर्तियो के काल-निर्णय में बहुत सहायता प्राप्त हो सकती है।

मन्दिरो का निर्माण कब प्रारम्भ हुआ, इस विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। पुरातात्त्विक साक्ष्यो के

जैन मन्दिरों की संरचना और उनका क्रमिक विकास

अनुसार जैन मन्दिरो का निर्माण-काल जैन प्रतिमाओ के निर्माण-काल से प्राचीन प्रतीत नही होता। लोहानीपुर, श्रावस्ती, मथुरा आदि में जैन मन्दिरो के अवशेष उपलब्ध हुए है, किन्तु अबतक सम्पूर्ण मन्दिर कही पर भी नही मिला। इसलिये प्राचीन जैन मन्दिरो का रूप क्या था, यह निश्चित तौर पर नही कहा जा सकता।

किन्तु गुहा-मन्दिर और लयण ईसा पूर्व सातवी आठवी शताब्दी तक के मिलते है। तेरापुर के लयण, उदयगिरि-खण्डगिरि के गुहामन्दिर, अजन्ता-ऐलौरा और बादामी की गुफाओ मे उत्कीर्ण जैन मूर्तिया इस बात के प्रमाण है कि गुफाओ को मन्दिरो का रूप प्रदान कर उनका धार्मिक उपयोग ईसा पूर्व से होने लगा था। इन गुहा-मन्दिरो का विकास भी हुआ। विकास का यह रूप मात्र इतना ही था कि कही-कही गुफाओ मे भित्ति-चित्रो का अकन किया गया। ऐसे कलापूर्ण भित्ति चित्र सित्तन्नवासन आदि गुफाओ मे अब भी मिलते है।

गुहा मन्दिरो में सामान्य मन्दिरो की अपेक्षा स्थायित्व अधिक रहा। इसीलिये हम देखते है कि ईसा पूर्व का कोई मन्दिर आज विद्यमान नही है, जबकि गुहा-मन्दिर अब भी मिलते है। लगता है, उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में मन्दिरो की सुरक्षा और स्थायित्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया। इसके दो ही कारण हो सकते हैं— प्रथम तो यह कि दक्षिण को उत्तर की अपेक्षा मूर्ति-विध्वसक मुस्लिम आक्रान्ताओ का कोप कम सहना पडा। दूसरे यह कि दक्षिण मे मन्दिरो की भव्यता और विशालता के साथ उसे चिरस्थायी बनाने की भावना भी काम करती रही। दक्षिण के अधिकाश मन्दिर राजाओ, रानियो, राज्याधिकारियों और राजश्रेष्ठियो द्वारा निर्मित हुए, जबकि उत्तर के अधिकाश मन्दिरो का निर्माण सामान्य जनो ने कराया। शक कुषाणकाल के मथुरा के मूर्ति-लेखो से प्रकट है कि वहाँ के आयागपट्ट, प्रतिमा और मन्दिर स्वर्णकार, वेश्या आदि ने ही बनवाये थे। ककुभग्राम का गुप्तकालीन मानस्तम्भ एक सुनार ने बनवाया था। अस्तु।

पुरातत्त्वज्ञों के मतानुसार महावीर-काल में जिनायतन नही थे, बल्कि यक्षायतन और यक्ष-चैत्य थे। श्वेताम्बर सूत्र-साहित्य मे किसी जिनायतन मे महावीर के ठहरने का उल्लेख नही प्राप्त होता, बल्कि यक्षायतनों मे उनके ठहरने के कई उल्लेख मिलते है। इन यक्षायतनो और चैत्यो के आदर्श पर जिनायतन या जिन-मन्दिरो की रचना की गई, यक्ष-मूर्तियो के अनुकरण पर जिन-मूर्तियाँ निर्मित हुई और यक्ष एव नाग-पूजा पद्धति से जिन-मूर्तियो की पूजा प्रभावित हुई।

किन्तु दिगम्बर साहित्यिक साक्ष्य के अनुसार कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल मे इन्द्र ने अयोध्या मे पाच मन्दिरो का निर्माण किया, भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये; शत्रुघ्न ने मथुरा मे अनेक जिन-मन्दिरो का निर्माण कराया। जैन मान्यतानुसार तो तीन लोको की रचना मे कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयो का पूजा-विधान जैन परम्परा मे अबतक सुरक्षित है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा मे जिन चैत्यालयो की कल्पना बहुत प्राचीन है।

किन्तु पुरातत्त्व को ज्ञात जैन मन्दिरो का प्रारम्भिक रूप-विधान कैसा था, इसमे अवश्य मतभेद दृष्टि-गोचर होता है। लगता है, प्रारम्भ मे मन्दिर सादे बनाये जाते थे। उन पर शिखर का विधान पश्चात्काल में विकसित हुआ। शिखर सुमेरु और कैलाश के अनुकरण पर बने। अनेक प्राचीन सिक्को पर मन्दिरो का प्रारम्भिक रूप देखने मे आता है। मथुरा की वेदिकाओ पर मन्दिराकृतियाँ मिलती है। जिन्हे विद्वानो ने मन्दिरो का प्रारम्भिक रूप माना है। ई० पू० द्वितीय और प्रथम शताब्दी के मथुरा-जिनालयों मे दो विशेषताये दिखाई देती है—प्रथम वेदिका और द्वितीय शिखर। इस सम्बन्ध मे प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी का अभिमत है कि मन्दिर के चारो ओर वृक्षों की वेष्टनी बनाई जाती थी। इसे ही वेदिका कहा जाता था। बाद मे यह वेष्टनी प्रस्तरनिर्मित होने लगी।

मौर्य और शुग काल मे जैन मन्दिरो का निर्माण अच्छी सख्या मे होने लगा था। उस समय ऊचे स्थान पर स्तम्भो के ऊपर छत बनाकर मन्दिर बनाये जाते थे। छत गोलाकार होती थी, पश्चात् अण्डाकार बनने लगी। शक-सातवाहन-काल (ई० पू० १०० से २०० ई०) मे मन्दिरो का निर्माण और अधिक सख्या मे होने लगा। इस काल में जैन मन्दिरो, उनके स्तम्भो और ध्वजाओ पर तीर्थंकर की मूर्ति बनाई जाने लगी। इस काल में

प्रदक्षिणा-पथ भी बनने लगे जो प्राय: काष्ठ की वेष्टनी से बनाये जाते थे। कुषाण काल में ये पाषाण के बनने लगे। (प्रो० वी० ऐन० लूनिया-प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ० ५६५)।

कुषाण काल मे जैन मन्दिर और भी अधिक बनने लगे। इस काल में मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, कम्पिला और हस्तिनापुर प्रमुख जैन केन्द्र थे।

गुप्त काल (ई० चौथी से छटी शताब्दी) में मन्दिरों का निर्माण प्रचुरता से होने लगा। सौन्दय और मन्दिरो के अलकरण पर विशेष ध्यान दिया गया। इस काल मे स्तम्भो को पत्रावली और मागलिक चिन्हो से अलकृत किया जाने लगा। तोरण और सिरदल के ऊपर तीर्थकर-मूर्ति बनाई जाने लगी। गर्भगृह के ऊपर शिखर बनने लगा। बाहर स्तम्भो पर आधारित मण्डप की रचना होने लगी। वाह्य भित्तियो पर मूर्तियो का अकन होने लगा।

ई० ६०० के बाद उत्तर भारत में 'नागर शैली' और दक्षिण भारत में 'द्रविड़ शैली' का विशेष रूप से विकास हुआ। शिखर के अलकरण की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

प्रत्येक मन्दिर के आठ अग होते है—अधिष्ठान, वेदी बन्ध, अन्तर पत्र, जघा, वरण्डिका, शुकनासिका, कण्ठ और शिखर। शिखर के तीन भाग होते है—आमलक, आमलिका और कलश।

गुप्त काल के पश्चात् जो परिवर्तन हुए, उनसे मन्दिरो की चार शैलियाँ प्रकाश मे आई—(१)गुर्जर प्रतिहार शैली (२) कलचुरि शैली (६) चन्देल शैली और (४) कच्छपघात शैली। गुर्जर प्रतिहार शैली में मन्दिर गोलाकार बनते थे। उन्हे पूर्णभद्र कहा जाता है। भीतर गर्भगृह और बाहर एक मण्डप बनता था। स्तम्भो पर घटपल्लव, कुमुद, खर्जूर पत्रावली, कमल, मलवारण, वसन्त पदिका आदि का अलकरण होता था। द्वार के अलकरण मे घट पल्लव, हस, कीर्तिमुख, गगा-यमुना का अकन होता था।

कलचुरि शैली मे पूर्व की अपेक्षा अधिक निखार आया। सप्त शाखा द्वारो का प्रारम्भ इसी काल मे हुआ। द्वारो के तोरण पर सात पट्टिकाये होती थी जिन पर क्रमश रूप, व्याल (शार्दूल), मिथुन, नवग्रह, दिक्पाल और कमल-कलश अकित किये जाते थे। इस शैली मे शिखरो की ऊचाई बढती गई। पचायतन शैली भी इस समय विकसित हुई।

चन्देल शैली मे कलचुरि शैली की अपेक्षा हर तत्त्व मे विकास हुआ। रति चित्रो का अंकन इसी काल मे हुआ।

और कच्छपघात शैली मे कला मे अलकार पक्ष प्रवल होता गया। भित्तियो पर मानव-मूर्तियो, अप्सराओ और योगिनियो के चित्र वनने लगे।[1]

इस प्रकार विभिन्न कालो मे मन्दिरो के रूप और कला मे विभिन्न परिवर्तन होते रहे। कला एकरूप होकर कभी स्थिर नही रही। समय के प्रभाव से वह अपने आपको मुक्त भी नही कर सकी। एक समय था, जब तीर्थकर प्रतिमा अष्ट प्रातिहार्य युक्त बनाई जाती थी, किन्तु आज तो तीर्थकरो के साथ अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन ही समाप्त सा हो गया है, जबकि शास्त्रीय दृष्टि से यह आवश्यक है।

यह प्रकरण इसलिये दिया गया है, जिससे विभिन्न शैलियो के प्राचीन मदिरो के काल-निर्णय करने मे पाठको को मार्गदर्शक तत्त्वा की जानकारी हो सके।

तीर्थंकरो के चिन्ह

तीर्थकर चौबीस है। प्रत्येक तीर्थकर का एक चिन्ह है, जिसे लाछन कहा जाता है। तीर्थकर-मूर्तिया प्राय समान होती है। केवल ऋषभदेव की कुछ मूर्तियो के सिर पर जटाये पाई जाती है तथा पार्श्वनाथ की मूर्तियो के ऊपर सर्प-फण होता है। सुपार्श्वनाथ की कुछ मूर्तियो के सिर के ऊपर भी सर्प-फण मिलते है। पार्श्वनाथ और सुपार्श्वनाथ के सर्प-फणो मे साधारण सा

१—मन्दिरों के विकास-प्रकरण मे प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी के विभिन्न लेखो और डॉ० भागचन्द की 'देवगढ़' पुस्तक से सहायता ली गई है। इसके लिये दोनो विद्वानो के प्रति हम आभारी हैं। —लेखक

अन्तर मिलता है। सुपार्श्वनाथ की मूर्तियो के ऊपर पाच फण होते है और पार्श्वनाथ की मूर्तियो के सिर के ऊपर सात, नौ, ग्यारह अथवा सहस्र सर्प-फण पाये जाते है। इन तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष सभी तीर्थंकरो की मूर्तियों मे कोई अन्तर नही होता। उनकी पहचान उनकी चरण-चौकी पर अकित उनके चिन्हो से ही होती है। चिन्ह न हो तो दर्शक को पहचानने मे बड़ा भ्रम हो जाता है। कभी कभी तो लाछनरहित मूर्ति को साधारण जन चतुर्थकाल की मान बैठते है, जबकि वस्तुत श्रीवत्स लांछन और अष्ट प्रातिहार्य से रहित मूर्ति सिद्धो की कही जाती है। इसलिये मूर्ति के द्वारा तीर्थंकर की पहचान करने का एकमात्र साधन तीर्थंकर-प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित उसका चिन्ह ही है। इसलिये तीर्थंकर-मूर्ति-विज्ञान में चिन्ह या लाछन का अपना विशेष महत्त्व है।

इन चौबीस तीर्थंकरो के चिन्ह निम्न प्रकार हैं—

ऋषभदेव का वृषभ, अजितनाथ का हाथी, सभवनाथ का अश्व, अभिनन्दननाथ का बन्दर, सुमतिनाथ का चक्रवाक पक्षी, पद्मप्रभु का कमल, सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक, चन्द्रप्रभ का अर्धचन्द्र, पुष्पदन्त का मगर, शीतलनाथ का श्री वृक्ष, श्रेयान्सनाथ का गेडा, वासुपूज्य का महिष, विमलनाथ का शूकर, अनन्तनाथ का सेही, धर्मनाथ का बज्रदण्ड, शान्तिनाथ का हिरण, कुन्थुनाथ का बकरा, अरनाथ का मछली, मल्लिनाथ का कलश, मुनिसुव्रतनाथ का कछुआ, नमिनाथ का नीलकमल, नेमिनाथ का शख, पार्श्वनाथ का सर्प और महावीर का सिंह लाछन था।

ये चिन्ह दाहिने पैर के अगूठे मे होते है। इन चिन्हो के सम्बन्ध मे विचारणीय बात यह है कि इन चिन्हो का कारण क्या है? ये तीर्थंकर-प्रतिमाओ पर कबसे और क्यो उत्कीर्ण किये जाने लगे? इस सम्बन्ध मे शास्त्रीय दृष्टिकोण क्या है?

इस सम्बन्ध मे शास्त्रो विभिन्न मत पाये जाते है। यहाँ उनमे से कुछ देना उपयुक्त होगा।

इन्द्र भगवान के अभिषेक के समय उनके शरीर पर जिस वस्तु की रेखाकृति देखता है, उसी को उनका लाछन घोषित कर देता है।

—हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि, काण्ड १२ श्लोक ४७-४८
—प० आशाधर, अनगार धर्मामृत ८।४१

जम्मण काले जस्स दु दाहिण पायम्मि होय जो चिण्हं।
तं लक्खण पाउत्तं आगमसुत्ते सुजिण देहे ॥

अर्थात् तीर्थंकर के दाये पैर के अगूठे पर जन्म के समय इन्द्र जो चिन्ह देखता है, इन्द्र उसी को उनका लाछन निश्चित कर देता है।

—त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ० ५६

इन्ही से मिलते जुलते विचार अन्य आचार्यो के भी है।

मूर्ति निर्माण के प्रारम्भिक काल मे मूर्तियो पर लाछन उत्कीर्ण करने की परम्परा नही रही। लोहानीपुर की मौर्यकालीन या शक-कुषाण कालीन मूर्तियो पर लाछन नही पाये जाते। बाद के काल मे लाछनो के अकन की परम्परा प्रारम्भ हुई और इनका अकन मूर्ति के पाद-पीठ पर किया जाने लगा।

जैन प्रतीकों का परिचय

जैन प्रतीको मे मन्दिरो मे प्राय निम्नलिखित प्रतीक उपलब्ध होते है—आयागपट्ट, स्तूप, धर्मचक्र, स्वस्तिक नन्द्यावर्त, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, श्रीवत्स, सहस्रकूट, चैत्य, सर्वतोभद्रिका, द्विमूर्तिका, त्रिमूर्तिका त्रिरत्न, अष्टमगल, अष्ट प्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, नवनिधि, नवग्रह, मकरमुख, शार्दूल, कीर्तिमुख, कीचक, गगा-यमुना, नाग-नागी, चरण, पूर्णघट, शराव सम्पुट, पुष्पमाल, आम्रगुच्छक सर्प, जटा, लॉछन, पद्मासन, खड्गासन, यक्ष-यक्षी

आयागपट्ट- वर्गाकार या आयताकार एक शिलापट्ट होता है, जो पूजा के उद्देश्य से स्थापित किया जाता था। इस पर कुछ जैन प्रतीक उत्कीर्ण होते थे। कुछ पर मध्य मे तीर्थंकर-मूर्ति भी होती थी। बुहलर के अनुसार अर्हतो की पूजा के लिए स्थापित पूजापट्ट को आयाग पट्ट कहते है। ये स्तूप के चारो द्वारो में से प्रत्येक के सामने स्थापित किये जाते थे।

स्तूप—यह लम्बोतरी आकृति का होता था और इसमें चार वेदिकायें होती थी।

धर्मचक्र—गोल फलक में बना हुआ चक्र होता है, जिसमे बारह या चौबीस आरे होते हैं। कोई धर्मचक्र हजार आरो का भी होता है। मूर्तियो की चरण-चौकी पर इसका अकन प्राय मिलता है।

स्वस्तिक—एक दूसरी को काटती हुई सीधी रेखाये, जो सिरे से मुडी होती है। इसका प्रयोग स्वतन्त्र भी होता है और अष्ट मगल द्रव्यो में भी होता है।

नन्द्यावर्त—नन्द्य का अर्थ सुखद या मागलिक है और आवर्त का अर्थ घेरा है। इसका रूप स्वस्तिक जैसा होता है किन्तु इसके सिरे एकदम घुमावदार होते है, जबकि स्वस्तिक का मोड सीधा होता है।

चैत्यस्तम्भ—एक चौकोर स्तम्भ होता है, जिसकी चारो दिशाओ मे तीर्थंकर-प्रतिमाये होती है और स्तम्भ के शीर्ष पर लघु शिखर होता है।

चैत्यवृक्ष—प्रत्येक तीर्थंकर को जिस वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान होता है, वह उसका चैत्यवृक्ष कहलाता है। किन्तु कला मे प्रायः अशोक वृक्ष का ही चैत्यवृक्ष के रूप मे अकन हुआ है। बहुधा वृक्ष के ऊपरी भाग मे तीर्थंकर-प्रतिमा भी अकित होती है।

श्रीवत्स—तीर्थंकर की छाती पर एक कमलाकार चिन्ह होता है शक-कुषाण काल तक तीर्थंकर प्रतिमाओ पर श्रीवत्स चिन्ह का अकन नही मिलता। सम्भवत गुप्त काल से इसका प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

सहस्रकूट—एक चौकोर पाषाण स्तम्भ मे १००८ मूर्तिया उत्कीर्ण की जाती है, वह सहस्रकूट कहलाता है।

सर्वतोभद्रिका—एक स्तम्भ मे चारो दिशाओ मे तीर्थंकर-प्रतिमा होती है। कभी तो एक स्तम्भ मे चारो प्रतिमाये एक ही तीर्थंकर की होती है और किसी मे विभिन्न तीर्थंकरो की चार प्रतिमाये होती है।

द्विमूर्तिका, त्रिमूर्तिका—एक ही फलक मे दोनो ओर एक-एक मूर्ति होती है। कभी कभी एक ही ओर दो तीर्थंकरो की मूर्तिया होती है। इसी प्रकार एक ही फलक मे एक ओर एक तीर्थंकर की और दूसरी ओर दो तीर्थंकरो की मूर्तियाँ होती है। किसी फलक में एक ही ओर तीन तीर्थंकरो की मूर्तियाँ होती है।

त्रिरत्न—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन रत्न कहे जाते है, जिन्हे त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय कहते है। इनके प्रतीक रूप मे एक फलक में एक ऊपर और दो नीचे छेद कर दिये जाते है। मथुरा मे ऐसे त्रिरत्न मिले है।

अष्ट मगल द्रव्य—स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीनयुगल, पद्म और दर्पण ये अष्ट मागलिक कहलाते है। इनके स्थान पर कही छत्रत्रय, चमर, दर्पण, भृङ्गार, पखा, पुष्पमाल, कलश, स्वस्तिक और भारी ये आठ वस्तुएं बनाई है।

अष्ट प्रातिहार्य—कल्पवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि, सिहासन, दिव्य ध्वनि, छत्र, चमर और भामण्डल ये तीर्थकरो के अष्ट प्रातिहार्य होते है। प्रतिमाओ पर इनका अकन गुप्तकाल से होने लगा है।

सोलह स्वप्न-तीर्थंकर माता गर्भ धारण करने से पूर्व रात्रि मे सोलह शुभ स्वप्न देखती है। वे इस प्रकार है—

१ हाथी, २ बैल, ३ सिह, ४ लक्ष्मी, ५ दो पुष्पमाला, ६ चन्द्र, ७ सूर्य, ८ दो मछलियाँ, ९ जल से पूर्ण दो स्वर्णकलश, १० कमलो से परिपूर्ण सरोवर, ११ समुद्र, १२ सिहासन, १३ देव विमान, १४ धरणेन्द्र का भवन १५ रत्नराशि, १६ निर्धूम अग्नि।

नवनिधि—नैसर्प, पिगल, भाजुर, माणवक,मद,पाण्डुक, कालश्री, वरतत्त्व और तेजोद्भासि महाकाल ये नौ निधियाँ होती है। समवसरण के भीतरी और बाहरी गोपुरो मे नवनिधि से शोभित अष्ट मगल द्रव्य आदि रहते है। नव निधि चक्रवर्ती के भी होते है। अत चक्रवर्ती भरत की मूर्तियो के साथ कही कही नौ घटो के रूप मे नव निधियो का अंकन मिलता है।

नवग्रह—१ रवि, २ चन्द्र, ३ कुज, ४ बुध, ५ गुरु, ६ शुक्र, ७ शनि, ८ राहु, ९ केतु ये नवग्रह कहलाते हैं। इनका अकन द्वारो, तीर्थंकर-मूर्तियो, देव-देवी मूर्तियों के साथ भी हुआ है और स्वतन्त्र भी हुआ है।

मकर मुख—मन्दिरो की द्वार देहरियो के मध्य में तथा स्तम्भों पर मिलते है।

शार्दूल—शार्दूल के पिछले पैरो के पास और अगले पैरो की लपेट में एक मनुष्य दिखाई पड़ता है और

शार्दूल की पीठ पर आयुध लिए कोई मनुष्य बैठा रहता है।

कीर्तिमुख—इसका अंकन प्राय स्तम्भो, तोरणो और कोष्ठको आदि मे होता है। इनके मालाएँ, लडियाँ और शृंखलाएं लटकती दिखाई पडती है।

कीचक—स्तम्भ के शीर्षो पर बैठा हुआ मनुष्य छत का भार वहन करता है।

गंगा यमुना—मन्दिर के द्वारो पर एक ओर मकरवाहिनी गगा होती है और दूसरी ओर कच्छपवाहिनी यमुना होती है।

शेष प्रतीक स्पष्ट ही है।

द्वितीय परिच्छेद

भगवान ऋषभदेव

१ भगवान ऋषभदेव से पूर्वकालीन परिस्थिति

कालचक्र

प्रकृति परिवर्तनशील है। परिणमन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु अपने मूल स्वरूप की धुरी पर प्रतिक्षण परिणमन करती रहती है। वह मूल स्वरूप की धुरी से कभी विचलित या च्युत नही होती किन्तु उसके रूपो का नित परिणमन होता रहता है। पूर्वरूप नष्ट होता है, नया रूप उत्पन्न होता है। इस विनाश और उत्पत्ति के चक्र मे भी वस्तु का मूल स्वरूप अक्षुण्ण रहता है। हर वस्तु का यही स्वभाव है।

प्रकृति मे भी नित नये परिवर्तन होते रहते है। इन परिवर्तनो को लेकर ही यह सृष्टि चल रही है। इसका न कभी सर्वथा विनाश होता है और न कभी उत्पत्ति होती है। सदा आशिक विनाश होता रहता है और उस विनाश मे से ही आशिक उत्पाद होता रहता है। सृष्टि इसी विनाश और उत्पाद के चक्र मे भी अपने मूल तत्त्वो को सजो कर ज्यो का त्यो रक्खे हुए है।

काल का चक्र भी इसी प्रकार सदा घूमता रहता है। परिवर्तनो के इस चक्र मे कहाँ आदि है और कहाँ अन्त है, कोई नही कह सकता। निरन्तर घूमते रहने वाले चक्र मे आदि और अन्त सभव भी नही है। इस चक्र मे काल के एक बजा, दो बजा आदि भेद भी नही किये जा सकते। वह तो अविभाज्य है, अखण्ड है। किन्तु व्यवहार की सुविधा के लिए हम समय का विभाग कर लेते है।

इसी व्यवहार की सुविधा के लिए जैन धर्म मे काल को दो भागों मे विभाजित किया गया है, जिनके नाम है—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। इनमे प्रत्येक के छह-छह विभाग किये गये है—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा-दुषमा, दुषमा। काल के ये बारह भेद है। इन बारह कालो का एक पूरा चक्कर कल्प कहलाता है। प्रकृति स्वय ही एक कल्प के आधे भाग मे निरन्तर उत्कर्षशील बनी रहती है। मनुष्यो की आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, रूप आदि सभी में उत्कर्ष होता रहता है। यह काल उत्सर्पिणी कहलाता है। जिस काल मे आयु, अवगाहना, वुद्धि आदि मे हीनता बढती जाती है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है। आजकल अवसर्पिणी काल है और उसका दुषमा नामक पाचवाँ भाग चल रहा है।

इस काल-विभाग को हम घडी की सुई से आसानी से समझ सकते है। घडी के डायल में सुई बारह के बाद छह तक नीचे की ओर जाती है और छह के बाद बारह बजे तक ऊपर की ओर जाती है। बिलकुल इसी प्रकार अवसर्पिणी काल में जीवो में हर बात मे हीनता आती जाती है और उसके बाद उत्सर्पिणी काल में जीवो मे हर बात में उन्नति होती है।

व्यावहारिक सुविधा के लिए कल्प का प्रारम्भिक काल सृष्टि का आदिकाल और उस काल के मनुष्य को सृष्टि का आदि मानव कह लेते हैं। वस्तुत. तो न सृष्टि का कोई आदि काल ही होता है और न कोई आदि मानव ही होता है।

मानव की आद्य संस्कृति

कल्प के प्रारम्भ में मनुष्य अविकसित था। वह ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं से अपरिचित था। उस काल में सामाजिक बोध भी नही था। इसलिए बहन-भाई ही पति-पत्नी के रूप में रहने लगते थे। इसे 'युगलिया काल' कहा जाता है। वे जीवन-निर्वाह के लिए वृक्षो पर निर्भर रहते थे। उनकी जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकतायें वृक्षो से ही पूरी होती थी। उनकी इच्छाओ की पूर्ति वृक्ष ही करते थे। इसलिए उन वृक्षो को कल्पवृक्ष कहा जाता था। उनकी इच्छायें दस प्रकार की होती थी। उन दस प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति वृक्षो से होती थी, अत कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते थे, ऐसा माना जाता है। उनके नाम इस प्रकार है—१. मद्याङ्ग, २ तूर्याङ्ग, ३. विभूषाङ्ग, ४. माल्याङ्ग, ५ ज्योतिरङ्ग, ६ दीपाङ्ग, ७ गृहाङ्ग, ८ भोजनाङ्ग, ९ पात्राङ्ग, १० वस्त्राङ्ग। ये सब अपने-अपने नाम के अनुसार ही कार्य करते थे।

मानव की इस संस्कृति को हम वन-संस्कृति कह सकते है। इसे भोगयुग भी कहा गया है क्योंकि उस काल का मानव जीवन-निर्वाह के लिए कोई कर्म नही करता था, उसे कल्प वृक्षो से यथावश्यक सब वस्तुए मिल जाती थी। उनका यथेच्छ भोग करता था। आधुनिक भाषा मे इस युग को हम पूर्व पाषाण युग कह सकते है। उस समय गाव, नगर, मकान, जाति, समाज, राज्य आदि कोई व्यवस्था नही थी। उनके सामने कोई समस्या भी नही थी, अत युद्ध भी नही होते थे। मानव और पशु सब साथ रहते थे। दोनो को किसी से या परस्पर भय नही था।

प्रकृति-परिवर्तन

प्रकृति मे निरन्तर परिवर्तन होते रहते है। वे तत्क्षण आखो की पकड मे न आपावे, किन्तु कुछ समय पश्चात् उनका फल अनुभव हुए बिना नही रहता। उस युग के मानव के समक्ष प्रकृति के नित नतन परिवर्तनो के कारण कुछ प्रश्न-चिन्ह उभरने लगे। समय बीतता गया तो ऐसा भी समय आया जब उसके समक्ष समस्यायें भी आने लगी। प्रश्न-चिन्ह उभरे अद्भुत, अदृष्टपूर्व परिवर्तनों को लेकर, समस्यायें उभरी आवश्यकताओ मे नित नई बाधा उत्पन्न होने पर। वह अबोध मानव स्वय समाधान खोज नही सकता था। अभी उसका बौद्धिक विकास ही कहा हो पाया था। किन्तु उसे समाधान तो चाहिए ही। जिन्होने उसका समाधान दिया, जीवन की राह मे नेतृत्व दिया, वे मानव असाधारण थे-बुद्धि, विवेक और संस्कारो मे। वे ही मानव 'कुलकर' कहलाये। उन्हे मनु भी कहा गया।

चौदह कुलकर

उस समय का मानव सरल था। वह सहज जीवन व्यतीत करता था। उसका जीवन समगति से चल रहा था। किन्तु प्रकृति मे तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे थे। वह इनका अभ्यस्त नही था। उन परिवर्तनो को देखकर वह चौक उठता, भयभीत हो जाता। तब कुलकरो ने इस अवस्था मे उसका मार्ग-दर्शन किया। इस प्रकार के कुलकर १४ हुए, जिनके नाम इस प्रकार है—

१ प्रतिश्रुति, २ उनका पुत्र सन्मति, ३ उनका पुत्र क्षेमकर, ४ उनका पुत्र क्षेमधर, ५ सीमकर ६ सीमधर, ७ विपुल वाहन, ८ चक्षुष्मान, ९ यशस्वी, १० अभिचन्द्र, ११. चन्द्राभ, १२ मरुदेव, १३. प्रसेनजित, १४. और उनके पुत्र नाभिराज। इस प्रकार ये सभी आनुवशिक परम्परा मे उत्पन्न हुए थे। ये कुलकर गगा और सिन्धु महानदियो के बीच दक्षिण भरत क्षेत्र मे उत्पन्न हुए थे।

इन कुलकरो के कार्य 'त्रिलोकसार' ग्रन्थ मे इस प्रकार बताये है—

इण ससितारासावदवि भय दंडादि सीमचिण्ह कदि।
तुरगादि वाहणं सिसुमुहदसण णिब्भयं वेत्ति ॥७९९॥

प्रथम कुलकर ने चन्द्र-सूर्य के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर किया। द्वितीय कुलकर ने तारों के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर किया। तीसरे ने क्रूर मृगों के भय को दूर किया। चौथे ने हिंसक पशुओं का भय दूर किया। और उसके लिए दण्ड प्रयोग बताया। पाचवे ने अल्प फलदायी कल्पवृक्षो को लेकर झंझट होने लगे तो सीमा

बनाई। फिर भी झंझट दूर नहीं हुए तो छटवें कुलकर ने सीमा-चिन्ह लगाये। सातवें कुलकर ने हाथी, घोडे आदि को वश में करके उन पर सवारी करना बताया। पहले माता-पिता बच्चो के उत्पन्न होते ही मर जाते थे, किन्तु अब कुछ समय जीवित रहने लगे और अपने शिशुओ का मुख देखकर भयभीत होने लगे तो आठवें कुलकर ने उन्हे समझाकर उनका भय दूर किया।

आसीवावादि ससि पहु दिहि कोंलि च कदिविदिण ओत्ति।
पुत्तहिं चिरंजीवण सेदुवहित्तादि तरणविहिं ॥८००॥

नवम कुलकर ने शिशुओ के लिए आशीर्वाद देना बताया। दशम ने शिशुओ के साथ कुछ दिन तक क्रीडा करना बताया। एकादश ने पुत्रो के साथ बहुत समय तक रहने का भय निवारण किया। द्वादश ने नदी आदि पार करना सिखाया।

सिक्खंति जराउ छिदि णाभि विणासिदं चाव तडिदादिं।
चरिमो फलअकदोसहिभुत्ति कम्मावणी तत्तो ॥८०१॥

—तेरहवे कुलकर ने जरायु छेदन बताया। चौदहवे कुलकर ने नाभि-छेदन-विधि सिखाई। बिजली गिरने और बिजली का भय दूर किया, फलाकृतौषध भक्षण करना सिखाया। तदनन्तर कर्मभूमि प्रवर्तित हुई।

इन कुलकरो ने समाज-नियमन और अनुशासन के लिये दण्ड-व्यवस्था भी निर्धारित की थी। यदि किसी से कोई अपराध हो जाता था तो प्रथम कुलकर से पांचवे कुलकर तक के काल मे अपराधी को 'हा' कहकर दण्ड देते थे। छटवे से दसवे तक कुलकर अपराधी को इससे कुछ कठोर दण्ड देते थे और उसमे 'हा मा' कहते थे। ग्यारहवे से चौदहवे कुलकरो ने उस काल की दृष्टि से इसमे भी कठोर दण्ड की व्यवस्था की। वे अपराधी को 'हा मा धिक्' कहकर वर्जना करते थे।

युगलिया समाज का वर्णन पढकर हमे ऐसा लगता है कि उस समय मनुष्य जगलो मे कबीले बनाकर रहते थे। समाज, राज्य, नगर, जाति और वर्ण-व्यवस्था नही थी। अत ये प्रकृति-पुत्र प्रकृति की गोद मे फलते फूलते थे। समाज-व्यवस्था नहीं थी। आवश्यकताये सीमित थी, साधन असीम थे। इसलिए शोषण, छीना झपटी, द्वन्द्व आदि भी नही थे। प्रकृति के अनुरूप उनका जीवन सहज था। इसलिए पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म का भी बोध नही था। जो चाहते थे,वह मिल जाता था। कर्म जीवन मे आ नही पाया था। अत इस युग को भोग-युग कहा जाता है।

कुलकरो को मनु भी कहा जाता है। उन मनुओ की सन्तान को ही मानव या मनुष्य कहा जाने लगा है।

प्रकृति का यह वैचित्र्य ही कहना होगा कि उस युग मे पुत्र और पुत्री युगल उत्पन्न होते थे। पुत्रोत्पत्ति के तत्काल बाद माता-पिता का देहान्त हो जाता था। प्रकृति मे धीरे धीरे परिवर्तन हुआ और पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् माता-पिता जीवित रहने लगे। मरुदेव कुलकर के काल तक युगल ही उत्पन्न होते रहे। किन्तु उसके पश्चात् अकेली सन्तान भी होने लगी। सर्वप्रथम मरुदेव के एक पुत्र ही उत्पन्न हुआ। मरुदेव ने उसका विवाह भी किया था।

अन्तिम कुलकर नाभिराज

नाभिराज तेरहवे कुलकर प्रसेनजित के पुत्र थे। वे भरत क्षेत्र मे विजयार्ध पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम आर्यखण्ड मे उत्पन्न हुए थे। वे विश्व भर के क्षत्रियो मे श्रेष्ठ थे। वे भोगभूमि और कर्मभूमि के सन्धि-काल मे उत्पन्न हुए थे। उस समय दक्षिण भरत क्षेत्र में कल्पवृक्ष रूप प्रासाद नष्ट हो गये थे। केवल एक ही कल्पवृक्ष रूप प्रासाद अवशिष्ट रह गया था और वह था नाभिराज का। वह पृथ्वीनिर्मित प्रासाद बन गया था। उस प्रासाद का नाम सर्वतोभद्र था और वह इक्यासी खण्ड का था। उन्होने ही उत्पन्न बालको के नाभि-नाल को शस्त्र-क्रिया से पृथक् करने का परिज्ञान दिया। इसीलिये उन्हे 'नाभि'[1] कहा जाता था।

उनके काल मे कल्पवृक्ष निःशेषप्राय हो गये। मानव के समक्ष नये प्रश्न उभरने लगे, उनका हल होना

---

१. महा पुराण ६२।८

युग की माग थी। नाभिराज ने बडे विवेक और धैर्य के साथ उन प्रश्नो का समाधान दिया। वे स्वयं त्राणसह बन गये। इसीलिये उन्हे क्षत्रिय कहा गया। क्षत्रिय ही नही, विश्व भर के क्षत्रियों में श्रेष्ठ कहा गया। आचार्य जिनसेन ने उन्हे 'विश्वक्षत्रगणाग्रणी' कहा है। इसीलिए आगे चलकर क्षत्रिय शब्द 'नाभि' अर्थ मे रूढ हो गया। अमरकोषकार ने 'क्षत्रिये नाभिः' और अभिधान चिन्तामणि के कर्ता आचार्य हेमचन्द्र ने 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा। उन्होंने अपने पुरुषार्थ और विवेक से एक नये युग का प्रवर्तन किया। इसीलिए उनके नाम पर इस आर्यखण्ड का नाम 'नाभिखण्ड'[1] हो गया। नाभि को अजनाभ भी कहते है। अतः इस खण्ड को 'अजनाभ वर्ष' भी कहा जाता था।

वैदिक पुराणो मे भी इस बात का समर्थन मिलता है। स्कन्द पुराण मे बताया है—

हिमाद्रिजलधेरन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम् ॥१।२।३७।५५

श्रीमद्भागवत में इस सम्बन्ध में यह उल्लेख मिलता है—

'अजनाभं नामैतद् वर्ष भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति ॥५।७।३

डॉ० अवधबिहारीलाल अवस्थी ने 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप'[2] मे लिखा है—'सप्त द्वीपो वाली पृथ्वी में जम्बूद्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध भूखण्ड था। आद्य प्रजापति मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत दस राजकुमारो के पिता थे। उनमे तीन तो सन्यासी हो गये। और सात पुत्रो ने सात महाद्वीपो मे आधिपत्य प्राप्त किया। ज्येष्ठ आग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा हुए। उनके नौ लडके जम्बूद्वीप के स्वामी बने। जम्बूद्वीप के नौ वर्षों मे से हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नीध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही 'नाभिखण्ड' कहा गया।'

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन' के पादटिप्पण मे लिखा है—'स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए। जिनमे भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश 'अजनाभ वर्ष' कहलाता था।'

नाभिराज द्वारा युग-प्रवर्तन

काल तीव्रगति मे भाग रहा था। भोगभूमि का अन्त हो रहा था। प्रकृति के अन्दर कर्म भूमि की प्रसव वेदना हो रही थी। प्रकृति मे चंचलता व्याप्त थी। नित नये और अनोखे परिवर्तन हो रहे थे। आकाश काले बादलो से भर गया। बादलों मे एक ओर इन्द्रधनुष का सतरंगी वितान था, दूसरी ओर रह रह कर बिजली कौंध रही थी। बादल विकट गर्जना कर रहे थे। थोडी देर मे मूसलाधार वर्षा होने लगी। शीतल पवन के झकोरे चल रहे थे। आज प्रकृति मे प्रथम बार एक अनोखी पुलक समाई हुई थी। पपीहा पुलकित होकर प्रथम बार 'पीउ पीउ' की तान अलाप रहे थे। मोर हर्षित होकर झूम उठे और अपने रंग-बिरंगे पंख फैलाकर नृत्य करने लगे। नदियो मे प्रथम बार जल का पूर आया। भूमि का उत्ताप शान्त हुआ और पृथ्वी के गर्भ मे नवीन अंकुरो का जन्म हुआ। नाना प्रकार के बिना बोये हुए धान्य उग आये। धीरे धीरे वे बढने लगे। उन पर फल भी लग गये। कल्पवृक्ष बिलकुल नष्ट हो गये थे।

प्रजा के समक्ष उदर-पूर्ति की समस्या थी। धान्य खडे थे किन्तु वह उनका उपयोग करना जानती नही थी। कल्पवृक्षो से उसकी समस्या का समाधान होता आया था, किन्तु कल्पवृक्ष समाप्त हो चुके थे। तब प्रमुख लोग नाभि राज के पास गये और दीनतापूर्वक उनसे जीवनोपाय पूछने लगे। नाभिराज ने दयार्द्र होकर प्रजा को आश्वासन दिया—'तुम लोग किसी प्रकार का भय मत करो। कल्पवृक्ष नष्ट हो गये है किन्तु अब ये फलो से झुके हुए साधारण वृक्ष तुम्हारा वैसा ही उपकार करेंगे, जिस प्रकार कल्पवृक्ष करते थे। किन्तु ये विषवृक्ष और

---

१ तस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत।
स तन्निकर्तनोपायमादिशन्नाभिरित्यभूत्' ॥ आदिपुराण ३।१६४

२. 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, कैलाश प्रकाशन लखनऊ, पृ० १२३, परिशिष्ट २

औषधिवृक्ष है। इनके मसाले बनाकर अन्न को स्वादिष्ट बनाया जा सकता है। ये लम्बे लम्बे इक्षु-वृक्ष है। इन्हे दातो से अथवा यत्र से पेरकर स्वादिष्ट रस मिल सकता है।'

इसके पश्चात् नाभिराज ने गीली मिट्टी को हाथी के गण्डस्थल पर रखकर उससे थाली आदि पात्र बनाने की शिक्षा दी। इस प्रकार नाभिराज ने कल्पवृक्षो के नष्ट होने पर प्रजा की सम्पूर्ण कामनाओ की पूर्ति की। इसलिये प्रजा के लिये वे ही कल्पवृक्ष बन गये।

सृष्टि के कर्मयुग के प्रारम्भ और भोगयुग के अन्त की इस सन्धि-बेला मे नाभिराज ने मानव-जीवन की नवीन व्यवस्था का प्रारम्भ करके एक नये युग का प्रारम्भ किया। अत वे युग-प्रवर्तक माने जाते है।

प्रतिश्रुति से लेकर नाभिराज तक चौदहो कुलकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। इनमें से कुछ को जातिस्मरण ज्ञान था। कुछ को अवधिज्ञान था। इसलिये अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा उन्होने प्रजा के समक्ष आये हुए नये नये प्रश्नो के उत्तर दिये, नई नई समस्याओ के समाधान दिये।

ये सभी प्रजा के जीवन का उपाय जानते थे। इसलिये ये मनु कहलाते थे। तत्कालीन प्रजा को कुल की भाति इकट्ठा रहने का उपदेश दिया था। इसलिये वे कुलकर कहलाते थे। उन्होने नवीन वश-परम्परा स्थापित की थी। इसलिये वे कुलधर कहलाते थे। तथा युग की आदि मे हुए थे, इसलिए इन्हे युगादि पुरुष भी कहा जाता था। ऋषभदेव और भरत को भी इसी अर्थ मे कुलकर कहा गया है।

भोगभूमि मे, कल्पवृक्षो के सुविधा-काल मे मनष्य वनो मे इधर उधर कबीलो के रूप में रहते थे। कुलकरो ने उन्हे समूहबद्ध करके एक स्थान मे रहना और उगे हुए धान्यो से जीवन-निर्वाह करना सिखाया। नाभिराज ने मिट्टी के बर्तन बनाना सिखाकर मानव-सभ्यता की आधार-शिला रक्खी।

२. भगवान ऋषभदेव का जन्म

देवो द्वारा अयोध्या की रचना

सूर्य उदित होता है, उससे पूर्व ही उसकी प्रभा अन्धकार का नाश कर देती है। तीर्थंकर असाधारण और लोकातिशयी महापुरुष होते है। वे उत्पन्न होते है, उससे पूर्व ही उनका पुण्य असाधारण और लोकातिशयी कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का जन्म नाभिराज के यहाँ होने वाला है, यह विचार कर सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी—'तीर्थंकर भगवान के गौरव के अनुकूल नगरी की तुरन्त रचना करो।' आज्ञा मिलते ही कुबेर आज्ञा-पालन मे जुट गया। स्वय इन्द्र ने शुभ मुहूर्त, शुभ नक्षत्र मे सर्व प्रथम मागलिक कार्य किया और अयोध्यापुरी के बीच मे जिन मदिर की रचना की। फिर चारो दिशाओ मे भी जिन मदिरो की रचना की। अनेक उत्साही देवो ने भक्ति और उत्साह के साथ इस कार्य मे स्वेच्छा से योग दिया और स्वर्ग की सामग्री से एक अद्भुत नगरी की रचना की। यह नगरी ऐसी लगती थी, मानो इस पृथ्वी पर स्वर्गपुरी की ही रचना को गई हो।

उस नगरी के बीचो बीच सुन्दर राजमहल बनाया था। इस नगरी की इतनी सुन्दर रचना का कारण बताते हुए आचार्य जिनसेन कहते है—उस नगरी की रचना करने वाले कारीगर स्वर्ग के देव थे, उनका अधिकारी सूत्रधार इन्द्र था और मकान वगैरह बनाने के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी पडी थी, तब वह नगरी प्रशसनीय क्यो न हो।' देवो ने उस नगरी को वप्र (मिट्टी के बने हुए छोटे कोट), प्राकार (चार मुख्य दरवाजो से युक्त पत्थर के बने हुए मजबूत कोट) और परिखा (खाई) आदि से सुशोभित किया था।

उस नगरी का सार्थक नाम 'अयोध्या' था। कोई भी शत्रु उससे युद्ध नही कर सकता था, इसीलिये तो

वह 'अयोध्या' कहलाती थी। उस नगरी को 'साकेत' भी कहते थे क्योंकि उसमें सुन्दर-सुन्दर मकान बने हुए थे। वह नगरी सुकोशल देश में थी, अतः उसे 'सुकोशला' भी कहा जाता था। उस नगरी में अनेक विनीत शिक्षित सभ्य मनुष्यों का निवास था, अत: उसका नाम 'विनीता' भी पड गया।

अयोध्या नगरी के बनने पर देवों ने शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्न में पुण्याह वाचन किया। 'भगवान ऋषभ देव उत्पन्न होगे' यह सोचकर इन्द्र ने नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी का अभिषेक करके पूजा की। तब उन्होने अयोध्या में अपने लिये बने हुए प्रासाद में प्रवेश किया और वहा रहने लगे। इसके पश्चात् देवों ने इधर-उधर रहने वाले मनुष्यों को लाकर उस नगरी में बसाया और उन्हे हर प्रकार की सुविधा दी।

नाभिराज की पत्नी मरुदेवी

नाभिराज की पत्नी मरुदेवी थी। जब नाभिराज के साथ मरुदेवी का विवाह हुआ, उस समय इन्द्र की प्रेरणा से देवों ने उनका विवाहोत्सव धूमधाम के साथ मनाया। मरुदेवी अपने अनिंद्य रूप, बुद्धि, द्युति और विभूति से इन्द्राणी को भी मात करती थी। उस समय नाभिराज और मरुदेवी के समान पुण्यवान् दूसरा कोई नही था। जिनके स्वयभू भगवान जन्म लेने वाले थे, उनके पुण्य की स्पर्धा ससार में कौन कर सकता था।

भगवान गर्भ मे आये, इससे छह माह पहले से कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से अयोध्या में रत्नवर्षा की। यह रत्नवर्षा भगवान के जन्म तक अर्थात् पन्द्रह माह तक हुई। रत्नवर्षा दिन में तीन बार होती थी और एक बार में साढे तीन करोड रत्नो की वर्षा होती थी।

मरुदेवी का स्वप्न दर्शन

एक दिन मरुदेवी अपने प्रासाद में कोमल शय्या पर सो रही थी। उन्होने सोते हुए रात्रि के अन्तिम प्रहर मे निम्नलिखित शुभ सोलह स्वप्न देखे—

१—उन्होने इन्द्र का ऐरावत हाथी देखा, जिसके कपोलो से मद बह रहा है।
२—दूसरे स्वप्न मे एक वृषभ (बैल) देखा। बैल का वर्ण श्वेत था और गम्भीर शब्द कर रहा था।
३—तीसरे स्वप्न मे एक सिह देखा। उसका वर्ण चन्द्रमा के समान श्वेत था और कन्धे लाल वर्ण के थे।
४—चौथे स्वप्न मे कमलासन पर विराजमान लक्ष्मी को देखा और हाथी अपनी सू डो मे स्वर्ण-कलश लिये हुए उनका अभिषेक कर रहे है।
५—पाचवे स्वप्न मे पुष्पमालाये देखी, जिन पर भौरे गु जार कर रहे है।
६—छठे स्वप्न में पूर्ण चन्द्र देखा। चादनी छिटक रही है। चारो ओर तारा गण है।
७—सातवे स्वप्न मे उदयाचल से उदित होता हुआ सूर्य देखा।
८—आठवे स्वप्न मे कमलो से ढके हुए दो स्वर्ण कलश देखे।
९—नौवे स्वप्न मे कमलो मे सुशोभित तालाब में किल्लोल करती दो मछलियां देखी।
१०—दसवे स्वप्न मे जल मे भरा तालाब देखा, जिसमे कमल तैर रहे है।
११—ग्यारहवे स्वप्न मे उत्ताल तरगो वाला, गभीर गर्जन करता समुद्र देखा।
१२—बारहवे स्वप्न मे रत्नजटित स्वर्ण का सिहासन देखा।
१३—तेरहवे स्वप्न मे रत्नो से देदीप्यमान स्वर्ग का विमान देखा।
१४—चौदहवे स्वप्न में पृथ्वी से निकलता हुआ नागेन्द्र का भवन देखा,
१५—पन्द्रहवे स्वप्न मे तेजस्वी किरणो वाली रत्न-राशि देखी।
१६—सोलहवे स्वप्न मे जलती हुई धूम रहित अग्नि देखी।

इसके पश्चात् उन्होंने स्वर्ण वर्ण वाले और ऊँचे स्कन्ध वाले एक वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते देखा।[1]

१. श्वेताम्बर परम्परा १४ स्वप्न मानती है—गज, वृषभ, सिंह लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, पद्मसरोवर, क्षीर समुद्र, विमान, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि। —कल्पसूत्र, सूत्र ३३

तभी प्रभात-जागरण के मगल वाद्य बजने लगे और बन्दी जन मगल गान करने लगे। तब मरुदेवी शुभ स्वप्नो के स्मरण से आनन्दित होती हुई उठी। उन्होने मगल स्नान करके वस्त्राभूषण धारण किये और प्रमुदित मन से अपने पति नाभिराज के पास पहुची। वहां समुचित विनय के साथ नाभिराज की बाई ओर सिहासन पर बैठ गई। नाभिराज ने पत्नी की समुचित अभ्यर्थना की। तब मरुदेवी ने रात मे देखे हुए स्वप्नो का वर्णन करते हुए पूछा—देव ! इन स्वप्नो का क्या फल है, यह जानने की मेरी अभिलाषा है।

तब अवधिज्ञान से स्वप्नो का फल विचार कर नाभिराज बोले—'देवि ! मै इन स्वनो का फल बताता हू।

हाथी के देखने से तेरे उत्तम पुत्र होगा। बैल देखने मे यह समस्त लोक मे श्रेष्ठ होगा। सिह के देखने से वह अनन्त बल से युक्त होगा। मालाए देखने मे वह सत्य धर्म का प्रवर्तक होगा। लक्ष्मी देखने से सुमेरु पर्वत पर देव उसका अभिषेक करेगे। पूर्ण चन्द्र को देखने से वह लोक को आनन्द देने वाला होगा। सूर्य दर्शन का फल वह अनन्त तेज का धारी होगा। दो कलश देखने का फल वह अनेक निधियो का स्वामी होगा। मीन-युगल का फल वह सुखी रहेगा। सरोवर देखने से वह १००८ शुभ लक्षणो का धारक होगा। समुद्र दर्शन का फल वह सर्वज्ञ केवली बनेगा। सिहासन देखने से वह जगद्गुरु का पद प्राप्त करेगा। देवो का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतरित होगा। नागेन्द्र का भवन देखने से वह जन्म से अवधिज्ञान का धारी होगा। रत्नो की राशि देखने से वह अनन्त गुणो का निधान होगा। और निर्धूम अग्नि देखने से वह कर्म रूप ईधन को जलाने वाला होगा। तुम्हारे मुख मे वृषभ ने प्रवेश किया है, उसका फल यह है कि तुम्हारे गर्भ मे वृषभनाथ अवतार लेगे।

अपने ज्ञानवान पति से अपने स्वप्नो का फल सुनकर मरुदेवी आनन्द विभोर हो गई। उनके नेत्रों मे हर्ष के अश्रुकण चमकने लगे। वे अपने पति को नमस्कार करके अपने महल मे चली गई। उन्हे यह जानकर अपार हर्ष हुआ कि मेरे गर्भ मे तीन लोक के नाथ तीर्थकर प्रभु ने अवतार लिया है।

आषाढ कृष्णा द्वितीया[1] के उत्तराषाढ नक्षत्र मे सर्वार्थ सिद्धि विमान मे वज्रनाभि अहमिन्द्र आयु पूर्ण करके मरुदेवी के गर्भ मे अवतरित हुआ। देवो और इन्द्रो ने अपने अपने विमानो मे होने वाले चिन्हो से तीर्थकर भगवान का गर्भावतार जानकर प्रभु के दर्शनो के लिए प्रस्थान किया और वे अयोध्या नगर मे आये। उन्होने नगर की प्रदक्षिणा दी। फिर माता-पिता को नमस्कार किया और गर्भस्थ प्रभु का गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाया। नाना सगीत, वाद्य और नृत्य से वातावरण मुखरित हो उठा। उत्सव मनाकर सभी देव और इन्द्र अपने अपने स्थान को चले गए।

भगवान का गर्भावतरण

इन्द्र की आज्ञा से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामक षट् कुमारी देविया माता की सेवा मे रह गई। दिक्कुमारियो ने गर्भ-शोधन का कार्य किया।

गर्भस्थ प्रभु के कारण माता को कोई कष्ट नही हुआ। प्रभु के भक्त एक आचार्य ने कल्पना की है कि माता मरुदेवी स्वय भी गौरव से युक्त थी, फिर तीनो जगत के गुरु (भारी तथा श्रेष्ठ) जिनेन्द्र देव को धारण कर रही थी, फिर भी वे शरीर मे लघुता (हल्कापन) अनुभव करती थी। माता के गर्भ मे भगवान का निवास ऐसा था, जैसा जल में प्रतिबिम्बित सूर्य का होता है।

देवियाँ जगन्माता की नाना भाति सेवा करती थी और उनका मनोरंजन करती थी। कभी वे माता से प्रश्नोत्तर करती थी, कभी गूढार्थक काव्य-चर्चा करती थी। कभी गीत-नृत्य करती थी।

माता मरुदेवी त्रिलोकीनाथ भगवान को अपने गर्भ में धारण किए हुए थी, अत भगवान के तेजपुज से वे भी उद्भासित हो रही थी और समस्त जन उन्हे नमस्कार करते थे। नाभिराज और उनका परिवार भी मरुदेवी माता की सुख-सुविधा का बराबर ध्यान रखते थे।

इस प्रकार दिनो दिन गर्भ बढता गया।

१. श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार भगवान का गर्भावतरण आषाढ कृष्णा चतुर्थी को हुआ था—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १८२

नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र कृष्णा नौमी के दिन सूर्योदय के समय उत्तराषाढ नक्षत्र में और ब्रह्म नामक महायोग में पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। उस समय प्रकृति में अत्यन्त उल्लास भर गया। आकाश स्वच्छ था, प्रकृति शान्त थी, शीतल मद सुगन्धित पवन बह रही थी। वृक्ष फूल बरसा रहे थे। देवो के दुन्दुभि बाजे स्वय बज रहे थे। समुद्र, पृथ्वी, आकाश मानो हर्ष से थिरक रहे थे। भगवान के जन्म से तीनो लोको में क्षण भर को उद्योत और सुख का अनुभव हुआ।

भगवान का जन्म महोत्सव

जिनेन्द्रदेव का जातकर्म विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, रुचका, रुचकोज्वला, रुचकाभा और रुचकप्रभा नामक दिक्कुमारियो ने किया। ये दिक्कुमारियाँ जात कर्म मे अत्यन्त निष्णात है। तीर्थकरो का जात कर्म ये ही देवियाँ करती है।

भगवान के जन्म के प्रभाव से इन्द्रो के मुकुट चचल हो गये, आसन कम्पायमान हो गये। भवनवासी देवो के भवनों मे शखो का शब्द, व्यन्तरो के लोक मे भेरो का शब्द, ज्योतिष्क देवो के विमानो मे सिहो के शब्द और कल्पवासी देवो के विमानो मे घण्टाओ के शब्द होने लगे। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने अवधिज्ञान से जान लिया कि भरत क्षेत्र मे प्रथम तीर्थकर का जन्म हुआ है। वह अपने सिहासन से उतर कर सात डग आगे बढा। उसने उच्च स्वर से भगवान का जय घोष किया और दोनो हाथ मस्तक से लगा कर भगवान को प्रणाम किया। फिर सेनापति को आज्ञा दी 'भरत क्षेत्र मे प्रथम तीर्थकर का जन्म हुआ है। सब देवो को सूचना करवादो कि सबको भरत-क्षेत्र चलना है।' सूचना मिलते ही समस्त देव चल पड़े। अच्युत स्वर्ग तक के इन्द्रो ने भी इसी प्रकार अपने अपने लोक मे आदेश प्रचारित किये और उन स्वर्गों के भी देव चल दिये। इसी प्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव भी चल दिये।

उस समय समस्त आकाश हाथी, घोडा, रथ, पैदल सैनिक, बैल, गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की देव सेनाओ से व्याप्त हो गया। सौधर्मेन्द्र एरावत हाथी पर आरूढ था। चारो निकाय के देव भी विविध वाहनो पर आरूढ होकर चल रहे थे। आकाश मे चारो ओर देवो के श्वेत छत्र, ध्वजा और चमर दिखाई पड रहे थे। भेरी, दुन्दुभि और शखो के शब्दो से आकाश व्याप्त था। गीत और नृत्य से वातावरण मे अद्भुत उल्लास भर रहा था। सभी देव अयोध्या नगरी मे पहुचे। सभी देव वहा एक साथ प्रथम बार पहुचे, इसलिए उस समय से उस नगर का नाम 'साकेत' प्रसिद्ध हो गया।

सर्व प्रथम देवो ने नगर की तीन प्रदक्षिणा दी। तत्पश्चात् सौधर्मेन्द्र नाभिराज के प्रासाद मे पहुचा और इन्द्राणी को जिनेन्द्र प्रभु को लाने की आज्ञा दी। इन्द्राणी प्रसूति गृह मे गई। उसने प्रभु को और माता को नमस्कार किया। फिर अपनी देव माया से माता को सुख निद्रा मे सुलाकर और उनके बगल मे मायामय बालक लिटाकर प्रभु को गोद मे उठा लिया और लाकर इन्द्र को सौप दिया

इन्द्र ने भगवान को गोद मे ले लिया। बाल प्रभु के सुख-स्पर्श से उसका समस्त शरीर हर्ष से रोमाचित होगया। वह प्रभु के त्रिभुवन मोहन रूप को निहारने लगा। किन्तु उसे तृप्ति नही हुई। तब उसने हजार नेत्र बनाकर प्रभु के उस अनिद्य रूप को देखा। फिर भी वह तृप्त नही हुआ। तो उसने भगवान की स्तुति करना प्रारम्भ किया।

तत्पश्चात् वह भगवान को गोद मे लेकर ऐरावत हाथी पर आरूढ हुआ। ऐशान इन्द्र ने भगवान के ऊपर श्वेत छत्र तान लिया। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र दोनो पार्श्वों मे खडे होकर चमर ढोलने लगे।

इन्द्र देव समूह के साथ भगवान को सुमेरु पर्वत के शिखर पर ले गया। सर्व प्रथम सबने सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी। फिर पाण्डुक शिला पर स्थित सिहासन पर जिन-बालक को विराजमान किया। समस्त देव हर्ष मे भरकर गीत-नृत्य करने लगे। उस समय तत, वितत, घन और सुषिर चारो प्रकार के बाजे बज रहे थे। अप्सराये नृत्य करने लगी, देवागनाओ ने अपने हाथो मे अष्ट मगल द्रव्य ले लिये। देव लोग क्षीरसागर से स्वर्ण कलश भर-कर क्रम से एक से दूसरे तक पहुचाने लगे। सर्व प्रथम सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के इन्द्रो ने भगवान का अभिषेक किया। सभी इन्द्र और देव भगवान का जय जयकार कर रहे थे। सौधर्म इन्द्र को एक कलश द्वारा अभिषेक करने

से तृप्ति नही हुई । तब उसने हजार भुजायं बना ली और एक साथ हजार कलशो से भगवान का अभिषेक किया । इसके पश्चात् अन्य इन्द्रो और देवो ने भगवान का अभिषेक किया ।

भगवान स्वय ही पवित्र थे । उनके पवित्र अगो का स्पर्श पाकर वह जल भी पवित्र हो गया और वह जहा जहा वहा, वह समस्त धरातल भी पवित्र हो गया ।

अभिषेक के पश्चात् सौधर्मेन्द्र ने जगत की शान्ति के लिए शान्ति मन्त्र का पाठ किया । देवों ने बडी भक्ति से उस गन्धोदक को अपने मस्तको पर लगाया, फिर सारे शरीर पर लगाया और अवशिष्ट गन्धोदक को स्वर्ग ले जाने के लिये रख लिया । फिर सब इन्द्रो ने मन्त्रो से पवित्र हुए जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ इन अष्ट द्रव्यो से भगवान की पूजा की । पश्चात् मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी ।

उस समय सुगन्धित पवन बह रहा था । आकाश से सुगन्धित जल की वर्षा होरही थी । देव विभिन्न प्रकार के बाजे बजा रहे थे । इन्द्राणी ने तब भगवान को अपनी गोद मे लेकर सुगन्धित द्रव्यो का अनुलेपन करके दिव्य वस्त्राभूषण पहनाये । मस्तक पर तिलक लगाया और कल्पवृक्ष के पुष्पो का मुकुट पहनाया । उनके मस्तक पर चूडामणि रत्न रखा । नेत्रो मे अजन लगाया, कानो मे कुण्डल पहनाये, गले में रत्नहार पहनाया । बाजूबन्द, अनन्त, करधनी, घुघरू आदि अनेक रत्नाभरण पहनाये । फिर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वन के पुष्पो की माला पहनाई । श्री, शची, कीर्ति और लक्ष्मी देवियो ने भगवान को इस तरह अलकृत किया कि इन्द्राणी भी भगवान की रूप-सज्जा को देखकर विस्मित रह गई । इन्द्र तो भगवान की रूप माधुरी को हजार नेत्र बनाकर देखना रह गया । फिर सबने मिलकर भगवान की स्तुति की ।

इस प्रकार जन्माभिषेक का उत्सव मनाकर इन्द्र और देव भगवान को लेकर अयोध्या वापिस आये । इन्द्र भगवान को लेकर कुछ देवो के साथ महाराज नाभिराज के महलो मे पहुचा और श्रीगृह के आगन मे सिहासन पर भगवान को विराजमान किया । नाभिराज बाल भगवान को देखकर अत्यन्त हर्षित हो रहे थे । इन्द्राणी ने माया-मयी निद्रा दूर कर माता मरुदेवी को सचेत कर दिया, तब माता भी अपने पुत्र को अत्यन्त वात्सल्य के साथ देखने लगी । इन्द्र ने महार्घ्य रत्नाभरणो और मालाओ से माता-पिता की पूजा-स्तुति की—हे नाभिराज ! आप ऐश्वर्य-शाली उदयाचल हे और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा है क्योकि यह पुत्र रूपी ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है । आज आपका यह घर हम लोगो के लिये जिनालय के समान पूज्य है और आप जगत्पिता के भी माता-पिता है । इसलिये हम लोगो के लिये सदा पूज्य है ।'

इन्द्र ने माता-पिता को जन्माभिषेक की सारी कथा सुनाई, जिसे सुनकर दोनो ही बडे प्रसन्न हुए । फिर इन्द्र की सहमति से माता-पिता ने भगवान का जन्म महोत्सव किया । प्रजा ने भी विविध प्रकार के उत्सव किये ।

इन्द्र द्वारा आनन्द नाटक

नगरवासियो को आनन्द विभोर होते हुए देखकर सौधर्म इन्द्र भी अपने आनन्द को न रोक सका । उसने आनन्द नाटक किया । सगीत विद्या मे निपुण गन्धर्वो ने विविध वाद्यो के साथ सगीत करना प्रारम्भ किया । इन्द्र द्वारा किया गया नाटक अलौकिक था । सर्व प्रथम उसने भगवान का गर्भावतरण नाटक किया । उसके पश्चात् जन्माभिषेक सम्बन्धी नाटक दिखाया । इसके बाद उसने भगवान के पिछले दश जन्मो का नाटक किया, जिसे दशावतार नाटक भी कहा जाता है ।

सर्व प्रथम इन्द्र ने मगलाचरण किया । फिर पूर्वरङ्ग दिखाया । पूर्वरङ्ग दिखाते समय उसने पुष्पाजलि क्षेपण करके ताण्डव नृत्य किया । ताण्डव नृत्य के प्रारम्भ मे उसने नान्दी मगल किया । फिर रगभूमि में प्रवेश किया । रग-भूमि मे प्रवेश करते समय वह पुष्पाजलि विकीर्ण कर रहा था । फिर उसने विभिन्न लयो और मुद्राओ में ताण्डव नृत्य किया । देव आकाश से पुष्पवर्षा करने लगे । इन्द्र ने नृत्य मे क्रमश शुद्ध पूर्वरंग, करण और अङ्गहार का प्रयोग करते हुए अद्भुत रस-सृष्टि की । उसकी भुजाये नाना प्रकार की भगिमाओ मे चचल गति से चल रही थी । उसके पदक्षेपो पर दर्शको की दृष्टि ठहर नही पाती थी । तडित् गति के कारण कभी वह एक रह जाता था, कभी अनेक हो जाता था । क्षण मे वह निकट दिखाई देता था और क्षण मे वह दूर चला जाता था । देव नर्तकिया भी उसकी होड़ नही कर पा रही थी । उसके नृत्य का रस, भाव, अनुभाव और चेष्टाये उसकी आत्मा के साथ एकाकार

हो उठी थी। अपने इस ताण्डव नृत्य के द्वारा इन्द्र ताण्डव नृत्य का आद्य प्रस्तोता, सूत्रधार और जनक माना गया है।

इस नृत्य के पश्चात् इन्द्र ने भगवान के दश जन्मों या अवतारों का नाटक किया। सर्व प्रथम इन्द्र ने भगवान के उस जन्म का नाटक दिखाया, जिसमे वे महाबल विद्याधर थे। इसके बाद क्रमशः ललितांग देव, वज्र जंघ, भोगभूमिज आर्य, श्रीधरदेव, सुविधि नरेश, अच्युतेन्द्र, वज्रनाभि चक्रवर्ती, सर्वार्थ सिद्धि के अहमिन्द्र और नाभिपुत्र वृषभदेव का नाटक किया।

इस प्रकार यह आनन्द नाटक समाप्त हुआ।

इन्द्र ने भगवान का एक नाम पुरुदेव रक्खा था। किन्तु उनका मुख्य नाम वृषभदेव रक्खा। इन्द्र ने भगवान का यह नाम क्यों रक्खा, इस बारे मे आचार्यों ने कई प्रकार की कैफियत दी है।

भगवान का नामकरण

गर्भावतरण के समय माता मरुदेवी ने वृषभ देखा था, इसलिये भगवान का नाम वृषभदेव रक्खा। एक हेतु यह दिया गया है कि भगवान जगत मे श्रेष्ठ है, इसलिये उनका नाम वृषभदेव रक्खा। वृषभ का अर्थ है श्रेष्ठ। तीसरा हेतु यह दिया है कि वृष श्रेष्ठ धर्म को कहते है। भगवान उस श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान होरहे थे, इसलिये इन्द्र ने उन्हे वृषभ स्वामी कहा। इन सभी मतो से भिन्न एक मत यह है कि वे जिनेन्द्र प्रभू इन्द्र द्वारा की गई पूजा के कारण प्रधानता को प्राप्त हुए थे, इसलिये माता-पिता ने ही उनका नाम ऋषभ रक्खा।

नामकरण के पश्चात् इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान को चले गये।

३. बाल्य-काल

इन्द्र ने बाल भगवान के लालन पालन और सेवा-सुश्रूषा के लिये अलग-अलग देवियाँ नियुक्त कर दी।

भगवान का दिव्य लालन पालन

इन्द्र ने भगवान के हाथ के अंगूठे मे अमृत स्थापित कर दिया था। वे अमृत चूसते हुए शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति बढने लगे। उनका कोमल बिस्तर, आसन, वस्त्र, आभूषण, अनुलेपन, भोजन, वाहन तथा यान सभी वस्तुएं दिव्य थी। कुबेर ऋतु के अनुकूल सभी वस्तुएं भेजता था। नाभिराज और मरुदेवी बाल भगवान को देख देखकर हर्षित होते थे। भगवान के होठों पर सदा मद स्मित बिखरा रहता था, जिसमे प्रतीत होता कि उन्हे ससार के भोगो को कोई कामना शेष नही है, वे इनसे परितृप्त हो चुके है। किन्तु प्रकृति-धर्म को तो निभाना ही है, इसलिए वे इस पर सदा हसते रहते है। जो जिन बालक जन्म से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान का धारक है, उसे अबोध बालकों के समान चेष्टा करनी पडे, इससे अधिक परिहास की बात क्या हो सकती है!

बालक ऋषभदेव न केवल अपने माता-पिता के ही, अपितु जन-जन के प्रिय थे। अनेक स्त्री पुरुष तो केवल उनकी रूप-सुधा का पान करने और देखने के लिये ही आते थे। उनकी प्रत्येक क्रीडा मन को

भगवान की बाल-क्रीड़ायें

आकर्षित करने वाली थी। यदि शिशु ऋषभदेव जरा सा मुस्करा भी देते थे तो माता मरुदेवी निहाल हो जाती थी। भट्टारक ज्ञानभूषण ने शिशु ऋषभदेव की बाल-चेष्टाओं का बडा स्वाभाविक और मार्मिक वर्णन किया है। बालक ऋषभ पालने मे पडा हुआ है। किन्तु बीच बीच में कभी आंख खोलकर देखता है, कभी रो उठता है और कभी अपने नन्हे हाथो से हार को मोड-तोड़ देता है—

'आहे क्षिणि जोवइ क्षिणि सोवइ रोवइ लहीअ लगार ।

आलि करइ कर मोड़इ त्रोडइ नक्सर हार ।। आ० फा० १०३।।

बालक आदीश्वर लडखडाते डगो से चलने लगे है । उनके पैरो मे स्वर्ण के घु घरू पडे है । जब वे चलते है तो उनमे से घ्रण-घ्रण की मधुर ध्वनि निकलती है । जिसे सुनकर नाभिराज और मरुदेवी दोनो को ही अपार हर्ष होता है—

'आहे घ्रण घ्रण घू घरी बाजइ हेम तणी बिहु पाइ ।

तिम तिम नरपति हरखइ मरुदेवी माइ ।। आ० फा०, १०१।।

अब बालक कुछ चलने लगा है । उसके मस्तक पर टोपी है । कानो मे कुण्डल झलक रहे है । जो देखता है, देखता ही रह जाता है । उसे तृप्ति नही होती—

'आहे अगोइ अंगि अनोपम उपम रहित शरीर ।

टोपीय उपीय मस्तकि बालक छइ पण वीर ।।६५।।

आहे कनिय कुण्डल झलकइ खलकइ नेउर पाउ ।

जिम-जिम निरखइ हियउइ तिम-तिम भाइ ।।६६।।

बालक ऋषभदेव अब क्रीडा करने लगे । इन्द्र ने उनके साथ खेलने के लिए देव भेज दिए । वे देव भगवान का सा रूप बनाकर उनके साथ खेलते थे । वे ऐसे लगते थे, मानो वे भी ऋषभदेव हो । वही रूप, वही शरीर, वही वय । सभी बातो मे समानता । भगवान का बाल-सौन्दर्य कितना मोहक था । और जब वे रत्न जड़ित आगन मे खेलते है तो आगन मे अपना प्रतिबिम्ब देखकर स्वय ही मुग्ध हो जाते है । जब वे तोतली बोली बोलते है तो माता मरुदेवी उन पर बलि बलि जाती है । उनका धूल घूसरित वेष तो ऐसा लगता है, मानो सौन्दर्य साकार हो उठा हो । भगवान के इस अनोखे रूप और अनोखी लीला का सरस वर्णन अपभ्रश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' मे किया है, जिसे पढकर भगवान की वह बाल छवि आखो के आगे तैरती सी प्रतीत होती है ।

सेसवलीलिया कोलमसीलिया । पहुणा दाविया केण ण भाविया ।।

धूली धूसरु ववगय कडिल्लु । सहजायक विलकोतलु जडिल्लु ।।

हो हल्लरु जो जो सुहु सुआहि । पइ पणवतउ भूयगणु ।।

णदइ रिज्झइ दुक्कय मलेण । का सुवि मलिगुण ण होइ मणु ।।

धूली धूसरी कांड किंकिणी सरी । णिरुव मलीलउ कीलइ बालउ ।।

भगवान की इस छवि पर कौन नही रीझ उठगा । उनके वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह था । उनके शरीर पर नौ सौ व्यजन और एक सौ आठ शुभ लक्षण थ ।

जन्म के दस अतिशय

जन्म से ही उनके शरीर मे अनेक विशेषताये थी । सर्व साधारण से उनका शरीर असाधारण था । उन्हे पसीना नही आता था । शरीर निर्मल था । दूध के समान धवल रक्त था । वज्र वृषभनाराच सहनन था । समचतुरस्रसस्थान था । उनका रूप अनुपम था । चम्पक पुष्प के समान शरीर मे सुगन्धि थी । १००८ लक्षण थे । अनन्त बलवीर्य था । तथा वे हित-मित-मधुर भाषण करते थे । इस प्रकार जन्म से ही उनमे ये दस विशेषताये थी, जिन्हे जन्म के दस अतिशय कहा जाता है ।

४. भगवान गृहस्थाश्रम में

भगवान का विवाह

ऋषभदेव का शैशव काल बीता और उन्होने यौवन की देहली पर पग रखा। वे जन्म से तीन ज्ञान के धारी थे। उस समय तक लिपि और अक विद्या का प्रचलन नही था। अत विद्याओं का प्रचार-प्रसार नही हो पाया था। इसलिए किशोर ऋषभदेव की शिक्षा का प्रश्न ही नही था। फिर तीर्थंकर तो जगत के गुरु होते हैं, तीर्थंकर का गुरु कोई नही होता। वे जन्म से ही प्रतिबुद्ध होते है। पिछले जन्मो मे सतत साधना द्वारा ज्ञान का जो भण्डार सचित कर लेते हैं, वह सुरक्षित रूप में उन्हे जन्म से ही प्राप्त रहता है। वे ससार की घटनाओ से नये-नये अनुभव सजोते है और उस पर मनन-चिन्तन करते है। इसलिए वे लोक की सम्पूर्ण विद्याओ के स्वामी होते है। ऋषभदेव सरस्वती के स्वामी थे। उन्हे जन्म से ही सम्पूर्ण शास्त्रो का ज्ञान था। वे समस्त कलाओ के ज्ञाता थे। ज्यो-ज्यो उनका शरीर बढ रहा था, वैसे ही उनके गुण भी बढ रहे थे।

अब भगवान की आयु विवाह योग्य हो गई। महाराज नाभिराज ने एक दिन अनुकूल अवसर देखकर अपने पुत्र से कहा—'वत्स! आप जगद् गुरु है, ससार का कल्याण करने के लिए ही आपका अवतार हुआ है। किन्तु पिता के नाते मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप विवाह करके गृहस्थाश्रम अगीकार करे। पिता के प्रिय वचन सुनकर भगवान ने स्वीकृति सूचक "ॐ" कहा। पुत्र की स्वीकृति पाकर पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होने इन्द्र के परामर्श से सुशील, शुभलक्षणो वाली, सती और सुन्दर दो कन्याओ की याचना की। ये दोनों कन्याये कच्छ, महाकच्छ की बहने थी। उनका नाम यशस्वती[1] और सुनन्दा था। नाभिराज ने उन्ही कन्याओ के साथ धूमधाम मे ऋषभदेव का विवाह कर दिया। भगवान के विवाह से न केवल मनुष्य लोक मे ही आनन्द छा गया, बल्कि देवलोक में भी भगवान के विवाह के उपलक्ष्य मे नाना प्रकार के उत्सव हुए। माता मरुदेवी और पिता नाभिराज दोनो पुत्र-बधुओं को देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए।

दोनो देवियो के साथ भगवान ऐसे लगते थे मानो वे कीर्ति और लक्ष्मी से ही सुशोभित हो। उन देवियो का रूप, यौवन, कान्ति और सौन्दर्य अनुपम था।

पुत्र-पुत्रियों का जन्म

एक दिन महादेवी यशस्वती महलों मे सो रही थी। उन्होने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे स्वप्न देखा। स्वप्न मे ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्र, सूर्य, जल से परिपूर्ण सरोवर जिसमे हस तैर रहे थे और चचल लहरो वाला समुद्र देखा। स्वप्न देखने के बाद बन्दी जनो के मगल पाठ को सुनकर वे जाग गई। और शैय्या त्याग कर प्रात काल का मगल स्नान कर देखे हुए स्वप्नो का फल जानने के लिए अपने पति ऋषभदेव के पास पहुची। और भगवान के पास सिहासन पर बैठ गई। फिर उन्होने रात्रि मे देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनसे फल की जिज्ञासा प्रगट की। भगवान ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—'हे देवि! स्वप्न में तूने सुमेरु पर्वत देखा है, उससे प्रगट होता है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा। सूर्य उसके प्रताप और चन्द्र उसकी कान्ति को सूचित करता है। सरोवर और हस देखने से तेरा पुत्र अनेक शुभ लक्षणो से युक्त होगा और अपने विशाल वक्षस्थल पर कमलवासिनी लक्ष्मी को धारण करेगा। ग्रसी हुई पृथ्वी देखने से वह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का पालन करेगा। समुद्र देखने का फल यह है कि वह चरम शरीरी होगा। और तेरे सौ पुत्रो मे ज्येष्ठ पुत्र होगा।' स्वप्नो का फल सुनकर महादेवी यशस्वती को अपार हर्ष हुआ।

महादेवी यशस्वती के गर्भ मे जो जीव आया था, वह अपने पूर्व जन्मो मे व्याघ्र, अतिगृद्ध, देव, सुबाहु और सर्वार्थसिद्धि मे अहमिन्द्र हुआ था। वह अहमिन्द्र ही महादेवी के गर्भ में अवतरित हुआ था। गर्भस्थ वह जीव महा प्रतापी चक्रेश्वर बनने वाला था। यही कारण था कि महादेवी यशस्वती अपने ऊपर आकाश में चलते हुए सूर्य

---

१. इनका अपर नाम नन्दा भी था।

को भी सहन नही करती थी । ये अपने मुख की कान्ति तलवार मे देखा करती थी, किन्तु वह तलवार में पड़ने वाली अपनी प्रतिकूल छाया को भी सहन नही कर पाती थी ।

महादेवी के ऊपर गर्भ के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगे थे—दोहला उत्पन्न होना, आहार में रुचि का मन्द होना, आलस्य सहित गमन करना, शरीर को शिथिल कर जमीन पर सोना, गालो तक मुख का सफेद पड़ जाना, आलस भरे नेत्रो से देखना, अधरोष्ठ का कुछ सफेद और लाल होना और मुख से मिट्टी जैसी सुगन्ध आना आदि ।

नौ माह व्यतीत होने पर महादेवी यशस्वती ने देदीप्यमान तेज से परिपूर्ण और महापुण्यशाली पुत्र उत्पन्न किया। भगवान ऋषभदेव के जन्म के समय जो दिन, लग्न, योग, चन्द्र और नक्षत्र आदि पडे थे, वे ही शुभ दिन आदि पुत्र के जन्म के समय भी पडे । यह कैसा सुखद आश्चर्य था । वही चैत्र कृष्णा नौमी का दिन, मीन लग्न, ब्रह्म योग, धन राशि का चन्द्रमा और उत्तराषाढ नक्षत्र । इस शुभ वेला मे सम्राट् के लक्षणों से सुशोभित पुत्र उत्पन्न हुआ । वह पुत्र अपनी दोनो भुजाओ से पृथ्वी का आलिंगन कर उत्पन्न हुआ था । यह देखकर निमित्त ज्ञानियो ने भविष्य बताते हुए कहा था कि बालक समस्त पृथ्वी का अधिपति बनेगा । बालक के उत्पन्न होने पर सबसे अधिक हर्ष दादा-दादी को हुआ । सौभाग्यवती स्त्रिया माता यशस्वती को आशीर्वाद दे रही थी—'तू इसी प्रकार के शत पुत्रो को जन्म दे।'

पुत्रोत्पत्ति की खुशी में राजमहल मे विविध उत्सव होने लगे । तुरही, दुन्दुभि, झालर, शहनाई, सितार, शख, काहल और ताल आदि नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। प्रकृति भी अपना हर्ष प्रकट करने में पीछे नही रही । आकाश से पुष्प-वर्षा हो रही थी । सुगन्धित जल कणो से युक्त पवन बह रहा था । देव आकाश में जय ध्वनि कर रहे थे और देविया विविध आशीर्वचन उच्चारण कर रही थी। नर्तकिया नृत्य कर रही थी । नगर की वीथियो और राजमार्गों पर सुगन्धित जल का छिडकाव किया गया । सारा नगर तोरणो आदि से सजाया गया । चतुष्पथो पर रत्नचूर्ण से चौक पूर कर मगल कलश रखे गए । निर्धनो को मुक्तहस्त दान दिया जा रहा था । सारी अयोध्या हर्षोत्सवो से व्याप्त थी । बन्धुजनो ने भरतक्षेत्र के अधिपति होने वाले बालक का नाम 'भरत' रक्खा । बालक के चरणो मे चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड आदि चौदह रत्नो के चिन्ह बने हुए थे ।

बालक धीरे-धीरे युवावस्था को प्राप्त हुआ । भरत की जन्म तिथि, नक्षत्र आदि ही अपने पिता ऋषभदेव की जन्म तिथि आदि से समानता नही रखते थे, भरत का गमन, शरीर, मन्द हास्य, वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील, विज्ञान आदि भी अपने पिता के समान था ।

महादेवी शस्वती ने जब पुत्र भरत को जन्म दिया, तब उसके साथ ब्राह्मी नामक पुत्री को भी जन्म दिया । इस प्रकार भरत और ब्राह्मी युगल उत्पन्न हुए थे। इसके बाद यशस्वती ने क्रमश ९८ पुत्रो को जन्म दिया। ऋषभ-देव की दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुबली पुत्र और सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई । बाहुबली सर्वश्रेष्ठ रूप सम्पदा के धारक थे । वे इस काल के चोबीस कामदेवो मे प्रथम कामदेव थे । बाहुबली का जैसा रूप था, वैसा रूप अन्यत्र कही नही दिखाई देता था । युवा होने पर स्त्रिया उनके रूप को देखकर ठगी सी रह जाती थी और वे उन्हे मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अगज, मदन और अनन्यज आदि नामो से पुकारती थी ;

श्वेताम्बर परम्परा मे ऋषभदेव की स्त्रियो के नाम सुनन्दा और सुमगला बताये है । सुमगला ने भरत और ब्राह्मी तथा सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को युगल रूप मे जन्म दिया । पश्चात् सुमगला ने युगल रूप से ४९ बार मे ९८ पुत्रो को जन्म दिया ।

भगवान के सौ पुत्र

दिगम्बर ग्रन्थो मे भगवान ऋषभदेव के सौ[1] पुत्र होने का तो वर्णन मिलता है, किन्तु उन पुत्रों के नाम नही मिलते । केवल थोडे से नामो का ही उल्लेख मिलता है । जैसे भरत, बाहुबली, वृषभसेन, अनन्त विजय, अनन्त वीर्य, अच्युत, वीर, वरवीर ।

किन्तु अभिधान राजेन्द्र कोष (उसभ-प्रकरण, पृष्ठ ११२९) मे इन सौ पुत्रो के नाम मिलते हैं । जो इस

१. आचार्य जिनसेन कृत आदि पुराण १६।२८, मे एक सौ एक पुत्र बताये है ।

प्रकार है—

१ भरत २. बाहुबली ३ शख ४ विश्वकर्मा ५ विमल ६ सुभक्षण ७. अमल ८. चित्राग ९. ख्याति कीर्ति १० वरदत्त ११. सागर १२ यशोधर १३. अमर १४. रथवर १५ कामदेव १६ ध्रुव १७. वच्छ १८. नन्द १९. सुर २० सुनन्द २१. कुरु २२. अग २३. वग २४. कोशल २५. वीर २६ कलिग २७. मागध २८ विदेह २९ संगम ३० दशार्ण ३१ गम्भीर ३२ वसुवर्मा ३३ सुवर्मा ३४ राष्ट्र ३५ सुराष्ट्र ३६ बुद्धिकर ३७. विविधकर ३८. सुयशा ३९. यशस्कीर्ति ४० यशस्कर ४१. कीर्तिकर ४२ सूरण ४३ ब्रह्मसेन ४४ विक्रान्त ४५. नरोत्तम ४६ पुरुषोत्तम ४७ चन्द्रसेन ४८ महासेन ४९ नभसेन ५० भानु ५१ सुकान्त ५२ पुष्पयुत ५३. श्रीधर ५४ दुर्धर्ष ५५ सुसुमार ५६ दुर्जय ५७ अजेयमान ५८ सुधर्मा ५९ धर्मसेन ६० आनन्दन ६१. आनन्द ६२ नन्द ६३ अपराजित ६४ विश्वसेन ६५ हरिषेण ६६ जय ६७ विजय ६८ विजयन्त ६९ प्रभाकर ७० अरिदमन ७१ मान ७२ महाबाहु ७३ दीर्घबाहु ७४ मेघ ७५ सुघोष ७६ विश्व ७७ वराह ७८ सुसेन ७९ सेनापति ८० कपिल ८१ शैलविचारी ८२ अरिजय ८३ कुजरवल ८४ जयदेव ८५ नागदत्त ८६ काश्यप ८७. बल ८८ धीर ८९ शुभमति ९० सुमति ९१ पद्मनाभ ९२ सिह ९३ सुजाति ९४ सजय ९५ सुनाम ९६ नरदेव ९७ चित्तहर ९८ सुरवर ९९ दृढरथ १०० प्रभजन।

श्रीमद्भागवत[1] मे भी यह स्वीकार किया है कि ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। उनमें भरत सबसे बडे थे। उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट ये नौ राजकुमार शेष नव्वे भाइयो मे बडे एव श्रेष्ठ थे। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ये नौ राजकुमार बडे भगवद्भक्त थे। इस प्रकार श्रीमद्भागवत मे केवल १९ पुत्रो के ही नाम दिये गये हैं।

लिपि और अक विद्या का आविष्कार

एक दिन भगवान ऋषभदेव सिहासन पर सुखासन से बैठे हुए थे। वे अपने पुत्र-पुत्रियो को कला और विनय का शिक्षण देने के बारे मे विचार कर रहे थे। तभी ब्राह्मी और सुन्दरी नामक उनकी पुत्रियाँ मागलिक वेष-भूषा धारण कर उनके निकट आई। वे दोनो ऐसी लगती थी मानो लक्ष्मी और सरस्वती ही अवतरित हुई हो। उन दोनो ने भगवान के निकट जाकर नियम के साथ उन्हे प्रणाम किया। भगवान ने प्रेमपूर्वक दोनो पुत्रिया को अपनी गोद मे बैठाया, उन पर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूघा। फिर कुछ देर तक उनके साथ विनोद करते रहे। पश्चात् वे बोले कि—तुम दोनो का यह सुन्दर शरीर, अवस्था और अनुपम शील यदि विद्या मे विभूषित किया जाय तो तुम्हारा यह जन्म सफल हो सकता है। यह कहकर उन्होने दोनो को आशीर्वाद दिया और स्वर्ण के पट्टे पर श्रुत देवता का पूजन कर स्थापन किया। फिर 'सिद्ध नमः' कहकर दाये हाथ मे ब्राह्मी को लिपि विद्या अर्थात् वर्णमाला लिखना सिखाया और बाये हाथ से सुन्दरी को अक विद्या अर्थात् सख्या लिखना सिखाया। इस प्रकार इस युग मे भगवान ने अपनी पुत्रियो के माध्यम से सर्व प्रथम वाड्मय का उपदेश दिया। केवल उपदेश ही नही दिया, भगवान ने वाड्मय के तीनो अंगो—व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र और अलकार शास्त्र के सम्बन्ध मे शास्त्र-रचना भी की। दोनो पुत्रिया भगवान से वाड्मय का अध्ययन करके महान् विदुषी और ज्ञानवती बन गई।

इस प्रकार इस काल मे लिपि विद्या और अक विद्या के आद्य आविष्कर्ता भगवान ऋषभदेव थे। इन विद्याओ का सर्वप्रथम शिक्षण ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में नारी जाति को प्राप्त हुआ। ब्राह्मी पुत्री ने जिस लिपि का अध्ययन किया था, पश्चाद्वर्ती काल मे वह लिपि ब्राह्मी लिपि कहलाने लगी। आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है। एशिया महाद्वीप की लिपियो मे प्राय जो समानता दिखाई पडती है, उसका कारण यही है कि वे सब ब्राह्मी लिपि मे निकली है।

१ श्रीमद्भागवत ५।४।९-१३।

पुत्रियो के समान पुत्रों को भी अनेक कलाओं का ज्ञान दिया। जिस पुत्र को जिस कला का ज्ञान दिया उसके लिये उस कला से सम्बन्धित शास्त्र की विस्तृत रचना की। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को विस्तृत अध्यायो से युक्त अर्थशास्त्र और प्रकरण सहित नृत्य शास्त्र पढ़ाया। वृषभसेन पुत्र के लिये सौ से अधिक अध्यायो वाले गन्धर्व शास्त्र का व्याख्यान किया। अनन्तविजय पुत्र के लिये सैंकडो अध्यायो वाली चित्रकला सम्बन्धी विद्या का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त इस पुत्र को सूत्रधार तथा स्थापत्य कला का भी उपदेश दिया। पुत्र बाहुबली को कामशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्व-विद्या, गज-विद्या, रत्न-परीक्षा आदि के शास्त्र पढाये। इसी प्रकार शेप पुत्रो को द्यूतविद्या, वार्तालाप करने की कला, नगर-सरक्षण, पासा फेंकना, मिट्टी के बर्तन, अन्नोत्पादन, जल-शुद्धि, वस्त्र-निर्माण, शय्या निर्माण, सस्कृत कविता-रचना, प्रहेलिका-निर्माण, छन्द-निर्माण, प्राकृत गाथा-रचना, श्लोक रचना, सुगन्धित पदार्थ-निर्माण, षट्रस-व्यजन-निर्माण, अलकार-निर्माण और उनके धारण करने की विधि, स्त्री-शिक्षा की विधि, स्त्रियो के लक्षण, पुरुप लक्षण जानने की विद्या, गाय वृषभ-लक्षण जानने की विद्या, कुक्कुट-लक्षण जानने की विद्या, मेढे के लक्षण जानने की विद्या, चक्र-लक्षण जानने की विद्या, छत्र लक्षण जानने की विद्या, दण्ड-लक्षण, तलवार लक्षण, मणि-लक्षण, काकिणी-लक्षण, चर्म-लक्षण, चन्द्र-लक्षण, सूर्य-लक्षण जानने की विद्या, राहु-गति, ग्रह-गति की कला, सौभाग्य और दुर्भाग्य-लक्षण, रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान, मन्त्र-साधन विधि, गुप्त वस्तु को जानने की विद्या, प्रत्येक वस्तु का ज्ञान, सैन्य-ज्ञान, व्यूह-रचना, सेना को रण क्षेत्र मे उतारने की कला, सेना का पडाव, नगर का प्रमाण जानने की कला, वस्तु का प्रमाण जानने की कला, प्रत्येक वस्तु के रखने की कला, नगर-निर्माण, थोड़े को बहुत करने की कला तलवार आदि की मूठ बनाने की कला, हिरण्य-पाक, सुवर्ण-पाक, मणि-पाक, धातु-पाक, बाहु युद्ध, दण्ड युद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टि युद्ध, युद्ध-नियुद्ध-युद्धाति-युद्ध करने की कला, सूत बनाने, नली बनाने, गेद खेलने वस्तु-स्वभाव जानने, चमडा बनाने की कला, पत्र छेदन, कडग छेदन की कला, सजीवन-निर्जीवन कला, पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला की शिक्षा दी।

पुत्रों को विविध कलाओं का प्रशिक्षण

इस प्रकार पुत्र-पुत्रियो को विविध कलाओ और विद्याओ की शिक्षा देकर एक प्रकार से उन्हे जन-जन मे प्रचार करने के लिये तैयार किया। भोग-युग से कर्म युग की ओर जन-मानस को तैयार करने और जन-जन का जीवन कर्म-स्फूर्त करने के लिये सर्वप्रथम शिक्षको और कार्यकर्ताओ को तैयार करने की आवश्यकता थी। भगवान ने इस कार्य के लिये अपने परिवार को ही प्रशिक्षित किया। यह असाधारण ज्ञान, विवेक, धैर्य और अध्यवसाय का कार्य था। सम्पूर्ण जन-जीवन को एकबारगी ही बदल देना सरल नही था, किन्तु ऋषभदेव ने भोग-युग की सम्पूर्ण व्यवस्था और बिना कार्य किये ही जीवन-यापन का स्वभाव बदल कर कर्म-युग की व्यवस्था चालू करने मे कितना श्रम, पुरुषार्थ और समय लगाया होगा, यह आज हम नही आँक सकते।

५. ऋषभदेव द्वारा लोक-व्यवस्था

प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। भोग-युग के समय दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते थे। उनसे मनुष्य अपनी जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति कर लेते थे। किन्तु अब काल के प्रभाव से कल्प वृक्ष, महौषधि, दीप्तौषधि तथा सब प्रकार की औषधिया शक्तिहीन हो गई थी। बिना बोये हुए धान्य पहले खूब फलते थे, किन्तु वे भी अब बहुत कम उगते थे और उतने नही फलते थे। कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक से रहित हो गये। मनुष्य इस समय कच्चा अन्न खाते थे अथवा कोई कोई कल्पवृक्ष कही रह भी गया था, उसके फल खाते थे। उससे उन्हे नाना प्रकार के रोग होने

वन्य संस्कृति से कृषि-संस्कृति तक

लगे थे। अब शीत, आतप, वर्षा और महावायु आदि की भी बाधायें सताने लगी थी।

ऐसे सकट के समय सब लोग मिलकर अपने कुलकर नाभिराज के पास गये और उन्हे अपनी कष्ट-गाथा सुनाकर जीवनोपाय पूछा। नाभिराज ने प्रजा को अपने ज्ञानी पुत्र ऋषभदेव के पास भेज दिया। सारी प्रजा ऋषभदेव के पास पहुची और उन्हे अपनी सारी कठिनाइयाँ बताई और प्रार्थना की—हे देव ! हम भूख प्यास से व्याकुल है। हम लोगो की आजीविका निरुपद्रव हो सके, आप कृपा करके हमे ऐसा उपाय बताइये।

प्रजा के ऐसे दीन वचन सुनकर भगवान दयार्द्र हो गये। उन्होने मन मे विचार किया—अब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये है, भोगभूमि समाप्त हो गई है, कर्म भूमि प्रगट हुई है। वर्तमान मे पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र मे जो व्यवस्था प्रचलित है, यहाँ पर भी उसी व्यवस्था का प्रचलन श्रेयस्कर होगा और उसी व्यवस्था से यहाँ के मनुष्यों की आजीविका चल सकती है। ऐसा विचार कर भगवान ने प्रजा को आश्वासन दिया। उन्हे समझाया कि 'अब भोग-भूमि समाप्त हो गई है, कर्म-भूमि प्रारम्भ हो गई है। अत अब तुम लोगो को आजीविका के लिए कर्म करना पडेगा, तभी तुम लोगो का निर्वाह हो सकेगा।'

दिगम्बर परम्परा के 'आदिपुराण' आदि ग्रन्थों मे सक्षेप मे बताया है कि भगवान ने प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मो का उपदेश दिया। तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म कहलाता है। लिख पढ कर आजीविका करना मसि कर्म कहलाता है। जमीन को जोतना बोना कृषि कर्म कहलाता है। विभिन्न विद्याओं द्वारा आजीविका करना विद्या कर्म कहलाता है। व्यापार करना वाणिज्य है। और हस्त को कुशलता मे जीविका करना शिल्प-कर्म कहलाता है।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के 'आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थो मे आजीविका के तात्कालिक उपाय का विस्तृत विवरण मिलता है जो भगवान ने उस समय प्रजा को बताया था। उन्होंने बिना बोये हुए धान्य को हाथ से मसल कर खाने का परामर्श दिया। लोगो ने वैसे ही किया। किन्तु उससे अपच होने लगा। तब भगवान ने उन्हे जल मे भिगोकर मुट्ठी तथा बगल मे रख कर गर्म करके खाने की सलाह दी। किन्तु इससे भी अपच हो गया। तब भगवान ने लकडियो को रगडकर अग्नि उत्पन्न की और अन्न को पकाने की विधि बनाई।

एक दिन सयोगवश बासो आदि की स्वत रगड से जगल मे आग लग गई। हवा के सयोग मे वह आग बढने लगी। तब लोग ऋषभदव के पास आये और उनसे इस नये सकट की बात बताई। सुनकर भगवान ने बताया कि आसपास की घास साफ कर दो तो आग नही बढेगी। लोगो ने घास, पत्ते साफ कर दिये। इससे आग का बढना रुक गया।

भगवान ने कहा कि इस आग मे अन्न को पकाकर खाया जाता है। लोगो ने आग मे अन्न डाल दिया। वह जल कर राख हो गया। वे पुन भगवान के पास आये और बोले—आग हमारे अन्न को खा गई, हम क्या खावे। तब भगवान ने आग के ऊपर मिट्टी के पात्र मे अन्न रखकर पकाने की विधि बताई।

इसके पश्चात् भगवान ने धान्य बोना, पानी देना, नराना और पकने पर काटकर अन्न निकालना, पीसना, गूथना और पकाना यह सारी विधि सिखाई। इस प्रकार वन्य जीवन से नागरिक सभ्यता तक आने के लिए भगवान ने कृषि कर्म को प्राथमिक उपाय बताया। इसका अर्थ यह है कि आदि मानव ने नागरिक जीवन मे दीक्षा लेने के लिए सर्व प्रथम कृषि को अपने जीवनोपाय के रूप मे स्वीकार किया और आज सभ्यता का कितना ही विकास क्यो न हो गया हो, आज भी कृषि ही उदर-पूर्ति का एक मात्र साधन है।

ऋषभदेव ने प्रजा के जीवन-धारण की सर्व प्रमुख समस्या का समाधान किया था, इसलिए कृतज्ञ प्रजा उन्हे प्रजापति कहने लगी। इसी सम्बन्ध मे आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र मे कहा है—

प्रजापतिर्य प्रथम जिजीविषु: शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा ।

भगवान ने उक्त छह कर्मो के आधार पर तीन वर्णो की स्थापना की। इन तीन वर्णो मे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। उन्होने इन वर्णों का विभाजन कर्म और व्यवसाय के आधार पर किया था, जिससे सब मनुष्यो को अपनी-अपनी योग्यतानुसार काम और व्यवसाय मिल सके और सभी उन कर्मों के आधार पर अपनी जीविका उपार्जन कर सके। अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोडकर कोई दूसरी

वर्ण व्यवस्था

आजीविका नही करता था, इसलिए वर्ण और कार्य दोनो मे सकरता नही आने पाती थी। उस समय ससार में जितने पापरहित आजीविका के उपाय थे, वे सब भगवान ऋषभदेव की सम्मति से ही प्रवृत्त हुए थे।

जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे, जो क्षतत्राण अर्थात् विपत्ति से रक्षा करते थे, वे क्षत्रिय कहलाये। जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन के द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे, वे वैश्य कहलाते थे। जो शिल्प द्वारा आजीविका करते थे तथा दूसरो की सेवा करते थे, वे शूद्र कहे जाते थे।

इन तीनो वर्ण-धर्मों मे क्षात्र धर्म सर्व प्रथम बताया था। इसीलिए महाभारत के शान्ति पर्व (१२।६४।२०) मे ऋषभदेव को, जिन्हे आदिदेव भी कहा जाता है, क्षात्रधर्म का आदि प्रवर्तक स्वीकार किया है—

> क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्त ।
> पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्मा ॥

अर्थात् आदिदेव से क्षात्र धर्म प्रवृत्त हुआ और अन्य शेष धर्म बाद मे प्रवृत्त हुए।

वायुपुराण, पूर्वार्ध, ३३।५०-५१ मे ऋषभदेव को नरेशो मे श्रेष्ठ और सम्पूर्ण क्षत्रियो का पूर्वज कहा है—

> "ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥"

इसी बात को ब्रह्माण्ड पुराण २।१४ मे स्वीकार किया गया है।

युगलिया काल मे लोग छुट पुट रूप मे इधर उधर बनो मे रहा करते थे। अशन बसन भूषण व्यजन सब कुछ उन्हे वृक्षो से ही प्राप्त होता था। फिर ऐसा काल आया कि वृक्षो की सख्या घटने लगी।

कवीलो से नागर सभ्यता की ओर

जहा वृक्ष शेष रह गये, वहा लोग कवीले बनाकर रहने लगे। वृक्षो की अल्पता के कारण जब वृक्षो के लिए सीमाकन किया गया, तब पुरुष और स्त्रियो ने अपने अपने परिकर बना लिए। भविष्य के कवीलो का यह आदिम रूप था।

भगवान ने विचार करके इन्द्र की सहायता मे ग्राम, नगर, खेट, खर्वट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, सवाह आदि की रचना की। उन्होने ५२ जनपदो की रचना की। उनके नाम इस प्रकार है—

सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अग, वग, सुह्य, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजागल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोकण, वनवास, आध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय।

इन जनपदो का नगरो, ग्रामो आदि मे विभाग किया। उनकी परिभाषाये निश्चित की। जिसमे घरो के चारो ओर बाड हो, जिसमे बगीचे और तालाब हो तथा जिसमे अधिकतर शूद्र और किसान रहते हो, वह गाव कहलाता था। जिसमे सौ घर हो वह छोटा गाव कहलाता था। छोटे गावो की सीमा एक कोस की होती थी। जिसमे पाच सौ घर हो और किसान धन सपन्न हो, वह बडा गाव कहलाता था। ऐसे गावो की सीमा दो कोस की रक्खी गई थी। नदी, पहाड, गुफा, श्मशान अथवा पेड, वन, पुल आदि से गावो की सीमा निर्धारित की जाती थी।

जिसमें परिखा, गोपुर, अटारी, कोट, और प्राकार हो, जिसमे अनेक भवन बने हुए हो, जिसमें प्रधान पुरुष रहते हो, वह पुर या नगर कहलाता था।

जो नगर नदी और पर्वत से घिरा हुआ हो, उसे खेट कहते थे।

जो केवल पर्वत मे घिरा हुआ हो, उसे खर्वट कहा जाता था।

जो पाच सौ गावो से घिरा हुआ हो, उसे मडम्ब पुकारा जाता था।

जो समुद्र के किनारे बसा हुआ हो अथवा जहाँ नावो से आवागमन होता हो, उसे पत्तन कहा जाता था।

जो किसी नदी के किनारे बसा हुआ हो, उसे द्रोणमुख कहते थे।

जहा मस्तक के बराबर ऊचे धान्य के ढेर लगे हो, उसे सवाह कहते थे।

एक राजधानी में आठ सौ गाव होते थे। एक द्रोणमुख में चार सौ गाव होते थे। एक खर्वट मे दो सौ गाव

होते थे। दस गावों के बीच एक बडा गाव होता था। वहा मण्डी होती थी। जहा अधिकतर अहीर रहते थे, उसे घोष कहते थे। जहा सोने, चादी आदि की खाने होती थी, वह आकर कहलाता था।

इन्द्र ने भगवान की आज्ञा से इधर उधर विखरे हुए लोगो को इन गावो आदि में लाकर बसाया। इन गावो आदि की सरचना में इन्द्र का बड़ा भारी योगदान था, अतः तभी से उसका नाम पुरन्दर पड़ गया।

वृक्षो का आवास छोड कर मानव ने प्रथम वार भवनो मे अपने चरण रक्खे थे। यह काल वन्य जीवन की समाप्ति और नागरिक सभ्यता का प्रारम्भिक काल था। आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने यह नवीन सृष्टि की रचना की थी। इसे ही कृतयुग कहा गया है। इस कृतयुग का प्रारम्भ आषाढ कृष्णा प्रतिपदा को हुआ था। तब से भगवान वृषभदेव को लोग ब्रह्मा, प्रजापति आदि नामो से पुकारने लगे।

युगलिया काल में प्रकृति में एक अद्भुत बात देखी जाती थी कि स्त्री के युगल सन्तान उत्पन्न होती थी। इस युगल मे एक कन्या होती थी और दूसरा पुत्र होता था। ये सहजात भाई-बहन ही बडे होने पर पति-पत्नी के रूप मे आचरण करने लगते थे। उस समय समाज मे विवाह नाम की कोई प्रथा नही थी। विवाह का प्रारम्भ तो ऋषभदेव का नन्दा- सुनन्दा के साथ हुए विवाह से हुआ था। किन्तु साधारण लोगो ने इसे अपने श्रद्धास्पद कुमार ऋषभदेव का एक असाधारण कार्य समझा। उनके कार्यो की नकल या अनुकरण करने की भावना तक तत्कालीन समाज मे जागृत नही हुई थी। उसका कारण यह था कि तत्कालीन मनुष्य समाज अपने हर सुख-दुख, हर समस्या मे ऋषभदेव की मुखापेक्षी था। जब तक ऋषभदेव न कहे,तब तक परम्परा विरुद्ध कोई कार्य करने का साहस और बुद्धि किसी मे नही थी। उन्हे यह विश्वास अवश्य था कि हमारे हित मे जो भी बात होगी, ऋषभदेव उसे अवश्य बतायेगे।

विवाह व्यवस्था

जब कुमार ऋषभदेव ने षट् कर्मों का प्रचलन कर दिया, उन कर्मों के आधार पर समाज-रचना और वर्ण-व्यवस्था की स्थापना कर दी और नगरो-गावो का निर्माण कर नागर जीवन का प्रारम्भ कर दिया, तब उन्होंने समाज-व्यवस्था और विवाह-व्यवस्था की ओर अपना ध्यान दिया। उन्होंने विवाह सम्बन्धी नियम इस दृष्टिकोण से बनाये, जिससे वर्ण-व्यवस्था मे सकरता न आजाय और एक अनुशासित समाज की व्यवस्था की जा सके। वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये कार्य सुलभ करना और उन्नति के समुचित अवसर प्रदान करना था तथा समाज की सभी आवश्यकतायें जुटाना था। यदि लोग अपना कार्य छोडकर दूसरे वर्ण का कार्य करने लग तो उसे दण्डनीय अपराध घोषित किया गया क्योंकि इससे समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने मे बाधा आती और इस प्रकार वस्तुओं की कमी हो सकती थी। तत्कालीन समाज की सरचना को सुस्थिर रखने के लिये अपने अपने वर्ण के दायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक था। इसमें अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य को महत्व दिया गया था।

वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिये भगवान ने विवाह की व्यवस्था की और उसके लिये आवश्यक नियम निर्धारित किये। इन नियमो के अनुसार शूद्र शूद्र-कन्या के साथ ही विवाह कर सकता था। वह क्षत्रिय और वैश्य कन्या के साथ विवाह नही कर सकता था। इसी प्रकार वैश्य वैश्य-कन्या तथा शूद्र-कन्या के साथ विवाह करने का अधिकारी घोषित किया गया। क्षत्रिय क्षत्रिय-कन्या, वैश्य-कन्या और शूद्र-कन्या के साथ विवाह कर सकता था। बाद मे जब चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की, तब उसके लिये विवाह सम्बन्धी यह नियम बनाया कि ब्राह्मण ब्राह्मण कन्या के साथ ही विवाह करे, परन्तु कभी किसी देश मे वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ भी विवाह कर सकता है। उच्च वर्ण वालो को अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने का तो अधिकार दिया गया, किन्तु निम्न वर्ण वालो को उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करने की अनुमति नही दी गई।

इन विवाह सम्बन्धी नियमो की भाषा और उनकी भावना को यदि हम गहराई से समझने का प्रयत्न करे तो हमे यह स्वीकार करना होगा कि विवाह के विषय मे पुरुष और स्त्री को समान अधिकार नही दिये गये थे। इन नियमो की रचना के कुछ काल पश्चात् ही पुरुषों के बहु विवाह प्रचलित हो गये थे, किन्तु स्त्रियो को बहु विवाह करने की न कभी अनुमति मिल सकी और न कभी आर्य लोगो मे इसका प्रचलन ही हुआ। वस्तुत इस प्रश्न को आर्य लोगो ने कभी स्त्री-पुरुषो के समानाधिकार का प्रश्न नही बनाया, किन्तु इसके मूल में पिण्डशुद्धि अर्थात् रक्त-शुद्धि की दृष्टि प्रधान रही। यदि एक पुरुष के अनेक स्त्रियाँ हो तो उनकी सन्तानो की रक्त-शुद्धि में

कोई बाधा नही आ सकती। इसके विपरीत यदि एक स्त्री के अनेक पति हो तो पिण्डशुद्धि नही हो सकती, बल्कि जो सन्तान होगी, वह सकर रक्त की होगी। इसी प्रकार पर स्त्री-त्याग की अपनी धार्मिक महत्ता तो है ही, किन्तु उसकी अपनी सामाजिक उपयोगिता भी है। और वह उपयोगिता है रक्त-शुद्धि की। विवाह सामाजिक सरचना को अनुशासित, नियमित और सयमित रखने का महत्वपूर्ण उपाय है। विवाह एक नैतिक बन्धन है। इस बन्धन को स्वीकार कर लेने पर पुरुष-स्त्री, पति-पत्नी समाज के स्वरूप और शुद्धि को अक्षुण्ण रखने के दायित्व को स्वेच्छा से ओढ लेते है। सभवत इसी उद्देश्य से भगवान ने विवाह प्रथा का आविष्कार किया था।

भोगभूमि के मनुष्यो की आवश्यकताये सोमित थी, सब समान थे। आवश्यकता पूर्ति के साधन प्रचुर थे। अत आवश्यकताओ की पूर्ति सुगमता से हो जाती थी। किसी के मन मे कोई महत्वाकाक्षा नही थी। इसलिये मनुष्यो मे अपराध-वृत्ति ने जन्म नही लिया था। कर्म-भूमि प्रारम्भ होने पर आवश्यकता-पूर्ति के साधन सुलभ नही रहे, बल्कि अपनी बुद्धि और पुरुषार्थ के द्वारा उन साधनो को जुटाना पडता था। बुद्धि और पुरुषार्थ सबके समान नही थे। अत स्वभावत असमानता बढने लगी। एक के पास आवश्यकता के साधन प्रचुर परिमाण में सग्रह होने लगे और दूसरे को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति मे कठिनाई अनुभव होती थी। इस सामाजिक असमानता ने जहा परस्पर ईर्ष्या को जन्म दिया, वहा महत्वाकाक्षा भी जागृत हुई। इससे मनुष्यो मे अपराध वृत्ति भी जागृत हुई। कुलकरो ने 'हा मा, धिक् रूप जिस दण्ड व्यवस्था को स्थापित करके समाज को प्रभावशाली ढग से नियन्त्रित रक्खा था, वह व्यवस्था कर्म भूमि में आकर प्रभावहीन सिद्ध होने लगी।

दण्ड-व्यवस्था

भगवान ने विचार किया कि यदि अपराध-वृत्ति को नियन्त्रित रखने के लिये दण्ड-व्यवस्था स्थापित नही की गई तो समाज मे मत्स्य न्याय चल पडेगा अर्थात् जिस प्रकार बडी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार दुष्ट बलवान पुरुष निर्बल पुरुष को निगल जायगा। ऐसी दशा में समाज में जिसकी लाठी मे जोर होगा, वही भैस हाक ले जायगा। इससे समाज मे अव्यवस्था, कलह, शोषण और अत्याचार पनपेंगे। अत दण्ड-व्यवस्था आवश्यक है। दण्ड के भय से लोग कुमार्ग की ओर नही दौडेंगे। किन्तु दण्ड देने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को तो नही दिया जा सकता, दण्ड केवल राजा ही दे सकता है। अत राजा की नियुक्ति करनी चाहिये।

इधर भगवान का यह चिन्तन चल रहा था, उधर प्रजा अपराध बढते जाने मे परेशान थी। तब एक दिन प्रजाजन इकट्ठे होकर भगवान के पास आये और उन्हें अपनी कष्ट-गाथा सुनाई। भगवान ने कहा—अपराध दण्ड व्यवस्था मे ही नियन्त्रित हो सकते है और दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को ही है।

प्रजाजन बोले—देव ! हम तो आपको ही अपना राजा मानते है। आप यह पद स्वीकार कर लीजिये।

भगवान सुनकर मौन हो गये। पिता नाभिराज के होते हुए वे स्वय कैसे राजपद स्वीकार कर सकते थे। उन्होने अपनी कठिनाई प्रजाजनो को बताई तो वे लोग नाभिराज के पास गये और उनकी स्वीकृति लेकर फिर भगवान के पास आये। तब भगवान ने भी अपनी स्वीकृति दे दी।

उस शुभ अवसर के अनुकूल अयोध्यावासियो ने महान उत्सव किया। अयोध्या पुरी खूब सजाई गई। मकानो पर पताकाये बाधी गई। राजमन्दिर मे आनन्द भेरिया बज रही थी। वारागनाये मगल-गान गा रही थी। मिट्टी की एक बहुत बडी वेदी बनाई गई। उसके ऊपर आनन्द-मण्डप बनाया गया। उसमें रत्न-चूर्ण से विचित्र चौक पूरे गये। पुष्प विकीर्ण किये गये। मण्डप मे रेशमी वस्त्रो के चन्दोबे ताने गये। उनमें मोतियों की झालरे टागी गई। सधवा स्त्रियाँ मगल द्रव्य लिये हुए मार्ग मे खडी थी। सेवक स्नान और प्रसाधन की सामग्री लिये हुए खडे थे। वेदी में एक सिहासन के ऊपर पूर्वदिशा की ओर मुख करके भगवान को बैठाया। उस समय इन्द्र भी देवताओ के साथ इस आनन्दोत्सव में सम्मिलित होने आया। गन्धर्व, किन्नर और देविया भगवान की स्तुति मे मधुर गान कर रहे थे। मनुष्य अनेक नदियों का जल लाये। देवलोग भी पद्म सरोवर, नन्दोत्तरा वापिका, लवण समुद्र, क्षीर समुद्र, नन्दीश्वर समुद्र, और स्वयंभूरमण समुद्र का पवित्र जल लाये। मनुष्यो ने भगवान का अभिषेक किया। इन्द्रो और देवो ने भी उनका

भगवान का राज्याभिषेक

अभिषेक करके पुण्यार्जन किया। महाराज नाभिराज ने भी अपने त्रिलोक पूज्य पुत्र का अभिषेक किया। इस आनन्द अवसर पर नगरवासी भी पीछे नही रहे। किसी ने कमल पत्र का दौना बनाकर और किसी ने मिट्टी का घडा लाकर सरयू नदी के जल से भगवान के चरणो का अभिषेक किया।

भगवान के इस जलाभिषेक का क्रम इस प्रकार था—सबसे प्रथम तीर्थजल से अभिषेक किया गया। फिर कषाय जल, सुगन्ध मिश्रित जल से अभिषेक किया। फिर भगवान ने गरम जल के कुण्ड में घुस कर स्नान किया। स्नान के अनन्तर भगवान ने माला, वस्त्र और आभूषण उतार दिये और देवोपनीत माला, वस्त्र और आभूषण धारण किये। तब महाराज नाभिराज ने 'मुकुटबद्ध राजाओ के अधिपति भगवान ऋषभदेव ही है" यह कहकर अपने मस्तक का मुकुट उतार कर अपने हाथ से भगवान के मस्तक पर धारण किया। उनके मस्तक पर पट्टबन्ध बाधा।

उस समय भगवान दिव्य अलकार धारण किये हुए थे। वे कानो मे कुण्डल, कण्ठ मे हार यष्टि, कटि में करधनी, भुजाओ मे कडे, बाजूबन्द और अनन्त, चरणो में नीलमणि के नूपुर और कन्धे पर यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। उनकी रूप छवि अद्भुत थी। इन्द्र ने भक्ति विह्वल होकर अवसर के अनुकूल आनन्द नाटक किया। फिर देव और मनुष्य अपने-अपने स्थान को चले गये।

भगवान ने दण्ड-व्यवस्था स्थापित कर दी थी। दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को है। अत उन्होने राजाओ की नियुक्ति करने से पहले राजाओ के लिए नियम बनाये। उन्होने कहा—जिस प्रकार दूध देने वाली

राज्य-संस्थापना

गाय से बिना उसे पीडा पहुचाये दूध दुहा जाता है और गाय की सुरक्षा के लिए उसे उचित आहार, पान दिया जाता है। ऐसा करने से गाय भी सुखी रहती है और दूध दुहने वाले की आजीविका भी चलती है। इसी प्रकार राजा को प्रजा से धन वसूल करना चाहिए। राजा को प्रजा से अधिक पीडा न देने वाले कर वसूल करने चाहिए। इससे प्रजा भी दुखी नही होती और राजा उस धन से प्रजा की सुख-सुविधा और सुरक्षा के उपाय कर सकता है। इसलिए भगवान ने कुछ योग्य पुरुषो को दण्डधर राजा नियुक्त किया।

उन्होने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ नामक योग्य क्षत्रियो को बुलाकर उनका यथोचित आदर सत्कार किया और उनका राज्याभिषेक करके उन्हे महामाण्डलिक राजा बनाया। इनके आधीन चार हजार राजा नियुक्त किये। कच्छ महाकच्छ आदि को अधिराज का पद दिया।

भगवान ने जिनको महामाण्डलिक राजा बनाया था, उनमें हरि और काश्यप भगवान के पुत्र थे। सोम-

वंश-स्थापन

प्रभ बाहुबली के पुत्र थे। अकम्पन का परिचय कही नही मिलता है। इन तेजस्वी राजाओ को राज्य भी दिये और इनमे वशो का प्रचलन भी किया। हरि का नाम हरिकान्त रक्खा और उससे हरिवश चला। अकम्पन का नाम श्रीधर रक्खा और उसको नाथवश का सस्थापक बनाया। काश्यप को मघवा नाम दिया और उसे उग्रवश का सस्थापक घोषित किया। सोमप्रभ को कुरुराज की सज्ञा दी और उससे दो वश चले—कुरुवश और सोमवश।

इस प्रकार भगवान ने पूर्णत कर्मभूमि की रचना करके कुलकर-व्यवस्था समाप्त की और कर्म-व्यवस्था

भगवान के विविध नाम और गृहस्थ जीवन का काल

का प्रचलन किया और वे दीर्घ काल तक सासारिक अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त करते रहे। सारे ससार मे ऋषभदेव का प्रभाव व्याप्त हो गया। प्रजाजन उनके अलौकिक व्यक्तित्व से अभिभूत थे और प्रभावित होकर उनके व्यक्तित्व के बहुरगी रूपो और उनके विविध लोकोदयी कार्यो के कारण उनकी विविध नामो से सस्तुति करने लगे। उस काल मे उनके विविध नाम प्रचलित हो गये, जैसे इक्ष्वाकु, गौतम, काश्यप, पुरु, मनु, कुलधर, विधाता, विश्वकर्मा, प्रजापति, स्रष्टा आदि।

भगवान का कुमार काल बीस लाख पूर्व का था और राज्य काल तिरेसठ लाख पूर्व का था। इस प्रकार उनकी आयु के तिरासी लाख पूर्व व्यतीत हो गये।

६. ऋषभदेव का वैराग्य और दीक्षा

एक दिन भगवान ऋषभदेव राजदरबार में सिहासन पर विराजमान थे। अनेक माण्डलिक राजा अपने योग्य आसनो पर बैठे हुए थे। तभी इन्द्र अनेक देवो और अप्सराओं के साथ पूजा की सामग्री लेकर भगवान की सेवा के लिए राजदरबार मे आया। इन्द्र की आज्ञा से नृत्य-गान में कुशल गन्धर्वों और अप्सराओ ने नृत्य करना आरम्भ किया। उस नृत्य को देखकर उपस्थित जन ही नहीं, भगवान भी अनुरक्त हो गये। तभी इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान मे जाना कि भगवान के वैराग्य का समय निकट आ पहुचा है। अत उसने नृत्य करने के लिए ऐसे पात्र को चुना, जिसकी आयु समाप्त होने वाली थी। उसकी आज्ञा से अत्यन्त सुन्दरी नीलाजना (नीलाजसा) नाम की देवनर्तकी नृत्य करने लगी। नीलाजना इन्द्र-सभा मे सदा ही नृत्य करती आई थी, किन्तु आज तो जैसे बुझते हुए दीपक की लौ अधिक प्रदीप्त हो उठती है, ऐसे ही उसकी बुझती हुई आयु के समय उसकी नृत्य-कला और भी अधिक मुखर हो गई। उसके कुसुम कोमल गात्र में एक ज्वालामुखी फूट पडा। वह पारिजात-कुसुम-गुच्छ की भाति शोभाधारिणी अनिद्य सुन्दरी देवागना आत्म विभोर होकर असाधारण नृत्य करने लगी। उसके चरण मानो पवन की लहरो पर थिरक रहे थे। स्वर्ण मृणाल सी उसकी कोमल भुजलताय सर्पिणी की भाति हवा मे लहरा रही थी। वह इस पृथ्वी पर आज अपनी दिव्य कला को मूर्तिमती कर रही थी। एक अलौकिक रस की सृष्टि हो रही थी। उस राजदरबार मे उपस्थित सभी जीवित प्राणी उस रस धारा मे अपनी सुधबुध खोकर बहे जा रहे थे। शायद उस देव नर्तकी ने अपनी कला की चरम परिणति ही कर दी थी आज!

नीलांजना का नृत्य और मृत्यु

दीपक में स्नेह समाप्त हो गया। बत्ती बुझ गई। उस देव नर्तकी की आयु समाप्त हो गई। और वह क्षणभर मे अदृश्य हो गई। उसके समाप्त होते ही इन्द्र ने, रस भग न हो, इसलिए उसके स्थान पर उसी के समान आचरण वाली दूसरी देवी खडी कर दी, जिससे नृत्य ज्यो का त्यो चलता रहा। इस घटना को किसी ने नही जाना। सब तन्मय होकर रस-पान करते रहे। किन्तु निमिष मात्र में जो इतनी बडी घटना हो गई, वह ऋषभदेव से छिपी नही रह सकी। स्थान वही था, नृत्य वही था, किन्तु नृत्यकारिणी वह नहीं थी, इस अन्तर को प्रभु ने देख लिया और नीलाजना की उस मृत्यु को भी। देखते ही प्रभु की भाव-धारा मे अचानक ही महान परिवर्तन आ गया। चर्म चक्षुओ से देखने वाले वह नही देख पाते, जो अन्तर की चक्षुओं से देखने वालो को दिखाई देता है।

प्रभु के मन में भावधारा उमड पडी। नृत्य होता रहा और प्रभु के मन मे नृत्य के रस-सचार के स्थान मे ससार के वास्तविक स्वरूप का सवेदन प्रबल वेग से जागृत हुआ—कितना नश्वर और चचल है ससार का यह रूप। मनुष्य के मन मे एक अद्भुत सामान्य अहकार दबा रहता है—मै सदा जीवित रहूगा। वह दिन रात देखता है कि दिन-रात प्राणी मर रहे है। सबको ही मरना है। किन्तु यह तत्त्व-दर्शन दूसरो के लिए ही होना है, अपने लिए नही। वह स्वय तो सदा काल जीवन की आकाक्षा सजोये रहता है और हर कार्य ऐसे ही करता है मानो उसे सदा जीवित रहना है, मरना नही है। यह कितने आश्चर्य की बात है। यहा तक कि एक दिन मृत्यु आकर उसका द्वार खटखटाती है, उस समय भी वह जीवित रहने का ही प्रयत्न करता है। किन्तु उसकी यह जीवित रहने की इच्छा और प्रयत्न क्या सफल हो पाता है। जो उत्पन्न हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। लेकिन वह ऐसा प्रयत्न नही करता कि मृत्यु के पश्चात् उसे पुन. जीवन धारण न करना पडे। शरीर के त्याग को ही वह मृत्यु समझता है। शरीर को अपना मानता है, इसलिए वह मृत्यु से भयभीत होता है। किन्तु शरीर मे ममत्व करके तो वह प्रतिपल मृत्यु का वरण कर रहा है, वह इस तथ्य को नही समझता, समझना भी नही चाहता।

भगवान का वैराग्य

मैने इस मानव-पर्याय के इतने लम्बे बहुमूल्य क्षण सासारिक भोगों के क्षणिक सुख में व्यतीत कर दिये। मेरे सम्पूर्ण प्रयत्न इस शरीर के सुख के लिये ही थे। किन्तु अपनी अविनश्वर आत्मा के चिरतन, अविनाशी सुख के लिए प्रयत्न नही किये। शरीर आत्मा नही है। आत्मा वह नही है जो बाहर से दिखाई पड़ता है। आत्मा अखण्ड

सुख का पिण्ड है, ज्ञान-दर्शन-वीर्य की अनन्त विभूतियों का स्वामी है। मेरा अपना साम्राज्य नगरों पर नही, मनुष्यो पर भी नही, इस बाह्य वैभव पर भी नही है। मेरा साम्राज्य अगोचर है। मेरा आत्मा अक्षय लक्ष्मी का भण्डार है, अनन्त गुणो का आगार है। ये सारे भौतिक वैभव क्षणिक है, जिस शरीर के लिए ये वैभव संचय किये वह क्षणिक है, उन वैभवों से जिस सुख की कल्पना की वह क्षणिक है। चिरस्थायी है मेरी आत्मा, मेरी आत्मा की विभूति, मेरी आत्मा के गुण।

देव पर्याय में सुख समझता है यह अज्ञ प्राणी, किन्तु नीलाजना हमारे देखते ही देखते मृत्यु को प्राप्त हो गई। इन्द्र ने यह कपट नाटक किया था और जान-बूझकर नीलाजना का नृत्य कराया। निश्चय ही इन्द्र ने यह कार्य हमारे हित के लिए किया था। इस रूप को धिक्कार है, ! इस राज्य-भोग को धिक्कार है ! इस चचल लक्ष्मी को धिक्कार है !'

भगवान के मन मे इस प्रकार निर्वेद की भावनाये पनप रही थी। उन्होने निश्चय कर लिया कि अब मुझे ससार से मुक्ति के लिए प्रयत्न करना है। इन्द्र ने भगवान के अन्त करण की सारी भावनाये जान ली। उसी समय भगवान की वैराग्य-भावना की सराहना करने और उनके तप-कल्याणक की पूजा करने के लिए ब्रह्म नामक पाचवे स्वर्ग के अन्त मे आठो दिशाओ मे रहने वाले सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्यावाध और अरिष्ट नामक आठ प्रकार के लौकान्तिक देव ब्रह्मलोक से उतरे। आकर उन्होने पारिजात पुष्पो से भगवान के चरणो की पूजा की और उनकी निर्वेद भावना की सराहना करते हुए इस प्रकार स्तुति की—लोग आपको जगत का पालन करने वाला ब्रह्मा मानते है, कर्म रूपी शत्रुओ को जीतने वाला विजेता मानते है, धर्म रूपी तीर्थ का नेता मानते है और सबकी रक्षा करने वाला जगद्गुरु मानते है। आप स्वय बुद्ध है। आपको प्रतिबोध दे सके, ऐसी सामर्थ्य किसमे है ? आप प्रथम गर्भ कल्याणक में सद्योजात (शीघ्र अवतार लेने वाले) कहलाये। द्वितीय जन्म कल्याणक में रामता (सुन्दरता) को प्राप्त हुए। और तृतीय तपकल्याणक में अघोरता (सौम्यता) को धारण कर रहे हैं। भव्यजीव रूप चातक मेघ के समान आपको ओर टकटकी लगाकर देख रहे है। हे देव ! अनादि प्रवाह से चला आया यह काल अब आपके धर्मामृत की वर्षा के उपयुक्त हुआ है। आप धर्म की सृष्टि कीजिये। प्रभो ! आप उठिये और कर्म शत्रुओं का सहार करके मोक्ष मार्ग को प्रशस्त कीजिये।

वे लौकान्तिक देव अपने इतने ही नियोग से कृतकृत्य होकर अपने स्थान को चले गये। ये देव तीर्थकरो के तप कल्याणक से पूर्व उनकी वैराग्य-भावना की सराहना करने के लिये ही ब्रह्मलोक से आते है और तीर्थकर की स्तुति करके चले जाते है।

पुत्रो को राज्य-विभाजन

भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने से पहले अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया और उन्हे अयोध्या का राज्य प्रदान किया। और युवराज पद पर राजकुमार बाहुबली को अभिषिक्त किया। इन दोनो पुत्रों के अतिरिक्त शेष पुत्रो को विभिन्न देशों के राज्य दिये। प्राचीन साहित्य मे इस प्रकार के उल्लेख देखने मे नही आये कि किस राजकुमार को किस देश का राज्य दिया गया। सभवत: प्राचीन साहित्य लेखको ने इस बात को विशेष महत्व नही दिया हो। किन्तु जिन देशो के राज्य उन राजकुमारो को दिये गये, उनके नाम अवश्य उपलब्ध होते है। वे इस प्रकार है—

कुरुजागल, पचाल, सूरसेन, पटच्चर, तुलिग, काशी, कोशल, मद्रकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान, कौशल्य और मोक ये मध्य देश थे।

वाल्हीक, आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, मद्रक, क्वाथतोय, शूर, बालवान, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशेरुक, प्रास्थाल और नीर्णकर्ण ये देश उत्तर की ओर स्थित थे।

खड्ग, अगारक, पौण्ड्र, मल्ल, प्रवक, मस्तक, प्राद्योतिष, वग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भार्गव ये देश पूर्व दिशा में स्थित थे।

वाणमुक्त, वैदर्भ, माणव, सककापिर, मूलक, अश्मक, दाण्डीक, कलिंग, आसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिषक, पुरुष और भोगवर्धन ये दक्षिण दिशा के देश थे।

माल्य, कल्लीवनोपान्त, दुर्ग, सुर्पार, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ,

सुराष्ट्र और नर्मद ये सब पश्चिम दिशा मे स्थित थे।

दशार्णक, किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे।

भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भग, सैतव, और वज्रखण्डिक ये देश मध्य देश के आश्रित थे।

भगवान का अभिनिष्क्रमण

भगवान ने पुत्रों को राज्य देकर अभिनिष्क्रमण की तैयारी की। देवो ने क्षीरसागर का जल लाकर भगवान का अभिषेक किया, उत्तम गन्ध से लेपन किया, दिव्य वस्त्राभूषण और मालाओ से भगवान का शृंगार किया। उस समय अयोध्या नगरी मे दो महान हर्षोत्सव हो रहे थे—भगवान का दीक्षा कल्याणक और भरत-बाहुबली का राज्याभिषेक। एक ओर देवशिल्पी भगवान को वन मे ले जाने के लिए सुदर्शना पालकी का निर्माण कर रहे थे, इन्द्राणी स्वय रत्नचूर्ण से चौक पूर रही थी। दिक्कुमारियाँ मगल द्रव्य सजाए खडी थी, देव लोग भगवान के चरणो मे पुष्पाजलि क्षेपण कर रहे थे, अप्सराए नृत्य कर रही थी, देव नाना प्रकार के बाजे बजा रहे थे। दूसरी ओर शिल्पी मण्डप बनाने मे जुटे हुए थे, माता नन्दा, सुनन्दा स्वय सुन्दर चौक पूर रही थी, सौभाग्यवती स्त्रियाँ मगल कलश और मगल द्रव्य लिए हुए खडी थी, पुरवासी आशीर्वाद और मगल कामना के शेपाक्षत फेंक रहे थे, वारागनायें नृत्य कर रही थी, अन्त पुर की स्त्रियाँ मगलगान कर रही थी। पौरजन दोनों ही उत्सवो में हर्ष और मोद मे भाग लेरहे थे।

भगवान पुत्रो को राज्य सौंपकर निराकुल हो गए थे। अब अपने माता-पिता मरुदेवी और नाभिराज तथा अन्य परिवारीजनो से पूछ कर सुदर्शना पालकी की ओर बढे। पालकी मे चढते समय भगवान को इन्द्र ने हाथ का सहारा दिया। भगवान जब शिविका मे आरूढ हो गए, तब उसे उठाने के लिए इन्द्र आगे बढे। उधर मनुष्यो ने भी पालकी को उठाना चाहा। इस विषय पर देव और मनुष्यो मे एक रोचक विवाद उत्पन्न हो गया। विवाद था अधिकार के प्रश्न पर। पालकी को कौन पहले उठावे—देव या मनुष्य ? देवों का पक्ष था—भगवान जब गर्भ मे आए, उसमे भी छह माह पूर्व से हम लोग भगवान की सेवा मे तत्पर है। जन्म के समय हम भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले गए। वहा हमने भगवान का अभिषेक किया। भगवान के अशन, वसन, अलंकार हम ही जुटाते रहे। तब इस अवसर पर भगवान की सेवा का प्रथम अवसर पाने का अधिकार हमारा है। मनुष्यो का तर्क था कि तुम लोगो को हमने भगवान की सेवा का सदा अवसर दिया, किन्तु आखिर भगवान हमारी ही जाति मनुष्य-जाति के है ! उनकी सेवा के इस अवसर को हम तुम्हे नही दे सकते।

बात भगवान तक पहुँची। देव और मनुष्यो ने भगवान के पास जाकर फरियाद की और भगवान से निर्णय मागा। सुनकर तीन ज्ञान के धारी भगवान मुस्कराए और बोले—'तुम दोनो ही अपने-अपने स्थान पर सही कह रहे हो, किन्तु मेरी पालकी को उठाने का प्रथम अधिकार उनको है जो मेरे समान सयम धारण कर सके।'

भगवान के न्याय में किसी को सन्देह नही था। दोनों ने सिर झुकाकर भगवान का निर्णय मान्य किया। देव लोग एक ओर हट गए। राजा लोगो ने संयम धारण करने की इच्छा प्रकट की। उन्होने ही सर्व प्रथम पालकी को उठाया और सात पग ले गए। फिर विद्याधर लोगो ने सात पग तक पालकी उठाई। इसके पश्चात् इन्द्रो और देवो ने पालकी को उठाया और आनन्दपूर्वक ले चले।

इस मगल अवसर पर सुगन्धित शीतल पवन बह रहा था। देव लोग आकाश से सुगन्धित पुष्पो की वर्षा कर रहे थे और दुन्दुभी नाद कर रहे थे। इन्द्र दोनों ओर खडे होकर चमर ढोल रहे थे। इन्द्र की आज्ञा से देव लोग घोषणा करते चल रहे थे—'जगद्गुरु भगवान ऋषभनाथ कर्म-शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने अभिनिष्क्रमण कर रहे है।' अप्सराये नृत्य कर रही थी। किन्नरिया गीत गारही थी। जयजयकार और वाद्योसे तुमुल कोलाहल होरहा था।

भगवान की दीक्षा

भगवान की पालकी के पीछे यशस्वती और सुनन्दा आदि रानियाँ राजसी परिवेश को छोडकर सादा वेष में चल रही थी। महाराज नाभिराज मरुदेवी के साथ भगवान का तप कल्याणक उत्सव देखने के लिए चल रहे थे। भरत आदि राजा और भाई, परिजन और पुरजन भी पूजा की सामग्री लेकर भगवान के पीछे-पीछे चल रहे थे। कुछ दूर जाकर वृद्ध जनों ने रानियो और स्त्रियो को आगे जाने से रोक दिया और वे शोकाकुल हृदय से वहाँ से नगर को लौट गई। किन्तु यशस्वती, सुनन्दा और

मरुदेवी भगवान के पीछे-पीछे चलती रही।

भगवान इस प्रकार सिद्धार्थक वन में पहुचे। देवो ने उस वन में एक वृक्ष के नीचे चन्द्रकान्त मणि की एक शिला पहले से स्थापित कर रक्खी थी। उस शिला के ऊपर वस्त्रो का मण्डप बनाया गया था। इन्द्राणी ने रत्नो के चूर्ण से चौक पूरा था। घिसे हुए चन्दन के छीटे डाले थे। मण्डप के ऊपर बहुरगी पताकाये फहरा रही थीं। वृक्षो की झुकी हुई डालियो से सुगन्धित पुष्प विकीर्ण हो रहे थे। शिला के चारों ओर सुगन्धित धूप का धूम्र उड़ रहा था।

भगवान वहाँ आकर पालकी से उतरे और शिला पर विराजमान हो गए। तब भगवान ने प्रजाजनो से कहा—'भव्यजनो! तुम लोग शोक का परित्याग करो। प्रत्येक संयोग का वियोग होता है। जब इस शरीर का भी एक दिन वियोग होना है तो अन्य वस्तुओ की तो बात ही क्या है। मैने आप लोगों की रक्षा के लिए अत्यन्त चतुर भरत को नियुक्त किया है। आप लोग निरन्तर अपने धर्म का पालन करते हुए उसकी सेवा करना।'

यह कहकर भगवान ने माता-पिता, बन्धुजन तथा समागत जनो से पूछकर अन्तरग, बहिरग, दोनो प्रकार के परिग्रह का त्याग किया। उन्होने वस्त्राभूषण आदि उतारकर एक ओर फेंक दिए। फिर पूर्व दिशा की ओर मुख करके पद्मासन से विराजमान होकर 'नम सिद्धेभ्य:' कहा और पच मुष्टियो से केश लु चन किया। इस प्रकार भगवान ने चैत्र कृष्णा नवमी के सायकाल के समय उत्तराषाढ नक्षत्र मे जिन दीक्षा धारण करली। दीक्षा लेते ही भगवान को मन पर्ययज्ञान की प्राप्ति हो गई।

'ये केश भगवान के सिर पर चिरकाल तक रहे है अत पवित्र है' यह विचार कर इन्द्र ने एक रत्न मजूषा में उन केशो को रख लिया और उस मजूषा को एक श्वेत वस्त्र में बाध लिया। 'ये केश भगवान के मस्तक के स्पर्श से श्रेष्ठ है अत. इन्हे ऐसे स्थान पर रखना चाहिए, जहाँ इनके सम्मान मे कोई बाधा न आवे' यह विचार कर इन्द्र बडे आदर से उन्हे ले गया और पवित्र क्षीरसागर में उन्हे प्रवाहित कर दिया। भगवान ने जिन वस्त्रो, आभरणो और माला आदि का त्याग किया था, वे सब वस्तुए भी भगवान के स्पर्श से पवित्र थी, अत देवो ने उनकी भी पूजा की।

इस कल्प काल मे यह सर्व प्रथम जिन दीक्षा थी।

भगवान ने जिन-दीक्षा ली, वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो गये। उस समय मुनि-धर्म के सम्बन्ध मे लोगो को कोई ज्ञान नही था। किन्तु स्वामी ने दीक्षा ली है, अत हमे भी उनका अनुकरण करना चाहिए, यह विचार कर इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र और भोजवशी चार हजार स्वामिभक्त राजाओ ने भी नग्न दीक्षा ले ली। वे लोग भगवान के उच्च आदर्श और उद्देश्य से अनभिज्ञ थे, अत उनमे से कुछ भगवान के स्नेह से, कुछ मोह से और कुछ लोग भय से भगवान को दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हो गये।

इन्द्रो और देवो ने भगवान की स्तुति की। इन्द्र भगवान के उस वीतराग रूप को देखता रह गया। तब उसने सहस्र नेत्र धारण कर देखना प्रारम्भ किया। किन्तु क्या उस त्रिलोक सुन्दर कमनीय रूप को देखकर किसी की तृप्ति हुई है! इसीलिए तो आचार्य मानतुग ने कहा है—'दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं। नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु ॥' आचार्य ने यह बात केवल भक्तिवश ही नही कही है कि 'प्रभो! जिन शान्तिस्वभावी परमाणुओ से आपका शरीर निर्मित हुआ है, ससार में ऐसे परमाणु बस इतने ही थे क्योकि आपके समान रूप अन्यत्र नही मिलता।' आचार्य ने जो कहा, वह यथार्थ का ही कथन है।

इसके पश्चात् इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान को चले गये। तब महाराज भरत ने अष्ट-द्रव्यो से भगवान का पूजन किया, भगवान की स्तुति की। और सूर्यास्त होने पर भी अन्य जनो के साथ अपने स्थान को लौट गये।

प्रयाग तीर्थ

भगवान ने जहा दीक्षा ली थी, वह स्थान 'प्रयाग' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस नामकरण का हेतु देते हुए आचार्य जिनसेन ने बताया है कि—

एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयन्।
प्रदेश: स प्रजागाख्यो यत: पूजार्थ योगत: ॥ हरिवश पुराण ६।६६

अर्थात् भगवान ने जब भरत को प्रजा का रक्षक नियुक्त करने की बात कही तो प्रजा ने भगवान की पूजा की। प्रजा ने जिस स्थान पर भगवान की पूजा की, वह स्थान पूजा के कारण 'प्रजाग' इस नाम को प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने भी 'प्रयाग' नाम की प्रसिद्धि का कारण बताते हुए निम्न भांति कहा है—

प्रजाग इति देशोऽसौ प्रजाभ्योऽस्मिन् गतो यतः ।
प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः ।। पद्मपुराण ३।२८१

—भगवान ऋषभ देव प्रजा अर्थात् जन समूह से दूर हो उस उद्यान में पहुचे थे, इसलिए उस स्थान का नाम 'प्रजाग' प्रसिद्ध हो गया अथवा भगवान ने उस स्थान पर बहुत बडा याग अर्थात् त्याग किया था, इसलिए उस स्थान का नाम प्रयाग भी प्रसिद्ध हो गया।

इस प्रकार भगवान के महान त्याग का स्थान होने से जनता उस स्थान को प्रयाग कह कर पूजने लगी और वह एक परम पावन तीर्थ क्षेत्र बन गया।

तपोभ्रष्ट मुनिवेशी मरीचि का विद्रोह

भगवान शरीर से भी ममत्व का परित्याग करके और मन-वचन-काय को एकाग्र करके छह माह के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर कायोत्सर्ग आसन से विराजमान हो गए। उस आसन से खड़े हुए भगवान का तेज-पुज चारो ओर विकीर्ण हो रहा था। खडे हुए, हाथ नीचे को लटके हुए, अर्धोन्मीलित नासाग्र दृष्टि, दोनो पैरो के अग्रभाग में बारह अगुल का तथा एडियो में चार अगुल का अतर था। भगवान की देखा देखी वे मुनिवेषी चार हजार राजा कायोत्सर्ग आसन में खडे हो गए।

भगवान तो निश्चल, निष्पन्द और अनासक्त भाव से ध्यानलीन थे। किन्तु वे कच्छ, महाकच्छ आदि राजा लोग एक-दो दिन बाद ही भूख प्यास से व्याकुल होने लगे। उन्हे खडे रहने मे भी कष्ट होने लगा। व्याकुल होकर वे बार बार इधर उधर इस आशा मे देखने लगे कि हमारे स्त्री-पुत्र या सेवक भोजन लेकर आने वाले होगे। किन्तु कोई भी भोजन लेकर नही आया। उन्हे यह भी आशा थी कि भगवान २-४ दिन बाद स्वय भी भोजन करेगे और हमे भी भोजन करायेगे। किन्तु यह आशा भी पूर्ण नही हुई। न जाने किस कार्य के उद्देश्य मे भगवान इस प्रकार खडे हुए है। राजाओ के जो सन्धि विग्रह आदि छह गुण होते है, उनमे खडे रहना भी कोई गुण है, ऐसा तो हमने कभी नही पढा। ऐसा लगता है, भगवान तो निराहार रहकर प्राण छोडने के लिए उत्सुक है, किन्तु हम तो इस प्राणघाती तप मे आजिज आ गये। इसलिए भगवान जब तक अपना यह ध्यान समाप्त नही करते, तब तक हम लोग इस बन मे ही उत्पन्न होने वाले कन्द मूल फल खाकर अपने प्राण धारण करेगे।

इस प्रकार तथाकथित मुनियो मे अनेक लोग भगवान के चारो ओर एकत्रित हो गये और यह आशा करने लगे कि भगवान हमारी दशा को देखकर हम पर दया करेगे। अगर हम अभी भगवान को छोडकर अपने घर जाते है तो महाराज भरत हम पर कुपित होगे। अगर हम भगवान के समान निराहार रहते है तो हमारे प्राण चले जायेगे। बेचारे बडे सकट मे थे, क्या करें, कुछ समझ नही पडता था।

ऐसी स्थिति मे कुछ लोग भगवान से कहकर और कुछ लोग बिना कहे ही वहाँ से अन्यत्र चले गये और तालावो का जल पीने लगे, कन्द मूल फल खाने लगे। ऐसा करते हुए देखकर वन देवता ने उन्हे समझाया—यह दिगम्बर मुनि-वेष अत्यन्त पवित्र है। इस वेष को लाछित मत करो। अपने हाथो से फल मत तोड़ो, नदी-सरोवर मे से जल मत पीओ।

वनदेवता के द्वारा इस प्रकार भर्त्सना करने पर उन्हे दिगम्बर वेष में रहते हुए मुनि धर्म के विरुद्ध कोई कार्य करने का साहस नही हुआ। अत कुछ लोग वल्कल पहनने लगे, किन्ही ने लगोटी धारण करके भस्म लगा ली, कोई जटाधारी बन गये, कुछ एकदण्डी और त्रिदण्डी बन गये। और झोपडी बनाकर वही बन मे रहने लगे। वे ऋषभदेव को ही अपना भगवान मानते थे और जल, फल-फूलो से उनकी पूजा करते थे।

इन भ्रष्ट मुनियों में कच्छ, महाकच्छ और मरीचि (भरत के पुत्र) ने सबसे अधिक विद्रोह का झण्डा उठाया। मरीचि ने तो एक स्वतन्त्र धर्म की ही घोषणा कर दी। उसने भगवान के विरोध में नाना मिथ्या मान्यताओ की कल्पना की और उनका प्रचार किया।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि भगवान ने सत्य धर्म की देशना भी नही दी, उससे पूर्व ही उनके ही पौत्र ने संसार में मिथ्या धर्म का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उन भ्रष्ट तपस्वियो में से अनेक लोग मरीचि के परिकर में आजुड़े। सबके मन में भगवान ऋषभदेव के प्रति हार्दिक श्रद्धा थी, किन्तु सब अनजाने ही, परिस्थितियों से वाध्य होकर भगवान के विरुद्ध विद्रोह में सम्मिलित हो गये।

७. भगवान मुनि-दशा में

मुनि अवस्था में भगवान ने कठोर साधना का अवलम्बन लिया। उनका अधिकांश समय ध्यान में व्यतीत होता था। वे अट्ठाईस मूल गुणो का दृढतापूर्वक पालन करते थे। अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, अपरिग्रह महाव्रत ये पच महाव्रत, ईर्या समिति, भाषा समिति, ऐषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, उत्सर्ग समिति ये पाच समितिया, स्पर्शनेन्द्रिय निरोध, रसनेन्द्रिय निरोध घ्राणेन्द्रिय निरोध, चक्षु इन्द्रिय निरोध, कर्णेन्द्रिय निरोध ये पचेन्द्रिय निरोध, सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक, केशलोच, भूमिशयन, अदन्तधावन, नग्नत्व, अस्नान, खड़े होकर भोजन करना और एक बार ही दिन मे भोजन करना ये साधु के अट्ठाईस मूल गुण बताये है।

भगवान की कठोर साधना

भगवान ने छह माह तक निराहार रहकर अनशन तप का आचरण किया। किन्तु इसका भगवान के शरीर पर किंचित् भी प्रभाव नही पडा। बल्कि इससे उनका तेज और ओज अधिक उज्वल हो गया। उनके अतिशय तेज के कारण सारा वन-प्रान्त प्रकाशित रहता था। भगवान के तप और तेज का ही यह अतिशय था कि जाति विरोधी जीव भी भय और क्रूरता का त्याग करके बडे प्रेम से वहा आकर बैठते और शान्ति का अनुभव करते थे। उस वन-प्रदेश मे कैसा अद्भुत दृश्य दीख पडता था – सिंह, हरिण परस्पर किलोल करते थे। चमरी गाय की पूंछ के बाल कटीली झाडियो में उलझ गये और बाघ ने आकर अपने पंजो से उन्हे छुडाया। अबोध हरिण-शिशु शेरनी का दूध पी रहे थे और सिंह-शावक हिरणी को अपनी माता समझकर उनके स्तनो से दुग्ध पान कर रहे थे।

मत्त गज सरोवरो पर जाते और सूंड़ मे जल भर लेते तथा पुष्पित कमल लाते। कमल-पुष्प भगवान के चरणो मे चढा देते और सूंड मे भरे हुए जल से भगवान के चरणो का अभिषेक करते। प्रकृति के सभी तत्त्व जैसे भगवान की सेवा के लिये होड कर रहे थे। सिद्धार्थक वन के सभी वृक्ष पुष्पो मे झुके जा रहे थे। झुककर वृक्ष भगवान के ऊपर पुष्प-वर्षा कर रहे थे। पुष्पो का पराग लेकर भ्रमर उडते और आकर भगवान के ऊपर बिखर जाते। वायु पुष्प-पराग को लेकर मचलता डोलता। वसन्त के भ्रम मे कोयल और पपीहा मधुर गान गाते। पक्षी चहचहाते। बादल आकर भगवान के ऊपर शीतल छाया करते।

भगवान के दिव्य तेज के प्रभाव से वह वन एक आश्रम बन गया था।

भगवान छह माह तक एक ही स्थान पर ध्यानारूढ रहे। इतने समय में उनके बाल बढ गये और जटाये बन गई। यद्यपि तीर्थंकरो के नख और केश नहीं बढते। किन्तु ऋषभदेव के सम्बन्ध मे सर्वत्र इस प्रकार क उल्लेख मिलते है कि उनकी जटाये बढ गई। आचार्य जिनसेनकृत 'आदि पुराण' में इस प्रकार का उल्लेख इस सम्बन्ध मे मिलता है—

भगवान की जटायें

'संस्कार विरहात् केशा जटीभूतास्तदा विभोः।
नूनं तेऽपि तपःक्लेशमनुसोढुं तथा स्थिताः॥
मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूरं प्रसस्रुः पवनोद्धताः।
ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः ॥१८। ७५-७६॥

अर्थात् उस समय भगवान के केश सस्कार रहित होने के कारण जटाओ के समान हो गये थे। और वे ऐसे मालूम पडते थे मानो तपस्या का क्लेश सहने के लिये ही वैसे कठोर हो गये हों। वे जटाये वायु से उडकर महामुनि भगवान ऋषभदेव के मस्तक पर दूर तक फैल गई थी। वे ऐसी जान पड़ती थी मानो ध्यान रूपी अग्नि से तपाये हुए जीव रूपी स्वर्ण की कालिमा ही हो।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने 'पद्म पुराण' मे भगवान की जटाओ का वर्णन करते हुए लिखा है—

'वातोद्धृता जटास्तत्र रेजुराकुलमूर्जयः।
धूमाल्य इव सद्ध्यान वह्निसक्तस्य कर्मणः ॥३। २८८॥

अर्थात् हवा से उड़ी हुई उनकी अस्त व्यस्त जटायें ऐसी जान पड़ती थीं मानो समीचीन ध्यान रूपी अग्नि से जलते हुए कर्म के धूम की पंक्तिया ही हो।

आचार्य जिनसेन ने इस बात की पुष्टि करते हुए 'हरिवंश पुराण' में इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

'सप्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुर्जिष्णुराबभौ।
रूढाप्रारोह शाखाग्रो यथा न्यग्रोधपादपः ॥ ९। २०४ ॥

अर्थात् लम्बी-लम्बी जटाओं के भार से सुशोभित आदि जिनेन्द्र उस समय ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वटवृक्ष से शाखाओ के पाये लटक रहे हो।

जटाओ सम्बन्धी इस प्रकार के वर्णन अन्य किसी तीर्थकर के सम्बन्ध में किसी ग्रन्थ में नही मिलते। यही कारण है कि अन्य तीर्थकरो की प्रतिमाओ के सिर पर घु घराले कुन्तल मिलते है, किन्तु भगवान ऋषभदेव की अनेक प्राचीन प्रतिमाओ पर विभिन्न शैलियो की जटाये और जटा-जूट मिलते है। इस विषय में देवगढ स्थित आदिनाथ-प्रतिमाओ का केश-विन्यास उल्लेखनीय है। वहा ऋषभदेव की प्रतिमाओं पर सभवतः मनुष्य की कल्पना मे आसकने वाली जटाओ की विविध शैलिया उपलब्ध होती है। स्कन्धो पर लहराती जटायें, कटिभाग तक बल खाती जटाये, चरण चुम्बी जटाये, जटागुल्म, जटा-जूट, शिखराकार जटाये, जुल्फो वाली जटाये, पृष्ठ भाग विहारिणी जटाये। लगता है, कलाकारो की कल्पनाओ की उडान केश-विन्यास और केश-प्रसाधनो के सम्बन्ध मे जितनी दूरी तक जा सकती थी, उनके अनुसार उन्होने पाषाण पर अपनी छैनी-हथौडो की सहायता मे उकेरी है। सभवत इस क्षेत्र मे स्त्रियो की आधुनिक केश-सज्जा भी उनमे स्पर्धा करने मे सक्षम नही है। ऐसी प्रतिमाओ के लाछन (चिह्न) को देखे बिना ही केवल जटाओ के कारण ऋषभदेव की प्रतिमाओ की पहचान की जा सकती है। किन्तु यहा आकर देवगढ के कलाकारो ने अपनी सीमाओ का भी उल्लघन कर दिया है। उन्होने केवल ऋषभदेव-प्रतिमाओ को ही जटाओं से अलकृत नही किया, अपितु अन्य तीर्थकर-प्रतिमाओं पर भी जटाओ का भार लाद दिया है। यदि उन प्रतिमाओ की चरण-चौकी पर उन तीर्थकरो के लाछन अकित न होते तो उन्हे ऋषभदेव की प्रतिमा ही मान लिया जाता। किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि भारतीय मूर्ति-विज्ञान के क्षेत्र मे जटाओ की इस परिकल्पना ने एक नये शिल्प-विधान और एक नये सौन्दर्य-बोध की सृष्टि की है। केश-कला के इस वैविध्य ने मूर्तियों के अलकरण को एक नई दिशा प्रदान की है, इसमे कोई सन्देह नही है।

भगवान ऋषभदेव तपस्या मे लीन थे। उन्होने अन्तरग और बहिरग सभी प्रकार का परिग्रह और ममत्व का त्याग कर दिया था। ऐसी ही स्थिति मे एक दिन कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि भगवान के निकट आये। वे बडी भक्ति से भगवान के चरणो में लिपट गये और बडी दीनतापूर्वक कहने लगे—'हे स्वामिन्! आपने अपना साम्राज्य अपने पुत्रो-पौत्रो को बॉट दिया, आपने हम दोनों को भुला ही दिया। हम भी तो आपके ही है। अब हमें भी कुछ दीजिये।'

विद्याधर जाति पर आधिपत्य

उस समय भगवान ने अपने मन को ध्यान मे निश्चल कर लिया था। किन्तु भगवान के तप के प्रभाव से धरणेन्द्र (भवनवासी देवो की एक जाति नागकुमार के इन्द्र) का आसन कम्पित हुआ। उसने अवधिज्ञान से सब बाते जान ली। वह उठा और पूजा की सामग्री लेकर भगवान के समीप पहुचा। उसने आकर भगवान की प्रदक्षिणा दी, उन्हे प्रणाम किया और उनकी स्तुति की। फिर अपना वेश छिपाकर दोनो कुमारो से कहने लगा—'भद्र पुरुषो! तुम लोग भगवान से वह वस्तु माग रहे हो जो उनके पास नही है। भगवान तो भोगो से निस्पृह है और तुम उनसे भोग माग रहे हो। तुम पत्थर पर कमल उगाना चाहते हो। यदि तुम्हे भोगो की इच्छा है तो भरत के पास जाओ। वही तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर सकता है। भगवान तो निस्पृह है उनके पास तुम व्यर्थ ही धरना देकर बैठे हो।'

धरणेन्द्र के वचन सुनकर दोनो कुमार उत्तेजित हो गये। वे क्षोभ मे भरकर कहने लगे—'आप तो भद्र पुरुष प्रतीत होते है, फिर भी आप दूसरो के कार्य मे बाधा डालने को तत्पर दिखाई देते है, यह बडे आश्चर्य की बात है। क्या भगवान को प्रसन्न करने मे भी आपको अनौचित्य दिखाई पडता है। भगवान के चरणों में आज भी

सारा जगत विनत है। भगवान वन में आ गये है तो इससे क्या उनका प्रभुत्व नही रहा। आप भरत के पास जाने का परामर्श दे रहे है। किन्तु जब कल्पवृक्ष सामने विद्यमान हो तो क्या कोई विवेकी पुरुष उसे छोड़कर अन्य सामान्य वृक्ष के पास जायगा!

कुमारो के भक्ति भरे वचन सुनकर धरणेन्द्र अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और अपना असली रूप प्रगट करके अपना परिचय देकर बोला—'मैं भगवान का साधारण सेवक हू। आप लोगो की इच्छा पूर्ण करने के लिये ही यहां आया हू।'

धरणेन्द्र के वचन सुनकर दोनो कुमारों को बडी प्रसन्नता हुई। उन्होने अनुभव किया कि भगवान हमारे ऊपर प्रसन्न है। फिर धरणेन्द्र उन्हे अपने साथ विजयार्ध पर्वत पर ले गया। कुमार पर्वत की शोभा देखकर प्रसन्न हो रहे थे। वृक्ष फल-फूलो से आच्छादित थे। कही झरने झर रहे थे, कही जल-प्रपात घोर गर्जना करते हुए पहाड़ से गिर रहे थे। प्रपात के गिरने से फेनिल जल बहुत ऊंचाई तक उछलता और उसके जल-सीकर वायु में मिलकर वर्षा की फुहारो का आनन्द देते थे। पर्वत के वन मे नाना जाति के पशु विचरण कर रहे थे। अनेक विद्याधर और विद्याधरियाँ वन-बिहार या जल क्रीडा करती हुई दिखाई दे रही थी। उन्हे देखकर यह भ्रम उत्पन्न हो जाता था कि ये कही स्वर्ग के देव-देविया तो नही है—वैसा ही अप्रतिम रूप, वैसा ही स्वच्छन्द विचरण, वैसी ही आनन्द-केलि और वैसा ही मुक्त हास्य। कुमार यह सब देखकर मुग्ध हो गये।

धरणेन्द्र उन्हे लेकर पर्वत पर उतरा और रथनूपुर चक्रवाल नामक नगर मे प्रवेश किया। फिर धरणेन्द्र ने विद्याधरो को बुलाकर उनसे कहा—'जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव ने इन कुमारो को यहाँ भेजा है। ये आज से तुम्हारे स्वामी है। यह कुमार नमि दक्षिण श्रेणी का अधिपति होगा और कुमार विनमि उत्तर श्रेणी पर राज्य करेगा।

विद्याधरो ने धरणेन्द्र की यह आज्ञा स्वीकार कर ली। तब धरणेन्द्र ने उन दोनो कुमारो का राज्याभिषेक किया और राज-सिहासन पर बैठाया। उसने उन दोनो को गान्धारपदा और पन्नगपदा विद्याये दी। फिर अपना कार्य पूरा करके वह वहाँ से चला गया। विद्याधरो ने दोनो कुमारो को सिर झुकाकर नाना प्रकार की भेटे दी। यद्यपि वे कुमार जन्म से विद्याधर नही थे, किन्तु उन्होने वहा रह कर अनेक विद्याये सिद्ध कर ली। इस प्रकार नमि दक्षिण श्रेणी के पचास नगरो का स्वामी हुआ और विनमि उत्तर श्रेणी के साठ नगरो का स्वामी हुआ। नमि अपने बन्धुजनो के साथ रथनूपुर में रहने लगा और विनमि नभस्तिलक नामक नगर मे रह कर राज्य करने लगा।

भगवान् ने निराहार रह कर प्रतिमायोग धारण कर छह मास तक तपस्या करने का जो नियम लिया था वह पूर्ण हुआ। निराहार रहने से न तो भगवान का शरीर कृश हुआ और न उनके तेज मे ही अन्तर पडा।

राजकुमार श्रेन्यास द्वारा दान तीर्थ की प्रवृत्ति

वे चाहते तो बिना आहार के ही आगे भी तपस्या करते और इसका उनके शरीर पर भी कोई प्रभाव न पड़ना, किन्तु उन्होने विचार किया कि वर्तमान में अथवा भविष्य मे मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से जो लोग तप करेगे, यदि वे आहार नही करेगे तो आहार के अभाव में उनकी शक्ति क्षीण हो जायेगी। मोक्ष, अर्थ और काम का साधन धर्म पुरुषार्थ है। धर्म का साधन शरीर है और शरीर अन्न पर निर्भर है। अत. परम्परा से अन्न भी धर्म का साधन है। अत: इस भरत क्षेत्र मे शासन को स्थिरता और मनुष्यों की धर्म में आस्था बनाये रखने के लिये मनुष्यो को निर्दोष आहार ग्रहण करने की विधि दिखानी होगी। अत. परोपकार के लिए उन्होंने गोचर विधि से अन्न ग्रहण करने का विचार किया।

भगवान अपना ध्यान समाप्त करके आहार के लिए निकले। उन्होने केवल ज्ञान प्राप्त होने तक मौन व्रत ले लिया था। वे चान्द्री चर्या से विचरण करते हुए मध्यान्ह के समय किसी नगर या ग्राम में चर्या के लिए जाते थे। प्रजाजन मुनिजनोचित आहार की विधि नही जानते थे, न उन्होने कभी किसी को मुनि को आहार देते हुए देखा-सुना था। किन्तु भगवान में उनकी अपार श्रद्धा थी। भगवान का दर्शन पाकर वे हर्षित हो जाते थे और

भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए वे विविध प्रकार के उपायन—भेट लाकर भगवान के चरणों में चढ़ा देते थे। कोई वस्त्राभूषण लाता, दूसरा कोई गन्ध, माल्य, विलेपन, रत्न, मुक्ता, गज, अश्व या रथ लाकर भगवान की भेट चढ़ाता। किन्तु भगवान उन वस्तुओ की ओर देखे बिना ही आगे बढ जाते थे। इससे लोग अपनी कोई कल्पित भूल या कमी का अनुभव करके बडे खिन्न हो जाते। किन्तु उन्हे एक सन्तोष भी था कि आज हमे भगवान के दर्शन हो गये।

भगवान विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर पहुंचे। भगवान को निराहार विहार करते हुए छह माह व्यतीत हो चुके थे। हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ थे और उनके लघु भ्राता राजकुमार श्रेयान्स थे। ये दोनो बाहुबली के यशस्वी पुत्र थे। कुमार श्रेयान्स ने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे शुभ स्वप्न देखे। स्वप्न में उसने चन्द्रमा, इन्द्र की ध्वजा, सुमेरु पर्वत, बिजली, कल्पवृक्ष, रत्नद्वीप, विमान और भगवान ऋषभदेव देखे।

हरिवश पुराण के इस स्वप्न-वर्णन से आदि पुराण के स्वप्न-विवरण में कुछ अन्तर है। आदि पुराण के अनुसार श्रेयान्स ने स्वप्न मे सुवर्णमय सुमेरु पर्वत, आभूषणो से सुशोभित कल्पवृक्ष, अयालों वाला सिह, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, और अष्टमगल द्रव्य धारण किये हुए व्यन्तरो की मूर्तिया देखी। एक अन्तर यह भी है कि आदिपुराण के अनुसार ये स्वप्न केवल श्रेयान्स ने देखे थे, जबकि हरिवंश पुराण के अनुसार ये स्वप्न दोनो भाइयों ने देखे थे।

श्रेयान्सकुमार प्रातःकाल उठे और वे अपने भाई के पास गये। उन्होने उनसे अपने स्वप्नो की चर्चा की। राजपुरोहित ने स्वप्न सुन कर उनका यह फल बताया—सुमेरु देखने से यह प्रगट होता है कि सुमेरु के समान उन्नत और सुमेरु पर्वत पर जिसका अभिषेक हुआ है, ऐसा कोई देव आज अवश्य ही हमारे घर आवेगा। अन्य स्वप्न भी उसके गुणो को प्रगट करते है। आज हमे जगत मे प्रशसा और सम्पदा प्राप्त होगी।

ये लोग स्वप्न-चर्चा कर रहे थे, उसी समय भगवान ने हस्तिनापुर नगर मे प्रवेश किया। नगरवासी भगवान के दर्शनो के लिए एकत्रित होने लगे। लोग आपस में कह रहे थे—हम लोग जगत के पालनकर्त्ता पितामह भगवान ऋषभदेव का नाम बहुत दिनो से सुनते आ रहे थे, आज वे हमारा पालन करने के लिए वन छोड़कर हमारे इस नगर मे साक्षात् पधारे है। आज हमारा पुण्योदय हुआ है कि हम अपने नेत्रो से उन भगवान के दर्शन करेंगे।

कुछ लोग भक्तिवश, कुछ लोग उत्सुकतावश भगवान के दर्शनो के लिए एकत्रित हो गये। जनता की भीड़ के कारण राजमार्ग और राजमहल तक भर गये। किन्तु भगवान मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओ का विचार करते हुये चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए मन्थर गति से जा रहे थे। इस प्रकार भगवान चर्या के लिये गृहस्थो के घरो मे प्रवेश करते हुए राजभवन मे पहुचे।

सिद्धार्थ नामक द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ और राजकुमार श्रेयान्स को राजभवन में भगवान के आने का समाचार दिया। सुनते ही वे दोनो अन्त.पुर की रानियो, मत्रियो और राजपुरुषो के साथ आगन में आये। उन्होने भक्तिपूर्वक भगवान को नमस्कार किया। भगवान के चरणो को जल से धोकर अर्घ्य चढाया और उनकी प्रदक्षिणा दी। उनके मन मे भक्ति और हर्ष का अद्भुत उद्रेक हो रहा था।

तभी एक अद्भुत घटना हुई। भगवान का रूप देखते ही श्रेयान्सकुमार को जाति स्मरण ज्ञान हो गया तथा पूर्वजन्म में मुनियो को दिये हुये आहार की विधि का स्मरण हो आया। उसे श्रीमती और वज्रजघ के भव सम्बन्धी उस घटना का भी स्मरण हो गया, जब चारण ऋद्धिधारी दो मुनियो को आहार दान दिया था। जाति स्मरण होते ही उसने श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अक्षोभ, क्षमा और त्याग इन सात गुणों से युक्त होकर —जो एक दान देने वाले के लिये आवश्यक है—निदान आदि दोषो से रहित होकर 'भो स्वामिन्! अत्र तिष्ठ तिष्ठ, आहार जल शुद्ध है' इस प्रकार मुनिराज को पडगाह कर उन्हे उच्च आसन पर विराजमान किया। उनके चरणों का प्रक्षालन किया, उनकी पूजा की, उन्हे नमस्कार किया, अपने मन-वचन-काय की विशुद्धिपूर्वक आहार-शुद्धि का निवेदन किया। इस प्रकार नवधा भक्तिपूर्वक श्रेयान्स कुमार ने दान के विशिष्ट पात्र भगवान को प्रासुक आहार का दान दिया। अकिचन भगवान ने खडे रह कर हाथो में ही (पाणि पात्र होकर) आहार ग्रहण किया।

उस समय वहां पर इक्षु-रस से भरे हुये कलश रक्खे थे। श्रेयान्सकुमार ने राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमती के साथ भगवान को उसी इक्षु-रस का आहार दिया। इधर भगवान की अञ्जलि में इक्षु-रस की धारा पड़ रही थी, उधर भगवान के आहार के उपलक्ष्य मे देव लोग रत्नो की वर्षा कर रहे थे। कुछ देव पुष्प-वर्षा कर रहे थे। देव हर्ष से भेरी-ताड़न कर रहे थे। शीतल सुगन्धित मन्द पवन बहने लगा, और देव लोग आकाश में 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य यह दाता' इस प्रकार कह कर दान की अनुमोदना कर रहे थे। तीर्थङ्करों के आहार के समय ये पाच बाते अवश्य होती है, जिन्हे पचाश्चर्य कहते है।

दोनो भाइयों के मन मे हर्ष का मानो सागर ही उमड पड रहा था। आज त्रिलोक पूज्य तीर्थङ्कर प्रभु ने उनके घर पर पधार कर और आहार लेकर घर द्वार को पवित्र किया था। अनेक लोगो ने इस दान का अनु-मोदन करके पुण्य-लाभ किया। आहार करके भगवान वन मे लौट गये। दोनो भाई भी कुछ दूर तक भगवान के साथ गये। किन्तु जब लौटे तो वे रह रह कर भगवान को ही देखते जाते थे। उनकी दृष्टि और चित्तवृत्ति भगवान की ओर ही लगी रही। भगवान के चरण जहा पडे थे, उस स्थान की धूल को उठाकर वे वार बार माथे से लगाते थे। मन में भगवान की मूर्ति और गुणो का अनुस्मरण करते जाते थे। वे जब लौटे तो सारा आगन प्रजा-जनो से सकुलित था। सब लोग उन दोनों भाइयो के ही पुण्य की सराहना कर रहे थे।

राजकुमार श्रेन्यास के कारण ही ससार मे दान देने की प्रथा प्रचलित हुई। दान देने की विधि भी श्रेन्यास ने ही सबसे पहले जानी। सम्राट् भरत को भी बडा आश्चर्य हो रहा था कि श्रेन्यास कुमार ने भगवान के मन का अभिप्राय कैसे जान लिया। विशेष कर उस दशा मे, जब कि भगवान मौन धारण करके विहार कर रहे थे। देवो ने आकर कुमार श्रेन्यास की पूजा की। महाराज भरत भी हस्तिनापुर पहुँचे। वे अपने कुतूहल को रोक नही पाये। उन्होने श्रेन्यास से पूछा—'हे कुरुवश शिरोमणि! मुझे यह जानने का कुतूहल हो रहा है कि तुमने मौनधारी भगवान का अभिप्राय कैसे जान लिया? दान की विधि को अब तक कोई नही जानता था, उसे तुमने कैसे जान लिया? तुमने दान-तीर्थ की प्रवृत्ति की है, तुम धन्य हो। हमारे लिए तुम भगवान के समान ही पूज्य हो। तुम महापुण्यवान हो।'

सम्राट् के सराहना भरे शब्दो को सुन कर श्रेन्यास कुमार प्रसन्न होता हुआ बोला—'जब मैने भगवान का रूप देखा तो मेरे मन में अपार हर्ष हुआ। तभी मुझे जाति स्मरण हो गया जिससे मैने भगवान का अभिप्राय जान लिया। जब भगवान विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी मे वज्रजघ की पर्याय मे थे, तब मै इनकी श्रीमती नामक स्त्री था। उस पर्याय मे वज्रजघ सहित मैने दो चारण ऋद्धिधारी मुनियो को आहार-दान दिया था। यह सब मुझे स्मरण हो आया था। इसलिए भगवान को मैने आहार-दान दिया।

इसके पश्चात् श्रेन्यास कुमार ने भगवान के पिछले भवो का वर्णन किया। और दान देने की विधि विस्तारपूर्वक बताई। तब महाराज भरत ने दोनो भाइयो के प्रति बडा अनुराग प्रगट किया और उनका खूब सम्मान किया।

८. भगवान को कैवल्य की प्राप्ति

तीर्थङ्कर भगवान जिनकल्पी होते है। तीर्थङ्करो और साधारण मुनियो में एक मौलिक अन्तर यह भी है कि साधारण मुनियों को प्रारम्भिक अवस्था में स्थविरकल्पी होना पड़ता है और वे जिनकल्पी होने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। मुनि-पद के ये दो भेद है—स्थविरकल्प और जिनकल्प। त्रिशल्य रहित होकर पंच महाव्रतों और उनकी

भावनाओं का पालन करना, व्रतों के चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करना, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना, मुनियों के साथ रहना, उपदेश देना, शिष्यों को दीक्षा देना स्थाविर कल्प कहलाता है। और व्रतों का पालन करते हुये एकल विहार करना, सदा आत्म चिन्तन में लीन रहना यह जिनकल्प कहलाता है। तीर्थङ्कर भगवान के किसी प्रकार का दोष नहीं लगता। अतः उन्हें प्रतिक्रमण, छेदोपस्थापना चारित्र धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे केवल सामायिक चारित्र में ही रत रहते हैं।

कैवल्य प्राप्ति

भगवान ऋषभदेव छह प्रकार के बाह्य तप तथा छह प्रकार के आभ्यन्तर तपों का सदा अभ्यास करते रहते थे। यद्यपि भगवान चार ज्ञान के धारी थे, फिर भी वे घोर तप और साधना में निरत रहते थे। इससे उनका मन स्थिर हो गया था और वे संकल्प-विकल्प रहित होकर आत्म-ध्यान करते थे। भगवान को संसार में धर्म की प्रवृत्ति भी चलानी थी, अतः वे अन्य मुनियों में धर्म की प्रवृत्ति चलाने के लिए स्वयं भी कुछ ऐसे धर्माचरण करते थे जो उनके लिए आवश्यक न था। जैसे स्वाध्याय। भगवान द्वादशांग के वेत्ता थे, चार ज्ञान के धारी थे। उन्हें स्वाध्याय की आवश्यकता न थी। फिर भी वे स्वाध्याय करते रहते थे, जिससे अन्य मुनियों में स्वाध्याय की वृत्ति जागृत हो सके। वे नवीन कर्मों का संवर और पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करने के लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र को दृढ़ता से पालन करते थे। वे ध्यान की सिद्धि के लिए अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का ही आश्रय लेते थे। वे पर्वत, वन, गुफा, सरितातट या शिलातल पर ध्यान लगाकर खड़े हो जाते थे। कभी महा भयकारी श्मशान भूमि में जाकर ध्यान लगाते थे।

इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था में एक हजार वर्ष तक अनेक देशों में विहार करते हुए भगवान पुरिमताल नगर के शकट या शकटास्य नामक उद्यान में पहुँचे। वे पूर्व दिशा की ओर मुख करके एक वट वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाकर ध्यान में लीन हो गये। उन्होंने शुक्ल ध्यान द्वारा क्षपक श्रेणी में आरोहण किया। इससे उनकी आत्मा में परम विशुद्धि प्रगट होने लगी। उन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का विनाश कर दिया। मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्म भी नष्ट हो गये। इन चारों घातिया कर्मों के नष्ट होते ही उनकी आत्मा केवलज्ञान से मण्डित हो गई। वे लोकालोक के देखने वाले सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। उन्हें अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, चारित्र, शुद्ध सम्यक्त्व, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य ये नौ लब्धियाँ प्राप्त हो गईं। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

केवलज्ञान प्राप्त होते ही इन्द्र और देवों ने आकर भगवान को नमस्कार किया और उन्होंने केवलज्ञान महोत्सव मनाया। सम्पूर्ण आकाश देवताओं की जय ध्वनियों और वाद्यों के तुमुल घोष से व्याप्त हो गया। देव लोग पुष्प-वर्षा करने लगे। प्रकृति ने भी अपनी प्रसन्नता प्रगट करने में बड़ी उदारता दिखाई। शीतल सुगन्धित पवन बहने लगी। पवन में जल सीकरों ने मिलकर सम्पूर्ण जीवों को आल्हाद से भर दिया। आकाश से बिना बादलों के ही मन्द-मन्द वृष्टि होने लगी। तीनों लोकों में सभी जीवों को आनन्द का अनुभव हुआ।

भगवान को जिस वट वृक्ष के नीचे अक्षय ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, न केवल वह ज्ञान ही पूज्य हो गया, बल्कि वह वट वृक्ष भी अक्षय वट कहलाने लगा। वह वट वृक्ष भगवान के केवलज्ञान का स्मरण कराता है, इसलिये भक्तजन वहाँ की यात्रा करने लगे।

अक्षय वट

अक्षय वट सदा से तीर्थ स्थान रहा है, इस बात का समर्थन अनेक प्रमाणों से होता है। नन्दिसंघ की गुर्वावली में अन्य तीर्थों के साथ अक्षयवट का भी उल्लेख मिलता है—'श्री सम्मेद गिरि-चम्पापुरी, ऊर्जयन्त गिरि—अक्षयवट—आदीश्वर दीक्षा सर्व सिद्धक्षेत्र कृत यात्राणा' इसमें अक्षयवट को तीर्थ-स्थान माना है।

समवसरण की रचना

भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त होते ही कुबेर के निर्देशन में देवों ने समवसरण की रचना की। बाहर रत्नचूर्ण से निर्मित बहुरंगी धूलिसाल प्राकार था। उसमें चारो दिशाओं में स्वर्ण के खम्भो पर चार तोरण द्वार बनाये थे। उन द्वारो पर मत्स्य बने थे तथा रत्नमालाये लटकी हुई थी। धूलिसाल के अन्दर प्रवेश करने पर चारो दिशाओ मे चार मानस्तम्भ बने थे। ये मानस्तम्भ एक जगती पर थे। उस जगती के चारो ओर तीन-तीन कोट थे और उनमें भी गोपुर द्वार बने हुए थे। उन कोटो के बीच मे तीन कटनीदार एक-एक पीठिका बनी थी। इसी पीठिका पर ये मानस्तम्भ स्थित थे। इन पर घण्टा, चमर, ध्वजाये फहरा रही थी। मानस्तम्भो के मूल भाग मे अर्हन्तो की स्वर्णमय प्रतिमाये विराजमान थी। मानस्तंभ के शीर्ष पर तीन छत्र सुशोभित थे। इन्हे इन्द्रध्वज भी कहा जाता है। इन मानस्तम्भो को देखने मात्र से अभिमानी जनो का अभिमान गलित हो जाता है। इन मानस्तम्भो के निकट नन्दोत्तरा नाम की बावडिया बनी थी। आगे जाने पर जल से भरी हुई परिखा बनी हुई थी। लतावन थे। उनमे लता मण्डप बने थे। उनमें चन्द्र-कान्त मणि की शिलाये थी। इन्द्र यहाँ आकर इन पर विश्राम किया करते थे।

कुछ आगे बढने पर एक स्वर्णकोट मिलता था जो समवसरण भूमि को घेरे हुए था। उस कोट मे चार विशाल गोपुर द्वार बने हुए थे। इन द्वारो मे एक सौ आठ मगल द्रव्य रक्खे थे। गोपुर द्वारो के भीतर जाने वाले मार्ग पर दो-दो नाट्यशालाये बनी थी। मार्ग के दोनो ओर धूप घटो मे सुगन्धित धूप का धूआ निकलता रहता था। कुछ दूर आगे अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र उद्यान बने थे। उनमे जाने के लिये वीथिकाये बनी थी।

अशोक उद्यान के मध्य मे एक विशाल अशोक वृक्ष था। यह तीन कटनीदार एक पीठिका पर स्थित था। उसके निकट मंगल द्रव्य रक्खे थे। यह एक चैत्य वृक्ष था। इस पर ध्वजाये फहरा रही थी। उसके शीर्ष पर तीन छत्र थे, जिनमे मोतियो की झालरे लटक रही थी। वृक्ष के मूल भाग मे अष्ट प्रातिहार्ययुक्त जिनेन्द्र देव की चार प्रतिमाये विराजमान थी। इस प्रकार चैत्य वृक्ष अन्य वनो मे भी थे। इन वनो के अन्त मे बनवेदिका बनी हुई थी। यहा जो वापिकाये है, उनमे स्नान करने मात्र से एक भव दिखाई पडता है तथा वापिका के जल मे देखने से भावी सात भव दीखते है।

वहाँ सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट, वन वेदिका, स्तूप, तोरण सहित मानस्तम्भ और ध्वज-स्तम्भथे। इनकी ऊचाई तीर्थकरो के शरीर से बारह गुनी होती है। वहा जो ध्वजाए होती है, उनमे माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हस गरुण, सिह, बैल, हाथी और चक्र के चिन्ह होते है। हर दिशा मे प्रत्येक चिन्ह वाली ध्वजाओ की सख्या एक सौ आठ होती हैं।

वहाँ कल्प वृक्षो का भी वन था। उन कल्प वृक्षो के मध्य भाग मे सिद्धार्थ वृक्ष होते है। इन पर सिद्ध भगवान की प्रतिमाये विराजमान होती है। जो महावीथिया बनी हुई थी, उनके मध्य मे नौ-नौ स्तूप खडे हुए थे। इन स्तूपो मे अर्हन्तो और सिद्धो की प्रतिमाये विराजमान थी। इन स्तूपो पर वन्दनमालाये लटकी हुई थी, छत्र लगे हुए थे, पताकाये फहरा रही थी, मगल द्रव्य रक्खे थे। एक-एक स्तूप के बीच मे मकर के आकार के सौ तोरण होते है। इन स्तूपो की ऊचाई चैत्य वृक्षो के समान होती है।

सर्व प्रथम लोक स्तूप होते है। ये नीचे वेत्रासन के समान, मध्य मे झालर के समान, उसके ऊपर मृदग के समान और अन्त मे तालवृक्ष के समान लम्बी नालिका से युक्त होते है। इन स्तूपो मे लोक की रचना बनी होती है। इन लोक स्तूपो से आगे मध्यलोक स्तूप होते है। इनके भीतर मध्य लोक की रचना होती है। इनमे आगे मन्दर स्तूप होते है, जिन पर चारो दिशाओ मे भगवान की प्रतिमाये विराजमान होती है। इनके आगे कल्पवास स्तूप होते है, जिनमे कल्पवासियो की रचना बनी होती है। उनके आगे ग्रैवेयको के आकार वाले ग्रैवेयक स्तूप होते है। उनके आगे अनुदिश नामक नौ स्तूप होते है। आगे चलकर सर्वार्थ सिद्धि नामक स्तूप होते है। इनसे आगे भव्यकूट स्तूप होते है। इन्हे अभव्य जीव नही देख सकते, देखने पर वे अन्धे हो जाते है। इनसे आगे प्रमोह स्तूप होते है। इन्हे देखकर लोग विभ्रम मे पड जाते है और चिरकाल से अभ्यस्त गृहीत वस्तु को भी भूल जाते है। आगे चलकर प्रबोध स्तूप होते है। इन्हे देखकर लोग प्रबोध को प्राप्त होते है और साधु बनकर ससार से छूट जाते हैं।

स्तूपों से आगे चलने पर चतुर्थकोट आता है। इसके गोपुरों पर रत्नदण्ड हाथ में लिये कल्पवासी देव द्वारपाल के समान पहरा देते है।

इनसे आगे रत्नस्तम्भो पर आधारित आठवी श्रीमण्डप भूमि थी। इसी भूमि मे सोलह दीवालों के बीच मे बारह कक्ष होते है। ये सभा कक्ष होते है। इनमें पहले कक्ष में ऋद्धिधारी गणधर देव और मुनि बैठते है। इस कक्ष से आगे दीवाल होती है। फिर दूसरा कक्ष है, जिसमें कल्पवासिनी देवियाँ बैठती है। तीसरे कक्ष में आर्यिका और श्राविकाये बैठती है। चौथे कक्ष मे ज्योतिष्क देवों की देविया, पाचवे कोठे मे व्यन्तर देविया, छटवे कक्ष मे भवनवासी देविया, सातवे कक्ष मे भवनवासी देव, आठवे कक्ष मे व्यन्तर देव, नौवे कक्ष मे ज्योतिष्क देव, दसवे कक्ष मे अच्युत स्वर्ग तक के देव और इन्द्र, ग्यारहवे कक्ष मे चक्रवर्ती राजा और मनुष्य बैठते है और बारहवे कक्ष मे पशु-पक्षी वैर और भय त्यागकर बैठते है।

इन कोठो मे मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असज्ञी जीव कदापि नही होते तथा अनध्यवसाय, सन्देह और विविध विपरीतता मे युक्त जीव भी नही होते। समवसरण मे जिनेन्द्र देव के माहात्म्य मे आतक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वैर, कामबाधा तथा क्षुधा-तृषा की पीडाये नही होती।

चारो दिशाओ मे चार वीथिया बनी हुई थी। इन वीथियो के सामने तथा बारह कक्षो के द्वार के सामने सीढिया बनी होती है। ये सीढिया तीन पीठिकाओ के लिये होती है, जो एक दूसरे के ऊपर बनी होती है। पहली पीठिका पर अष्ट मगल द्रव्य होते है और यक्ष धर्मचक्रो को अपने सिर पर उठाये हुए खडे रहते है। इन धर्मचक्रो मे एक-एक हजार आरे होते है। इन धर्मचक्रो की कुल सख्या चार हजार होती है। दूसरी पीठिका पर मयूर और हसो के चिन्ह वाली ध्वजाओ के अतिरिक्त आठ ध्वजाये रहती है। तीसरी पीठिका पर गन्धकुटी होती है। उसमें रत्नमय सिहासन होता है। उस पर जिनेन्द्र प्रभु विराजमान होते है। यह तीसरी पीठिका तीन कटनी वाली होती है। गन्धकुटी के ऊपर शिखर होते है। उन शिखरो पर ध्वजाये फहराती रहती है। उनमे मोतियो की झालर लटकती रहती है।

भगवान ऋषभदेव उस सिहासन पर विराजमान थे। वे सिहासन से चार अगुल ऊचे अधर विराजमान थे। भगवान के पीछे रत्न निर्मित अशोक वृक्ष था। देव लोग पुष्प-वर्षा कर रहे थे। देव दुन्दुभि-घोष कर रहे थे। भगवान का आसन अनर्घ्य, बहुमूल्य रत्न निर्मित था। भगवान के मुख-कमल मे बादलों की गर्जना के समान दिव्य-ध्वनि निकल रही थी। भगवान के सिर पर तीन छत्र थे। यक्ष भगवान के चारो ओर चोसठ चमर ढोल रहे थे। और भगवान के शरीर से निकलती हुई प्रभा का एक मण्डल सा बन गया था जो भामण्डल या प्रभा मण्डल कहा जाता है। इस प्रकार ये अष्ट प्रातिहार्य थे, जो भगवान के लोकोत्तर व्यक्तित्व को प्रगट कर रहे थे।

समवसरण और देवालय

देवालय अथवा जिनालय समवसरण की प्रतिकृति होते है। समवसरण की रचना कुवेर करता है। समवसरण भूमि भूमि-तल से एक हाथ ऊची होती है। उसमे एक हाथ ऊची कल्प भूमि होती है। यह भूमि कमलाकार होती है। इसमे गन्धकुटी कर्णिका के समान होती है और शेष रचना कमल-दल के समान होती है। गन्धकुटी के चारो ओर मानागण नाम की भूमि होती है। यही खडे होकर इन्द्रादि भगवान की पूजा करते है। इसमे चार वीथिया होती है। इन वीथियो के मध्य मे चार मानस्तम्भ होते है। इनमे मूर्तिया विराजमान होती है। जहा खडे होकर मनुष्य और देव मानस्तम्भों की पूजा करते है, वह आस्थानागण भूमि कहलाती है। ये मानस्तम्भ बारह योजन दूर से दिखाई देते है। ये मानस्तम्भ दो हजार पहलू के होते है। इनके शीर्ष पर चारो दिशाओ मे सिद्ध प्रतिमा विराजमान रहती है। इनकी पालिकाओ पर स्वर्णघट रक्खे रहते है।

समवसरण मे कोट, वापिका, नृत्यशालाये, तोरण, गोपुर, एक सौ आठ मगल द्रव्य, वन, चैत्यवृक्ष, पताकाये, घण्टे, मगल कलश, सिद्धार्थ वृक्ष, स्तूप, अन्तर्वेदिका, भवन, इन्द्रध्वज, महोदयमण्डप, श्रीमण्डप, गन्धकुटी, सिहासन, अष्ट प्रातिहार्य आदि की रचना रहती है।

जिनालय मे भी कुछेक रचनाओ को छोडकर प्राय. सभी रचना किसी न किसी रूप मे रहती है। वृहत्स-

हिता (अध्याय ५६ श्लोक १७-१८) मे मन्दिरो के २० भेद गिनाये है। इन भेदो में चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशास्त्री, सर्वतोभद्र भी परिगणित है। अग्निपुराण (अध्याय १०४ श्लोक १३-२०) मे ४५ प्रकार के मन्दिर गिनाये है। इनमें चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र मन्दिर भी है। अधिकाश जिनालय चतुष्कोण मिलते है। किन्तु कुछ अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र या सर्वतोभद्र भी मिलते है।

साधारणत प्रत्येक मन्दिर के आठ अग होते है—अधिष्ठान, वेदिबन्ध, अन्तरपत्र, जघा, वरण्डिका, शुकनासिका, कण्ठ और शिखर। शिखर के तीन भाग होते है—आमलक, आमलिका और कलश। पचायतन शैली का मन्दिर ही पूर्ण मन्दिर कहलाता है। इस शैली मे गर्भगृह, प्रदक्षिणा पथ, अन्तराल, महामण्डप और अर्धमण्डप ये पाच प्रकार की रचनाये होती है। अधिकाश मदिरो पर शिखर की सयोजना होती है। वस्तुत शिखर कैलाश और सुमेरु पर्वत की ही अनुकृति है। वेदी गन्धकुटी की प्रतिरूप है। वेदी मे सिहासन होता है, जिस पर प्रतिमा विराजमान होती है। प्राचीन प्रतिमाओ मे अष्ट प्रातिहार्य अवश्य अकित किये जाते थे। क्योकि अरहन्त और तीर्थकर-प्रतिमाओ की पहचान अष्ट प्रातिहार्य मे ही की जाती है। अष्ट प्रातिहार्य रहित प्रतिमा सिद्धो की बतलाई है। प्राचीन काल मे अष्ट प्रातिहार्यो का अकन प्रतिमा के साथ ही होता था। किन्तु आधुनिक काल मे प्रतिमाय अलग निर्मित होती है और अष्ट प्रातिहार्यो मे भामण्डल, छत्र, चमर और आसन पृथक्-पृथक् रहते है। शेष चार प्रातिहार्यो की रचना मूर्ति के पीछे दीवाल पर किसी न किसी रूप मे कर दी जाती है। वर्तमान मूर्ति-विज्ञान मे सौदर्य का विशेष ध्यान रक्खा जाता है, किन्तु मूर्ति-शिल्प के शास्त्रीय पक्ष और भावना की ओर विशेष ध्यान नही दिया जाता। इसको समझने के लिये हमे मूर्ति-विज्ञान के क्रमिक विकास पर एक दृष्टि डालनी होगी। (इसका सविस्तर वर्णन प्रथम परिच्छेद मे किया गया है।

वेदी पर लघु शिखर, मन्दिर के ऊपर शिखर, ध्वजा, वेदी अथवा सिहासन पीठ पर धर्मचक्र की सरचना समवसरण की रचना का स्मरण कराती है। सिहासनासीन प्रतिमा तीर्थकर की प्रतीक है। पद्मासन या खड्गासन मे ध्यानस्थ, अर्धोन्मीलित नयन, नासाग्र दृष्टि, घु घराले कुन्तल, छाती पर श्रीवृक्ष के आकार का श्रीवत्स लाछन, हथेलियों और पैरो के तलवो मे मागलिक चिह्न ये सब चिह्न तीर्थकरो के स्मारक चिह्न है। जिनालय मनुष्या की दृष्टि से निर्मित किये जाते है। इसलिए जिनालयो मे द्वादश सभा-मण्डप नही बनाये जाते, केवल एक सभा-मण्डप बनाया जाता है। प्राचीन काल मे जिनालयो के आगे मानस्तम्भ-निर्माण की परम्परा रही है। किन्तु जबसे नगर अधिक जन-सकुल होने लगे और नगरो के बीच मे स्थान की कठिनाई आने लगी, जिनालयो के आगे मानस्तम्भ निर्माण की परम्परा कम होती गई। यही कारण है कि नगरो के मध्य बने हुए प्राय अधिकाश जिनालयो म मानस्तम्भ नही मिलते। कुछ भी हो, मन्दिरो और मूर्तियो के रूप मे प्राचीन काल की अपेक्षा अब कितना ही परिवर्तन क्यो न आगया हो, किन्तु उनमे समवसरण का मूलरूप अब भी सुरक्षित है।

भगवान का वैभव

केवल ज्ञान प्राप्त होते ही कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। त्रिलोकीनाथ भगवान सिहासन पर विराजमान थे। वे अष्ट प्रातिहार्य विभूति से सम्पन्न थे। उस समय भगवान पूर्व दिशा की ओर मुख करके विराजमान थे। किन्तु दर्शको को ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान का मुख उनकी ओर है। चारो दिशाओ मे दर्शक श्रोता बैठे हुए थे और भगवान के मुख चारो दिशाओ मे दीख रहे थे। उनके नेत्र टिमकार रहित थे। उनके शरीर से प्रभा की अजस्र किरण फूट रही थी। उन्हे अब किसी इन्द्रिय पर निर्भर नही रहना था। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र पाचो इन्द्रियो ने अपना व्यापार बन्द कर दिया था। जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो, अनन्त वीर्य और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो, उसे सीमित इन्द्रिय व्यापार से क्या प्रयोजन रह गया था। सूर्य का प्रकाश होने पर टिमटिमाते दीपक का कोई काम नही रह जाता। उनको अनन्त सुख प्राप्त था, इसलिये क्षुधा तृषा आदि की बाधा और अन्न-निर्भरता दूर हो गई थी। वे आत्मिक स्वतत्रता के उस विहान मे पहुच चुके थे, जहाँ सम्पूर्ण पौद्गलिक आधीनताये और अपेक्षाये छूट चुकी थी।

चारो जाति के देव और इन्द्र भगवान का केवल ज्ञान कल्याणक उत्सव मनाने आये। सर्व प्रथम सौधर्मेन्द्र

ने जमीन पर घुटने टेककर भगवान को प्रणाम किया। उस समय का दृश्य अद्भुत था। ससार की भौतिक विभूति से सम्पन्न इन्द्र आत्मा की सम्पूर्ण आध्यात्मिक विभूति से सम्पन्न भगवान के चरणो मे झुक रहा था, मानो भौतिक सम्पदा आत्मिक सम्पदा की महानता के प्रति सिर झुका रही थी और यह स्वीकार कर रही थी कि आत्मिक वैभव के समक्ष ससार का सारा वैभव तुच्छ है, नगण्य है। इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग मे जो देदीप्यमान मणि लगी हुई थी, क्या उसकी समानता चक्रवर्ती की अशेष सम्पदा कर सकती है। किन्तु जब इन्द्र ने भगवान के चरणो मे नमस्कार किया, उस समय समस्त चराचर को अपनी प्रभा से प्रकाशित करने वाली इन्द्र की वह मुकुट-मणि भगवान के चरण के अगूठे के नाखून की प्रभा के समक्ष मन्द पड गई। इतना ही नहीं, उस नाखून की प्रभा मे वह मणि चमकने लगी। इसी आशय को व्यक्त करते हुए भक्तामर स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुङ्ग कहते है—

'भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्योतकं दलित पापतमो वितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपाद युगं युगादावालम्बनं भवजले पतता जनानाम्॥

आचार्य के ये भक्तिनिर्भर उद्गार तथ्य को ही प्रगट करते है। जिस शरीर के भीतर अनन्त ज्ञान से प्रकाशमान आत्मा विराजमान है, उस शरीर की आभा भी असाधारण होती है।

तदनन्तर इन्द्रो ने और देवो ने खडे होकर अपने हाथो से गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत और अमृत पिण्डो द्वारा भगवान के चरणो की पूजा की। इन्द्राणी ने भगवान के आगे रत्न चूर्ण से विविध रगी मण्डल पूरा। फिर उसने रत्नो की भृगार की नाल से भगवान के समीप जल धारा छोडी और दैवी सुगन्ध से भगवान के पादपीठ की पूजा की। इसी प्रकार उसने मोतियो से, कल्पवृक्ष के पुष्पो की मालाओ से, रत्नदीपो से, थाल मे धूप और दीपक रखकर अमृतपिण्ड से, फलो से, जिनेन्द्र प्रभु की पूजा की। फिर इन्द्र ने भगवान की स्तुति की।

केवल ज्ञान प्राप्त होते ही भगवान की आत्मा निष्कलक, निर्लेप, निरावरण और शुद्ध हो गई थी। उनकी पवित्रता सर्वाङ्गसम्पूर्ण थी। उनकी आत्मा की शक्ति और प्रभाव अनन्त था। इसलिये कुछ अद्भुत चमत्कारपूर्ण घटनाये हुई, जिन्हे अतिशय कहा जाता है। ऐसे अतिशय-जो केवल ज्ञान जन्य थे दस हुए। धवलाकार उनकी सख्या ग्यारह बताते है, जो इस प्रकार है—

सौ योजन तक चारो ओर सुभिक्ष होना, आकाशगमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, चारो ओर मुख, छाया रहितता, निर्निमेष दृष्टि, विद्याओ की ईशता, नख और रोमो का न बढना, अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा तथा अन्य अक्षरानक्षरात्मक भाषाओ मे दिव्य ध्वनि।

इसी प्रकार देव कृत चौदह और धवलाकार के मत से तेरह अतिशय होते है, जो निम्न प्रकार है—

सख्यात योजनो तक बन का फल फूलो से युक्त होना, सुगन्धित वायु, जाति विरोधी जीवो का सह अस्तित्व, भूमि की निर्मलता, सुगन्धित जल की वर्षा, फल भार से नम्रीभूत शस्य, सब जीवो को आनन्द, शीतल पवन, निर्मल जल से परिपूर्ण तडाग, निर्मल आकाश, रोगादि न होना, यक्षेन्द्रो के मस्तको पर चार धर्मचक्र, चारो दिशाओ मे छप्पन स्वर्ण-कमल की रचना।

श्वेताम्बर परम्पराओ मे मान्य चौतीस अतिशय—समवायाग सूत्र मे तीर्थकरो के ३४ अतिशय इस प्रकार बताये है—

१ केशरोम और श्मश्रु का न बढना, २ शरीर का रोग रहित और निर्लेप होना, ३ रक्त-मास का गोदुग्ध के समान सफेद होना, ४ श्वासोछ्वास का उत्पल कमल के समान सुगन्धित होना, ५ आहार-नीहार का अदृश्य होना, ६ आकाशगत चक्र का होना, ७ आकाशगत छत्र का होना, ८ आकाशगत श्वेत चामर होना, ९. आकाशस्थ स्फटिक सिहासन का होना, १०. हजार पताका वाले इन्द्रध्वज का आकाश मे आगे चलना, ११. तीर्थंकर भगवान जहा ठहरे, वहाँ फल फूल युक्त अशोक वृक्ष का होना, १२ मुकुट के स्थान से थोडा पीछे की ओर तेजो मण्डल का सब दिशाओ को प्रकाशित करना, १३ भूमि का रमणीक होना, १४. काटो का अधोमुख होना, १५. ऋतुओ का सुखदायी होना, १६ शीतल सुखद मन्द पवन से चार-चार कोस तक स्वच्छता का होना, १७ जल विन्दुओ से भूमि की धूल का शमन होना, १८. पाच प्रकार के अचित्त फूलो का जानु प्रमाण ढेर लगना, १९.

अशुभ रूप-रस गन्ध-स्पर्श-शब्द का अपकर्ष होना, २०. शुभ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द का प्रकट होना, २१ बोलते समय भगवान के गम्भीर स्वर का एक योजन तक पहुचना, २२. अर्धमागधी भाषा में भगवान का धर्मोपदेश, २३ अर्ध मागधी भाषा का आर्य-अनार्य मनुष्य और पशुओं की अपनी-अपनी भाषा के रूप मे परिणत होना, २४ भगवान के चरणों में पूर्व भव के वैरी देव, असुर आदि का वैर भूल कर प्रसन्न मन से धर्म श्रवण करना, २५ अन्य तीर्थ के वादियो का भी भगवान के चरणो मे आकर वन्दना करना, २६ वाद के लिये आये हुए प्रतिवादी का निरुत्तर होना, २७ जहाँ भगवान का विहार हो, उसके पच्चीस योजन तक ईति का न होना, २८. पच्चीस योजन तक मारी का न होना, २९ स्वचक्र का भय न होना, ३० परचक्र का भय न होना, ३१. अतिवृष्टि का न होना, ३२ अनावृष्टि का न होना, ३३ दुर्भिक्ष का न होना तथा ३४ जहाँ-जहा भगवान विचरण करे, वहाँ-वहाँ पूर्व उत्पन्न उत्पातो का शीघ्र शान्त होना।

दोनों सम्प्रदायों—दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं मे तीर्थकर भगवान के चौतीस अतिशय स्वीकार की गई है। अतिशयों के नामों मे कही कही साधारण सा अन्तर है।

भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है, यह सुनकर सम्राट् भरत अन्त पुर की स्त्रियो, परिजन और पुरजनो के साथ भगवान के दर्शनो के लिये आये। भरत ने प्रथम पीठिका पर पहुच कर प्रदक्षिणा दी और चारो ओर स्थित धर्मचक्रो की पूजा की। फिर दूसरे पीठ पर स्थित भगवान की ध्वजाओ की पवित्र सुगन्ध आदि द्रव्यो से पूजा की।

भगवान का परिवार

फिर अष्ट प्रातिहार्य युक्त और जगत के गुरु स्वामी ऋषभदेव को देखकर उनकी प्रदक्षिणा की और उत्कृष्ट सामग्री से उनकी पूजा की, उन्हे नमस्कार किया और भक्ति प्लावित हृदय से उनकी स्तुति की। तदनन्तर भरत भी मण्डप मे प्रवेश कर अपनी योग्य सभा मे जा बैठे। फिर हाथ जोड कर भगवान से विनय पूर्वक प्रार्थना की—हे भगवन्! धर्म क्या है? उसका मार्ग और फल क्या है?

भगवान की गम्भीर दिव्य गिरा खिरी। उस समय भगवान के मुख पर कोई विकार नही था। उस समय भगवान के न तो तालु ओठ आदि ही हिलते थे, न उनके मुख की कान्ति ही बदलती थी। भगवान की दिव्य-ध्वनि इस प्रकार निकल रही थी, मानो पर्वत की गुफा मे से प्रतिध्वनि निकलती है। वह वाणी भगवान की इच्छा के बिना ही प्रकट हो रही थी। भगवान की दिव्य गिरा मे धर्म का स्वरूप, धर्म के भेद, धर्म का फल आदि विस्तार से प्रगट हुए।

जगद्गुरू भगवान ऋषभदेव का परम कल्याणकारी उपदेश सुन कर महाराज भरत ने भगवान से सम्यग्दर्शन की शुद्धि और अणुव्रतो की परम विशुद्धि को प्राप्त किया। अर्थात् उन्होने सम्यग्दर्शन के साथ पांच अणुव्रत और सात शीलव्रत धारण किये। अन्य अनेक जीवों ने भी यथायोग्य नियम व्रत धारण किये।

उस पुरिमताल नगर का स्वामी और भरत का छोटा भाई वृषभसेन भगवान का कल्याणकारी उपदेश सुनकर भगवान के समीप दीक्षित हो गया और भगवान का प्रथम गणधर बना। उसी समय कुरु वंशियो मे श्रेष्ठ महाराज सोमप्रभ अपने पुत्र जयकुमार को राज्य देकर अपने अनुज श्रेयान्सकुमार सहित भगवान के समीप दीक्षा लेकर उनके गणधर बने। भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी आर्यिका दीक्षा लेकर आर्यिकाओं के बीच मुख्य गणिनी के पद को प्राप्त हुई। बाहुबली की छोटी बहन सुन्दरी ने भी आर्यिका दीक्षा ले ली। श्रुतकीर्ति नामक एक धर्मात्मा व्यक्ति ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये और वह देशव्रत धारण करने वाले गृहस्थो मे सबसे श्रेष्ठ हुआ। एक पतिव्रता प्रियव्रता नाम की स्त्री श्राविका के व्रत धारण कर श्राविकाओ मे श्रेष्ठ कहलाई। भरत के एक भाई अनन्तवीर्य ने भी सबोध पाकर भगवान से दीक्षा प्राप्त की और उन्होने अवसर्पिणी युग मे सबसे पहले मोक्ष प्राप्त किया। भगवान की देखादेखी जो चार हजार राजा पहले दीक्षित हुए थे और भ्रष्ट हो गए थे, वे 'भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ है' यह सुनकर पुन भगवान के समीप आये और एक मरीचि को छोड कर शेष सबने पुन. दीक्षा ले ली। और तपस्या करने लगे। अन्य अनेक लोगो ने भी भगवान मे मुनि-दीक्षा और श्रावक के व्रत ग्रहण किये।

तीर्थकरो के पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, विक्रिया ऋद्धि के धारक, विपुलमति और वादी इस प्रकार ये सात संघ होते है।

भगवान ऋषभदेव के संघ में कुल ऋषियों की संख्या चौरासी हजार थी, जिनमें पूर्वधर ४७५०, शिक्षक ४१५०, अवधिज्ञानी ६०००, केवली २००००, विक्रियाधारी २०६००, विपुलमति १२७५० और वादियो की कुल संख्या १२७५० थी। तथा मुनियो की संख्या ८४०८४ थी।

ऋषभदेव के तीर्थ में आर्यिकाओ की कुल संख्या साढे तीन लाख थी। श्रावको की संख्या तीन लाख और श्राविकाओ की कुल संख्या पाच लाख थी।

भगवान के गणधर

भगवान के सघ मे साधुओ की कुल संख्या ८४०८४ थी। प्रत्येक तीर्थंकर के सघस्थ साधुओ के गण होते है। उन गणो मे कुछ निश्चित संख्या में साधु रहते है। उन गणो मे से प्रत्येक गण के ऊपर एक गणधर होता है, जो साधुओ का सम्यक् नियमन करता है, उनमे अनुशासन बनाये रखता है। भगवान ऋषभदेव के साधुओ के चौरासी गण थे और उन गणो के नियामक चौरासी[1] गणधर थे, जिनके नाम इस प्रकार थे—

१ वृषभसेन, २ कुम्भ, ३. दृढरथ, ४ शत्रुदमन, ५ देवशर्मा, ६ धनदेव, ७ नन्दन, ८ सोमदत्त, ९ सुरदत्त, १० वायुशर्मा, ११ सुबाहु, १२ देवाग्नि, १३ अग्निदेव, १४ अग्निभूति, १५. तेजस्वी, १६ अग्निमित्र, १७ हलधर, १८ महीधर, १९ माहेन्द्र, २० वसुदेव, २१ वसुन्धर, २२ अचल, २३. मेरु, २४ भूति, २५ सर्वसह, २६. यज्ञ, २७ सर्वगुप्त, २८. सर्वप्रिय, २९ सर्वदेव, ३० विजय, ३१ विजयगुप्त, ३२ विजयमित्र, ३३ विजयश्री, ३४ परारव्य, ३५ अपराजित, ३६ वसुमित्र, ३७ वसुसेन, ३८ साधुसेन, ३९ सत्यदेव, ४० सत्यवेद, ४१. सर्वगुप्त, ४२ मित्र, ४३ सत्यवान, ४४ विनीत, ४५ सवर, ४६. ऋषिगुप्त, ४७ ऋषिदत्त, ४८ यज्ञदेव, ४९ यज्ञगुप्त, ५० यज्ञमित्र, ५१ यज्ञदत्त, ५२ स्वायभुव, ५३ भागदत्त, ५४, भागफल्गु, ५५. गुप्त, ५६ गुप्त फल्गु, ५७ मित्रफल्गु, ५८ प्रजापति, ५९ सत्ययश, ६० वरुण, ६१ धनवाहिक, ६२ महेन्द्रदत्त ६३ तेजोराशि, ६४. महारथ, ६५ विजयश्रुति, ६६ महाबल, ६७ सुविशाल, ६८ वज्र, ६९ वैर, ७०. चन्द्रचूड, ७१ मेघेश्वर, ७२ कच्छ, ७३ महाकच्छ, ७४ सुकच्छ, ७५ अतिबल, ७६. भद्रावलि, ७७. नमि, ७८ विनमि, ७९ भद्रबल, ८०. नन्दी ८१ महानुभाव, ८२ नन्दिमित्र, ८३ कामदेव, ८४. अनुपम।

९. भगवान द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन

प्रयाग मे भगवान द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन

भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि पुरिमताल मे खिरी थी। यही भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहलाया। भगवान यदि चाहते तो शेष सारा जीवन मौनपूर्वक व्यतीत कर सकते थे, जिस प्रकार उन्होने अपने छद्मस्थ काल के एक हजार वर्ष मौनपूर्वक बिताये थे। किन्तु उन्हे धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करके भव्य जीवो का कल्याण करना था। जब तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया था, उस समय उन्होने सोलह कारण भावनाओ का चिन्तन करते हुए मार्ग प्रभावना की भी भावना की थी, अन्यथा तीर्थंकर प्रकृति का भोग पूरा नही होता।

भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन केवल मनुष्यो के हित और सुख के लिये ही नही था, बल्कि यह तो देव, पशु, पक्षी सबके हित और सुख के लिये था। भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन फागुन सुदी एकादशी को हुआ था। भगवान ने धर्म-तीर्थ का उस दिन प्रवर्तन किया था। इसलिये यह कहना चाहिये कि इस युग में धर्म की व्यवस्थित

---

१. हरिवंश पुराण १२।५५-७०।

व्याख्या सर्व प्रथम फागुन सुदी एकादशी को हुई थी, धर्म की स्थापना का यह प्रथम दिवस था। इसलिये यह तिथि पवित्र तिथि मानी गई, यह स्थान पवित्र तीर्थक्षेत्र माना गया, वह वट वृक्ष अक्षय वट कहलाने लगा।

दिव्य ध्वनि—तीर्थंकरो की दिव्यध्वनि का क्या रूप होता है, इस सम्बन्ध मे निम्न गाथाये ध्यान देने योग्य है—

अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासाय सयाइं सत्त तहा।
अक्खर अणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ॥
एदासुं भासासुं तालु ववंतोट्ठकंठ वावारे।
परिहरिय एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं॥
पगदीए अक्खलिओ सभत्ति दयम्मि णवमुहुत्ताणि।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वभुणी जाव जोयणमं॥
अवसेस काल समये गणहर देविद चक्कवट्टीणं।
पण्हाण रुवमत्थ दिव्वभुणी अ सत्तभगी हि॥

अर्थात् अठारह महाभाषा सात सौ छोटी भाषा तथा सञ्ज्ञी जीवो की ओर भी जो अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक—भाषाये है, उन सभी भाषाओ मे तालु, दात, ओठ, कठ को बिना हिलाये चलाये भगवान की वाणी भव्य जीवो के लिये प्रगट होती है। भगवान की वह दिव्य ध्वनि स्वभाव से (तीर्थंकर प्रकृति के उदय से वचन योग से, बिना इच्छा के) स्पष्ट अनुपम तीनो सन्ध्या कालो मे ९ मुहूर्त निकलती है और एक योजन तक जाती है। शेष समय मे गणधर, इन्द्र तथा चक्रवर्ती के प्रश्न करने पर भी सात भगमय दिव्यध्वनि खिरती है।

आचार्य जिनसेन ने हरिवश पुराण मे दिव्य ध्वनि की विशेषताये बताते हुए कहा है—

तत्प्रश्नानन्तरं धातुश्चतुर्मुख विनिर्गता।
चतुर्मुखकला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया॥५८।३
चतुरस्रानुयोगाना चतुर्णामेकमातृका।
चतुर्विध कथावृत्तिश्चतुर्गति निवारिणी॥ ५८।४
समन्तत शिवस्थानाद्योजनाधिक मण्डले।
अत्रैवात्रैव वृत्तेति तत्र तत्रास्ति तादृशी॥५८।८
मधुर स्निग्धगंभीर दिव्योदात्त स्फुटाक्षरम्।
वर्ततेऽनन्य वृत्तैका तत्र साध्वी सरस्वती॥५८।९
अनानात्मापि तद्वृत्तं नाना पात्र गुणाश्रयम्।
सभायां दृश्यते नाना दिव्यमम्बु यथावनौ॥५८।१५
सावधान सभास्थं ध्वान्तं सावरणं ध्वनि।
जैनोत्यर्कोभिनद्दिव्यो विश्वात्मेत्यादि भासन॥५८।१६

अर्थात् गणधर के प्रश्न करने पर भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी। भगवान की वह दिव्य ध्वनि चारो दिशाओ मे दिखने वाले चार मुखो मे निकलती थी, चार पुरुपार्थ रूप चार फलो को देने वाली थी, सार्थक थी, चार वर्ण और चार आश्रमो को आश्रय देने वाली थी, चारो ओर सुनाई पडती थी, चार अनुयोगो की माता थी, आक्षेपिणी-विक्षेपिणी-सवेगिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओ को वर्णन करने वाली थी, चार गतियो का निवारण करने वाली थी। जहाँ भगवान विराजते थे, वहाँ से चारो ओर एक योजन तक इतनी स्पष्ट सुनाई देती थी जैसे यही उत्पन्न होरही हो। वह दिव्य ध्वनि जैसी उत्पत्ति स्थान मे सुनाई पडती थी वैसी ही एक योजन के घेरे मे सुनाई पडती थी। वह मधुर, स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त और स्पष्ट अक्षरो से युक्त थी, अनन्य रूप थी, एक थी और अत्यन्त निष्कलक थी। जिस प्रकार आकाश से बरसा पानी एक रूप होता है परन्तु पृथ्वी पर पड़ते ही नाना रूप दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान की वह वाणी यद्यपि एक रूप थी तथापि सभा में पात्र के

गुणों के अनुसार वह नानारूप दिखाई दे रही थी। संसार के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली भगवान की वह दिव्यध्वनि सूर्य को पराजित करने वाली थी तथा सावधान होकर बैठी हुई सभा के अन्तःकरण में स्थित आवरण सहित अज्ञानान्धकार को खण्ड-खण्ड कर रही थी।

इसी प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य ने दिव्यध्वनि का स्वरूप विस्तार पूर्वक बताया है—

'दिव्यमहाध्वनिएरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्।
भव्यमनोगतमोहतमोन्घन् अद्युवदेष यथैव तमोरि० आदि पु० २३।६९
'एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोन्तर नेष्ट वहूश्च कुभाषाः।
अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्व बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना॥ आदि पु० २३।७०
एकतयोऽपि तथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात्।
पात्र विशेष वशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वम् ॥२३।७१
एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यद्यदुपाहितमस्य विभासम्।
स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते विश्वबुधोऽपि तथा ध्वनिरुच्चैः॥२३।७२
देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतत् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिजगति स्यात्॥२३।७३

अर्थात् भगवान के मुखकमल से बादलो की गर्जना का अनुकरण करने वाली अतिशय युक्त महा दिव्य ध्वनि निकल रही थी और वह भव्यजीवो के मन मे स्थित मोह रूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी। यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकार की थी तथापि भगवान के माहात्म्य से समस्त मनुष्यो की भाषाओ और अनेक कुभाषाओ को लेकर सर्वभाषारूप परिणमन कर रही थी और लोगो का अज्ञान दूर कर उन्हे तत्वो का बोध करा रही थी। जिस प्रकार एक ही प्रकार का जल का प्रवाह वृक्षो के भेद से अनेक रस वाला हो जाता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ देव की वह दिव्य ध्वनि भी पात्रो के भेद से अनेक प्रकार की हो जाती थी। अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकार की होती है तथापि उसके पास जो जो रगदार पदार्थ रख दिये जाते हैं, वह अपनी स्वच्छता से अपने आप उन उन पदार्थो के रग को धारण कर लेती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की उत्कृष्ट दिव्य ध्वनि भी यद्यपि एक प्रकार की होती है तथापि श्रोताओ के भेद से वह अनेक रूप धारण कर लेती है। कुछ लोग ऐसा कहते है कि वह दिव्य ध्वनि देवो के द्वारा की जाती है परन्तु उनका यह कहना मिथ्या है क्योंकि ऐसा मानने पर वह भगवान का गुण नही कहलायगा, देवकृत होने से देवो का कहलायगा। इसके सिवाय वह दिव्यध्वनि अक्षर रूप ही है क्योकि अक्षरो के समूह के बिना लोक मे अर्थ का परिज्ञान नही होता।

इस प्रकार भगवान की वाणी और उपदेश को दिव्य ध्वनि कहा जाता है। भगवान की सभी बातें अलौकिक और दिव्य होती है, उनकी वाणी भी दिव्य होती है और वह ससार का कल्याण करने वाली होती है।

धर्मचक्र

धर्मचक्र जैन धर्म का एक आवश्यक चिन्ह है। जैन मन्दिरो की रचना समवसरण की अनुकृति होती है। समवसरण मे तीर्थंकर भगवान स्वय विराजमान होते है। मन्दिर मे उन तीर्थकरो की प्रतिमाये विराजमान की जाती है। समवसरण की रचना देवो द्वारा की जाती है, जबकि मदिरो की रचना मनुष्यों द्वारा होती है। किन्तु समवसरण के आवश्यक अगो की रचना मदिरो मे लघु रूप मे यथा-संभव की जाती है। समवसरण में धर्मचक्रो की रचना होती है, देव और मनुष्य उनकी पूजा करते है। समवसरण के द्वार पर, श्रीमण्डप की पीठिकाओ पर, यक्षेन्द्रो के मस्तको पर धर्म-चक्र सुशोभित रहते है। तीर्थंकर भगवान का जब धर्म-बिहार होता हे तो धर्म-चक्र आगे आगे चलता है, सर्वाण्ह यक्ष धर्म-चक्र को मस्तक पर धारण कर भगवान की ओर पीठ किये बिना आगे चलता है। इतना ही नही, तीर्थकर देव तीर्थ की स्थापना और उद्भावना करते है तथा उनका सर्वप्रथम जो, केवलज्ञान के अनन्तर, प्रथम धर्मोपदेश होता है और लोक कल्याणी दिव्य ध्वनि प्रगट होती है, उसे 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' कहा जाता है।

मन्दिरो में भी धम-चक्रो का अकन रहता है। वेदी पर, भगवान के सिंहासन पर धर्म-चक्र उत्कीर्ण किये

जाते हैं। कही कही स्वतन्त्र रूप से धर्मचक्र की रचना मिलती है। पाषाण-स्तम्भो, द्वार के तोरण और चैत्यों पर धर्मचक्र अंकित मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि जैन धर्म में धर्म-चक्र को कितना महत्व दिया गया है। यद्यपि चक्र चक्र का प्रचलन प्राचीन भारत मे युद्ध के एक अमोघ शस्त्र के रूप मे रहा है। चक्रवर्ती और नारायण के आयुधो में को प्रमुख स्थान प्राप्त था, किन्तु आध्यात्मिक जगत में शत्रु का सहार करने वाले और हिसा, विजय और अधिकार के प्रतीक उस चक्र को मान्यता नही दी गई है। किन्तु विश्व मैत्री, अहिसा और जगत्कल्याण के प्रतीक धर्मचक्र को तीर्थकरो की आध्यात्मिक विजय का भौतिक रूप माना गया है। धर्म-चक्र भी ससार से पाप—विजय और कषायों के विनाश के लिये तीर्थकर के आगे-आगे चलता है। इसका आशय और प्रयोजन यह है कि तीर्थकर का जहाँ भी धर्म-बिहार होता है, वही तीर्थंकर के पहुचने से पूर्व ही ऐसा आध्यात्मिक वातावरण निर्मित हो जाता है, जिससे वहाँ के मनुष्यो, यहाँ तक कि तिर्यचो तक के मन से विद्वेष, हिसा और अनाचार के भाव दूर होने लगते है, उन्हे अन्तर मे शान्ति का अनुभव होने लगता है और बाह्य प्रकृति में सब प्रकार की अनुकूलतायें परिलक्षित होने लगती है। प्राणियो की भावनाओ और प्रकृति के बाह्य रूप मे यह परिवर्तन तीर्थकर के आध्यात्मिक प्रभाव का अनिवार्य परिणाम है।

समवसरण के द्वार पर अथवा गन्धकुटी के चारो ओर, तीर्थकर के आसपास धर्म-चक्रो की उपस्थिति का आशय यह है कि तीर्थकर के चारो ओर का वातावरण इतना धर्ममय होता है कि जो प्राणी समवसरण मे प्रवेश करता है, उसके विचारो और भावनाओ पर ऐसा प्रभाव स्वत. ही पडने लगता है कि उसके मन मे धर्म के अकुर प्रस्फुटित होने लगते है। उसके विचारो में से हिसा, विद्वेष और अन्य कुत्सित भावनायें तिरोहित हो जाती है और जब वह तीर्थकर के समीप पहुचता है तो वह और धर्म की बहती हुई पावन गगा मे अवगाहन करने लगता है। उसके जन्म-जन्मान्तरो के विकृत सस्कारो मे एक अद्भुत क्रान्ति होने लगती है। तीर्थकर धर्म के साकार, सजीव रूप है। वे मूर्तिमान धर्म है। वे उपदेश देते है, तभी धर्म जागृत होता है, ऐसी बात नही है। बल्कि जब वे मौन विराजमान हो, तब भी वे ही धार्मिक किरणे विकीर्ण होती रहती है, जिनमे ऐसी अद्भुत शक्ति होती है कि प्राणियो के अन्तकरण शुद्ध, पावन हो जाते है। समवसरण के द्वार पर चारो दिशाओ मे मानस्तम्भ होते है, जिन्हे देखते ही प्राणी के मन से स्तम्भ की तरह ऊंचा और कठोर अभिमान भी गलित हो जाता है। इसका भी आशय यही है कि कोई प्राणी मन मे अभिमान सजो कर समवसरण मे प्रवेश नही कर सकता, उसके मन पर वहा के धर्ममय वातावरण का ऐसा प्रभाव पडता, है कि उसके मन से अभिमान के दाग-धब्बे स्वत ही धुल पुछ जाते है, मन मे कोमलता जाग उठती है और अत्यन्त विनय और भक्ति तरगित होने लगती है।

धर्म-चक्रो के सम्बन्ध मे भगवज्जिनसेनाचार्य ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आदि पुराण मे अनेक स्थलो पर ऐसा वर्णन मिलता है—

तां पीठिकामलञ्चक्रु: अष्ट मंगलसपदः।
धर्म चक्राणि चोढाग्नि प्रांशुभिर्यक्षमूर्धभि ॥ २२।२९२

—उस पीठिका को अष्टमगल द्रव्य रूपी सपदाए और यक्षो के ऊँचे-ऊँचे मस्तको पर रक्खे हुए धर्म चक्र अलकृत कर रहे थे।

सहस्राराणि तान्युद्रत्नरश्मीनि रेजिरे।
भानुबिम्बानिवोद्यन्ति पीठिकोदय पर्वतात्। २२।२९३

—जिनमे लगे हुए रत्नो की किरणे ऊपर की ओर उठ रही है, ऐसे हजार-हजार आरो वाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिका रूपी उदयाचल से उदय होते हुए सूर्य के बिम्ब ही हो।

सहस्रारस्फुरद्धर्मचक्ररत्नपुरः सर ॥ २५।२५६

—भगवान जब बिहार करते है, उस समय हजार आरो वाला धर्मचक्र भगवान के आगे-आगे चलता है।

इसी प्रकार आचार्य जिनसेन ने हरिवशपुराण मे इन धर्मचक्रो का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है—

महा प्रभाव सम्पन्नास्तत्र शासन देवताः ।
नेमुश्चाप्रतिचक्राद्या वृषभं धर्मचक्रिणं ।। ६।२२२

—उस समवसरण में महाप्रभाव से सम्पन्न अप्रतिचक्र आदि शासन देवता धर्मचक्र के धारक भगवान वृषभदेव को निरन्तर नमस्कार करते रहते थे ।

पीठानि त्रीणि भास्वन्ति चतुर्दिक्षु भवन्ति तु ।
चत्वारि च सहस्राणि धर्मचक्राणि पूर्वके ।। ५७।१४०

—समवसरण मे चारो दिशाओ में तीन पीठ होते है, उनमें पहले पीठ पर चार हजार धर्मचक्र सुशोभित है ।

सहस्रारं हसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युति ।
धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानस्थानयोरभात् ।। ३।२६

—भगवान चाहे विहार करते हो, चाहे खडे हो, प्रत्येक दशा मे उनके आगे सूर्य के समान कान्तिवाला तथा अपनी दीप्ति से हजार आरे वाले चक्रवर्ती के चक्ररत्न की हँसी उडाता हुआ धर्मचक्र शोभायमान रहता था ।

धर्मचक्र १२,२४ या १००० आरे वाले होते है ।

भगवान के प्रचारक

भगवान की धर्म-सभा और धर्मोपदेश की विज्ञप्ति और कनवैसिग देवलोग करते है । वे लोगो को समवसरण मे चलने की आग्रहपूर्वक प्रेरणा करते है । देवो की प्रेरणा पाकर असख्य मनुष्य और स्त्रिया समवसरण मे जाकर भगवान का उपदेश सुनते है और आत्म-कल्याण करते है । इस रहस्य पर आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण मे प्रकाश डाला है ।

धर्मदानं जिनेन्द्रस्य घोषयन्तः समन्ततः ।
आह्वानं चक्रिरेऽन्येषां देवा देवेन्द्र शासनात् ।। ३।२८

—इन्द्र की आज्ञा से देव लोग चारो ओर जिनेन्द्र देव के धर्मदान की घोषणा करते हुये अन्य लोगो को बुलाते थे ।

भगवान का धर्म-विहार

भगवान कुछ दिन पुरिमताल नगर के शकटास्य वन मे धर्म की मन्दाकिनी बहाते रहे । एक दिन सौधर्म इन्द्र ने सहस्र नामो द्वारा भगवान की स्तुति की जो बाद मे सहस्र नाम स्तोत्र के रूप मे जगत मे प्रसिद्ध हुआ । स्तुति करने के बाद इन्द्र ने प्रार्थना की—'हे भगवन् ! विभिन्न क्षेत्रो के भव्य जीव रूपी चातक आपकी धर्मामृत-वर्षा के लिये उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे है ।

प्रभो ! अब मोक्षमार्ग का उपदेश देने का समय आ गया है । भव्य जीव आपकी शरण है । आप उन्हें कल्याण का मार्ग बताने की दया कीजिये । आप ही चराचर के स्वामी है । धर्म का अवरुद्ध मार्ग खोलने का यह उपयुक्त समय आया है । ससार के दुखी प्राणियो का आप उद्धार कीजिये ।'

उस समय भगवान स्वय ही बिहार करना चाहते थे । तभी इन्द्र ने बिहार करने की प्रार्थना करके मानो भव्य जीवो की इच्छा का ही प्रतिनिधित्व किया । तब तीनो लोगो के स्वामी और धर्म के अधिपति भगवान ऋषभदेव ने धर्म-बिहार करना आरम्भ किया । इन्द्रदेव और असख्य जनसमूह भगवान के साथ चल रहे थे । भगवान जहा भी जाते, तीनो सन्ध्याओं को उनका दिव्य उपदेश होता था । वे जब विहार करते थे, शीतल सुगन्धित वायु चलने लगती थी, वृक्ष फल फूलो से भर जाते थे, एक योजन तक की भूमि को पवनकुमार देव झाड बुहार देते, पृथ्वी दर्पण के समान निर्मल हो जाती । मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करके पृथ्वी को धूल रहित बना देते थे । जहा भगवान के चरण पडते, वही २२५ स्वर्ण कमलो की रचना हो जाती । किन्तु भगवान तो भूमि से चार अगुल ऊपर ही चलते थे, कमलो पर उनके चरण नही पडते थे । भगवान के आगे हजार आरो वाला धर्म चक्र, अष्ट मगल द्रव्य और धर्म-ध्वज चलते थे । देव दुन्दुभि-नाद और पुष्प वर्षा कर रहे थे । भेरी-ताडन हो रहा था । देवागनाएँ आकाश में भक्ति नृत्य करती चल रही थी । किन्नर गा रहे थे, गन्धर्व और विद्याधर वीणा बजाते चल रहे थे । भगवान के अचिंत्य प्रभाव के कारण चारो ओर सुभिक्ष हो गया था, समस्त प्रकार का आनन्द,

कल्याण और आरोग्य व्याप्त था। इस प्रकार भगवान ने समस्त देशों मे आनन्द और कल्याण की वर्षा करते हुए धर्म-बिहार किया। इस बिहार की बदौलत असख्य प्राणियो ने अपना कल्याण किया।

भगवान ने जिन देशो में बिहार किया, उनके नाम इस प्रकार है—काशी, अवन्ति, कुरु, कोशल, सुह्म, पुण्ड्र, चेदि, अग, वंग, मगध, आन्ध्र, कलिग, मद्र, पचाल, मालव, दशार्ण, विदर्भ आदि।

१० भगवान का अष्टापद पर निर्वाण

कैलाश में निर्वाण

भगवान ने सम्पूर्ण देश मे एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व वर्षो तक धर्म-विहार किया। जब उनकी आयु के चौदह दिन शेष रह गये, तब वे श्रीशिखर और सिद्धशिखर के बीच मे कैलाश पर्वत पर पहुचे और पौष शुक्ला पूर्णमासी के दिन योगो का निरोध करने के लिए ध्यानारूढ हो गये।

उसी दिन सम्राट् भरत ने स्वप्न मे देखा कि महामेरु पर्वत लम्बा होते होते सिद्ध क्षेत्र तक जा पहुचा है। युवराज अर्ककीर्ति ने स्वप्न देखा कि एक महौषधि वृक्ष लोगो के रोगो का नाश करके स्वर्ग को जा रहा है। गृहपति ने स्वप्न देखा कि एक कल्पवृक्ष लोगो की कामनायें पूरी करने के बाद स्वर्ग को जा रहा है। प्रधानमन्त्री को स्वप्न हुआ कि एक रत्नद्वीप लोगों को नाना प्रकार के रत्न देकर आकाश की ओर जाने के लिए तैयार है। जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य ने देखा कि चन्द्रमा तीनो लोको को प्रकाशित करके तारो सहित जा रहा है। सम्राज्ञी सुभद्रा ने स्वप्न मे देखा कि यशस्वती और सुनन्दा के पास बैठकर इन्द्राणी शोकाकुल हो रही है। वाराणसी नरेश चित्रागद ने स्वप्न देखा कि सूर्य पृथिवी को प्रकाशित करके आकाश की ओर उडा जा रहा है। इस प्रकार और भी अनेक लोगो ने इसी प्रकार के नाना स्वप्न देखे।

प्रातःकाल होने पर सबने राजपुरोहित तथा निमित्त शास्त्र के ज्ञाता पुरुषो से अपने-अपने स्वप्न बता कर उनका फल पूछा। उन निमित्त ज्ञानियो ने विचार कर उत्तर दिया—भगवान ऋषभदेव सम्पूर्ण शेष कर्मो को नष्ट करके अनेक मुनियो के साथ मुक्त होनेवाले है। पुरोहित स्वप्नो का फल बता ही रहे थे, तभी आनन्द नामक एक व्यक्ति राज्य-सभा मे आया। उसने महाराज भरत को यथोचित नमस्कार करके भगवान का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया और कहा कि भगवान ने अपनी दिव्य ध्वनि का सकोच कर लिया है और सम्पूर्ण सभा हाथ जोडकर मौन पूर्वक बैठी है।

यह सुनते ही सम्राट् भरत सब लोगो के साथ अविलम्ब कैलाश पर्वत पर जा पहुचे। उन्होने जाकर भगवान के दर्शन किये, तीन प्रदक्षिणा दी, उनकी स्तुति की और महामह नामक पूजा की। इस प्रकार चक्रवर्ती चौदह दिन तक भगवान की सेवा करते रहे।

उस दिन माघ कृष्णा चतुर्दशी के सूर्योदय का शुभ मुहूर्त था। अभिजित नक्षत्र था। भगवान इस पुण्य-वेला मे पूर्व दिशा की ओर मुख करके पर्यंकासन से विराजमान हो गये। उनके साथ के एक हजार मुनियो ने भी आत्म-विजय की अन्तिम तैयारी की। भगवान ने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्ल ध्यान के द्वारा मन, वचन, काय इन तीनो योगो का निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थान मे ठहरकर अ-इ-उ-ऋ-ऌ इन ह्रस्व अक्षरो के उच्चारण मे जितना काल लगता है, उतने काल में व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चौथे शुक्ल ध्यान के द्वारा शेष अघातिया कर्मों का नाश कर दिया। वे सिद्धत्व पर्याय को प्राप्त हो गये। आत्मा की अनन्त विभूति को प्रगट करने वाले आत्मा के आठ गुण उनमे प्रगट हो गये—सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अगुरुलघु

अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अव्याबाध। ये गुण आठ कर्मों के विनाश द्वारा उत्पन्न हुये थे। वे इस शरीर को छोड कर तनु वात वलय में जा विराजे। वे लोक के अग्रभाग पर स्थित हो गये। वे निर्मल, निरावरण, निष्कलक शुद्ध आत्म रूप मे स्थित हो गये। वे जन्म-मरण से रहित हो गये, कृतकृत्य हो गये। सिद्ध परमात्मा हो गये। उनके साथ १००० मुनि भी मुक्त हुये।

भगवान का निर्वाण कल्याणक

भगवान का निर्वाण हो गया, यह जान कर सब देव और इन्द्र वहाँ आये। भगवान का शरीर पारे के समान बिखर गया था। तीर्थङ्कर के शरीर के परमाणु अन्तिम समय बिजली के समान क्षणभर में स्कन्ध पर्याय को छोड़ देते है। इन्द्र ने सब देवो के साथ भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की। फिर भगवान के कृत्रिम शरीर को पालकी मे विराजमान किया। फिर इन्द्र ने तीन अग्नि कुण्ड स्थापित किये। एक अग्निकुण्ड भगवान के लिये, दूसरा अग्निकुण्ड गणधरो के लिये दायी ओर तथा तीसरा अग्नि कुण्ड गणधरो के अतिरिक्त अन्य सामान्य केवलियो के लिये बायी ओर स्थापित किया। फिर उन कुण्डो मे अग्नि स्थापित की, गन्ध-पुष्प आदि से पूजा करके चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगन्धित पदार्थो और घी, दूध आदि द्वारा उस अग्नि को प्रज्वलित किया और उस शरीर को उसमे रख दिया। अग्नि ने थोडे ही समय मे शरीर का वर्तमान आकार नष्ट कर दिया। उन्होने शेष मुनियो के शरीर का भी इसी प्रकार सस्कार किया।

फिर इन्द्रो ने पच कल्याणको को प्राप्त होने वाले भगवान वृषभदेव के शरीर की भस्म उठाकर 'हम लोग भी ऐसे ही हो' यह सोचकर बडी भक्ति मे अपने ललाट पर, दोनो भुजाओ मे, गले में और ललाट पर लगाई। फिर सबने मिलकर आनन्द नाटक किया और अपने-अपने स्थानो को चले गये।

भगवान का निर्वाण होने पर भेद विज्ञानी भरत चक्रवर्ती को मोह उत्पन्न हुआ और वे शोक सन्तप्त हो गये। उस समय वृषभसेन गणधर ने उन्हे ससार का स्वरूप बताते हुये समझाया, जिससे चक्रवर्ती का मोह भग हो गया और गणधर देव के चरणो मे नमस्कार करके वे अयोध्या नगरी को वापिस लौट गये।

सिद्धक्षेत्र कैलाश (अष्टापद)—भगवान ऋषभदेव का निर्वाण अष्टापद पर्वत से हुआ। अष्टापद को ही अनेक स्थानो पर कैलाश पर्वत भी कहा गया है। इसलिए कैलाश और अष्टापद दोनो स्थान भिन्न-भिन्न न होकर एक ही है।

कैलाश पर्वत सिद्ध क्षेत्र है। यहा से अनेक मुनियो ने निर्वाण प्राप्त किया है। भगवान ऋषभदेव के अतिरिक्त भरत आदि भाइयो ने, भगवान अजितनाथ के पितामह त्रिदशजय, व्याल, महाव्याल, अच्छेद्य, अभेद्य, नागकुमार, हरिवाहन, भगीरथ आदि असख्य मुनियो ने कैलाश पर्वत पर आकर तपस्या की और कर्मो को नष्ट करके यही से मुक्त हुए।

भगवान ऋषभदेव की स्मृति मे भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये और उनमें रत्नो की प्रतिमाये विराजमान करायी। ये प्रतिमाये और जिनालय सहस्रो वर्षों तक वहा विद्यमान रहे। सगर चक्रवर्ती के आदेश से उनके साठ हजार पुत्रो ने उन मन्दिरो की रक्षा के लिये उस पर्वत के चारो ओर परिखा खोद कर गगा को वहा बहाया। बाली मुनि यही तपस्या कर रहे थे। रावण उन्हे देखकर बडा क्रुद्ध हुआ और जिस पर्वत पर खडे वे तपस्या कर रहे थे, उस पर्वत को ही उलट देना चाहा। तब बाली मुनि ने सोचा—चक्रवर्ती भरत ने यहा जो जिन मन्दिर बनवाये थे, वे इस पर्वत के विचलित होने से कही नष्ट न हो जाये, यह विचार कर उस पर्वत को उन्होने अपने पैर के अगूठे से दबा दिया, जिससे रावण उस पर्वत के नीचे दबकर रोने लगा। इन घटनाओ से यह सिद्ध होता है कि भरत द्वारा निर्मित ये मन्दिर और मूर्तियाँ रावण के समय तक तो अवश्य ही थी।

कैलाश की आकृति—कैलाश की आकृति ऐसे लिंगाकार की है जो षोडश दल कमल के मध्य खड़ा हो। इन सोलह दल वाले शिखरों में सामने के दो शिखर झुक कर लम्बे हो गये है। इसी भाग से कैलाश का जल गौरी-कुण्ड में गिरता है। कैलाश इन पर्वतो मे सबसे ऊचा है। उसका रंग कसौटी के ठोस पत्थर जैसा है। किन्तु बर्फ

से ढके रहने के कारण वह रजतवर्ण दिखायी पड़ता है। दूसरे शृंग कच्चे लाल मटमैले पत्थर के हैं। मानसरोवर की ओर से इसकी चढ़ाई डेढ मील की है जो बहुत कठिन है। कैलाश के शिखर के चारों कोनो में ऐसी मन्दिरा-कृतिया स्वतः बनी हुई हैं जैसे बहुत से मन्दिरो के शिखरो पर चारो ओर बनी होती है।

तिब्बत की ओर से यह पर्वत ढलान वाला है। उधर तिब्बतियो के बहुत मन्दिर बने हुये है। तिब्बत के लोगो मे कैलाश के प्रति बडी श्रद्धा है। अनेक तिब्बती तो इसकी बत्तीस मील की परिक्रमा दण्डवत प्रतिपात द्वारा लगाते है। लिग-पूजा इस शब्द का प्रचलन तिब्बत से ही प्रारम्भ हुआ। तिब्बती भाषा में लिग का अर्थ क्षेत्र या तीर्थ है। अतः लिग-पूजा का अर्थ तिब्बती भाषा मे तीर्थ[1] पूजा है।

कैलाश और अष्टापद—प्राकृत निर्वाण भक्ति मे 'अट्ठावयम्मि ऋसहो' अर्थात् ऋषभदेव की निर्वाण भूमि अष्टापद बतायी है। किन्तु सस्कृत निर्वाण भक्ति में अष्टापद के स्थान में कैलाश को ऋषभदेव की निर्वाण भूमि माना है—कैलाश शैल शिखरे परिनिर्वृतो ऽसौ, शैलेशिभावमुपपद्य वृषो महात्मा।' सस्कृत निर्वाण काण्ड मे एक श्लोक में निर्वाण क्षेत्रो का उल्लेख करते हुए कहा है—"सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे।' इसमे सम्पूर्ण हिमालय को ही निर्वाण क्षेत्र माना है।

एक ही स्थान के लिये आचार्य ने तीन नाम दिये है। इससे लगता है, ये तीनो नाम समानार्थक और पर्यायवाची है। कही-कही हिमवान के स्थान पर धवलगिरि शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यदि यह मान्यता सही है कि ये सब नाम पर्यायवाची है तो कैलाश या अष्टापद कहने पर हिमालय मे भागीरथी, अलकनन्दा और गगा तटवर्ती बद्रीनाथ, केदारनाथ, गगोत्री, यमुनोत्री से लेकर नर-नारायण, द्रोणगिरि, गौरीशकर, नन्दा, त्रिशूली, और मुख्य कैलाश यह सम्पूर्ण प्रदेश ही निर्वाण क्षेत्र हो जाता है।

हिमालय मे स्थित तीर्थो को ध्यानपूर्वक देखने से इस मान्यता का समर्थन होता है। भगवान ऋषभ-देव के पिता नाभिराय ने बद्रीनाथ मन्दिर के पीछे वाले पर्वत पर तपस्या की थी। वहां उनके चरण विद्यमान है। भगीरथ ने कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त नामक मुनि से दीक्षा ली थी और उन्होंने गगा-तट पर तपस्या की थी। इन्द्र ने क्षीरसागर के जल से भगीरथ मुनि के चरणो का अभिषेक किया था। उस चरणोदक का प्रवाह गंगा मे जाकर मिल गया। तभी से गगा नदी लोक मे तीर्थ मानी जाने लगी। उन महामुनि भगीरथ ने गगा तट पर जिस शिला पर खडे होकर तपस्या की थी, वह शिला भगीरथ-शिला कहलाने लगी। वह अब भी विद्य-मान है। भगीरथ की तपस्या का यह वर्णन जैन[2] शास्त्रो मे मिलता है।

बद्रीनाथ मन्दिर की मूर्ति भगवान ऋषभदेव की है। इससे इस तथ्य पर प्रकाश पडता है कि चक्रवर्ती भरत ने जिन ७२ जिन-मन्दिरो का निर्माण कराया था, वह केवल कैलाश मे नही, अपितु सारे हिमालय मे विभिन्न स्थानों पर कराया था।

1 It may be mentioned that Linga is a Tibetan word for Land. The northern most district of Bengal is called Darji-Ling, which means Thunder's land.

S.K. Roy, Pre-historic India and Ancient Egypt., p. 28

२. उत्तर पुराण ४८।१३८-१४१

११. नाभिराय और मरुदेवी

जैन पुराणो मे नाभिराय का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार वे अन्तिम मनु थे। वे तेरहवे मनु प्रसनजित के पुत्र थे। वे भरतक्षेत्र मे विजयार्ध पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम आर्य खण्ड में उत्पन्न हुये थे।

जैन पुराणों में नाभिराय और मरुदेवी

उनका विवाह अत्यन्त सुन्दरी मरुदेवी से हुआ था। उस समय कल्पवृक्ष रूप प्रासाद उस क्षेत्र मे नष्ट हो गये थे किन्तु केवल नाभिराय का ही कल्पवृक्ष प्रासाद बाकी बचा था जो ८१ खण्ड का था। इसका नाम सर्वतोभद्र प्रासाद था। इन्द्र ने उनके लिये अयोध्यानगरी की रचना की। उसमें उनके लिये और त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान के उपयुक्त प्रासाद की रचना की और आदर सहित उनको उस प्रासाद में पहुचा दिया। उनके यहा आदि तीर्थकर ऋषभदेव का जन्म हुआ।

जब ऋषभदेव राज्यभार का दायित्व संभालने योग्य हुए तो महाराज नाभिराज ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। यथा—

'नृपा मूर्धाभिषिक्ता ये नाभिराजपुरस्सरा।
राजवद् राजसिहोऽयमभ्यसिच्यत तैः समम्॥ —आदि पुराण १६।२२४

अर्थात् सब राजाओ में श्रेष्ठ यह ऋषभदेव वास्तव में राजपद के योग्य है, ऐसा मानकर नाभिराज आदि राजाओ ने उनका एक साथ अभिषेक किया।

इसके पश्चात् जब तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने दीक्षा ली, उस समय भी महाराज नाभिराज और महारानी मरुदेवी अन्य लोगों के साथ तपकल्याणक का उत्सव देखने के लिये पालकी के पीछे चल रहे थे।

मरुदेव्या समं नाभिराजो राजशतैर्वृतः।
अनूत्तस्थौ तदा दृष्टुं विभोर्निष्क्रमणोत्सवम्॥

—आदिपुराण १७।१७८

अर्थात् उस समय महाराजा नाभिराज भी मरुदेवी तथा सैकडो राजाओ से परिवृत्त होकर प्रभु ऋषभदेव के तप कल्याणक का उत्सव देखने के लिये उनके पीछे जा रहे थे।

उस समय का दृश्य बडा विचित्र था। एक ही समय मे विविध रसो का परिपाक हो रहा था।

ऊर्ध्वं नवरसा जाता नृत्यदप्सरसां स्फुटाः।
नाभेयेन विमुक्तानामधः शोक रसोऽभवत्॥

—हरिवश पुराण ९।९१

—ऊपर तो अप्सराओ के नृत्य से नौ रस प्रगट हो रहे थे और नीचे पृथिवी पर तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा छोडे हुए जन शोक रस से अभिभूत हो रहे थे।

आचार्य रविषेण के अनुसार ऋषभदेव ने वन मे पहुचकर 'माता-पिता' और बन्धुजनो से आज्ञा लेकर 'णमो सिद्धाण' कहकर पच मुष्टि लोच करते हुए श्रमण दिगम्बर दीक्षा लेली। यथा—

'आपृच्छणं ततः कृत्वा पित्रोर्बन्धु जनस्य च।
'नमः सिद्धेभ्य' इत्युक्त्वा श्रामण्यं प्रत्यपद्यत॥ —पद्म पुराण ३।२८२

उपर्युक्त अवतरणो से यह तो स्पष्ट ही है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के दीक्षा कल्याणक के समय उनके माता-पिता विद्यमान थे। किन्तु इसके बाद वे दोनो कितने दिन जीवित रहे अथवा उन्होने

श्री मद्भागवत मे नाभिराज और मरुदेवी

अपना शेष जीवन किस प्रकार और कहा व्यतीत किया, इसके सम्बन्ध मे जैन साहित्य मे अभी तक कोई स्पष्ट उल्लेख हमारे देखने मे नही आया। किन्तु इस विषय में हिन्दू पुराण 'श्रीमद्भागवत' में महर्षि शुकदेव ने जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके लिये हम महर्षि शुकदेव के चिर ऋणी है। महर्षि लिखते हैं—

विदितानुरागमापौर प्रकृति-जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य सह मरुदेव्या विशालायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन......महिमानवाप ।

- श्रीमद्भागवत ५।४।५

(टीका) आपौर प्रकृति पौरान्प्रकृतींश्चाभिव्याप्य विदितोऽनुरागो यस्मिन् । कथंभूतो नाभिः । जनपदः जनाः पौरादयः पदं प्रमाणं यस्य सः । आत्मजं धर्ममर्यादा-रक्षणार्थमभिषिच्य ।... ..विशालायां वदरिकाश्रमे । प्रसन्नः परानुद्वेजकं निपुणं च तीव्रं तेन उपासीनः सेवमानः कालेन तन्महिमानं जीवन्मुक्तिमवाप ।

—श्रीधर स्वामीकृत सस्कृत टीका काशी

अर्थात् पुरवासियो और प्रकृति को अभिव्याप्त करने वाला जिनका प्रेम प्रसिद्ध है, और नगरवासियों को जो प्रमाणभूत थे ऐसे नाभिराज धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये अपने पुत्र वृषभदेव का राज्याभिषेक करके वदरिकाश्रम मे प्रसन्न मन से घोर तप करते हुए यथासमय जीवन्मुक्त हो गये ।

उक्त कथन से नाभिराज और मरुदेवी के अन्तिम जीवन पर स्पष्ट प्रकाश पडता है। इसके अनुसार नाभिराज ऋषभदेव के राज्याभिषेक के बाद मरुदेवी के साथ बदरिकाश्रम में गये और वहाँ घोर तप करके जीवन्मुक्त हो गये ।

टीका में विशाला का अर्थ वदरिकाश्रम किया है । इस स्थान पर वदरी नामक झाडियो की बहुलता है। इस स्थान पर उस समय मुनिजनों का आश्रम रहा होगा । जिसके कारण इस स्थान को वदरिकाश्रम कहा गया है । निश्चय ही श्री नाभिराज की घोर तपस्या के कारण मनुष्यो का ध्यान इस स्थान की ओर आकृष्ट हुआ और जिस स्थान से उन्होने जीवन्मुक्ति पाई, वह स्थान परम पावन तीर्थधाम बन गया और अपने पितामह की स्मृति मे सम्राट् भरत ने वहा एक भव्य मन्दिर बनवाया और उसमे तीर्थंकर ऋषभदेव की प्रतिमा विराजमान कराई । परम्परागत रूप से वह मन्दिर और मूर्ति अब तक विद्यमान है । निश्चय ही यह मन्दिर और मूर्ति वह नही है जो भरत ने बनवाई थी । मन्दिर का जीर्णोद्धार और नवनिर्माण होता रहा। मूर्ति भी वदल गई, किन्तु फिर भी मूर्ति ध्यानलीन पद्मासन से बैठे तीर्थंकर ऋषभदेव की ही रही ।

इस सम्भावना से भी इनकार नही किया जा सकता कि यहा भगवान ऋषभदेव का एकाधिक बार विहार हुआ, समवसरण लगा, उसके आसपास तपस्या की और मुक्ति प्राप्त की । इसलिए स्पष्टत यह जैन तीर्थ रहा है ।

१२. ऋषभदेव का लोकव्यापी प्रभाव

ऋषभदेव की मान्यता सारे लोकमानस में छा गई थी । देश की समस्त जनता उन्हे अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। उनके हर कार्यकलाप में उसे नवीनता और अपूर्वता प्रतीत होती थी । वह उनकी प्रत्येक गतिविधि को बड़े विस्मय और भक्ति से देखती थी। जो कार्य उसे अद्भुत प्रतीत होता था, उसकी स्मृति सुरक्षित रखने के लिये उस स्थान और तिथि को मान्यता देकर उस कार्य का स्मरण करती थी । यही कारण था कि उनकी गतिविधि से सम्बन्धित प्रत्येक स्थान तीर्थ बन गया और प्रत्येक तिथि पर्व बन गई । वह परम्परा किसी न किसी रूप मे आज तक सुरक्षित है ।

ऋषभदेव से सम्बन्धित तीर्थ और पर्व

भगवान का जन्म अयोध्या में हुआ था। भगवान के रहने के लिये इन्द्र ने उसकी रचना सर्वप्रथम की थी। कर्मयुग के पूर्वकाल में निर्मित यह सर्वप्रथम नगरी थी। इसी मे भगवान ने जन्म लिया, इसी मे बचपन,

किशोरावस्था और यौवन बिताया। इसी में रहकर उन्होंने सृष्टि में कर्म का प्रचलन किया, इसी में रहकर संसार की सम्पूर्ण व्यवस्थायें प्रचलित कीं। भगवान का सम्पर्क पाकर अयोध्या पावन तीर्थ बन गई। लोग यहाँ आते और श्रद्धा से उसकी रज उठाकर माथे में लगाते। संभव है, उस रज में भगवान की चरण रज मिली हो। लोक के लिये अयोध्या का कण-कण पवित्र और वन्दनीय था। जगत्पति भगवान का सम्पर्क पाकर अयोध्या तीर्थभूमि बन गई। लोहा पारस का स्पर्श पाकर सोना बन जाता है। महत्व पारस का है, लोहे का नहीं। ऋषभदेव के कारण अयोध्या तीर्थ बन गई। और जन्म-तिथि महान् पर्व हो गई। महत्व ऋषभदेव का है। लोग अयोध्या जाते हैं तो भक्ति की शान पर चढ़कर उनकी कल्पना तेज हो उठती है और अयोध्या के गली कूचों और खण्डहरों में भगवान के जन्म-काल की नाना लीलाओं के दर्शन होने लगते हैं। उनकी कल्पित छवि मानस चक्षुओं के आगे आकार ग्रहण करके नाचने लगती है और श्रद्धा से मस्तक उनके चरणों में स्वतः झुक जाता है। संसार के प्रपंच और व्यामोह में फंसा व्यक्ति अपने आपको भूल जाता है, उन प्रपंचों को भूल जाता है और भगवान के चरणों में स्वयं को समर्पित पाता है।

प्रभु ऋषभदेव ने एक दिन अयोध्या का त्याग कर दिया, अयोध्या के मोह का त्याग कर दिया। वे संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये और दीक्षा लेली। छह माह के उपवास का नियम ले लिया। उसके बाद वे आहार के लिये निकले। उनके प्रति लोगों में अपार श्रद्धा-भक्ति तो थी किन्तु आहार दान की विधि का थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं था। छह माह तक वे घूमते रहे। रत्न, कन्यायें, हाथी, घोड़े, वस्त्र, अलंकार तो ले-लेकर लोग आये, किन्तु आहार कोई नहीं दे सका। यह सौभाग्य मिला राजकुमार श्रेयान्स को। हस्तिनापुर के पुण्य जागे, श्रेयान्स के पुण्य जागे। भगवान विहार करते हुए हस्तिनापुर पधारे। भगवान को देखते ही कुमार श्रेयान्स को पहले जन्म की वह घटना स्मरण हो आई, जब उसने मुनि को आहार-दान दिया था। आदर से वह उठा, भक्ति से उसने भगवान को यथाविधि पड़गाहा और श्रद्धा से उसने आहार दिया। उस समय इक्षु-रस के कलश भरे हुए रक्खे थे वहाँ। आत्मविभोर होकर उसने भगवान को आहार में वही इक्षु-रस दिया। भगवान ने अनासक्त भाव से वही लिया। तीर्थंकर भगवान का यह प्रथम आहार था। कर्मभूमि में एक मुनि को दिया गया यह प्रथम आहार था। कुमार श्रेयान्स प्रथम दाता था भगवान इस दान के प्रथम पात्र थे। हस्तिनापुर भगवान को दिये आहार-दान का प्रथम स्थान था। देवताओं ने इस प्रथम दान की सराहना की, राजकुमार श्रेयान्स का जय-जयकार किया, भगवान की स्तुति की। किन्तु जनता ने इस घटना की स्मृति को अमिट बना दिया—हस्तिनापुर को महान् तीर्थ मानकर और आहार-दान की उस तिथि को—आषाढ़ कृष्णा तृतीया को पर्व मानकर। तृतीया तो वर्ष में चौबीस आती है, किन्तु यह तृतीया तो असाधारण थी, अपूर्व थी, अदृष्टपूर्व थी, अश्रुतपूर्व थी। इस तृतीया को तो भगवान का निमित्त पाकर श्रेयान्स कुमार ने, सोमप्रभ ने, लक्ष्मीमती ने और समस्त दर्शकों ने अक्षय पुण्य-संचय किया था। इसलिये इस तिथि को पर्व मानकर ही जनता को सन्तोष नहीं हुआ। इस तृतीया को अक्षय तृतीया मानकर उसको विशेष गौरव प्रदान किया। किस बुद्धिसागर महामानव ने यह नाम दिया इस तिथि को आज से लाखों करोड़ों वर्ष पहले। उस अज्ञात मनीषी को हमारे प्रणाम हैं। 'अक्षय' इस एक शब्द में ही उसने पर्व का सारा इतिहास लिख दिया।

भगवान तो निरीह थे, वीतराग थे। आहार लिया और चल दिये। मौन धारण किये एक हजार वर्ष तक ध्यान और विहार करते रहे। तब वे एक दिन पुरिमताल नगर के बाहर उद्यान में पहुंचे। एक वटवृक्ष के नीचे एक शिला पर पद्मासन लगाकर ध्यानस्थ हो गये। उनकी सारी इन्द्रियाँ सिमट कर मन में समा गईं। मन आत्मा में निरोहित हो गया। उन्हें विमल केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। वे समस्त लोकालोक के ज्ञाता-दृष्टा बन गये। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। भगवान ऋषभदेव के जीवन का यह ज्वलन्त अवसर था। सही मायनों में वे अभी भगवान बने थे। इससे भी बड़ी और महत्वपूर्ण एक घटना और घटी यहाँ पर। देवों ने इसी स्थान पर समवसरण की रचना की। भगवान का उसमें प्रथम धर्मोपदेश हुआ। एक हजार वर्ष से स्वेच्छा से लिया मौन प्रथम बार भंग हुआ। भगवान ने यहां पर ही धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान को जिस स्थान पर केवलज्ञान हुआ और प्रथम दिव्य-ध्वनि खिरी, उस पुरिमताल को लोग

'प्रयाग' कहने लगे और उसे तीर्थभूमि मान लिया। जिस वट वृक्ष के नीचे बैठकर भगवान ने तपस्या की, केवल ज्ञान हुआ और धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया, जनता ने उस वट वृक्ष को प्रणाम किया और उसके सम्मान को सुरक्षित रखने के लिये उसे अक्षय वट कहने लगे। महान् प्रभु के अल्पकालिक सम्पर्क ने उस वट वृक्ष को भी महान् बना दिया। और फागुन सुदी एकादशी का दिन पर्व बन गया, जिस दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ था।

केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भगवान ने सम्पूर्ण देश मे विहार किया। गृहस्थ दशा में उन्होने लोक को बदला था, लोक-व्यवस्था को बदला था। अब वे लोकमानस को बदलने के लिये उपदेशदेने लगे। गृहस्थ थे तो जनता का आहार-विहार बदला था, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये, तब जनता का आचार-विचार बदल दिया, सोचने की दृष्टि बदल दी। पहले शरीर के लिये सब कुछ किया, अब आत्मा के लिये सब कुछ करने लगे। पहले कर्म-व्यवस्था बनाई, अब धर्म-व्यवस्था बनाने लगे। कौन-सा देश था, जहाँ वे नही गये। कौन सा क्षेत्र था, जहाँ उनको दिव्य गिरा मे लोगो ने अवगाहन नही किया। धर्म की उस पावन मन्दाकिनी मे आलोडन करके जन-जन के मन मे शुद्धि प्रस्फुटित हो उठी। हिमालय के उत्तु ग शिखर उनके गम्भीर नाद से गू ज उठे। मैदानो मे उनके उपदेशो की शीतल बयार बहने लगी। वे आर्य देशो मे गये, अनार्य देशो मे गये। उनके समवसरण मे गरीब आते थे, अमीर आते थे। रक आते थे, सम्राट् आते थे। गाय भी आती थी और शेर भी आते थे, चूहे भी आते थे, बिल्ली भी आती थी। उनका समवसरण समाजवाद का सच्चा केन्द्र था, विभिन्न मतो और विरोधी जीवो के सह अस्तित्व का अद्भुत स्थान था। विभिन्नता मे एकता और विरोधो मे समन्वय का एक अलौकिक मच था। अशान्त मन वहा जाकर शान्ति पाता था, क्रूरता की आग पर सौहार्द का शीतल जल बरस कर उसे शान्त कर देता था। भगवान की आत्मा आनन्द और शान्ति की निधान थी। उनके चारो ओर का वातावरण उसी आनन्द और शान्ति से व्याप्त हो जाता था। उनके सान्निध्य मे पहुचकर अनुभव होने लगता था कि मानो जीवन मे अशान्ति और दु ख के सारे दाग धुल पु छ गये है। वे मुख से नही बोलते थे, उनके रोम-रोम से शान्ति और प्रेम बोलता था। उनका व्यक्तित्व अलौकिक था, उनका उपदेश अलौकिक था और उनका प्रभाव अलौकिक था।

भगवान बिहार और उपदेश करते हुए एक दिन कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे। वे कैलाश के उत्तु ग शिखर पर खडे होकर ध्यानलीन हो गये। उनके निकट एक हजार मुनि भी ध्यान लगाकर खडे हो गये। चक्रवर्ती भरत और असख्य जनमेदिनी हाथ जोडे हुए भगवान के दिव्य रूप का दर्शन कर रही थी। कैलाश के निर्झरणो का कल-कल करता हुआ शीतल जल बहकर गौरीकुण्ड मे गिर रहा था। सारा पर्वत हिम के कारण रजत के समान श्वेत धवल हो रहा था। भगवान के मुख की दीप्ति निरन्तर बढती जा रही थी। यह दीप्ति बढते-बढते सूर्य-प्रभा जैसी हो गई, किन्तु शीतल और स्निग्ध। कुछ काल के बाद करोडो सूर्य मानो एक स्थान पर आ गये। फिर वह तेज-पु ज जल-थल को, आकाश-पाताल को, लोक-अलोक को प्रकाशित करता हुआ अदृश्य हो गया। भगवान का निर्वाण हो गया।

कैलाश धन्य हो गया, जो भी वहा थे वे धन्य हो गये, सारा लोक धन्य हो गया। देव और देवेन्द्रो ने मिलकर आनन्दोत्सव किया। चक्रवर्ती भरत ने वहाँ स्वर्ण मन्दिर और स्तूप निर्मित कराये। लोक ने कैलाश को महान् तीर्थ घोषित किया और उस तिथि को-माघ कृष्णा चतुर्दशी को महान् पर्व स्वीकार किया।

भगवान का पार्थिव रूप नही रहा, किन्तु उनकी स्मृति सजोये ये तीर्थ और पर्व लाखो करोडो वर्ष के अन्तराल को पारकर आज तक जन-जन के मन मे भगवान को जीवित रक्खे हुए है। भगवान का भौतिक शरीर नही रहा, किन्तु उनका यश शरीर तब तक रहेगा, जब तक ये चाद सितारे आकाश मे चमकते रहेगे।

श्रीमद्भागवत पुराण भक्ति का अमर ग्रन्थ माना जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय मे जितने परम वैष्णव और महाभागवत हुए है, उनको विष्णु-भक्ति की प्रेरणा इसी ग्रन्थ से मिली थी। रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि की भक्ति-साधना का मूलाधार श्रीमद्भागवत ही था। इस ग्रन्थ मे भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनुसार चौबीस अवतारो के नाम इस प्रकार हैं—नाभि सरोवर में से एक कमल उत्पन्न हुआ।

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव

उस कमल से प्रजापतियो के अधिपति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। इन्ही से सारे अवतार प्रगट हुए। कुल अवतारो की संख्या चौबीस थी—१ सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चार ब्राह्मण २ शूकरावतार ३. नारद ४ नर-नारायण ५. कपिल ६ दत्तात्रेय ७ यज्ञावतार ८ ऋषभदेव ९. पृथु १० मत्स्यावतार ११. कच्छपावतार १२ धन्वन्तरि १३ मोहिनी १४ नरसिंह १५ वामन १६. परशुराम १७ व्यास १८ राम १९ बलराम २० श्रीकृष्ण २१ बुद्ध २२ कल्कि

श्रीमद्भागवत मे चौबीस अवतार स्वीकार किये है, किन्तु नाम उपर्युक्त बाईस अवतारो के ही दिये है। कुछ विद्वान् हस और हयग्रीव नामक दो अवतार और मानते है और इस प्रकार अवतारो की चौबीस सख्या की पूर्ति करते है। कुछ अन्य विद्वान् चौबीस की सख्या पूर्ति इस प्रकार करते है—रामकृष्ण के अतिरिक्त बीस अवतार तो उपर्युक्त है ही। शेष चार अवतार श्रीकृष्ण के ही अश है। स्वय श्रीकृष्ण तो पूर्ण पुरुष है। वे अवतार नही, अवतारी है। अत श्रीकृष्ण को अवतारो मे नही गिनते। उनके चार अंश इस प्रकार है—१. केश का अवतार २ सुतपा तथा पृश्नि पर कृपा करने वाला अवतार ३ सकर्षण बलराम ४ परब्रह्म।

इस महापुराण मे भगवान ऋषभदेव का वर्णन कई स्थलो पर किया है। यहा उन स्थलो से लेकर ऋषभदेव-चरित्र ज्यो का त्यो (हिन्दी भाषा मे) दिया जा रहा है। इसमे ऋषभदेव के चरित्र पर तो प्रकाश पडता ही है, उनकी महानता के भी दर्शन होते है। इसमे कुछ नये तथ्यो का उद्घाटन भी होता है—

"राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान ने आठवा अवतार ग्रहण किया। इस रूप में उन्होंने परमहसो का वह मार्ग दिखाया जो सब आश्रमो के लिये वन्दनीय है।"

—श्रीमद्भागवत १।३।१३

"राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान ने ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार मे समस्त आसक्तियो से रहित रहकर, अपनी इन्द्रियो और मन को अत्यन्त शान्त करके एव अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शी के रूप मे उन्होने जडो की भाति योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहस पद अर्थात् अवधूतचर्या कहते है।

—श्रीमद्भागवत २।७।१०

स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत थे। उन्हे परमार्थ तत्व का बोध हो गया था। वे निरन्तर ब्रह्माभ्यास मे लीन रहते थे। पिता ने उन्हे राज्य-भार सौंपना चाहा, किन्तु उन्होने उसे स्वीकार नही किया। तब ब्रह्माजी द्वारा समझाने पर उन्होने राज्य स्वीकार किया। राज्य शासन करते हुए भी देहादि उपाधि की निवृत्ति हो जाने से उनकी आत्मा की सम्पूर्ण जीवो के आत्मभूत प्रत्यगात्मा मे एकीभाव मे स्थिति हो गई।

उन्होने अपने रथ पर चढकर पृथ्वी की सात परिक्रमाय दी। उस समय उनके रथ के पहियो से जो लीकें बनी वे ही सात समुद्र हुए। उनमे पृथ्वी मे सात द्वीप बन गये। उनके नाम क्रमश. जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर द्वीप है। इनमें से पहले-पहले की अपेक्षा आगे-आगे के द्वीप का परिमाण दूना है और ये समुद्र के बाहरी भाग मे पृथ्वी के चारो ओर फैले हुए है। सात समुद्र क्रमश खारे जल, ईख के रस, मदिरा, घी, दूध, मट्ठे और मीठे जल से भरे हुए है।

प्रियव्रत के सात पुत्र थे—अग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञबाहु, हिरण्यरेता, धृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र। इन पुत्रो को एक-एक द्वीप का राज्य दे दिया। आग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा बने। उनके नौ पुत्र हुए—नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। आग्नीध्र ने जम्बूद्वीप के विभाग करके उन्ही के समान नाम वाले नौ वर्ष (भूखण्ड) बनाये और उन्हे एक-एक पुत्र को सौप दिया।

पिता के परलोक गमन करने पर नौ भाइयो ने मेरु की नौ कन्याओ से विवाह कर लिया। नाभि ने मेरुदेवी से विवाह किया। बहुत समय तक नाभि के कोई सन्तान नही हुई। तब दम्पति ने श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भाव से भगवान की आराधना की। तब भगवान ने प्रसन्न होकर वरदान दिया—'मै स्वय ही अपनी अशकला से अग्नीध्र-नन्दन नाभि के यहां अवतार लूगा क्योकि अपने समान मुझे कोई और दिखाई नही देता।'

महारानी मेरुदेवी के सुनते हुए उसके पति से इस प्रकार कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये। उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्रीभगवान महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर सन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रगट करने के लिये शुद्ध सत्वमय विग्रह मे प्रगट हुए।

—पचम स्कन्ध तृतीय अध्याय

'राजन्! नाभिनन्दन के अग जन्म मे ही भगवान विष्णु के बज्र-अकुश आदि चिह्नो से युक्त थे। समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों के कारण उनका प्रभाव दिना दिन बढता जाता था। यह देखकर मन्त्री आदि प्रकृति वर्ग प्रजा, ब्राह्मण और देवताओ की यह उत्कट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथ्वी का शासन करे। उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणो के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम 'ऋषभ' (श्रेष्ठ) रक्खा।

एक बार भगवान इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य मे वर्षा नही की। तब योगेश्वर भगवान ऋषभ ने इन्द्र की मूर्खता पर हसते हुए अपनी योग माया के प्रभाव से अपने वर्ष अजनाभखण्ड मे खूब जल बरसाया। महाराज नाभि अपनी इच्छानुकूल श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्दमग्न हो गये। और अपनी ही इच्छा से मनुष्य शरीर धारण करने वाले पुराण पुरुष श्रीहरि का सप्रेम लालन करते हुए, उन्ही के लीला विलास से मुग्ध होकर 'वत्स! तात!' ऐसा गद्‌गद् वाणी से कहते हुए बडा सुख मानने लगे।

जब उन्होने देखा कि मन्त्रिमण्डल, नागरिक और राष्ट्र की जनता ऋषभदेव से बहुत प्रेम करती है तो उन्होने उन्हे धर्म मर्यादा की रक्षा के लिये राज्याभिषेक करके ब्राह्मणो की देखरेख मे छोड दिया। आप अपनी पत्नी मेरुदेवी के सहित बदरिकाश्रम को चले गये। वहा अहिसा वृत्ति से, जिसमे किसी को उद्‌वेग न हो, ऐसी कौशलपूर्ण तपस्या और समाधियो के द्वारा भगवान वासुदेव के नर-नारायण रूप की आराधना करते हुए समय आने पर उन्ही के स्वरूप मे लीन हो गये।

भगवान ऋषभदेव ने अपने देश अजनाभखण्ड को कर्म भूमि मानकर लोकसग्रह के लिये कुछ काल गुरुकुल मे वास किया। गुरुदेव को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थ मे प्रवेश करने के लिये उनकी आज्ञा ली। फिर लोगो को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिये देवराज इन्द्र की दी हुई उनको कन्या जयन्ती से विवाह किया तथा श्रौत-स्मार्त दोनो प्रकार के शास्त्रोपदिष्ट कर्मो का आचरण करते हुए उसके गर्भ से अपने ही समान गुण वाले सौ पुत्र उत्पन्न किये। उनमे महायोगी भरतजी सबसे बडे और सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्ही के नाम से लोग इस अजनाभखण्ड को भारतवर्ष कहने लगे। उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन इन्द्रस्पृक्, विदर्भ, और कीकट ये नौ राजकुमार शेष नव्वे भाइयों से बडे एव श्रेष्ठ थे। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ये नौ राजकुमार भागवत धर्म का प्रचार करने वाले बडे भगवद्भक्त थे। भगवान की महिमा से महिमान्वित और परम शान्ति से पूर्ण इनका पवित्र चरित्र हम नारद-वसुदेव सवाद के प्रसग मे आगे (एकादश स्कन्ध मे) कहेगे। इनसे छोटे जयन्ती के इक्यासी पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करने वाले, अति विनीत, महान् वेदज्ञ, निरन्तर यज्ञ करने वाले थे। वे पुण्य कर्मो का अनुष्ठान करने से शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे।

भगवान ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वय सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तो भी अज्ञानियो के समान कार्य करते हुए उन्होने काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्व न जानने वाले लोगो को उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तान, भोग सुख और मोक्ष का सग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम मे लोगो को नियमित किया। महापुरुष जैसा-जैसा आचरण करते है, दूसरे लोग उसी का अनुकरण करने लगते है। यद्यपि वे सभी धर्मों के सार रूप वेद के गूढ रहस्य को जानते थे। तो भी ब्राह्मणो की बतलाई हुई विधि से साम-दानादि नीति के अनुसार ही जनता का पालन करते थे। उन्होने शास्त्र और ब्राह्मणो के उपदेशानुसार भिन्न-

भिन्न देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विज आदि से सुसम्पन्न सभी प्रकार के सौ-सौ यज्ञ किये। भगवान ऋषभदेव के शासन काल में इस देश का कोई भी पुरुष अपने लिये किसी से भी अपने प्रभु के प्रति दिन-दिन बढने वाले अनुराग के सिवा और कभी किसी वस्तु की इच्छा नही करता था। यही नही, आकाश कुसुमादि अविद्यमान वस्तु की भांति कोई किसी की वस्तु की ओर दृष्टिपात भी नही करता था।

—श्रीमद्भागवत पचम स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय

ऋषभदेवजी के सौ पुत्रों में भरत सबसे बडे थे। वे भगवान के परम भक्त और भगवद्भक्तों के परायण थे। ऋषभदेव जी ने पृथ्वी का पालन करने के लिए उन्हे राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वय उपशमशील निवृत्ति परायण महामुनियों के भक्ति, ज्ञान और वैराग्य रूप परमहसोचित धर्मों की शिक्षा देने के लिए बिलकुल विरक्त हो गए। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रक्खा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड दिया। अब वे वस्त्रों का भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये, उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे। उन्मत्त का सा वेष था। इस स्थिति में वे आहवनीय (अग्निहोत्र की) अग्नियों को अपने में ही लीन करके सन्यासी हो गये। और ब्रह्मावर्त देश से बाहर निकल गये। वे सर्वथा मौन हो गये थे। कोई बात करना चाहता तो बोलते नही थे। जड, अन्धे, बहरे, गूगे, पिशाच और पागलों की सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ बिचरने लगे। कभी नगरों और ग्रामों मे चले जाते, कभी खानों, किसानों की बस्तियो, बगीचो, पहाडों, गावों, सेना की छावनियों, गोशालाओं, अहीरो की बस्तियों और यात्रियों के टिकने के स्थानो मे रहते। कभी पहाडों, जगलों और आश्रमों मे बिचरते। वे किसी भी रास्ते से निकलते तो जिस प्रकार बन मे विचरने वाले हाथी को मक्खियाँ सताती है, उसी प्रकार मूर्ख और दुष्ट लोग उनके पीछे हो जाते और उन्हे तग करते। कोई धमकी देते, कोई मारते, कोई पेशाब करते, कोई थूक देते, कोई ढेला मारते, कोई विष्ठा और धूल फेंकते, कोई अधोवायु छोडते और कोई खोटी-खरी सुना कर उनका तिरस्कार करते। किन्तु वे इन सब बातो पर ध्यान नही देते। इसका कारण यह था कि भ्रम से सत्य कहे जाने वाले इस मिथ्या शरीर में उनकी अहता-ममता तनिक भी नही थी। वे कार्य-कारण रूप सम्पूर्ण प्रपञ्च के साक्षी होकर अपने परमात्म स्वरूप मे ही स्थित थे। इसलिए अखण्ड चित्त वृत्ति से अकेले ही पृथ्वी पर विचरते रहते थे। यद्यपि उनके हाथ, पैर, छाती, लम्बी-लम्बी बाहें, कन्धे, गले, और मुख आदि अगों की बनावट बडी सुकुमार थी। उनका स्वभाव से ही सुन्दर मुख स्वाभाविक मधुर मुस्कान से और भी मनोहर जान पडता था। नेत्र नवीन कमल-दल के समान बडे ही सुहावने, विशाल एव कुछ लाली लिये हुए थे। उनकी पुतलियाँ शीतल एव सन्तापहारिणी थी। उन नेत्रों के कारण वे बडे मनोहर जान पडते थे। कपोल, कान और नासिका छोटे-बडे न होकर समान एव सुन्दर थे तथा उनके अस्फुट हास्ययुक्त मनोहर मुखारविन्द की शोभा को देखकर पुर-नारियों के चित्त मे कामदेव का सचार हो जाता था तथापि उनके मुख के आगे जो भूरे रग की लम्बी-लम्बी घुघराली लटे लटकी रहती थी, उनके महान् भार और अवधूतों के समान धूलि धूसरित देह के कारण वे ग्रहग्रस्त मनुष्य के समान जान पडते थे।

जब भगवान ऋषभदेव ने देखा कि यह जनता योग साधन मे विघ्न रूप है और इससे बचने का उपाय वीभत्स वृत्ति से रहना ही है, तब उन्होंने अजगर वृत्ति धारण कर ली। वे लेटे ही लेटे खाने-पीने, चबाने और मल मूत्र त्याग करने लगे। वे अपने त्यागे हुए मल मे लोट-लोट कर शरीर को इससे सान लेते। किन्तु उनके मल मे दुर्गन्ध नही थी, बडी सुगन्ध थी और वायु उस सुगन्ध को लेकर उनके चारो ओर दस योजन तक सारे देश को सुगन्धित कर देती थी। इसी प्रकार गौ, मृग और काकादि की वृत्तियों को स्वीकार करके उन्ही के समान कभी चलते हुए, कभी खडे-खडे, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने और मल-मूत्र का त्याग करने लगते थे।

परीक्षित! परमहसो को त्याग के आदर्श की शिक्षा देने के लिये इस प्रकार मोक्षपति भगवान ऋषभदेव ने कई तरह की योगचर्याओं का आचरण किया। वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्द का अनुभव करते रहते थे। उनकी दृष्टि मे निरुपाधिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा में अपने आत्मस्वरूप भगवान वासुदेव से किसी प्रकार का भेद नही था। इसलिये उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे। उनके पास आकाश गमन, मनोजवित्व (मन की गति के समान शरीर का भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुच जाना) अन्तर्धान, परकाय प्रवेश, दूर की बाते सुन लेना

और दूर के दृश्य देख लेना आदि सब प्रकार की सिद्धिया अपने आपही सेवा करने को आई; परन्तु उन्होने उनका मन से आदर या ग्रहण नही किया।

—श्रीमद्भागवत पचम स्कन्ध पचम अध्याय

'भगवान ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालो के भी भूषणस्वरूप थे, तो भी वे जड़ पुरुषो की भाति अवधूतो के से विविध वेष, भाषा और आचरण से अपने ईश्वरीय प्रभाव को छिपाये रहते थे। अन्त में उन्होने योगियो को देहत्याग की विधि सिखाने के लिये अपना शरीर छोडना चाहा। वे अपने अन्तःकरण में अभेदरूप से स्थित परमात्मा को अभिन्न रूप से देखते हुए वासनाओ की अनुवृत्ति से छूटकर लिगदेह के अभिमान से भी मुक्त होकर उपराम हो गये। इस प्रकार लिगदेह के अभिमान से मुक्त भगवान ऋषभदेव जी का शरीर योगमाया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही इस पृथ्वी तल पर विचरता रहा। वह दैववश कोक, वेक और दक्षिण आदि कुटक कर्णाटक के देशो मे गया और मुंह मे पत्थर का टुकडा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्त के समान दिगम्बर रूप से कुटकाचल के वन में घूमने लगा। इसी समय झझावात से झकझोरे हुए वासो के घर्षण से प्रवल दावाग्नि धधक उठी और उसने सारे वन को अपनी लाल लाल लपटो मे लेकर ऋषभदेव जी के सहित भस्म कर दिया। ... . भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगो को मोक्ष मार्ग की शिक्षा देने के लिये ही हुआ था। इसके गुणो का वर्णन करते हुए लोग इन वाक्यो को कहा करते है—अहो ! सात समुद्रो वाली पृथ्वी के समस्त द्वीप और वर्षों मे यह भारतवर्ष बडी ही पुण्यभूमि है क्योकि यहा के लोग श्रीहरि के मगलमय अवतार-चरित्रो का गान करते है। अहो ! महाराज प्रियव्रत का वश बडा ही उज्ज्वल एव सुयशपूर्ण है जिसमें पुराण पुरुष श्री आदि-नारायण ने ऋषभावतार लेकर मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले पारमहस्य धर्म का आचरण किया। इन जन्मरहित भगवान ऋषभदेव के मार्ग पर कोई दूसरा योगी मन से भी कैसे चल सकता है। क्योकि योगी लोग जिन योग-सिद्धियो के लिये लालायित होकर निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हे उन्होने अपने आप प्राप्त होने पर भी असत् समझकर त्याग दिया था।

— श्रीमद्भागवत पचम स्कध षष्ठ अध्याय

'हमारे पिता ऋषभ के रूप में अवतीर्ण होकर उन्होने आत्मसाक्षात्कार के साधनो का उपदेश दिया है।

—श्रीमद्भागवत एकादश स्कध चतुर्थ अध्याय

भगवान ऋषभदेव और प्रमुख वैदिक देवता

भगवान ऋषभदेव और कुछ वैदिक देवताओ के रूप मे आश्चर्यजनक रूप से समानता दिखाई पडती है। उससे यह सन्देह होता है कि भगवान ऋषभदेव और उन देवताओ का व्यक्तित्व विभिन्न नही, अपितु एक ही है अर्थात् ऋषभदेव और वे देवता एक है, भिन्न नही है, केवल नाम-रूप का ही अन्तर है और वह नाम रूप का अन्तर भी आलकारिक वर्णन के कारण है। यदि उन आलकारिक वर्णनो के मूल तथ्य को हम हृदयगम कर सके तो उससे कुछ नये रहस्य उद्घाटित किये जा सकते है। तब भारत के प्राचीन धर्मो और मान्यताओ की विभिन्नता मे भी एकता के कुछ बीजो और सूत्रो का अनुसन्धान किया जा सकता है। हमारा ऐसी विश्वास है कि यदि विश्व के धर्मो की मौलिक एकता का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया जाय तो भगवान ऋषभदेव का रूप उसमे अत्यन्त सहायक हो सकता है।

अनेकता मे एकता और विभिन्नताओ मे समन्वय ये दो सूत्र ही मतभेदो को दूर कर सकते है और नानात्मक अन्तर्द्वन्द्वो की कटुता को कम कर सकते है। ऋषभदेव जैन और वैदिक इन दोनो भारतीय धर्मों के आराध्य रहे है। जैनो ने उन्हे प्रथम तीर्थकर माना है और वैदिक पुराणो में उन्हे भगवान के अवतारो मे आठवा अवतार स्वीकार किया है। इस प्रकार ऋषभदेव प्राचीन भारत में, प्रागैतिहासिक काल में सम्पूर्ण जनता के समान रूप से पूज्य रहे है। आज भी जैन और वैदिको के बीच सौहार्द और समन्वय का कोई सामान्य आधार बन सकता है तो वह ऋषभदेव ही हो सकते है।

यहा हम ऋषभदेव और कुछ वैदिक देवताओं के पुराणवर्णित रूप का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत

करना चाहेंगे। उससे प्रगट होगा कि दोनों चरित्रों मे कितनी अद्भुत समानता है।

अधिकांश इतिहासकार यह स्वीकार करते है, कि शिवजी वैदिक आर्यों के देवता[1] नही थे। जब वैदिक आर्य भारत मे आये थे, उस समय शिव जी के उपासको की सख्या नगण्य नही थी। सिन्धु उपत्यका और मोहनजोदडो-हडप्पा शाखा की खुदाई मे शिवजी की मूर्तियो की उपलब्धि से भी इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन काल मे शिवजी की मान्यता बहुत प्रचलित थी। उन्हे शिव, महादेव, रुद्र आदि विविध नामो से पूजा जाता था।

ऋषभदेव और शिवजी

ऋषभदेव किस प्रकार शिव बन गये, इसका उल्लेख कई ग्रन्थो में मिलता है। ईशान सहिता मे उल्लेख है कि माघ कृष्ण चतुर्दशी की महानिशा मे आदिदेव करोडो सूर्य की प्रभावाले शिवलिग के रूप मे प्रगट हुये।

माघ कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिगतयोद्भूतः कोटि सूर्य सम प्रभः॥

शिवपुराण में तो स्पष्ट उल्लेख है कि मुझ शकर का ऋषभावतार होगा। वह सज्जन लोगो की शरण और दीनबन्धु होगा। और उनका अवतार नौवा होगा।

इत्थं प्रभावः ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु नः॥ शिवपुराण ४।४७

इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि ऋषभदेव और शिवजी एक ही व्यक्ति थे। अब यह विचार करना शेष रह जाता है कि शिवजी का जो रूप विकसित हुआ, उसका मूल क्या था। इसके लिये दोनो के समान रूप पर तुलनात्मक विचार करना रुचिकर होगा—

दिगम्बर रूप—भगवान ऋषभदेव ने राजपाट छोड कर मुनिदीक्षा ले ली। अर्थात् वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गये। श्रीमद्भागवत के अनुसार उनके शरीर मात्र परिग्रह बच रहा था। वे मलिन शरीर सहित ऐसे दिखाई देते थे, मानो उन्हे भूत लगा हो।

शिवजी को भी नग्न माना है और उनके मलिन शरीर को प्रदर्शित करने के लिये देह पर भभूत दिखाई जाती है। वेदो मे जिस शिश्नदेव का उल्लेख मिलता है, उसका रहस्य भी दिगम्बरत्व मे ही निहित है।

जटायें—ऋषभदेव ने जब छह माह तक कायोत्सर्गासन से निश्चल खडे होकर तपस्या की, उस काल मे उनके केश बढकर जटा[2] के रूप में हो गये थे। ऋषभदेव की अनेक प्राचीन प्रतिमाये जटाजूटयुक्त मिलती है। शिवजी भी जटाजूटधारी है।

नन्दी—जैन तीर्थकरो के चौबीस प्रतीक चिह्न माने गये है। तीर्थकर प्रतिमाओ पर वे चिह्न अकित रहते है। उन चिह्नो से ही तीर्थकर-प्रतिमा की पहचान होती है, ऋषभदेव का प्रतीक चिह्न वृषभ (बैल है। शिवजी का वाहन भी वृषभ है।

कैलाश—ऋषभदेव ने कैलाश पर जाकर तपस्या की और अन्त में वही से उन्होने निर्वाण (शिव पद) प्राप्त किया। शिवजी का धाम भी कैलाशपर्वत माना गया है।

शिवरात्रि—ऋषभदेव ने माघ कृष्णा चतुर्दशी को कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया था। यही तिथि शिवजी के लिग-उदय की तिथि मानी जाती है। कही कही शिवरात्रि माघ कृष्णा चतुर्दशी को न मान कर फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को मानी जाती है। यह अन्तर उत्तर और दक्षिण भारत के पञ्चाङ्गो के अन्तर के कारण है। 'काल माधवीय नागर खण्ड' में इस अन्तर पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है, जो इस प्रकार है—

---

१ In fact, Shiv and the worship of Linga and other features of popular Hinduism were well established in India long-long before the Aryans came.
—K. M Pannikkar, a survey of Indian history. p. 4

२ पद्मपुराण ३।२८७-२८८। आदिपुराण १८।७५। हरिवंशपुराण ६।२०४

माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्ण चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता ।।

अर्थात् दक्षिण वालो के माघ मास के उत्तर पक्ष की तथा उत्तर वालो के फाल्गुन मास के प्रथम पक्ष की कृष्णा चतुर्दशी शिवरात्रि कही गई है ।

उत्तर भारत वाले मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष से मानते है और दक्षिण वाले शुक्ल पक्ष से मानते है । वस्तुत. दक्षिण भारत वालो का जो माघ कृष्णा चतुर्दशी है, वही उत्तर भारत वालो की फाल्गुण कृष्णा चतुर्दशी है । ईशान सहिता में शिवलिग के उदय की तिथि स्पष्ट शब्दो मे माघ कृष्णा चतुर्दशी बताई है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है ।

गंगावतरण—जैन मान्यता है कि गगानदी हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर से निकल कर पहले पूर्व की ओर और फिर दक्षिण की ओर बहती है । वहा गगाकूट नामक एक चबूतरे पर जटाजूट मुकुट से सुशोभित ऋषभदेव की प्रतिमा है । उस पर गगा की धारा पडती है । मानो गगा उनका अभिषेक ही कर[1] रही हो । इसी प्रकार शिवजी के बारे मे मान्यता है कि गगा जब आकाश से अवतीर्ण हुई तो शिवजी की जटाओ मे आकर गिरी और वही बहुत समय तक विलीन रही ।

त्रिशूल और अन्धकासुर—जैन शास्त्रो मे ऋषभदेव के केवल ज्ञान-प्राप्ति के सिलसिले में अनेक स्थानों पर आलकारिक वर्णन मिलता है कि उन्होने त्रिरत्न (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) रूप त्रिशूल से मोहनीय या मोहासुर का नाश किया अथवा शुद्ध लेश्या के त्रिशूल से मोह रूप अन्धकासुर[2] का वध किया ।

इसी प्रकार शिवजी त्रिशूलधारी और अन्धकासुर के सहारक माने गये है । इसीलिए शिव-मूर्तियो के साथ त्रिशूल और नरकपाल बनाये जाते है ।

लिग पूजा - तीर्थंकरो के गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवल ज्ञान और निर्वाण कल्याणक जहा होते है, वे स्थान क्षेत्र मगल और कल्याणक भूमियां मानी जाती है । ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत मे निर्वाण प्राप्त किया । कैलाश का आकार लिग जैसा है । चक्रवर्ती भरत ने कैलाश के आकार के घण्टे बनवाये थे और उन पर ऋषभदेव की प्रतिमा उत्कीर्ण कराई थी । तिब्बती भाषा मे लिग-पूजा का अर्थ क्षेत्र-पूजा होता है । कैलाश तिब्बती क्षेत्र मे है । तिब्बती कैलाश क्षेत्र को पवित्र मानते थे । जिसे वे लिग-पूजा कहते थे । शिव-भक्त भी लिग-पूजा करते है । प्राचीन काल मे लिग-पूजा मे कैलाश पर्वत की पूजा का ही आशय था । किन्तु जब शैव धर्म तान्त्रिको के हाथो मे पड गया, तब लिग क्षेत्र के अर्थ मे न रहकर पुरुष की जननेन्द्रिय के अर्थ मे लिया जाने लगा । इतना ही नही, उन्होने पर्वत पर तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त हुई आत्म-सिद्धि को पार्वती नाम से एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व दे दिया और पुरुष लिग के साथ स्त्री की भग-पूजा की कल्पना कर डाली ।

१ आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड मउड सेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिम्म गगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ।।
तिलोय पण्णत्ति ४।२३०
सिरिगिह सीसट्ठिय बुजकण्णिय सिहासण जडामडल ।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गगा ।।
त्रिलोकसार ५९०

२ तिरयण-तिसूल धारिय मोहधासुर कबध विदहरा ।
सिद्ध सयलप्परुवा अरिहता दुण्णय कयता ।
—धवलत सिद्धान्त ग्रन्थ, वीर सेनाचार्य
शुद्ध लेश्या त्रिशूलेन मोहनीय रिपुर्हत: ।
—हरिवशपुराण

इस प्रकार ऋषभदेव और शिवजी के रूप मे जो अद्भुत समानता दिखायी पडती है, वह संयोग मात्र अथवा आकस्मिक नही है। बल्कि लगता है, दोनो व्यक्तित्व पृथक्-पृथक नही है, एक ही है। इन्दौर आदि कई म्यूजियमो में योगलीन शिव मूर्तियो और ऋषभदेव की ध्यानलीन मूर्तियो को देखने पर कोई अन्तर नही दिखाई पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि शिव जी के चरित्र का जो कवित्व की भाषा मे आलकारिक वर्णन किया गया है, यदि उस परत को हटा कर चरित्र की तह मे भाके तो वे ऋषभदेव दिखाई देने लगेगे। ऋषभदेव ने तपस्या करते हुए कामदेव पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी, शिवजी ने कामदेव का सहार किया था। क्या अन्तर है दोनों मे ? शिवजी के जिस तृतीय नेत्र और उनके सहारक रूप की कल्पना की गई है, वही ऋषभदेव का आत्मज्ञान रूप तृतीय नेत्र है, जिसके द्वारा उन्होने राग-द्वेष-मोह का सहार किया।

अत यह असदिग्ध रूप मे स्वीकार किया जा सकता है कि ऋषभदेव और शिवजी नाम से ही भिन्न है, वस्तुत भिन्न नही है। इसीलिए शिवपुराण ७।२।६ मे ऋषभदेव को शिव के अट्ठाईस योगावतारो में नौवा अवतार स्वीकार किया गया है।

ऋषभदेव और ब्रह्मा

विष्णुपुराण हिन्दू पुराणो मे विशिष्ट स्थान रखता है। इसके रचयिता श्री पराशरजी है। इसके प्रथम अश अध्याय चार से छह मे ब्रह्माजी की उत्पत्ति और लोक-रचना का विशद वर्णन किया गया है। इसमे बताया है कि ब्रह्माजी नाभिज है। उनकी पुत्री सरस्वती है। वे चतुर्मुख है अर्थात् उनके चार मुख है। उन्होने इस सृष्टि की रचना की, सृष्टि की रचना मे भगवान तो केवल निमित्त मात्र ही है। क्योंकि उसकी प्रधान कारण तो सृज्य पदार्थों की शक्तिया ही है। वस्तुओ की रचना मे निमित्त मात्र को छोडकर और किसी बात की आवश्यकता भी नही है क्योंकि वस्तु तो अपनी ही शक्ति से वस्तुता को प्राप्त हो जाती है।

ब्रह्माजी ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की। उन्होंने कृत्रिम दुर्ग, पुर तथा खर्वट आदि स्थापित किये। कृषि आदि जीविका के साधनों के निश्चित हो जाने पर प्रजापति ब्रह्मा जी ने प्रजा के स्थान और गुणो के अनुसार मर्यादा, वर्ण और आश्रमों के धर्म तथा अपने धर्म का भली प्रकार पालन करने वाले समस्त वर्णों के लोक आदि की स्थापना की।

जैन पुराणो के अनुसार ऋषभदेव भी नाभिज अर्थात् नाभिराज से उत्पन्न हुये थे। उनकी पुत्री का नाम ब्राह्मी था। ब्राह्मी और सरस्वती पर्यायवाची शब्द है। ऋषभदेव जब समवसरण मे विराजमान होते थे तो उनके चारो दिशाओं मे मुख दिखाई देते थे। उन्होने कृषि आदि षट्कर्मो का उपदेश दिया, ग्राम-नगर, खेट आदि की स्थापना की, वर्ण-व्यवस्था स्थापित की।

एक उल्लेख योग्य बात यह है कि आदि ब्रह्मा के अनेका नाम पुराणो और कोशो मे मिलते है—जैसे हिरण्यगर्भ, प्रजापति, चतुरानन, स्वयम्भू, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, लोकेश, अज आदि। जैन पुराणो मे ऋषभदेव के लिये भी इन नामो का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। ब्रह्मा के नामो मे परमेष्ठी शब्द हमारा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित करता है। जैन परम्परा का तो यह पारिभाषिक शब्द है, जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनियो के लिये प्रयुक्त होता है और जो इस युग की आदि मे सर्व प्रथम ऋषभदेव के लिये ही प्रयुक्त हुआ था।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार ब्रह्मा और ऋषभदेव के नामो और कामो की समानता देख कर यह विश्वास करना पडता है कि ब्रह्मा और ऋषभदेव एक ही व्यक्ति के दो नाम है।

वैदिक साहित्य के वातरशना तथा केशी और भगवान ऋषभदेव— श्रीमद्भागवत मे ऋषभावतार के उद्देश्य के सम्बन्ध मे जो स्पष्ट विवरण दिया है—जैसा कि पूर्व मे निवेदन किया जा चुका है, वह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। उसमे बताया है—

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभे प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार॥ ५।३।२०

अर्थात् हे विष्णुदत्त परीक्षित ! यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्री भगवान महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास मे महारानी मेरुदेवी के गर्भ से वातरशना (दिगम्बर) श्रमण ऋषियो और ऊर्ध्वरेता मुनियो का धर्म प्रगट करने के लिए शुद्ध सत्त्वमय विग्रह से प्रगट हुए।

इस उल्लेख मे यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषभदेव की मान्यता और पूज्यता के सम्बन्ध में जैनो और हिन्दुओं मे कोई मतभेद नही है। जैसे वे जैनियों के प्रथम तीर्थंकर है, उसी प्रकार वे हिन्दुओ के लिए साक्षात् विष्णु भगवान के अवतार है। दूसरी बात यह है कि प्राचीनता की दृष्टि से ऋषभदेव का अवतार राम और कृष्ण से भी प्राचीन माना गया है। और इस अवतार का उद्देश्य वातरशना श्रमण मुनियों के धर्म को प्रगट करना बतलाया गया है। भागवत पुराण में यह भी बताया गया है कि

'अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः ॥ ५।६।१२ ॥

अर्थात् भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुये लोगो को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था।

जिन वातरशना और ऊर्ध्वरेता श्रमण मुनियो के धर्म को प्रगट करने और कैवल्य की शिक्षा देने के लिये ऋषभदेव का अवतार हुआ वे वातरशना मुनि यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थे। उनका उल्लेख भारत के प्राचीनतम माने जाने वाले ग्रन्थ वेदो मे भी मिलता है। एक सूक्त में वातरशना मुनियो की कठोर साधना का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

'मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनेयेन वाता आतास्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ॥

—ऋग्वेद १०।१३६।२-३

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते है जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते है। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते है अर्थात् रोक लेते है, तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते है। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड करके हम मौन वृत्ति मे उन्मत्तवत् वायु भाव को प्राप्त होते है और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यतर स्वरूप को नही (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रगट करते है।

ऋग्वेद मे इन ऋचाओ के साथ केशी की स्तुति की गई है—

'केश्यग्नि केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥

—ऋग्वेद १०।१३६।१

अर्थात् केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वो का दर्शन करता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति कहलाता है।

जहाँ वातरशना मुनियों की स्तुति की गई है, वही केशी की यह स्तुति की गई है। ऐसा लगता है कि केशी इन वातरशना मुनियो के प्रधान थे। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के वातरशना श्रमण ऋषि एक ही है, इसमे कोई सन्देह नही है। और यह भी असदिग्ध तथ्य है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनियों मे श्रेष्ठ केशी और भागवत के सब ओर लटकते हुये कुटिल, जटिल, कपिश केशो[1] वाले ऋषभदेव भी एक ही व्यक्ति है। ऋग्वेद मे उन्हे केशी कहा है और उसमे उनकी जटाओ की ओर सकेत किया है। भागवत मे ऋषभदेव के कुटिल, जटिल, कपिश केशो का भार बताया है। और जैन पुराणो मे उन्हे लम्बी जटाओं के भार से सुशोभित बताया है।

१ श्रीमद्भागवत ५।६।३१

२ पद्मपुराण ३।२८८, हरिवंश पुराण ६।२०४

ऋग्वेद के केशी ऋषभदेव ही थे, इसका समर्थन भी ऋग्वेद की निम्न ऋचा से होता है—

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।

दुधर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥ ऋग्वेद १०।१०२।६

अर्थात् मुद्गल ऋषि के सारथी (नेता) केशी वृषभ, जो शत्रु का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उन की वाणी निकली अर्थात् उन्होने उपदेश किया। जिसके फलस्वरूप मुद्गल ऋषि की जो गाये (इन्द्रियो) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड रही थी, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पडी।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक साहित्य मे जिन वातरशना मुनियो का वर्णन मिलता है, वे दिगम्बर जैन श्रमण मुनि है और जहा केशी का वर्णन आया है, वह केशी अन्य कोई नही, ऋषभदेव ही है।

भगवान ऋषभदेव का व्यक्तित्व अत्यन्त सशक्त और तेजस्वी था। उनकी मान्यता देश और काल की सीमाओ का अतिक्रमण करके देश-देशान्तरो में फैल गई। वे किसी एक सम्प्रदाय, जाति और धर्म के नेता नही थे।

जैनेतर ग्रन्थों मे ऋषभदेव

वे तो कर्म और धर्म दोनो के ही आद्य प्रस्तोता थे। सास्कृतिक चेतना और बौद्धिक जागरण के आद्य प्रेरक वे ही थे। मानव की आद्य सभ्यता को एक दिशा देने का महान् कार्य उन्होने किया था। सारा मानव समाज उनके अनुग्रहो और उपकारो के लिये चिर ऋणी था। वर्ग, जाति और वर्ण के भेदभाव के बिना सारी मानव जाति उन्हे अपना उपास्य मानती थी। उनके विविध कार्यकलापो और रूपो को लेकर विभिन्न देशो और कालो मे उनके विविध नाम प्रचलित हो गये। शिव महापुराण मे उन्हे अट्ठाईस योगावतारो मे एक अवतार माना। श्रीमद्भागवत मे उन्हे विष्णु का आठवा अवतार स्वीकार किया। वेदो मे ऋषभदेव की स्तुति विविध रूपो मे विभिन्न नामो से की गई है। अनेक ऋचाओ मे उनकी स्तुति अग्नि, मित्र, यम आदि नामो से की गई है। ताण्ड्य,[1] तैत्तिरीय[2] और शतपथ[3] ब्राह्मण में अग्नि के नाम से उन्हे आद्य (आदि पुरुष) मिथुनकर्त्ता (विवाह प्रथा के प्रचलन कर्त्ता, ब्रह्म, पृथ्वीपति, धाता, ब्रह्मा, सर्वविद् (सर्वज्ञ) कहा गया है। वेदो मे उन्हे जातवेदस (जन्म से ज्ञान सम्पन्न) रत्नधाता, विश्ववेदस (विश्व को जानने वाला) मोक्षनेता और ऋत्विज (धर्म सस्थापक) बताया गया है। वेदो में अनेक स्थानो पर वृषभदेव की स्तुति की गई है। यहा उनमे से कुछ मन्त्र दिये जा रहे है, जिनका देवता ऋषभ है—

त्वं रथ प्रभसे योधमृष्वमावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम्।

त्व तुग्रं वेतसवे स चाहन्त्व तुजि गृणन्तमिन्द्र तू तो ॥

—ऋग्वेद ४। ६। २६। ४

इसका आशय यह है कि युद्ध करते हुए ऋषभ को इन्द्र ने युद्ध सामग्री और रथ प्रदान किया।

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्या.

—अथर्ववेद १६ वा काण्ड, प्रजापति सूक्त।

इन्द्र द्वारा राज्य मे वर्षा नही होने दी। तब वृषभदेव ने खूब जल बरसाया।

इसी ऋचा का आशय लेकर महाकवि सूरदास ने सूरसागर मे लिखा है—

इन्द्र देखि ईरषा मन लायो। करिके क्रोध न जल बरसायो।
ऋषभदेव तब ही यह जानी। कह्यो इन्द्र यह कहा मन आनी ॥
निज बल जोग नीर बरसायो। प्रजा लोग अति ही सुख पायो ॥

ऋषभदेव की स्तुति परक अनेक मन्त्र भी वेदो में मिलते है—

१. ताण्ड्य ब्राह्मण २५।६।३
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।२।३, ३।११।४।१, ३।३।१०।२
३. शतपथ ब्राह्मण १०।४।१।५, ६।२।१।८

अहो मुचं वृषभ याज्ञिमानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम् ।
अपां न पातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियंदत्तभोजः ।।

अथर्ववेद १६।४२।४

सम्पूर्ण पापो से मुक्त तथा अहिसक व्रतियो के प्रथम राजा, आदित्य स्वरूप श्री ऋषभदेव का मैं आवाहन करता हूं। वे मुझे बुद्धि एव इन्द्रियो के साथ बल प्रदान करे।

अनर्वाणं वृषभं मन्द्र जिह्व वृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्के ।

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६० मन्त्र १०

मिष्ट भाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ की पूजा साधक मन्त्रो द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नही छोड़ते।

एव वभ्रो ृषभ चेकितान यथा हेव न हृणीषे न हंसि ।।

ऋग्वेद २।३३।१५

हे शुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ ! हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हो।

इसी प्रकार प्राय सभी हिन्दू पुराणो मे ऋषभदेव का चरित्र वर्णन किया गया है और उन्हे भगवान का अवतार माना है।

ब्रह्माण्ड पुराण २।१४ मे उन्हे राजाओ मे श्रेष्ठ और सब क्षत्रियो का पूर्वज कहा है—

'ऋषभं पार्थिव श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम् ।'

महाभारत (शान्ति पर्व १२।६४।२०) मे उन्हे क्षात्रधर्म का आद्य प्रवर्तक बताया है—

'क्षात्रो धर्मो ह्यादि देवात् प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ।'

श्रीमद्भागवत्र में एक स्थान पर परीक्षित ने कहा है—

धर्म ब्रबीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।
यदधर्मकृतः स्थान सूचकस्यापि तद्भवेत् ।।

श्रीमद्भागवत १।१७।२२

अर्थात् हे धर्मज्ञ ऋषभदेव ! आप धर्म का उपदेश करते है। आप निश्चय मे वृषभ रूप से स्वय धर्म है। अधर्म करने वाले जो नरकादि स्थान प्राप्त होते है, वे ही स्थान आपकी निन्दा करने वाले को मिलते है।

इसी शास्त्र मे ऋषभदेव एक स्थान पर अपने नाम की सार्थकता बताते हुए कहते है—

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं सत्वं हि मे हृदय यत्र धर्मः ।
पृष्ठे वृतो मे यदधर्मआराद् अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ।। ५।५।१६

अर्थात् मेरे इस अवतार शरीर का रहस्य साधारण जनो के लिये बुद्धिगम्य नही है। शुद्ध सत्व ही मेरा हृदय है और उसी मे धर्म की स्थिति है। मैने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे की ओर धकेल दिया है। इसी से सत्पुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते है।

बौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव की चर्चा बडे आदरसूचक शब्दो मे की गई है—

'प्रजापतेः सुतो नाभिः तस्यापि सुतमुच्यते । नाभिनो ऋषभ पुत्रो वै,
सिद्धकर्म-दृढव्रतः ।। तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हेमवते गिरौ ।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः ।

आर्यमन्जु श्री मूल श्लोक ३६०-६२

अर्थात् प्रजापति के पुत्र नाभि हुए। उनके पुत्र ऋषभ थे जो कृतकृत्य और दृढव्रती थे। मणिचर उनका यक्ष था। हिमवान् पर्वत पर वे सिद्ध हुए। उनके पुत्र का नाम भरत था।

इसी प्रकार 'धम्मपद' ४२२ मे ऋषभदेव को 'उसभ पवर वीर' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है।

वास्तविकता यह है कि ऋषभदेव का व्यक्तित्व सार्वभौम रहा है। उनकी इस सार्वभौम ख्याति और मान्यता के कारण भारत के सभी प्राचीन धर्मों ने उन्हे समान रूप से अपना उपास्य माना है। ऋषभदेव को जो स्थान और महत्त्व जैन धर्म मे प्राप्त है, वही स्थान और महत्त्व उन्हें वैदिक धर्म में भी प्राप्त है। एक मे उन्हे आद्य तीर्थकर मानकर मोक्ष-मार्ग के प्रणेता स्वीकार किया है तो दूसरे मे उन्हे भगवान का अवतार मानकर मोक्ष-मार्ग के आद्य प्रणेता माना गया है। वेदो मे उनका वर्णन आलकारिक शैली में किया गया है तो हिन्दू पुराणो मे उनके चरित्र मे कुछ अतिरजना करदी। इन दोनो ही बातो की परत उघाड कर हम झाके तो इनमें भी वही चरित्र मिलेगा जो जैन पुराणो मे है। इसलिये हमारा विश्वास है कि जैन और वैदिक धर्मों की दूरी को कम करने के लिये भगवान ऋषभदेव की मान्यता एक सुदृढ सेतु बन सकती है।

भावनात्मक एकता के प्रतीक ऋषभदेव

भरत-बाहुबली-खण्ड

१३. भरत की धर्म-रुचि

पुत्रोत्पत्ति, चक्रोत्पत्ति और भगवान को केवलज्ञान-प्राप्ति के तीन समाचार एक समय में—एक दिन भरत महाराज राजदरबार मे बैठे हुए थे। तभी धर्माधिकारी पुरुष ने आकर समाचार दिया—'परम भट्टारक महाराज की जय हो। तीन लोक के स्वामी भगवान ऋषभ देव को केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई है। पुरिमताल नगर के उद्यान में इन्द्र और देव भगवान का केवलज्ञान कल्याणक मनाने के लिये एकत्रित हुए है।' इसी समय आयुध-शाला की रक्षा करने वाले अधिकारी पुरुष ने सम्राट् का अभिवादन करते हुए उच्च स्वर से निवेदन किया—'सम्राट् का यश-वैभव दिगन्त व्यापी हो। आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है।' अभी सैनिक अधिकारी निवेदन समाप्त भी नही कर पाया था कि अन्त पुर के कञ्चुकी ने सम्राट् के चरणो मे झुककर एक और हर्ष समाचार सुनाया—'देव के कुल और वैभव की वृद्धि हो। देव के पुत्र-रत्न का उत्पत्ति हुई है।'

तीनो कार्य एक साथ हुए। तीनो के समाचार एक साथ आये। सुनकर सम्राट् एक क्षण के लिये विचार मग्न होगये—तीनो ही हर्ष समाचार है। फिर इनमे से किसका उत्सव पहले करना चाहिये। ये तीनों समाचार क्रमश धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ के फल है। भगवान के केवल ज्ञान की प्राप्ति का समाचार धर्म का परिणाम है। चक्ररत्न की प्राप्ति अर्थ-पुरुषार्थ का फल है क्योकि चक्र से ही अर्थ-प्राप्ति होगी। इसी प्रकार पुत्रोत्पत्ति का समाचार काम पुरुषार्थ का फल है। किन्तु वस्तुत तो ये तीनों ही धर्म के साक्षात् फल है। इन सबका मूल धर्म है। अत सबसे प्रथम धर्म-कार्य करना चाहिये।

प्रथम कैवल्य-पूजा, सांसारिक कार्य बाद मे—सम्राट् ने तीनो कार्यो मे धर्म को प्रमुखता दी। अत उन्होने भगवान के केवलज्ञान की पूजा करने का निश्चय किया। वे अपने आसन से उठे और सात पग चलकर वही से भगवान की भाव वन्दना की। फिर उन्होने नगर मे घोषणा कराई कि भगवान ऋषभदेव को लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। महाराज भरत बन्धु बान्धवो सहित भगवान के दर्शनो के लिये प्रस्थान कर रहे है। सब नगरवासी भी महाराज के साथ जाकर भगवान के दर्शनो का पुण्य-लाभ ले।'

राजकीय घोषणा को सुनकर परिजन और पुरजन सभी एकत्रित हो गये। तब महाराज भरत अपने बन्धुओ, अन्त पुर की स्त्रियो और नागरिको के साथ सेना लेकर और पूजा की बडी भारी सामग्री लेकर रवाना हुए। लोग विविध वाहनो पर चल रहे थे। सेना मे विविध प्रकार के वाद्य बज रहे थे। विविध प्रकार की ध्वजाये फहरा रही थी। जब भरत पुरिमताल नगर के बाहर पहुचे तो सबने एक अदृष्टपूर्व दृश्य देखा; समवसरण लगा हुआ था; त्रैलोकेश्वर भगवान अशोक वृक्ष के नीचे गन्ध कुटी में विराजमान है। भरत ने सर्व प्रथम समवसरण की प्रदक्षिणा दी। फिर वे द्वार से भीतर प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होने मानस्तम्भो की पूजा की। फिर वे समवसरण की

शोभा देखते हुए आगे बढे। वे जैसे जैसे आगे बढते जा रहे थे, उनका आश्चर्य भी उसी क्रम से बढ रहा था। एक अद्भुत ससार की सृष्टि निमिष मात्र में हो गई, जहा ससार का सम्पूर्ण वैभव विद्यमान है किन्तु उस वैभव को देखकर वैभव प्राप्ति की मन मे कोई ललक नही, अपितु सम्पूर्ण वातावरण मे धर्म की सुरभि व्याप्त है। सासारिक कामनाये मानो समवसरण के द्वार मे ही लौट गई हो क्योकि समवसरण के भीतर उनका प्रवेश वर्जित है।

जब भरत आश्चर्य विमुग्ध होकर परिखा, वन, स्तूप आदि को देख रहे थे, तब द्वारपाल देव आये और वे भरत को मार्ग दिखाते हुए समवसरण मे ले गये। वहा भरत ने श्रीमण्डप की विभूति को देखा। वे प्रथम पीठिका पर चढे और प्रदक्षिणा दी। वहा उन्होने धर्म चक्रो की पूजा की। फिर उन्होने द्वितीय पीठ पर स्थित धर्म-ध्वजाओ की पूजा की। फिर उन्होने गन्धकुटी मे विराजमान और अष्ट प्रातिहार्यों से विभूषित देवाधिदेव भगवान ऋषभ-देव की भक्ति भावपूर्वक पूजा की। भगवान अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान थे। उनके ऊपर तीन छत्र सुशोभित थे। उनके ऊपर निरन्तर पुष्पवृष्टि हो रही था। आकाश मे देव-दुन्दुभियो का मधुर नाद हो रहा था। भगवान की अतिशय गम्भीर दिव्य ध्वनि खिर रही थी। भगवान के शरीर से दिव्य स्निग्ध प्रभा विकीर्ण होरही थी। भगवान के दोनों ओर चमर ढुर रहे थे। और वे महार्घ्य आसन पर विराजमान थे। भगवान के इस दिव्य रूप को देखकर भरत भक्ति विह्वल हो गए। उनके हृदय में भक्ति को उत्ताल तरग प्रवाहित होने लगी। भक्ति का आवेग शब्दो में फूट पडा और वे भगवान की स्तुति करने लगे। समस्त देव आश्चर्यपूर्वक भरत को देखने लगे।

जब भरत स्तुति कर चुके, तब वे पीठिका से उतर कर मनुष्यो के कक्ष मे जाकर बैठ गए। सारी सभा स्तब्ध होकर भगवान के मुख की ओर देख रही थी। उस समय भरत ने हाथ जोडकर भगवान से धर्म का स्वरूप पूछा। तब भगवान की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई। उन्होने धर्म का स्वरूप, धर्म के साधन, मार्ग और उसका फल विस्तारपूर्वक बताया। भगवान का उपदेश सुनकर भरत महाराज ने सम्यग्दर्शन की शुद्धि और अणुव्रतो की परम विशुद्धि को प्राप्त किया। अर्थात् उन्होने श्रावक के पाच अणुव्रत और सप्तशील धारण किए। अन्य अनेक लोगों ने मुनि-दीक्षा धारण की। कुछ ने श्रावक के व्रत लिए। भरत के लघु भ्राता पुरिमताल नगर के स्वामी वृषभसैन ने मुनि-दीक्षा ले ली और वह भगवान का मुख्य गणधर बना।

समवसरण से लौटने पर भरत ने पुत्र जन्मोत्सव मनाया और चक्ररत्न की पूजा की।

१४. भरत की दिग्विजय

भगवान ऋषभदेव को फाल्गुन कृष्णा एकादशी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। उसके कुछ दिनो के पश्चात् भरत भगवान के दर्शनो के लिए गया था। और वहाँ से आकर पुत्र जन्म का उत्सव मनाया था तथा चक्ररत्न की पूजा की थी। इसी प्रकार राज कार्य करते हुए शरद ऋतु आ गई। भरत का प्रभाव निरन्तर बढता जाता था। उन्होने अनेक उद्धत और प्रतापी राजाओ को अपने वश में कर लिया था। तभी उन्होने निश्चय किया कि इस विस्तृत अजनाभ वर्ष को विजय करके सम्पूर्ण देश की राजनैतिक एकता स्थापित की जाय।

दिग्विजय द्वारा चक्रवर्ती पद

यह निश्चय करके उन्होने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। उन्होने उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किया। सिर पर मुकुट धारण किया। वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि और कानो मे कुण्डल पहने। उनके ऊपर रत्न निर्मित छत्र सुशोभित था। उनके दोनो ओर वाराङ्गनाये चमर ढोर रही थी। वे स्वर्ण निर्मित और रत्नखचित रथ में जाकर विराजमान हो गए। उनके आगे पीछे चारो ओर मुकुटबद्ध राजा लोग थे। उनके साथ एक विशाल

सेना थी। सबसे आगे पदाति सेना चल रही थी। उसके पीछे क्रमशः अश्व, रथ और हाथियो पर आरूढ़ सेना थी। सेना की प्रत्येक टुकडी की अपनी अलग ध्वजा थी। जब महाराज भरत नगर में होकर निकले, उस समय मकानों के गवाक्षो से सुन्दरियों ने उन पर पुष्प और लाजा की वर्षा की। चारो ओर महाराज का जय जयकार हो रहा था। सेना के आगे आगे सूर्य मण्डल के समान देदीप्यमान और देवो द्वारा रक्षित चक्ररत्न चल रहा था। सारी सेना चक्ररत्न के पीछे पीछे चल रही थी। चक्ररत्न और दण्डरत्न दोनो ही एक-एक हजार देवो से रक्षित दिव्य अस्त्र होते है।

सबसे पहले वे पूर्व दिशा की ओर गये। सेना के आगे-आगे सेनापति दण्ड रत्न की सहायता से मार्ग को सुगम और समतल बनाता जा रहा था। उन्होने गगा नदी के तट पर पडाव डाला। मार्ग में जितने राजा मिले, वे रत्नो का उपहार और यौवनवती कन्याओ को लेकर सम्राट् की सेवा मे उपस्थित हुए।

दूसरे दिन महाराज भरत विजय पर्वत नामक हाथी पर सवार होकर चले। सेनापतियो ने राजमुद्राङ्कित आदेश सारी सेना मे प्रचारित किया कि आज समुद्र-तट पर चलकर ही विश्राम करना है, इसलिए सेना को शीघ्रता-पूर्वक प्रयाण करना है।' इस आदेश के प्रचारित होते ही सेना ने त्वरित गति मे प्रयाण किया। मार्ग मे अनेक भयभीत राजाओ ने आकर भरत महाराज को प्रणाम किया और उनकी अधीनता स्वीकार की। कोई राजा महाराज भरत से युद्ध करने का साहस नही करता था, इसलिए इन्हे किसी से सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय नही करने पडते थे। भरत ने न तो कभी तलवार पर अपना हाथ लगाया और न कभी धनुष पर प्रत्यचा ही चढाई। अनेक म्लेच्छ राजाओ ने उन्हे हाथी दात, गज मुक्ता, चमरी गाय के बाल और कस्तूरी भेट की। मार्ग में सेनापति ने महाराज की आज्ञा से अन्तपालो के सहस्रो किलो को अपने अधिकार मे किया। अन्तपालो ने रत्न, सुवर्ण आदि भेटकर भरत की आज्ञा स्वीकार की। इस प्रकार मार्ग के सभी राजाओं को अपने वशवर्ती बनाते हुए गगासागर के तट पर पहुचे। वहा गगा के उपवन की वेदिका के उत्तर द्वार मे प्रवेश करके वन मे पहुच कर सेना ने विश्राम किया।

भरत महाराज सेना को सेनापति के सुपुर्द करके अकेले ही, दिव्य अस्त्रो से सुसज्जित होकर अजितजय रथ मे बैठकर समुद्र विजय के लिये चल दिए। उनका रथ स्थल और जल सर्वत्र समान रूप से चल सकता था। उन्होने सारथी को जल मे रथ को चलाने का आदेश दिया। उनके आदेशानुसार सारथी ने समुद्र मे रथ बढाया। रथ बारह योजन तक समुद्र मे चला गया। तब भरत ने एक दिव्य बाण धनुष पर सन्धान किया, जिस पर लिखा हुआ था कि 'मैं वृषभदेव तीर्थंकर का पुत्र भरत चक्रवर्ती हू। इसलिए मेरे उपभोग के योग्य क्षेत्र मे रहने वाले सब व्यंतर देव मेरे अधीन हो।' वह बाण सनसनाता हुआ मागध देव के महल के आगन मे जाकर गिरा। उसे देखते ही सम्पूर्ण व्यन्तरो मे आतक व्याप्त होगया। भयभीत मागध देव व्यन्तरो के परिकर सहित उस बाण को रत्न मजूषा मे रखकर भागा हुआ भरत के निकट आया और उन्हे अनर्घ्य रत्न भेटकर उनकी आधीनता स्वीकार की। इसके पश्चात् भरत पुन अपने स्कन्धावार मे लौटे।

अगले दिन सेना ने प्रस्थान किया। सेना महाराज के आदेशानुसार समुद्र के किनारे-किनारे चली। चक्रवर्ती का आगमन सुनकर राजा लोग छत्र-मुकुट त्याग कर चक्रवर्ती का स्वागत करने अपने राज्य की सीमा पर भेट लिए उपस्थित हो जाते। जो भोगी विलासी राजा थे, भरत ने उन्हे सत्ताच्युत करके उनके स्थान पर कुलीन पुरुषो को राज्य शासन सोपा। अनेक राजा भय के कारण राज्य छोडकर भाग गए। जिसने तनिक भी शत्रुता प्रदर्शित की, भरत ने उनके राज्य, धन, सपत्ति छीन ली। कोई अन्यायी राजा बच नही सका। अनुकूल राजाओ को अभय देकर भरत ने सम्मानित किया।

सेनापति ने बिना किसी प्रतिरोध के अग, वग, कलिग, कुरु, अवन्ती, पांचाल, काशी, कोशल, विदर्भ, कच्छ, चेदि,वत्स, सुह्म, पुण्ड्र, ओण्ड्र, गौड, दशार्ण, कामरूप, कश्मीर, उशीनर, और मध्यदेश के राजाओ को अपने वश मे कर लिया। उसने कालिन्द, कालकूट, भिल्ल देश और मल्लदेश में पहुच कर उनसे अपनी आज्ञा मनवाई। उसकी सेना के हाथियों ने हिमवान पर्वत के निचले भाग से लेकर वैभार और गोरथगिरि पर स्वच्छन्द विचरण

किया। वे हाथी सुमागधी, गगा, गोमती, कपीवती, रथास्फा, गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा और निचुरा नदियो तथा लोहित्य समुद्र और कम्बुक नामक सरोवरो में घूमे थे। इन हाथियो ने उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना नदी के जल का निर्बाध पान किया था। इन विजयी हाथियो ने ऋष्यमूक, कोलाहल, माल्य और नागप्रिय पर्वतो को रौद डाला। इन्होने चेदि और ककूश देश के हाथियो को परास्त कर दिया।

भरत की सेना के तीव्रगामी घोडे शोण नदी के दक्षिण और नर्मदा नदी के उत्तर ओर बीजा नदी के दोनों ओर और मेखला नदी के चारो ओर घूमे थे।

भरत ने पूर्वदिशा के सब राजाओ को जीतकर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया। दक्षिण में भरत ने त्रिकलिग, ओड्र, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाग देश के राजाओ पर विजय प्राप्त की। उन्होने कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पाड्य और अन्तर पाड्य देश के राजाओ के मस्तक अपने चरणो मे नवाये। चक्रवर्ती की आज्ञानुसार उनका सेनापति जयकुमार तैला, इक्षुमती, नक्रखा, वगा, श्वसना, वैतरणी, माषवती, महेन्द्रका, गोदावरी, सुप्रयोगा, कृष्णवेणा सन्नीरा, प्रवेणी, कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका, और अम्बर्णा नदियो को पार कर उनके तटवर्ती राजाओ को आज्ञानुवर्ती बनाता हुआ कर्णाटक, आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य आदि देशो को अपने आधीन करने में सफल हुआ। चक्रवर्ती ने समुद्र मे जाकर वरतनु नामक देव को जीता।

सम्पूर्ण दक्षिण देश को जीतकर महाराज भरत ने पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। वे सह्याद्रि को लाघकर समुद्र तट पर पहुचे। भीमरथी, दारुवेणा, नीरा, मूला, बाणा, केतवा, करीरी, प्रहरा, मुररा, पारा, मदना, गोदावरी, तापी, लागलखातिका आदि नदियो को उनकी सेनाओ ने आननफानन मे पार कर लिया। किसी का साहस नही हुआ जो उनका विरोध करता। सह्याद्रि को पाकर सेना विन्ध्याचल पर्वत पर पहुची। फिर वहा से बढती हुई वह सेना सिन्धु नदी के तट पर जा पहुंची और सम्पूर्ण पश्चिम दिशा के राजाओ को जीता।

इसके बाद भरत ने उत्तर दिशा की ओर अभियान किया। वे विजयार्ध पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ विजयार्धदेव चक्रवर्ती के दर्शनो के लिये आया और बहुमूल्य भेट देकर चक्रवर्ती को प्रसन्न किया तथा उनका अभिषेक किया। फिर विजयार्ध की वेदी पारकर म्लेच्छ देश मे पहुचे। वहा अनेक म्लेच्छ राजाओ ने चक्रवर्ती का प्रतिरोध किया। किन्तु सेनापति जयकुमार ने उन्हे आननफानन मे पराजित कर दिया। फिर सेना तमिस्रा नामक विशाल गुफा को पारकर मध्यम म्लेच्छ देश में पहुची। वहाँ चिलात और आवर्त देश के राजाओ ने चक्रवर्ती की सेना का संयुक्त होकर सामना किया। उन राजाओ के सहायक नागमुख और मेघमुख नामक दो देवो ने बडा उपद्रव किया। किन्तु जयकुमार सेनापति ने उन दोनो को युद्ध मे परास्त कर दिया। तभी मे उनका नाम मेघेश्वर पड गया। तब दोनो राजाओ ने भी आकर भरत की अधीनता स्वीकार करली। फिर चक्रवर्ती ने हिमवत कूट पर पहुँच कर हिमवान् पर्वत के राजाओ पर विजय प्राप्त की। फिर वे वृषभाचल पर्वत पैर पहुँचे। वहाँ भरत ने काकिणी रत्न से पर्वत की एक सपाट शिला पर अपना नाम अकित करना चाहा। उन्होने सोचा था कि समस्त पृथ्वी को जीतने वाला मै ही प्रथम चक्रवर्ती हूं। किन्तु जब उन्होने अपना नाम उस शिला पर लिखना चाहा तो उन्हे यह देख कर बडा आश्चर्य हुआ कि वहा नाम लिखने के लिये कोई स्थान नही है। वहाँ शिला पर असख्य चक्रवर्तियो के नाम उत्कीर्ण है। तब भरत का अभिमान नष्ट हो गया और उन्होने स्वीकार किया कि इस भरत क्षेत्र पर मेरे समान शासन और विजय करने वाले असख्य सम्राट् मुझसे पहले हो चुके है। तब उन्होने एक चक्रवर्ती की प्रशस्ति को अपने हाथ से मिटाया और अपनी प्रशस्ति अकित की।

इसके पश्चात् विजयार्ध पर्वत की उत्तर और दक्षिण श्रेणी के विद्याधर राजा भेट लेकर भरत की सेवा में उपस्थित हुए। ये दोनो राजा नमि और विनमि चक्रवर्ती के लिये उपहार मे सुन्दर कन्याये भी लाये थे। भरत ने राजा नमि की बहन सुभद्रा के साथ विद्याधरो की परम्परानुसार विवाह किया। यही सुभद्रा चक्रवर्ती के पटरानी पद पर प्रतिष्ठित हुई।

इस प्रकार चारो दिशाओ के सम्पूर्ण राजाओ पर विजय प्राप्त कर और सम्पूर्ण भरत क्षेत्र का चक्रवर्तित्व स्थापित कर विजय आनन्द का रसपान करते हुए चक्रवर्ती भरत अपनी विजयिनी सेना के साथ अयोध्या की ओर लौटे। इन्हे नव निधियो और चौदह रत्नो का लाभ प्राप्त हुआ था। सम्पूर्ण खण्ड को विजय करने मे भरत को साठ हजार वर्ष लगे। प्रयाण करते हुए भरत जब कैलाश पर्वत के समीप पहुँचे तो उनका हृदय जिनेन्द्रदेव की भक्ति से भर गया। वे जिनेन्द्रदेव की पूजा के उद्देश्य से कैलाश पर्वत पर पहुँचे। उनके साथ अनेक मुकुटवद्ध राजा चल रहे थे। कैलाश पर्वत पर पहुँच कर वे सवारी छोड कर पैदल ही चले। उन्होने दूर से ही जगद्गुरु ऋषभदेव का समवसरण देखा। वे वहाँ पहुँचकर धूलिसाल मे आगे बढे और मानस्तम्भ की पूजा की। फिर वापिका, कोट, अष्ट मगल द्रव्य, नाट्यशालाओ, वनो, चैत्य वृक्षो, ध्वजाओ, सिद्धार्थ वृक्षो, स्तूपो आदि का अवलोकन-पूजन करते हुए श्रीमण्डप मे विराजमान भगवान के दर्शन किये। उन्होने जमीन पर घुटने टेक कर भगवान को नमस्कार किया। फिर अष्ट द्रव्यो से भगवान की पूजा की। उनकी स्तुति की। फिर यथास्थान बैठकर भगवान के मुख से धर्म का स्वरूप सुना। फिर भक्तिपूर्वक भगवान को तथा वहा विराजमान समस्त मुनियो को नमस्कार कर उन्होने समवसरण से प्रस्थान किया और अपनी सेना के साथ चलते हुए वे यथासमय अयोध्या के निकट पहुँचे।

१५. भरत के भाई-बहनों का वैराग्य

भगवान ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थी—ब्राह्मी और सुन्दरी। ब्राह्मी भरत की बहन और नन्दा माता की पुत्री थी तथा सुन्दरी बाहुबली की बहन और सुनन्दा माता की पुत्री थी। इनकी दीक्षा के सम्बन्ध मे दिगम्बर परम्परा मे मान्य भगवज्जिनसेन कृत आदिपुराण मे केवल इतना उल्लेख मिलता है कि भगवान का उपदेश सुनकर पुरिमताल नगर मे दोनो ने भगवान के समीप दीक्षा धारण करली। आदिपुराण २४।१७५-१७७ के शब्दो मे 'भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्याओ के बीच मे गणिनी के पद को प्राप्त हुई थी। वह ब्राह्मी सब देवो के द्वारा पूजित हुई थी। उस समय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरदऋतु की नदी के शीलरूपी किनारे पर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हसी के समान सुशोभित हो रही थी। वृषभदेव की दूसरी पुत्री सुन्दरी को भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था, जिससे उसने भी ब्राह्मी के बाद दीक्षा धारण करली थी।' इस विवरण के अतिरिक्त और कोई विवाह या ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विवरण इनके सम्बन्ध मे इस पुराण मे नही मिलता।

ब्राह्मी और सुन्दरी का दीक्षा-ग्रहण

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा[1] मे ब्राह्मी का बाहुबली के साथ और सुन्दरी का भरत के साथ सम्बन्ध हुआ था। ब्राह्मी ने तो भगवान को केवलज्ञान होते ही दीक्षा ले ली किन्तु सुन्दरी इस समय दीक्षा नही ले सकी क्योकि भरत ने उसे इसकी अनुमति नही दी। भरत चाहता था कि षट्खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके जब मै चक्रवर्ती बन जाऊँ, तब सुन्दरी को पटरानी पद प्रदान किया जाय। किन्तु सुन्दरी के मन मे प्रबल वैराग्य भावना थी। जब भरत दिग्विजय के लिये गया तब उसने आचाम्ल तप करना आरम्भ कर दिया। साठ हजार वर्ष व्यतीत होने पर जब भरत सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीतकर वापिस आया तो बारह वर्ष महाराज्याभिषेक समारोह मे लग गये।

---

१ आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि तथा मलयगिरि वृत्ति

इससे निवृत्त होने पर एक दिन वह सुन्दरी के महलो मे पहुँचा तो उसे अत्यन्त कृशकाय देखकर भरत को अत्यन्त दु ख हुआ। सेवको से उसे इसका कारण ज्ञात हुआ तो उसने पूछा—सुन्दरी ! तुम गृहस्थ जीवन मे रहना चाहती हो अथवा दीक्षा लेना चाहती हो। सुन्दरी ने दीक्षा लेने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रगट की। तब भरत ने उसे ब्राह्मी के निकट दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान कर दी। इस प्रकार उसने भी दीक्षा लेली।

इस कथा के बावजूद श्वेताम्बर परम्परा ने भी दोनो को बाल ब्रह्मचारिणी माना है।

भाइयों का वैराग्य

चक्रवर्ती भरत अपनी विशाल वाहिनी के साथ अयोध्यापुरी के निकट पहुचा। नगरवासियो ने चिरकाल बाद वापिस लोटे अपने हृदयसम्राट् के स्वागत के लिए अयोध्यापुरी को खूब सजाया था। सारे राजमार्ग और वीथियाँ हाट और निगम तोरणो और वन्दनवारो से सजाये थे। राजमार्गो पर सुगन्धित चन्दन के जल का छिडकाव किया गया था। सौभाग्यवती स्त्रियो ने मगलकलश रखकर रत्नचूर्ण मे चौक पूरे थे। सारा नगर चक्रवर्ती के स्वागत के लिए पलक पावडे बिछाये हुए अधीरता से प्रतीक्षा कर रहा था। किन्तु समग्र शत्रुदल का विध्वस करने वाले चक्रवर्ती का चक्ररत्न गोपुर द्वार के बाहर ही ठहर गया। उस समय चक्ररत्न की रक्षा करने वाले देव इस अप्रत्याशित घटना से आश्चर्य-चकित रह गये।

सेनापति आदि प्रमुख लोगों ने इस घटना की सूचना चक्रवर्ती को दी। चक्रवर्ती भी इसका कुछ कारण नही खोज पाये। तब उन्होने पुरोहित को बुलाया और उससे पूछने लगे—'आर्य ! समस्त शत्रुदल का सहार करने वाला यह चक्ररत्न मेरे ही नगर के द्वार पर क्यो रुक गया है ? यह अन्दर प्रवेश क्यो नही करता ? जो समुद्र में, विजयार्ध की गुफाओ मे, पर्वतो और वनो मे कही नही रुका, वह अव्याहतगति यह चक्र मेरे ही घर के आगन मे क्यो रुक गया है ? आप दिव्य नेत्र है। चक्र के रुकने का कोई साधारण कारण नही हो सकता। आप विचार कर बताइये। आप ही इसके रुकने का कारण बता सकते है।

भरत के ऐसा कहने पर पुरोहित कुछ समय के लिए विचारमग्न हो गये। तब निमित्त-ज्ञान से इसका कारण जानकर बोले—'देव ! हम लोगों ने निमित्त-ज्ञानियो से सुना है कि जबतक दिग्विजय करना कुछ भी शेष रहता है, तब तक चक्ररत्न विश्राम नही लेता। व्यवहार मे न आपका कोई मित्र है और न शत्रु है। सब आपके सेवक है। तथापि अब भी कोई आपके जीतने योग्य रह गया है। आपने बाहरी राजाओ को जीत लिया है किन्तु आपके घर के लोग अब भी आपके अनुकूल नही है। आपने समस्त शत्रु-पक्ष को जीत लिया है किन्तु आपके भाई आपके प्रति नम्र नही है। उन्होने आपको नमस्कार नही किया है। आपके भाई आपके विरुद्ध खड हुए है और सजातीय होने से वे वध्य भी नही है। अत आप उनके पास दूत भेजिये जो बातचीत द्वारा उन्हे आपके अनुकूल बनावे।

पुरोहित के कथन को चक्रवर्ती बडे ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। उन्हे पुरोहित का यह परामर्श युक्तियुक्त लगा। उन्होने सोचा—बाहुबली महाबलवान है। उसे छोडकर शेष भाइयो के पास मै दूत भेजूंगा, यह विचार कर उन्होने योग्य नि सृष्टार्थ सब भाइयो के पास भेजे। सब भाइयो ने दूतो के सन्देश सुने। फिर वे परस्पर परामर्श करने के लिए एक स्थान पर एकत्रित हुए। उन्होने कहा—'भरत हमारे अग्रज है। वे पिता के समान पूज्य है। किन्तु पिता जी तो अभी विद्यमान है। यह वैभव भी उन्ही का दिया हुआ है। इसलिए हम लोग इस विषय मे पिताजी की आज्ञा के आधीन है, स्वतन्त्र नही है।' इस प्रकार राजजनोचित नीतिमत्तापूर्ण उत्तर देकर दूतो का यथोचित सम्मान किया और भरत के पत्र का उत्तर देकर और उनके लिए उपहार देकर दूतो को विदा किया।

तब सब भाई भगवान ऋषभदेव के पास कैलाश पर्वत पर पहुँचे। उन्होने भगवान के दर्शन किये, उनकी पूजा की। फिर निवेदन किया—हे देव ? आपने हमे जन्म दिया। आपसे हमे ससार के समस्त वैभव मिले। हम केवल आपकी प्रसन्नता के इच्छुक है। हम आपको छोडकर और किसी की उपासना नही करना चाहते। भरत हमे प्रणाम करने के लिए बुलाते है। किन्तु जो सिर आपके चरणो मे झुका है, वह अन्य किसी के चरणो मे नही झुक सकता। जिसमे किसी अन्य को प्रणाम नही करना पडता, ऐसी वीर दीक्षा धारण करने के लिए हम आपके चरणो मे उपस्थित हुए है।

भगवान ने उन राजकुमारो को अविनाशी मोक्षसुख प्राप्त करने का उपाय बताते हुए उपदेश दिया। भगवान के हितकारी वचन सुनकर उन राजकुमारो को वैराग्य हो गया। उन्होने भगवान के चरणो मे दीक्षा धारण करली और वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गये। वे घोर तप करने मे प्रवृत्त हो गये। उन्हौने द्वादशाङ्ग वाणी का अध्ययन किया। उन्होने ग्यारह अग और चौदह पूर्वो का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

१६. भरत-बाहुबली-युद्ध

भरत और बाहुबली का निर्णायक युद्ध

चक्रवर्ती विचार करने लगे कि मेरे अन्य भाइयो और बाहुबली मे बहुत अन्तर है। बाहुबली महा बलवान, मानधन से युक्त और युद्ध मे शत्रुओ के लिए महा भयकर है। वह दाम, दड और भेद से वश मे आने वाला नही है। इसलिए उस पर साम नीति का ही प्रयोग करना उचित है। यदि वह फिर भी वश मे नही आया, तब उस परिस्थिति पर पुन विचार कर जो उचित होगा, वह किया जायगा। यह विचार कर चक्रवर्ती ने नीति विचक्षण एक चतुर दूत को बाहुबली के पास भेजा।

वह दूत शीघ्रतापूर्वक मार्ग तय करता हुआ बाहुबली के पोदनपुर नामक नगर मे पहुँचा। उसने राजद्वार पर जाकर द्वारपाल से अपना परिचय और उद्देश्य बाहुबली के पास भिजवा दिया। बाहुबली ने दूत को तत्काल अन्दर बुला भेजा। दूत ने अप्रतिम सौन्दर्य और वीरदर्प की राशि कुमार बाहुबली को देखा। उसने कुमार बाहु-बली के समक्ष जाकर उनके चरणो मे नमस्कार किया। कुमार ने उसका यथोचित सम्मान करके अपने पास ही बैठाया। कुमार ने मन्द स्मित द्वारा अपने भाई चक्रवर्ती की कुशल मगल पूछी।

तब दूत ने अत्यन्त विनयपूर्वक उत्तर दिया—हे प्रभो! हम तो अपने स्वामी के सेवक है। उनका सन्देश पहुचाना ही हमारा कर्तव्य है। भरत इक्ष्वाकुवशी है, भगवान् ऋषभदेव के पुत्र है, आपके बडे भ्राता है। उन्होने भरत क्षेत्र के समस्त राजाओ, देवो और विद्याधरो को जीत लिया है। समुद्र, गगा और सिन्धु के अधिष्ठाता देवो ने उनकी आरती उतारी है। उन्होने वृषभाचल पर दण्डरत्न से अपना नाम उत्कीर्ण किया है। समस्त रत्न और निधियाँ उन्हे प्राप्त है। उन्होने आपको आशीर्वाद दिया है और आज्ञा दी है कि समस्त द्वीप और समुद्रो तक फैला हुआ हमारा राज्य हमारे प्रिय भाई बाहुबली के बिना शोभा नही देता। दूसरी बात यह है कि यदि आप उन्हे प्रणाम नही करते तो उनका चक्रवर्ती पद भी सुशोभित नही होता। इसलिये आप उन्हे जाकर नमस्कार करिये। उनकी आज्ञा कभी व्यर्थ नही जाती। जो उनकी आज्ञा की अवहेलना करते है, उनके नियमन के लिये उनका चक्ररत्न है। इसलिये आप चलकर उनके मनोरथ पूर्ण कीजिये। आप दोनो भाइयो के मिलाप मे ससार मिलकर रहेगा।

दूत के निवेदन करने पर कुमार बाहुबली मन्दमन्द मुस्कराते हुए बोले—हे दूत! तू बहुत चतुर है। तूने साम नीति की बात करते हुए भेद और दण्ड की भी बात चतुराई से कह दी। किन्तु तूने इनका अयोग्य स्थान मे प्रयोग किया है। बडा भाई वन्दनीय है किन्तु सिर पर तलवार रखकर प्रणाम कराना तो अयुक्त है। आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेव ने राजा शब्द मेरे और भरत के दोनो के लिये दिया है। भरत राजराज बन जाय, हम अपने धर्मराज्य मे रहकर राजा ही बने रहेगे। भरत हम लोगो को बच्चो की तरह बुलाकर और प्रणाम कराकर पृथ्वी का कुछ टुकडा देना चाहता है। किन्तु मनस्वी पुरुष अपने भुजबल से भोग अर्जित करना पसन्द करता है, दूसरे के अनुग्रह से मिला हुआ दान उसके लिये तुच्छ होता है। वन मे निवास करना अच्छा है, प्राण विसर्जन करना अच्छा है, किन्तु कुलाभिमानी पुरुष कभी दूसरे की आज्ञा के अधीन रहना या परतन्त्र रहना स्वीकार नही करेगा। हे दूत!

भगवान ऋषभदेव द्वारा दी हुई हमारी पृथ्वी को भरत छीनना चाहता है। अत. उसका विरोध करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नही है। मुझे पराजित किये बिना भरत इस पृथ्वी का भोग नही कर पायगे। तू भरत से जाकर कह देना कि अब तो हम दोनो का निर्णय युद्ध-भूमि मे ही होगा।

इस प्रकार कहकर उस स्वाभिमानी कुमार बाहुबली ने दूत को बिदा कर दिया। बाहुबली युद्ध की तैयारी करने लगे।

उधर जब दूत ने जाकर चक्रवर्ती भरत को सब समाचार सुनाये तो चक्रवर्ती की आज्ञा से समस्त सेना ने युद्ध के लिये प्रयाण कर दिया। दोनो ओर की सेनाये युद्ध-भूमि मे आमने-सामने आ डटी। सेनापति लोग व्यूह-रचना करने लगे। तभी दोनो ओर के बुद्धिमान मन्त्री लोग आपस मे मिलकर परामर्श करने लगे—दोनो भाई चरम शरीरी है। युद्ध मे इनमे से किसी की क्षति होने वाली नही है, केवल दोनो पक्ष के सैनिको का ही सहार होगा। अत. इस अकारण युद्ध मे जन-सहार से कोई लाभ नही है। इसलिये दोनो भाइयो का ही परस्पर तीन प्रकार का युद्ध हो। इन युद्धो में जो जीते, उसकी विजय स्वीकार कर लेनी चाहिए।

यह निर्णय दोनो भाइयो के समक्ष रक्खा गया और दोनो ने ही इसे स्वीकार कर लिया। दोनो ने जल-युद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध (मल्लयुद्ध) करने मे अपनी सहमति प्रदान कर दी।

श्वेताम्बर परम्परा मे दृष्टि युद्ध, वाग्युद्ध, बाहु युद्ध और मुष्टि युद्ध इस प्रकार चार प्रकार के युद्ध माने है।

परस्पर युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुई सेना अब मूक दर्शक बन कर खडी थी। यह ससार का अभूतपूर्व और अदृष्टपूर्व युद्ध था, जिसमे अहिंसात्मक रीति से जय-पराजय का निर्णय होना था। यह हिंसा पर अहिंसा की विजय थी, जिसमे शस्त्रास्त्रो का प्रयोग नही हुआ, रक्त की एक बूद नही गिरी। ऐसा अद्भुत युद्ध ससार ने न कभी देखा था, न सुना था। सम्पूर्ण पृथ्वी का साम्राज्य दो व्यक्तियो की शक्ति पर दाव पर लगा हुआ था।

भरत पाँच सौ धनुष ऊंचा था। बाहुबली की ऊचाई सवा पाच सौ धनुष थी। शारीरिक बल मे भी बाहुबली भरत की अपेक्षा कुछ अधिक ही था। इन दोनो बातो का लाभ बाहुबली को मिला। सर्वप्रथम दृष्टि युद्ध हुआ। किन्तु भरत के पलक झपक गये। सबने इस युद्ध मे भरत की पराजय स्वीकार कर ली। फिर दोनो भाई जल-युद्ध करने के लिए सरोवर मे प्रविष्ट हुए। दोनो एक दूसरे पर पानी उछालने लगे। भरत बाहुबली के ऊपर जल उछालते तो वह उनकी छाती तक ही जाता, जबकि बाहुबली द्वारा उछाला हुआ जल भरत के मुह और आखो मे भर जाता था। शीघ्र ही बाहुबली इस युद्ध मे भी विजयी रहे। अब अन्तिम मल्ल युद्ध होना था। दोनो वीरो मे जमकर मल्ल युद्ध हुआ। दोनो ही असाधारण वीर पुरुष थे। किन्तु दाव लगते ही बाहुबली ने भरत को ऊपर हाथो मे उठाकर चक्र के समान घुमा दिया। बाहुबली ने यह विचार कर भरत को जमीन पर नही पटका कि ये बडे है, बल्कि उन्होने भरत को उठाकर कन्धे पर बैठा लिया।

बाहुबली तीनो युद्धो मे निर्विवाद विजय प्राप्त कर चुके थे। भरत-पक्ष के लोग लज्जा से सिर नीचा किये बैठे थे, तभी एक भयानक घटना घटित हो गई। भरत अपनी पराजय की लज्जा से क्रोधान्ध हो गये। उन्होने चक्र-रत्न का स्मरण किया। चक्ररत्न स्मरण करते ही उनके पास आया। उन्होने विवेकशून्य होकर बाहुबली के ऊपर चक्र चला दिया। किन्तु चक्र देवरक्षित होता है। वह सगोत्रज और चरम शरीरी का बध नही कर सकता। वह बाहुबली की ओर चला और उनकी प्रदक्षिणा देकर लौट गया। राजाओ ने इस कृत्य के लिये भरत को धिक्कारा।

बाहुबली ने केवल इतना ही कहा— आपने खूब पराक्रम दिखाया! और यह कहकर भरत को कन्धे से उतार कर जमीन पर रख दिया। सबने बाहुबली की विजय स्वीकार की और उनकी बडी प्रशसा की।

यद्यपि बाहुबली की यह विजय निर्विवाद थी, अनेक राजाओ ने उनकी इस विजय की प्रशंसा की, उन्होने बाहुबली का सत्कार भी किया। किन्तु भरत द्वारा चक्र चलाये जाने से बाहुबली के मन पर उसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। वे विचार करने लगे—हमारे बडे भाई ने इस नश्वर राज्य के लिये यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। धिक्कार है इस साम्राज्य-लिप्सा को। यह राज्य प्राणी को छोड देता है किन्तु प्राणी इसे नहीं छोड़ना चाहता। मनुष्य का अहभाव और विषयलालसा मनुष्य से न जाने

बाहुबली का वैराग्य

कितने अकृत्य कराते हैं। किन्तु क्षणभंगुर जीवन का व्यय केवल अहंकार और विषयो के लिये करना क्या बुद्धिमत्ता है ? इस मानव-जीवन का प्रयोजन इससे कही महान् है।

इसके पश्चात् उन्होंने भरत की भर्त्सना करते हुए कहा—हे राजाओ में श्रेष्ठ ! लज्जा को छोडकर तुम सुनो। मेरे अभेद्य शरीर पर तुमने चक्र चलाकर बडे दुस्साहस का कार्य किया है। तुम अपने भाइयो से इस राज्य को छीनकर अकेले ही उसका भोग करना चाहते हो। अब यह राज्य तुम्हे ही मुबारिक हो। मै अब इस राज्य-लक्ष्मी का परित्याग करके तप-लक्ष्मी का वरण करना चाहता हू। मैने आपकी विनय नही की थी, उसे आप क्षमा करे।

बाहुबली के बचन सुनकर भरत को भी अपने कार्य पर बहुत अनुताप हुआ और वे अपने कृत्य की निन्दा करने लगे। बाहुबली ने अपने पुत्र महाबली को राज्य सौप कर भगवान वृषभदेव के चरणो का ध्यान करते हुए मुनि-दीक्षा ले ली। वे वहाँ से बिहार करते हुए कुछ समय भगवान के निकट रहे। फिर वे कैलाश पर्वत पर पहुचे और एक वर्ष का प्रतिमा योग लेकर निश्चल खडे होकर तपस्या करने लगे। वे कभी आहार के लिये नही गये। एक स्थान पर खडे हुए उनके शरीर पर माधवी लताये चढ गई। वामी के छिद्रो मे भयानक सर्प निकल कर उनके चरणो पर फण फैलाकर बैठ जाते। सर्प के बच्चे उनके शरीर से किलोल करते। उनके केश बढकर कन्धो तक लटकने लगे। विद्याधरियाँ आकर उन वासन्ती लताओ को हटाती, उनके पत्ते तोड देती। तीव्र तपस्या करते हुए उनका शरीर ज्यो ज्यो कृश होता जा रहा था, उनके कर्म भी उसी प्रकार कृश हो रहे थे। उन्होने आहार, मैथुन, भय और परिग्रह इन चारो सज्ञाओ पर विजय प्राप्त कर ली। उन्होने अपनी आत्मा द्वारा आत्मा को जीत लिया था। उन्हे अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थी। जाति विरोधी जीव उनके निकट निर्भय होकर विचरण करते थे।

जिस दिन उनका एक वर्ष का नियम पूरा होने वाला था, उसी दिन चक्रवर्ती भरत आये। उन्होने आकर महामुनि बाहुबली की पूजा की। इससे पहले बाहुबली के मन मे यह विकल्प रहता था कि भरत को मेरे कारण सक्लेश पहुँचा है। किन्तु भरत द्वारा पूजा करने पर वह विकल्प भी दूर हो गया और तत्काल केवलज्ञान प्रगट हो गया। उसके पश्चात् चक्रवर्ती ने पुन महापूजा की। भगवज्जिनसेन आचार्य कहते है कि केवलज्ञान से पहले भरतेश्वर ने जो पूजा की थी, वह अपना अपराध नष्ट करने के लिये की थी और केवलज्ञान होने के पश्चात् जो पूजा की, वह केवलज्ञान का अनुभव करने के लिये की थी।

चक्रवर्ती की पूजा की कल्पना करना भी कठिन है। उन्होने रत्नो का अर्घ बनाया था। गगा के जल की जल धारा दी थी। रत्नो की ज्योति के दीपक चढाये थे। अक्षत के स्थान पर मोती चढाये थे। अमृत के पिण्ड से नैवेद्य अर्पित किया था। कल्पवृक्ष के चूर्ण की धूप बनाई थी। पारिजात के पुष्पो से पुष्पो की पूजा की थी। और फलो के स्थान पर रत्न और निधियाँ चढाई थी।

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र और देवो ने आकर महामुनि बाहुबली की पूजा की। उस समय सुगन्धित वायु बह रहा था। आकाश मे देव दुन्दुभि बज रही थी। पुष्प-वर्षा हो रही थी। मुनिराज के ऊपर तीन छत्र और उनके नीचे दिव्य सिहासन सुशोभित हो रहा था। उनके दोनो ओर चमर ढोले जा रहे थे। देवो ने उनके लिये गन्धकुटी की रचना की। अब वे अरहन्त परमेष्ठी बन गए थे।

भगवान बाहुबली ने समस्त पृथ्वी पर बिहार किया और ससार को कल्याण-मार्ग का उपदेश दिया। अन्त मे वे भगवान वृषभदेव के समीप कैलाश पर्वत पर पहुचे और वहीं से मुक्त हुए।

आदिपुराण मे भरत के भेजे हुए दूत का जो वर्णन आया है, उसमे पोदनपुर के मार्ग तथा पोदनपुर के निकटवर्ती प्रदेश का वर्णन आया है, उसमे पोदनपुर के सम्बन्ध मे कुछ प्रकाश पडता है। यद्यपि उसमे यह निर्णय कर सकना कठिन है कि पोदनपुर कहाँ था। किन्तु उससे इस बात पर प्रकाश अवश्य पडता है कि पोदनपुर के आसपास कौन कौन सी फसले होती थी। उसमे पर्व ३५ श्लोक २८-२९ मे वर्णन है कि नगर से बाहर धानो से युक्त मनोहर पृथ्वी को पाकर और पके हुए चावलो के खेतो को देखता हुआ वह दूत बहुत ही आनन्द को प्राप्त हुआ। जो बहुत से फलो से शोभायमान है

पोदनपुर-निर्णय

और किसानों के द्वारा बड़े यत्न से जिनकी रक्षा की जा रही है ऐसे धान के गुच्छों को देखते हुए दूत ने मनुष्यों को बड़ा स्वार्थी समझा था।' इस विवरण से प्रतीत होता है कि पोदनपुर के निकट धान की खेती बहुलता से होती थी।

आगे इसी पर्व के श्लोक ३७ में ईख का वर्णन मिलता है। स्त्रियों के वर्णन में कवि ने उनकी शृंगार-सज्जा पर भी कुछ प्रकाश डाला है। इसमें बताया है कि वहाँ की कृषक-बालाओं ने धान की बालों से अपने कान के आभूषण बनाए थे। नील कमलों की मालाओं से अपनी चोटियां बांध रक्खी थीं। उन्होंने तोते के रंग वाली हरी चोलियाँ पहन रक्खी थीं (श्लोक ३२-३६)

उपर्युक्त विवरण से पोदनपुर की फसलों, स्त्रियों के शृंगार प्रसाधनों और वेष भूषा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। हरिवंश पुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन बाहुबली को पोदनपुर नरेश तो स्वीकार करते हैं किन्तु दोनों पक्षों की सेनाओं की मुठभेड़ वितता नदी के पश्चिम दिग्भाग में मानते हैं। संभवतः वितता से उनका आशय वितस्ता (झेलम) नदी से है। किन्तु झेलम के पश्चिम दिग्भाग में न तो धान की खेती होती है, न ईख होती है और न स्त्रियों का परिधान और शृंगार वैसा होता है जैसा कि आदिपुराण में बताया गया है। इससे लगता है कि दोनों पुराणों में पोदनपुर की स्थिति के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं था।

हरिषेण कथाकोष कथा २३ में पोदनपुर की अवस्थिति पर कुछ प्रकाश डाला गया है—'अथोत्तरापथे देशे पुरे पोदननामनि' अर्थात् पोदनपुर नामक नगर उत्तरापथ देश में था। इसी प्रकार कथा २५ में इसी के समर्थन में कहा गया है—'अथोत्तरापथे देशे पोदनाख्ये पुरेऽभवत्।' उत्तरापथ से आशय तक्षशिला से है।

किन्तु इसके विरुद्ध बाहुबली की मान्यता दक्षिण भारत में सर्वाधिक रही है और भरत ने बाहुबली की जिस स्वर्ण-प्रतिमा का निर्माण कराया था, वह दक्षिण भारत में थी तथा उसकी पूजा रामचन्द्र, रावण और मन्दोदरी ने की थी, इसका समर्थन राजावलि कथे और मुनिवंशाभ्युदय काव्य से भी होता है तथा आदिपुराण में धान और ईख की फसलों और कृषक बालाओं के परिधान आदि का जो वर्णन किया है, वह भी दक्षिण भारत की परम्परा से मिलता है।

उत्तर पुराणकार आचार्य गुणभद्र ने स्पष्ट शब्दों में पोदनपुर को दक्षिण भारत में स्वीकार किया है। यथा—

जम्बू विशेषणे द्वीपे भरते दक्षिणे महान्।
सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्ण पोदनं पुरम्॥७३।६

अर्थात् जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में एक सुरम्य नामक बड़ा भारी देश है और वहाँ बड़ा विस्तृत पोदनपुर नगर है।

श्री वादिराज सूरि ने भी पार्श्वनाथ चरित सर्ग १ श्लोक ३७-३८ में और सर्ग २ श्लोक ६५ में पोदनपुर को सुरम्य देश में बताया है। इस काव्य ग्रन्थ में सुरम्य देश का शालि चावलों के खेतों से भरा हुआ बताया है। यह कथन आदिपुराण के कथन से मेल खाता है।

सोमदेव विरचित यशस्तिलक चम्पू (उपासकाध्ययन) में 'रम्यक देश में विस्तृत पोदनपुर के निवासी' ऐसा कथन मिलता है—'रम्यक देश निवेशोपेन पोदनपुर निवेशिनो'

पुण्यास्रव कथाकोष कथा २ में 'सुरम्य देशस्य पोदनेश' ऐसा वाक्य है।

जैन साहित्य के अतिरिक्त जैनेतर साहित्य में भी पोदनपुर का उल्लेख पोटलि (पोत्तलि), पोदन, पोतन आदि नामों से मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ चुल्लकलिंग अस्सक जातक में पोटलि को अस्सक जनपद की राजधानी बताया है और अस्सक देश को गोदावरी नदी के निकट सवथ पर्वत पश्चिमी घाट और गोदावरी के निकट बताया है। सुत्तनिपात ९७७ में अस्मक को गोदावरी के निकट बताया है। पाणिनि ४।१।७३ अश्मक को दक्षिण प्रान्त में बताते हैं। महाभारत (द्रोण पर्व) में अश्मक पुत्र का वर्णन है। उसकी राजधानी पोतन या पोतलि थी। इसमें पोदन्य नाम भी दिया है।

हेमचन्द राय चौधरी ने महाभारत के पोदन्य और बौद्ध ग्रन्थों के पोत्तन की पहचान आधुनिक बोधन से

की है। वह आन्ध्र प्रदेश के मजिरा और गोदावरी नदियो के सगम से दक्षिण मे स्थित है। इसका समर्थन 'वसुदेव हिण्डि' से भी होता है। उसके २४ वे पद्मावती लम्ब पृ० ३५४।२४० और पचम लम्ब पृ० १८७।२४१ में बताया है कि गोदावरी नदी को पार कर वह पोदनपुर पहुंच गया।

उपर्युक्त प्रमाणों से पोदनपुर अश्मक, सुरम्य अथवा रम्यक देश मे गोदावरी के निकट था जो आधुनिक आन्ध्र प्रदेश का बोधन प्रतीत होता है।

श्वेताम्बर परम्परा मे बाहुबली की राजधानी का नाम पोदनपुर के स्थान पर तक्षशिला दिया गया है। वहां सर्वत्र बहली देश (वाल्हीक) और तक्षशिला नगर का ही उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र, कुमारपाल प्रतिबोध, परिशिष्ट पर्व, विविध तीर्थकल्प इन ग्रन्थो मे तथा विमलसूरिकृत पउम चरिउ मे तक्षशिला को ही बाहुबली की राजधानी माना है।

इस पोदनपुर को दिगम्बर परम्परा की निर्वाण भक्ति मे सिद्ध क्षेत्र या निर्वाण क्षेत्र माना है।

१७. चक्रवर्ती का वैभव

भरत ने चारो दिशाओं के राजाओं को जीत लिया था। अब उनका कोई शत्रु शेष न था। भारत जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में स्थित है। इसके उत्तर मे हिमवान् पर्वत है। और मध्य मे विजयार्घ पर्वत पडा हुआ है। पश्चिम मे हिमवान् से निकली हुई सिन्धु नदी बहती है और पूर्व मे गगा नदी, जिससे उत्तर भारत के तीन विभाग हो जाते है। दक्षिण के भी पूर्व, मध्य और पश्चिम दिशाओं मे तीन विभाग है। ये ही भारत के छह खण्ड है। इन छह खण्डो को भरत ने जीत लिया था और चक्रवर्ती पद धारण किया था। वह भारत का प्रथम चक्रवर्ती था।

चक्रवर्ती का राज्याभिषेक

दिग्विजय करके जब भरत अयोध्या नगरी मे वैभव के साथ प्रविष्ट हुए तो समस्त राजाओं और नागरिको ने अपने चक्रवर्ती सम्राट् का अभूतपूर्व स्वागत किया। तब शुभ मुहूर्त मे राजाओं ने और प्रजा ने भगवान ऋषभदेव के समान उनका राज्याभिषेक किया। राजाओं के साथ देवो ने प्रथम चक्रवर्ती का अभिषेक किया। उन्हे दिव्य वस्त्र और अलकार पहनाये। उनकी जय घोषणा की। दुन्दुभि और मागलिक भेरियो का नगर मे मधुर निनाद गूंजता रहा। गगा और सिन्धु नदियो की अधिष्ठात्री देवियो ने आकर तीर्थ जल से अभिषेक किया। फिर अनेक देवो, विद्याधरो, नरेशो और प्रजा ने सिंहासनासीन चक्रवर्ती भरत के चरणो में भेट समर्पित करके नमस्कार किया। फिर भरत ने समागत राजाओं का समुचित सत्कार किया।

महाराज भरत को चक्रवर्ती पद पाकर अभिमान नही हुआ, बल्कि उनके मन मे दुख था कि मैने अपने भाइयो को यह विभूति नही बॉट पाई। सारी प्रजा ऐसे न्यायवत्सल स्वामी को पाकर अपने आपको सनाथ अनुभव करने लगी थी।

चारो ओर उनका जय जयकार हो रहा था—यह सोलहवा मनु है। यह प्रथम चक्रवर्ती है। राजराजेश्वर हैं।

भरत का वैभव

षट् खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती अपार वैभव के स्वामी थे। उनके पास चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रत्न निर्मित रथ, अठारह करोड घोडे, चौरासी करोड पदाति थे। वे वज्रवृषभनाराच सहनन के धारी थे। उनका समचतुरस्र सस्थान था। उनके शरीर मे चौसठ शुभ लक्षण थे। सम्पूर्ण राजाओं के सम्मिलित बल के बराबर उनके शरीर में बल था। उनके दरबार में बत्तीस

हजार मुकुटबद्ध राजा थे। उनके आधीन बत्तीस हजार देश थे। उनके अन्त पुर में बत्तीस हजार आर्य कुल की स्त्रियाँ थी, बत्तीस हजार म्लेच्छ (अनार्य) राजाओ द्वारा दी हुई अति रूपवती कन्याये थी, इनके अतिरिक्त उपहार स्वरूप दी गयी बत्तीस हजार और रानियां थी। इस प्रकार वे छियानवें हजार अनुपम सुन्दरी रानियो के स्वामी थे।

उनके अधिकार मे बत्तीस हजार रगशालायें थी। उनके राज्यमे बहत्तर हजार नगर, छियानवें करोड गॉव थे। निन्यानवें हजार द्रोणमुख, अड़तालीस हजार पत्तन, सोलह हजार खेट, छप्पन अन्तर्द्वीप, चौदह हजार सवाह थे। एक करोड हल, तीन करोड ब्रज (गोशालाये), सात सौ कुक्षिवास और अट्ठाईस हजार सघन बन थे। उनके आधीन अठारह हजार म्लेच्छ राजा थे। काल, महाकाल, नैस्सर्प्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिग, शख और सर्वरत्न ये नौ निधियाँ थीं। उनके जड और चेतन चौदह रत्न थे। चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न थे। सेनापति, गृहपति, हाथी, घोडा, स्त्री, सिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे। चक्र, दण्ड, असि, और छत्र ये चार रत्न आयुधशाला मे उत्पन्न हुए थे तथा मणि, चर्म और काकिणी ये रत्न श्रीगृह मे प्रगट हुए थे। स्त्री, हाथी और घोडा की उत्पत्ति विजयार्ध पर्वत पर हुई थी। शेष रत्न निधियो के साथ अयोध्या मे ही उत्पन्न हुए थे। उनकी पटरानी का नाम सुभद्रा था। उसके अनिन्द्य सौन्दर्य का वर्णन करने मे कविजन भी समर्थ नही हो सकते।

सोलह हजार देव उनकी निधियो, रत्नो और उनकी रक्षा करने मे सदा तत्पर रहते थे। उनके प्रासाद के चारो ओर क्षितिसार नामक कोट था। सर्वतोभद्र नामक गोपुर था। उनकी सेनाओ के पडाव का स्थान नन्द्यावर्त कहलाता था। उनके प्रासाद का नाम वैजयन्त था। दिकस्वस्तिका नामक उनकी सभाभूमि थी। भ्रमण मे जिस छडी को वे ले जाते थे, वह रत्न निर्मित थो। उसका नाम सुविधि था। गिरिकूटक नामक महल मे बैठकर वे नगर का निरीक्षण किया करते थे। वर्धमानक नामक नृत्यशाला मे बैठकर वे नृत्य का आनन्द लिया करते थे। विभिन्न ऋतुओ के योग्य उनके अलग-अलग महल थे। गरमी के लिए धारागृह, वर्षा-ऋतु के लिये गृहकूटक था। पुष्करावर्त नामक उनका विशेष महल था। उनके भण्डारगृह का नाम कुबेरकान्त था। अवतसिका नाम की उनकी रत्नमाला थी। उनका अजितजय नामक रथ, वज्रकाण्ड धनुष, वज्रतुण्डा नाम की शक्ति सिहाटक भाला, सुदर्शन चक्र, चण्ड-वेग दण्ड आदि अमोघ शस्त्र थे। उनका विजयपर्वत हाथी, पवनजय घोडा ससार मे अद्भुत थे। उनका भोजन इतना गरिष्ठ होता था, जिन्हे कोई दूसरा नही पचा सकता था।

इस प्रकार चक्रवर्ती की विभूति का वर्णन सीमित शब्दो मे सीमित स्थान मे करना अत्यन्त कठिन है।

८. भरत द्वारा वर्णव्यवस्था में सुधार

ब्राह्मण वर्ण की स्थापना

एक दिन भरत चक्रवर्ती के मन मे विचार आया—मेरे पास अगाध सम्पदा है, अपार वैभव है। मै इससे दूसरे का उपकार कैसे कर सकता हू। मुनिजन तो धन लेते नही। किन्तु गृहस्थो मे ऐसे कौन है जो धन-धान्य, सम्पत्ति आदि के द्वारा पूजा के योग्य हो। जो अणुव्रतधारी हो, श्रावको मे श्रेष्ठ हो, ऐसे व्यक्ति ही पूजा के अधिकारी है। तब ऐसे व्यक्तियो की परीक्षा करनी चाहिए। यह विचार कर उन्होने समस्त राजाओ के पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने यहाँ के सदाचारी पुरुषो और सेवको के साथ हमारे उत्सव में पधारे। इधर चक्रवर्ती ने अपने घर के आँगन मे घास, फूलो के पौधे लगवा दिये। यथासमय सब लोग उत्सव में पधारे। जो अव्रती थे, वे तो बिना सोच-विचार के हरी घास

पर चलते हुए आ गये। किन्तु जो व्रती लोग थे, वे हरी घास के कारण नही आ सके और वापिस लौटने लगे। तब चक्रवर्ती ने बहुत आग्रह करके उन्हे दूसरे स्थल-मार्ग से बुलाया।

चक्रवर्ती ने उनसे प्रेमपूर्वक पूछा—'आपलोग पहले क्यो नही आ रहे थे और अब किस कारण आ गये है ? तब उन लोगों ने उत्तर दिया—'देव ! आज पर्व का दिन है। पर्व के दिनो मे घास, कोपल आदि का विघात नही किया जाता क्योकि उनमें असख्य जीव होते है।

यह उत्तर सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए और उन्हे दान-मान देकर सम्मानित किया। ब्रह्मसूत्र नामक व्रतसूत्र पहनाकर उन्हे चिन्ह दिया। प्रतिमाओ के अनुसार उन्हे यज्ञोपवीत धारण कराये। इसके बाद भरत ने उन लोगो को श्रावक के योग्य षडावश्यक कर्मो का उपदेश दिया और उनका ब्राह्मण वर्ण स्थिर किया। वे लोग अपने तप और शास्त्रज्ञान के कारण ससार मे पूज्य हुए।

एक दिन चक्रवर्ती के मन मे विचार उत्पन्न हुआ कि मैने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करके कुछ अनुचित तो नही किया। इसका समाधान भगवान के चरणो में जाकर कर लेना उचित होगा। यह विचार कर वे एक दिन भगवान के समवसरण मे पहुंचे, भगवान की वन्दना और स्तुति की। फिर हाथ जोडकर विनयपूर्वक निवेदन किया—'प्रभो ! मैने श्रावकाचार मे कुशल और व्रतो के पालन करने वाले त्यागियो को ब्राह्मण सज्ञा देकर नवीन ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है, और उन्हे प्रतिमाओ के अनुसार एक से लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत व्रतो के चिन्ह स्वरूप प्रदान किये है। आपके रहते हुए मैने मूर्खतावश यह कार्य किया है। हे देव ! मेरी यह जानने की इच्छा है कि ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करके मैने कुछ अनुचित तो नहीं किया।

चक्रवर्ती का प्रश्न सुनकर भगवान ऋषभदेव की दिव्य वाणी प्रगट हुई—हे वत्स ! तुमने धर्मात्मा द्विजो की पूजा की, उनका सम्मान किया, यह कार्य तुमने उचित किया। किन्तु इसमे जो दोष है, वह सुन। जब तक कृत युग अर्थात् चतुर्थ काल रहेगा, तब तक ये द्विज ब्राह्मण उचित आचार का पालन करते रहेगे। किन्तु ज्यो-ज्यो कलि युग अर्थात् पचम काल निकट आता जाएगा, इनमे जातिमद बढता जाएगा। ये सदाचार से भ्रष्ट होकर मोक्षमार्ग के विरोधी हो जायेगे। आज इन्हे जो यह सम्मान मिल रहा है, पचम काल मे इस सम्मान का मद इन्हे विवेकहीन बना देगा। वे अपने आपको और अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ मानकर मोक्षमार्ग विरोधी शास्त्रो की रचना करेगे। ये मिथ्यात्व मे फसकर धर्मद्रोही बन जायेगे। ये एक दिन हिसा को भी धर्म मानने लगेगे, स्वय मास भक्षण करने लगेगे और प्राणी हिसा द्वारा मुक्ति के मिथ्यामार्ग का प्रचार करेगे। इसलिए यद्यपि वर्तमान मे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना मे कोई अनौचित्य नही है, किन्तु भविष्य मे ये ब्राह्मण ही जैनधर्म के कट्टर शत्रु बन जायेगे।

भगवान के मुखारविन्द से ब्राह्मण वर्ण की स्थापना सम्बन्धी अपने कार्य का ऐसा भयकर परिणाम सुनकर चक्रवर्ती को बड़ा पश्चाताप हुआ।

९. भरत के सोलह स्वप्न

एक रात्रि को चक्रवर्ती भरत सुख-निद्रा में निमग्न थे। रात्रि के अन्तिम प्रहर मे उन्होने कुछ स्वप्न देखे। अचानक उनकी निद्रा भग हो गई। उनके मन पर उन स्वप्नो का प्रभाव गहरा पडा। जागकर वे उन स्वप्नो के सम्बन्ध मे विचार करने लगे। उन्हे यह निश्चय हो गया कि ये स्वप्न भविष्य के सूचक है। जब तक इस भरतखण्ड मे तीर्थंकरो का पुण्य-विहार रहेगा, तब तक किसी अनिष्ट की सभावना नही है। किन्तु पचम काल मे इन स्वप्नो का फल दृष्टिगोचर होगा। इन स्वप्नो का स्पष्ट फल राजा और प्रजा मे विप्लव के रूप मे दिखाई पडेगा। ये स्वप्न

अनिष्ट के सूचक है। मै तो स्थूल दृष्टि से ही इन स्वप्नो के फल का मूल्याकन कर सकता हूँ। अत सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान ऋषभदेव से इन स्वप्नो का फल पूछना उचित होगा।

यह विचार कर वे प्रात की क्रियाओ से निबट कर परिजनो-पुरजनो के साथ जहाँ भगवान विराजमान थे, वहाँ पहुंचे। वहाँ त्रिलोकीनाथ भगवान को देखकर उनके मन में आन्तरिक आल्हाद हुआ। उनके हृदय में भगवान के प्रति निश्छल निष्काम भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगी। जिस समय वे भक्ति से गद्गद होकर भगवान की वन्दना करने लगे, उनके परिणामो में इतनी विशुद्धि और निर्मलता आई कि तत्काल उन्हे अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गई। उन्होने कोमल भावो से भगवान के कल्याणकारी उपदेशामृत का पान किया। फिर दोनो हाथ जोडकर बडी विनय और भक्तिपूर्वक बोले—

'प्रभो ! आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में मैने सोलह सपने देखे है। मुझे लगता है, ये स्वप्न अनिष्ट फल देने वाले है। मैने स्वप्न मे (१) सिह (२) सिह का बच्चा (३) हाथी के भार को धारण करने वाला घोडा (४) वृक्ष, झाडियो के सूखे पत्ते खाने वाले बकरे (५) हाथी के स्कन्ध पर बैठा हुआ बन्दर (६) कौओ आदि के द्वारा उपद्रव किया हुआ उलूक (७) आनन्द करते हुए भूत (८) मध्य मे सूखा और किनारो पर जल से भरा हुआ सरोवर (९) धूलि धूसरित रत्नराशि (१०) लोगो से पूजित और नैवेद्यभक्षी कुत्ता (११) जवान बैल (१२) मण्डल से युक्त चन्द्रमा (१३) शोभारहित और मिलते हुए दो बैल (१४) मेघो मे आच्छादित सूर्य (१५) छायाहीन सूखा वृक्ष और (१६) पुराने पत्तो का ढेर देखे है। भगवन् ! इनका क्या फल होगा, आप दया करके मेरे सन्देह को दूर कीजिये।

चक्रवर्ती का प्रश्न सुनकर भगवान ने उत्तर दिया—'वत्स ! तूने जो स्वप्न देखे है, भविष्य मे उनका फल अनिष्टकारक होगा। अब तू अपने स्वप्नो का फल सुन। प्रथम स्वप्न मे तूने पृथ्वी पर अकेले विहार कर पर्वत के शिखर पर आरूढ तेईस सिह देखे है। इस स्वप्न का फल यह होगा कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर को छोडकर शेष तेईस तीर्थकरो के समय मे दुष्ट नयो की उत्पत्ति नही होगी। दूसरे स्वप्न मे अकेले सिह के बच्चे के पीछे हरिणो का झुण्ड चलते हुए देखा है। उसका फल यह है कि महावीर स्वामी के तीर्थ मे परिग्रह को धारण करने वाले बहुत से कुलिगी हो जायगे। तीसरे स्वप्न मे बडे हाथी के उठाने योग्य बोझ के भार से दबा हुआ घोडा देखा है, उससे मालूम होता है कि पचम काल मे साधु अपने मूल गुणो और उत्तर गुणो मे असावधान हो जायेगे। स्वप्न मे सूखे पत्ते खाने वाले बकरो के समूह को देखने से प्रतीत होता है कि आगामी काल मे मनुष्य सदाचार छोडकर दुराचारी बन जायेगे। पाचवे स्वप्न मे गजेन्द्र के कन्धे पर वानर के देखने का फल यह होगा कि प्राचीन क्षत्रिय कुल नष्ट हो जायेगे और नीच कुल वाले पृथ्वी का पालन करेगे। छठवे स्वप्न मे कौओ के द्वारा उलूक को त्रास दिये जाने से मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियो को छोडकर अन्य मतवाले साधुओ के पास जायेगे। सातवे स्वप्न मे नाचते हुए बहुत से भूतो को देखने से मालूम होता है कि प्रजाजन व्यन्तरो को सच्चे देव मानकर उनकी उपासना करने लगेगे। आठवे स्वप्न मे मध्य मे शुष्क और किनारो पर जल से भरे हुए सरोवर के देखने का फल यह है कि धर्म आर्य खण्ड से हटकर प्रत्यन्तवासी-म्लेच्छ खण्डो मे ही रह जायगा। नौवे स्वप्न मे धूल धूसरित रत्नराशी देखने से प्रगट होता है कि पचम काल मे ऋद्धिधारी मुनि नही होगे। दसवे स्वप्न में सत्कार किये हुए कुत्ते को नैवेद्य खाते देखने का फल यह होगा कि व्रतहीन ब्राह्मण गुणी पात्रो के समान सत्कार पायेगे। ग्यारहवे स्वप्न मे उच्च स्वर से शब्द करने वाले तरुण बैल का विहार देखने से सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्था मे ही मुनि पद मे ठहर सकेगे, अन्य अवस्था में नही। बारहवे स्वप्न मे मण्डलयुक्त चन्द्रमा देखने का यह फल होगा कि पचम काल के मुनियो मे अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान नही होगा। तेरहवे स्वप्न मे परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलो के देखने से पचम काल में मुनिजन साथ-साथ रहेगे, अकेले विहार करने वाले नही होगे। चौदहवे स्वप्न मे मेघाच्छन्न सूर्य के देखने का फल यह होगा कि पचमकाल मे केवलज्ञान उत्पन्न नही होगा। पन्द्रहवे स्वप्न मे सूखा वृक्ष देखने से स्त्री-पुरुषो का चरित्र भ्रष्ट हो जायगा। और सोलहवे स्वप्न मे जीर्ण पत्तो के देखने से महा औषधियो का रस नष्ट हो जायगा। ये स्वप्न दूर

विपाकी अर्थात् सुदूर भविष्य में फल देने वाले है। इस समय इन स्वप्नो का कोई प्रभाव नही होगा, पंचम काल मे इनका फल प्रगट होगा। तू इन स्वप्नो का फल समझकर विघ्नविनाशी धर्म मे अपनी बुद्धि लगा।

भरत भगवान से स्वप्नो का फल सुनकर उन्हे नमस्कार करके वहाँ से लौटे।

२०. भरत की विदेह वृत्ति

राजप्रासाद में बन्दनमालाए

भरत चक्रवर्ती थे। अतुल सम्पदा थी। उनकी देवागनाओ को लज्जित करने वाली छियानवें हजार रानियाँ थीं। उनका शरीर नीरोग था। उनका बल मनुष्य लोक मे सबसे अधिक था। अर्थात् सासारिक भोगो मे निमग्न और लिप्त रहने के उनके पास सभी साधन थे। किन्तु विपुल भोग-सामग्री उपलब्ध होने पर भी वे कर्मोदयजनित भोगो को अनिच्छापूर्वक भोगते थे। उनके मन मे इन भोगो से मुक्त होने की भावना सदा जागृत रहती थी। जरा अवकाश मिलते ही वे आत्म-स्वरूप के चिन्तन मे लीन हो जाते थे। उन्हे आत्मानुभव में जो रस आता था, जिस आनन्द को अनुभूति होती थी, वैसी अनुभूति भोगो मे नही आती थी। वे भोगो को खुजली का रोग समझते थे। जब तक खुजाया, तब तक थोडा सुख प्रतीत हुआ। किन्तु वह रोग पापमूलक है, पाप परिणामी है, दुःख ही उसका अन्त है। इसी प्रकार वे भी सोचते थे—इस नश्वर शरीर के सुख के लिये नश्वर साधन जुटाते है, उनमे सुख भी नश्वर मिलता है और फिर उसका परिणाम दुःख होता है। आत्मा शाश्वत है। अत उसका सुख भी शाश्वत है। वह सुख निरालम्ब दशा मे ही मिल सकता है। शरीर का आलम्बन करके शरीर का क्षणिक सुख तो मिल सकता है, आत्मा का सुख उससे कैसे मिलेगा। आत्मा का सुख तो आत्मा के आलम्बन मे ही मिल सकेगा। जिन्हे वह आत्म-सुख पूर्ण रूप मे प्राप्त हो चुका है, उनके स्मरण से आत्मोन्मुखता की प्रेरणा मिल सकती है।

यह विचार कर भरत सदा आत्मोन्मुखता का अभ्यास करते रहते थे। जब उनका उपयोग आत्मोन्मुख न होकर बहिर्मुख होता था तो तीर्थंकरो का स्मरण करने लगते थे। वे भगवान का स्मरण करने मे असावधान न हो जाँय, इसके लिए उन्होने कुछ ऐसे उपाय किए थे, जिससे उन्हे भगवान का ध्यान, स्मरण और वन्दन करने का स्मरण बना रहे। उन्होने अपने महलो के द्वार पर, कक्षो और प्रकोष्ठो के द्वार पर रत्न निर्मित चौबीस घण्टियो की वन्दनमालाए बनवाई थी। जब वे उन द्वारो मे से निकलते थे, तब उनके मुकुट से टकराकर वे घण्टियाँ शब्द करती थी। घण्टियो की आवाज सुनकर भरत को चौबीस तीर्थंकरो का स्मरण हो आता था, जिससे वे उन्हे तत्काल परोक्ष नमस्कार करते थे।

हरिवशपुराण मे आचार्य जिनसेन ने भरत की इन वन्दनमालाओ का वर्णन बडे भक्तिपूरित शब्दो मे किया है। वे लिखते हैं—

'चतुर्विंशति तीर्थेशवन्दनार्थं शिरःस्पृशम्।
अचीकरदसौ वेश्मद्वारे बन्दनमालिकाम्॥१२।२

अर्थात् उन्होने चौबीस तीर्थंकरो की वन्दना के लिए अपने महलो के द्वार पर सिर का स्पर्श करने वाली वन्दनमालाये बधवाई थी।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'आदिपुराण' मे वन्दनमालाओ के सम्बन्ध मे कुछ विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्ही के शब्दो में—

निर्मापितास्ततो घण्टा जिनबिंबैरलंकृताः।
परार्ध्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभिः ॥ ४१।८७
लम्बिताश्च पुरद्वारि ताश्चतुर्विंशति प्रभाः।
राजवेश्ममहाद्वार—गोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ॥४१।८८
यदा किल विनिर्यति प्रविशत्यप्ययं प्रभु ।
तदा मौल्यप्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ॥४१।८९
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाभिनन्दनाम् ।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ॥ ४१।९०

अर्थात् उन्होने बहुमूल्य रत्नो से बने हुए, सुवर्ण रस्सियो से बन्धे हुए और जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओ से सजे हुए बहुत से घण्टे बनवाये तथा ऐसे-ऐसे चौवीस घण्टे बाहर के दरवाजे पर, राजभवन के महा द्वार पर और गोपुर दरवाजो पर अनुक्रम से टगवा दिये। जब वे चक्रवर्ती उन दरवाजो से बाहर निकलते अथवा भीतर प्रवेश करते, तब मुकुट के अग्रभाग पर लगे हुए घण्टो से उन्हे चौबीस तीर्थकरो का स्मरण हो आता था। तदनन्तर स्मरण कर उन अरहन्त देव की प्रतिमाओ को वे नमस्कार करते थे। इस प्रकार पुण्य रूप बुद्धि को धारण करने वाले महाराज भरत निकलते और प्रवेश करते समय अरहन्तदेव की पूजा करते थे।

राजा का अनुकरण प्रजा करती है। यदि राजा लोकप्रिय और धर्मात्मा हो तो प्रजा उसके आचार व्यवहार का अनुकरण बहुत जल्दी करने लगती है। सम्राट् धर्मात्मा और लोक प्रिय थे, वे प्रजा के हृदय-सम्राट् थे। प्रजा उन्हे प्राणो से भी अधिक चाहती थी। प्रजा भी उस काल मे धर्मात्मा थी। अत उनका सम्राट् जो करता था, उसका अनुगमन प्रजा बहुत शीघ्र करने लगती थी। भरत ने अपने प्रासाद के तोरणो पर, द्वारो पर और गोपुरो पर अर्हन्त प्रतिमाओ से युक्त घण्टो की वन्दनमाला लटकाई थी। उनके इस कृत्य का अनुकरण प्रजा भी करने लगा। बिना किसी प्रयत्न के भरत के इस कार्य का जनता मे प्रचार हो गया। प्रजा मे एक दूसरे के अनुकरण द्वारा यह रिवाज और परम्परा बन गई और प्रत्येक घर के द्वार पर वन्दनमाला टगने लगा। आदिपुराणकार ने इस परम्परा का वर्णन बडे सुन्दर शब्दो मे किया है। आप लिखते है—

लोक मे बन्दनमाला की परम्परा

'रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना।
दृष्टवार्हद्बन्दनाहेतोर्लोकोऽप्यासीत्तदादरः ॥ ४१।९३
पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु।
यथाविभवमाबद्धा घण्टास्ता सपरिच्छदाः ॥४९।९४

अर्थात् निधियो के स्वामी भरत ने अर्हन्त देव की बन्दना के लिये जो घण्टा रत्नो के तोरणो की रचना मे स्थापित किये थे, उन्हे देखकर अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे। उसी समय से नगरवासी लोगो ने भी अपने-अपने घरकी तोरणमालाओ मे अपने-अपने वैभव के अनुसार जिन-प्रतिमा आदि से युक्त घण्टे बाधने शुरू कर दिये।

भरत के इस कार्य का अनुकरण तत्कालीन समाज ने ही नही किया था, उस परम्परा का निर्वाह अब तक हो रहा है। यद्यपि उसका मूल रूप वह नही रहा। शायद रह भी नही सकता था। काल के विशाल अन्तराल मे उद्देश्य तो तिरोहित होगया, इसलिए घण्टो का और वन्दनमालाओ का वह रूप भी नही रह पाया। किन्तु फिर भी वन्दनमाला अब भी हर शुभ कार्य मे बाधी जाती है और समाज उसे मागलिक चिह्न मानता है। इसी आशय को प्रगट करते हुए आदिपुराण कर्त्ता लिखते है—

आदिराजकृतां सृष्टि प्रजास्तां बहुमेनिरे।
प्रत्यगारं यतोऽद्यापि लक्ष्या बन्दनमालिका ॥४१।९५
बन्दनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिना।
ततो बन्दनमालाख्यां प्राप्य रुढि गताः क्षितौ ॥ ४१।९६

अर्थात् उस समय प्रथम राजा भरत की बनाई हुई इस सृष्टि को प्रजा के लोगो ने बहुत माना था। यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घर पर वन्दनमालाये दिखाई देती है। चूकि भरतेश्वर ने वे मालाएं अरहन्त देव की बन्दना के लिए बनवाई थी, इसलिये ही वे वन्दनमाला नाम पाकर पृथ्वी पर प्रसिद्धि को प्राप्त हुई है।

वन्दनमाला के इस रहस्य को लोक मे प्रचारित करने की आवश्यकता है। यदि लोग बन्दनमाला का मूल रूप और उद्देश्य समझ जाये तो वन्दनमाला पुन अपने वास्तविक रूप को पा सकती है।

भरत की मुनि-भक्ति

चक्रवर्ती भरत को अनेक राज-काज रहते थे। उन्हे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर शासन करना पडता था। अनेको राजाओ के विद्रोह को दबाना पडता था। विदेशी नरेशो से सन्धि और मैत्री के कूटनैतिक दाव चलाने पडते थे। प्रजा की बहुविध शिकायतो और समस्याओ को सुलझाना पडता था। फिर अन्त पुर और परिवार की समस्याये नाना रूप लेकर आती और उन्हे हल करना होता था। जिनकी छियानवे हजार रानिया हो, उनकी समस्याओ का क्या कोई अन्त हो सकता है। कोई रानी रूठ रही है, कोई सौतिया डाह से शिकायते पेश कर रही है। माना कि सभी रानियो मे परस्पर बहनापा था। किन्तु मानव-स्वभाव कहाँ चला जायगा। जलन और कुढन, षड्यन्त्र और अभाव अभियोग। इन सब टेढी-मेढी गलियो को पारकर सबकी सन्तुष्टि का राजमार्ग पाना क्या सरल होता है। किन्तु चक्रवर्ती कुशल तैराक थे। समस्याओ की भीषण प्रवाह वाली नदी मे तैरना ही जैसे उनका नित्य का व्यापार था। कभी कही कोई उदास नही। राजा हो या प्रजा, पत्नी हो या परिजन, राज्य हो या अन्त पुर, चक्रवर्ती के व्यवहार से सभी सन्तुष्ट थे। सब यही समझते, मानो महाराज एकमात्र उन्हे ही चाहते है। महाराज की सर्वप्रियता का रहस्य उनके कोमल स्वभाव, उनका व्यवहार-चातुर्य और सर्वजन-समभाव मे निहित था।

सब उन्हे चाहते थे, सभी उन पर अपनी जान न्यौछावर करते थे, वे सबके थे। किन्तु भरत केवल अपने थे, वे सदा अपने मे रहते थे। सारा लोक-व्यवहार करते थे, किन्तु वे इस सबसे जैसे पृथक् थे। ससार मे रहते थे, किन्तु कभी उन्होने अपने भीतर ससार नही बसाया। ससार के समुद्र मे वे कमल बनकर रहते थे। वे श्रावकोचित आवश्यक धार्मिक कृत्यो के करने मे कभी प्रमाद नही करते थे और लौकिक या धार्मिक कृत्य करते हुए भी आत्म-स्वरूप के चिन्तन की ओर सदा सावधान रहते थे। ऐसा था बहुधन्धी और व्यस्त चक्रवर्ती का अद्भुत जीवन।

भरत समय के बडे पाबन्द थे। उनके प्रत्येक कार्य का समय सुनिश्चित था। मुनि-चर्या के समय वे अन्य कार्य छोडकर मुनिजनो को आहार-दान के लिये तैयार हो जाते। वे समस्त राजचिह्नो को उतार कर शुद्ध धोती व दुपट्टा पहनते और एक रेशमी दुकूल कमर से बाध लेते। उस समय वे सम्राट् भरत नही, बल्कि पात्र-दान की प्रतीक्षा करने वाले सामान्य श्रावक थे। पात्र-दान के लिये द्वारापेक्षण करते समय उनके बाये हाथ मे अष्ट द्रव्य और दाये हाथ मे जल का कलश रहता था। माण्डलिक और महामाण्डलिक सदा जिनके ऊपर छत्र-चमर लिये डोरते थे, वे ही भरत चक्रवर्ती विनय भाव से गुरुओ की सेवा के लिये प्रतीक्षारत है। वे अपने भृत्यो को समझा रहे है— जब मुनि महाराज पधारे, उस समय तुम लोगो को मेरे लिये महाराज आदि नही कहना चाहिये और न मेरे प्रति हाथ जोड कर खडा रहना चाहिये।

वे राजप्रासाद से बाहर राजद्वार के बगल मे बने हुये चबूतरे के पास पहुँचे। उन्होने अष्ट द्रव्य की थाली और जलपूर्ण कलश चबूतरे पर रक्खी हुई एक चौकी पर रख दिये और वे मुनियो की प्रतीक्षा करने लगे। वे उस समय अकेले ही खडे थे। उनकी स्त्रियाँ तथा नरेश गण उनसे दूर खडे हुये थे।

सामान्य जनो के केवल दो आँखे होती है, जिन्हे चर्म चक्षु कहा जाता है। किन्तु विवेकी जनो के एक आँख और होती है, जिसे ज्ञान चक्षु कहते है। भरत अपने दोनो चर्म चक्षुओ से मुनियो के मार्ग का अवलोकन कर रहे थे, किन्तु वे अपनी भीतर की आँखो से—ज्ञान चक्षुओ से अन्तरात्मा का निरीक्षण कर रहे थे। उन्हे भीतर अपनी आत्मा का साक्षात्कार हो रहा था। उन्हे आश्चर्य हो रहा था कि सरसो के दाने मे जैसे समुद्र अटक गया हो, ऐसे ही यह त्रैलोक्यवेत्ता ज्ञानशरीरी आत्मा इस क्षुद्र शरीर मे क्यो कर अटक रहा है?

सब उन्हे देख रहे थे, किन्तु वे किसी को नही देख रहे थे। वे तो सबसे निर्लिप्त केवल अपने आपको देख रहे थे। उनके मन मे यकायक एक भाव आया और मानो वही सब विचारो को ठेल कर जम गया —मेरे पास अपार सम्पत्ति है, किन्तु उसकी सार्थकता तभी है, जब कोई निर्ग्रन्थ योगी मेरे हाथ से आहार ग्रहण कर ले तब यह सम्पत्ति भी सार्थक हो जाय और मै भी धन्य हो जाऊ।

नगर मे उस दिन अनेक मुनिराज चर्या के लिये पधारे, किन्तु मार्ग मे अन्य श्रावको ने उनका प्रतिग्रहण कर लिया। अत राजमहल तक कोई मुनिराज नही आ पाये। इसलिए भरत चिन्तामग्न हो गये। वे बार-बार विचार करने लगे—क्या आज कोई पर्व तिथि है ? क्या जगल से आते समय हाथी घोडो से मार्ग अवरुद्ध तो नही हो गया ? अथवा दुष्ट जनो ने कोई दुर्व्यवहार तो नही किया ? आज कोई मुनिराज क्यो नही पधारे यहाँ ? अथवा अतिथि को दान देने का क्या मेरा सौभाग्य नही है। इस विचार के आते ही उनके अन्तर मे एक कसक होने लगी।

तभी उन्हे आकाश मे गतिशील प्रभा-पुज दिखायी पडा। भरत आश्चर्यचकित होकर उधर देखने लगे। धीरे-धीरे उस प्रभा-पुज ने आकार ग्रहण करना प्रारम्भ किया। फिर वह पुज दो भागो मे विभक्त हो गया। जब तक भरत किसी निश्चय पर पहुँचे, दो तेज-पुंज आकाश से नीचे आते हुये भरत के समीप उतरे। वे दो चारण ऋद्धिधारी मुनि थे। भरत उन्हे देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए। शरीर और आत्मा के भेदविज्ञानी दो योगिराज आज पधारे है, यह सोचकर भरत का रोम-राम हर्ष से नृत्य करने लगा। उन्होने पूजा की थाली और जलपूर्ण कलश उठाया और मुनिराजो के सामने जाकर 'भो मुनिवर्य ! अत्र तिष्ठ तिष्ठ' इस प्रकार शब्दोच्चारण करके मुनियो को ठहराया, फिर अष्ट द्रव्यो से उन्हे दर्शनाञ्जलि देते हुए भाव शुद्धि से जल-धारा दी। तदनन्तर उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर गुरु-चरणो मे साष्टॉग नमस्कार किया। फिर खडे होकर भरत ने कहा—मन शुद्धि, वचन शुद्धि काय शुद्धि आहार जल शुद्ध है, प्रभु मेरे घर पधारिये। इस प्रकार कहने पर मुनिराज भरत के पीछे पीछे आहार मुद्रा मे ईर्यापथपूर्वक भूमि को देखते हुए धीरे धीरे चले। भरत मन में सोचते जा रहे थे कि इन कुटिल और लम्बे मार्ग पर चलने से इन योगियो को मेरे कारण कितना कष्ट हो रहा है।

भरत मुनियो को लेकर अपने महल मे पहुचे। वहाँ सब रानिया भी आ गयी। वे जलपूर्ण कलश, दर्पण और आरती लिये हुये थी। उन्होने मुनियो की आरती उतार कर प्रणाम किया। वे सब मिलकर मगल गान करने लगी। भरत ने मुनियो को उच्चासन पर बैठाया, उनके चरणो का प्रक्षालन करके अष्ट द्रव्यो से पूजन की। फिर नवधा भक्तिपूर्वक उनको आहार दिया। रानियाँ भरत को भक्ष्य पदार्थ देती जाती थी और भरत मुनियो के हाथो मे एक एक ग्रास रखते जाते थे। उन ऋद्धिधारी मुनियो के हाथो मे जाकर नीरस भोजन भी सरस बन जाता था। किन्तु आत्म-विहारी मुनियो की आसक्ति आहार मे नही थी। राजा भरत ने अपनी भक्ति से मुनियो को तृप्त किया और सुभुक्ति से उनकी जठराग्नि को तृप्त किया। तृप्त होने पर मुनियो ने नीचे बैठ कर मुख-शुद्धिपूर्वक हाथ-शुद्धि की और कुछ देर ध्यान किया। दोनो ने ध्यान पूर्ण होने पर भरत को आशीर्वाद दिया।

तभी राजमहल के प्रॉगण मे रत्न और स्वर्ण की वर्षा हुई। आकाश मे देवो ने वाद्य-ध्वनि के साथ जय-जयकार किया। फिर मुनिराज वहाँ से विहार कर गये। भरत उनके कमण्डलु लिये कुछ दूर तक मुनियो को पहुंचाने गये। उनके बार-बार कहने पर इच्छा न रहते हुए भी भरत वापिस आये और तब उन्होने भोजन किया। प्रॉगण मे जो रत्न और स्वर्ण राशि पडी थी, वह निर्धनो मे बंटवा दी।

सम्राट भरत के जीवन का यह दैनिक कार्यक्रम था।

भोग में भी विराग-वृत्ति

महाराज भरत की सभी रानिया यौवनवती थी, मदवती थी, रसवती थी। उनके अग प्रत्यगो का लावण्य अद्भुत था, माधुर्य नित नवीन था और सौन्दर्य अनिन्द्य था। उनके गदराये यौवन मे से रस चूता था। रतिको लज्जित करने वाली उनकी सुषमा थी। उन मोहनियो का मोहन-पाश अच्छेद्य था। देवॉगनाये और नाग-कन्याये उनको देखकर लज्जित हो जाये, ऐसा उनका रूप था। किन्तु भरत रूप और रूपसियो के इस मेले मे जाकर कभी मोहान्ध नही हुए। वे आत्मचेता थे, आत्मजयी

थे। वे एक साथ सबका भोग भी करते थे, किन्तु भोग के समय भी उनकी भावना योग की रहती थी। वे भोग देह का करते और उनको रस आता था देहातीत। इसका कारण था। भोग करते हुए भी वे आत्मानन्द को भूलते नही थे। कभी-कभी तो भोग करते समय जब उन्हे आत्म-चिन्तन की सुधि आ जाती थी तो वे भोग को भूलकर आत्मा मे लीन हो जाते थे। एक दिन पट्टमहिषी सुभद्रा के महलो मे चक्रवर्ती पधारे। सुभद्रा ने उनकी अभ्यर्थना की। रात्रि-शयन भी वही हुआ। भुवनमोहिनी अनिद्यसुन्दरी सुभद्रा ने अपने पति को मुक्त भाव से रस-दान किया। किन्तु जब रसानुभूति अपनी चरम सीमा पर पहुँची, भरत के अन्तर्मन के किवाड खुल गये। वे चिन्तन मे डूब गये—'अनन्त काल बीत गया शरीर और इन्द्रियो की तृप्ति का प्रयत्न करते करते, किन्तु क्या कभी ये तृप्त हो सकी। नित नवीन शरीर मिले और इन्द्रिय-भोगो में ही सारा जीवन गला दिया। जीवन भर अतृप्ति से जूझता रहा किन्तु भोगो की प्यास कभी बुझी नही। कभी आत्म-रस का स्वाद नही लिया। यदि एक बार भी आत्मानुभव हो जाता तो अनन्त जीवनो की अतृप्ति एक क्षण भर में मिट जाती।' यो चिन्तन करते करते वे आत्म-रस का पान करने मे बेसुध हो गये। शरीर निश्चेष्ट हो गया। पट्टमहिषी इस स्थिति का कारण न समझ सकी।

कैसी अकल्पनीय परिणति थी भरत की। इसीलिए तो घर मे रहते हुए भी भरत वैरागी कहलाते हैं। वस्तुत वे राजर्षि थे, विदेह थे। श्रीमद्भागवत मे उन्हे भगवत्परायण माना है और उन्हे जड भरत बताया है। जड़ अर्थात् सासारिक भोगो के प्रति अनासक्त।

उनके पास भोग और वैभव का विशाल स्तूप था। यह जितना ऊचा था, उससे भी ऊंचा इनके प्रति उनका विराग था। राग के सभी साधन उन्हे उपलब्ध थे, उनका भोग भी खूब किया उन्होने किन्तु भावना सदा इनमे मुक्ति की रही। इसलिए राग हारा और विराग की सदा जय हुई। अद्भुत व्यक्तित्व था उनका। अनुपम भी था। ऐसा व्यक्तित्व ससार मे दूसरा कोई न हुआ, न होगा।

२१. भरत का निष्पक्ष न्याय

भरत चक्रवर्ती सम्राट् थे। जब वे राज-सिंहासन पर बैठते थे, उस समय वे केवल राजा थे। उनके समक्ष अनेक अभियोग उपस्थित होते थे। उन्हे सुनकर वे उनका उचित न्याय करते थे। उनके न्याय मे कभी कोई सम्बन्ध आडे नही आता था, कोई सम्बन्ध उनके न्याय को प्रभावित नही कर सकता था। भले ही अभियोग उनके युवराज के ही विरुद्ध क्यो न हो, किन्तु न्याय की तुला पर सामान्य जन और युवराज मे कोई अन्तर नही आता था। एक बार अभियोगकर्त्ता थे स्वय युवराज अर्ककीर्ति। अभियोग था चक्रवर्ती के प्रमुख सेनापति जयकुमार के विरुद्ध। राज दरबार स्तब्ध था कि देखे, न्याय किसके पक्ष मे जाता है। अभियोग उपस्थित किया गया, सुनवाई हुई। दोनो पक्षों ने अपना पक्ष उपस्थित किया। सम्राट् ने पाया—दोष युवराज का है। उन्होने मर्यादा का भग किया है। युवराज दोषी घोषित हुए और सबके समक्ष सम्राट् ने उनकी भर्त्सना की। न्याय की यह कहानी जितनी अद्भुत है, उतनी रोचक भी है। सुनिये उसे।

काशी नरेश अकम्पन की स्त्री सुप्रभा थी। उन दोनों के सुलोचना नाम की एक पुत्री थी जो सुलक्षणा थी और सर्वगुण-सम्पन्न थी। जब वह विवाह योग्य हुई तो राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। तब राजा ने मन्त्रियों से परामर्श करके उसके स्वयम्बर का निश्चय किया। उन्होने दूतो द्वारा राजाओं को इसकी सूचना दी। इसके लिये नगर के बाहर सर्वतोभद्र नामक विवाह-मण्डप की रचना की गई। निश्चित तिथि को अनेक देशो के राजा और राजकुमार अपनी सेनाओ के साथ वहाँ

सुलोचना स्वयम्बर

आये। राजा अकंपन ने उनकी अभ्यर्थना की, उनके निवास आदि की समुचित व्यवस्था की।

इस स्वयंवर में सम्मिलित होने अथवा भाग लेने के लिये चक्रवर्ती भरत के पुत्र युवराज अर्ककीर्ति, चक्रवर्ती के सेनापति-रत्न राजकुमार जयकुमार, नमि-विनमि के पुत्र सुनमि और सुविनमि आदि अनेक भूमि-गोचरी और विद्याधर राजा आये। शुभ लग्न के समय स्वयम्बर मण्डप में सभी समागत राजा और राजकुमार अपने योग्य आसनो पर बैठ गए। कुमारी सुलोचना को भी स्नान कराकर और वस्त्राभूषणो से अलकृत करके उसकी माता सुप्रभा ने तैयार किया। सुलोचना सर्वप्रथम जिनेन्द्रदेव के मन्दिर में गई। वहाँ उसने भक्तिपूर्वक पूजन किया। पूजन समाप्त होने पर उसके पिता ने आशीर्वाद के रूप मे शेषाक्षत उसके सिर पर रखे। तब सुलोचना महेन्द्रदत्त कचुकी के साथ विवाह-मण्डप मे प्रविष्ट हुई। वह जब वहाँ पहुँची तो सभी राजा बडी उत्सुकता से उसे देखने लगे। उसकी रूपछटा देखकर सब विमुग्ध होकर सोचने लगे—यह देवकन्या अवतरित हुई है अथवा स्वयं शची ही विनोद करने यहाँ पधारी है। ऐसा मोहक रूप तो आज तक देखने मे नही आया।

सभी उद्ग्रीव होकर बडी उत्कण्ठा से मन मे कामना करने लगे—काश ! सौन्दर्य की यह खान मुझे प्राप्त हो जाय तो मानव-जन्म सफल हो जाय। सभी आशान्वित थे, सभी को अपने पुण्य पर विश्वास था। कचुकी क्रम क्रम से राजकुमार प्रत्याशियो का परिचय देता जाता था। कुमारी सुलोचना एक दृष्टिपात करके आगे बढ जाती। वह जिस ओर जाती, वही राजकुमार आशा से मधुर सपने सजोने लगता, किन्तु जब वह आगे बढ़ जाती तो वे दिवा-स्वप्न एक आघात मे टूट जाते।

जब सुलोचना अर्ककीर्ति आदि राजकुमारो को छोडकर जयकुमार के सामने पहुँची तो कचुकी ने जय-कुमार के गुण वर्णन करना प्रारम्भ किया—यह हस्तिनापुर नरेश सोमप्रभ का यशस्वी पुत्र है। इसका रूप कामदेव को लज्जित करने वाला है। इसने उत्तर भरतक्षेत्र मे मेघकुमार नामक देवो को जीतकर बादलो की गर्जना को जीतने वाला सिंहनाद किया था। उस समय निधियो के स्वामी महाराज भरत ने हर्षित होकर अपनी भुजाओ पर धारण किया जाने वाला वीरपट्ट इसके बाँधा था तथा प्रेम मे इसका नाम मेघेश्वर रक्खा था।

कचुकी जब यह विरुदावली बोल रहा था, उस समय वस्तुतः सुलोचना वह सब सुन नही रही थी। वह तो हृदय से जयकुमार के लिये आत्म-समर्पण कर चुकी थी और आसक्त भाव से उसे निहार रही थी। उधर जयकुमार भी मुग्ध भाव मे उसे देख रहा था। दोनो ही एक दूसरे मे खोये हुए थे। दोनो के शरीर कटकित हो रहे थे। जय-कुमार के सामने खडी हुई सुलोचना ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो कामदेव के सामने विह्वल रति खडी हो। उसने कचुकी के हाथो मे से रत्नमाला लेकर जयकुमार के गले मे डालदी। जब सुलोचना ने दोनो बाहे उठाकर वरमाला जयकुमार के गले मे डाली, उस समय ऐसा लगता था, मानो विछुडे हुए अपने पति कामदेव को पाकर अधीर रति ने दोनो भुजाये पसार कर आलिंगन किया हो। शेष राजकुमारो की मुख की कान्ति उचट कर मानो जयकुमार के मुखकमल पर आ जमी।

तभी मगल वाद्यो की मधुर ध्वनि से सारा मण्डप और वन प्रान्त एकबारगी ही प्रतिध्वनित हो उठा। नाथ वश के अधिपति अकपन आगे आये और अपनी पुत्री को साथ मे लेकर और जयकुमार को आगे करके नगर की ओर चले। साथ में बन्धु-बान्धव और अनेक राजा थे। इस युग का यह प्रथम स्वयम्बर था और जयकुमार इस मुहिम का प्रथक विजेता था।

किन्तु इस हर्षोत्सव मे असूयारसिको की भी कमी नही थी। युवराज अर्ककीर्ति का एक दुष्ट सेवक था। नाम था दुर्मर्षण। उसने जयकुमार को इस उपलब्धि को सहज भाव से ग्रहण नही किया। वह द्वेष से दग्ध होकर अपने स्वामी के पास पहुँचा और बोला—'देव ! यह घोर अन्याय है। अभिमानी अकपन ने

युवराज का अन्याय

आपको यहाँ बुलाकर आपका घोर अपमान किया है। अकंपन को तो जयकुमार के गले में वरमाला डलवाने की पहले से ही योजना थी। उसे तो केवल आपका अपमान करना था। कहाँ तो आप षट्खण्ड भरत क्षेत्र के भावी अधिपति और कहाँ आपका अकिंचन सेवक जयकुमार। यदि आपने इसे सहन कर लिया तो आपका आतंक पृथ्वी पर से उठ जायगा और जयकुमार महाराज भरत के बाद में इस पृथ्वी का

भोग करेगा। न्याय से संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु के भोग करने का अधिकार महामान्य चक्रवर्ती महाराज का है या फिर आपका। आपके रहते ससार के सर्वश्रेष्ठ कन्यारत्न का भोग आपका एक सेवक करे, इससे बडी अनीति ससार में कोई दूसरी हो नही सकती।

सेवक की यह सलाह सुनकर युवराज अर्ककीर्ति को भी इस घटनाचक्र मे अपना अपमान और अनीति दिखाई देने लगी। वह क्रोध से लाल आखे किये और नथुने फुलाता हुआ गरज उठा—जिस मूर्ख ने मेरा अपमान किया है, उसने बिना जाने ही अपने काल को निमन्त्रण दिया है। इन अकपन और जयकुमार ने राज्यद्रोह किया है, उसका प्रतिकार आज युद्ध मे ही होगा।

उसके क्रोध की छाया मे स्वयम्बर मे निराश हुए अनेक राजा भी एकत्रित हो गये।

उस समय अर्ककीर्ति को मत्री ने बहुत समझाया—पहले आपके पितामह भगवान ऋषभदेव ने राज्य शासन करके एक मर्यादा स्थिर की थी। उसके पश्चात् आपके पिता महाराज भरत ने उस मर्यादा की दृढ़तापूर्वक रक्षा की। उसके पश्चात् आप राज्य-शासन का भार संभालेगे। यदि आप ही उस मर्यादा का उलघन करेगे तो पृथ्वी मर्यादाहीन हो जायगी आप न्याय के रक्षक है। स्वयम्बर मे वर का निर्वाचन कन्या को इच्छा पर निर्भर है। उसने जिसे भी चुना, उसके प्रति अन्य लोगो को ईर्ष्या नही करनी चाहिए, यही न्यायमार्ग है। यदि कोई इस मार्ग का उल्लघन करता है तो आपको तो न्याय-मार्ग को रक्षा करनी चाहिए। आपको स्वय उस न्याय-मार्ग का उल्लघन नही करना चाहिए। फिर ये महाराज अकपन सब क्षत्रियों मे पूज्य है, महाराज भरत तो इनका सम्मान अपने पिता के समान करते है। और यह सोमवश भी नाथ वश के समान हो है। आपके वश ने धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति की तो सोमवश को भी दान-तीर्थ की प्रवृत्ति करने का गौरव प्राप्त है। और फिर महाराज भरत को दिग्विजय के अवसर पर ससार ने जयकुमार की वीरता देखी ही है। यह तो तुम्हारे लिए सहायक ही सिद्ध होगा। आपकी यह अनीति सुनकर चक्रवर्ती भी आप पर असन्तुष्ट होगे। एक सुलोचना हो तो ससार मे कन्या-रत्न नही है। और भी कन्यारत्न है। आप चाहे तो मै अनेक कन्या-रत्न आपके लिये ला दूंगा।

किन्तु दुराग्रह और क्रोध मे ग्रस्त अर्ककीर्ति ने किसी की एक नही सुनी और सेनापति को बुलाकर युद्ध की भेरी बजवा दी। भेरी का शब्द सुनते ही रथ, हाथी और अश्वसेना तथा पदाति सेना के असख्य सैनिक वहा एकत्रित होने लगे। अर्ककीर्ति गजारूढ होकर अनेक राजाओ और सेना से घिरा हुआ युद्ध के लिए चल दिया।

महाराज अकपन ने ज्यो ही यह समाचार सुना, वे सहसा इस अतर्क्य और असभव बात पर विश्वास नही कर सके। इन्होने मन्त्रियो तथा जयकुमार आदि से परामर्श करके एक चतुर दूत अर्ककीर्ति के पास दौडाया। उसने जाकर युवराज को समझाया किन्तु वह असफल होकर लौट आया। जयकुमार ने

युवराज की पराजय

चिन्तित अकपन से कहा—आप निश्चिन्त रहे और यही रहकर सुलोचना की रक्षा करे। मै अभी इस अनीतिमार्गी को बाध कर लाता हूं। फिर उन्होने अपनी मेघघोषा भेरी बजाई। भेरी की आवाज सुनते ही उनके असख्य सैनिक और उनके पक्ष के अनेक राजा लोग शस्त्रसज्जित होकर एकत्रित हो गए। उन्होने भी शत्रु सेना की ओर कूच कर दिया। इधर महाराज अकपन भी अपने पुत्रो और सैनिको को साथ लेकर चल पडे। सोमवश और नाथ वश के आश्रित राजाओ के अतिरिक्त पाच राजा भी अपनी सेना के साथ जयकुमार से आ मिले। विद्याधर राजाओ मे से आधे राजा भी अन्याय का पक्ष छोडकर इस सेना मे आकर मिल गए।

दोनो ओर से मकर व्यूह, गरुड व्यूह आदि व्यूहो की रचना की गई। युद्ध के बाजे तुमुल घोष के साथ बजने लगे। युद्ध प्रारम्भ हो गया। बाणो की वर्षा से आकाश ढक गया। मनुष्य, हाथी, घोडे कट-कटकर भूमि पर गिरने लगे। सारी रणभूमि मे जयकुमार ही दिखाई पड रहा था। उसके बाणो ने अर्ककीर्ति की सेना को निश्चेष्ट बना दिया। तब अर्ककीर्ति ने अपना हाथी आगे बढाया। जयकुमार भी विजयार्ध हाथी पर आरूढ होकर आगे बढा। तभी उसका एक मित्र देव आया और उसे नागपाश तथा अर्धचन्द्र नामक बाण दिया जो अमोघ था। जय-कुमार ने अपने बज्रकाण्ड धनुष पर वह बाण चढाया और सन्धान कर दिया। उस एक ही बाण ने अर्ककीर्ति और

उसके आठो रक्षक विद्याधरों के रथ, सारथी तथा धनुष-बाण नष्ट कर दिये। अर्ककीर्ति निरुपाय हो गया। जयकुमार ने क्षण भर का बिलम्ब किये बिना अर्ककीर्ति को पकड लिया और नागपाश से सम्पूर्ण विद्याधर राजाओ को बांध लिया।

युद्ध समाप्त हो गया। जयकुमार ने अर्ककीर्ति और बधे हुए राजाओ को महाराज अकपन के सुपुर्द कर दिया। हताहतो की समुचित व्यवस्था करके सबने वाराणसी नगरी में प्रवेश किया। वे सर्वप्रथम नित्यमनोहर नामक चैत्यालय मे गये और जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन किये, जिनकी अनुकम्पा से अनिष्ट की शान्ति हुई। फिर अपनी महारानी सुप्रभा के निकट कायोत्सर्ग से खडी हुई पुत्री सुलोचना के पास गये। उसने सकट निवारण तक चारो प्रकार के आहार का त्याग कर दिया था। महाराज अकपन ने उसे विजय का हर्ष-समाचार सुनाया तथा कहा—'बेटी! तेरे पुण्ययोग से सब विघ्न टल गए है। अब तुम अपने महलो में जाओ।' यह कहकर पुत्री को उसकी माता तथा भाइयो के साथ राजभवन मे भेज दिया।

महाराज अकपन ने मन्त्रियो से परामर्श किया और फिर विद्याधर राजाओं का सत्कार करके छोड़ दिया। फिर वे कुमार अर्ककीर्ति के पास पहुँचे और उनको नाना प्रकार के मीठे वचनो से प्रसन्न किया। उन्होने जयकुमार को भी बुलाकर दोनो मे सन्धि करादी। फिर उन्होने अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला का विवाह अर्ककीर्ति के साथ बडे वैभव के साथ कर दिया और बडे मान-सन्मान के साथ अर्ककीर्ति तथा अन्य राजाओं को विदा कर दिया।

तब उपर्युक्त देव ने जयकुमार के साथ सुलोचना का विवाह कर दिया और उन्हे नाना प्रकार के अनर्घ्य उपहार दिये।

महाराज अकपन बड़ अनुभवी और दूर-दृष्टि थे। उन्होने परामर्श करके एक चतुर दूत को बहुमूल्य रत्न आदि की भेंट देकर चक्रवर्ती के पास भेजा। उसने चक्रवर्ती के दरबार मे जाकर उनके चरणो मे भेंट चढाई, साष्टाग प्रणाम किया और महाराज अकपन एव जयकुमार की ओर से लघुता प्रगट करते हुए इस घटना का सारा दोष अपने ऊपर ले लिया और अपराध का दण्ड देने की प्रार्थना की।

चक्रवर्ती का न्याय

चक्रवर्ती ने दूत को बीच मे ही रोककर उन दोनो की प्रशसा की। उन्होने कहा—महाराज अकपन तो मेरे पूज्य है। मै यदि कोई अन्याय करूं तो उन्हे मुझे रोकने का अधिकार है। और जयकुमार! उसी की बदौलत मेरा यह चक्रवर्ती-पद है। अपराध अर्ककीर्ति का है। उसने मेरी कीर्ति मे कलक लगा दिया है। मै उसे अवश्य दण्ड दूँगा।

जयकुमार कुछ दिनो तक वाराणसी मे ही रहा और सुलोचना के साथ उसने यथेच्छ भोग किया। एक दिन अपने मन्त्री का पत्र पाकर और उसका गूढ अर्थ समझकर अपने श्वसुर महाराज अकपन से जाने की अनुमति माँगी। महाराज ने विचार कर 'तथास्तु' कहा। और अनेक प्रकार की बहुमूल्य भेंट देकर दोनो को सम्मानपूर्वक विदा किया। जयकुमार भी सुलोचना को लेकर अपने भाइयों और सेना के साथ वहाँ से चल दिया। मार्ग मे एक स्थान पर सेना का पडाव पडा। वहाँ समझा-बुझाकर सुलोचना को छोड़ा और अपने भाइयो को उसकी रक्षा में नियुक्त कर स्वय अयोध्या की ओर प्रस्थान किया। अयोध्या पहुँचने पर अनेक मान्य पुरुषो ने उसका स्वागत किया। वह युवराज अर्ककीर्ति से बडे प्रेम से मिला। वह सीधा राजदरबार मे पहुंचा और महाराज भरत के समक्ष जाकर अष्टाग प्रणिपात किया। महाराज भरत बोले—क्यो जयकुमार तुम बहू को क्यो नही लाये? हम तो उसे देखने के लिये उत्सुक थे। तुमने हमे अपने विवाह मे भी नही बुलाया। महाराज अकपन ने भी हमे भुलाकर बन्धु-बान्धवो से हमे अलग कर दिया।

इस प्रकार कहकर उन्होने जयकुमार का समुचित आदर-सत्कार किया और बहू के लिये बहुमूल्य वस्त्रालकार प्रदान करके उसे विदा किया। जयकुमार भी हाथी पर आरूढ होकर अपनी प्रिया से मिलने चल दिया।

चक्रवर्ती ने युवराज को राज-सभा में ही बुलाकर उसके कृत्य की समुचित भर्त्सना की।

सेनापति जयकुमार हाथी पर आरूढ़ होकर अपने शिविर की ओर जा रहे थे। भूल से उसने हाथी को गहरे जल में उतार दिया। हाथी अपनी सूँड ऊपर उठाकर गंगा मे आगे बढने लगा। सूँड का केवल अग्रभाग पानी में नही डूब पाया था, शेष सारा शरीर पानी में डूबा हुआ था। वह अचानक एक गड्ढे में पहुँच गया। तभी एक मगर ने हाथी को जकड लिया। तट पर खड़े हुए लोगो ने हाथी को डूबते हुए देखा तो सभी घबडा उठे। सुलोचना के भाई हेमाङ्गद तथा अन्य अनेक व्यक्ति गगा मे कूद पड़े। सुलोचना ने अपने पति पर आये हुए इस भयानक सकट को देखा तो उसने उपसर्ग दूर होने तक आहार-जल का त्याग करके जिनेन्द्र प्रभु का स्मरण करना प्रारम्भ कर दिया और साहस करके अपनी सखियो के साथ गगा मे कूद पडी। तभी गगा देवी का आसन कम्पित हुआ। वह शीघ्र वहाँ उपस्थित हुई और मगर रूप धारिणी कालिका देवी को डाँटकर उपसर्ग दूर किया। वह सबको किनारे पर लाई। वहाँ तट पर उसने एक भव्य भवन का निर्माण किया तथा एक मणिजटित सिहासन पर सुलोचना को बैठाकर उसकी पूजा की। पूर्व जन्म मे विन्ध्यश्री नामक एक राजकुमारी सुलोचना की सखी थी। एक दिन उसे साँप ने काट लिया। मरते समय सुलोचना ने उसे णमोकार मन्त्र सुनाया, जिसके प्रभाव से वह मरकर गगा नदी की अधिष्ठात्री देवी हुई।

णमोकार मन्त्र का प्रभाव

जयकुमार सुलोचना के साथ अपने बन्धु-बान्धवो और सैनिको को लेकर हस्तिनापुर पहुँचा। वहाँ जनता ने अपने महाराज को बहुत दिनो के पश्चात् अपने बीच पाकर उनका हार्दिक स्वागत किया। महाराज जयकुमार ने एक दिन शुभ दिन शुभ लग्न मे उत्सव किया। उसमे सुलोचना को पट्टमहिषी का पट्टबन्ध बाँधकर सम्मानित किया तथा हेमाङ्गद आदि को बहुमूल्य उपहार भेंट कर बिदा किया। तथा अपने भाइयो तथा अन्य लोगों को भी नाना प्रकार के उपहार प्रदान कर सन्तुष्ट किया।

जयकुमार का दीक्षा ग्रहण

जयकुमार और सुलोचना मे कई भवो से प्रीति चली आ रही थी और कई भवो से पति-पत्नी के रूप मे उत्पन्न होते आ रहे थे। एक दिन एक विद्याधर दम्पति आकाश मार्ग से जा रहा था। उसे देखते ही जयकुमार को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया और वह 'हा प्रभावती' कहकर मूर्छित हो गया। इतने मे कबूतरो का एक जोडा देखकर सुलोचना भी 'हा रतिवर' कहकर सज्ञाहीन हो गई। दासियो के शीतलोपचार से दोनो की मूर्छा भंग हुई। तभी उन दोनो को अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। जयकुमार के पूछने पर सुलोचना ने अपने मूर्च्छित होने का कारण बताते हुए कबूतर-कबूतरी के पर्याय की कथा सुनाई। फिर प्रभावती और हिरण्यवर्मा के भव की कथा सुनाई।

जयकुमार और सुलोचना मे परस्पर मे बडा प्रेम था। बहुत समय तक इन दोनो ने सासारिक सुखो का भोग किया। एक दिन जयकुमार भगवान वृषभदेव के दर्शनो को गया और उनके उपदेश को सुनकर उसके मन मे ससार से वैराग्य हो गया। उसने आकर अपने पुत्र अनन्तवीर्य का राज्याभिषेक करके अपने भाइयो और चक्रवर्ती के पुत्रो के साथ भगवान के समीप दीक्षा धारण कर ली। वह चार ज्ञान का धारी, सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता और सात ऋद्धियो का स्वामी बना और भगवान का इकहत्तरवाँ गणधर बना। सुलोचना ने भी ब्राह्मी गणिनी के पास दीक्षा ले ली और तप करके अन्त मे अच्युत स्वर्ग में अहमिन्द्र हुई।

२२. भरत का निर्वाण

एक दिन चक्रवर्ती भरत अपने कक्ष में खडे हुए दर्पण मे मुख देख रहे थे। तभी उन्हे अपने केशो में एक सफेद बाल दीखा। उसे देखते ही उनके मन में शरीर और भोगो की असारता को देखकर निर्वेद भर गया। उन्होने तत्काल अपने ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति का राज्याभिषेक किया और वन मे जाकर सकल संयम धारण कर लिया। उन्हे उसी समय मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रगट हो गया।

पहले चक्रवर्ती भरत राजाओ द्वारा पूजित थे। अब भगवान भरत इन्द्रो और देवो द्वारा पूजित हो गये। भगवान भरत ने चिरकाल तक बिहार किया और अपने उपदेशो से असख्य प्राणियो का कल्याण किया। आयु का अन्त निकट जानकर वे कैलाश पर्वत पर पहुँचे और वहाँ योग निरोध करके जन्म-जरा-मरण मे सदा के लिए मुक्त हो गये। वे सिद्ध परमात्मा हो गये।

भगवान के वृषभसैन आदि गणधर, भगवान के पुत्र तथा अन्य अनेक मुनि भी कर्मों का उच्छेद करके मुक्त हो गये।

२३. भरत और भारत

भारत का प्राचीन नाम

हमारा देश भारतवर्ष कहलाता है। इससे पहले इस देश का नाम महाराज नाभिराज के नाम पर अजनाभवर्ष कहलाता था। कही कही इसके स्थान पर अजनाभ खण्ड भी आता है। जब ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने इस देश के छह खण्डो को जीतकर चक्रवर्ती पद धारण किया, तब उन्होने अपने नाम पर इसका नाम भारतवर्ष कर दिया।

जैन साहित्य और भारत—जैन साहित्य मे इस सम्बन्ध मे असदिग्ध शब्दों में उल्लेख मिलते है। भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'आदिपुराण' पर्व १५ श्लोक १५६ में बताया है।

तन्नाम्ना भारतं वर्षमितिहासीज्जनास्पदम्।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्र चक्रभृतामिदम्॥

अर्थात् इतिहास के जानने वालो का कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते है ऐसा यह हिमवान् पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त का चक्रवर्तियो का क्षेत्र भरत के नाम के कारण भारतवर्ष रूप से प्रसिद्ध हुआ। (यही श्लोक पुरुदेव चम्पू ६।३२ मे भी इसी प्रकार मिलता है)।

इसी प्रकार एक स्थान पर उक्त आचार्य कहते हैं—

यन्नाम्ना भरतावनित्वमगमत् षट्खण्ड भूषा मही॥३७।२०३॥

अर्थात् जिसके नाम से षट्खण्डो से विभूपित पृथ्वी भरत भूमि नाम को प्राप्त हुई।

और भी—

ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरत सूनुमग्रिमम्।
भगवान् भारत वर्ष तत्सनाथ व्यधादिदम्॥१७।७६॥

अर्थात् भगवान ऋषभनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके यह घोषणा की कि भरत से शासित देश भारतवर्ष कहलाये।

इसी तथ्य को पद्मपुराण के कर्त्ता आचार्य रविषेण ने कई स्थलो पर स्वीकार किया है। यथा—

ऋषभेण यशोवत्यां जातो भरतकीर्तितः ।
यस्य नाम्ना गतं ख्यातिमेतद्वास्यं जगत्त्रये ।।२०।१२४।।
चक्रवर्तिश्रियं तावत्प्राप्तो भरत भूपतिः ।
यस्य क्षेत्रमिदं नाम्ना जगत्प्रगटतां गतम् ।।४।५६

अर्थात् भगवान ऋषभदेव की यशस्वती रानी से भरत नामक प्रथम चक्रवर्ती हुआ। इस चक्रवर्ती के नाम से ही यह क्षेत्र तीनों जगत में भरत क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान ऋषभदेव का पुत्र राजा भरत चक्रवर्ती की लक्ष्मी को प्राप्त हुआ था और उसी के नाम से यह क्षेत्र ससार में भरत क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसी प्रकार वसुदेव हिण्डि प्रथम खण्ड पृ० १८६ मे बताया है कि—

'तत्थ भरहो भरहवास चूड़ामणि, तस्सेव नामेण इहं भारहवासं ति पव्वुच्चति ।

भारतवर्ष के चूडामणि भरत हुए। उन्ही के नाम से यह भारतवर्ष कहलाता है।

भारतवर्ष का नामकरण किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध मे जैन और हिन्दू पुराण दोनो एकमत है। जिस प्रकार जैन पुराणो मे स्पष्ट शब्दो मे ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर भारत का नामकरण माना है, उसी प्रकार हिन्दू पुराणो में भी ऋषभदेव-पुत्र भरत से ही इस देश का नामकरण स्वीकार किया है। हिन्दू और जैन परम्पराओ मे इस सम्बन्धी ऐकमत्य से इस सम्बन्ध में सन्देह करने अथवा अन्यथा कल्पना करने का कोई अवकाश नही रहता। यहाँ हिन्दू पुराणो के कुछ उद्धरण देना हम आवश्यक समझते है, जिसमे इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पड सके।

अग्नि पुराण हिन्दुओ का प्राचीन ग्रन्थ है। कहते है, इसमे सभी विषयो और विद्याओ का समावेश है। इसमे भरत और भारत के सम्बन्ध मे एक स्थान पर इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम् ।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमाद्देशात्तु नाभितः ।।
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभोऽदात् श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरि गतः ।
भरताद् भारतं वर्ष भरतात् सुमतिस्त्वभूत् । अध्याय १० श्लोक १०-१२

उस हिमवत् प्रदेश में जरा और मृत्यु का भय नही था, धर्म और अधर्म भी नही थे। उनमे समभाव था। वहाँ नाभिराज से मरुदेवी मे ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ से भरत हुए। ऋषभ ने राज्यश्री भरत को प्रदान कर सन्यास ले लिया। भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष पडा। भरत के पुत्र का नाम सुमति था।

आग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः ।।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्र महा प्राव्राज्यमास्थितः ।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः ।।
हिमाव्हं दक्षिणं वर्ष भरताय पिता ददौ ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः ।।

मार्कण्डेय पुराण अ० ५०, श्लोक ३९-४२

आग्नीध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ उत्पन्न हुए जो अपने सौ भाइयो में अग्रज थे। ऋषभदेव ने पुत्र का राज्याभिषेक करके महाप्रव्रज्या धारण कर ली। इस महाभाग ने पुलह आश्रम मे रहकर तप किया।

ऋषभदेव ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण प्रदेश दिया था। उसी भरत महात्मा के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

'नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः ।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।।५०।।

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रज. ।
सोऽभिषिञ्च्याथ भरतं पुत्र प्राव्राज्यमास्थितः ।।५१।।
हिमाव्हयं दक्षिणं वर्ष, भरताय न्यवेदयत् ।
तस्माद् भारत वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।५२।।

—वायु महापुराण पूर्वार्ध अध्याय ३३

(प्राय. सभी पुराणो में समान पाठ है । अत सबके अर्थ करने की आवश्यकता नही है । अर्थ सुस्पष्ट है ।

'नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिम् ।।५६।।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।।६०।।
सोऽभिषिञ्च्यर्षभः पुत्र महाप्राव्राज्यमास्थितः ।
हिमाव्हं दक्षिणं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।६१।।

नाम्ना ब्राह्माण्ड पुराण पूर्वार्ध, अनुषगपाद, अध्याय १४

'नाभेर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च तावदग्रजः । तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष महद् भारतं नाम शशास ।

—वाराह पुराण, अध्याय ७४

'नाभेर्विसर्ग वक्ष्यामि हिमाकेस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ।।१६।।
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः ।।२०।।
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः ।
ज्ञान-वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ।।२१।।
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वातगतो हि सः ।।२२।।
निराशस्त्यक्तसन्देहः शैवमाप परं पदम् ।।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत् ।।२३।।
तस्मात्तु भारतं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।

—लिंग पुराण, अध्याय ४७

'हिमाव्हय तु वै वर्ष नाभेरासीन्महात्मन ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः ।।२७।।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ।
कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान्मखान् ।।२८।।
अभिषिच्य सुतं वीरं भरत पृथिवीपतिः ।
तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रमं ययौ ।।२६।।
ततश्च भारत वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ।
भरताय यतः पित्रा दत्त प्रातिष्ठता वनम् ।।३२।।
सुमतिर्भरतस्याभूत्पुत्रः परम धार्मिकः ।

—विष्णु पुराण, द्वितीय अंश, अध्याय १

'नाभे' पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्ना त्विहं वर्ष भारतं चेति कीर्त्यते ।।५७।।

– स्कन्धपुराण, माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड, अ० ३७

'आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः ।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भरतखण्डमुच्यते ।।५।।

—नारद पुराण, पूर्व खण्ड, अ० ४८

'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।

—श्रीमद्भागवत ५।४।६

'अजनाभं नामैतद् वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ।

श्रीमद्भागवत ५।६।३

तस्य पुत्रश्च वृषभो वृषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्नात्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते ।।

–शिवपुराण ३७।५७

इस प्रकार हम देखते है कि जैन और हिन्दू सभी पुराण ऋषभदेव के पुत्र भरत से अजनाभवर्ष अथवा हिमवत् क्षेत्र का नाम भारतवर्ष पडा, इस बात मे एकमत है ।

कुछ हिन्दू इतिहासकार इस सर्वमान्य तथ्य की उपेक्षा करके दौष्यन्ति भरत से भारतवर्ष के नामकरण का सम्बन्ध जोडने की चेष्टा करते है । वे केवल आग्रहवश ही ऐसा करते हैं, उनके पास इसके लिये कोई पौराणिक या दूसरे प्रकार का साक्ष्य नही है । इतिहास के तथ्य आग्रहो से सिद्ध नही किये जा सकते । दुष्यन्त-पुत्र भरत के चरित्र का वर्णन श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध मे विस्तार से दिया गया है । उसमें बताया है कि 'भरत ने ममता के पुत्र दीर्घतमा मुनि को पुरोहित बनाकर गगातट पर गगासागर मे लेकर गगोत्री पर्यन्त पचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये । इसी प्रकार यमुना तट पर भी प्रयाग से लेकर यमुनोत्री तक अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये . .भरत ने सत्ताईस हजार वर्ष तक समस्त दिशाओ का एकछत्र शासन किया ।' अन्त मे वे ससार से उदासीन हो गये । इस सारे चरित्र मे कही पर ऐसा एक भी शब्द नही आया, जिससे यह ध्वनित होता हो कि उनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पडा । जो लोग इतने स्पष्ट साक्ष्यो के बावजूद दुष्यन्त-पुत्र भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष बताने का साहस करते है, उन्हे एक बात का उत्तर देना होगा । दुष्यन्त-पुत्र भरत चन्द्र वश के शिरोमणि थे । उनसे पूर्व इक्ष्वाकु वश, सूर्य वश और चन्द्रवश के हजारो राजाओ ने यहाँ शासन किया था । उन राजाओ के काल मे इस देश का नाम क्या था और क्या ऋषभ-पुत्र भरत से भारतवर्ष के नामकरण का सम्बन्ध जोडने वाले ये सारे पुराण मिथ्या सिद्ध नही हो जायेगे ? किन्तु यह तो किसी को भी अभीष्ट न होगा । अत इस निर्विवाद तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि इस देश का नाम ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही भारतवर्ष पडा, न कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम पर ।

तृतीय परिच्छेद

भगवान अजितनाथ

तीर्थंकर नामकर्म सातिशय पुण्य प्रकृति है। यह प्रकृति उसी महाभाग के बधती है, जिसने किसी पूर्व जन्म मे दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तन किया हो, तदनुकूल अपना जीवन-व्यवहार बनाया हो और जिसके मन मे सदाकाल यह भावना जागृत रहती हो—'ससार में दु.ख ही दु ख है। प्रत्येक प्राणी यहाँ दु खो से व्याकुल है। मै इन प्राणियो का दु ख किस प्रकार दूर करूँ, जिससे ये सुखी हो सके।' सम्पूर्ण प्राणियो के सुख की निरन्तर कामना करने वाले महामना मानव को तीर्थंकर प्रकृति का बध होता है अर्थात् आगामी काल मे तीर्थंकर बनता है। द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ ने भी पहले एक जन्म में इसी प्रकार की भावना की थी। उसकी कथा इस प्रकार है :—

पूर्व भव

वत्स देश मे सुसीमा नाम की एक नगरी थी। वहाँ का नरेश विमलवाहन बडा तेजस्वी और गुणवान था। उसमे उत्साह शक्ति, मत्रशक्ति और फलशक्ति थी। वह उत्साह सिद्धि, मत्रसिद्धि और फलसिद्धि से युक्त था। वह पुत्र के समान अपनी प्रजा का पालन करता था। उसके पास भोगो के सभी साधन थे, किन्तु उसका मन कभी भोगो मे आसक्त नही होता था। वह सदा जीवन की वास्तविकता के बारे में विचार किया करता—जिस जीवन के प्रति हमारी इतनी आसक्ति है, इतना अहंकार है, वह सीमित है। क्षण-प्रतिक्षण वह छीज रहा है और एक दिन वह समाप्त हो जायगा। इसलिए भोगो में इसका व्यय न करके आत्म-कल्याण के लिये इसका उपयोग करना चाहिए।

यह विचार कर उसने एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट करना उचित नही समझा और अपने पुत्र को राज्य-शासन सौपकर अनेक राजाओं के साथ उसने दैगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। उसने ग्यारह अगो का ज्ञान प्राप्त कर लिया, दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तवन किया। फलत उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में पच परमेष्ठियो मे मन स्थिर कर समाधिमरण कर वह विजय नामक अनुत्तर विमान मे उत्पन्न हुआ।

भगवान के जन्म लेने से छह माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने साकेत नगरी के अधिपति इक्ष्वाकु वशी और काश्यपगोत्री राजा जितशत्रु के भवनो मे रत्नवर्षा की। ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को महाराज जितशत्रु की रानी विजयसेना के गर्भ मे विमलवाहन का जीव स्वर्ग से आयु पूर्ण होने पर अवतरित हुआ। उस रात्रि के अन्तिम प्रहर मे महारानी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। स्वप्न दर्शन के पश्चात् उन्होने देखा कि मुख मे एक मदोन्मत्त हाथी प्रवेश कर रहा है। प्रात काल होने पर महारानी ने अपने पति के पास जाकर स्वप्नो की चर्चा की और उनका फल जानना चाहा। महाराज ने अपने अवधिज्ञान से जानकर हर्षपूर्वक बताया कि तुम्हारे गर्भ मे तीर्थंकर अवतीर्ण हुए है।

भगवान अजितनाथ का गर्भकल्याणक

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला दशमी के दिन प्रजेश योग मे तीर्थंकर भगवान का जन्म हुआ। जन्म होते ही इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान का जन्म-कल्याणक मनाया और सुमेरु पर्वत पर ले जाकर पाण्डुक शिला पर उनका जन्माभिषेक किया। उनका वर्ण तप्त स्वर्ण के समान था। आपका चिन्ह हाथी था।

भगवान का जन्म महोत्सव

जब भगवान को यौवन दशा प्राप्त हुई तो उनका अनेक सुन्दरी राजकन्याओ के साथ विवाह हो गया और वे ससार के भोग भोगने लगे। राजा जितशत्रु अब वृद्ध हो चुके थे। उन्होंने अपने पुत्र को बुलाकर स्वय मुनि-दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की और राज्य-भार उन्हे सौंपकर वन में जाकर दीक्षा लेली। अब भगवान अजितनाथ प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा उनके न्याय और व्यवहार के कारण उन्हे प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थी।

यद्यपि अजितनाथ भगवान राज्य कर रहे थे और स्त्रियो का भोग भी करते थे, किन्तु उनके मन मे सदा विराग की ही भावना रहती थी। वे भोगो मे कभी आसक्त नही हुए। वे अनासक्त वृत्ति से ही ससार के सब कार्य किया करते थे। एक दिन वे महल की छत पर बैठे हुए प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि उन्हे बादलो मे एक क्षण को उल्का दिखाई पडी और तत्क्षण वह विलीन हो गई। भगवान को इस चचल और अस्थिर उल्का को देखकर बोध हुआ—ससार के भोग और यह लक्ष्मी भी इसी प्रकार चचल और अस्थिर है। उन्होने इन भोगो और इस विनश्वर लक्ष्मी का त्याग करने का तत्काल मन मे सकल्प कर लिया। तभी लौकान्तिक देवो ने ब्रह्म स्वर्ग से आकर भगवान के सकल्प की सराहना की। भगवान ने अपने पुत्र अजितसेन का राज्याभिषेक किया और दीक्षा लेने चल दिए। इन्द्रो और देवो ने उनका निष्क्रमण महोत्सव मनाया। भगवान ने माघ शुक्ला ९ को रोहिणी नक्षत्र का उदय रहते सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे सायकाल के समय एक हजार राजाओ के साथ दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हे तत्काल मन पर्यय ज्ञान हो गया।

भगवान का दीक्षा-ग्रहण

उन्होने दूसरे दिन साकेत नगरी मे ब्रह्मा नामक राजा के घर आहार लिया। वे फिर वनो मे जाकर घोर तप करने लगे। बारह वर्ष तपस्या करने के पश्चात् उन्हे पौष शुक्ला एकादशी की सन्ध्या के समय रोहिणी नक्षत्र मे लोकालोक प्रकाशक निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रो और देवो ने आकर केवलज्ञान की पूजा की। समवसरण की रचना हुई और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान को केवल ज्ञान

उनके परिकर मे ९० गणधर, ३७५० पूर्वधारी, २१६०० शिक्षक, ९४०० अवधिज्ञानी, २०००० केवल ज्ञानी, २०४०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १२४५० मन पर्ययज्ञानी और १२४०० अनुत्तरवादी थे। कुल एक लाख मुनि, तीन लाख बीस हजार आर्यिकाये, तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्राविकाये थी।

भगवान का परिवार

उन्होने समस्त आर्य क्षेत्र मे विहार किया। उनके उपदेशो को सुनकर असख्य प्राणियो ने आत्म-कल्याण किया। अन्त मे सम्मेदाचल पर पहुँचकर एक माह का योग-निरोध करके समस्त अवशिष्ट कर्मो का क्षय कर दिया और चैत्र शुक्ला पचमी को प्रात काल के समय भगवान को निर्वाण प्राप्त हो गया।

भगवान का निर्वाण कल्याणक

भगवान अजितनाथ भगवान ऋषभदेव के काफी समय पश्चात् उत्पन्न हुए थे। भगवान अजितनाथ को जब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब तक भगवान ऋषभदेव का तीर्थ प्रचलित था। केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान अजितनाथ का तीर्थ प्रवृत्त हुआ और वह तीसरे तीर्थंकर सभवनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने तक चला। आपके समय मे दूसरा रुद्र हुआ।

भगवान अजितनाथ का तीर्थ

यक्ष-यक्षिणी—आपका सेवक महायक्ष और सेविका रोहिणी यक्षिणी थी।

सगर चक्रवर्ती

वत्स देश के पृथ्वी नगर का अधिपति जयसेन नामक राजा राज्य करता था। जयसेना उसकी रानी थी और रतिषेण एवं धृतिषेण नामक उसके दो पुत्र थे। दोनों ही पुत्र पिता को प्राणों के समान प्रिय थे। दुर्भाग्यवश रतिषेण की मृत्यु हो गयी। इस असह्य आघात से जयसेन बहुत शोकाकुल हो गया। इस अवस्था मे वह धर्म की ओर अधिक ध्यान देने लगा, जिससे शोक का भार कम होकर शान्ति मिल सके। एक दिन विचार करते करते उसे ससार के इस भयानक रूप को देख कर वैराग्य हो गया और उसने धृतिषेण नामक पुत्र को राज्य-भार सौंप कर अनेक राजाओं और महारुत नामक अपने साले के साथ यशोधर मुनिराज के पास सकल सयम धारण कर लिया अर्थात् वह मुनि बन गया। जयसेन और महारुत ने घोर तप किया। अन्त मे समाधिमरण किया और वे दोनों अच्युत नामक देव हुए। दोनों के नाम क्रमश महाबल और मणिकेतु हुए। स्वर्ग मे भी दोनों मे बड़ी प्रीति थी। उन दोनों देवों ने एक दिन प्रतिज्ञा की कि हम लोगों मे जो पहले पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर मनुष्य बनेगा, उसे दूसरा देव समझाने जावेगा और दीक्षा लेने की प्रेरणा करेगा।

षट् खण्ड का अधिपति सगर चक्रवर्ती

महाबल देव अपनी आयु पूर्ण होने पर अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशी नरेश समुद्रविजय और रानी सुबाला के सगर नाम का पुत्र हुआ। एक दिन उसकी आयुधशाला मे चक्र रत्न उत्पन्न हुआ। उसने चक्र रत्न की सहायता से भरत क्षेत्र के षट्खण्डों पर विजय प्राप्त की और वह चक्रवर्ती पद से विभूषित हुआ। चक्रवर्ती भरत के समान ही उसकी विभूति थी। उसके महा प्रतापी साठ हजार पुत्र हुए।

एक समय सिद्धिवन मे चतुर्मुख नामक एक मुनिराज को केवलज्ञान प्रगट हुआ। उसके ज्ञान की पूजा करने के लिए इन्द्र और देव आये। मणिकेतु देव भी उनके साथ आया। वहाँ उसे अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि हमारा मित्र महाबल यहाँ सगर नामक चक्रवर्ती हुआ और भोगो मे आसक्त है। वह अपने मित्र के पास आया। वह सगर से मिला और अपना परिचय देकर तथा दोनों मे हुई प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाकर उसे मुनि-दीक्षा लेने की प्रेरणा की। किन्तु सगर के ऊपर इसका कुछ प्रभाव नही पडा।

मणिकेतु द्वारा सगर को समझाने का यत्न

कुछ समय पश्चात् मणिकेतु देव चारणऋद्धिधारी मुनि का रूप धारण करके सगर के चैत्यालय मे आकर ठहरा। सगर ने मुनिराज को देखकर उनकी पाद वन्दना की और उनके सुकुमार रूप को देखकर पूछा—'आपने इस अल्प वय मे क्यों मुनि-दीक्षा ली है?' वह देव बोला-'ससार मे दुःख ही दुःख है। यहाँ सदा इष्ट-वियोग और अनिष्ट-सयोग होते रहते है। मै इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह सब कर्मों के कारण है। मै तप के द्वारा इन कर्मों का ही विनाश करना चाहता हूँ। चक्रवर्ती ने सुना किन्तु पुत्रों के मोह के कारण उसने देव के इस कथन की भी उपेक्षा कर दी। वह देव पुन निराश होकर वापिस चला गया।

किसी समय चक्रवर्ती राज्य सभा मे सिहासन पर विराजमान थे। तभी उसके साठ हजार पुत्र आये और पिता से कहने लगे 'हम लोग क्षत्रिय-पुत्र है। निठल्ले बैठना हमे अच्छा नही लगता। आप हमें कोई कार्य दीजिये, अन्यथा भोजन भी नही करेगे। चक्रवर्ती पुत्रों की बात सुनकर चिन्ता मे पड गये। फिर विचार कर बोले-'पुत्रो! भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर रत्नमय चौबीस जिनालय बनवाये थे। तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गगा

नदी की परिखा बनादो।' पुत्र यह काम पाकर बडे प्रसन्न हुए और पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न लेकर उसके द्वारा उन मन्दिरो के चारो ओर परिखा खोद दी।

मणिकेतु देव अपने मित्र का हित-सपादन करने के सद्भाव से पुन. स्वर्ग से आया और जहाँ वे साठ हजार राजपुत्र परिखा खोद रहे थे, वहाँ भयकर नाग का रूप धारण कर वह पहुँचा। उसकी विषमयी फुकार के द्वारा सभी राजकुमार भस्म हो गये।

इसके पश्चात् मणिकेतु ब्राह्मण का रूप धारण कर चक्रवर्ती के पास पहुँचा और बडे शोकपूरित स्वर में बोला—देव! आपके शासन की छाया में रहते हुए हमें कोई दु ख नही है। किन्तु असमय मे ही यमराज मेरे एक मात्र पुत्र को मुझसे छीन ले गया है। यदि आप उसे जीवित नही करेंगे तो मेरा भी मरण निश्चित समझें।

चक्रवर्ती ने सान्त्वना देते हुए कहा—विप्रवर्य! जो ससार मे आया है, यमराज उसे नही छोडता। तुम यदि यमराज को पराजित करना चाहते हो तो तुम घरवार का मोह छोड कर मुनि-दीक्षा ले लो।

तब देव मन मे प्रसन्न होता हुआ बोला—देव सत्य कहते है। यमराज को जीतने का एकमात्र उपाय है मुनि-दीक्षा। किन्तु देव मेरी एक बात सुनें। आपके साठ हजार पुत्र कैलाश पर्वत पर परिखा खोदने गये थे, उन्हे यमराज हर ले गया। अब आपको भी यमराज को जीतने के लिए मुनि-दीक्षा ले लेनी चाहिये।

ब्राह्मण के ये वचन सुनते ही चक्रवर्ती मूर्छित होकर गिर पडे। कुछ समय पश्चात् उपचार से वे सचेत हुए और विचार करने लगे—धिक्कार है इस मोह को, जिसके कारण मै अभी तक ससार का वास्तविक रूप नही समझ पाया।

सगर द्वारा मुनि दीक्षा

उन्होने तत्काल भगलि देश के राजा सिहविक्रम की पुत्री विदर्भा के पुत्र भगीरथ को राज्य-भार सौप दिया और दृढधर्मा केवली के समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली। मणिकेतु देव ने कैलाश पर्वत पर जाकर उन राजकुमारो को सचेत किया और कहा—आपके पिता को किसी ने आपके मरण का दुस्सवाद सुना दिया था, जिसे सुनकर वे भगीरथ को राज्य देकर मुनि बन गये है।

ब्राह्मण वेषधारी देव के ये वचन सुनकर उन राजकुमारों को भी वैराग्य हो गया और वे भी मुनि बन गये और तप करने लगे। फिर वह देव सगर मुनि के पास गया और उनसे सब वृत्तान्त सुनाकर क्षमा मागी।

सगर का निर्वाण

सगर तथा साठ हजार मुनियो ने घोर तप किया और सम्मेदगिरि पर जाकर मुक्त हो गये। भगीरथ ने जब यह समाचार सुना तो उसे बडा वैराग्य हुआ और उसने वरदत्त पुत्र को राज्य देकर कैलाश पर्वत पर शिवगुप्त मुनिराज से दीक्षा ले ली।

तीर्थ के रूप में गंगा की प्रसिद्धि का कारण

उन्होने गगा-तट पर प्रतिमा योग धारण करके घोर तप किया। उनके तप की कीर्ति दिग्दिगन्तो मे फैल गयी। इन्द्र ने क्षीर सागर के जल से महामुनि भगीरथ के चरणो का अभिषक किया। वह पवित्र जल बह कर गगा मे जा मिला। तभी से गगा नदी को पवित्र तीर्थ मानने की मान्यता लोक मे प्रचलित हो गई। भगीरथ गगा नदी के तट पर उत्कृष्ट तप कर वही से निर्वाण को प्राप्त हुए।

चतुर्थ परिच्छेद

भगवान सम्भवनाथ

विदेह क्षेत्र मे सीता नदी के उत्तरी तट पर कच्छ नामक देश था। वहाँ का राजा विमलवाहन था। वह राज्य के विपुल भोगो के मध्य रहकर भी अनासक्त जीवन व्यतीत करता था। एक दिन उसने भोगो पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से राजपाट अपने पुत्र विमलकीर्ति को सौपकर भगवान स्वयप्रभ तीर्थकर के चरणो मे मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होने ग्यारह अगो का ज्ञान प्राप्त कर तीर्थकर के चरण मूल में सोलह कारण भावनाएँ भाई। इससे उन्होने तीर्थकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। आयु के अन्त मे सन्यास मरण करके प्रथम[1] ग्रैवेयक के सुदर्शन विमान मे अहमिन्द्र देव हुए। वहाँ भी उनकी भावना और आचरण धर्ममय था और सदा धार्मिक चर्चा मे ही समय व्यतीत होता था। वहाँ का विपुल वैभव और भोग की सामग्री भी उन्हे लुभा न सकी।

पूर्व भव

श्रावस्ती नगरी के अधिपति दृढराज्य[2] बडे प्रभावशाली नरेश थे। उनकी धर्म-प्राण महारानी का नाम सुषेणा था। सुषेणा माता के गर्भ मे तीर्थकर प्रभु अवतार लेने वाले है, इस बात की सूचना देने के लिये ही मानो गर्भावतरण से छह माह पूर्व से ही रत्नवृष्टि होना प्रारम्भ होगई। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के प्रात काल माता सुषेणा ने सोलह स्वप्न देखे। इन स्वप्नो के बाद में उन्होने स्वप्न मे देखा कि एक विशालकाय हाथी उनके मुख मे प्रवेश कर रहा है। उन्होने पति देव से स्वप्नो की चर्चा की। महाराज हर्षित होकर स्वप्न-फल बताते हुए बोले—देवी! त्रिलोकीनाथ तीर्थकर भगवान हमारे पुण्योदय से हमारे घर में जन्म लेने वाले है। महारानी को सुनकर बडा आनन्द प्राप्त हुआ। उसी रात्रि को उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आया।

गर्भकल्याणक

नौ माह व्यतीत होने पर कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी[3] के दिन मृगशिरा नक्षत्र और सौम्य योग में मति-श्रुत-अवधि ज्ञानधारी पुत्र का जन्म हुआ। इन्द्रो और देवो ने भगवान का जन्म-महोत्सव मनाया, उन्हे सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया। फिर बाल प्रभु को श्रावस्ती के राज प्रासादो मे लाकर सौधर्म इन्द्र ने उनका नाम 'सभव' रक्खा और वहाँ आनन्द नाटक करके देवो के साथ स्वर्ग चला गया। आपका घोडे का चिन्ह था।

जन्म कल्याणक

कुमार सभव दिव्य सुखो का भोग करते थे। दिव्य वस्त्रालंकार धारण करते थे। युवावस्था मे पिता ने उनका राज्याभिषेक करके दीक्षा धारण कर ली। अब महाराज सभवकुमार प्रजा का पालन करने लगे। उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दर और सुशील थी। उन्हे मनवाछित सुख प्राप्त थे।

---

१. श्वेताम्बर मान्यतानुसार सप्तम ग्रैवेयक

२. तिलोयपण्णत्ती के अनुसार पिता का नाम जितारि और माता का नाम सुषेना, श्वेताम्बर मान्यतानुसार पिता जितारि और माता का नाम सेनादेवी था।

३. उत्तर पुराण के अनुसार। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मगसिर शुक्ला १५। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार मगसिर शुक्ला १४।

प्रभु एक दिन अपने प्रासाद को छत पर बैठे हुए थे । सुहावना मौसम था। शीतल पवन बह रहा था। आकाश में मेघ आँखमिचौनी करते डोल रहे थे। तभी यकायक मेघ न जाने, कहाँ विलीन होगये। भगवान के मन में विचार आया-जीवन और वैभव, भोग और ससार के सम्पूर्ण पदार्थ इन चचल

निष्क्रमण कल्याणक बादलो के समान क्षणभगुर है। जीवन के अमोल क्षण इन भोगो में ही बीते जा रहे है, अब मुझे आत्म-कल्याण करना है और इस जन्म-मरण के पाश को सदा के लिये काटना है।

तभी पाचवे स्वर्ग की आठो दिशाओ में रहने वाले लौकान्तिक देव आये और उन्होने भगवान के वैराग्य की सराहना की और भगवान की स्तुति करके लौट गये।

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य देकर दीक्षा के लिये देवो द्वारा लाई हुई सिद्धार्थ पालकी मे प्रस्थान किया और नगर के बाहर सहेतुक वन मे शाल्मली वृक्ष के नीचे एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हे मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दीक्षा लेकर ध्यानारूढ हो गये। दूसरे दिन आहार के लिये वे श्रावस्ती नगरो मे पधारे और सुरेन्द्रदत्त नामक राजा ने उन्हे पडगाह कर आहार दिया। भगवान के प्रताप से देवों ने पचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान सभवनाथ चौदह वर्ष तक विभिन्न स्थानो पर विहार करके तप करते रहे। तदनन्तर वे दीक्षा वन मे पहुचे और कार्तिक कृष्णा चतुर्थी के दिन मृगशिर नक्षत्र मे चार घातिया कर्मो का नाश करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुए, चारो प्रकार के देवो ने आकर भगवान का कैवल्य महोत्सव किया और केवलज्ञान की पूजा की। भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि समवसरण मे इसी दिन खिरी।

भगवान के मुख्य गणधर का नाम चारुषेण था। उनके गणधरो की कुल सख्या १०५ थी। उनके सघ मे २१५० पूर्वधारी, १२९३०० उपाध्याय, ९६०० अवधिज्ञानी, १५००० केवल ज्ञानी, १९८०० विक्रिया-ऋद्धिधारी, १२१५० मनःपर्ययज्ञानी, १२००० वादी मुनि थे। इस प्रकार मुनियो की

भगवान का परिकर कुल सख्या दो लाख थी, आर्यिकाये तीन लाख बीस हजार थी। उनके अनुयायी श्रावको की सख्या तीन लाख तथा श्राविकाये पाच लाख थी। भगवान ने आर्य देशो मे बिहार करके धर्म की देशना दी। अनेक जीवो ने उनका उपदेश सुनकर कल्याण किया।

निर्वाण महोत्सव—आयु का जब एक माह अवशिष्ट रह गया, तब भगवान ने एक हजार मुनियो के साथ सम्मेदशिखर पर प्रतिमायोग धारण कर लिया और चैत्र शुक्ला षष्ठी को सम्पूर्ण अवशिष्ट अघातिया कर्मो का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। मनुष्यों और देवो ने वहाँ आकर भगवान का निर्वाण महोत्सव मनाया।

यक्ष यक्षिणी—आपका श्रीमुख यक्ष और प्रज्ञप्ति यक्षिणी थी।

श्रावस्ती—यह उत्तर प्रदेश मे बलरामपुर-बहराइच रोड के किनारे है। बलरामपुर मे बस, टैक्सी और जीप भी मिलती है। अयोध्या से गोंडा होते हुए यह ९८ मील है।

प्राचीन भारत मे कोशल जनपद था। कोशल के दक्षिणी भाग की राजधानी अयोध्या थी और उत्तर कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी। महावीर के काल मे यहाँ का राजा प्रसेनजित था। जब महावीर बाईस वर्ष के थे, उस समय यहाँ भयकर बाढ आई। अचिरावती (राप्ती) के किनारे अनाथपिण्डद सेठ सुदत्त की अठारह करोड मुद्राये गढी थी। बाढ मे वे सब बह गयी।

यहाँ जितशत्रु नरेश के पुत्र मृगध्वज ने मुनि-दीक्षा ली और यही पर उनका निर्वाण हुआ। (हरिवश पुराण २८।२९)

सेठ नागदत्त ने स्त्री-चरित्र से खिन्न होकर मुनि-व्रत धारण किये और यही से मुक्त हुए। (करकण्डु चरिउ)

इस प्रकार यह सिद्धक्षेत्र भी है।

यह उस समय व्यापारिक केन्द्र था और बडा समृद्ध नगर कहलाता था। इसकी यह समृद्धि १२-१३ वीं शताब्दी तक ही रही। महमूद गजनवी भारत के अनेक नगरो को लूटता और जलाता हुआ जब गजनी लौट गया

तो वह अपने पीछे अपने भानजे सैयद सालार मसऊद गाजी को बहुत बडी सेना देकर अवध-विजय के लिये छोड गया। वह अवध को जीतता हुआ बहराइच तक पहुँच गया। उस समय श्रावस्ती का राजा सुहलदेव अथवा सुहृद्ध्वज था। वह जैन था। जैन युद्ध में कभी पीछे नही हटे। सुहलदेव भी सेना सजाकर कौडियाला के मैदान मे पहुँचा। गाजी और सुहलदेव का वहाँ डटकर मोर्चा हुआ। इस युद्ध मे सन् १०३४ मे सैयद सालार और उसकी सारी फौज सुहलदेव के हाथो मारी गई। जैन राजा जितने अहिसक होते थे, उतने देशभक्त और वीर भी होते थे। किसी जैन राजा ने कभी देश के प्रति विश्वासघात किया हो अथवा युद्ध से मुह मोड़ कर भागा हो, ऐसा एक भी उदाहरण इतिहास में नही मिलता।

कभी यह नगरी अत्यन्त समृद्ध थी। किन्तु आततताइयो ने या प्रकृति ने इसे खण्डहर के रूप मे परिवर्तित कर दिया। ये खण्डहर सहेट महेट नाम से मीलो में बिखरे पडे है। यहाँ पुरातत्व विभाग की ओर से कई बार खुदाई हो चुकी है। फलत यहाँ महत्त्वपूर्ण पुरातत्व सामग्री निकली है। इस सामग्री मे जैन स्तूपो और

पुरातत्त्व

मन्दिरो के अवशेष, मूर्तियाँ, ताम्रपत्र आदि भी निकले है। सहेट भाग मे प्राय बौद्ध सामग्री मिली है और महेट भाग मे प्राय. जैन सामग्री। यह सामग्री ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर बारहवी शताब्दी तक की है। इमलिया दरवाजे के निकट भगवान सम्भवनाथ का जीर्ण शीर्ण मन्दिर खडा है। यह अब सोभनाथ का मन्दिर कहलाता है, जो सभवनाथ का ही विकृत रूप है। खुदाई के समय यहाँ अनेक जैन मूर्तियाँ मिली थी। इनके अतिरिक्त चैत्यवृक्ष, शासन देवताओ की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई थी। ये सब प्राय ११-१२ वी शताब्दी की है। पुरातत्ववेत्ताओ की मान्यता है कि यहाँ आसपास अठारह जैन मन्दिर थे, जिनके अवशेषो पर अब झाडियाँ और पेड उग आये है। कुछ लोगो की मान्यता है कि चन्द्रप्रभ भगवान का जन्म स्थान यही पर था।

यहाँ बौद्धो के तीन नवीन मन्दिर बन चुके है और वैशाखी पूर्णिमा को उनका मेला लगता है, जिसमें अनेक देशो के बौद्ध आते है।

पंचम परिच्छेद

भगवान अभिनंदननाथ

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर मगलावली नाम का एक देश था। उसमें रत्न-सचय नामक नगर मे महाबल नाम का एक राजा था। वह कीर्ति, सरस्वती और लक्ष्मी तीनो का ही स्वामी था।

पूर्व भव

एक दिन उसने आत्म-कल्याण की भावना से राजपाट अपने पुत्र धनपाल को सौपकर विमल-वाहन नामक मुनिराज के पास सयम धारण कर लिया। कुछ ही काल मे वह ग्यारह अगों का पाठी हो गया। उसने सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको अपने जीवन मे मूर्त रूप दिया। अत उसे तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में उसने समाधिमरण किया और विजय नामक पहले अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र हुआ।

गर्भावतरण

अयोध्या नगरी का इक्ष्वाकु वशी काश्यपगोत्री स्वयबर नामक एक राजा था। उसकी पटरानी का नाम सिद्धार्था था। भगवान के गर्भावतरण से छह माह पूर्व से देवो ने रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। बैशाख शुक्ला षष्ठी को पुनर्वसु नक्षत्र मे महारानी को सोलह स्वप्न दिखाई दिए। स्वप्नो के पश्चात् उसने अपने मुख मे प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। उसी समय विजय विमान से वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण करके उसके गर्भ में आया। पति से स्वप्नो का फल सुनकर महारानी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई।

जन्म कल्याणक

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वादशी को अदिति योग मे माता ने पुत्र उत्पन्न किया। इन्द्रो और देवो ने आकर सुमेरु पर्वत पर ले जाकर एक हजार आठ कलशो से उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने बाल प्रभ का शृ गार किया। उनकी भुवनमोहिनी छवि को हजार नेत्र बनाकर सौधर्मेन्द्र देखता रहा और भक्ति मे विह्वल होकर उसने ताडव नृत्य किया। फिर वहाँ से लौटकर देव भगवान को अयोध्या लाये। इन्द्र ने बाल प्रभु को माता-पिता को सौपकर आनन्द मनाया और बालक का नाम 'अभिनन्दननाथ' रखकर सब देवों के साथ वह स्वर्ग को वापिस चला गया। उनका जन्म लाछन बन्दर था।

दीक्षा कल्याणक

यौवन प्राप्त होने पर उनका विवाह पिता ने सुन्दर राजकन्याओ के साथ कर दिया और उनका राज्या-भिषेक करके मुनि-दीक्षा लेली। महाराज अभिनन्दन नाथ राज्य-कार्य करने लगे। एक दिन वे आकाश में मेघो की शोभा देख रहे थे। मेघो में गन्धर्व नगर का आकार बना हुआ दीख पडा। थोडी देर में वह आकार नष्ट हो गया। मेघ भी विलीन हो गये। प्रकृति की इस चचलता का प्रभाव भगवान के मन पर पडा। वे चिन्तन मे डूब गये—ससार के भोगो की यही दशा है। ये शाश्वत नहीं है, क्षणिक है। इनमे सुख नही, सुख की कल्पना मात्र है। आत्मा का सुख ही शाश्वत है, वही वास्तविक है। मुझे उसी शाश्वत के लिये प्रयत्न करना है।

तभी लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की पूजा की और उनके सकल्प की सराहना की। देवो ने भगवान का निष्क्रमण कल्याणक मनाया। भगवान हस्तचित्रा नामक पालकी में विराजमान होकर नगर के बाहर अग्र उद्यान में पधारे। वहाँ उन्होंने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन अपने जन्म-नक्षत्र के समय एक हजार राजाओं के साथ शाल्मली वक्ष के नीचे जिन-दीक्षा धारण कर ली और ध्यान लगाकर बैठ गये। दूसरे दिन वे पारणा के निमित्त

अयोध्या नगरी मे पधारे। वहाँ इन्द्रदत्त ने आहार-दान देकर पुण्योपार्जन किया। देवो ने पचाश्चर्य किये।

भगवान ने अठारह वर्ष तक मौन रहकर विभिन्न स्थानो मे विहार किया। वे नाना प्रकार के तप करते रहे। एक दिन भगवान दीक्षा-वन मे असन वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ हो गये। तभी पौष शुक्ला चतुर्दशी के दिन शाम के समय पुनर्वसु नक्षत्र मे उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तभी देवों और इन्द्रो ने आकर उनकी पूजा की। समवसरण की रचना हुई। उसमें गन्धकुटी में बैठकर भगवान की दिव्य देशना प्रगट हुई।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान का परिकर—भगवान के परिकर मे वज्रनाभि आदि १०३ गणधर थे। २५०० पूर्वधारी, २३००५० शिक्षक, ६८०० अवधिज्ञानी, १६००० केवलज्ञानी, १९००० विक्रियाऋद्धिधारी, ११६५० मन पर्यय-ज्ञानी और ११००० प्रचण्ड वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियो की सख्या तीन लाख थी। इनके अतिरिक्त ३३०६०० अर्जिकाये, ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये थी।

दीर्घ काल तक भगवान ने समस्त देशो में विहार करके उपदेश दिया और असख्य जीवो का कल्याण किया। जब आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेदशिखर पर पधारे। वे एक माह तक ध्यानारूढ रहे। अन्त मे उन्होंने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन प्रात काल के समय पुनर्वसु नक्षत्र मे अनेक मुनियो के साथ मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

निर्वाण कल्याणक

भगवान सभवनाथ का तीर्थ भगवान अभिनन्दननाथ की केवलज्ञान-प्राप्ति तक रहा। जब भगवान अभिनन्दननाथ की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी, तबसे उनका तीर्थ प्रवृत्त हुआ। तीर्थंकर का धर्म-चक्र-प्रवर्तन ही तीर्थ प्रवर्तन कहलाता है।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और यक्षिणी का नाम वज्रशृंखला था।

षष्ठ

भगवान सुमतिनाथ

पूर्व भव

धातकी खण्ड द्वीप में पूर्व मेरु पर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेह क्षेत्र मे सीतानदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामक एक देश था। उसमे पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी थी, जिसमे रतिषेण नाम का राजा राज्य करता था। उसने खूब धन अर्जित किया और खूब धर्म करता था। एक दिन उसने विचार किया—अर्थ और काम से तो सुख मिल नही सकता। सुख केवल धर्म से ही प्राप्त हो सकता है। अत उसने अपने पुत्र अतिरथ को राज्य सौपकर मुनि-दीक्षा लेली और भगवान अभिनन्दन के चरण मूल मे उसने ग्यारह अगो का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तन और व्यवहार करने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। आयु के अन्त मे समाधिमरण करके वैजयन्त विमान मे वह अहमिन्द्र बना।

गर्भ कल्याणक

अयोध्या नगरी के राजा का नाम मेघरथ[1] था। वह भगवान ऋषभदेव के वश और गोत्र का था। उसकी पटरानी मगला थी। भगवान के गर्भावतार मे छह माह पहले से उनके प्रासाद मे रत्नवर्षा हुई जो पन्द्रह माह तक होती रही। एक दिन रानी ने श्रावण शुक्ला द्वितीया को मघा नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे। तदनन्तर उन्होने अपने मुख मे एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा। महाराज ने महारानी के मुख से स्वप्नो की बात सुनकर हर्षपूर्वक कहा—देवि ! तुम्हारी कुक्षि मे तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है। स्वप्न का फल सुनकर महारानी को बडी प्रसन्नता हुई। वह अहमिन्द्र ही उनके गर्भ मे आया था।

जन्म कल्याणक

नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र मे महारानी मगला ने तीन ज्ञान के धारी त्रिभुवनपति को जन्म दिया। चारो निकाय के देव और इन्द्र वहाँ आये। उन्होने भगवान के दर्शन करके अपना जन्म सफल माना। वे बालक प्रभु को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होने पाण्डुक शिला पर विराजमान करके क्षीर सागर के जल से भगवान का अभिषेक किया। इन्द्र ने भगवान की भक्ति करके उनका नाम सुमतिनाथ रखा। चक्रवाक पक्षी इनका चिन्ह था।

भगवान धीरे-धीरे दूज के चन्द्रमा की भाँति बढने लगे। वे रूप मे कामदेव को लज्जित करते थे। इस प्रकार क्रमश वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए। पिता मेघरथ ने आत्मकल्याण के लिये अपने त्रिलोक के गुरु पुत्र को राज्य देकर मुनि-दीक्षा ले ली। भगवान ने न्यायपूर्वक राज्य चलाया। अनेक स्त्रियो के साथ सासारिक भोग भोगे। वे इन्द्र द्वारा भेजे गये अशन वसन आदि का भोग करते थे। इस प्रकार राज्य भोग करते हुए बहुत समय बीत गया।

एक दिन भगवान बैठे हुए चिन्तन में लीन थे। उन्होने अपने पूर्व जन्मो का स्मरण किया—मै पूर्वजन्म में

१. तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मेघप्रभ नाम था।

पंच अनुत्तर विमानो मे से दूसरे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र था। मैने वहाँ सभी प्रकार की सुख सामग्री का भोग किया किन्तु मेरे दु खो का अन्त नही आया और यह मनुष्य भव पाकर और तीन ज्ञान का धारी होने पर भी मै इन्द्रिय-भोगो मे फसा रहा। फिर साधारण जन इन्द्रियो के भोगो को ही सर्वस्व मान बैठता है तो इसमें आश्चर्य क्या है। मुझे अहितकर इन्द्रिय-भोगों को छोडकर आत्म-हित करना चाहिए।

दीक्षा-कल्याणक

भगवान के मन मे वैराग्य भावना को जानकर सारस्वत आदि आठ प्रकार के लौकान्तिक देवो ने भगवान के विचारो की सराहना की। देवो ने उन्हे पालकी में बैठाकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुँचाया। वहाँ भगवान ने एक हजार राजाओ के साथ सयम धारण कर लिया। सयम के प्रभाव से उन्हे उसी समय मन पर्ययज्ञान हो गया। दूसरे दिन वे चर्या के लिए सौमनस नामक नगर में गये। वहाँ पदम राजा ने पडगाह कर भगवान को आहार दिया।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान बीस वर्ष तक मौन रहकर तपस्या करते रहे। तदनन्तर उसी सहेतुक वन मे प्रियगु वृक्ष के नीचे उन्होने दो दिन का उपवास लेकर योग-निरोध किया। फलत चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन सन्ध्या समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवो ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की।

भगवान का परिवार—भगवान के अमर आदि ११६ गणधर थे। इनके अतिरिक्त २४०० पूर्वधारी, २५४३५० शिक्षक, ११००० अवधिज्ञानी, १३००० केवलज्ञानी, ८४०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १०४०० मन: पर्ययज्ञानी, १०४५० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियो की सख्या ३२०००० थी। अनन्तमती आदि ३३०००० अर्जिकाये थी। ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये उनकी भक्त थी।

मोक्ष कल्याणक—भगवान ने विभिन्न देशो मे विहार करके और उपदेश देकर अनेक जीवो का कल्याण किया। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदगिरि पर पहुंचे। उन्होंने विहार करना और उपदेश देना बन्द कर दिया और एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया। और चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र मे शाम के समय निर्वाण प्राप्त किया। इन्द्रो और देवो ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान सुमतिनाथ के यक्ष का नाम तुवर और यक्षिणी का नाम पुरुषदत्ता था।

सप्तम परिच्छेद

भगवान पद्मप्रभ

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र मे सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स देश था। उसमे सुसीमा नामक एक नगर था। उसके अधिपति महाराज अपराजित थे। उनके राज्य मे प्रजा खूब सुखी और समृद्ध थी। उन्होने बहुत समय तक सासारिक भोग भोगे। एक दिन उनके मन मे विचार आया कि ससार मे समस्त पर्याय क्षणभगुर है। सुख पर्यायो द्वारा भोगे जाते है। पर्याय नष्ट होने पर वह सुख भी नष्ट हो जाता है। अत ससार के सम्पूर्ण सुख क्षणभगुर है। यह विचार कर उन्होने अपने पुत्र सुमित्र को राज्य देकर पिहितास्रव जिनेन्द्र के पास जाकर जिन-दीक्षा ले ली। उनके चरणो मे उन्होने ग्यारह अगो का अध्ययन किया, और षोडश कारण भावनाओ का चिन्तन करके तीर्थकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। आयु के अन्त मे समाधिमरण करके ऊर्ध्वग्रैवेयक के प्रीतिकर विमान मे अहमिन्द्र हुए।

पूर्व भव

कौशाम्बी नगरी मे इक्ष्वाकुवशी काश्यप गोत्री धरण नामक राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सुसीमा था। जब उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आने वाला था, तब उसके पुण्य प्रभाव से गर्भावतरण से छह माह पूर्व से देवों ने महाराज धरण के नगर मे रत्न-वृष्टि करना आरम्भ किया जो भगवान के जन्म लेने तक बराबर होती रही। माघ कृष्णा षष्ठी के दिन ब्राह्म मुहूर्त मे, जब चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा का योग हो रहा था, महारानो ने सोलह स्वप्न देखकर मुख मे एक हाथी को प्रवेश करते देखा। पति से स्वप्नो का फल जानकर वह बड़ी हर्षित हुई।

गर्भावतरण

गर्भ-काल पूरा होने पर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन त्वष्ट्र योग मे लाल कमल की कलिका के समान कान्ति वाले पुत्र को महारानी सुसीमा ने जन्म दिया। पुत्र असाधारण था, लोकोत्तर कान्ति थी, उसका अद्भुत प्रभाव था। इस पुत्र के उत्पन्न होते ही क्षणभर के लिये तीनो लोको के जीवों को सुख का अनुभव हुआ। उसी समय सौधर्म इन्द्र अन्य इन्द्रो और देवो के साथ आया और बाल भगवान को लेकर सुमेरु पर्वत पर पहुँचा। वहा क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका नाम पद्मप्रभ रक्खा। फिर वापिस लाकर माता को सौपकर आनन्दमग्न होकर नृत्य किया। इनका चिन्ह कमल था।

जन्म कल्याणक

जब उनकी आयु का चतुर्थाश व्यतीत हो गया, तब उन्हे राज्य-शासन प्राप्त हुआ। उनके राज्य मे कोई दुखी नही था। कोई दरिद्र नही था। सब निर्भय और निश्चिन्त थे। सभी लोग सम्पन्न थे।

एक दिन उनके हाथी की मृत्यु हो गई। घटना साधारण थी, किन्तु इस घटना की उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, वह भिन्न थी। उन्होने अवधिज्ञान से हाथी के पिछले भव पर विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। किन्तु इस जन्म-मरण की शृखला का अन्त क्यो नही होता? प्रत्येक जीव सुख चाहता है। किन्तु मृत्यु के पश्चात् जन्म न हो, इसका प्रयत्न विरल ही करते है। जो मृत्यु को जीत लेते है, उनका पुन जन्म नही होता। मैं अब मृत्युजय बनने का प्रयत्न करूँगा और अनादिकाल की इस जन्म-मरण की शृखला का उच्छेद करूँगा।

दीक्षा-कल्याणक

वे ये विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की स्तुति की, उनके सकल्प की

सराहना की तथा निवेदन किया-प्रभो ! ससार के प्राणी अज्ञान और मोह में भटक रहे है । अब आपकी तीर्थ-प्रवृत्ति का समय आ पहुँचा है । आप उन जीवों को मार्ग दिखलाइये ।

भगवान निवृत्ति नामक पालकी मे आरूढ़ होकर पभौसा गिरि के मनोहर वन मे पहुँचे और वहाँ वेला का नियम लेकर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को सन्ध्या समय चित्रा नक्षत्र मे दीक्षा ले ली । उनके साथ में एक हजार राजाओ ने भी मुनि-दीक्षा ले ली । भगवान को सयम ग्रहण करते ही मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया ।

दूसरे दिन भगवान वर्धमान नगर मे चर्या के लिये पहुँचे । वहाँ राजा सोमदत्त ने उन्हे आहार-दान देकर अक्षय पुण्य उपार्जित किया । देवों ने भगवान के आहार-दान के उपलक्ष्य मे पचाश्चर्य किये ।

भगवान छह माह तक मौन धारण करके विविध प्रकार के तप करते रहे ।

केवलज्ञान कल्याणक—उन्होने चैत्र शुक्ला पूर्णमासी के दिन अपराह्ण मे चित्रा नक्षत्र में शिरीष वृक्ष के नीचे चार घातिया कर्मों का क्षय कर दिया । तभी उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया । इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान की पूजा की । कुबेर ने समवसरण की रचना की । भगवान ने पभौसा गिरि पर प्रथम उपदेश देकर तीर्थ-प्रवर्तन किया ।

भगवान का संघ

उनके सघ मे वज्रचामर आदि ११० गणधर थे । इनके अतिरिक्त २३०० पूर्वधारी, २६९००० शिक्षक, १०००० अवधिज्ञानी, १२००० केवलज्ञानी, १६८०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १०३०० मन.पर्यय ज्ञानी, तथा ९६०० श्रेष्ठ वादी थे । इस प्रकार कुल ३२०००० मुनि उनके सघ मे थे । मुनियो के अतिरिक्त रात्रिषेणा आदि ४२०००० अर्जिकायें थी । उनके श्रावको की सख्या ३००००० तथा श्राविकाओ की सख्या ५००००० थी ।

निर्वाण कल्याणक

भगवान बहुत समय तक विहार करके जीवो को सन्मार्ग का उपदेश देकर उन्हे सन्मार्ग मे लगाते रहे । जब आयु मे एक माह शेष रह गया, तब भगवान सम्मेद शिखर पहुँचे और उन्होने योग-निरोध कर प्रतिमा योग धारण कर लिया । अन्त मे फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी की सध्या को चित्रा नक्षत्र मे जन्म-मरण की परम्परा सर्वदा के लिए नष्ट कर दी और वे ससार से मुक्त हो गये । उनके साथ एक हजार मुनि भी मुक्ति पधारे । देवों और इन्द्रो ने आकर निर्वाण महोत्सव मनाया ।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान पद्मप्रभ के यक्ष का नाम कुसुम और यक्षिणी का नाम मनोवेगा है ।

कौशाम्बी

कौशाम्बी नगरी का वर्तमान नाम कोसम है । कोसम नामक दो गाव पास पास है—कोसम इनाम और कोसम खिराज । इस गाव का एक नाम कौशाम्बी गढ भी है । यहाँ एक पुराना किला यमुना के तट पर वना हुआ है जो प्राय धराशायी होकर खण्डहर बन चुका है । किन्तु कही-कही पर अभी तक दीवाल और बुर्ज बने हुए है । इसके अवशेष लगभग चार मील मे बिखरे हुए है ।

कोसम इलाहाबाद से लगभग इकत्तीस मील दूर है। इलाहाबाद से यहाँ के लिए अकिलसराय होती हुई बस जाती है । बस कोसम के रैस्ट हाउस तक जाती है । वहाँ से मन्दिर कच्चे मार्ग से लगभग डेढ मील है । रैस्ट हाउस के पास एक प्राचीन कुआ है जिसका सम्बन्ध अर्जुन के पौत्र परीक्षित और प्रसिद्ध वैद्य धन्वन्तरि से जोड़ा जाता है ।

कौशाम्वी का मन्दिर छोटा ही है । इसमे दो गर्भगृह है, जिनमे दो सर्वतोभद्रिका प्रतिमायें तथा भगवान पद्मप्रभु के चरण चिन्ह विराजमान है । मन्दिर के बाहर धर्मशाला बनी हुई है । मन्दिर के चारो ओर प्राचीन नगर के अवशेष बिखरे पडे है । मन्दिर के पीछे एक पाषाण-स्तम्भ है, जिसे अशोक निर्मित कहा जाता है ।

यहाँ प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की ओर से कई वर्ष तक खुदाई हुई थी, जिसमे बहुमूल्य पुरातत्व सामग्री मिली है । चार अखण्डित जैन मूर्तियाँ भी मिली है । यहाँ मृण्मूर्तियाँ और मनके बहुत बडी सख्या मे मिले है । यह सब सामग्री प्रयाग सग्रहालय में सुरक्षित है । खुदाई के फलस्वरूप आजीवक सम्प्रदाय का विहार भी निकला है । कहा जाता है, इसमे गोशालक के अनुयायी पाच हजार साधु रहते थे ।

कौशाम्बी भारत की प्राचीन नगरियो मे मानी जाती है तथा यह वत्स देश की राजधानी थी । यहाँ अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनायें हुई है । भगवान नेमिनाथ ने जब जरत्कुमार के हाथो से नारायण कृष्ण की मृत्यु और द्वैपायन ऋषि के शाप से द्वारका के भस्म होने की भविष्यवाणी की तो दुर्निवार भवितव्य को टालने के लिये

जरत्कुमार और द्वैपायन ऋषि दोनों ही द्वारका से दूर चले गये। एक बार बलभद्र बलराम और नारायण कृष्ण भ्रमण करते हुए इसी वन में आये। यहाँ आकर नारायण को प्यास लगी। बलभद्र जल की तलाश मे दूर चले गये, नारायण को नींद आ गई और एक वृक्ष के नीचे सो गये। भील का वेष बनाये हुए जरत्कुमार घूमते हुए उधर ही आ निकला। उसने नारायण के चमकते हुए अगूठे को दूर से हिरण की आख समझा। उसने उसको लक्ष्य करके वाण सधान किया। वाण नारायण के लगा, जिससे उनकी मृत्यु हो गई। जब बलभद्र जल लेकर वहाँ आये तो उन्हे अपने प्रिय अनुज की यह दशा देखकर भारी सन्ताप हुआ। वे प्रेम में इतने अधीर हो गये कि वे छह माह तक मृत शरीर को कन्धे से लगाये शोक सतप्त होकर घूमते रहे। अन्त मे मागीतुँगी पर जाकर देव द्वारा समझाने पर उस देह का संस्कार किया और वही दीक्षा लेकर तप करने लगे।

भगवान महावीर के काल में वैशाली गणतन्त्र के अधिपति चेटक की छोटी पुत्री चन्दनवाला अपहृत होकर यहाँ बिकने आई और वात्सल्यवश एक धर्मात्मा सेठ ने उसे खरीद लिया। जब सेठ व्यापार के कार्य से बाहर गये हुए थे, तब सेठानी ने सापत्न्य के झूठे सदेह मे पडकर चन्दना को जजीरो से बाँध दिया, उसके वाल काट दिये और खाने को सूप मे वाकले दे दिये। तभी भगवान महावीर आहार के निमित्त उधर पधारे और चन्दना ने भक्तिवश वे ही वाकले भगवान को आहार मे दिये। तीर्थंकर के पुण्य प्रभाव से चन्दना के बन्धन कट गये। देवताओ ने रत्न-वर्षा की। भगवान आहार लेकर चले गये। कुछ समय पश्चात् चन्दना ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली और उनके आर्यिका-सघ की मुख्य गणिनी बनी।

इसी काल में कौशाम्बी पर उदयन शासन कर रहा था, जो अर्जुन की अठारहवी पीढी मे कहलाता है। उदयन के कई विवाह हुए। उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत की पुत्री बासवदत्ता के साथ उसका प्रेम-विवाह हुआ, जिसको लेकर सस्कृत भाषा में अनेक काव्यो की रचना हुई है। उदयन जितना वीर था, उतना कला-मर्मज्ञ भी था। वह अपनी मजुघोषा वीणा पर जब उगली चलाता था तो उसकी ध्वनि पर पशु-पक्षी तक खिचे चले आते थे। वह महावीर भगवान का भक्त था और अन्त मे जैन विधि से उसने सन्यास मरण किया।

उसके काल मे कौशाम्बी धन धान्य से अत्यन्त समृद्ध था और व्यापारिक केन्द्र था। जल और स्थल मार्गों द्वारा इसका व्यापार सुदूर देशो से होता था। इतिहासकार इस काल की कौशाम्बी को भारत का माचेस्टर कहते है।

काल ने इस समृद्ध नगरी को एक दिन खण्डहर बना दिया।

पभौसा

पभौसा का दूसरा नाम प्रभासगिरि भी था। प्राचीन काल मे यह कौशाम्बी नगरी का वन था। इसी मे भगवान पद्मप्रभु ने दीक्षा ली थी और इसी वन मे उन्हे केवल-ज्ञान हुआ था। यह जमुना के किनारे अवस्थित है। यह एक छोटी सी पहाडी है। यह कौशाम्बी से जमुना के रास्ते छह मील दूर है। यहाँ जाने के लिये कोसम मे नाव मिलती है।

प्राचीन काल मे यह जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ प्राचीन जैन मन्दिर पहाडी के ऊपर था। कहते है, उसके सामने एक मान स्तम्भ भी था। वही भट्टारक ललितकीर्ति की गद्दी थी। पहाडी की तलहटी मे कई दिगम्बर जैन मन्दिर थे। कहते हैं, सवत् १८२५ मे बिजली गिर जाने से मन्दिर आदि को काफी क्षति हुई थी। फिर भट्टारक वाले स्थान पर सवत् १८८१ मे पच कल्याणक प्रतिष्ठापूर्वक पद्मप्रभ की प्रतिमा विराजमान की गई। इस सम्बन्ध में जो शिलालेख मिलता है, उसका आशय निम्न प्रकार है—

संवत् १८८१ मिती मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी शुक्रवार को भट्टारक श्री जगतकीर्ति उनके पट्टधर भट्टारक श्री ललितकीर्ति जी उनके आम्नाय मे गोयल गोत्री प्रयाग नगरवासी साधु श्री रावजीमल के लघुभ्राता फेरुमल उनके पुत्र साधु श्री माणिकचन्द्र उनके पुत्र साधु श्री हीरामल ने कौशाम्बी नगर के बाहर प्रभास पर्वत पर जो पद्मप्रभ भगवान का दीक्षा कल्याणक क्षेत्र है, जिन विम्ब प्रतिष्ठा कराई—अंग्रेज बहादुर के राज्य मे।

किन्तु इसके बाद फिर यहाँ एक भयानक दुर्घटना होगई। वीर संवत् २४५७ भाद्रपद कृष्णा ९ को रात्रि में इस मन्दिर पर पहाड़ के तीन वजनी टुकड़े गिर पड़े। इससे मन्दिर और मानस्तम्भ दोनो नष्ट हो गये और जो

भवन यहाँ पर थे, वे भी नष्ट हो गये। किन्तु इसे एक चमत्कार ही कहना चाहिए कि प्रतिमाये सुरक्षित रही।

अब पहाड पर एक कमरे मे प्रतिमाये विराजमान है तथा पहाड़ की तलहटी मे एक कम्पाउण्ड के भीतर धर्मशाला (जीर्ण शीर्ण दशा मे) तथा कुआ है। धर्मशाला के ऊपर एक छोटा मन्दिर है, जिसमें प्राचीन प्रतिमाये है। धर्मशाला के एक कमरे में इधर उधर खेतो आदि मे मिली कुछ प्राचीन खण्डित अखण्डित प्रतिमाये रक्खी हुई है।

पहाड के ऊपर-मन्दिर से काफी ऊचाई पर, एक शिला मे चार खड्गासन प्रतिमाये उकेरी हुई है जो सिद्ध-प्रतिमा कही जाती है। दाई ओर ऊपर को देखने पर एक गुफा दिखाई पड़ती है। प्राचीन काल में यह गुफा दिगम्बर जैन साधुओ के ध्यान और तपस्या के काम मे आती थी। इस गुफा मे शिलालेख भी उपलब्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ आयागपट्ट भी मिला था जो अभिलिखित है। अभिलेख के अनुसार राजा शिवमित्र के १२ वे सवत् मे शिवनन्दि की स्त्री शिष्या स्थविरा बलदासा के कहने से शिवपालित ने अर्हन्तो की पूजा के लिए यह आयागपट्ट[1] स्थापित किया।

गुफा के बाहर जो लेख पढा गया है, उसका आशय यह है

'काश्यपी अर्हन्तो के सवत्सर १० में आषाढसेन ने यह गुफा बनवाई, यह गोपाली और वैहिदरी का पुत्र था व गोपाली के पुत्र वहसतिमित्र राजा का मामा था। यह काश्यप गोत्र महावीर स्वामी का था।

गुफा के भीतर भी एक अभिलेख है, जिसका भाव इस प्रकार है—

'अहिच्छत्रा के राजा शौनकायन के पुत्र वगपाल, उसकी रानी त्रिवेणी, उसके पुत्र भागवत, उसकी स्त्री वैहिदरी, उसके पुत्र आषाढसेन ने बनवाई।

उपर्युक्त आषाढसेन ई० सन् के प्रारम्भ मे उत्तर पाचाल का राजा था। उक्त लेख मे आषाढसेन को वहसतिमित्र (बृहस्पतिमित्र) का मामा बतलाया है।

यहाँ शु ग काल में स्थापत्य और मूर्तिकला की बडी उन्नति हुई थी। जिन शु गकालीन शासको के सिक्के इस प्रदेश मे मिले है, उनके नाम अग्निमित्र, भानुमित्र, भद्रघोष, जेठमित्र, भूमिमित्र आदि है।

शु गो के बाद यहाँ मघवशीय स्थानीय शासको का अधिकार रहा। इन राजाओ के लेख और सिक्के यहाँ बडी सख्या मे उपलब्ध हुए है।

शु गवश की प्रधान शाखा का अन्त ई० पू० १०० के लगभग हो गया। किन्तु उसकी अन्य कई शाखाये शासन करती रही। उनके केन्द्र थे अहिच्छत्रा, विदिशा, मथुरा, अयोध्या और पभौसा।

मथुरा मे अनेक मित्रवशीय राजाओ के सिक्के मिले है, जैसे गोमित्र, ब्रह्ममित्र, दढमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र।

१. सिद्धम् राज्ञो शिवमित्रस्य सवच्छरे १०-२ खम
थाविरस बलदास स निवर्तन सा ए शिवनददिस अतेवासिस
शिवपालितन आयागपट्टो थापयति अरहत पूजायं

अष्टम परिच्छेद

भगवान सुपार्श्वनाथ

धातकी खण्ड द्वीप में सीता नदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नाम का देश था। उसके क्षेमपुर नगर मे नन्दिषेण नामक राजा राज्य करता था। वह बडा नीतिनिपुण, प्रतापी और न्यायवान राजा था। जब भोग भोगते हुए उमे बहुत समय बीत गया तो एक दिन वह भोगो से विरक्त हो गया। उसने अपने पुत्र धनपति को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करके अनेक राजाओ के साथ अर्हन्नन्दन मुनि से दीक्षा ले ली। फिर ग्यारह अग का धारी होकर दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओ द्वारा तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध किया और आयु के अन्त मे सन्यास मरण कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र विमान में अहमिन्द्र हुआ।

पूर्व भव

काशी देश में वाराणसी नामक एक नगरी थी। उसमें सुप्रतिष्ठ महाराज राज्य करते थे। वे इक्ष्वाकुवशी थे। उनकी महारानी पृथ्वीषेणा थी। उनके आगन में देवो ने गर्भावतरण से पूर्व छह माह तक रत्नवर्षा की। महारानी ने भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को विशाखा नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसके बाद उन्होने मुख मे एक हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण कर महारानी के गर्भ मे आया। पति के मुख से स्वप्नो [का फल जानकर रानी बडी हर्षित हुई। देवो ने गर्भावस्था के पूरे समय उनके आगन मे रत्न वृष्टि की और भगवान का गर्भ कल्याणक मनाया।

गर्भ कल्याणक

ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन अग्निमित्र नामक शुभयोग में महारानी ने तीनो लोको के गुरु महान् पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रों और देवो ने सुमेरु पर्वत के शिखर पर उनका जन्माभिषेक किया, सबने भगवान के चरणो मे अपने मस्तक झुकाये और उनका नाम सौधर्मेन्द्र ने 'सुपार्श्व' रक्खा। उनका चिन्ह स्वस्तिक था। शरीर का वर्ण हरित था।

जन्म कल्याणक

जब कुमार काल व्यतीत हो गया तो पिता ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। इन्द्र उनके मनोरजन के लिये नाना प्रकार के उपाय करता था। उन्हे सभी प्रकार का सुख प्राप्त था। सुख के साधन तो सभी थे, किन्तु तीर्थकरो को आठ वर्ष की आयु मे देशसयम हो जाता है। इसलिए भगवान की वृत्ति सयमित थी। उनके तीन ज्ञान थे।

एक दिन भगवान को ऋतु-परिवर्तन देखकर मन में विचार उठा-ससार की यही दशा है। सब क्षणस्थायी है। राज्यलक्ष्मी भी इसी प्रकार एक दिन नष्ट हो जाने वाली है। मै अब तक व्यर्थ ही इनके मोह मे अटका रहा। मैने आत्म-कल्याण मे व्यर्थ ही विलम्ब किया। लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की स्तुति की। भगवान अपने पुत्र को राज्य सौपकर देवो द्वारा उठाई हुई मनोगति नामक पालकी मे चढ़ कर सहेतुक वन मे जा पहुँचे और वहाँ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को सन्ध्या समय विशाखा नक्षत्र मे वेला का नियम लेकर एक हजार राजाओ के साथ सयम ग्रहण कर लिया। उसी समय उन्हे मन:पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दीक्षा-कल्याणक

दूसरे दिन चर्या के लिए वे सोमखेट नगर मे पहुँचे। वहाँ महेन्द्रदत्त राजा ने आहार देकर महान पुण्य-लाभ किया।

भगवान नौ वर्ष तक तप करते रहे। तदनन्तर उसी सहेतुक वन मे दो दिन के उपवास का नियम लेकर शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ हो गये और फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। वही पर समवसरण में भगवान की प्रथम देशना हुई।

केवलज्ञान कल्याणक

उनके बल आदि ९५ गणधर, मीनार्या आदि ३३०४०० अजिकाये, २०३० पूर्वज्ञान के धारी, २४४९२० शिक्षक, ९००० अवधिज्ञानी, ११०० केवलज्ञानी, १५३०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ९१५० मन पर्ययज्ञान के धारी और ८६०० वादी थे। कुल ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये थी।

भगवान का परिकर

भगवान बहुत काल तक पृथिवी पर विहार करके भव्य जीवो को कल्याण-मार्ग का उपदेश देते रहे। जब उनकी आयु मे एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेद शिखर पर पहुँचे। उन्होने प्रतिमा-योग धारण कर लिया और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को विशाखा नक्षत्र मे एक हजार मुनियो के साथ निर्वाण प्राप्त किया। देवो ने भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया।

निर्वाण कल्याणक

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक यक्ष का नाम परनन्दी और यक्षिणी का नाम काली है।

मथुरा क ककाली टीले पर एक स्तूप के ध्वसावशेष प्राप्त हुए है। आचार्य जिनप्रभसूरि ने इस स्तूप के सम्बन्ध मे 'विविध तीर्थकल्प' मे लिखा है कि इस स्तूप को कुबेरा देवी ने सुपार्श्वनाथ के काल मे सोने का बनाया था और उस पर सुपार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। फिर पार्श्वनाथ के काल मे इसे ईटो से ढक दिया। आठवी शताब्दी मे बप्पभट्ट सूरि ने इसका जीर्णोद्धार किया था। किन्तु सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक चम्पू ६।१७-१८ मे एव हरिषेण कथाकोष मे वज्र कुमार की कथा के अन्तर्गत इस स्तूप को वज्रकुमार के निमित्त विद्याधरों द्वारा निर्मित बताया है। आचार्य सोमदेव ने तो उस स्तूप के दर्शन भी किये थे और उसे 'देवनिर्मित लिखा है। इस स्तूप का जीर्णोद्धार साह टोडर ने भी किया था, इस प्रकार की सूचना कवि राजमल्ल ने 'जम्बूस्वामी चरित्र' मे दी है। उन्होने भी इस स्तूप के दर्शन किये थे। उस समय वहाँ पाँच सौ चौदह स्तूप थे।

सुपार्श्वनाथ कालीन स्तूप

कुषाणकाल का (सन् ७९) का एक आयागपट्ट मिला है, उसमे भी इस स्तूप को देव निर्मित लिखा है। सर विसेण्ट स्मिथ ने इसे भारत की ज्ञात इमारतो मे सर्व प्राचीन लिखा है।

इस साक्ष्य से यह प्रगट होता है कि ईस्वी सन् से हजारो वर्ष पूर्व भगवान सुपार्श्वनाथ की मान्यता जनता मे प्रचलित हो चुकी थी और जनता उन्हे अपना आराध्य देव मानती थी।

सुपार्श्वनाथ इक्ष्वाकुवशी थे। किन्तु उनकी मूर्तियो के ऊपर सर्प-फण-मण्डल मिलता है। पार्श्वनाथ की सर्पफणावलीयुक्त मूर्तियो से सुपार्श्वनाथ की मूर्तियो मे भिन्नता प्रकट करने के लिये सुपार्श्वनाथ के ऊपर पच फणावली बनाई जाती है और पार्श्वनाथ के ऊपर सात फणावली। किसी किसी मूर्ति मे पार्श्वनाथ के ऊपर नौ और ग्यारह फणावली भी मिलती है। कुछ मूर्तियाँ सहस्र फणावली वाली भी उपलब्ध होती है। पार्श्वनाथ के ऊपर सर्प-फण-मण्डल का तो एक तर्कसगत कारण रहा है। वह है सगम देव द्वारा उपसर्ग करने पर धरणेन्द्र द्वारा भगवान के ऊपर सर्प-फण का छत्र लगाना। इसके अतिरिक्त उनका चिन्ह भी सर्प है। किन्तु सुपार्श्वनाथ के ऊपर सर्प-फण-मण्डल किस कारण से बनाया जाता है, इसका कारण खोजने की आवश्यकता है। दिगम्बर शास्त्रो में इस बात का कोई युक्तियुक्त कारण हमारे देखने मे नही आया। हाँ, श्वेताम्बर परम्परामान्य आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित मे लिखा है कि जब भगवान सुपार्श्व को केवलज्ञान हो गया और जब इन्द्र द्वारा बिरचित समवसरण मे वे सिहासन पर विराजे, तब इन्द्र ने उनके मस्तक पर सर्प-फण का छत्र लगाया

सुपार्श्वनाथ की मूर्तियाँ और सर्प-फण-मण्डल

था। आचार्य ने इस प्रकार करने का कोई कारण तो नही दिया। सभव है, इन्द्र ने जो छत्र लगाया था, उसका आकार सर्प-फण-मण्डल जैसा रहा हो।

इस सम्बन्ध मे हमारी विनम्र मान्यता है कि सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ दोनो ही वाराणसी मे उत्पन्न हुए थे। पार्श्वनाथ का प्रभाव अपने काल मे पूर्व और पूर्वोत्तर भारत मे अत्यधिक था। यही कारण है कि उनकी मूर्तियाँ अन्य तीर्थकरो की अपेक्षा अधिक मिलती है। उनके इस प्रभाव के कारण और दोनो का नाम प्राय· समान होने के कारण पार्श्वनाथ-मूर्तियो की अनुकृति पर सुपार्श्वनाथ की भी मूर्तियाँ बनने लगी और उनके ऊपर भी सर्प-फण बनाये जाने लगे। इसके सिवाय दूसरा कोई युक्तियुक्त उत्तर बन नही सकता।

भगवान सुपार्श्वनाथ की लोक-प्रसिद्धि के कारण स्वस्तिक का मगल चिन्ह भी लोकविश्रुत हो गया। अत· स्वस्तिक का लोक-प्रचलन इतिहासातीत काल से रहा है। मोहन जो दडो, लायल, रोपड़ आदि के प्राचीनतम

स्वस्तिक

पुरातत्त्व मे कई मुद्राओ मे स्वस्तिक अकित पाया गया है। एक मुद्रा मोहन जो दडो मे ऐसी भी उपलब्ध हुई है, जिसमे स्वस्तिक अकित है और उसके आगे एक हाथी नतमस्तक खडा है। भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता अभी तक इस प्रतीक का रहस्योद्घाटन करने मे असमर्थ रहे है। किन्तु जैन प्रतीक-योजना के छात्र को इसके समाधान में कुछ भी कठिनाई नही होगी। प्रतीकात्मक रूप से स्वस्तिक सुपार्श्वनाथ का चिन्ह है और हाथी उनके यक्ष मातग[1] के वाहन का द्योतक है। सुपार्श्वनाथ की द्योतक एक मुद्रा और मिली है। एक दिगम्बर योगी पद्मासन मुद्रा मे विराजमान है। उसके दोनो ओर दो सर्प बने हुए है और दो व्यक्ति भक्ति मे वीणा-वादन कर रहे है। निश्चय ही यह योगी सुपार्श्वनाथ है और सर्प उनके चिन्ह है।

खण्डगिरि-उदयगिरि की रानी गुफा में स्वस्तिक का चिन्ह है। यह गुफा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की है। एक गुफा में सर्प का चिन्ह अकित है। मथुरा के ककाली टीला से प्राप्त कुषाणकालीन आयागपट्ट मे भी स्वस्तिक या नन्द्यावर्त बना हुआ है। कौशाम्बी, राजगृह, श्रावस्ती आदि में ऐसे शिलापट्ट मिले है, जिन पर स्वस्तिक और सर्प बने हुए है। जैन मन्दिरो मे सर्वत्र स्वस्तिक मगल चिन्ह के रूप मे सदा से प्रयुक्त होता आया है। जैनो की पूजा-विधि मे स्वस्तिक एक आवश्यक अग है। विधान, प्रतिष्ठा, मगल कार्यों आदि मे स्वस्तिक की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है।

स्वस्तिक मे बडा रहस्य निहित है। यह चतुर्गति रूप ससार का द्योतक है। इसके ऊपर तीन बिन्दु रत्न-त्रय के और अर्धचन्द्र रत्नत्रय द्वारा प्राप्त मुक्ति (सिद्धशिला) का प्रतीक है।

धीरे धीरे स्वस्तिक की ख्याति से प्रभावित होकर ससार की सभी सभ्यताओ और अधिकाश धर्मो ने इसे अपना लिया।

काशी देश मे वाराणसी नगरी थी। काशी जनपद की यह राजधानी थी। यहाँ के वर्तमान भदैनी घाट

वाराणसी

को भगवान सुपार्श्वनाथ का जन्म-स्थान माना जाता है। स्याद्वाद विद्यालय के ऊपर मन्दिर बना हुआ है। कहते है, भगवान का जन्म-कल्याणक यही हुआ था। कुछ लोग मानते है कि छेदीलाल जी का जैन मन्दिर—जो इस मन्दिर के निकट है—भगवान का वास्तविक जन्म-स्थान है। यहाँ भगवान के प्राचीन चरण-चिन्ह भी है।

काशी में अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाये हुई है। कर्म युग के प्रारम्भ मे महाराज अकपन यहाँ के राजा थे। उन्होने अपनी पुत्री सुलोचना का स्वयवर यही किया था। यह कर्मभूमि का प्रथम स्वयवर था।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म यही हुआ था और उन्होने यही पर कमठ तपस्वी के अविवेकपूर्ण तप की निस्सारता बताते हुए जलते हुए सर्प-युगल को णमोकार मत्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से वे नागकुमार जाति के इन्द्र-इन्द्राणी धरणेन्द्र और पद्मावती बने थे और यही भगवान पार्श्वनाथ का उपदेश सुनकर अश्वसेन और वामा देवी ने दीक्षा ली थी।

---

१ मेरुविजय गणिकृत चतुर्विशति जिन-स्तुति

कुछ विद्वानो का अभिमत है कि स्वामी समन्तभद्र भस्मक व्याधि के काल में यहाँ के शिवालय मे रहे थे और जब उनके छद्म रूप का रहस्य फूट गया, तब राजा के द्वारा वाध्य किये जाने पर उन्होंने शिवपिण्डी के समक्ष जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा की कल्पना करके स्वयम्भू स्तोत्र का पाठ करना आरम्भ किया और जब वे चन्द्रप्रभ की स्तुति करने लगे, तभी शिवपिण्डी फटकर उसके बीच मे से भगवान चन्द्रप्रभ की दिव्य मूर्ति प्रगट हुई। उन्होंने उसे नमस्कार किया। इस घटना की सत्यता बताने वाला फटे महादेव का मन्दिर अब तक विद्यमान है। कुछ वर्ष पूर्व तक इस मन्दिर का नाम समन्तभद्रेश्वर मंदिर था। यह पहले बहुत बड़ा मदिर था। किन्तु जब यहाँ से सडक निकली, तब सडक मार्ग में बाधक इसका बहुत सा भाग गिरा दिया गया था।

इस प्रकार यहाँ अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाये घटित हुई है।

भगवान सुपार्श्वनाथ के नाग चिन्ह का प्रभाव यहाँ व्यापक रूप से पडा और जनता नाग-पूजा करने लगी। यहाँ यक्ष-पूजा का भी बहुत प्रचलन रहा है। लगता है, इन दोनों पूजाओं का सम्बन्ध सुपार्श्वनाथ से था।

काशी में नाग पूजा

पुरातत्त्व—यहाँ राजघाट से उत्खनन मे महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्व सामग्री मिली है, जिसमे कुषाण और गुप्त युग की अनेक जैन मूर्तियां भी है जो यहाँ के भारत कला भवन मे सुरक्षित है।

नवम परिच्छेद

भगवान चन्द्रप्रभ

भगवान चन्द्रप्रभ का जीव एक जन्म में श्रीपुर के राजा श्रीषेण और रानी श्रीकान्ता का पुत्र श्रीवर्मा हुआ। एक दिन उल्कापात देखकर उसे भोगों से विरक्ति हो गई और उसने श्रीप्रभ जिनेन्द्र के निकट मुनि-दीक्षा ले ली।

पूर्व भव

आयु पूरी होने पर प्रथम स्वर्ग मे देव हुआ। उस देव का जीव आयु समाप्त होने पर धातकी खण्ड की अयोध्या के राजा अजितजय और अजितसेना का अजितसेन नामक पुत्र हुआ। राज्य प्राप्त होने पर उसकी आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसने दिग्विजय करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। यद्यपि पुण्योदय से भोग की सम्पूर्ण सामग्री उसके निकट थी किन्तु उसकी भोगो मे तनिक भी आसक्ति नही थी। वह बडा न्यायपरायण और धर्मनिष्ठ था। लोग उसे राजर्षि कहते थे। पुण्य कर्म के उदय से उसे चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्राप्त थीं। भाजन, भोजन, शय्या, सेना, सवारी, आसन, निधि रत्न, नगर और नाट्य इन दशविध भोगो का भोग करता था। एक दिन चक्रवर्ती ने अरिन्दम नामक मुनि को आहार-दान किया। फलस्वरूप रत्न-वर्षा आदि पचाश्चर्य प्राप्त किये। दूसरे दिन वह गुणप्रभ जिनेन्द्र की वन्दना करने गया और उनका उपदेश सुनकर बहुत से राजाओं के साथ सयम धारण कर लिया। अन्त मे समाधिमरण करके वह सोलहवे स्वर्ग मे अच्युतेन्द्र हुआ।

आयु पूर्ण होने पर अच्युतेन्द्र धातकी खण्ड के रत्नसचयपुर के नरेश कनकप्रभ और उसकी रानी कनकमाला का पद्मनाभ नामक पुत्र हुआ। यौवन अवस्था मे राज्य प्राप्त कर सुखपूर्वक रहने लगा। फिर एक दिन उसे वैराग्य हो गया और दीक्षा ले ली। वह मुनि अवस्था मे चारो आराधनाओ का आराधन करने लगा। उसने ग्यारह अगो का पारगामी बन कर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन किया और तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध किया। वह नाना प्रकार के तपो द्वारा कर्मो का क्षय करता रहा। अन्त मे समाधिमरण करके वह वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र हुआ। तैंतीस सागर की आयु उसने प्राप्त की।

भरतक्षेत्र मे चन्द्रपुर नामक नगर के अधिपति इक्ष्वाकुवशी काश्यप गोत्री महासेन राजा थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मणा था। उनके प्रासाद के प्रागण मे छह माह तक देवो ने रत्न-वर्षा की। श्री ह्री आदि देवियाँ महारानी

गर्भ कल्याणक

की सेवा करती थी। देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदि सुखो का भोग करती थी। उन्होंने चैत्र कृष्णा पचमी को पिछली रात्रि मे सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होने पर उन्होंने वस्त्राभरण धारण किये और सिंहासन पर आसीन अपने पति के निकट जाकर उन्होंने उनसे अपने स्वप्नो की चर्चा की। महाराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नो का फल जानकर रानी से कहा--देवी! तुम्हारे गर्भ मे तीर्थंकर प्रभु पधारे है। फल सुनकर रानी अत्यन्त हर्षित हुई। देवो ने गर्भ के नौ माह तक रत्न-वर्षा की। श्री, ह्री, धृति, कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ उनकी कान्ति, लज्जा धैर्य, कीर्ति, बुद्धि और सौभाग्य सम्पत्ति को सदा बढाती रहती थीं तथा माता का मनोरजन नाना प्रकार से किया करती थीं।

गर्भ-काल व्यतीत होने पर रानी ने पौष कृष्णा एकादशी को शक्र योग मे देवपूजित, अलौकिक प्रभा के धारक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय इन्द्र और देव आये। सौधर्मेन्द्र ने अपनी शची के द्वारा बाल प्रभु को मगाकर, सुमेरु

जन्म-कल्याणक

पर्वत पर लेजाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया। उन्हे दिव्य वस्त्रालकारो से विभूषित किया, तीन लोक के राज्य की कण्ठी बाधी और उनकी रूप छटा को हजार नेत्र बना

कर विमुग्ध भाव से उन्हे निहारता रहा। उनके उत्पन्न होते ही कुवलय समूह विकसित हो गया था। अत. इन्द्र ने उनका नाम 'चन्द्रप्रभ रक्खा। फिर इन्द्र ने भगवान के समक्ष आनन्द नामक भक्तिपूर्ण नाटक और नृत्य किया। फिर लाकर उन्हे माता-पिता को सौपकर कुबेर को आज्ञा दी—तुम भोगोपभोग की योग्य वस्तुओ के द्वारा भगवान की सेवा करो' और फिर वह देवो के साथ स्वर्ग को चला गया। भगवान का लाछन चन्द्रमा है।

भगवान ज्यो-ज्यो बढने लगे, उनका रूप, कान्ति, लावण्य सभी कुछ बढने लगे, वे प्रियदर्शन थे। लोग उनके दर्शनो के लिए व्याकुल रहते थे और दर्शन मिलने पर उन्हे अपूर्व तृप्ति अनुभव होती थी।

मार अवस्था बीतने पर उनके पिता ने राज्याभिषेक कर दिया। उनकी स्त्रियां उनकी आज्ञानुवर्ती थी, समस्त राजा उनके वशवर्ती थे और भृत्यगण, पुरजन और परिजन उनके सकेतानुवर्ती थे।

साम्राज्य-सम्पदा का भोग करते हुए जब उन्हे काफी समय हो गया, तब एक दिन वे अपने शृगार-कोष्ठक मे दर्पण मे अपना मुख देख रहे थे। उन्हे अन्त स्फुरणा हुई—एक दिन था जब यह मुख मधुर कान्ति से उमगता था। वे कौमार्य के दिन थे। उन दिनों कितना भोलापन था इसके ऊपर। कौमार्य बीता, किशोरावस्था आई, कान्ति और ओज फूटे पडते थे। यौवन आया तो ससार के भोगो की ओर आकर्षण सग मे लाया। अब आयु निरन्तर छीजती जा रही है। आयु का चतुर्थ पाद आ गया है, तीन पाद बीत चुके है। आयु का इतना लम्बा काल मैने केवल सासारिकता मे ही खो दिये। अपना हित नही किया। अब तक मैने ससार की सम्पदा का भोग किया, किन्तु अब मुझे आत्मिक सम्पदा का भोग करना है। ससार का यह रूप, यह सम्पदा क्षणिक है, अस्थिर है। किन्तु आत्मा का रूप अलौकिक है, आत्मा की सपदा अनन्त अक्षय है। मै अब इसी का पुरुषार्थ जगाऊंगा।

भगवान को स्वयं स्फूर्त प्रेरणा

इस प्रकार जब चन्द्रप्रभ अपने आत्मा को जागृत कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये और भगवान की स्तुति करते हुए उनके विचारो की सराहना की। भगवान अपने पुत्र वरचन्द्र को राज्य-भार सौप कर देवो द्वारा लाई हुई विमला नामक पालकी मे नगर के बाहर सर्वर्तुक बन मे पधारे। वहां उन्होने दो दिन के उपवास का नियम लेकर पाप कृष्णा एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र मे एक हजार राजाओ के साथ जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हे मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। दो दिन बाद वे नलिन नामक नगर मे आहार के निमित्त पधारे। वहा सोमदत्त राजा ने उन्हे नवधा भक्तिपूर्वक आहार-दान दिया। इससे प्रभावित होकर देवो ने रत्नवृष्टि आदि पचाश्चर्य किये।

दीक्षा कल्याणक

भगवान मुनिजनोचित पच महाव्रत, पच समिति, पचेन्द्रिय निग्रह, दशधर्म आदि मे सावधान रहते हुए कर्म शत्रुओ से युद्ध करने मे सलग्न रहने लगे। उन्हे घातिया कर्मो को निर्मूल करने मे तीन माह लग गये। अन्त मे दीक्षा बन मे नाग वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर प्रभु ध्यानलीन हो गये और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को सायकाल अनुराधा नक्षत्र मे वे अध करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण रूप तीन परिणामो के सयोग से क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके प्रथम शुक्ल ध्यान के बल से मोहनीय कर्म का नाश करने मे सफल हो गये। फिर बारहवे गुणस्थान के अन्त मे द्वितीय शुक्ल ध्यान के प्रभाव से शेष तीन घातिया कर्मो का भी क्षय कर दिया। जीव के उपयोग गुण का घात करने वाले घातिया कर्मो का नाश होते ही वे सयोग केवली हो गये। उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से सम्पन्न हो गई। उन्हे परमावगाढ सम्यग्दर्शन, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक ज्ञान आदि पाच लब्धियो की उपलब्धि हो गई। अब वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गए।

केवलज्ञान कल्याणक

इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। उन्होने समवसरण को रचना की और उसमे भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। भगवान के धर्म-चक्र का प्रवर्तन हुआ।

उनके दत्त आदि तिरानवे गणधर थे। दो हजार पूर्वधारी थे। आठ हजार अवधिज्ञानी, दो लाख चार सौ शिक्षक, दस हजार केवलज्ञानी, चौदह हजार विक्रिया ऋद्धिधारी, आठ हजार मन पर्ययज्ञानी और चार हजार छह सौ वादी थे। इस प्रकार सब मुनियो की सख्या ढाई लाख थी। वरुणा आदि तीन लाख

भगवान का परिवार

अस्सी हजार अर्जिकाये थी । तीन लाख श्रावक और पाच लाख श्रविकायें थी ।

भगवान चन्द्रप्रभ समस्त देशो में विहार करते हुए सम्मेद शिखर पर पहुँचे और वहाँ एक हजार मुनियो के साथ एक माह तक प्रतिमा योग धारण करके आरूढ हो गये । अन्त मे फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र मे सायकाल के समय योग-निरोध कर समस्त अघातिया कर्मो का नाश करके परम पद निर्वाण को प्राप्त हुए । उसी समय देवो ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया ।

मोक्ष कल्याणक

यक्ष-यक्षिणी—भगवान चन्द्रप्रभ के सेवक विजय यक्ष और ज्वालामालिनी यक्षिणी थे ।

भगवान चन्द्रप्रभ की जन्मनगरी चन्द्रपुरी है जो वाराणसी से आगे कादीपुर स्टेशन से ५ किलोमीटर दूर गगा के तट पर अवस्थित है । टैक्सी और मोटर के द्वारा वाराणसी मे गोरखपुर रोड पर २४ किलोमीटर है । मुख्य सडक से २ किलोमीटर कच्चा मार्ग है । यह सिहपुरी (सारनाथ) से १७ किलोमीटर है । इस गाव का वर्तमान नाम चन्द्रावती है ।

चन्द्रपुरी

यहाँ दिगम्बर जैनो का जो प्राचीन मन्दिर था, उस पर श्वेताम्बरो ने अधिकार कर लिया था । तव आरा निवासी लाला प्रभुदास ने गगा के किनारे सन् १६१३ में नवीन मन्दिर का निर्माण कराया तथा मूर्तियो की पच कल्याणक प्रतिष्ठा बा० देवकुमार जी ने कराई । मन्दिर मे भगवान चन्द्रप्रभ की श्वेत वर्ण १४ इच अवगाहना वाली प्रतिमा विराजमान है । इसके आगे पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण प्रतिमा विराजमान है । मन्दिर दूसरी मंजिल पर है । मन्दिर के चारो ओर धर्मशाला बनी हुई है ।

यहाँ चैत्र कृष्णा पचमी को वार्षिक मेला भरता है ।

दशम परिच्छेद

भगवान पुष्पदन्त

पुष्करार्ध द्वीप, पूर्व विदेह क्षेत्र, सीता नदी, उसके उत्तरी तट पर पुष्कलावती देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी थी। वहाँ का राजा महापद्म था। वह बडा पराक्रमी था। उसने शत्रुदल को अपने वश में कर लिया था।

पूर्व भव

जनता पर उसका इतना प्रभाव था कि वह जो नई परम्परा डालता था, जनता में वह रिवाज बन जाती थी। जनता उसके गुणो पर मुग्ध थी। वह बडा पुण्यात्मा था। उसे कभी किसी वस्तु का अभाव नही खटकता था।

एक दिन वनपाल ने आकर राजा को समाचार दिया कि वन मे महान् विभूतिसम्पन्न भूतहित नामक जिनराज विराजमान है। समाचार सुनते ही वह पुरजनो-परिजनो के साथ वन मे गया। वहाँ जाकर उसने जिनराज की वन्दना की, पूजा की और जाकर अपने स्थान पर बैठ गया। उनका कल्याणकारी उपदेश सुनकर राजा को ससार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया। सत्यज्ञान होने पर क्या कोई ससार के भोगो और ममता के बन्धनो मे बना रह सकता है। उसने तत्काल अपने पुत्र धनद को राज्य-भार सौप दिया और अनेक राजाओ के साथ वह मुनि बन गया। क्रमश वह द्वादशाग का वेत्ता हो गया और वह सोलह कारण भावनाओ का चिन्तन करने लगा जिससे उसे तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध हो गया। अन्त मे उसने समाधिमरण ले लिया। आयु पूर्ण होने पर वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ।

भरत क्षेत्र मे काकन्दी नगरी के अधिपति महाराज सुग्रीव थे जो इक्ष्वाकु वशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पटरानी का नाम जयरामा था। भगवान जब गर्भ मे आये, उससे छह माह पूर्व से गर्भकाल के नौ माह पर्यन्त देवो ने रत्नवृष्टि की। एक दिन महारानी सो रही थी। उस दिन फाल्गुन कृष्णा नौमी और मूल

गर्भ कल्याणक

नक्षत्र था। ब्राह्म मुहूर्त का समय था। उस समय महारानी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। जब महारानी जागी तो उन्होने अपने पति से उन स्वप्नो का फल पूछा—महाराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नो का फल महारानी से कहा। महारानी फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। उस शुभ मुहूर्त में प्राणत स्वर्ग का वह इन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ मे अवतरित हुआ।

नौ माह पूर्ण होने पर महारानी ने मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन जैत्रयोग मे एक लोकोत्तर पुत्र को

जन्म कल्याणक

जन्म दिया। उसी समय चारो प्रकार के देवो और इन्द्रो ने आकर बाल भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका सब देवो ने मिलकर जन्म कल्याणक महोत्सव बडे समारोह के साथ मनाया। इन्द्र ने कुन्द के पुष्प के समान काति वाले उस बालक का नाम पुष्पदन्त रक्खा। उनका लाछन मगर था।

बालक पुष्पदन्त जन्म काल से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान का धारक था। वह अपनी बाल-क्रीडाओ

निष्क्रमण कल्याणक

से सब मनुष्यो को प्रसन्न करता था। उसके वस्त्राभूषण, भोजन-पान सभी कुछ देवोपनीत थे। उसके बालसाथी देव थे।

जब बालक कुमार अवस्था पार करके यौवन को प्राप्त हुआ, पिता ने अपना राजपाट उसे सौंप दिया और वे मुनि दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण के लिये वनो में चले गये। राज्य-शासन करते हुए महाराज पुष्पदन्त ने संसार

के सभी सुखो का अनुभव किया। भगवान तो असीम पुण्य के स्वामी थे ही, किन्तु जो स्त्रियाँ भगवान को सुख देती थी, वे भी असाधारण पुण्याधिकारिणी थी।

एक दिन भगवान बैठे हुए प्रकृति के सौन्दर्य का रस पान कर रहे थे, तभी अकस्मात् उल्कापात हुआ। ससार मे रहकर भी जो ससार मे पृथक् थे, उनके लिए यह साधारण लगने वाली घटना ही प्रेरक सिद्ध हुई। वे उल्कापात देखकर विचारमग्न हो गये। वे विचार करने लगे—यह उल्का नही है, अपितु मेरे अनादिकाल के महा मोह रूपी अन्धकार को दूर करने वाली दीपिका है। इससे उन्हे बोधि प्राप्त हुई और उन्हे यह दृढ आत्म प्रतीति हुई—मेरा आत्मा ही मेरा है, यह राज्य, स्त्री-पुत्र आदि सभी पर है, कर्मकृत सयोग मात्र है। अब मुझे आत्मा के लिये ही निज का पुरुषार्थ जगाना है।

तभी लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की पूजा की और उनके विचारो की सराहना की। भगवान भी अपने पुत्र सुमति का राज्याभिषेक करके सूर्यप्रभा पालकी मे बैठकर नगर के बाहर उद्यान मे पहुचे। वहाँ बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओ के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हे मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रो और देवो ने भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाया।

दूसरे दिन वे आहार के लिये शैलपुर नगर मे पहुँचे। वहाँ पुष्पमित्र राजा ने उन्हे आहार देकर असीम पुण्य का उपार्जन किया। देवो ने वहा पचाश्चर्य किये।

केवल ज्ञान कल्याणक—भगवान निरन्तर तपस्या करते रहे। उन्हे इस प्रकार तपस्या करते हुए चार वर्ष व्यतीत हो गये। तब वे कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन सायकाल के समय मूल नक्षत्र मे दो दिन का उपवास लेकर नाग वृक्ष के नीचे बैठ गये और उसी दीक्षा वन मे घातिया कर्मो को निर्मूल करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया।

इन्द्रो ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की और समवसरण की रचना की। उस दिन सर्व पदार्थो का निरूपण करने वाली भगवान की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई।

भगवान का संघ—भगवान पुष्पदन्त के सात ऋद्धियो के धारक विधर्भ आदि अठासी गणधर थे। १५०० श्रुतकेवली, १५५५०० शिक्षक, ८४०० अवधिज्ञानी, ७००० केवलज्ञानी, १३००० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ७५०० मन पर्ययज्ञानी और ६६०० वादी मुनि थे। इस प्रकार कुल मुनियो की सख्या २००००० थी। इनके अतिरिक्त घोषार्या आदि ३८०००० आर्यिकाये, २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकाये थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने समस्त आर्य देशो मे विहार करके सद्धर्म का उपदेश दिया, जिससे असख्य प्राणियो ने आत्म-हित किया। अन्त मे वे सम्मेदशिखर पहुँचे और योग-निरोध करके भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र मे सायकाल के समय एक हजार मुनियो के साथ मोक्ष को प्राप्त हो गये। देव और इन्द्र आये और उनका निर्वाण कल्याणक मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

अपर नाम—भगवान पुष्पदन्त का दूसरा नाम सुविधिनाथ भी है।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान पुष्पदन्त के सेवक यक्ष का नाम अजित यक्ष और सेविका यक्षिणी का नाम महा-काली था।

इन्ही के समय मे रुद्र नामक तीसरा रुद्र हुआ।

काकन्दी

पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले मे खुखन्दू नामक एक कस्बा है। यह सडक मार्ग से देवरिया-सलेमपुर सडक से एक मील है। मार्ग कच्चा है। पश्चिम से आने वालो को देवरिया और पूर्व से आने वालो को सलेमपुर उतरना चाहिए। दोनो ही स्थानो से यह १४-१४ कि० मी० है। यहाँ पुराने भवनो के भग्नावशेष लगभग एक मील मे बिखरे पडे है। यहाँ प्राचीन तालाव है और तीस टीले है। यही पर प्राचीन काल मे काकन्दी थी। काकन्दी का नाम बदलते बदलते किष्किन्धापुर और फिर खुखन्दू हो गया।

इस नगर मे पुष्पदन्त भगवान का जन्म हुआ था।

यहीं पर काकन्दी नरेश अभयघोष हुए थे। उन्होंने एक कछुए की टाग तलवार से काट दी थी। कछुए का वह जीव उनके घर में ही पुत्र के रूप मे उत्पन्न हुआ। अभयघोष नरेश यथासमय पुत्र को राज्य देकर मुनि बन गये। एक बार मुनि अभयघोष विहार करते हुए काकन्दी आये और नगर के बाहर उद्यान मे ध्यान लगाकर खडे हो गये। उनका पुत्र चण्डवेग घूमता हुआ उधर मे निकला। पूर्व जन्म के वैर के कारण चण्डवेग ने मुनि अभयघोष को देखते ही उन पर उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। उसने तीक्ष्ण धार वाले हथियार से उनके अग काटना प्रारम्भ कर दिया। जब अन्तिम अग कट रहा था, तभी मुनिराज को केवलज्ञान हो गया और वही से निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार यह स्थान सिद्ध क्षेत्र भी है।

यहां के टीलो को लोग 'देउरा' कहते है। देउरा का अर्थ है देवालय। यहां भारत सरकार की ओर से जो खुदाई हुई थी, उसके फलस्वरूप यहा तीर्थंकर मूर्तियां, चैत्य वृक्ष और स्तूपों के भग्न भाग निकले थे। यहां खुदाई मे ईंटों का एक फर्श भी मिला था, जिसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जैन मन्दिर माना है।

यहां के मन्दिर मे भगवान नेमिनाथ की श्यामवर्ण वाली सवा दो फुट की पद्मासन प्रतिमा मूलनायक है। इसके अतिरिक्त भगवान पुष्पदन्त, भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमाये है। एक चौबीसी है। अम्बिका देवी की एक पाषाण प्रतिमा भूगर्भ से निकली हुई यहां रक्खी है। नेमिनाथ और अम्बिका की मूर्तियां गुप्त काल या उससे भी पूर्व की है।

ककुभग्राम—आजकल इसका नाम 'कहाऊं' है। यही भगवान पुष्पदन्त की दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुआ था। यह काकन्दी मे १६ कि० मी० है। प्राचीन काल मे यह काकन्दी का बाहरी उद्यान या वन था।

यहां भी चारो ओर भग्नावशेष बिखरे पडे है। यहा एक टूटे मकान मे पांच फुट ऊंची सिलेटी वर्ण की एक तीर्थंकर प्रतिमा रक्खी हुई है। यह बीच मे खण्डित है। ग्रामीण लोग तेल पानी से इसका अभिषेक करते है।

इस कमरे के सामने एक और ऐसी ही प्रतिमा चबूतरे पर पडी हुई है। यह काफी शीर्ण है। इसका मुख तक घिस गया है।

इनसे कुछ आगे एक मानस्तम्भ खडा है। यह २४ फुट ऊंचा है। इसमे एक ओर भगवान पार्श्वनाथ की सवा दो फुटी खड्गासन प्रतिमा उत्कीर्ण है। स्तम्भ के ऊपरी भाग मे पांच तीर्थंकर प्रतिमाये विराजमान है। ग्रामीण लोग पार्श्वनाथ की पूजा दही-सिन्दूर से करते है और इस स्तम्भ को 'भीमसेन की लाट' कहते है।

स्तम्भ पर ब्राह्मी लिपि मे बारह पंक्तियों का एक लेख खुदा हुआ है। उसके अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण एव प्रतिष्ठा मद्र नामक एक ब्राह्मण ने गुप्त सवत् १४१ (ई० सन् ४६०) मे सम्राट् समुद्रगुप्त के काल मे कराई थी। यह ज्ञात मान स्तम्भो मे सबसे प्राचीन है।

एकादश परिच्छेद

भगवान शीतलनाथ

पुष्करवर द्वीप के विदेह क्षेत्र मे सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स नामक देश था। उसके सुसीमा नगर मे पद्मगुल्म नामक राजा राज्य करता था। वह साम, दाम, दण्ड और भेद का ज्ञाता था। सहाय, साधनोपाय, देश विभाग, काल विभाग और विनिपात प्रतीकार इन पाच अ गो से युक्त सन्धि-विग्रह का सम्यक् विनियोग करने वाला था। उसने अपने बुद्धि-कौशल मे स्वामी, मत्री, कोट, कोष, मित्र, देश और सेना का खूब प्रभाव-विस्तार किया था। वह देव, बुद्धि और पुरुपार्थ द्वारा लक्ष्मी की निरन्तर वृद्धि करता रहता था। वसन्त ऋतु के आगमन होने पर वह प्रतिदिन अपनी रानियों के सग विविध क्रीडाय किया करता था। जब वसन्त ऋतु समाप्त हो गई तो उसे ससार की इस क्षणभगुरता से वैराग्य हो गया और नन्दन नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौपकर आनन्द नामक मुनिराज के पास जाकर उसने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उसने निरन्तर तपश्चर्या करते हुए ग्यारह अग का अध्ययन किया और षोडश कारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए तीर्थकर नाम कर्म का बन्ध कर लिया। वह चारो आराधनाओं का आराधन करता हुआ आयु के अन्त मे समाधिमरण धारण करके आरण नामक पन्द्रहवे स्वर्ग का इन्द्र बना।

पूर्व भव

भरत क्षेत्र मे मलय नामक देश था। उसमे भद्रपुर नगर के स्वामी इक्ष्वाकु कुल के भूषण राजा दृढरथ राज्य करते थे। उनकी प्राणवल्लभा का नाम महारानी सुनन्दा था। कुबेर की आज्ञा से यक्ष देवो ने भगवान के गर्भावतरण से छह मास पहले से महाराज दृढरथ के प्रासाद मे रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन महारानी सुनन्दा ने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे और उसके बाद एक विशालकाय हाथी को मुख मे प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन पूर्वाषाढा नक्षत्र मे वह आरणेन्द्र का जीव रानी के गर्भ मे अवतीर्ण हुआ।

गर्भ कल्याणक

प्रात काल होने पर महारानी ने महाराज के पास जाकर अपने स्वप्नो की चर्चा की। महाराज ने ज्ञान से जानकर उनके फल बताते हुए कहा—देवि ! तुम्हारे गर्भ मे त्रिलोकीनाथ तीर्थकर देव अवतरित हुए है। सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवो ने आकर गर्भकल्याणक की पूजा की।

जन्म कल्याणक— गर्भ-काल पूर्ण होने पर माघ कृष्णा द्वादशी के दिन विश्वयोग मे महारानी ने पुत्र-प्रसव किया। उसी समय चारो जाति के देव और इन्द्र आकर बडे समारोह के साथ बाल भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होने क्षीरसागर के जल से भगवान का अभिषेक किया। सौधर्म इन्द्र ने भगवान की भक्ति से विह्वल होकर ताण्डव नृत्य किया और बालक का नाम शीतलनाथ रक्खा। उनका लाछन श्रीवृक्ष था।

दीक्षा कल्याणक— बालक शीतलनाथ दूज के चन्द्रमा के समान बढने लगे। जब किशोरवय पार कर वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, उनके पिता ने उन्हे राज्याभिषेक करके राज्य सौप दिया और स्वय मुनि बन गये। भगवान राज्य पाकर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा उनके सुशासन से इतनी सन्तुष्ट थी कि वे प्रजा के हृदय-सम्राट् कहलाते थे।

एक दिन वे वन-विहार के लिए गये। वे जब वन मे पहुँचे, उस समय कोहरा छाया हुआ था। किन्तु सूर्यो-

दय होते ही कोहरे का पता भी न चला। सर्वसाधारण के लिए घटना साधारण थी, किन्तु आत्मदृष्टा शीतलनाथ के लिये यही साधारण घटना असाधारण बन गई। वे चिन्तन में डूब गये—कोहरा नष्ट हो गया, यह सारा ससार ही नाशवान् है। अब मुझे दु ख, दुखी और दु ख का निमित्त इन तीनो का यथार्थ बोध हो गया। मोह के निमित्त से मैं समझता रहा—मैं सुखी हूँ, इन्द्रिय-सुख ही वास्तविक सुख है और यह सुख पुण्योदय से मुझे फिर भी मिलेगा। अतः अब मुझे इस मोह का ही नाश करना है।

भगवान ऐसा विचार कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की वन्दना की और उनके विचारो की सराहना की। भगवान ने तत्काल अपने पुत्र को राज्य-भार सौप दिया और शुक्रप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने माघ कृष्णा द्वादशी के दिन सायकाल के समय पूर्वाषाढा नक्षत्र मे दो उपवास का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ सयम धारण कर लिया।

दीक्षा लेते ही भगवान को मन पर्ययज्ञान प्रगट हो गया। दो दिन के पश्चात् चर्या के लिए वे अरिष्ट नगर मे पहुचे। वहाँ पुनर्वसु राजा ने नवधा भक्तिपूर्वक भगवान को आहार-दान देने का सौभाग्य प्राप्त किया। देवो ने रत्नवर्षा आदि पचाश्चर्य किये। भगवान आहार करके विहार कर गये। वे घोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था के तीन वर्ष तक उन्होंने नानाविध तप किये। तदनन्तर वे एक दिन बेल के वृक्ष के नीचे दो दिन का उपवास करके ध्यानलीन हो गये। तभी पौष कृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढ नक्षत्र में सायकाल के समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवो ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की तथा समवसरण की रचना की। उसमे देव, मनुष्य और तिर्यचो के समक्ष भगवान की कल्याणी दिव्यध्वनि खिरी। यह भगवान का प्रथम धर्म-चक्र-प्रवर्तन था।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान का संघ—भगवान के सघ मे अनगार आदि ८१ गणधर थे। १४०० पूवधारी, ५६२०० शिक्षक, ७२०० अवधिज्ञानी, ७००० केवली, १२००० विक्रियाऋद्धिधारी मुनि, ७५०० मन पर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियो की कुल सख्या एक लाख थी। धरणा आदि ३८०००० आर्यिकायें थी। दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें थी।

निर्वाण कल्याणक—वे चिरकाल तक अनेक देशो मे विहार करके भव्य जीवो का कल्याण का मार्ग बताते रहे। अन्त मे वे सम्मेदशिखर जा पहुँचे और वहां एक माह का योग-निरोध करके उन्होने प्रतिमा योग धारण कर लिया और आश्विन शुक्ला अष्टमी को सायकाल के समय पूर्वाषाढा नक्षत्र मे समस्त कर्मो का नाश करके एक हजार मुनियो के साथ मोक्ष प्राप्त किया। देवो ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष यक्षिणी—भगवान शीतलनाथ के सेवक यक्ष का नाम ब्रह्म यक्ष और सेविका मानवी यक्षिणी थी।

भगवान शीतलनाथ के समय विश्वानल नाम का चौथा रुद्र हुआ था।

भगवान शीतलनाथ का जन्म भद्रिकापुरी या भद्दिलपुर मे हुआ था और उन्होंने अपनी जन्म-नगरी के बाह्य उद्यान में दीक्षा ग्रहण की थी तथा दीक्षा-वन मे ही उन्हे केवलज्ञान हुआ। किन्तु भद्रिकापुरी कहाँ है, इस बात को जैन समाज प्राय भूल चुकी है। कई विद्वान् अज्ञानवश भेलसा (मध्य प्रदेश) को शीतलनाथ भगवान की जन्म-भूमि मानते है। किन्तु भगवान शीतलनाथ की जन्म-नगरी भद्रिकापुरी वर्तमान मे विहार प्रान्त मे हजारीबाग जिले मे है और वर्तमान मे उस नगर का नाम भोदल गाव है। इसी प्रकार उनका दीक्षा-वन एव केवलज्ञान कल्याणक स्थान कोल्हुआ पर्वत है। यह स्थान हजारीबाग जिले की चतरा तहसील मे है। यहाँ जाने के लिये ग्राण्ड ट्रक रोड पर डोभी से या चतरा से सडक जाती है। चतरा के लिये हजारीबाग से और ग्राण्ड ट्रक रोड पर स्थित चोपारन से सड़के जाती है। इनके अतिरिक्त गया से शेरघाटी, हटरगज और हटवारिया होकर भी मार्ग है। यह हण्टरगज से दक्षिण-पश्चिम में छह मील है। भोदलगाव कोल्हुआ पहाड़ से पाच-छह मील है।

भ० शीतलनाथ की जन्म-भूमि-भद्रिकापुरी

सन् १८६६ में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री नन्दलाल डे ने यहाँ का निरीक्षण करके इस पर्वत को मकुल पर्वत माना था, जहाँ भ० बुद्ध ने अपना छठवाँ चातुर्मास किया था तथा इस मन्दिर पर स्थित मन्दिरो और मूर्तियों को बौद्ध लिखा था। किन्तु सन् १६०१ मे डा० एम० ए० स्टन ने एक लेख लिखकर यह सिद्ध किया था कि यहाँ के सारे मन्दिर और मूर्तियाँ वस्तुत जैन है और यह पर्वत जैन तीर्थंकर शीतलनाथ की पवित्र जन्म-भूमि है। तभी से यह स्थान प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। यही नही, इसके आस-पास में सतगवा, कुन्दविला, बलरामपुर, ओरम, दारिका, छर्रा, डलमा, कतरासगढ, पवनपुर, पाकवीर, तेलकुपी आदि मे अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ उपलब्ध होती है। भोदलगाव के निकट तो श्रावक गाव और श्रावक पहाड भी है। इस सबसे यह सहज ही अनुमान होता है कि यह स्थान कभी जैन धर्म का महान् केन्द्र था और इसके निकट का सारा प्रदेश जैन धर्मानुयायी था।

कोल्हुआ पहाड पर जाने के दो मार्ग है—पश्चिम की ओर मे हटवारिया होकर तथा पूर्व की ओर से घाटी मे होकर। हटवारिया की ओर से चढने पर लगभग एक किलोमीटर चलने पर भगवान पार्श्वनाथ की पौने दो फुट अवगाहना वाली एक प्रतिमा मिलती है। हिन्दू जनता इसे 'द्वारपाल' कहती है। इससे दो कि० मी० आगे चलने पर एक भग्न कोट मिलता है। फिर एक तालाब ३००×७०० गज का मिलता है। सरकार की ओर से इसकी खुदाई कराई गई थी। फलत एक सहस्रकूट चैत्यालय मिला। इसमे ढाई इच वाली पचास प्रतिमाये है। सरोवर के किनारे अनेक खण्डित अखण्डित जैन प्रतिमाये और जैन मन्दिरो के अवशेष बिखरे पडे है।

कोट द्वार के दक्षिण पूर्व की ओर कुलेश्वरी देवी का मन्दिर है, जो मूलत जैन मन्दिर था। मन्दिर के दक्षिण की ओर एक गुफा मे पार्श्वनाथ प्रतिमा है जो प्राय एक गज ऊँची है। इसके निकट दूसरी गुफा मे एक पद्मासन तीर्थंकर-मूर्ति है।

सरोवर के उत्तर मे एक छोटा-सा प्राचीन जैन मन्दिर है, जिसके ऊपर पाच शिखर है। इसे सर्वे सैटिलमेण्ट के नकशे मे पार्श्वनाथ मन्दिर माना है। मन्दिर के बाहर जो चबूतरा है, उसे पार्श्वनाथ चबूतरा लिखा है। आगे जाकर आकाश लोचन कूट है। उस पर आठ इच लबे चरण बने हुए है। इससे कुछ आगे एक गुफा मे एक फुट अवगाहना वाली दस प्रतिमाये एक चट्टान मे उकेरी हुई है। इसमे आगे एक चट्टान मे पाच पद्मासन और पाच खड्गासन प्रतिमाये उत्कीर्ण है। भूल से लोग इन्हे पाच पाण्डवों और दशावतार की प्रतिमाये कहने लगे है।

भोदलगाव छोटा-सा गाव है। अनुसन्धान किया जाय तो यहाँ भी जैन मन्दिर और मूर्तिया मिल सकती है।

भगवान शीतलनाथ के तीर्थ का अन्तिम चरण था। उस समय वक्ता, श्रोता और धर्माचरण करने वाले व्यक्तियो का अभाव हो गया। उस समय भद्रिलपुर मे मलय देश का राजा मेघरथ था। एक दिन राजा ने राज्य-सभा मे प्रश्न किया—सबसे अधिक फल देने वाला दान कौन सा है ? इसके उत्तर मे सत्यकीर्ति नामक मत्री, जो दान के तत्त्व को जानने वाला था—कहा—'आचार्यो ने तीन दान सर्वश्रेष्ठ बताये है—शास्त्रदान, अभयदान और अन्नदान। अन्नदान की अपेक्षा अभयदान श्रेष्ठ है और अभयदान की अपेक्षा शास्त्रदान उत्तम है। आप्त द्वारा कहा हुआ और पूर्वापर अविरोधी एव प्रत्यक्ष-परोक्ष से बाधित न होने वाला शास्त्र ही सच्चा शास्त्र कहलाता है। ऐसे शास्त्र का व्याख्यान करने से ससार के दु खो मे त्रस्त व्यक्तियो का कल्याण होता है। अत शास्त्र-दान ही सर्वोत्तम फल देने वाला है। इस दान के द्वारा ही हेय और उपादेय तत्व का बोध होता है। किन्तु राजा को यह रुचिकर प्रतीत नही हुआ। अपनी कलुषित भावनाओ के कारण वह कुछ और ही दान देना चाहता था।

मिथ्यादान का इतिहास

उसी नगर मे भूतिशर्मा नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह खोटे शास्त्र बनाकर राजा को प्रसन्न किया करता था। उसके मरने पर उसका पुत्र मुण्डशालायन भी यही काम करता रहा। वह भी उस समय राज्य-सभा मे बैठा हुआ था। वह बोला—'महाराज ! ये सब दान तो साधुओ और दरिद्रो के लिये है। किन्तु महत्त्वाकाक्षी राजाओं के लिये तो शाप और अनुग्रह करने की शक्ति से सम्पन्न ब्राह्मणो के लिये सुवर्ण, भूमि आदि का दान अनन्त

काल तक यश देने वाला है।' यह कहकर उसने अपने बनाये हुए शास्त्र को खोलकर उसे सबको सुना दिया। राजा उसकी बातो से बडा प्रसन्न हुआ और उसने मुण्डलायन को पृथ्वी और सुवर्ण का दान देकर सम्मानित किया।

इसके बाद उत्साहित होकर मुण्डलायन ने दस प्रकार के दानो का विधान किया (१) कन्यादान (२) सुवर्णदान (३) हस्तिदान (४) अश्वदान (५) गोदान (६) दासीदान (७) तिलदान (८) रथदान (९) भूमिदान और (१०) गृहदान।

तबसे पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत दानो के स्थान पर इन दानो की परम्परा चल पडी।

द्वादश परिच्छेद

भगवान श्रेयान्सनाथ

पूर्व भव

पुष्करार्ध द्वीप में पूर्व विदेह क्षेत्र स्थित सुकच्छ देश के क्षमपुर नगर मे नलिनप्रभ नामक राजा राज्य करता था। वह न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था। वह धर्म, अर्थ और काम तीनो पुरुषार्थो का सन्तुलित रूप से उपयोग करता था। एक दिन वनपाल ने हर्ष-समाचार सुनाया कि सहस्राम्र वन मे अनन्त जिनेन्द्र पधारे है। यह समाचार सुनकर वह अपने परिजन और पुरजनो से युक्त उस वन मे पहुँचा। वहाँ उसने जिनेन्द्रदेव की पूजा की, स्तुति की और फिर वह अपने योग्य आसन पर बैठ गया। तब जिनेन्द्रदेव का धर्मोपदेश हुआ। उपदेश सुनकर उसे एक प्रकाश मिला। वह विचार करने लगा-मैने मोहवश, अनादिकाल के सस्कारवश यह परिग्रह एकत्रित किया है। इसका त्याग किये बिना कल्याण सभव नही है। तब समय नष्ट करने से क्या लाभ है। यह सोचकर उसने अपने पुत्र सुपुत्र का राज्याभिषेक कर दिया और अनेक राजाओ के साथ उसने सयम ग्रहण कर लिया। उसने कठिन तप का आचरण किया, ग्यारह अगो का अध्ययन किया, षोडश कारण भावनाओ का सतत चिन्तन किया। फलत उसे तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त मे समाधिमरण करके वह अच्युत नामक सोलहवे स्वर्ग का इन्द्र बना।

गर्भावतरण

भरत क्षेत्र मे सिहपुर नगर के अधिपति महाराज विष्णु नामक राजा थे, जो इक्ष्वाकुवशी थे। उनकी महारानी का नाम नन्दा था। देवो ने गर्भावतरण मे छह माह पूर्व से पन्द्रह माह तक रत्नवर्षा की। एक दिन महारानी ने ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्रके योग मे प्रात काल के समय सोलह स्वप्न देखे और अपने मुख मे एक हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय अच्युतेन्द्र का जीव अपनी आयु पूरी करके महारानी नन्दा के गर्भ मे अवतरित हुआ। प्रात काल उठने पर महारानी ने अपने पति के पास जाकर उन्हे अपने देखे हुए स्वप्न सुनाये और उनका फल पूछा। महाराज ने स्वप्न सुनकर बडा हर्ष प्रगट किया और स्वप्नो का फल बताया कि तुम्हारे गर्भ मे तीर्थकर ने अवतार लिया है। इन्द्रो और देवो ने आकर तीर्थकर के गर्भ कल्याणक का महोत्सव किया।

जन्म कल्याणक

देवियाँ माता की सेवा करती थी। वे उनका मनोरजन करने से लेकर स्नान आदि सब काम करती थी। माता को गर्भ का काल कब व्यतीत हो गया, यह पता ही नही चला और फागुन कृष्णा एकादशी के दिन विष्णुयोग मे तीन ज्ञान के धारक तीन लोक के प्रभु को जन्म दिया। पुत्र का जन्म होते ही तीनो लोको के जीवो का मन हर्ष से भर गया। रोगियो के रोग शान्त हो गये। शोक वाले शोक रहित हो गये। तभी चारो जाति के देव अपने इन्द्रो के साथ विविध वाहनो पर आये। चारो ओर देव दुन्दुभि बजा रहे थे, देवागनाये नृत्य कर रही थी, गन्धर्व मधुर गान कर रहे थे। सारे लोक मे हर्ष व्याप्त था। इन्द्राणी द्वारा लाये हुए बालक को सौधर्मेन्द्र ने गोद मे लेकर सहस्र नेत्र बनाकर उस बाल-प्रभु के दर्शन किये और ऐरावत हाथी पर बैठाकर देवो के साथ सुमेरु पर्वत पर जा पहुँचा। वहां देवो ने क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण एक हजार कलशो से भगवान का अभिषेक किया। इन्द्राणी ने उन्हे वस्त्राभूषणो से अलकृत किया। सौधर्मेन्द्र ने उनकी लोकोत्तर छवि देखते हुए उनका नाम श्रेयान्स रक्खा। उनका चिन्ह गेडा था।

धीरे धीरे श्रेयान्स कुमार बढने लगे। जब उनका कुमार काल व्यतीत हो गया और उन्होने यौवन में पदार्पण किया, पिता ने अपना राज्य पुत्र को सोप दिया। अब श्रेयान्सनाथ ने राज्य-भार सभाल लिया। उन्हे पूर्व पुण्य से सब प्रकार के भोग प्राप्त थे। प्रजा उनके पुण्य-प्रभाव और सुशासन से खूब सन्तुष्ट थी और निरन्तर समृद्धि की ओर बढ़ रही थी। उनका शासन कल्याणकारी था।

दीक्षा कल्याणक

एक दिन वसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर उनके मन मे विचार प्रस्फुटित हुआ—काल बडा बलवान है, ऐसा कहा जाता है। किन्तु काल भी छिन छिन में छीज रहा है। जब काल ही अस्थिर है, तब ससार में स्थिर क्या है ? केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा के गुण ही अविनश्वर है। जब तक शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति न हो जाय, तब तक निश्चिन्त नही हो सकता,

भगवान यह विचार कर रहे थे, तभी सारस्वत आदि लोकान्तिक देवो ने आकर उनकी स्तुति की और उनके वैराग्य की सराहना की।

भगवान ने अपने पुत्र श्रेयस्कर को राज्य सोप दिया और देवो द्वारा उठाई गई विमलप्रभा नामक पालकी मे आरूढ होकर नगर के बाह्य अचल मे स्थित मनोहर उद्यान मे पहुंचे। वहा पहुंच कर दो दिन के लिये आहार का त्याग कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी को प्रात काल के समय श्रवण नक्षत्र मे एक हजार राजाओ के साथ सयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हे मन पर्ययज्ञान प्रगट हो गया।

उन्होने पारणा के लिये सिद्धार्थ नगर मे प्रवेश किया। वहां नन्द राजा ने भगवान को भक्तिपूर्वक आहार दिया। देवो ने पचाश्चर्य किये।

भगवान श्रेयान्सनाथ ने तप करते हुए दो वर्ष विभिन्न स्थानो पर बिहार करते हुए बिताये। वे फिर बिहार करते हुए अपने दीक्षा-बन मे पधारे। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे तुम्बुर वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ हो गये। वही पर उन्हे माघ कृष्णा अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र मे सायकाल के समय केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवो और इन्द्रो ने आकर केवलज्ञान कल्याणक उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमे देव, मनुष्य और तिर्यचो के पुण्य योग से भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होने धर्मचक्र प्रवर्तन किया।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान के कुन्थु आदि सतत्तर गणधर थे। १३०० पूर्वधर, ४८२०० शिक्षक, ६००० अवधिज्ञानी, ६५०० केवलज्ञानी, ११००० विक्रियाऋद्धिधारी, ६००० मन पर्ययज्ञानी और ५००० वादी मुनि थे। इस प्रकार कुल मिलाकर ८४००० मुनि थे। इनके अतिरिक्त धारणा आदि १२०००० अर्जिकाये थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकाये थी।

भगवान का परिवार

केवलज्ञान के पश्चात् भगवान विभिन्न देशो मे विहार करके भव्य जीवो को उपदेश देते रहे। जब आयु कर्म का अन्त होने मे एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेदशिखर पहुंचे। वहां एक माह तक योग निरोध कर एक हजार मुनियो के साथ श्रावण शुक्ला पूर्णमासी के दिन सायकाल के समय धनिष्ठा नक्षत्र मे अघातिया कर्मो का क्षय करके मुक्त हो गये।

निर्वाण कल्याणक

देवो ने आकर धूमधाम से उनका निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान श्रेयान्सनाथ के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और सेविका यक्षिणी का नाम गौरी था।

भगवान श्रेयान्सनाथ का जन्म सिहपुरी मे हुआ था। यह स्थान वाराणसी से सडक मार्ग द्वारा छह किलो मीटर है। वाराणसी से टैक्सी और बस बराबर मिलती है। ट्रेन मे जाना हो तो सारनाथ स्टेशन उतरना चाहिए। वहाँ से जैन मन्दिर तीन फर्लांग है। आजकल यह स्थान सारनाथ कहलाता है। यहाँ श्रेयान्सनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थ।

सिंहपुरी

यहाँ एक शिखरवन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर में भगवान श्रेयान्सनाथ की ढाई फुट अवगाहना

वाली श्याम वर्ण मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। इसकी प्रतिष्ठा सम्वत् १८८१ मे मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी शुक्रवार को पभौसा पर्वत पर हुई थी। यह भेलूपुरा के मन्दिर से लाकर यहाँ विराजमान की गई थी। इस प्रतिमा के आगे भगवान श्रेयान्सनाथ की एक श्वेत वर्ण तथा भगवान पार्श्वनाथ की श्यामवर्ण प्रतिमा विराजमान है। वेदी के पृष्ठ भाग मे एक अलमारी मे एक शिलाफलक मे नन्दीश्वर चैत्यालय है, जिसमे ६० प्रतिमाये बनी हुई है। यह भूगर्भ से मिली थी।

मन्दिर के आगे सरकार की ओर से घास का लान और पुष्प-वाटिका बनी हुई है। यही पर अशोक द्वारा निर्मित्त स्तूप बना हुआ है जो १०३ फुट ऊंचा है। स्तूप के ठीक सामने सिहद्वार बना हुआ है। द्वार बडा कला-पूर्ण है। दोनो स्तम्भो के शीर्ष पर सिहचतुष्क बना हुआ है। सिहो के नीचे धर्मचक्र और दाई-बाई ओर बैल और घोडे की मूर्तियाँ अकित है। इसी स्तम्भ की सिहत्रयी को भारत सरकार ने राजचिन्ह के रूप में मान्यता प्रदान की है और धर्म-चक्र को राज्य-ध्वज पर अकित किया गया है। यह बौद्ध तीर्थ माना जाता है, जहाँ बुद्ध ने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया था।

कुछ विद्वानो की मान्यता है कि यह स्तूप भगवान श्रेयान्सनाथ की स्मृति मे सम्राट् अशोक के पौत्र सम्राट् सम्प्रति ने बनवाया था। सारनाथ नाम भी श्रेयान्सनाथ से बिगड कर बना है।

त्रिपृष्ठ नारायण

राजगृह नगर के अधिपति विश्वभूति और उसकी पत्नी जैनी के एक ही पुत्र था, जिसका नाम विश्वनन्दी था। विश्वभूति का एक भाई था विशाखभूति। उसकी स्त्री का नाम लक्ष्मणा था। उनके पुत्र का नाम विशाखनन्द था। वह निपट मूर्ख था।

निदान बन्ध

एक दिन शरद ऋतु के मेघ का नाश देखकर विश्वभूति नरेश को वैराग्य हो गया। उसने अपने छोटे भाई विशाखभूति को राज्य दे दिया और युवराज पद अपने पुत्र विश्वनन्दी को देकर मुनि-दीक्षा ले ली। विशाखभूति राज्य-शासन चलाने लगा।

उस नगर के बाहर नन्दन उद्यान था, जो लताओ, गुल्मो और पुष्पो से परिपूर्ण था। विश्वनन्दी को यह उद्यान बहुत पसन्द था। एक दिन वह अपनी स्त्रियो के साथ उस स्थान मे विहार कर रहा था। विशाखनन्द ने उसे देखा और द्वेषवश वह उस उद्यान पर अधिकार करने का उपाय सोचने लगा। तभी वह अपने पिता विशाखभूति के पास पहुँचकर बोला—'यह नन्दन उद्यान मै चाहता हूँ। इसे आप मुझे दे दीजिये, अन्यथा मै राज्य छोडकर अन्यत्र चला जाऊँगा।' विशाखभूति बोला—'यह क्या बडी बात है। वह उद्यान तुम्हे दे दूँगा।'

राजा ने युवराज विश्वनन्दी को बुलाया और कहने लगा—'पुत्र! मैं समीपवर्ती राजाओ पर आक्रमण करके उनके उपद्रव शान्त करने जा रहा हूँ। तब तक राज्य का भार तुम ग्रहण करो।' विश्वनन्दी यह सुनकर बोला—'पूज्यपाद! आप यही पर निश्चिन्त रहे। मै जाकर अल्प काल मे उन राजाओ को पराजित करके शीघ्र लौट आऊँगा।'

विश्वनन्दी चाचा की आज्ञा से सेना सजाकर चल दिया। तभी विशाखभूति ने नन्दन उद्यान अपने पुत्र विशाखनन्द को दे दिया। विश्वनन्दी को इस घटना का पता तत्काल चल गया। उसे चाचा के इस छल को देखकर बडा क्रोध आया। वह फौरन लौट आया और उद्यान पर अधिकार करने वाले विशाखनन्द को मारने को उद्यत हो गया। विशाखनन्द भयभीत होकर कैथ के वृक्ष पर चढ गया। विश्वनन्दी ने क्रोध मे उस वृक्ष को जड समेत उखाड डाला और उसी मे विशाखनन्द को मारने को झपटा। विशाखनन्द वहाँ से भागकर एक पाषाण-स्तम्भ के पीछे जा छिपा। विश्वनन्दी पीछा करता हुआ वही जा पहुँचा और मुष्टिका प्रहार से उस स्तम्भ को ही तोड दिया। विशाखनन्द वहाँ से भी भागा। तब विश्वनन्दी को उस पर दया आ गई और उसे अभय देते हुए वह उद्यान भी उसे ही दे दिया किन्तु मन मे ऐसी खिन्नता भर गई कि वह तत्काल वहाँ से चलकर सम्भूत मुनि के पास पहुँचा और उनसे मुनि-दीक्षा ले ली। इस घटना से विशाखभूति को भी बडा पश्चाताप हुआ, उसे अपनी भूल पर दुःख हुआ और उसने भी राजपाट छोड कर सयम धारण कर लिया।

मुनि विश्वनन्दी घोर तपश्चर्या करने लगे। शरीर अत्यन्त कृश हो गया। विहार करते हुए वे मथुरा पहुँचे। वे आहार के निमित्त नगर में गये। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था, पैर डगमगा रहे थे। विशाखनन्द व्यसनो के कारण राज्यभ्रष्ट होकर मथुरा आया हुआ था। उस समय वह एक वेश्या के मकान की छत पर बैठा हुआ था। तभी एक सद्य:प्रसूता गाय ने मुनि विश्वनन्दी को धक्का देकर गिरा दिया। उन्हे गिरते देखकर विशाखनन्दी उनका उपहास करता हुआ बोला—पत्थर का खम्भा तोडने वाला तुम्हारा पराक्रम क्या यही है?' बात मुनि के मन में चुभ गई। उन्होने निदान किया कि मै इस उपहास का बदला विशाखनन्दी से अवश्य लूँगा। इस प्रकार निदान-बन्ध कर

के उनका मरण हो गया। वे मरण कर महाशुक्र विमान में देव हुए। विशाखभूति मुनि भी मर कर इसी स्वर्ग में देव हुए।

त्रिपृष्ठ नारायण के रूप में—सुरम्य देश के पोदनपुर नगर के नरेश प्रजापति की दो रानियाँ थी—जयावती और मृगावती। विशाखभूति का जीव स्वर्ग से आयु पूरी करके जयावती का पुत्र विजय हुआ और विश्वनन्दी का जीव मृगावती के त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ।

विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के अलकापुर नगर मे मयूरग्रीव नाम का विद्याधरो का राजा रहता था। उसकी रानी का नाम नीलाजना था। विशाखनन्द का जीव विभिन्न योनियो मे भटकता हुआ उस विद्याधर नरेश के अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी मे रथनूपुर चक्रवाल नामक एक प्रसिद्ध नगर था। ज्वलनजटी नामक विद्याधर उस नगर का स्वामी था। उसकी रानी का नाम वायुवेगा था। उनके अर्ककीर्ति नामक पुत्र और स्वयप्रभा नामक पुत्री थी। स्वयप्रभा अत्यन्त सुन्दरी थी। यौवन मे पदार्पण करते ही उसका सौन्दर्य सम्पूर्ण कलाओ मे सुशोभित हो उठा। उसे देखकर ज्वलनजटी विचार करने लगा कि मेरी पुत्री के उपयुक्त कौन पात्र है। उसने निमित्त शास्त्र में कुशल पुरोहित से इस सम्बन्ध मे परामर्श किया। पुरोहित बोला—यह सर्व शुभ लक्षणो से सम्पन्न कन्या प्रथम नारायण की पट्टमहिषी बनेगी। प्रथम नारायण पोदनपुर मे उत्पन्न हो चुका है।

ज्वलनजटी ने तत्काल नीतिकुशल इन्द्र नामक मन्त्री को बुलाया और उसे पत्र तथा भेट देकर पोदनपुर को भेजा। मन्त्री रथ मे आरुढ होकर पोदनपुर पहुँचा। वहाँ ज्ञात हुआ कि पोदनपुर नरेश पुष्पकरण्डक नामक वन में वन-विहार के लिये गये हुए है। वह उस वन मे पहुँचा और राजा के समक्ष जाकर मन्त्री ने उन्हे प्रणाम किया तथा उनके चरणो मे भेट रखकर पत्र समर्पित किया। राजा ने पत्र खोलकर पढा। पत्र मे जो लिखा था, उसका आशय यह था—विद्याधरो का स्वामी, महाराज नमि के वश रूपी आकाश का सूर्य मै ज्वलनजटी रथनूपुर से पोदनपुर नगर के स्वामी, भगवान वृषभदेव के पुत्र बाहुबली के वशावतस महाराज प्रजापति को सिर से नमस्कार करके कुशल प्रश्न के अनन्तर निवेदन करता हूँ कि हमारा और आपका वैवाहिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। मेरी पुत्री स्वयप्रभा जो सौन्दर्य और गुणो मे लक्ष्मी सदृश है, आपके प्रतापी पुत्र त्रिपृष्ठ की अर्धाङ्गिनी बने, मेरी यह हार्दिक इच्छा है।

महाराज प्रजापति पत्र पढ कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होने कहा—भाई ज्वलनजटी को जो इष्ट है, वह मुझे भी इष्ट है। यह कहकर उन्होने बडे आदर के साथ मन्त्री को विदा किया। मन्त्री ने यह हर्ष-समाचार अपने स्वामी को दिया। ज्वलनजटी अपने पुत्र अर्ककीर्ति के साथ स्वयप्रभा को लेकर पोदनपुर आया और बडे वैभव के साथ अपनी पुत्री का विवाह त्रिपृष्ठ के साथ कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने त्रिपृष्ठ के लिए सिहवाहिनी और गरुडवाहिनी नामक दो विद्याए भी प्रदान की।

जब अश्वग्रीव को अपने चरो द्वारा इस विवाह के समाचार ज्ञात हुए तो वह ईर्ष्या और क्रोध मे भड़क उठा। वह अनेक विद्याधर राजाओ, रणकुशल सैनिको और अस्त्र-शस्त्रो से सज्जित होकर रथावर्त नामक पर्वत पर आ पहुँचा। अश्वग्रीव के अभियान की बात सुनकर राजकुमार त्रिपृष्ठ भी सेना को सज्जित कर युद्धक्षेत्र मे आ डटा। दोनो सेनाओ मे घनघोर युद्ध हुआ। अश्वग्रीव से त्रिपृष्ठ जा भिडा। दोनो मे भयानक युद्ध हुआ। अन्त मे त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव को बुरी तरह पराजित कर दिया। किन्तु अश्वग्रीव पराजय स्वीकार करने वाला व्यक्ति नही था। उसने क्रुद्ध होकर त्रिपृष्ठ के ऊपर भयानक चक्र चला दिया। सारी सेना आतक के मारे सिहर उठी। किन्तु वह चक्र त्रिपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर ठहर गया। त्रिपृष्ठ ने चक्र लेकर शत्रु के ऊपर फेका। उसने जाते ही शत्रु की गर्दन धड से अलग कर दी।

त्रिपृष्ठ अर्धचक्री अर्थात् नारायण बनकर भरत क्षेत्र के तीन खण्डो का अधीश्वर बन गया। प्रतिनारायण अश्वग्रीव पर विजय प्राप्त कर नारायण त्रिपृष्ठ अपने भाई विजय के साथ विजयार्ध पर्वत पर गया। वहाँ उसने दक्षिण और उत्तर दोनो श्रेणियो के राजाओ को एकत्रित करके ज्वलनजटी को दोनों श्रेणियों का सम्राट् बना दिया।

विजय और त्रिपृष्ठ दोनो प्रथम बलभद्र और नारायण थे। विजय का शरीर शख के समान श्वेत तथा त्रिपृष्ठ का शरीर इन्द्रनील मणि के समान नील था। वे दोनो सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओ, विद्याधरो एव व्यंतर देवों के अधिपति थे। त्रिपृष्ठ के देवरक्षित धनुष, शख, चक्र, दण्ड, असि, शक्ति और गदा ये सात रत्न थे। उसकी सोलह हजार रानियाँ थी तथा बलभद्र के आठ हजार स्त्रियाँ थी। उनके चार रत्न थे—हल, मूसल, गदा और भाला। त्रिपृष्ठ नारायण चिर काल तक भोग भोगकर अत्यधिक आरम्भ और परिग्रह के कारण मरकर सातवे नरक मे गया। विजय ने भाई के वियोग से दु खित होकर सुवर्णकुम्भ नामक मुनिराज के पास सयम धारण कर लिया। वह घोर तपस्या करके केवली हुआ। अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया।

(त्रिपृष्ठ का यह जीव ही आगे जाकर चौवीसवाँ तीर्थकर महावीर बना।)

त्रयोदश परिच्छेद

भगवान वासुपूज्य

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का देश था। उसके रत्नपुर नगर का स्वामी पद्मोत्तर नाम का राजा था। उस राजा की कीर्ति चारो दिशाओ मे व्याप्त थी। वह अनेक गुणो का पुज और प्रजा-वत्सल था। एक दिन मनोहर पर्वत पर युगन्धर जिनराज पधारे। राजा को उनके आगमन का समाचार मिलते ही वह उनके दर्शनो के लिए पहुँचा। उसने भक्ति-पूर्वक जिनराज की वन्दना और स्तुति की। भगवान का उपदेश सुनकर उसका मन वैराग्य के रग मे रग गया। उसे ससार नि सार अनुभव होने लगा। उसने तभी आकर अपने पुत्र धनमित्र को राज्य सौप दिया और अनेक राजाओ के साथ जिनदेव से मुनि-दीक्षा ले ली। उसने जिनराज के चरणो मे ग्यारह अगो का अध्ययन किया, दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओ का निरन्तर चिन्तन किया। फलत उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध हो गया। अन्त मे सन्यास मरण करके वह महाशुक्र विमान मे इन्द्र बना।

पूर्व भव

चम्पा नगरी अग देश की राजधानी थी। वहाँ के अधिपति महाराज वसुपूज्य थे जो इक्ष्वाकु वशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पत्नी का नाम जयावती था। गर्भकल्याणक से छह माह पूर्व से देवो ने उनके यहाँ रत्नवर्षा करना प्रारम्भ किया। रानी ने आषाढ कृष्णा षष्ठी के दिन चौबीसवे शतमिषा नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे। उन्होने प्रात काल होने पर पति से स्वप्नो की चर्चा की और उनका फल पूछा। पतिदेव ने उनका फल वर्णन किया, सुनकर रानी बडी हर्षित हुई। उसी दिन महाशुक्रेन्द्र का जीव आयु पूरी करके उनके गर्भ मे अवतरित हुआ। देवो ने आकर भगवान का गर्भ कल्याणक महोत्सव किया।

गर्भ कल्याणक

नौवे माह के पूरे होने पर फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन वारुण योग मे सब प्राणियो का हित करने वाले पुत्र का जन्म हुआ। वह पुत्र असाधारण था, उसका जन्म-महोत्सव भी असाधारण ढग से मनाया गया। चारो जाति के देव और इन्द्र चम्पापुरी मे आये। सौधर्मेन्द्र शची द्वारा सौर गृह से लाये हुए बालक को ऐरावत गज पर आरूढ करके सब देवो के साथ सुमेरु पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होने क्षीर-सागर के जल से प्रभु का जन्माभिषेक किया। शची ने प्रभु का शृगार किया। फिर बालक को लेकर चपापुरी लौटे। बालक को माता को सौपा और इन्द्र ने बालक का नाम वासुपूज्य रक्खा। इनका शरीर लाल कमल के समान लाल था। पैर मे भैसे का चिन्ह था।

जन्म कल्याणक

भगवान के पुण्य-प्रभाव से माता-पिता तथा प्रजा के धन-धान्य, सुख-ऐश्वर्य सभी प्रकार की वृद्धि होने लगी। बाल भगवान गुणो की खान थे। जब भगवान यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब उन्होने विवाह के बन्धन मे बधना स्वीकार नही किया और वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। एक दिन वे एकान्त मे बैठे चिन्तन मे लीन थे, तभी अवधिज्ञान से उन्होने अपने पिछले जन्म का ज्ञान किया। उनके गत जन्म में जो नाना घटनाये घटित हुई थी, उन्हे जानकर मन पर ऐसा प्रभाव पडा कि यहाँ सब चचल है, नाशवान है। जो है, सब राग रूप है, दु:ख रूप है। फिर ऐसे ससार से मोह जोडकर लाभ क्या? जिसका विछोह अनिवार्य है, उससे ममत्व का नाता क्यो?

दीक्षा कल्याणक

भगवान इस प्रकार के चिन्तन मे लीन थे, तभी लौकान्तिक देव वहाँ आये और उन्होंने भगवान की स्तुति करके उनके विचारो की प्रशसा की। देवो ने दीक्षा कल्याणक के समय होने वाला अभिषेक किया, विविध वस्त्राभूषण पहनाये। भगवान देवों द्वारा लाई हुई पालकी पर आरूढ होकर मन्दारगिरि के वन में पहुँचे और एक दिन के उपवास का नियम लेकर फागुन कृष्णा चतुर्दशी को सायकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सामायिक चारित्र धारण कर छह सौ छहत्तर राजाओ के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा लेते ही उनकी परिणाम-विशुद्धि के कारण तत्काल मन:-पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे पारणा के लिए जब नगर में पधारे तो सुन्दर नरेश ने उन्हे आहार-दान देकर पुण्य-बन्ध किया और पचाश्चर्य का सम्मान प्राप्त किया।

भगवान तप करने लगे। छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीतने पर वे विहार करते हुए दीक्षा-वन मे पधारे। वहाँ उन्होने कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठकर उपवास का नियम लिया और माघ शुक्ला द्वितीया के दिन सायकाल के समय विशाखा नक्षत्र मे चार घातिया कर्मो का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। इन्द्रो और देवो ने आकर उनकी पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमे श्रीमण्डप के बीच गन्धकुटी मे अशोक वृक्ष के नीचे कमलासन पर विराजमान होकर भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होने मन्दारगिरि पर धर्म-चक्र-प्रवर्तन करके धर्म की विच्छिन्न कडी को पुन जोड़ा।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान का सघ—उनके धर्म आदि छियासठ गणधर थे। उनके सघ मे १२०० पूर्वधर, ३९२०० शिक्षक, ५४०० अवधि ज्ञानी, ६००० केवल ज्ञानी, १०००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ६००० मन पर्ययज्ञानी और ४२०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियो की संख्या ७२००० थी। इनके अतिरिक्त सेना आदि १०६००० आर्यिकायें थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने समस्त आर्य क्षेत्रो मे विहार करके धर्म-वर्षा की और विहार करते हुए चम्पापुरी में एक हजार वर्ष तक रहे। जब आयु मे एक मास शेष रह गया, तब योग निरोध कर रजनमालिका नदी के तट पर स्थित मन्दारगिरि के मनोहरोद्यान मे पल्यकासन मे स्थित हुए तथा भाद्रपद[1] शुक्ला चतुर्दशी के दिन साय काल के समय विशाखा नक्षत्र मे चौरानबे मुनियो के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए। देवो ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—उनके सेवक यक्ष का नाम कुमार और यक्षिणी का नाम गान्धारी है।

भगवान वासुपूज्य के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पाचो कल्याणक चम्पानगरी मे हुए थे। चम्पा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी नगरी नही है, जिसको किसी तीर्थंकर के पाचो कल्याणक मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इस दृष्टि से चम्पा की विशेष स्थिति है। निर्वाण काण्ड, निर्वाण भक्ति, तिलोयपण्णत्ति तथा सभी पुराण ग्रन्थो मे चम्पा को वासुपूज्य भगवान की निर्वाण-भूमि माना है। केवल उत्तर पुराणकार ने पर्व ५८ श्लोक ५१-५३ मे मन्दार पर्वत को वासुपूज्य भगवान की निर्वाण-स्थली लिखा है। किन्तु इससे चम्पा को उनकी निर्वाण-भूमि मानने मे कोई असगति अथवा विरोध नही आता। चम्पापुरी उन दिनो काफी विस्तृत थी। पुराणो मे उल्लेख है कि चम्पा का विस्तार अडतालीस कोस मे था। मन्दारगिरि तत्कालीन चम्पा का बाह्य उद्यान था और वह चम्पा मे ही सम्मिलित था।

चम्पापुरी

वर्तमान मे मान्यता है कि चम्पा नाले मे वासुपूज्य स्वामी के गर्भ और जन्म कल्याणक हुए थे, मन्दारगिरि पर दीक्षा और केवल ज्ञान कल्याणक हुए तथा चम्पापुर से भगवान का निर्वाण हुआ।

---

१ यह उत्तर पुराण के अनुसार है।
तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भगवान वासुपूज्य का निर्वाण फाल्गुन कृष्णा पचमी, अपराह्न काल, अश्विनी नक्षत्र मे ६०१ मुनियो के साथ चम्पापुर मे हुआ।

यह नगरी अग देश की राजधानी थी। ऋषभदेव भगवान ने जिन ५२ जनपदो की रचना की थी, उनमें अंग भी था। महावीर-काल में जिन छह महानगरियों की चर्चा आती है, उनमे चम्पा भी एक नगरी थी। हजारों वर्षों तक इक्ष्वाकु वशी ही इसके शासक होते रहे।

यहाँ अनेको धार्मिक घटनाये हुई थी। यहाँ अनेक मुनि मोक्ष पधारे। यहाँ अनेक महापुरुष हुए।

—मिथिला नरेश पद्मरथ सुधर्म गणधर के दर्शनो को गये। उनका उपदेश सुनकर श्रावक के बारह व्रत धारण किये। उन्होने गणधर भगवान से पूछा—'क्या ससार मे कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो आपके समान उपदेश दे सके।' गणधर बोले—हा, है। वे है भगवान वासुपूज्य जो ससार के गुरु है, त्रिलोक पूज्य है। वे इस समय चम्पा के उद्यान में विराजमान है।' राजा ने सुना तो वे तत्काल तीर्थकर प्रभु के दर्शन करने चल दिये। मार्ग मे गुप्तचर ने समाचार दिया कि अजातशत्रु की सेना आक्रमण के लिए आ रही है। पद्मरथ ने सेनापति को आज्ञा दी—सेना सज्जित करो, किन्तु शत्रु पक्ष का रक्त बहाये बिना विजय प्राप्त करनी है। युद्ध हुआ, शत्रु पक्ष का एक भी सैनिक हताहत नही हुआ और विजय पद्मरथ की हुई। उन्होने ऐसे शस्त्रों का प्रयोग किया, जिससे शत्रु बेहोश हो जाय, किन्तु मरे नही।

पद्मरथ फिर चलने को तैयार हुए, किन्तु तभी मिथिला नगरी मे भयानक आग लग गई। इस आग में राजमहल भी जल गया, किन्तु राजा के मन में विकलता नाममात्र को भी न थी। मत्रियो ने अपशकुन बताकर उन्हे रोकना चाहा, किन्तु दृढनिश्चयी पद्मरथ ने कहा—बाधाओ को जीतना ही वीरो का काम है। और वह वीर तीर्थकर प्रभु के दर्शनो को चल पडा। राह मे देखा—कुछ कुष्ठ रोगी पीड़ा से कराह रहे है। राजा के मन मे करुणा जागी और वे उनकी सेवा में जुट गये, उनके घाव साफ किये, मरहम पट्टी की। एक कोढी ने उनके ऊपर वमन कर दिया, किन्तु उन्हे तनिक भी क्षोभ या ग्लानि नही आई, वल्कि वे अपनी सुधि भूलकर उस असहाय की सेवा करने लगे।

आगे बढे तो एक स्थान पर बलि देते हुए किसी को देखा। उसे प्रेम से समझाया। तभी विश्वानल और धन्वन्तरि देव आये और राजा की प्रशसा करते हुए बोले—'राजन्! तुम धन्य हो। हमने ही तुम्हारी परीक्षा के लिए ये सब नाटक किये थे। किन्तु आप सम्यक्त्व में खरे उतरे।' फिर वे दोनो देव राजा को एक अद्भुत भेरी और व्याधिहर हार देकर चले गये।

राजा भेरी बजाते हुए चम्पा के उद्यान मे पहुँचे और वहाँ वासुपूज्य स्वामी की वन्दना करके उनकी स्तुति की। भगवान का उपदेश हुआ। उपदेश सुनकर पद्मरथ को वैराग्य हो गया। उन्होने वही भगवान के चरणो मे दीक्षा ले ली। उन्होने ऐसी साधना की कि उन्हे मन पर्ययज्ञान हो गया। वे भगवान के गणधर बन गये और भगवान के ही साथ निर्वाण प्राप्त किया।

—चम्पा नरेश मघवा की पुत्री रोहिणी अत्यन्त सुन्दरी थी। सौन्दर्य मे वह मानो रति ही थी। उसका स्वयवर हुआ। उसने हस्तिनापुर नरेश बीतशोक के सुदर्शन पुत्र अशोक के गले मे वरमाला डाल दी। दोनो आनन्द-पूर्वक रहने लगे। पिता के बाद अशोक राजा बना। एक बार दोनो भगवान वासुपूज्य के दर्शनो के लिए चम्पापुरी गये। भगवान का उपदेश सुनकर दोनो ने दीक्षा ले ली। मुनि अशोक भगवान के गणधर बने और अन्त मे मोक्ष पधारे। रोहिणी अच्युत स्वर्ग मे देव हुई।

—सेठ सुदर्शन यही उत्पन्न हुए थे और उन्हे पाटलिपुत्र में निर्वाण प्राप्त हुआ।

—चम्पानगर मे धर्मघोष नामक एक श्रेष्ठी थे, वे मुनि हो गये। वे मासोपवासी थे। वे पारणा के निमित्त नगर को आ रहे थे, किन्तु मार्ग में घास होने के कारण गंगा-तट पर एक वट वृक्ष के नीचे बैठ गये। वे ध्यान में मग्न हो गये। तभी उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और वे वही से मुक्त हुए।

—राजा कर्ण यही के राजा थे, जिनकी दानवीरता की अनेक कथाये प्रचलित हैं।

सोमा सती, सती अनन्तमती, कोटिभट श्रीपाल आदि पुराणप्रसिद्ध महापुरुषो का जन्म इसी नगरी में हुआ था।

यहाँ भगवान महावीर, सुधर्म और केवली जम्बूस्वामी भी पधारे थे। जब केवली सुधर्मा स्वामी यहाँ पधारे थे, तब यहाँ का शासक अजातशत्रु, जो श्रेणिक बिम्बसार का पुत्र था, नगे पाव उनके दर्शनो के लिये गया था। अजातशत्रु ने राजगृही से हटाकर चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था।

—यहाँ युधिष्ठिर स० २५५६ (ई० पू० ५४१) मे जयपुर के सरदार सघवी श्रीदत्त और उसकी पत्नी सघविन सुरजयी ने वासुपूज्य भगवान का एक मदिर[1] बनवाया था। यह अनुश्रुति है कि नाथनगर में जो दिगम्बर जैन मन्दिर है वह वही पूर्वोक्त मन्दिर है।

यहाँ एक मन्दिर सेठ घनश्यामदास सरावगी द्वारा सवत् २००० मे बनवाया गया। इसमे विराजमान प्रतिमाओ पर लेख नही हैं। लाछन है। जनश्रुति है कि ये प्रतिमाये ई० पू० ५४१ मे निर्मित मन्दिर की है। किन्तु यह भी धारणा है कि पहले ये प्रतिमाये चम्पा नाले के मन्दिर मे विराजमान थी। भूकम्प आने से मन्दिर धराशायी हो गया, किन्तु प्रतिमाये सुरक्षित रही। वे प्रतिमाये यहाँ लाकर विराजमान कर दी गई। इनमे चार प्रतिमाये ऋषभदेव भगवान की है जिनके सिर पर विभिन्न शैली की जटाये या जटाजूट हे और एक प्रतिमा महावीर भगवान की है। ये प्रतिमाये अत्यन्त प्राचीन है। सभव है, कुषाण काल की हो। किन्तु इसमे सदेह नही है कि ये प्रतिमाये जिस मन्दिर की थी, वह मन्दिर चम्पापुरी का सबसे प्राचीन और मूल मन्दिर था।

नाथनगर के वर्तमान मन्दिर मे पूर्व और दक्षिण की ओर दो मानस्तम्भ बने हुए है। इनमे ऊपर जाने के लिये सीढियाँ भी थी, किन्तु अब बन्द कर दी गई है। पहले यहाँ चारो दिशाओ मे मानस्तम्भ बने हुए थे किन्तु दो शताब्दी पूर्व भूकम्प मे दो मानस्तम्भ गिर गये। अवशिष्ट दोनो मानस्तम्भो का भी जीर्णोद्धार किया गया है। पूर्व वाले मानस्तम्भ के नीचे से एक सुरग जाती थी जो १८० मील लम्बी थी और वह सम्मेदशिखर की चन्द्रप्रभ टोक पर निकलती थी। किन्तु भूकम्प मे जमीन धसक जाने मे वह स्वत बन्द हो गई।

सरकारी कागजातो के अनुसार यह मन्दिर ६०० वर्ष प्राचीन है। नाथनगर मे चम्पानाला लगभग एक मील है। इस नाले के किनारे एक दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमे वासुपूज्य स्वामी की एक अन्य प्रतिमा और चरणयुगल अकित है। यही स्थान प्राचीन चम्पा कहलाता है।

मन्दारगिरि—मन्दारगिरि भागलपुर से ३१ मील है। रेल और बस द्वारा जा सकते है। दि० जैन धर्मशाला बोसी स्टेशन के सामने बनी हुई है। यहाँ से क्षेत्र दो मील दूर पडता है।

मन्दारगिरि पर चम्पापुर का मनोहर उद्यान था। यह चम्पापुर के बाह्य अचल मे था। इसी वन मे भगवान वासुपुज्य ने दीक्षा ली तथा यही पर उन्हे केवलज्ञान हुआ। इस प्रकार यहाँ भगवान के दो कल्याणक हुए थे।

धर्मशाला से एक फर्लांग चलने पर वी० स० २४६१ मे निर्मित सेठ तलकचन्द्र कस्तूरचन्द जी बारामती वालो का मन्दिर है। वहाँ से लगभग डेढ मील चलने पर तालाब मिलता है, जिसे पापहारिणी कहते है। मकर सक्रान्ति मे यहाँ वैष्णव लोगो का मेला भरता है। सब लोग स्नान करके पहाड पर वासुपूज्य स्वामी के दर्शन करने जाते है।

तालाब से आगे चलने पर कई कुण्ड मिलते है। पहाड की चढाई एक मील से कुछ अधिक है। पहाडी के ऊपर बडा दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर की दीवाले साढे तीन हाथ चौडी है। वेदी पर भगवान के चरण-चिन्ह बने हुए है। मन्दिर के ऊपर डबल शिखर है। बडे मन्दिर के निकट छोटा शिखरबन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमे तीन प्राचीन चरण-युगल बने हुए है। इस मन्दिर से आगे एक शिला के नीचे चरण बने हुए है।

हिन्दू जनता मे यह विश्वास प्रचलित है कि इसी मन्दराचल के चारो ओर वासुकि नाग को लपेट कर उससे समुद्र मन्थन किया गया था। पहाड के चारो ओर वासुकि नाग की रगड के चिन्ह भी बडे कौशल से बना दिये गये है।

१—Inscription in Francklin's site of ancient Palibothra, pp. 16-17

किन्तु हिन्दू पुराणों—जैसे वाराह पुराण अ० १४३, वामन पुराण अ० ४४, महाभारत अनुशासन पर्व १६ और बन पर्व अ० १६२-१६४ के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह मन्दराचल हिमालय में वदरिकाश्रम (वद्रीनाथ) के उत्तर मे था। किन्तु पता नही, हिन्दू जनता में भागलपुर जिले के इस मन्दारगिरि को मन्दराचल मानने की गलत धारणा कबसे चल पडी।

द्विपृष्ठ नारायण, तारक प्रतिनारायण

भरत क्षेत्र मे कनकपुर का नरेश सुषेण था। उसके राजदरबार मे गुणमजरी नामक एक नर्तकी थी जो अत्यन्त रूपवती और नृत्यकला मे पारगत थी। उसकी ख्याति दूर-दूर तक थी। कई राजा भी उसे चाहते थे। मलय देश के विन्ध्य नगर के राजा विन्ध्यशक्ति ने तो उसे प्राप्त करने के लिए रत्न आदि उपहार देकर एक दूत को राजा के पास भेजा। दूत ने जाकर राजा से अपने आने का प्रयोजन प्रगट किया—'महाराज। आपके यहाँ जो नर्तकीरत्न है, उमे महाराज विन्ध्यशक्ति देखना चाहते है। उसे मेरे साथ भेज दीजिये। उसे मै वापस लाकर आपको सौप दूंगा।' सुषेण दूत के ये वचन सुनकर बडा क्रुद्ध हुआ और दूत का अपमान कर उसे निकाल दिया। दूत ने सारा समाचार अपने स्वामी से कह दिया। विन्ध्यशक्ति सुनकर क्रोधित हो गया और मन्त्रियो से परामर्श करके सेना लेकर युद्ध के लिये चल दिया। दोनो राजाओ मे घोर युद्ध हुआ। उसमे सुषेण पराजित हुआ। विन्ध्यशक्ति ने बलात् नर्तकी को छीन लिया। सुषेण अपनी पराजय से बडा खिन्न हुआ। उसने सुव्रत जिनेन्द्र के पास जाकर मुनि-दीक्षा लेली। उसने घोर तप किया और शत्रु से बदला लेने का निदान बन्ध करके सन्यासमरण द्वारा प्राणत स्वर्ग मे देव हुआ।

पूर्वजन्म में निदान

महापुर नगर के नरेश वायुरथ ने चिरकाल तक राजलक्ष्मी का भोग किया, फिर उसने सुव्रत जिनेन्द्र के पास मुनि-दीक्षा लेली। अन्त मे समाधिमरण कर वह उसी प्राणत स्वर्ग मे इन्द्र बना।

द्वारावती नगरी के राजा ब्रह्म की रानी सुभद्रा के गर्भ मे प्राणत स्वर्ग का इन्द्र आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम अचलस्तोक रक्खा गया। उसका वर्ण कुन्द पुष्प के समान कान्ति वाला था। राजा ब्रह्म की दूसरी रानी उषा के गर्भ मे प्राणत स्वर्ग का वह देव आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम द्विपृष्ठ रक्खा गया। उसके शरीर का वर्ण इन्द्रनील मणि के समान कान्ति वाला था। दोनो भाइयो मे अगाध प्रेम था। दोनो राजकुमार आनन्दपूर्वक क्रीडा करते थे।

नारायण और प्रतिनारायण

राजा विन्ध्यशक्ति ससार मे विभिन्न योनियो में परिभ्रमण करता हुआ भोगवर्धन नगर के राजा श्रीधर की महारानी से तारक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह यौवनसम्पन्न हुआ तो उसके शस्त्रागार मे देवो द्वारा रक्षित सुदर्शन चक्र उत्पन्न हुआ। चक्र पाकर तारक को बडा हर्ष हुआ। उसने चतुरगिणी सेना सजाई और दिग्विजय के लिए निकला। अपनी शक्ति और चक्र के बल से उसने कुछ ही समय मे आधे भरत खण्ड को जीत लिया। अपने साम्राज्य मे उसके नाम से ही लोग आतंकित हो जाते थे। प्रकृति से वह उग्र था। वह कृष्ण वर्ण का था।

उधर अचल और द्विपृष्ठ दोनो भाइयो का प्रभाव निरन्तर बढता जा रहा था। तारक को उनका यह प्रभाव सहन नही हुआ। उसने दोनो भाइयो का निग्रह करने के लिए उपाय सोचा और एक दूत को उनके पास भेजा। दूत अधिकार भरे स्वर में दोनो भाइयो से बोला—सम्पूर्ण शत्रुओ का मान भग करने वाले चक्रवर्ती तारक महाराज ने आदेश दिया है कि तुम्हारे पास जो भीमकाय गन्धहस्ती है, उसे फौरन मेरी सेना मे भेज दो, अन्यथा तुम्हारा सिर काट लिया जाएगा और हाथी को मगा लिया जायगा।

दूत के ऐसे उद्धत और गर्वयुक्त वचन सुनकर धीर गम्भीर अचल बलभद्र बोले—'हाथी क्या, हम तुम्हारे तारक महाराज को बहुत सी भेंट देना चाहते हैं। वे अपनी सेना सहित आवें। वे चाहेंगे और वे जीवन से ऊब गये हों तो उनको जीवन के झंझटों से सदा के लिये छुटकारा दे देंगे।' दूत ने जाकर यह बात नमक मिर्च लगाकर महाराज तारक से कह दी। दूत द्वारा उन राजकुमारों के अपमानजनक उत्तर को सुनकर तारक अभिमानवश मन्त्रियों से परामर्श किए बिना क्रोध में फुँकारता हुआ अपनी सेना लेकर उन राजकुमारों को दण्ड देने के लिये चल दिया और जाकर द्वारावती नगरी को घेर लिया। किन्तु अतिशय बलशाली अचल बलभद्र ने अपने पौरुष से शत्रु-सेना को रोक दिया और नारायण द्विपृष्ठ ने भयंकर वेग से शत्रु पर आक्रमण किया। तारक और द्विपृष्ठ का भयानक युद्ध हुआ। किन्तु अभिमानी तारक इस युवक को पराजित नहीं कर सका। तब अत्यन्त क्रोधित होकर तारक ने मृत्यु से भी भयंकर चक्र को द्विपृष्ठ के ऊपर फेंका। किन्तु सारी सेना यह देखकर विस्मयविमुग्ध रह गई कि वह चक्र नारायण द्विपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी भुजा पर स्थिर हो गया। द्विपृष्ठ ने उसी चक्र को तारक के ऊपर चला दिया। तारक का सिर गर्दन से कटकर अलग हो गया। उसी समय द्विपृष्ठ सात उत्तम रत्नों और तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी हो गया। वह नारायण मान लिया और अचल को सबने बलभद्र स्वीकार किया। अचल चार रत्नों का स्वामी हुआ। दोनों भाइयों ने दिग्विजय करके सब राजाओं को अपने आधीन किया। फिर वे वासुपूज्य स्वामी की वन्दना को गये। तब उन्होंने अपने नगर में जनता के हर्षोल्लास के बीच प्रवेश किया।

चिरकाल तक दोनों भाइयों ने राज्य का सुख भोगा। द्विपृष्ठ के मरने पर बड़े भाई अचल को भारी शोक हुआ। वह वासुपूज्य स्वामी के चरणों में पहुँचा और उसने मुनि-व्रत धारण कर लिया। घोर तप कर मुनि अचल को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। आयु के अन्त में अघातिया कर्मों का क्षय करके उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

———

चतुर्दश परिच्छेद

भगवान विमलनाथ

धातकीखण्ड द्वीप मे मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती नामक एक देश था। उसके महानगर मे पद्मसेन नामक राजा राज्य करता था। नीति शास्त्र मे स्वदेश और परदेश ये विभाग किये गये है। उनके अर्थ का निश्चय करने मे वह अनुपम था। प्रजा न्याय का कभी उलंघन नही करती थी और राजा प्रजा का उलघन नही करता था। धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग राजा का उलघन नही करते थे और त्रिवर्ग परस्पर एक दूसरे को उलघन नही करते थे।

पूर्व भव

एक दिन राजा पद्मसेन वन मे गया। वहाँ सर्वगुप्त केवली विराजमान थे। राजा ने उनके दर्शन किये और उनका कल्याणकारी उपदेश सुना। इससे उसके मन मे ससार से विराग हो गया। उसने अपने पुत्र पद्मनाभ को राज्य सौप दिया और मुनि-दीक्षा लेकर तप करने लगा। उसने ग्यारह अगो का अध्ययन करके उन पर दृढ प्रत्यय किया। एव सोलह कारण भावनाओ का निरतर चिन्तन करने मे उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त समय मे चार आराधनाओ का आराधन करके सहस्रार स्वर्ग मे इन्द्र पद प्राप्त किया।

भरत क्षेत्र मे काम्पिल्य नगर के स्वामी कृतवर्मा राज्य करते थे जो ऋषभदेव भगवान के वशज थे, इक्ष्वाकु वशी थे। जयश्यामा उनकी पटरानी थी। सहस्रार स्वर्ग का वह इन्द्र जब आयु पूर्ण करके महारानी के गर्भ मे आने वाला था, उससे छह माह पूर्व से भगवान के स्वागत मे इन्द्र की आज्ञा मे कुबेर ने काम्पिल्य नगर और राजप्रासाद मे रत्न-वर्षा प्रारम्भ कर दी। महारानी एक रात को सुख-निद्रा का अनुभव कर रही थी, तभी उन्होने रात्रि के अतिम प्रहर मे सोलह स्वप्न देखे और बाद मे मुखकमल मे प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। यह ज्येष्ठ कृष्णा दशमी का दिन था और उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र था, जब सहस्रार स्वर्ग के उस इन्द्र के जीव ने माता के गर्भ मे प्रवेश किया।

गर्भ कल्याणक

प्रातःकाल उठकर महारानी पतिदेव के पास पहुँची और उनसे रात्रि मे देखे हुए स्वप्नो की चर्चा करके उनका फल जानना चाहा। महाराज ने विचार कर कहा-देवी! तुम्हारे गर्भ मे त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर प्रभु अवतरित हुए है। रानी स्वप्नो के फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक की पूजा की तथा वे माता-पिता और भगवान को नमस्कार करके वापिस चले गये।

एक दिन कम्पिला के उद्यान मे एक दम्पति ठहरे। लम्बा मार्ग तय करके आये थे। पति-पत्नी दोनो थके हुए थे। लेटते ही गहरी नीद आ गई। प्रातःकाल होने पर पति की नीद खुली। उसने आँखे खोलकर देखा तो उसके आश्चर्य की सीमा नही रही, उसके निकट दो स्त्रियाँ थी। दोनो का रूप-रग, वस्त्र आभूषण सभी कुछ एक से थे। पति अपनी वास्तविक पत्नी को पहचानना चाहता था, किन्तु पहचानने का कोई उपाय नही था। वह एकपत्नी व्रती था। पर-स्त्री के ससर्ग मे अपनी रक्षा चाहता था। किन्तु एक ही रग रूप की दो स्त्रियो मे से अपनी पत्नी को वह पहचाने कैसे ? आखिर उसने राजा से न्याय कराने का निश्चय किया।

महारानी जयश्यामा का न्याय

पथिक दोनो स्त्रियो को लेकर राजदरबार मे पहुँचा। महाराज कृतवर्मा सिहासन पर विराजमान थे। उनके वाम पार्श्व में उनकी प्राणवल्लभा जयश्यामा बैठी हुई थी। महारानी के मुख पर अलौकिक कान्ति थी। दरबार

लगा हुआ था। पथिक ने महाराज को सविनय प्रणिपात करते हुए निवेदन किया—'महाराज! आप न्यायावतार है। लोक में आपके निष्पक्ष न्याय की ख्याति फैल रही है। मुझे भी न्याय प्रदान करे।' महाराज ने पूछा-आयुष्मन्! तुम्हे क्या कष्ट है? पथिक हाथ जोडकर बोला-प्रभु! मै परदेशी हूँ। मै कल रात को कम्पिला के बाह्य उद्यान के मठ मे ठहरा था। साथ मे मेरी पत्नी थी। किन्तु प्रात काल उठने पर पत्नी जैसी ही रंग रूप वाली एक और स्त्री को देख कर मै निश्चय नही कर पा रहा हूँ कि मेरी वास्तविक पत्नी कौन सी है। राजन्! मेरा न्याय कीजिये और मेरी पत्नी मुझे दिला दीजिये। पर-स्त्री मेरे लिये भगिनी और सुता के समान है।

राजा ने दोनो स्त्रियो को देखा। दोनो मे तिल मात्र भी अन्तर नही था। दरबारियो ने भी देखा। सभी हैरान थे। राजा भी कोई निर्णय नही कर पा रहे थे। महारानी जयश्यामा ने महाराज की मन स्थिति को भाप लिया। वे बोली-'आर्यपुत्र! यदि आप अनुमति दे तो मै इन दोनो स्त्रियो का न्याय कर दूँ।' महाराज सहर्ष बोले—'देवी! न्याय करके अवश्य मेरी सहायता करिये।' रानी ने क्षणभर मे परिस्थिति भाँप ली। वे समझ गई कि इनमे एक देवी है अथवा विद्याधरी है, जो बहुरूपिणी विद्या जानती है। उसने अपने विद्या-बल से यह समान रूप बना लिया है। यह निश्चय होते ही वे बोली-अपने स्थान पर ही खडी रह कर तुम दोनो मे से जो सिहासन को छूलेगी, वही इस युवक की पत्नी मान ली जायगी।

असली पत्नी इस फैसले से भयभीत हो गयी। निराशा के कारण उसके नेत्रो मे आसू छलछला आये। किन्तु मायाविनी! उसने बिना विलम्ब किये अपना हाथ बढाया और राजसिहासन का स्पर्श कर लिया। महारानी ने निर्णय दिया—युवक! तुम्हारी पत्नी तुम्हारे निकट खडी है। सिहासन का स्पर्श करनेवाली मायाविनी है'। मायाविनी सुनकर बडी लज्जित हुई। उपस्थित जनो ने महारानी के इस नीर-क्षीर-न्याय की तुमुल हर्ष के साथ सराहना की।

जन्म-कल्याणक—जबसे भगवान गर्भ मे आये थे, परिवार और जनता मे हर्ष की वृद्धि हो रही थी। नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला चतुर्दशी के दिन अहिर्बुध्न योग मे रानी जयश्यामा ने तीन ज्ञान के धारी, तीन लोक के स्वामी भगवान को जन्म दिया। देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान को सुमेरु पर्वत पर लेजाकर उनका जन्माभिषेक किया। इन्द्र ने उनका नाम विमलनाथ रक्खा। उनके शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके पैर मे सूअर का चिह्न था।

भगवान का कुमार काल व्यतीत होने पर उनका विवाह हुआ और राज्याभिषेक हुआ। उनके सुशासन से जनता की सुख-समृद्धि मे निरन्तर अभिवृद्धि होती रही। एक दिन भगवान विमलनाथ हेमन्त ऋतु मे प्रकृति की शोभा का आनन्द ले रहे थे। चारो ओर बर्फ पड रही थी। किन्तु तभी देखा कि सूर्य के ताप से बर्फ पिघलने लगी। बात साधारण थी। किन्तु प्रभु के मन मे इस घटना की प्रतिक्रिया दूसरे ही रूप मे हुई। वे विचार करने लगे-बर्फ जमी हुई थी, अब वह पिघल रही है। यह क्षणभगुर है। सभी कुछ क्षणभगुर है। इन्द्रिय-भोग भी क्षणभगुर है और मै मोहवश अब तक इनमे उलझा हुआ हूँ। मुझे तो स्थाई सुख पाना है। इन्द्रिय-सुख का त्याग करके ही वह मिल सकेगा।

दीक्षा-कल्याणक

भगवान इस प्रकार विचार कर ही रहे थे, तभी लोकान्तिक देवो ने आकर उनका स्तवन किया और उनके विचारो की सराहना की। देवो ने आकर भगवान के दीक्षा कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव किया। फिर देवो द्वारा घिरे हुए भगवान देवदत्ता नाम की पालकी मे आरूढ होकर सहेतुक वन मे गये और वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन सायकाल के समय छब्बीसवे उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र मे एक हजार राजाओ के साथ दीक्षा लेली। भगवान को उसी समय मन पर्ययज्ञान उत्पन्न होगया।

भगवान आहार के निमित्त नन्दनपुर नगर मे पहुँचे। वहाँ राजा कनकप्रभ ने उन्हे आहार-दान देकर पचाश्चर्य प्राप्त किये। भगवान आहार के पश्चात् विहार कर गये। वे घोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार तपस्या करते हुए जब तीन वर्ष बीत गये, तब वे अपने दीक्षा-वन मे दो दिन के उपवास का नियम लेकर एक जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हो गये। तभी उन्हे माघ शुक्ला षष्ठी के दिन सायकाल के समय अपने दीक्षा-ग्रहण के नक्षत्र मे चार घातिया कर्मो का नाश करके केवलज्ञान

केवलज्ञान कल्याणक

प्राप्त हो गया। तभी इन्द्र और देव आये। देवों ने अष्ट प्रातिहार्यो का वैभव प्रगट किया। समवसरण की रचना की। भगवान गन्धकुटी मे कमलासन पर विराजमान हुए। उसी समय उनकी दिव्य ध्वनि खिरी। यही उनका धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहलाया।

भगवान का परिकर—भगवान के मन्दर आदि पचपन गणधर थे। ११०० पूर्वधारी, ३६५३० शिक्षक, ४८०० अवधिज्ञानी, ५५०० केवलज्ञानी, ९००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५५०० मन पर्ययज्ञानी, ३६०० वादी थे। इस प्रकार उनके सघ मे कुल मुनि ६८००० थे। पद्मा आदि १०३००० अर्जिकाये थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकाये थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने आर्यक्षेत्रो मे विहार करके धर्म का उपदेश दिया। जब एक माह की आयु अवशिष्ट थी, तब वे सम्मेदशिखर पहुंचे और एक माह का योग-निरोध किया। आठ हजार छह सौ मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण किया। उन्होंने आषाढ कृष्णा अष्टमी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र मे प्रात काल के समय मोक्ष प्राप्त किया। तभी सौधर्म आदि इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान का अन्त्येष्टि सस्कार किया और भगवान की स्तुति की।

उसी समय से भगवान की यह निर्वाण-तिथि-आषाढ कृष्णा अष्टमी लोक मे कालाष्टमी के नाम से पूज्य हो गई।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान का सन्मुख यक्ष और वैरोटनी यक्षिणी है।

कम्पिला—भगवान विमलनाथ की जन्म-नगरी कम्पिला उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले मे कायमगज तहसील मे एक छोटा-सा गाव है। यह उत्तर रेलवे की अछनेरा-कानपुर शाखा के कायमगज स्टेशन से पाच मील दूर है। सडक पक्की है। स्टेशन पर तागे और बस्ती मे बस मिलती है।

इस नगरी मे भगवान विमलनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे। जब सौधर्मेन्द्र ने सुमेरु पर्वत पर भगवान के चरण-नख मे शूकर-चिह्न को देखा तो उनका चिह्न शूकर घोषित कर दिया। रूढिप्रिय लोगों ने इस चिह्न के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र घोषित[1] कर दिया। भगवान की प्रथम कल्याणी वाणी इसी स्थान पर प्रगट हुई थी।

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर तथा अन्य तीर्थंकरो का समवसरण यहा आया था।

कम्पिला भारत की प्राचीन सास्कृतिक नगरी थी। भगवान ऋषभदेव ने जिन ५२ जनपदो की रचना की थी, उनमे एक पाचाल नाम का जनपद भी था, उसी पाचाल जनपद के दो भाग हो गये थे—अहिच्छत्र और कम्पिला। अहिच्छत्र उत्तर पाचाल की राजधानी थी और कम्पिला दक्षिण पाचाल की। महाभारत काल मे उत्तर पाचाल के शासक द्रोण थे और दक्षिण पाचाल के शासक द्रुपद थे। यहीं पर पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने लक्ष्य-वेध कर द्रुपद सुता द्रौपदी के साथ विवाह किया था।

इस कम्पिला या काम्पिल्य के निकट पिप्पलगाव मे रत्नप्रभ राजा ने एक विशाल सरोवर और जिनमन्दिर का निर्माण कराया था। आज कल वह पिप्पलगाव कम्पिला से १६-१७ मील दूरी पर अलीगज तहसील मे है।

श्रीमद्भागवत मे विष्णु भगवान के २२ अवतारो का वर्णन मिलता है। उसमे द्वितीय अवतार का नाम बराहावतार अथवा शूकरावतार बताया गया है। हिन्दू जनता उस क्षेत्र का, जहाँ यज्ञ पुरुष अर्थात् विष्णु भगवान ने अवतार लिया था, शूकर क्षेत्र मानती है। शूकर क्षेत्र की पहचान आजकल सोरो से की जाती है। यह स्थान कासगज (जिला एटा) मे ९ मील है। विविध तीर्थकल्प के अनुसार जनता ने विमलनाथ के शूकर चिन्ह के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र मान लिया था। किन्तु आजकल सोरो को शूकर क्षेत्र माना जाता है। ऐसा लगता है, विमलनाथ के शूकर चिन्ह और विष्णु के शूकरावतार मे एकरूपता है। हिन्दू पुराणो मे तथा श्रीमद्भागवत (तृतीय स्कन्ध अध्याय चौदह) मे शूकरावतार की कथा मे बताया गया है कि जब पृथ्वी रसातल को चली गई, तब विष्णु भगवान ने उसके उद्धार के लिए शूकरावतार लिया।

---

१ विविध तीर्थकल्प

जैन पुराण ग्रन्थो मे विमलनाथ भगवान का चरित्र वर्णन करते हुए बताया है कि उस समय पाप की वृद्धि हो गई थी। भगवान विमलनाथ ने पापी पुरुषो का उद्धार किया।

उक्त दोनो कथाओ मे गहराई से झाक कर देखे तो कोई अन्तर प्रतीत नही होगा। हिन्दू पुराणो में आलकारिक शैली द्वारा कथन किया गया है। यदि अलङ्कार योजना को निकाल दिया जाय तो हिन्दू और जैन पुराणो के कथनो मे एकरूपता ही मिलेगी और तब हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचने मे कोई बाधा प्रतीत नही होगी कि कम्पिला ही वास्तव मे शूकर क्षेत्र है, भगवान विमलनाथ ही वस्तुत: बराहावतार है और उन्होंने ही पाप-पक मे डूबती हुई पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी पर रहने वालो का उद्धार किया।

धर्म बलभद्र, स्वयभू नारायण और मधु प्रतिनारायण

भरत क्षेत्र के पश्चिम विदेह मे मित्रनन्दी नामक एक राजा राज्य करता था। वह राजा बडा प्रतापी था। उसने अपने बाहुबल द्वारा अनेक देश जीत लिए थे। उसमे प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट थी। एक दिन सुव्रत नामक मुनिराज का उपदेश सुनकर राजा को वैराग्य हो गया। उसने मुनि-व्रत धारण कर लिए। उसने घोर तपस्या की। अन्त मे समाधिमरण धारण कर लिया। मरकर वह अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र हुआ।

द्वारावती नगरी के राजा भद्र की रानी का नाम सुभद्रा था। वह अहमिन्द्र आयु पूर्ण करके सुभद्रा के गर्भ मे अवतरित हुआ। उत्पन्न होने पर उसका नाम धर्म रक्खा गया।

कुणाल देश मे श्रावस्ती नगर था। वहाँ के राजा का नाम सुकेतु था। कुसगति के कारण वह कुव्यसनो मे लिप्त रहने लगा। वह अत्यन्त कामी था। दिन रात वह जुआ खेलता रहता था। जुआ के कारण वह अपनी स्त्री और राज्य तक हार गया। जब उसका सब कुछ चला गया तो वह मन मे अत्यन्त खिन्न होकर सुदर्शनाचार्य के पास पहुँचा। वहा उनका उपदेश सुनकर वह मुनि बन गया। किन्तु उसका मन निर्मल नही हो सका। वह शोक के कारण आहार का त्याग करके तप करने लगा। उसने बहुत समय तक तप किया। मृत्यु के समय उसने निदान किया कि इस तप के द्वारा मुझे कला, गुण, चतुराई और बल प्राप्त हो। मरकर वह लान्तव स्वर्ग मे देव हुआ। वहाँ से आयु पूरी होने पर द्वारावती के राजा भद्र की द्वितीय पत्नी पृथ्वा रानी के स्वयभू नामक पुत्र हुआ। दोनो भाइयो मे बडा प्रम था।

राजा सुकेतु से जुआ मे बलि नामक राजा ने राज्य जीता था। वह मरकर, रत्नपुर नगर मे राजा मधु हुआ। यह पूर्व जन्म का सस्कार ही था कि राजा मधु के नाम से स्वयभू को चिढ थी। एक बार किसी राजा ने राजा मधु के लिए कोई उपहार भेजा, किन्तु महाराज स्वयभू ने उस दूत को मारकर छीन लिया। नारद ने यह समाचार मधु को बता दिया। इस अपमानजनक समाचार को सुनते ही मधु को बडा क्रोध आया। स्वयम्भू को दण्ड देने के अभिप्राय से मधु विशाल सेना लेकर द्वारावती की ओर चल दिया। उधर दोनो भाई युद्ध के लिए पहले से ही तैयार बैठे थे। दोनो पक्षो मे भयकर युद्ध हुआ। मधु स्वयम्भू से युद्ध करने लगा। मधु ने कुपित होकर स्वयम्भू के ऊपर यमराज के समान भयकर चक्र फेका। मधु अब तक भरत क्षेत्र के आधे भाग का स्वामी था। चक्र, गदा, धनुष आदि दैवी अस्त्र उसके पास थे। किन्तु अब उसके पुण्य का कोष रीता हो चुका था। चक्र तीव्रगति से स्वयम्भू की ओर आया और प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर आकर टिक गया। राजा स्वयम्भू ने क्षुब्ध होकर उसी चक्र से मधु का सिर काट दिया। तब स्वयम्भू तीनो खण्डो का स्वामी बन गया। बलभद्र और नारायण दोनो भ्राता आनन्दपूर्वक राज्य करने लगे। आयु पूर्ण होने पर नारायण की मृत्यु हो गई। भ्रातृ-शोक से बलभद्र धर्म के हृदय को बडा आघात लगा। उसे ससार से ही वैराग्य हो गया। वह भगवान विमलनाथ की शरण में पहुँचा और मुनि-दीक्षा ले ली। उसने घोर तपस्या की और अन्त मे कर्मों का क्षय करके वह मुक्त हो गया।

पचदश परिच्छेद

भगवान अनन्तनाथ

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व मेरु से उत्तर की ओर अरिष्ट नामक एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम पद्मरथ था। उसने दीर्घकाल तक सासारिक भोग भोगे। एक दिन वह स्वयप्रभ जिनेन्द्र के चरणो मे पहुँचा। वहाँ उसने जिनेन्द्र प्रभु का उपदेश सुना। उसके मन मे वैराग्य की भावनाये उदित हुई, राज्य, परिवार और शरीर के प्रति उसकी आसक्ति जाती रही। उसने अपने पुत्र धनरथ को बुलाकर राज्य सौप दिया और वह मुनि हो गया। उसने घोर तप किया, ग्यारह अङ्गो का अध्ययन किया और निरन्तर सोलह कारण भावनाओ का चिन्तन किया। फलत उसे तीर्थकर नामकर्म का बन्ध हो गया। अन्त मे सल्लेखना धारण करके शरीर छोडा और अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान मे इन्द्र पद प्राप्त किया।

पूर्व भव

अयोध्या मे इक्ष्वाकुवशी काश्यप गोत्रीय राजा सिहसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। देवो ने उनके घर पर रत्नवृष्टि की। एक दिन महारानी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह शुभ स्वप्न देखे। प्रात होने पर उन्होने अपने पति से उन स्वप्नो का फल पूछा। पति ने विचार कर उत्तर दिया—देवी ! तुम्हारे गर्भ मे त्रिलोकपूज्य तीर्थकर अवतार लेगे। उस दिन कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा और रेवती नक्षत्र था, जब अच्युत स्वर्ग मे इन्द्र का जीव अपनी आयु पूर्ण करके उनके गर्भ मे आया। उसी समय देवो ने गर्भ कल्याणक का अभिषेक करके वस्त्र, माला और आभूषणो से महाराज सिहसेन और महारानी जयश्यामा की पूजा की।

गर्भ कल्याणक

जन्म कल्याणक—गर्भ सुख से बढने लगा। नौ माह व्यतीत होने पर माता ने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पूषा योग मे पुण्यशाली पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रो और देवो ने आकर पुत्र का सुमेरु पर्वत पर अभिषेक करके जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने पुत्र का नाम अनन्तनाथ रक्खा। उनका रग देदीप्यमान सुवर्ण के समान था। उनके पैर मे सेही का चिन्ह था।

बालक क्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ। जब भगवान यौवन अवस्था को प्राप्त हुये, तब पिता ने पुत्र का विवाह कर दिया और उसे राज्य-भार सौप दिया। राज्य करते हुए जब बहुत काल बीत गया, तब एक दिन उल्कापात देखकर उन्हे ससार से वैराग्य हो गया। वे ससार की अनित्य दशा को देखकर विचार करने लगे— इस अनित्य ससार मे स्थिर केवल अपना आत्म-स्वरूप है। मै अबतक अनित्य के पीछे भागता रहा, कभी आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रयत्न नही किया। वे ऐसा विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये। उन्होने भगवान की वन्दना स्तुति की और उनके विचारो की सराहना की।

दीक्षा कल्याणक

भगवान ने अपने पुत्र अनन्तविजय को राज्य-भार सौप दिया और देवोपनीत सागरदत्त। पालकी में विराजमान होकर सहेतुक वन मे गये। वहाँ बेला का नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन सायकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हे मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया, उन्होने सामायिक संयम धारण कर लिया और ध्यानलीन हो गये। दो दिन पश्चात् वे आहार के लिये साकेतपुरी में पधारे। वहाँ

स्वर्ण के समान कान्ति वाले विशाख नामक राजा ने भगवान को आहार देकर असीम पुण्य उपार्जन किया। देवो ने पचाश्चर्य करके उसकी सराहना की। आहार लेकर भगवान विहार कर गये।

केवलज्ञान कल्याणक—आपने दो वर्ष तक तपश्चरण किया, तब आपको अश्वत्थ वृक्ष के नीचे उसी सहेतुक वन मे चैत्र कृष्णा अमावस्या को सायकाल के समय रेवती नक्षत्र मे सकल ज्ञेय-ज्ञायक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय देवो ने ज्ञान कल्याणक की पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमे सिहासन पर विराजमान होकर भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का संघ—भगवान के सघ मे जय आदि ५० गणधर थे। १००० पूर्वधारी, ३२०० वादी, ३९५०० शिक्षक, ४३०० अवधिज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५००० मन पर्ययज्ञानी, इस प्रकार कुल ६६००० मुनि उनकी पूजा करते थे। सर्वश्री आदि १०८००० आर्यिकाये थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकाये थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान अनन्तनाथ ने बहुत समय तक विभिन्न देशो मे बिहार करके भव्य जीवो को अपने उपदेश द्वारा सन्मार्ग पर लगाया। अन्त मे सम्मेद शिखर पर जाकर उन्होने बिहार करना छोड दिया और एक माह का योग-निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग मे निर्वाण प्राप्त किया। देवो ने आकर भगवान का अन्तिम सस्कार किया और पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान अनन्तनाथ के सेवक यक्ष का नाम पाताल और यक्षिणी का नाम अनन्तमती था।

अनन्त चतुर्दशी व्रत

सोमशर्मा नामक एक ब्राह्मण था। वह रोगी, अपाहिज और दरिद्री था। वह देश-विदेश मे फिरा, किन्तु जहाँ जाता, सब जगह उसे फटकार ही मिलती थी। कोई उसका आदर नही करता था और न उसे कोई धन ही देता था। एक दिन भगवान अनन्तनाथ का समवसरण देखकर और वहाँ राजा, रक, देव और मनुष्यो को जाते देखकर वह भी समवसरण मे चला गया। वहाँ उसने भगवान का अद्भुत वैभव देखा। इन्द्र भगवान के ऊपर चवर ढोल रहे थे। वृक्षो पर षट् ऋतुओ के फल-फूल लहलहा रहे थे। शेर और हिरन, सर्प-नेवला, बिल्ली-चूहा जैसे जाति-विरोधी जीव बडे प्रेम से पास-पास बैठे हुए थे। देवो और मनुष्यो की अपार भीड लगी हुई थी। चारो ओर शान्ति और प्रेम का साम्राज्य था। समवसरण की अद्भुत महिमा को देखकर सोमशर्मा साहस करके आगे बढा और भगवान को नमस्कार करके विनयपूर्वक बोला—भगवन्! मै बडा भाग्यहीन, दीन, दरिद्रा हू, रोगी हु, तिरस्कृत हूँ। कही पेट भरने लायक भीख भी नही मिलती। कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे मेरे कष्ट दूर हो जाये।

उसकी प्रार्थना सुनकर भगवान के मुख्य गणधर जय बोले—भव्य! तुम भाद्रपद शुक्ला १४ को स्नान करके शुद्ध वस्त्र पहन कर भगवान अनन्तनाथ का चौदह कलशो से अभिषेक करो, पूजन करो। उपवास रक्खो। रात्रि को भगवान का कीर्तन करो। इस प्रकार चौदह वर्ष तक उपवास आदि करो। जब चौदह वर्ष समाप्त हो जाये, तब मन्दिर मे छत्र, चँवर, सिहासन, कलश आदि चौदह वस्तुये चढाकर अनन्त चतुर्दशी व्रत का उद्यापन करो। यदि उद्यापन की शक्ति न हो तो दूने व्रत करो अर्थात् अट्ठाईस वर्ष तक इसी प्रकार व्रत करो। अन्त समय मे समाधिमरण धारण करो। इससे तुम्हारी दरिद्रता, रोग, शोक सब दूर हो जायेगे।

सोमशर्मा ने गणधरदेव के कथनानुसार किया। मरकर वह चतुर्थ स्वर्ग मे महा विभूतिवान् देव हुआ। आयु पूर्ण होने पर विजय नगर के सम्राट् मनोकुम्भ का पुत्र अरिजय हुआ। यह राजकुमार अत्यन्त रूपवान, गुणवान और बलवान था और यह विपुलाचल पर भगवान महावीर के दर्शनो के लिये भी गया था।

सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण और मधुसूदन प्रतिनारायण

भगवान अनन्तनाथ के समय मे चौथे बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण हुए।

निदान-बन्ध

पोदनपुर नरेश वसुषेण के पाच सौ रानियाँ थी। उनमे नन्दा पटरानी थी। महाराज उसके प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। मलय देश का स्वामी चण्डशासन वसुषेण का मित्र था। वह अपने मित्र से मिलने के लिये पोदनपुर आया। एक दिन नन्दा के ऊपर उसकी दृष्टि पड गई। उसे देखते ही वह नन्दा के ऊपर मोहित हो गया और उसका अपहरण करके ले गया। वसुषेण चण्डशासन के मुकाबिले अपने आप को असमर्थ पाता था। अत वह मन मसोस कर रह गया, किन्तु वह नन्दा को न भूल सका। तब उसे विवेक जागृत हुआ। वह श्रेय नामक गणधर के पास जाकर दीक्षित हो गया। उसने घोर तप किया और यह निदान किया कि यदि मेरी इस तपस्या का कुछ फल है तो मै ऐसा राजा बनूं जिसकी आज्ञा का उल्लघन कोई न कर सके। वह सन्यास मरण कर सहस्रार स्वर्ग मे महा विभूतिसम्पन्न देव हुआ।

जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र मे नन्दन नामक एक नगर था। उसका अधिपति महाबल अत्यन्त प्रतापी और प्रजावत्सल राजा था। वह बडा दानी और दीनवत्सल था। एक दिन उसे भोगो मे अरुचि हो गई। उसने अपने पुत्र को राज्य सौपकर प्रजापाल नामक अर्हन्त के समीप सयम धारण कर लिया और तप करने लगा। अन्त मे सन्यास धारण कर मरण को प्राप्त हुआ और सहस्रार स्वर्ग मे देव हुआ।

बलभद्र, नारायण, और प्रतिनारायण—द्वारावती नगर के स्वामी राजा सोमप्रभ की रानी जयवन्ती के गर्भ मे सहस्रार स्वर्ग से महाबल का जीव आयु पूर्ण होने पर आया। उत्पन्न होने पर उसका नाम सुप्रभ रक्खा गया। वह सर्वप्रिय था। उसका वर्ण गौर था।

उसी राजा की दूसरी रानी के गर्भ मे वसुषेण का जीव आया। उत्पन्न होने पर उसका नाम पुरुषोत्तम रक्खा गया। इसका वर्ण कृष्ण था।

दोनो भाइयो मे अत्यन्त स्नेह था। ज्योतिषियो ने बताया था कि ये दोनो भाई बलभद्र और नारायण है और ये भरत क्षेत्र के आधे भाग पर शासन करेगे। सब राजा इनके आज्ञानुवर्ती होगे।

चण्डशासन का जीव विभिन्न योनियो मे भटकता हुआ काशी देश की वाराणसी नगरी का स्वामी मधुसूदन नाम का राजा हुआ। वह प्रचण्ड तेज का धारक था, शत्रु इसके नाम से ही भयभीत हो जाते थे। एक बार नारद घूमते हुए वाराणसी मे उसके दरबार मे पहुँचे। मधुसूदन ने उनकी अभ्यर्थना की और बैठने के लिये उच्चासन दिया। दोनो मे इधर-उधर की बातचीत होने लगी। प्रसगवश नारद ने सुप्रभ और पुरुषोत्तम के वैभव की चर्चा की। सुनते ही असहिष्णु मधुसूदन ईर्ष्या से जल उठा। उसने अहकारपूर्वक उन दोनो राजकुमारो को आदेश भेजा कि तुम लोग मेरे लिये हाथी, रत्न आदि कर-स्वरूप भेजो।

मधुसूदन की यह अनधिकार चेष्टा देखकर दोनो भाइयो को अत्यन्त क्रोध आया और उन्होंने दूत को अपमानित कर निकाल दिया। जब मधुसूदन ने यह समाचार सुना तो वह कुपित होकर विशाल सेना के साथ दोनो राजकुमारो को दण्ड देने के अभिप्राय से चल दिया। दोनो भाई भी अपनी सेना लेकर चल पडे। दोनो सेनाओ मे भयकर लडाई होने लगी। मधुसूदन के साथ पुरुषोत्तम का युद्ध होने लगा। जब मधुसूदन ने देखा कि शत्रु किसी प्रकार दब नही पा रहा है तो उसने प्रबल वेग से पुरुषोत्तम के ऊपर चक्र फेका। जिस चक्र ने मधुसूदन को कभी धोखा नही दिया था, आज वह भी काम न आ सका। चक्र पुरुषोत्तम की प्रदक्षिणा देकर उनकी भुजा पर ठहर गया। पुरुषोत्तम ने उसी चक्र को मधुसूदन पर चला दिया, जिसमे उसके प्राण-पखेरू उड गये। दोनो भाई भरत क्षेत्र के तीन खण्ड के अधिपति हो गये और वे बलभद्र एव नारायण कहलाये।

बहुत काल तक दोनो ने राज्य-सुख का अनुभव किया। एक दिन छोटे भाई पुरुषोत्तम की मृत्यु हो गई। इस घटना से सुप्रभ अति शोक सतप्त हो गये। वे एक बार सोमप्रभ जिनेन्द्र के दर्शनो को गये। उन्होंने बलभद्र को समझाया। फलत बलभद्र ने उन्ही के चरणो मे दीक्षा ले ली। उन्होंने घोर तपस्या करके कर्मो का क्षय कर दिया और मोक्ष प्राप्त कर लिया।

षोडस परिच्छेद

भगवान धर्मनाथ

घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र मे वत्स नामक एक देश था। उसमे सुसीमा नामक एक नगर था। वहाँ राजा दशरथ राज्य करता था। उसके पास बुद्धि और बल था, भाग्य उसके पक्ष मे था। इसलिये उसने तमाम शत्रुओं को अपने वश मे कर लिया था। अत वह शान्तिपूर्वक राज्य करता था। एक बार

पूर्व भव

बैशाख शुक्ला पूर्णिमा को सब लोग उत्सव मना रहे थे। तभी चन्द्रग्रहण पडा। उसे देखकर राजा का मन भोगो से एकदम उदास हो गया। उसने अपने पुत्र महारथ का राज्याभिषेक करके सयम धारण कर लिया। उसने ग्यारह अंगो का अध्ययन किया, सोलह कारण भावनाओ का सतत चिन्तन किया, जिससे उसे तीर्थकर प्रकृति का बन्ध होगया। अन्त मे समाधिमरण करके वह सर्वार्थ सिद्धि विमान मे अह-मिन्द्र हुआ। वहाँ उसने तेतीस सागर तक सुख का भोग किया।

रत्नपुर नगर के अधिकारी महाराज भानु थे। वे कुरुवशी और काश्यपगोत्री थे। उनकी महादेवी का नाम सुप्रभा था। देवो ने भगवान के गर्भावतार से छह माह पूर्व से रत्नवृष्टि आरम्भ की। महारानी ने बैशाख शुक्ला त्रयोदशी को रेवती नक्षत्र मे प्रात काल के समय सोलह स्वप्न देखे और एक विशाल

गर्भ कल्याणक

हाथी मुख मे प्रवेश करते हुए देखा। प्रात काल उठकर वे अपने पति के पास पहुँची। उन्होने रात मे देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनसे इन स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से देखकर बताया—देवी ! तुम्हारे गर्भ मे तीर्थकर भगवान आने वाले है। सुनकर महारानी को बडा हर्ष हुआ। तभी सर्वार्थ सिद्धि का अहमिन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ मे अवतीर्ण हुआ। इन्द्रो ने आकर गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

जन्म कल्याणक—नौ माह व्यतीत होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में महारानी ने तीन ज्ञान का धारक पुत्र प्रसव किया। उसी समय इन्द्रो और देवो ने आकर सद्य जात बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया और भगवान का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने बालक का नाम धर्मनाथ रक्खा। उनके पैर मे वज्र का चिन्ह था।

जब भगवान यौवन दशा मे पहुचे, तब पिता ने उनका विवाह कर दिया और राज्याभिषेक कर दिया। बहुत समय तक उन्होने राज्य-सुख भोगा। एक दिन उलकापात देखकर उन्हे वैराग्य हो गया। उन्हे अब तक का जीवन भोगो मे व्यतीत करने का बडा पश्चात्ताप हुआ। उन्होने निश्चय कर लिया कि अब

दीक्षा कल्याणक

क्षणभर भी इस अमूल्य जीवन को सासारिक भोगो मे नष्ट न करके आत्म कल्याण करूँगा। प्रभु का ऐसा निश्चय जानकर लौकान्तिक देव वहाँ आये और भगवान की वन्दना करके प्रभु के विचारो को सराहते हुए अपने स्थान को वापिस चले गये। भगवान ने अपने पुत्र सुधर्म को राज्य देकर नागदत्ता नामक पालकी मे आरूढ होकर दीक्षा के लिये गमन किया। उन्होने दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन सायकाल के समय पुष्य नक्षत्र में एक हजार राजाओ के साथ दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हे मन.पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे आहार के लिये पाटलिपुत्र नामक नगरी में गये। वहाँ धन्यषेण नामक राजा ने उत्तम पात्र के लिये आहार दान देकर पचाश्चर्य प्राप्त किये।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान ने एक वर्ष तक तपस्या की। फिर वे बिहार करते हुए दीक्षा वन मे पधारे। वहाँ सप्तच्छद वृक्ष के नीचे बैठकर और दो दिन के उपवास का नियम लेकर योग धारण कर लिया और पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन सायकाल के समय पुष्य नक्षत्र मे उन्हे लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रगट हुआ। देवो ने आकर केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की।

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। वहाँ गन्धकुटी मे सिहासन पर विराजमान होकर भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और इस तरह उन्होने रतनपुरी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का परिकर—भगवान धर्मनाथ के सघ मे अरिष्टसेन आदि ४३ गणधर थे। ९११ पूर्वधर, ४०७०० शिक्षक, ३६०३ अवधिज्ञानी, ४५०० केवलज्ञानी, ७००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ४५०० मन पर्ययज्ञानी और २८०० वादी थे। इस प्रकार उनके सघ मे मुनियो की कुल सख्या ६४००० थी। सुव्रता आदि ६२४०० आर्यिकाये थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकाये थी।

निर्वाण कल्याणक– भगवान विभिन्न आर्य देशो मे विहार करके धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवो का कल्याण करते रहे। अन्त मे वे विहार बन्द करके सम्मेद शिखर पहुँचे। वहाँ एक माह का योग निरोध करके आठ सौ नौ मुनियो के साथ ध्यानारूढ हुए तथा ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन रात्रि के अन्तिम भाग मे पुष्य नक्षत्र में निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी— भगवान धर्मनाथ के यक्ष का नाम किन्नर और यक्षिणी का नाम परभृती था।

रतनपुरी—रतनपुरी कल्याणक क्षेत्र है। इस नगर मे भगवान धर्मनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवल ज्ञान कल्याणक हुए थे। यह क्षेत्र जिला फैजाबाद मे अयोध्या से बाराबकी वाली सडक पर १५ मील है। फैजाबाद से सिटी बस मिलती है। रौनाही के चौराहे पर उतरना चाहिए। सडक मे गाँव डेढ मील है। कच्चा मार्ग है। गाँव का नाम रौनाही है। सरयू नदी के तट पर दो दिगम्बर जैन मन्दिर है। एक मन्दिर मे मूर्तियाँ है। कहते है, यहाँ भगवान का जन्म कल्याणक हुआ था। दूसरे मन्दिर मे चरण विराजमान है। कहा जाता है, यहाँ भगवान का गर्भ कल्याणक हुआ था।

सुदर्शन बलभद्र, नारायण पुरुषसिंह और प्रतिनारायण मधुक्रीड़

राजगृह नगर मे राजा सुमित्र राज्य करता था। वह बडा भारी मल्ल था। उसने बडे-बडे मल्लो को मल्ल-युद्ध मे पछाड दिया था। इसका उसे अभिमान भी था। लोग उसका बडा सम्मान करते थे। एक बार मल्ल-युद्ध विशारद और बल मे हाथी के समान राजसिह नाम का राजा राजगृह आया। उसका अभिप्राय सुमित्र को मल्ल-युद्ध में पराजित करना था। दोनो राजाओ का अखाडे में मल्ल-युद्ध हुआ। इसमे सुमित्र पराजित हो गया। इससे उसका मान भग हो गया। उसे राज्य मे रहने मे भी लज्जा आने लगी। अत उसने राज्य-भार अपने पुत्र को सौप दिया और वह कृष्णाचार्य के पास जाकर दीक्षित हो गया। उसने सिह निष्क्रीडित आदि कठिन तप किये, किन्तु उसके मन मे अपने पराभव का सक्लेश बना रहा। अतः उसने मन में यह सकल्प किया कि यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मुझे इतना बल और पराक्रम प्राप्त हो कि मैं अपने शत्रुओ को जीत सकूँ।

पूर्व भव

अन्त में समाधिमरण करके वह माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ।

जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत के पूर्व की ओर वीतशोकपुरी नामक नगरी थी। उसमें नरवृषभ नामक राजा राज्य करता था। उसने निर्विघ्न राज्य-सुख भोगा। अन्त मे विरक्त होकर दमवर मुनिराज के पास दीक्षा ले ली। उसने कठोर तपस्या की और आयु पूर्ण होने पर वह सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ।

बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण—खगपुर नगर मे इक्ष्वाकुवशी राजा सिहसेन शासन करता था। उसकी बडी रानी विजया के गर्भ में सहस्रार स्वर्ग के उस देव का जीव अवतीर्ण हुआ। उसका जन्म होने पर सुदर्शन नाम रक्खा गया। छोटी रानी अम्बिका के गर्भ में माहेन्द्र स्वर्ग का देव आया और उत्पन्न होने पर उसका नाम पुरुषसिह रखा गया। दोनो क्रमश गौर और कृष्ण वर्ण के थे। दोनो मे अति स्नेह था और दोनो अविभक्त राज्य का आनन्दपूर्वक भोग करते थे। उन्होने अपने वाहुबल से अनेक शत्रुओ को पराजित किया था।

हस्तिनापुर नगर का स्वामी मधुक्रीड बडा प्रतापी और अभिमानी नरेश था। उसने कुछ ही काल मे भरत क्षेत्र के तीन खण्डो पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। उसे सुदर्शन और पुरुषसिह दोनो भाइयो का बढता हुआ प्रभाव और तेज सहन नही हुआ। उसने अपने प्रधान मन्त्री दण्डगर्भ को उनके पास भेजा और कर-स्वरूप अनेक श्रेष्ठ रत्न मागे। सुनकर दोनो भाई अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होने मत्री को उत्तर दिया—उस मूर्ख से कह देना, हम उसका कर युद्ध-स्थल मे चलकर चुकावेगे।

जब मन्त्री से मधुक्रीड ने ये समाचार सुने तो सुनते ही उसकी आंखे क्रोध के कारण रक्तवर्ण हो गई। वह विशाल सेना लेकर युद्ध के लिये चल दिया। दोनो भाई भी सेना सजाकर रणभूमि मे पहुँचे। दोनो सेनायें परस्पर भिड गई। लाशो से मैदान पट गया। पुरुषसिह मधुक्रीड पर झपटा। अब दोनो वीरो का युद्ध होने लगा। दोनो एक-दूसरे के शस्त्रो और प्रहारो को काटते रहे। मधुक्रीड को अनुभव हुआ कि आज जिस शत्रु से पाला पडा है, वह साधारण नही है। उसका वध करना ही अपनी सुरक्षा का एकमात्र उपाय है। ऐसा विचार करके उसने अपने शत्रु पर भीषण वेग से चक्र फेका। किन्तु पुरुषसिह चक्र को देखकर तनिक भी भयभीत नही हुआ। चक्र भी उसके समीप पहुँच कर और प्रदक्षिणा देकर उसकी भुजा पर जा टिका। मधुक्रीड का पुण्य क्षीण हो चुका था। अन्त समय मे उसी के चक्र ने उसे धोखा दिया। पुरुषसिह ने उसी चक्र को मधुक्रीड पर चला दिया, जिससे उसका सिर कटकर भूलुंठित हो गया। नारायण के हाथ प्रतिनारायण मारा गया। दोनो भाई तीन खण्ड पृथ्वी के अधीश्वर बन गये, सम्पूर्ण राजाओ ने आकर उनके चरणो मे नमस्कार किया। उन्होने बहुत समय तक राज्यलक्ष्मी का भोग किया।

एक दिन नारायण की मृत्यु हो गई। अनुज के वियोग मे बलभद्र को बडा शोक हुआ। उसे किसी प्रकार भी कही पर शान्ति नही मिली। तब वह भगवान धर्मनाथ की शरण मे पहुचा। उनका उपदेश सुनकर उसने दीक्षा ले ली और घोर तप करके उसने सम्पूर्ण कर्मो का नाश करके अक्षय पद मोक्ष प्राप्त किया।

ये पाँचवे बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण थे। ये तीनो भगवान धर्मनाथ के समय मे हुए थे।

मघवा चक्रवर्ती

भगवान धर्मनाथ के तीर्थ मे मघवा नामक तीसरा चक्रवर्ती हुआ।

पूर्व भव—वासुपूज्य भगवान के तीर्थ मे नरपति नामक एक बडा राजा था। उसने अनेक शत्रुओ को जीत कर अपने राज्य की सीमाये बहुत विस्तृत कर ली। वह बहुत काल तक सुखपूर्वक राज्य करता रहा। जब उसे भोगो से अरुचि हो गई तो वह मुनि बनकर आत्म-कल्याण का पथिक बन गया। उसने घोर तप किया। अन्त में समाधि मरण करके मध्यम ग्रैवेयक मे अहमिन्द्र हुआ।

चक्रवर्ती पद—फिर वहाँ आयु पूर्ण करके वह अयोध्या नरेश इक्ष्वाकुवशी सुमित्र की महारानी भद्रा से मघवा नाम का पुत्र हुआ। जब उसने किशोर वय पार करके यौवन में पदार्पण किया, उसकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसकी सहायता से उसने भरत क्षेत्र के षट् खण्डो की विजय की। वह चक्रवर्ती बना। उसके पास नौ निधियाँ थी। वह चौदह रत्नो का स्वामी था। उसके छियानवें हजार रानियाँ थी और चक्रवर्ती के योग्य अतुल वैभव था। इतना अपरिमित वैभव होते हुए भी वह भोगो मे आसक्त नही हुआ।

एक दिन नगर के बाह्य अचल मे स्थित मनोहर उद्यान मे अभयघोष केवली पधारे। उनका आगमन सुनकर चक्रवर्ती उनके दर्शनो के लिए गया। जाकर उनकी तीन प्रदक्षिणायें दी, वन्दना की और उनसे धर्म का स्वरूप समझा। उपदेश सुनकर चक्रवर्ती के मन मे आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई। उसने अपने पुत्र प्रियमित्र को राज्य सौंप कर सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया और मोक्ष-प्रसाधक सकल चारित्र धारण कर लिया। जिस प्रकार उसने बाह्य शत्रुओ पर विजय प्राप्त की थी, इसी प्रकार उसने तपरूपी चक्र से आभ्यन्तर शत्रु-कर्मों पर विजय प्राप्त की और चार घातिया कर्मों का नाश करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गया। जिस प्रकार चक्रवर्ती दशा मे उनके पास नव निधि थी, इसी प्रकार केवली दशा मे वे नौ केवल लब्धियो के धारक बन गये। अब वे भव्य जीवों को कल्याणकारी मार्ग का उपदेश देने लगे। अन्त मे शुक्ल ध्यान के तृतीय और चतुर्थ भेद के द्वारा अघाति-चतुष्क का क्षय करके अक्षय मोक्ष पद प्राप्त किया।

ये चक्रवर्ती भगवान धर्मनाथ और भगवान शान्तिनाथ के अन्तराल मे एव भगवान धर्मनाथ के तीर्थ मे हुए थे।

सनत्कुमार चक्रवर्ती

अयोध्या नगरी[1] के अधिपति, सूर्यवश शिरोमणि महाराज अनन्तवीर्य की रानी सहदेवी के गर्भ से सनत्कुमार नामक पुण्यशील पुत्र उत्पन्न हुआ। इसने यौवन अवस्था प्राप्त होने पर भरत क्षेत्र के षट् खण्डो पर विजय प्राप्त करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। वे चौथे चक्रवर्ती थे। वे सम्यग्दृष्टियों मे प्रधान थे। बत्तीस हजार राजा इनकी सेवा करते थे। देव और विद्याधर इनके सेवक थे। वे अतिशय रूपसम्पन्न थे। उनके रूप की प्रशसा देव तक करते थे।

एक दिन सौधर्म इन्द्र की सभा मे ईशान स्वर्ग से सगम नामक देव आया और आकर वह इन्द्र के समीप बैठ गया। जैसे सूर्योदय होने पर तारागण म्लान पड जाते है, इसी प्रकार उस देव के आने पर अन्य देवों की कान्ति म्लान हो गई। उसे देखकर सभी देव अत्यन्त विस्मित थे। कुछ देव अपने कुतूहल को नही दबा सके और इन्द्र से पूछने लगे—'किस कारण से यह देव सूर्य के समान तेजस्वी है ?' इन्द्र ने उत्तर दिया—'पिछले जन्म में इसने आचाम्ल वर्धमान तप किया था। उसी के फल से इसे ऐसा रूप मिला है।

देवो ने इन्द्र से पुन प्रश्न किया—'क्या ऐसा रूप किसी और का भी है ?'

इन्द्र बोला—हाँ, है। हस्तिनापुर मे कुरुवश मे उत्पन्न सनत्कुमार चक्रवर्ती का रूप और तेज इससे भी अधिक है।

इन्द्र की यह बात सुनकर विजय और वैजयन्त नामक दो देव ब्राह्मण का रूप धारण करके कुतूहलवश

१- आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण के अनुसार। आराधना कथाकोष के अनुसार नगर का नाम वीतशोक, राजा का नाम अनन्तवीर्य और रानी का नाम सीता। हरिषेण कथाकोष के अनुसार हस्तिनापुर नरेश विश्वसेन की रानी सहदेवी। श्वेताम्बर मान्यता भी यही है। केवल विश्वसेन के स्थान पर अश्वसेन नाम है।

हस्तिनापुर पहुँचे और प्रतिहार से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की आज्ञा लेकर स्नान-गृह में पहुँचे जहाँ चक्रवर्ती तेल की मालिश करवा रहे थे। उनका अनिद्य रूप देखकर दोनों देव अत्यन्त विस्मित हो गये और बोले—राजन्! तुम्हारे तेज, यौवन और रूप की जैसी प्रशसा सौधर्मेन्द्र ने की थी, यह उससे भी अधिक है। हम तुम्हारा यह रूप देखने ही स्वर्ग से यहाँ आये हैं।

चक्रवर्ती देवो द्वारा प्रशसा सुनकर बोले—देवो! अभी तुमने क्या देखा है। आप लोग कुछ देर ठहरे। जब मैं स्नान करके वस्त्राभूषण पहनकर और इत्र फुलेल, ताम्बूल आदि का सेवन करके तैयार हो जाऊँ, उस समय मेरी रूप माधुरी देखना।'

दोनो देव सुनकर कौतुक मन में सजोये प्रतीक्षा करने लगे। जब चक्रवर्ती स्नान, विलेपन आदि करके सिहासन पर विराजमान हो गये, तब उन्होंने दोनों देवो को बुलाया। देव अत्यन्त उत्कण्ठा लिए पहुँचे और चक्री के तेज और रूप को देखकर बडे खिन्न हुए और बोले—राजन्! यह रूप, यौवन, बल, तेज और वैभव इन्द्र धनुष के समान क्षणभगुर है। हमने वस्त्रालकार रहित अवस्था में आपके रूप मे जो सौन्दर्य, जो माधुर्यवर्ती देखा था, वह अब नही रहा। देवो का रूप जन्म से मृत्यु पर्यन्त एक-सा रहता है, किन्तु मनुष्यो का रूप यौवन तक बढता है और यौवन के पश्चात् छीजने लगता है। इसलिए इस क्षणिक रूप का मोह और अहकार व्यर्थ है।

देवो की बात सुनकर उपस्थित सभी लोगो को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब कुछ सभ्य जन बोले—'हमे तो महाराज के रूप मे पहले से कुछ भी कमी नही दिखाई पडती। न जाने आप लोगों ने पहली सुन्दरता से क्यो कमी बताई है।' सुनकर देवो ने सबको प्रतीति कराने के लिए जल से पूर्ण एक घडा मगवाया। उसे सबको दिखाया। फिर एक तृण द्वारा जल की एक बूद निकाल ली। फिर सबको घडा दिखाकर बोले—'आप लोग बतलाइये, पहले घडे में जैसे जल भरा था, अब भी वैसे ही भरा है। क्या इसमें तुम्हे कुछ विशेषता दिखाई पडती है?' सबने एक स्वर से कहा—'नही, कुछ विशेषता दिखाई नही पडती।' तब देव कहने लगे—'महाराज! भरे हुए घडे मे से एक बूंद निकाली गई, तब भी इन्हे जल उतना ही दिखाई पडता है। इसी तरह हमने आपका जो रूप पहले देखा था, वह अब नही रहा। वह कमी हमें दिखाई पडती है, किन्तु इन लोगो को दिखाई नही पडती।'

देव यो कह कर अपने स्वर्ग को चले गये, किन्तु चक्रवर्ती के अन्धेरे हृदय में एक प्रकाशमान ज्योति छोड़ गये। उनके मन मे विचार-तरगे उठने लगी—ठीक ही तो कहते है ये देव। इस जगत मे सब कुछ ही तो क्षणिक है, नाशवान है। मेरा यह शरीर भी तो नाशवान है, फिर इसके रूप का यह अहकार क्यो? मैने अब तक इस शरीर के लिए सब कुछ किया, अपने लिए कुछ नही किया। मै अब आत्मा के लिए करूंगा।

मन मे वैराग्य जागा तो उन्होने तत्काल अपने पुत्र का राजतिलक किया और चारित्रगुप्त मुनिराज के पास जाकर जिन-दीक्षा ले ली। वे आत्म कल्याण के मार्ग मे निरन्तर बढते रहे। एक बार षष्ठोपवास के बाद वे आहार के लिए नगर मे गये। वहाँ देवदत्त नामक राजा ने उन्हे आहार कराया। मुनि सनत्कुमार ने आहार लेकर फिर षष्ठोपवास ले लिया। किन्तु वह आहार इतना प्रकृति-विरुद्ध था कि उससे शरीर मे अनेक भयकर रोग उत्पन्न हो गये। यहाँ तक कि उनके शरीर मे कुष्ठ हो गया। शरीर में दुर्गन्ध आने लगी। किन्तु मुनिराज का ध्यान एक क्षण के लिए कभी शरीर की ओर नही गया। उन्हे औषध ऋद्धि प्राप्त थी, किन्तु कभी रोग का प्रतीकार नही किया।

एक दिन पुन इन्द्र सौधर्म सभा मे धर्मप्रेमवश सनत्कुमार मुनिराज की प्रशसा करते हुए कहने लगे—धन्य है सनत्कुमार मुनि, जिन्होने षट् खण्ड पृथ्वी का साम्राज्य तृण के समान असार जानकर त्याग दिया और तप का आराधन करते हुए पाच प्रकार के चारित्र का दृढतापूर्वक पालन कर रहे है।'

इन्द्र द्वारा यह प्रशसा सुनकर मदनकेतु नामक एक देव सनत्कुमार मुनिराज की परीक्षा लेने वैद्य का वेष धारण करके उस स्थान पर पहुंचा जहाँ मुनिराज तपस्या कर रहे थे। वहाँ आकर वह जोर जोर से कहने लगा—मैं प्रसिद्ध वैद्य हूँ, मृत्युजय मेरा नाम है। प्रत्येक रोग की औषधि मेरे पास है। कोई उपचार करा लो।

मुनिराज बोले—'तुम वैद्य हो, यह तो बड़ा अच्छा है। मुझे बडा भयकर रोग है। क्या तुम उसका भी उपचार कर सकते हो?'

देव बोला—'अवश्य ही मैं आपके रोग का उपचार कर सकता हूँ। वह रोग आपके शरीर मे निरन्तर चूने वाला कोढ़ है।'

मुनिराज कहने लगे—'यह रोग तो साधारण है। मुझे तो इससे भी भयकर रोग है। वह रोग है जन्म-मरण का। यदि तुम उसका उपचार कर सकते हो तो कर दो।'

सुनकर वैद्य वेषधारी देव लज्जित होकर बोला—'मुनिनाथ! इस रोग को तो आप ही नष्ट कर सकते है।

तब मुनिराज मुस्कराकर कहने लगे—'भाई! जब तुम इस रोग को नष्ट नही कर सकते तो फिर मुझे तुम्हारी आवश्यकता नही है। शरीर की व्याधि तो स्पर्श मात्र से ही दूर हो सकती है, उसके लिए वैद्य की क्या आवश्यकता है!' यो कह कर मुनिराज ने एक हाथ पर दूसरे हाथ को फेरा तो वह स्वर्ण जैसा निर्मल बन गया।

मुनिराज की इस अद्भुत शक्ति को देखकर अपने असली रूप को प्रगट कर देव हाथ जोड़कर बोला—'देव! सौधर्मेन्द्र ने आपकी जैसी प्रशसा की थी, मैने आपको वैसा ही पाया।' और वह नमस्कार करके अपने स्थान को चला गया।

मुनिराज सनत्कुमार शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मो को नष्ट करके अनन्त सुख के धाम सिद्धालय मे जा विराजे।

सनत्कुमार चक्रवर्ती भी भगवान धर्मनाथ के तीर्थ में और धर्मनाथ एव शान्तिनाथ के अन्तराल मे हुए थे।

सप्तदश परिच्छेद

भगवान शान्तिनाथ

पूर्व भव—यहाँ भगवान शान्तिनाथ के पूर्व के नौ भवों की कथा दी जा रही है।

भगवान महावीर का जीव जब त्रिपृष्ठ नामक प्रथम नारायण था, उस समय की यह कथा है। त्रिपृष्ठ ने अपनी पुत्री ज्योतिप्रभा का विवाह रथनूपुर के राजकुमार अमिततेज के साथ कर दिया और अमिततेज की बहन सुतारा त्रिपृष्ठ के पुत्र श्रीविजय के साथ विवाही गई। जब त्रिपृष्ठ नारायण का देहान्त हो गया और भाई के शोक में बलभद्र विजय ने दीक्षा लेली, तब श्रीविजय पोदनपुर का राजा बना। एक दिन एक निमित्तज्ञानी ने आकर कहा कि पोदनपुर के राजा के मस्तक पर आज से सातवे दिन वज्र गिरेगा। सुनकर सबको चिन्ता हुई। तब मन्त्रियों ने उपाय सोचा—निमित्तज्ञानी ने किसी राजा का नाम तो लिया नही। जो सिंहासन पर बैठा होगा, उसी पर तो वज्र गिरेगा, यह विचार कर उन्होंने सिंहासन पर एक यक्ष-प्रतिमा रख दी। ठीक सातवें दिन यक्ष-मूर्ति पर भयंकर वज्र गिरा। राजा बच गया। राजा सुतारा को लेकर वन-विहार के लिये गया। वे दोनों वन मे बैठे हुए थे, तभी आकाश मार्ग से चमरचचपुर का राजकुमार अशनिघोष विद्याधर उधर से निकला। उसने सुतारा को देखा तो वह उस पर मोहित हो गया। तब वह हरिण का रूप बनाकर आया और छल से श्रीविजय को दूर ले गया। फिर वह श्रीविजय का रूप धारण करके आया और सुतारा से बोला—'प्रिये! सूर्य अस्त हो रहा है, चलो लौट चलें।' सुतारा उसके साथ विमान मे चल दी। मार्ग मे अशनिघोष ने अपना रूप और उद्देश्य प्रगट किया। तब सुतारा जोर-जोर से विलाप करने लगी।

जब श्रीविजय वापिस आया और सुतारा वहाँ नही मिली तो वह अत्यन्त कातर हो उठा। तभी एक विद्याधर ने उसे सुतारा के अपहरण का समाचार दिया। सुनते ही वह सीधा रथनूपुर पहुँचा और अमिततेज से सब बाते बताई। अमिततेज सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और सेना लेकर अशनिघोष पर जा चढा। भयानक युद्ध हुआ। उसमे हारकर अशनिघोष वहाँ से भागा और नाभेयसीम पर्वत पर विजय तीर्थंकर का समवसरण देखकर उसमे जा घुसा। अमिततेज और श्रीविजय भी उसका पीछा करते हुए समवसरण मे जा पहुँचे। किन्तु वहाँ का यह अलौकिक प्रभाव था कि न अशनिघोष के मन मे भय के भाव थे और न अमिततेज और श्रीविजय के मन मे क्रोध के भाव रहें। तभी अशनिघोष की माता आसुरीदेवी ने सुतारा को लाकर उन दोनों को समर्पण किया और अपने पुत्र के अपराध की क्षमा मागी।

सबने भगवान का उपदेश सुना और सबने यथायोग्य मुनिव्रत आर्यिका के व्रत अथवा श्रावक के व्रत लिये।

अमिततेज के प्रश्न करने पर भगवान ने सबके पूर्व भव बताते हुए कहा—तेरा जीव आगे होने वाले नौवें भव मे पाँचवा चक्रवर्ती और सोलहवाँ तीर्थंकर शान्तिनाथ होगा।

सुनकर अमिततेज को बडा हर्ष हुआ। भगवान को नमस्कार कर वे लोग अपने-अपने स्थान को लौट गये। अब उसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर हो गई। वह निरन्तर दान, पूजा, व्रत, उपवास करने लगा। यद्यपि उसे अनेक

विद्यायें सिद्ध थी और वह विजयार्थ पर्वत की दोनो श्रेणियो का एकछत्र सम्राट् था, किन्तु धर्म-कार्यों मे कभी प्रमाद नही करता था। किन्तु एक दिन उसने भोगो का निदान बन्ध किया।

जब दोनो की आयु एक मास शेष रह गई तो अपने-अपने पुत्रो को राज्य देकर वे नन्दन नामक मुनिराज के पास दीक्षा लेकर मुनि बन गये और अन्त मे समाधिमरण करके तेरहवे स्वर्ग मे अमित ऋद्धिधारी देव हुए।

आयु पूर्ण होने पर अमिततेज का जीव पूर्व विदेह क्षेत्र के वत्सकावती देश के राजा स्तिमितसागर की रानी वसुन्धरा के गर्भ से अपराजित नामक पुत्र हुआ और श्रीविजय का जीव उसी राजा को अनुमति नाम की रानी से अनन्तवीर्य नामक पुत्र हुआ। दोनो मे परस्पर बडा प्रेम था। वे दोनो ही क्रमश बलभद्र और नारायण थे। जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए तो पिता ने उनका विवाह कर दिया और बडे भाई को राज्य-भार सौंपकर छोटे भाई का युवराज पद दे दिया। राज्य पाते ही उनका प्रभाव और तेज बढने लगा।

उनकी राज्य-सभा मे बर्बरी और चिलातिका नामक दो सुन्दर नर्तकियाँ थी। नृत्यकला मे उनकी प्रसिद्धि सम्पूर्ण देश मे व्याप्त थी। एक दिन वे दोनो नर्तकियो का नृत्य देखने मे मग्न थे, तभी नारद पधारे, किन्तु उनका ध्यान नारद की ओर नही गया, अत वे उनका उचित आदर नही कर सके। इतने मे नारद आगबबूला हो गये और सभा से निकल गये। वे सीधे शिवमन्दिर नगर के राजा दमितारि के पास पहुँचे। राजा ने उठकर उनकी अभ्यर्थना की और बैठने के लिये उच्चासन दिया। इधर-उधर की बातचीत होने के अनन्तर नारद ने उन नृत्यकारिणियो का जिक्र छेडा और कहा—महाराज! वे तो ऐसी रत्न है, जो केवल आपकी सभा मे ही शोभा पा सकती है। उनके कारण आपकी सभा की भी शोभा बढेगी।

नारद तो चिनगारी छोडकर चले गये। दमितारि का प्रभाव आधे देश पर था। वह प्रतिनारायण का ऐश्वर्य भोग रहा था। उसने दूत भेजकर दोनो भाइयो को आदेश दिया—तुम लोग अपनी नर्तकियो को दूत के साथ हमारे पास भेज दो।

राजा अपराजित ने दूत को सम्मानपूर्वक ठहराया और मत्रियो से परामर्श किया। फलत वे दोनो भाई नर्तकियो का वेष धारण करके दूत के साथ दमितारि को सभा मे पहुँचे। वहाँ उन्होंने जो कलापूर्ण नृत्य दिखाया तो दमितारि बोला—'तुम हमारी पुत्री को नृत्यकला सिखला दो।' उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया। वे राजपुत्री कनकश्री को नृत्यकला सिखाने लगे। वही कनकश्री और अनन्तवीर्य का प्रेम हो गया। एक दिन दोनो भाई राजपुत्री को लेकर आकाश-मार्ग से चल दिये। जब अन्त पुर के कचुकी ने यह दु सवाद महाराज दमितारि को सुनाया तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेना लेकर युद्ध करने चल दिया। मार्ग मे ही दमितारि का दोनो भाइयो के साथ भयानक युद्ध हुआ। अपराजित सेना के साथ युद्ध करने लगा और अनन्तवीर्य दमितारि के साथ। अनन्तवीर्य के प्रहारो से त्रस्त होकर दमितारि ने उस पर चक्र फेका। किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर उसके कन्धे पर ठहर गया। तब अनन्तवीर्य ने उसी चक्र से दमितारि का वध कर दिया। पश्चात् सभी विद्याधरो को जीतकर अपराजित ने बलभद्र पद धारण किया और अनन्तवीर्य ने नारायण पद। वे दोनो आनन्दपूर्वक बहुत काल तक राज्य-सुख का भोग करते रहे।

अनन्तवीर्य की मृत्यु होने पर अपराजित बहुत शोक करता रहा। फिर पुत्र को राज्य सौंपकर सम्पूर्ण आभ्यन्तर-बाह्य आरम्भ परिग्रह का त्याग कर सयम धारण कर लिया और समाधिमरण कर अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। अनन्तवीर्य का जीव नरक और मनुष्यगति मे जन्म लेकर अच्युत स्वर्ग का प्रतीन्द्र हुआ।

अच्युतेन्द्र आयु पूर्ण होने पर पूर्व विदेह क्षेत्र के रत्नसचयपुर मे राजा क्षेमकर की कनकचित्रा नाम की रानी से वज्रायुध नामक पुत्र हुआ। उसके उत्पन्न होने पर सभी का महान् हर्ष हुआ। ज्यो ज्यो वह बडा होता गया, उसके गुणो का सौरभ और यश चारो ओर फैलने लगा। तरुण होने पर पिता ने उसको युवराज बना दिया। अब वज्रायुध राज्य-लक्ष्मी और लक्ष्मीमती नामक स्त्री का आनन्दपूर्वक भोग करने लगा। उन दोनो से प्रतीन्द्र का जीव सहस्रायुध नामक पुत्र हुआ।

वज्रायुध अष्टॉग सम्यग्दर्शन का निरतिचार पालन करता था। वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि था। एक दिन ऐशान स्वर्ग के इन्द्र ने धर्म-प्रेम के कारण वज्रायुध के सम्यग्दर्शन की निष्ठा की प्रशसा की। इस प्रशसा को विचित्र-

चूल नामक देव सहन नही कर सका और वह वज्रायुध की परीक्षा करने चल दिया। आकर उसने वज्रायुध से नाना भाँति के प्रश्न किये, किन्तु वज्रायुध ने आत्म-श्रद्धा के साथ देव को उत्तर दिये। उससे वह न केवल निरुत्तर ही हो गया, बल्कि उसे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। उसने अपना वास्तविक रूप प्रगट कर राजा की पूजा की और अपने आने का उद्देश्य प्रगट कर उनकी बहुत प्रशसा की।

वज्रायुध के पिता क्षेमकर तीर्थकर थे। उन्हे राज्य करते हुए बहुत समय बीत गया। तब वे वज्रायुध का राज्याभिषेक करके दीक्षित हो गये और तपस्या करते हुये उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्र और देव उनके ज्ञान कल्याणक के उत्सव मे आये और उनकी पूजा की। वे चिरकाल तक बिहार करके भव्य जीवो का कल्याण करते रहे।

एक बार वज्रायुध अपनी रानियों के साथ वन-विहार के लिये गये। वहाँ एक तालाब मे वे रानियो के साथ जल-क्रीडा कर रहे थे, तभी किसी दुष्ट विद्याधर ने एक शिला से सरोवर को ढक दिया और वज्रायुध को नागपाश से बाँध लिया। किन्तु वज्रायुध इससे जरा भी विचलित नही हुए। उन्होने हाथ की हथेली मे शिला पर प्रहार किया, जिससे उसके शत शत खण्ड हो गए। वे फिर रानियों के साथ अपने नगर वापिस आ गये।

इसके कुछ काल बाद ही नौ निधियाँ और चौदह रत्न प्रगट हुए। उन्होने दिग्विजय के लिये अभियान किया और कुछ ही समय मे षट् खण्ड पृथ्वी को जीतकर वे चक्रवर्ती बन गए। वे चिरकाल तक भोग भोगते रहे। एक दिन उनके पौत्र मुनिराज कनकशान्ति को केवलज्ञान हो गया। उन्होने तभी अपने पुत्र सहस्रायुध का राज्याभिषेक करके क्षेमकर भगवान के पास जाकर दीक्षा लेली। दीक्षा लेकर वे सिद्धिगिरि पर्वत पर एक वर्ष का प्रतिमायोग का नियम लेकर ध्यानलीन हो गये। धीरे-धीरे उनके चरणो के सहारे दीमको ने वमीठे बना लिये और उनमे लताएँ उग आई जो मुनिराज के शरीर पर चढ गई। दो असुरो ने उनके ऊपर उपद्रव करने का प्रयत्न किया किन्तु रम्भा और तिलोत्तमा नामक दो देवियो ने उन्हे भगा दिया। फिर उन्होंने मुनिराज की पूजा की।

कुछ समय पश्चात् सहस्रायुध ने भी दीक्षा लेली और प्रतिमायोग का काल पूर्ण होने पर वे भी मुनिराज वज्रायुध के पास आ गये। दोनो ने वैभार पर्वत पर जाकर तपस्या की और सन्यासमरण कर वे दोनो ऊर्ध्व ग्रैवेयक के सौमनस विमान मे अहमिन्द्र हुए।

पूर्व विदेह क्षेत्र मे पुष्कलावती देश था। उसमे पुण्डरीकिणी नगरी थी। उस नगरी के शासक धनरथ थे। वज्रायुध का जीव ग्रैवेयक मे आयु पूर्ण होने पर महाराज धनरथ की बड़ी रानी मनोहरा से मेघरथ नामक पुत्र पैदा हुआ और सहस्रायुध का जीव महाराज की दूसरी रानी मनोहरा से दृढरथ नामक पुत्र हुआ। दोनो पुत्रों की ज्यो ज्यो आयु बढती गई, त्यो त्यो उनके गुणो मे भी वृद्धि होती गई। जब वे पूर्ण युवा हो गये, तब पिता ने दोनो के विवाह कर दिये। मेघरथ को जन्म से ही अवधिज्ञान था और पिता तीर्थकर थे। एक दिन महाराज धनरथ को ससार के सुखो से विरक्ति हो गई। तभी लौकान्तिक देवो ने आकर स्वर्गीय पुष्पो से उनकी पूजा की और उनके विचारो की सराहना करके देव-लोक को चले गये। तब महाराज धनरथ ने मेघरथ का राज्याभिषेक करके स्वय सयम धारण कर लिया। तपस्या करते हुए उन्हे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवो ने आकर बडे वैभव के साथ उनकी पूजा की। भगवान धनरथ विभिन्न देशो मे विहार करते हुए उपदेश देने लगे।

एक दिन मेघरथ अपनी रानियो के साथ देवरमण उद्यान मे बिहार के लिये गये। वे वहाँ चन्द्रकात मणि की शिला पर बैठे विश्राम कर रहे थे। तभी उनके ऊपर से एक विद्याधर विमान मे जा रहा था। किन्तु विमान रुक गया। इससे विद्याधर बडा कुपित हुआ। वह नीचे उतर कर आया। वह क्रोध के मारे उस शिलातल को उठाने के लिये प्रयत्न करने लगा। मेघरथ ने यह देखकर अपने पैर के अगूठे से उस शिला को दबा दिया। इससे विद्याधर बुरी तरह उसके नीचे दब गया और करुण स्वर मे चिल्लाने लगा। तब उसकी स्त्री आकर दीनतापूर्वक पति के प्राणो की भिक्षा मागने लगी। मेघरथ उसकी विनय से द्रवित हो गये और अपना पैर उठा लिया। तब उस विद्याधर राजा सिंहरथ ने मेघरथ की पूजा की।

एक दिन महाराज मेघरथ उपवास का नियम लेकर आष्टान्हिक पूजा के पश्चात् उपदेश दे रहे थे। तभी

एक भयाक्रान्त कबूतर उडता हुआ आया और उनकी गोद में बैठ गया। उसके पीछे एक गीध आया और खडा होकर बोला—महाराज मै क्षुधा से पीडित हूँ। यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। यह मुझे दे दीजिये, अन्यथा मेरी मृत्यु निश्चित है।

मेघरथ ने जान लिया कि गीध नहीं बोल रहा है, बल्कि यह ज्योतिष्क देव बोल रहा है। गीध को बोलता देखकर दृढरथ को बडा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'आर्य! यह गीध इस प्रकार कैसे बोल रहा है?' तब मेघरथ कहने लगे—वस्तुत कबूतर और गीध तो पक्षी ही है किन्तु गीध के ऊपर एक देव स्थित है। वह बोल रहा है। यह एक ज्योतिष्क देव है। वह एक दिन ऐशान स्वर्ग मे गया था। वहाँ सभासद देव कह रहे थे कि इस समय पृथ्वी पर मेघरथ से बढकर दूसरा दाता नही है। मेरी प्रशसा सुनकर इस देव को सहन नही हुई, अत वह मेरी परीक्षा करने आया है। किन्तु जो मोक्ष मार्ग मे स्थित है, वही पात्र है, वही दाता है। माँस देने योग्य पदार्थ नही है और माँस की इच्छा करने वाला पात्र नही है और इसका देने वाला दाता नही है। इसलिये यह गीध दान का पात्र नही है और यह कबूतर शरणागत है, इसलिये यह देने योग्य नहीं है।

मेघरथ की यह धर्मयुक्त बात सुनकर वह ज्योतिष्क देव प्रसन्न हुआ और प्रगट होकर मेघरथ की प्रशसा करके अपने स्थान को चला गया।

एक दिन मेघरथ अष्टान्हिका पर्व मे पूजा करके उपवास धारण कर रात्रि मे प्रतिमायोग मे ध्यानारूढ थे। तभी ऐशान स्वर्ग मे इन्द्र ने प्रशसा की—राजा मेघरथ सम्यग्दृष्टियो मे अग्रगण्य है। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, धर्मवीर है। इन्द्र द्वारा मेघरथ की इस प्रकार प्रशसा सुनकर अतिरूपा और सुरूपा नाम की दो देवियाँ उनकी परीक्षा के लिये आई। उन्होने नाना प्रकार के नृत्य, हावभाव, विलास आदि द्वारा मेघरथ को विचलित करना चाहा, किन्तु असफल रही और उनकी स्तुति कर चली गई।

किसी दिन भगवान धनरथ नगर के बाहर मनोहर उद्यान मे पधारे। मेघरथ उनके दर्शनो के लिये गये। भगवान का उपदेश सुनकर उन्होने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग करने का सकल्प किया और अपने छोटे भाई दृढरथ से बोले—मै दीक्षा लेना चाहता हूं, तुम राज्य सभालो। दृढरथ बोला—आप जिस कारण से राज्य का परित्याग करना चाहते है, मैं उसी कारण से इसे ग्रहण नही करना चाहता। राज्य को ग्रहण कर एक दिन छोडना ही पडेगा तब उसे पहले ही ग्रहण करना अच्छा नही है। तब मेघरथ ने अपने पुत्र मेघसेन का राज्याभिषेक करके अपने छोटे भाई और सात हजार राजाओ के साथ भगवान धनरथ के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

वे क्रम से ग्यारह अग के वेत्ता हो गये और उन्होने सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे उन्हे सातिशय पुण्य वाली तीर्थकर प्रकृति का बन्ध हो गया। वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारो आराधनाओ की निरन्तर विशुद्धि बढाते जा रहे थे। अन्त मे नभस्तिलक नामक पर्वत पर अपने छोटे भाई दृढरथ के साथ एक माह तक प्रायोपगमन नामक समाधि धारण कर ली। अन्त मे शान्त भावो से शरीर छोड़कर अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र हुए। दृढरथ भी अहमिन्द्र बने।

भगवान शान्तिनाथ

हस्तिनापुर नगरी मे काश्यप गोत्री महाराज विश्वसेन राज्य करते थे। गान्धार नरेश राजा अजितजय की पुत्री एरा उनकी महारानी थी। उनकी सेवा इन्द्र द्वारा भेजी हुई श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ करती थी।

गर्भ कल्याणक

भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र मे रात्रि के चतुर्थ भाग में उन्होंने शुभ सोलह स्वप्न देखे। स्वप्नो के बाद उन्होने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय मेघरथ का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ। प्रात.काल को भेरी

का शब्द सुनकर महारानी शय्या त्याग कर उठी। उन्होने मगल स्नान करके वस्त्रालकार धारण किये और राजसभा में पहुँची। महाराज ने उनकी अभ्यर्थना की और अपने वाम पार्श्व मे सिहासन पर उन्हे स्थान दिया। महारानी ने रात को देखे हुए स्वप्नो का वर्णन करके महाराज से उन स्वप्नो का फल पूछा। अवधिज्ञान के धारक महाराज ने हर्षपूर्वक स्वप्नो का फल बताया और कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ मे विश्वोद्धारक तीर्थंकर देव का आगमन हुआ है। सुनकर महारानी को बडा हर्ष हुआ। उसी समय चारो निकाय के देव और इन्द्र वहाँ आये और गर्भावतार कल्याणक की पूजा की।

पन्द्रह माह तक देवो ने रत्नवृष्टि की। रानी के गर्भ मे बालक बड़े अभ्युदय के साथ बढने लगा। नौ माह पूरे होने पर ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन याम्य योग मे प्रात काल के समय माता ने लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया।

जन्म कल्याणक

पुत्र इतना सुन्दर था, मानो साक्षात् कामदेव ही अवतरित हुआ हो। उसका ऐसा मोहन रूप था कि जो देखता, वह उसकी मोहनी मे बधा रह जाता। वह जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान का धारी था। उस पुत्र की पुण्य वर्गणाओ के कारण उसके उत्पन्न होते ही चारो प्रकार की देव जाति मे स्वत ही प्रत्येक देव-विमान और आवास मे शखनाद, भेरीनाद, सिहनाद और घण्टानाद होने लगा। उस ध्वनि को सुनते ही प्रत्येक इन्द्र और देव ने जान लिया कि तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ है। सबके हृदय भक्ति और उल्लास से उमगने लगे। सब देव और इन्द्र विविध वाहनो पर आरुढ होकर बडे आनन्द उत्सव के साथ हस्तिनापुर मे आये और इन्द्राणी ने माता की बगल मे मायामय शिशु बनाकर सुला दिया तथा भगवान को अपने अक मे उठा लिया। इन्द्राणी और देवियो के सन्तान नही होती, अत वे नही जानती कि पुत्र-वात्सल्य क्या होता है। किन्तु त्रिलोकीनाथ को गोद मे लेते ही इन्द्राणी के मन प्राण जिस अलौकिक पुलक मे भर उठे, उससे उसके मन का अणु-अणु प्रभु-भक्ति मे डूब गया। वह उस दिव्य बालक को लेकर सम्पूर्ण बाह्य को भूल गई, वह यह भी भूल गई कि वह इन्द्राणी है। वह तो प्रभु की भक्ति मे इतनी विभोर हो गई कि अपने आपको प्रभु रूप ही देखने लगी। उस समय की उसकी मनोदशा का अकन क्या किसी लेखनी या तूलिका से हो सकता है?

जब उसे प्रतीक्षारत देवो का ध्यान आया, तब उसे चेत आया। वह बाल प्रभु को लेकर चली, किन्तु दृष्टि प्रभु की सौन्दर्य-वल्लरी का ही रस-पान कर रही थी। वह चल रही है, क्या इसका उसे कुछ पता था! जब सौधर्मेन्द्र ने उसके अक से बालक को ले लिया, तब उसे लगा जैसे वह रीती हो गई है। किन्तु जो रसाच्छन्नता उसके मन को विमोहित किये हुए थी, वही विमोहित दशा बालक को अक मे लेते ही इन्द्र की भी हो गई। रूप ही मानो आकार धारण करके बाल रूप मे आ गया था। किन्तु इन्द्र बिजडित नही हुआ। वह तो सहस्र नेत्र बनाकर उस रूप-सुधा को अपने सारे जड चेतन प्राणो से पीने लगा। भक्ति का भी एक नशा होता है। जब यह नशा आता है तो वह सब कुछ भूल जाता है। तब केवल वह रहता है और उसका प्रभु रहता है। भक्त अपनी भक्ति से दोनों के अन्तर को मिटा डालता है। वहाँ द्वैध भाव समाप्त हो जाता है, अभेद भावना भर जाती है। इन्द्र भी तब ऐसी ही स्टेज पर पहुंच गया। मन मे हुमक समाये न समायी, वह निकलने को मार्ग ढूंढने लगी। राह मिली पदो मे। मन नाच रहा था, पैर नाचने लगे। जगत्प्रभु अक मे और इन्द्र लोकातीत लोक मे, जहाँ इन्द्र नही, प्रभु नही, देव नही, लोक भी नही, जहाँ भावना भी अतीत हो गई, जहाँ केवल शून्य है और शून्य मे अधिष्ठित है केवल शुद्ध आत्मा, सिद्ध रूप आत्मा।

इन्द्राणी और इन्द्र भाव लोक की इस कुंवारी धारा मे कितने समय बहते रहे, यह समय की पकड से परे थी। लेकिन इस धारा मे उनके कितनी कर्म-वर्गणाये वह गई, उसका अन्त नही, उसकी सख्या भी नही।

तब सब देव चले। इन्द्र ने भगवान को ऐरावत हाथी पर अपने अक मे ले रखा था। इन्द्र सोच रहा था—क्या भगवान का स्थान यह है। नही, उनका स्थान यह नही, यह लोक भी नहीं, उनका स्थान तो इस लोक के अग्र भाग पर है। वही तो बनाना है अपना स्थान इन भगवान को। और मुझे ही क्या इन भगवानो का भार सदा लादे फिरना है। मुझे भी तो यह निस्सार वैभव, इन्द्र का तुच्छ पद और स्वर्ग का कोलाहल त्याग कर मानव बनकर लोक शिखर पर पहुँचना है। वही तो है मेरा वास्तविक स्थान!

देवो का जलूस सुमेरु पर्वत पर जाकर रुका। कितने देव-देवियाँ थे इस शोभा यात्रा मे, क्या उगलियों की सख्या में वे बाधे जा सकते थे। किन्तु सभी प्रभु की भक्ति मे डूबे हुए थे। सब अपनी भक्ति अपने ही ढग से प्रगट कर रहे थे। वह भक्ति सब बन्धनों से, लौकिक शिष्टाचारो से अतीत थी। लेकिन उसमे एक व्यवस्था थी, अनुशासन था और कलात्मकता थी। प्रभु को पाण्डुक पर्वत की रत्नशिला पर विराजमान किया और देव यन्त्रचालित से सुमेरु से क्षीरसागर तक पक्तिबद्ध खडे हो गये। जलपूरित स्वर्ण कलश एक हाथ से दूसरे हाथो में पहुँचते गये और इन्द्र भगवान का अभिषेक करने लगे। यो प्रभु का एक हजार कलशो से अभिषेक हुआ। इन्द्राणी ने न्हवन के अनन्तर रत्नकवल से भगवान का शरीर पोछा, इन्द्र के भण्डार से लाये हुए वस्त्राभूषणो से उनका शृगार किया। तब प्रभु की उस काल की मोहक छवि से इन्द्र फिर एक बार भूल गया अपनी सुध-बुध को। उसके पैर स्वत. ही थिरकने लगे, गन्धर्वो ने वाद्य सभाले, देवियो ने इन्द्र के नृत्य की सगत साधी। भक्ति के इस पूर मे सब कुछ भूल गये। सबके मन शान्ति, दिव्य शान्ति मे भर गये। शान्ति का यह चमत्कारपूर्ण अनुभव था। सौधर्मेन्द्र ने नारा दिया—भगवान शान्तिनाथ की जय। सबने इस नारे को दुहराया। यही था बालक का नामकरण सस्कार। यही नाम फिर लोक-लोकान्तरो मे विख्यात हो गया। बालक था त्रिलोकीनाथ, नामकरण करने वाला था स्वर्ग का इन्द्र और साक्षी था सम्पूर्ण देव समाज। नाम रक्खा गया था बालक के गुण के अनुसार।

देव समाज जिस उल्लास से बालक को ले गया था, उसी उल्लास से वापिस लौटा। आकर माता को इन्द्राणी ने उनकी अमूल्य धरोहर सौपी। इन्द्र ने पिता को सारे समाचार सुनाय। सुनकर माता-पिता बडे हर्षित हुए। कैसी बिडम्बना है दुनिया वालो की। जो स्वय तीनो लोक का शृगार है, उसका शृगार रत्नाभूषणो से करते है और जो स्वय लोक का रक्षक है, उसकी रक्षा के लिये इन्द्र ने लोकपालो की नियुक्ति की। किन्तु सच बात तो यह है कि भगवान को न शृगार की आवश्यकता है और न किसी रक्षक को। वह तो इन्द्राणी और इन्द्र की भक्ति थी।

चक्रवर्ती पद—भगवान शान्तिनाथ के शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके शरीर मे ध्वजा, तोरण, सूर्य, चन्द्र, शख और चक्र आदि शुभ चिह्न थे।

महाराज विश्वसेन की दूसरी रानी यशस्वती के गर्भ से दृढरथ का जीव अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र पद का भोग करके उत्पन्न हुआ और उसका नाम चक्रायुध रक्खा गया।

बालक शान्तिनाथ ज्यो-ज्यो आयु मे बढते जाते थे, त्यो-त्यो उनकी लक्ष्मी, सरस्वती और कीर्ति भी बढती जाती थी। जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने सुन्दर, सुशील और गुणवती अनेक कन्याओ के साथ उनका विवाह कर दिया और पिता ने अपना राज्य सौप दिया। राज्य करते हुए जब शान्तिनाथ को कुछ समय हो गया, तब चक्र आदि चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हुई। उन चौदह रत्नो मे से चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये चार आयुधशाला मे उत्पन्न हुए थे। काकिणी, चर्म और चूडामणि श्रीगृह मे प्रगट हुए थे। पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर मे मिले थे तथा कन्या, गज और अश्व बिजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ इन्द्रो ने नदी और सागर समागम पर लाकर दी थीं। चक्र के बल पर और सेनापति के द्वारा उन्होने भरत क्षेत्र के छहो खडो पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण भरत मे चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की। चक्रवर्ती पद की समस्त विभूति उन्हे प्राप्त थी। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उन्हे नमन करते थे। उनके अन्त पुर मे छियानवे हजार रानियाँ थी। उन्हे दस प्रकार के भोग प्राप्त थे।

चक्रवर्ती पद का भोग करते हुए उन्हे बहुत काल बीत गया। एक दिन वे अलकार गृह मे अलकार धारण कर रहे थे, तभी उन्हे दर्पण मे अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़े। वे विचार करने लगे—यह क्या है। तभी उन्हे अपने पूर्वजन्म की बाते स्मरण हो आई। ससार का अस्थिर रूप देखकर उनके मन मे आत्म-

दीक्षा कल्याणक

कल्याण की भावना जागृत हुई। तभी लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान को नमस्कार किया और उनके वैराग्य की सराहना करते हुए उनसे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन करने की प्रार्थना की। भगवान ने नारायण नामक अपने पुत्र को राज्य-पट्ट बाध कर राज्य उसे सौंप दिया। इन्द्र ने आकर उनका दीक्षा

भिषेक किया। फिर वे देवनिर्मित सर्वार्थसिद्धि पालकी मे बैठकर नगर के बाहर सहस्राम्र वन में पहुँचे। वहाँ शिलातल पर उत्तर की ओर मुख करके पर्यंकासन से बैठ गये। उसी समय ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन शाम के समय भरणी नक्षत्र मे बेला का नियम लेकर सिद्ध भगवान को नमस्कार कर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग किया, पंचमुष्टि लोच किया और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण कर सामायिक चारित्र की विशुद्धता और मन पर्यय ज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र ने उनके केशो को एक रत्नमजूषा मे रख कर क्षीरसागर मे प्रवाहित कर दिया। उनके साथ चक्रायुध आदि एक हजार राजाओ ने भी सकल सयम धारण कर लिया। इन्द्र और देव ऐसे सयम की भावना करते हुए दीक्षा महोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

पारणा के लिये भगवान मन्दिरपुर नगर मे पहुँचे। वहाँ सुमित्र राजा ने भगवान को प्रासुक आहार दिया। देवो ने इस उपलक्ष्य मे पचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष तक भगवान विभिन्न स्थानो पर रहकर घोर तप करते रहे और निरन्तर कर्मो का क्षय करते गये। फिर भगवान चक्रायुध आदि मुनियो के साथ सहस्राम्र वन मे पधारे और नन्द्यावर्त वृक्ष के नीचे बेला के उपवास का नियम लेकर ध्यानमग्न हो गये। उनका मुख पूर्व की ओर था। भगवान को पौष शुक्ला दशमी को भरणी नक्षत्र मे सायकाल के समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म नष्ट होने पर केवलज्ञान प्रगट हुआ। देव और इन्द्रो ने आकर भगवान का ज्ञान कल्याणक मनाया और समवसरण की रचना की। भगवान ने उसी दिन दिव्य ध्वनि द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का सघ—भगवान के सघ मे चक्रायुध आदि छत्तीस गणधर थे। ८०० पूर्वधर, ४१८०० शिक्षक, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० केवलज्ञानी, ६००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ४००० मन पर्ययज्ञानी, २४०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियो की सख्या ६२००० थी। हरिषेणा आदि ६०३०० आर्यिका थी। सुरकीर्ति आदि २००००० श्रावक और अर्हद्दासी आदि ४००००० श्राविकायें थी।

निर्वाण कल्याणक—भगवान बहुत समय तक विभिन्न देशो मे विहार करके धर्म का प्रकाश ससार को देते रहे। जब एक माह की आयु शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिखर पर आये और बिहार बन्द कर वहाँ योगनिरोध करके विराजमान हो गये। उन्होने अवशिष्ट वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मो का भी क्षय कर दिया और ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के पूर्व भाग मे भरणी नक्षत्र मे नौ हजार राजाओ के साथ निर्वाण प्राप्त किया। चार प्रकार के देव आये और निर्वाण कल्याणक की पूजा करके अपने-अपने स्थान को चले गये।

जन्म-चिन्ह—भगवान का चिन्ह हरिण था।

यक्ष-यक्षिणी—इनका गरुड यक्ष और महामानसी यक्षिणी थी।

हस्तिनापुर—भगवान की जन्म-नगरी हस्तिनापुर विख्यात जैन तीर्थ है। यही पर सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ, सत्रहवे कुन्थुनाथ और अठारहवे भगवान अरनाथ का जन्म हुआ था। यही इन तीर्थंकरो के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए। ये तीनों तीर्थंकर पाचवे, छटवे, सातव चक्रवर्ती भी थे।

अयोध्या की तरह हस्तिनापुर की भी रचना देवो ने की थी। यहाँ ऋषभदेव, मल्लिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि कई तीर्थंकरो का पदार्पण हुआ था। यही पर भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा के बाद राजकुमार श्रेयांस से प्रथम आहार लिया था। जिस दिन भगवान ने आहार लिया था, वह पावन तिथि वैशाख शुक्ला तृतीया थी। भगवान के आहार के कारण यह तिथि भी पवित्र हो गई और अक्षय तृतीया कहलाने लगी। राजकुमार श्रेयान्स का नाम दान-तीर्थ के प्रवर्तक के रूप मे प्रसिद्ध हो गया और ससार मे दान देने की प्रथा का प्रारम्भ भी इसी घटना के कारण हुआ।

सती सुलोचना श्रेयान्स के बडे भाई राजा सोमप्रभ के पुत्र मेघेश्वर जयकुमार की पत्नी थी, जिनके शील की चमत्कारपूर्ण घटनाये प्रसिद्ध हैं। सोमप्रभ से सोमवश या चन्द्रवश चला। जयकुमार प्रथम चक्रवर्ती भरत का प्रधान सेनापति था।

चौथा चक्रवर्ती सनत्कुमार यही हुआ था। इस प्रकार लगातार चार चक्रवर्ती और तीन तीर्थंकर यहाँ हुए।

यही पर बलि आदि मन्त्रियो ने सात दिन का राज्य पाकर अकपनाचार्य के सघ के सात सौ मुनियो की बलि देकर यज्ञ-विधान का ढोग रचा था। तब मुनि विष्णुकुमार ने वामन ब्राह्मण का रूप धरकर बलि से तीन पग धरती की याचना की थी। बलि द्वारा सकल्प करने पर मुनिराज ने विक्रियाऋद्धि से अपना शरीर बढाकर एक पग सुमेरु पर्वत पर रक्खा। दूसरा पग मानुषोत्तर पर्वत पर रक्खा। अब तीसरे पग लायक भूमि की माग उन्होने की। सारे लोक मे आतक छा गया। बलि आदि चारो मत्री भय के मारे कापने लगे। वे मुनि विष्णुकुमार के चरणो मे गिरकर क्षमा मागने लगे। तत्काल मुनियो के चारो ओर लगाई हुई आग बुझाई गई। सब लोगो ने मुनियो की पूजा की और साधर्मीवात्सल्य के नाते परस्पर मे रक्षा सूत्र बाधा। तबसे इस घटना की स्मृति मे रक्षा-बन्धन का महान पर्व प्रचलित हो गया जो श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को उल्लासपूर्वक मनाया जाता है।

यही पर पाण्डव और कौरव हुए थे और राज्य के लिए दोनो पक्षो मे महाभारत नामक प्रसिद्ध महायुद्ध हुआ था।

एक बार दमदत्त नामक मुनि उद्यान मे विराजमान थे। कौरव उधर से निकले। मुनि को देखते ही वे उन पर पत्थर बरसाने लगे। थोडी देर बाद पाण्डव आये। उन्होने मुनिराज की चरण-वन्दना की और पत्थर हटाये। मुनि तो ध्यानलीन थे। उन्हे उसी समय केवलज्ञान हो गया।

कवि बनारसीदास के 'अर्धकथानक' से ज्ञात होता है कि सन् १६०० मे कविवर ने यहाँ की सकुटुम्ब यात्रा की थी। अर्धकथानक' से यह भी ज्ञात होता है कि उस काल मे भी यहाँ जैन यात्री यात्रा के लिए बराबर आते रहते थे।

वर्तमान मन्दिर का भी बडा रोचक इतिहास है। यहां पर सवत् १८५८ मे ज्येष्ठ वदी तेरस को मेला था। इसमे दिल्ली से राजा हरसुखराय, शाहपुर से लाला जयकुमारमल आदि समाजमान्य सज्जन आये थे। सभी लोग चाहते थे कि यहा जैन मन्दिर बनना चाहिये। प्राचीन मन्दिर टूट-फूट गये थे। नसियो की हालत खस्ता थी। लोगो ने राजा हरसुखराय से मन्दिर-निर्माण की प्रार्थना की। राजा साहब मुगल बादशाह शाह आलम के खजाची थे और उनका बडा प्रभाव था। राजा साहब ने मन्दिर बनाने की स्वीकृति दे दी। लेकिन मन्दिर बनने मे कठिनाई यह थी कि शाहपुर के गूजर जैन मन्दिर बनाने का विरोध करते थे। यह इलाका वहसूमे के गूजर नरेश नैनसिह के अधिकार मे था। राजा नैनसिह के मित्र लाला जयकुमारमल भी वहाँ मौजूद थे। राजा साहब ने उनसे प्रेरणा की कि आप नैनसिह जी से कह कर काम करा दीजिये। लाला जी ने अवसर देखकर नैनसिह से मन्दिर की चर्चा छेड दी। उसमें राजा साहब का भी जिक्र आया। नैनसिह जी राजा साहब से कई मामलो मे आभार से दबे हुए थे। अत उन्होने मजूरी दे दी और मन्दिर का शिलान्यास करने की भी स्वीकृति दे दी।

दूसरे ही दिन सैकडो लोगो की उपस्थिति मे राजा नैनसिह ने मन्दिर की नीव मे पाच ईटे अपने हाथ से रक्खी। राजा हरसुखराय के धन से लाला जयकुमारमल की देख-रेख मे मन्दिर का निर्माण हुआ। जब मन्दिर का कार्य कुछ बाकी रह गया, तब राजा साहब ने जनता की उपस्थिति मे समाज के पचो से हाथ जोडकर निवेदन किया—सरदारो! जितनी मेरी शक्ति थी, उतना मैने कर दिया। मन्दिर आप सबका है। इसलिये इसमे सबको मदद करनी चाहिये।' वहाँ एक घडा रख दिया गया। सबने उसमे अपनी शक्ति के अनुसार दान डाला। लेकिन जो धन उससे सग्रह हुआ, वह बहुत कम था। राजा साहब का उद्देश्य इतना ही था कि मन्दिर पचायती रहे और वे अहकार मे ग्रस्त न हो जायें।

सवत् १८६३ मे राजा साहब ने कलशारोहण और वेदी प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न कराया। सवत् १८६७ मे लाला जयकुमारमल ने मन्दिर का विशाल द्वार बनवाया। मन्दिर के चारो ओर पाच विशाल धर्मशालाये है।

सन् १८५७ मे गदर के समय गूजरो ने इस मन्दिर को लूट लिया। वे लोग मूलनायक पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी उठा ले गये। बाद में फिर एक बार मन्दिर को लूटा। नया मन्दिर दिल्ली से भगवान शान्तिनाथ की

प्रतिमा ले जाकर मूल नायक के रूप में विराजमान कर दी गई। उसके कारण यह शान्तिनाथ का मन्दिर कहा जाने लगा।

इस मन्दिर के पीछे एक मन्दिर और है। मन्दिर से तीन मील की दूरी पर नशियां बनी हुई हैं। तांगे मिलते है। रास्ता कच्चा है। सबसे पहले भगवान शान्तिनाथ की नशियाँ है। उसमें भगवान के चरण-चिन्ह हैं। फिर कुछ दूर जाने पर एक कम्पाउण्ड मे अरनाथ और कुन्थुनाथ की नशियां हैं। इन दोनो में भी चरण-चिन्ह बने हुए है। इनसे आगे एक कम्पाउण्ड मे भगवान मल्लिनाथ की टोक है।

———

अष्टादश परिच्छेद

भगवान कुन्थुनाथ

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र मे सीता नदी के दक्षिणी तट पर वत्स नामक देश था। उसकी सुसीमा नगरी मे राजा सिहरथ राज्य करता था। उसने अपने पराक्रम से समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी और निष्कण्टक राज्य कर रहा था। एक दिन उसने उल्कापात होते हुए देखा। उसे देखकर उसके मन मे ससार के भोगो की क्षणभंगुरता की ओर दृष्टि गई और उसने भोगो को निस्सार समझकर उन्हे छोडने का सकल्प कर लिया। वह राजपाट, परिवार का त्यागकर मुनि यतिवृषभ के समीप गया और उन्हे नमस्कार कर सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया। उनके साथ अनेक राजाओ ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। मुनि सिहरथ गुरु के समीप रहकर घोर तपस्या करने लगे। उन्होंने ग्यारह अगो का ज्ञान प्राप्त किया और सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करने लगे। फलत उन्हे तीर्थङ्कर नामकर्म की पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त मे समाधिमरण कर सर्वार्थ सिद्धि अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र हुए।

पूर्व भव

हस्तिनापुर नगर के कौरववशी काश्यपगोत्री श्री महाराज सूरसेन थे। उनकी महारानी का नाम श्रीकाता था। महारानी ने श्रावण कृष्णा दसमी के दिन कृतिका नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे जब सर्वार्थसिद्धि के उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, सोलह शुभ स्वप्न देखे और बाद में मुख मे प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। तभी अहमिन्द्र का वह जीव महारानी के गर्भ मे अवतीर्ण हुआ। प्रात काल बन्दीजनो के मगलगान से महारानी की नीद खुली। स्वप्नो के प्रभाव से महारानी के मन मे बडा उल्लास था। उन्होंने नित्य कार्य कर स्नान किया, मागलिक वस्त्राभूषण पहने और दासियो से परिवेष्टित होकर राजसभा मे पधारी। उन्होने महाराज की यथायोग्य विनय की। महाराज ने उन्हे बडे आदरसहित वाम पार्श्व मे स्थान दिया। महारानी ने महाराज से अपने स्वप्नो की चर्चा करके उनके फल पूछे। महाराज ने अवधिज्ञान से जानकर उनका फल बताया। फल सुनकर महारानी का मन हर्ष से भर गया। तभी देवो ने आकर महाराज सूरसेन और महारानी श्रीकाता का गर्भ कल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया और पूजा की।

गर्भ कल्याणक

नौ मास व्यतीत होने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन आग्नेय योग में महारानी ने पुत्र प्रसव किया। उस समय इन्द्र और देव आये और बालक को लेकर सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहा क्षीरसागर के जल से उस दिव्य बालक का अभिषेक किया, उसका दिव्य वस्त्रालंकारो से शृगार किया। इन्द्र ने बालक का नाम कुन्थुनाथ रक्खा। उसके चरण मे बकरे का चिन्ह था, जिस पर इन्द्र की सर्वप्रथम दृष्टि पडी। इसलिये उस बालक का साकेतिक चिन्ह बकरा माना गया। फिर इन्द्र और देव बालक को वापिस लाये और उसे माता-पिता को सौंपकर आनन्दोत्सव किया। पिता ने भी नगरी मे धूमधाम के साथ बालक का जन्मोत्सव मनाया। देव लोग उत्सव मनाकर अपने अपने स्थान पर चले गये।

जन्म कल्याणक

शान्तिनाथ तीर्थङ्कर के मोक्ष जाने के बाद जब आधा पल्य बीत गया, तब कुन्थुनाथ भगवान का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी काल मे सम्मिलित थी। उनकी आयु पचानवे हजार वर्ष थी। उनका शरीर पैंतीस धनुष उन्नत था। सुवर्ण के समान उनके शरीर की काति थी। जब तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमारकाल के व्यतीत हो गए, तब पिता ने उनका राज्याभिषेक और योग्य कन्याओं

दीक्षा कल्याणक

के साथ उनका विवाह कर दिया। राज्य करते हुए इतना ही काल व्यतीत हो गया, तब उनकी आयुधशाला में चक्र आदि शस्त्र तथा चक्रवर्ती पद के योग्य अन्य रत्न और सामग्री प्राप्त हुई। उन्होंने विशाल सेना लेकर भरत क्षेत्र के छह खण्डो पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। सारे भरत क्षेत्र के बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके आज्ञानुवर्ती थे। उन्हे समस्त सासारिक भोग उपलब्ध थे। भोग भोगते हुए और साम्राज्य लक्ष्मी का भोग करते हुए उन्हे तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष बीत गये। वे तीर्थंकर थे, चक्रवर्ती थे और कामदेव थे। उनका रूप, वैभव, और पुण्य असाधारण था। कोई ऐसा सासारिक सुख नही था, जो उन्हे अप्राप्त था।

एक दिन वे वन विहार के लिये गये। मत्री उनके साथ थे। उन्होने देखा—एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि आतापन योग से स्थित है। उन्होंने उनकी ओर सकेत करके मत्री से उनकी प्रशसा की—'देखो मत्रीवर! ये मुनि कितना घोर तप कर रहे है।' मत्री ने नतमस्तक होकर मुनिराज की वन्दना की और प्रभु से पूछा—'देव! इतना कठिन तप करके इनको क्या फल मिलेगा?' प्रभु बोले—'ये मुनि कर्मो को नष्ट करके इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेगे। जो परिग्रह और आरम्भ का त्याग करते है, वे ही ससार के परिभ्रमण से मुक्ति प्राप्त करते है। ससार-भ्रमण का कारण यह आरम्भ-परिग्रह ही है।'

वस्तुतः भगवान ने मत्री को जो कुछ कहा था, वह उपदेश मात्र नही था, अपितु भगवान के सतत चिन्तन की उस दिशा का सकेत था, जो सासारिक भोग भोगते हुए भी वे सासारिक भोगो की व्यर्थता, ससार के स्वरूप और आत्मा के त्रिकाली स्वभाव के सम्बन्ध मे निरन्तर किया करते थे। वास्तव मे वे भोगो मे कभी लिप्त नही हुए। वे भोगो का नही, भोग्य कर्मो का भोग कर रहे थे और चिन्तन द्वारा भोग-काल को अल्प कर रहे थे। एक दिन इस चिन्तन के क्रम मे उन्हे अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। इससे उन्हे आत्मज्ञान हो गया। चिन्तन के फलस्वरूप उन्हे भोगो से अरुचि हो गई और उन्होने दीक्षा लेने का निश्चय किया। लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की वन्दना की और निवेदन किया—'धन्य है प्रभु आपके निश्चय को। अब आप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये। ससार के दुखी प्राणी आपकी ओर आशा भरी निगाहो से निहार रहे है।

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य का भार सोप दिया। देवताओ ने शिविका लाकर उपस्थित की और प्रभु उस विजया पालकी में बैठकर नगर के बाहर सहेतुक वन मे पहुँचे और वहाँ अपने जन्म-दिन—वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृत्तिका नक्षत्र मे सायकाल के समय बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओ के साथ उन्होने सम्पूर्ण पापो का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी समय उन्हे मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। देवो ने भगवान का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु हस्तिनापुर नगर मे पधारे। वहाँ राजा धर्ममित्र ने आहार देकर प्रभु का पारणा कराया। देवों ने पचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान

विविध प्रकार के घोर तप करते हुए भगवान ने छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बिताये। फिर विहार करते हुए वे दीक्षा-वन मे पधारे। वहाँ तिलक वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर विराजमान हो गये। वही चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन सायकाल के समय कृत्तिका नक्षत्र में मोह का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तभी हर्ष और भाव-भक्ति से युक्त देव और इन्द्र आये। कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमे गन्धकुटी में अशोक वृक्ष के नीचे सिहासन पर विराजमान होकर भगवान ने धर्म का स्वरूप देवो, मनुष्यो और तिर्यंचो को सुनाकर धर्म-तीर्थ की स्थापना की और तीर्थंकर पद की सार्थकता की।

भगवान का संघ—भगवान ने चतुर्विध सघ की स्थापना की। उस सघ मे स्वयम्भू आदि पेंतीस गणधर थे। ७०० मुनि पूर्व के ज्ञाता थे। ४३१५० शिक्षक, २५०० अवधिज्ञानधारी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ३३०० मनःपर्ययज्ञानी और २०५० सर्वश्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार ६०००० मुनि उनके सघ में थे।

भाविता आदि ६०३५० आर्यिकायें थी। ३००००० श्राविकायें थी और २००००० श्रावक थे। असख्यात देव-देवियाँ और सख्यात तिर्यंच थे।

परिनिर्वाण—भगवान धर्मोपदेश करते हुए अनेक देशो मे धर्म विहार करते रहे। जब उनकी आयु में एक मास शेष रह गया तो भगवान सम्मेदशिखर पधारे। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग मे कृत्तिका नक्षत्र का उदय रहते हुए समस्त कर्मों का नाश कर सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गये।

यक्ष-यक्षिणी—आपका सेवक गन्धर्व यक्ष और जया यक्षिणी थी।

एकोनविंशति परिच्छेद

भगवान अरनाथ

जम्बूद्वीप मे सीतानदी के उत्तर तट पर कच्छ नामक देश था। उसमे क्षेमपुर नगर था, जिसका अधिपति धनपति नामक राजा था। वह प्रजा का रक्षक था, प्रजा उसे हृदय से प्रेम करती थी। उसके राज्य में राजा और प्रजा सब लोग अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार त्रिवर्ग का सेवन करते थे, अत धर्म की परम्परा

पूर्व भव

निर्बाध रूप से चल रही थी। एक दिन राजा भगवान अर्हन्नन्दन तीर्थंकर के दर्शनो के लिए गया और उनका उपदेश सुनकर उसके मन मे आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई। उसने अपना राज्य अपने पुत्र को दे दिया और भगवान के निकट जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। वह भगवान के चरणो मे रहकर तप करने लगा तथा शीघ्र ही ग्यारह अ ग का पारगामी हो गया। वह निरन्तर सोलह कारण भावनाओ का चिन्तन करता था। फलत. उसे तीर्थंकर नामक सातिशय पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त मे प्रायोपगमन मरण करके जयन्त नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

कुरुजागल देश के हस्तिनापुर नगर मे सोमवश के भूषण काश्यप गोत्री महाराज सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी महारानी मित्रसेना थी। जब उस अहमिन्द्र की आयु मे छह माह शेष थे, तभी से महाराज के महलो मे रत्न-वर्षा होने लगी। जब अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, तभी महारानी ने फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन रेवती नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे तीर्थंकर जन्म के सूचक सोलह स्वप्न देखे तथा

गर्भावतरण

स्वप्नो के अन्त मे उसने मुख मे एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा। तभी अहमिन्द्र का जीव स्वर्ग से चयकर महारानी के गर्भ मे आया। प्रात काल होने पर महारानी स्नानादि से निवृत्त होकर शृगार करके महाराज के निकट पहुँची और महाराज के वाम पार्श्व मे आसन ग्रहण करके उन्होंने रात मे देखे हुए अपने स्वप्नो की चर्चा उनसे की तथा उनसे स्वप्नो का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ मे जगत का कल्याण करने वाले तीर्थंकर भगवान अवतरित हुए है। फल सुनकर माता को अपार हर्ष हुआ। तभी देवो ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

नौ माह व्यतीत होने पर महारानी मित्रसेना ने मगसिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र मे एक हजार आठ लक्षणो से सुशोभित और तीन ज्ञान का धारी पुत्र उत्पन्न किया। उनके जन्म से तीनो लोको के जीवो को शान्ति का अनुभव हुआ था। उस असाधारण पुण्य के स्वामी पुत्र के जन्म लेते ही चारो प्रकार

जन्म कल्याणक

के देव और इन्द्र अपनी-अपनी देवियो और इन्द्राणियो के साथ तीर्थंकर बालक का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाने वहाँ आये। वे पुत्र को सुमेरु पर्वत पर ले गये और वहाँ क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण स्वर्ण कलशो से उन्होंने बालक का अभिषेक करके महान उत्सव किया। उत्सव मनाकर वे लोग पुन हस्तिनापुर आये। इद्राणी ने बालक को माता को सोपा। इन्द्र ने माता-पिता से देवो द्वारा मनाये गये उत्सव के समाचार सुनाये। सुनकर माता-पिता अत्यन्त हर्षित हुए। फिर उन्होंने पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया। सौधमेन्द्र ने बालक का नामकरण किया और उसका नाम अरनाथ रक्खा। बालक के एक हजार आठ लक्षणो मे से पैर मे बने हुए मीन चिन्ह पर अभिषेक के समय इन्द्र की दृष्टि सबसे पहले पडी थी। इसलिए अरनाथ का लाक्षणिक चिन्ह 'मीन' ही माना गया। भगवान के शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान था।

भगवान कुन्थुनाथ के मोक्ष जाने के बाद जब एक हजार करोड वर्ष कम पल्य का चतुर्थ भाग बीत गया, तब अरनाथ भगवान का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी काल मे सम्मिलित थी। उनकी आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। तीस धनुष ऊँचा उनका शरीर था। कामदेव के समान उनका रूप था। ऐसा लगता था, मानो सौन्दर्य की समग्र सचित निधि से ही उनके शरीर की रचना हुई हो।

प्रभु धीरे-धीरे यौवन की ओर बढ रहे थे। जब उनकी कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत गये, तब पिता ने उन्हे राज्य सौप दिया। उनका विवाह अनेक सुलक्षणा सुन्दर कन्याओ के साथ कर दिया। वे इक्कीस हजार वर्ष तक मण्डलेश्वर राजा के रूप मे शासन करते रहे। तब उन्हे नौ निधियाँ और चौदह रत्न मिले। उन्होने सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया। उन्हे चक्रवर्ती-पद के योग्य सम्पूर्ण वैभव प्राप्त था। इस प्रकार भोग-भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया अर्थात् जब अट्ठाईस हजार वर्ष की आयु बाकी थी, तब उन्होने एक दिन देखा—शरदऋतु के बादल आकाश में इधर-उधर तैरते डोल रहे है। वे प्रकृति के इस सलौने रूप को निहार रहे थे कि देखते-देखते बादलो का नाम तक न रहा, वे अकस्मात् ही अदृश्य हो गये। इस दृश्य का भगवान के मन पर गहरा प्रभाव पडा और इस दृश्य से उन्हे जीवन की वास्तविकता का अन्तर्बोध हुआ। उन्होने तभी निश्चय कर लिया कि अब इस जीवन का एक भी अमूल्य क्षण भोगो मे व्यय नही करना है, अभी तो आत्म-कल्याण करना है और जीवन क्षण पल बनकर छीजता जा रहा है। तभी लौकान्तिक देवो ने आकर उनके सद्विचारो का समर्थन किया और जगत्कल्याण के लिए तीर्थ-प्रवर्तन का अनुरोध करके वे अपने स्वर्ग को लौट गये। भगवान ने फिर जरा भी विलम्ब नही लगाया। उन्होने अपने पुत्र अरविन्द कुमार को राज्य सौप दिया और देवो द्वारा उठायी हुई वैजयन्ती नामक पालकी मे बैठकर सहेतुक वन मे पहुँचे। वहाँ बेला का नियम लेकर मगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में सन्ध्या के समय एक हजार राजाओ के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा धारण करते ही वे चार ज्ञान के धारी हो गये। देवो ने भगवान का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

दीक्षा कल्याणक

भगवान पारणा के लिए चक्रपुर नगर मे पधारे। वहाँ राजा अपराजित ने भगवान को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य सचय किया। देवो ने पचाश्चर्य किये। आहार लेकर भगवान विहार कर गये और तपस्या करने लगे।

भगवान नाना प्रकार के कठिन तप करते हुए विहार करते हुए दीक्षा वन मे पधारे और एक आम्रवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर पद्मासन मुद्रा में ध्यानारूढ हो गये। वे शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मो का उन्मूलन करने लगे। वे अप्रमत्त दशा मे आठवें, नौवें और दसवे गुणस्थान मे पहुँचकर क्षपक श्रेणी मे आरोहण करके बारहवे गुणस्थान मे पहुँचे। बारहवे गुणस्थान के प्रारम्भिक भाग में उन्होने मोहनीय कर्म का नाश कर दिया और उसके उपान्त्य समय मे उन्होने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश किया। इस प्रकार उन्हे कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र मे सायकाल के समय अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य नामक चार क्षायिक गुण प्रगट हुए। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। तीर्थकर नाम कर्म के उदय से उन्हे अष्ट प्रातिहार्य की प्राप्ति हुई। देवो ने आकर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की और देवो द्वारा निर्मित समवसरण सभा मे देवों, मानवो और तिर्यचो को उन्होने अपना प्रथम उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेक मनुष्यो ने सकल सयम धारण किया, अनेक मनुष्यो और तिर्यचो ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक जीवो को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान का परिकर—भगवान ने चतुर्विध संघ की पुन: स्थापना की। उनके सघ में कुम्भार्य आदि तीस गणधर थे, ६१० ग्यारह अ ग चौदह पूर्व के वेत्ता थे, ३५८३५ सूक्ष्म बुद्धि के धारक शिक्षक थे, २८०० अवधिज्ञानी थे, २८०० केवलज्ञानी थे, ४३०० विक्रिया ऋद्धिधारी थे, २०५५ मन:पर्ययज्ञानी थे, १६०० श्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियो की सख्या ५०००० थी। यक्षिला आदि ६०००० अर्जिकाये थी। १६०००० श्रावक और ३००००० श्राविकाये थी। असख्यात देव और सख्यात तिर्यच उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान बहुत समय तक अनेक देशो में विहार करते हुए धर्मोपदेश द्वारा अनेक जीवों का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब उन्होने सम्मेद शिखर पर जाकर एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और योग निरोध करके चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्व भाग मे अघातिया कर्मों का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्रो ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की और स्तुति की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान अरनाथ का सेवक महेन्द्र यक्ष और सेविका विजया यक्षी थी।

सुभौम चक्रवर्ती

पूर्व भव

भरत क्षेत्र में भूपाल नाम का एक राजा था। एक बार शत्रुओ ने राजा भूपाल के राज्य पर आक्रमण कर दिया। भयानक युद्ध हुआ। युद्ध मे भूपाल हार गया। अपनी पराजय से वह इतना खिन्न हुआ कि उसने ससार से विरक्त होकर सम्भूत नामक मुनिराज के समीप मुनि-दीक्षा ले ली और घोर तप करने लगा। किन्तु उसके मन से पराजय की शल्य निकल नही सकी और उसने कषायवश यह निदान किया कि अगर मेरे तप का कुछ फल हो तो मै आगामी भव मे चक्रवर्ती बनूं। मिथ्यात्ववश उसने ऐसा निन्द्य विचार किया। वह तप करता रहा किन्तु उसका यह तप मिथ्या तप था। आयु के अन्त में वह समाधिमरण करके महाशुक्र स्वर्ग मे ऋद्धिधारी देव बना। वह सोलह सागर तक स्वर्ग के सुखो का सानन्द भोग करता रहा।

परशुराम का जन्म—कोशल देश की अयोध्या नगरी मे इक्ष्वाकुवशी राजा सहस्रबाहु राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम चित्रमती था। चित्रमती कान्यकुब्ज नरेश पारत की पुत्री थी। रानी के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कृतवीर रक्खा गया।

राजा सहस्रबाहु के काका शतबिन्दु की स्त्री का नाम श्रीमती था। श्रीमती राजा पारत की बहन थी। उनके जमदग्नि नामक एक पुत्र था। पुत्र उत्पन्न होने के कुछ समय बाद ही श्रीमती का देहान्त हो गया। जमदग्नि जब बडा हुआ तो उसे माँ का अभाव खटकने लगा। वह बहुत दुखी रहने लगा। इसलिये विरक्त होकर वह तापस बन गया और तप करने लगा। उसके सिर पर जटाओ का गुल्म बन गया और मुख दाढी मूंछ से भर गया।

दो देव, जिनमें एक सम्यग्दृष्टि था और दूसरा मिथ्यादृष्टि, तापस जनो की परीक्षा लेने के लिये चिड़ा-चिडिया का रूप बना कर आये। जमदग्नि ऋषि समाधि मे लीन थे। अवसर देखकर चिडा-चिडिया ने ऋषि की दाढी मे ही बसेरा कर लिया। कुछ समय बाद चिडा बना हुआ सम्यग्दृष्टि देव चिडिया से बोला—'प्रिये! मैं दूसरे वन में जाता हूँ। जब तक मैं वापिस न आऊँ, तब तक तुम यही पर रहना।' चिडिया बोली—मुझे तेरा विश्वास नही है। यदि तुझे जाना है तो सौगन्ध देजा।' चिडा बोला—'अच्छी बात है। लेकिन क्या सौगन्ध दूं।' चिडिया बोली—'तू यह सौगन्ध दे कि यदि मै न आऊँ तो इस तापस की गति को प्राप्त होऊँ।'

ऋषि इस वार्तालाप को सुन कर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होने चिडा-चिडिया को हाथो में पकड लिया और बोले—'घोर तप के फलस्वरूप मुझे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने वाली है, तुमने उस लोक का तिरस्कार क्यों किया?' चिडा बोला—'हम क्षुद्र प्राणी है, आप हम पर क्रोध न करे। किन्तु आपने क्या कभी यह विचार भी किया है कि इतनी घोर तपस्या के पश्चात् भी आपको अच्छी गति मिलने वाली नही है। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' यह ऋषि-वाक्य है अर्थात् पुत्रहीन को सद्गति नही मिलती। आप तो जन्म से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहे हैं। आपके कोई सन्तान तो होगी नही, फिर आप सद्गति की आशा कैसे कर रहे हैं?

चिडा के बचन सुनकर जमदग्नि ऋषि सोच में पड़ गये —'निश्चय ही ये पक्षी ठीक कहते हैं। ये तो मेरे उपकारी हैं। मुझे विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिये।' यह विचार कर उन्होने पक्षियो को मुक्त कर दिया और वे कान्यकुब्ज नरेश पारत के यहाँ पहुँचे। पारत ने अपने भानजे के लक्षण देखे तो उसे सन्देह हुआ। उसने ऋषि से आने का प्रयोजन पूछा। ऋषि ने स्पष्ट बता दिया कि मैं विवाह करना चाहता हूँ। राजा पारत बोले—मेरे सौ पुत्रियाँ है। उनमे से तुम्हे जो स्वीकार करे, उसका विवाह तुम्हारे साथ कर दूँगा।' जमदग्नि कन्याओ के पास गया। किन्तु उसकी तपोदग्ध भयकर आकृति को देखकर कन्यायें या तो भाग गई या फिर भय के मारे सज्ञाहीन हो गईं। केवल एक छोटी कन्या कुतूहलवश खडी देखती रही। जमदग्नि राजा की आज्ञा से उसे लेकर चल दिये और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। उस कन्या का नाम रेणुका था।

यथासमय उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए—इन्द्र और श्वेतराम। दोनों ही सुलक्षण, रूपवान् और वीर थे।

एक दिन जमदग्नि के आश्रम मे अरिजय नामक मुनि आये। वे रेणुका के बड़े भाई थे। रेणुका ने मुनि की वन्दना की। मुनि ने उसे उपदेश दिया, जिससे रेणुका ने सम्यग्दर्शन धारण किया। मुनि ने चलते समय कामधेनु नामक विद्या और मत्रपूत फरशा दिया और वहाँ से चले गये।

कुछ दिन पश्चात् अपने पुत्र कृतवीर के साथ राजा सहस्रबाहु जमदग्नि के आश्रम मे आया। जमदग्नि ने अपने चचेरे भाई से भोजन का आग्रह किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। जमदग्नि ने अभ्यागतो को सुस्वादु भोजन कराया। भोजन करके कृतवीर ने अपनी मौसी रेणुका से पूछा—'ऐसा सुस्वादु षट्रस व्यजन तो राजाओं को भी दुर्लभ है। फिर वन मे रहने वाले आप लोगो ने ऐसी दुर्लभ सामग्री कहाँ से प्राप्त की।' रेणुका ने सरलतावश कामधेनु विद्या की प्राप्ति की सब बात उसे बता दी। सुनकर कृतवीर बोला—'ससार मे श्रेष्ठ वस्तु राजा की होती है।' यह कहकर वह जबर्दस्ती कामधेनु लेकर जाने लगा। तब जमदग्नि ऋषि उसे रोकने के लिये रास्ता रोक कर खड़े हो गये। कृतवीर ने क्रोध मे भरकर जमदग्नि को मार दिया और अपने नगर की ओर चला गया।

पति की मृत्यु से रेणुका शोकाकुल होकर विलाप करने लगी।

परशुराम द्वारा सहस्रबाहु का संहार—जब दोनो पुत्र वन से कन्दमूल फल लेकर लौटे तो माता का रुदन सुनकर वे बडे दुखित हुए। पूछने पर उन्हे सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ। सब बात सुनकर उन्हे भयकर क्रोध आया। माता को सान्त्वना देकर फरशा लेकर दोनो भाई मुनिकुमारो को साथ लेकर वहाँ से चल दिये और वे अयोध्या नगरी मे पहुँचे। वहाँ उनका राजा के साथ भयानक युद्ध हुआ। युद्ध मे इन्द्र राम ने फरशे के प्रहार से सहस्रबाहु का बध कर दिया तथा वह सहस्रबाहु की शेष सन्तानो को मारने मे जुट गया।

चित्रमती महारानी के बड़े भाई शाण्डिल्य तापस को पता चल गया कि इन्द्र राम, जिन्हे परशु के कारण लोग परशुराम कहने लगे थे, सहस्रबाहु के वश का उच्छेद करने के लिये दृढप्रतिज्ञ है। शाण्डिल्य राजप्रासाद में पहुँचा और रानी चित्रमती को लेकर गुप्तमार्ग से निकल गया और वन मे सुबन्धु मुनिराज के समीप छोड आया।

रानी चित्रमती उस समय गर्भवती थी। गर्भ-काल पूरा होने पर वन में उसने तेज से देदीप्यमान पुत्र को जन्म दिया। वह भूमि का आश्लेषण करता हुआ उत्पन्न हुआ था। बालक महान पुण्यवान था। वन देवता उसकी रक्षा करते और लालन-पालन करते थे। एक दिन रानी ने मुनिराज से बालक का भविष्य पूछा। अवधिज्ञानी मुनि बोले—'पुत्री! तेरा यह पुत्र समस्त भरत क्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती बनेगा। चक्रवर्ती होने की पहचान यह है कि यह सोलहवे वर्ष में जब कढाई में उबलते हुए घी में सिकते हुए गरम पुओ को निकाल कर खा लेगा, तब समझना कि उसके चक्रवर्ती बनने का काल आ गया। है। मुनि महाराज की यह भविष्यवाणी सुनकर माता को बडी सान्त्वना और शान्ति प्राप्त हुई।

सुभौम का जन्म

सुभौम को चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति—कुछ काल पश्चात् शाण्डिल्य तापस आकर अपनी बहन चित्रमती और बालक को अपने घर ले गया। चूँकि बालक पृथ्वी का आलिंगन करता हुआ उत्पन्न हुआ था, इसलिये उसका नाम सुभौम रक्खा गया। बालक धीरे-धीरे बढने लगा। जब वह विद्या ग्रहण करने योग्य हुआ तो उसे शास्त्रों और शस्त्रों की शिक्षा देने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार बालक ने क्रमशः सोलहवें वर्ष मे पदार्पण किया।

पिता के संहार से क्रुद्ध हुए रेणुका-पुत्रो ने प्रतिज्ञा की कि हम इस पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर देंगे और उन्होंने इक्कीस बार क्षत्रियों का समूल नाश किया। उन्होने अपने हाथो से मारे हुए राजाओ के सिर काटकर खम्भों मे लटका रक्खे थे। इस प्रकार दोनों भाई क्षत्रियो का विनाश करके राज्यलक्ष्मी का निर्विघ्न भोग कर रहे थे। एक दिन निमित्तज्ञानी ने परशुराम से कहा—आपका शत्रु उत्पन्न हो गया है, इसका प्रतीकार कीजिये। शत्रु के पहचानने का उपाय यह है कि आपने मारे हुए राजाओ के जो दाँत इकट्ठे किये है, वे जिसके लिये भोजन रूप परिणत हो जायेंगे, समझ लीजिये, वही आपका शत्रु है।

निमित्तज्ञानी के वचन सुनकर परशुराम को बडी चिन्ता उत्पन्न हो गई। उन्होने अविलम्ब भोजनशाला खुलवा दी और घोषणा करवा दी कि कोई भी व्यक्ति इस भोजनशाला मे निःशुल्क भोजन कर सकता है। तथा कर्मचारियो को आदेश दे दिया कि जो भोजन का इच्छुक आवे, उसे पात्र मे रक्खे हुए दाँत दिखा कर भोजन कराया जाय। इस प्रकार प्रति दिन अनेक लोग भोजन के लिये आने लगे।

एक दिन सुभौम ने अपनी माता से अपने पिता के बारे मे पूछा। माता ने बडे दुःख के साथ उसके पिता के साथ परशुराम ने जो व्यवहार किया था, वह विस्तारपूर्वक सुना दिया तथा यह भी बता दिया कि हम लोग अज्ञात-वास कर रहे हैं। सुनकर सुभौम ने अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने का सकल्प किया और तत्काल कुछ राज-कुमारो के साथ परिव्राजक वेश धारण करके अयोध्या की ओर चल दिया। अयोध्या मे उसके पहुँचने से पहले ही नगर में नाना प्रकार के अपशकुन और अमगल सूचक चिन्ह प्रगट होने लगे। नगर रक्षक देवता रुदन करने लगे, पृथ्वी काप उठी, दिन मे तारे दिखाई देने लगे। नगरवासी ही नही, परशुराम भी इन अमगल चिन्हो के कारण चिन्ता मे पड़ गये।

सुभौम कुमार जब परशुराम की दानशाला मे पहुँचे तो कर्मचारियो ने उन्हे उच्च आसन पर बैठाया और नियमानुसार मृत राजाओ के दाँत उन्हे दिखाये। सुभौम के पुण्य-प्रभाव से वे दाँत शालि चावलो के भात बन गये। सेवको ने तत्काल इस घटना की सूचना राजा परशुराम को दी। राजा ने कुछ हृष्ट-पुष्ट सैनिको को उस व्यक्ति को गिरफ्तार करके लाने के लिये भेजा। सैनिको ने भोजनशाला में पहुँचकर सुभौम से कहा—'तुम्हे राजा ने बुलाया है, तुम हमारे साथ चलो। अगर तुम नही चलोगे तो हम तुम्हे बलात् ले जायेगे।' सुभौम ने उन क्षुद्र सैनिको से विवाद करना उचित नही समझा, किन्तु उन्हे जोर से डपट दिया। इतने मात्र से ही वे सैनिक भय के मारे आतकित हो गये और वापिस चले गये। यह वृत्तान्त सुनकर परशुराम को बहुत क्रोध आया और सेना लेकर भोजनशाला को घेर लिया। सुभौम यह देखकर बाहर निकल आये और परशुराम के सामने आ डटे। परशुराम ने सेना को सुभौम का वध करने का आदेश दिया। किन्तु सुभौम के प्रबल पुण्य का उदय था, उनके चक्रवर्ती बनने का योग आ पहुँचा था। फिर उनका कोई क्या बिगाड सकता था। सेना उनके सामने अधिक समय तक नही ठहर सकी। यह देखकर परशुराम ने अपना हाथी सुभौम की ओर बढाया। सुभौम के पुण्य माहात्म्य से एक गन्धराज मदोन्मत्त हाथी आ गया। वे उस हाथी पर आरूढ हो गये। इतना ही नही, एक हजार देवो से रक्षित चक्ररत्न भी उनके पास स्वत आ गया। वे चक्र-रत्न से सुशोभित होकर आगे बढे। परशुराम ने सुभौम का वध करने के लिये अपना अमोघ परशु फेंका। किन्तु उनका पुण्य क्षीण हो चुका था। उनके तो मृत्यु का योग था। सुभौम उस वार को बचा गये और उन्होने चक्र द्वारा परशुराम का वध कर दिया। इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन करने वाले परशुराम काल कवलित हो गये।

सुभौम भगवान अरनाथ के तीर्थ मे उत्पन्न हुआ था। वह आठवाँ चक्रवर्ती था। उसकी आयु साठ हजार वर्ष की थी। उसकी अवगाहना अट्ठाईस धनुष थी। सुवर्ण के समान उसके शरीर की कान्ति थी।

परशुराम की मृत्यु के बाद सेना ने युद्ध बन्द कर दिया। सुभौम ने सबको अभय दान दिया। तभी उनके शेष तेरह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हो गई। वे छह खण्ड का आधिपत्य पाकर चक्रवर्ती बन गये और चिरकाल तक दस प्रकार के भोग भोगते रहे। उनके पास चक्रवर्ती पद की सम्पूर्ण विभूति थी।

सुभौम का एक रसोइया था अमृत रसायन। एक दिन रसोइया ने चक्रवर्ती को रसायना नामक स्वादिष्ट कढ़ी परोसी। किन्तु चक्रवर्ती यह नाम सुनते ही रसोइया से कुपित हो गया। उसके आदेश से रसोइया को कठोर दण्ड

दिया गया, जिससे वह अधमरा हो गया। उसने भी क्रोध मे निदान किया कि मैं इससे बदला लूंगा। वह मरकर अल्प पुण्य के कारण ज्योतिष्क देव बना। उसे अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव के वैर का स्मरण हो आया। वह बदला लेने की इच्छा से व्यापारी का वेष धारण कर आया और बडे स्वादिष्ट फल सम्राट् को भेट किये। इस प्रकार वह प्रतिदिन आता और राजा को वे ही फल भेट करता। राजा को वे फल बडे स्वादिष्ट लगते थे। एक दिन वह फल नही लाया। राजा ने इसका कारण पूछा तो उस देव ने उत्तर दिया—'महाराज ! वे फल तो समाप्त हो गये। अब वे मिल भी नही सकते। जिस वन से मै वे फल लाया था, उनकी रक्षा एक वनदेवी करती है। उसे प्रसन्न करके ही वे फल प्राप्त हो सकते है। यदि आपको वे फल प्रिय है तो आप मेरे साथ उस वन मे चलिये और इच्छानुसार फल खाइये।'

चक्रवर्ती ने उसके साथ चलना स्वीकार कर लिया। मन्त्रियो ने चक्रवर्ती को रोकना भी चाहा, किन्तु वह नही माना और उस छद्मवेषी देव के साथ जहाज द्वारा चल दिया। वास्तव मे चक्रवर्ती का पुण्य समाप्त हो गया था। महलो से निकलते ही चक्रवर्ती के चक्र आदि रत्न भी चले गये। वह देव चक्रवर्ती के जहाज को गहरे समुद्र में ले गया। वहाँ उस देव ने पूर्वभव के रसोइया का रूप बनाकर चक्रवर्ती को अपने प्रतिशोध की योजना बताई और फिर चक्रवर्ती को भयकर पीडा देकर मार डाला। चक्रवर्ती भयकर रौद्र ध्यान के कारण नरक मे गया।

सुभौम चक्रवर्ती आठवाँ चक्रवर्ती था।

पुण्डरीक नारायण, निशुम्भ प्रतिनारायण

पूर्व भव—भगवान अरनाथ के तीर्थ मे नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायण हुए। ये छठे नारायण, प्रतिनारायण थे।

पुण्डरीक का जीव पहले तीसरे भव मे राजकुमार था। सुकेतु नामक राजा से अपमानित होकर उसने अपने अपमान का बदला लेने का निदान बन्ध किया। अपने अपमान से दुखी होकर उसने दीक्षा ले ली। वह घोर तप करने लगा, किन्तु वह तपस्या करके भी मन से अपमान की शल्य दूर नही कर सका। वह मरकर पहले स्वर्ग मे देव हुआ।

भरत क्षेत्र मे चक्रपुर नामक नगर था। उस नगर का स्वामी इक्ष्वाकुवशी राजा वरसेन था। उसकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उस देव का जीव आयु के अन्त मे लक्ष्मीमती रानी के गर्भ मे आया और उत्पन्न होने पर उसका नाम पुण्डरीक रक्खा गया। इसी राजा की वैजयन्ती रानी से नन्दिषेण नामक पुत्र हुआ। इन दोनो की आयु छप्पन हजार वर्ष की थी, शरीर छब्बीस धनुष ऊँचा था। दोनो भाइयो मे स्वभावत. बडा प्रेम था।

सुकेतु का जीव अनेक योनियो मे भ्रमण करता हुआ निशुम्भ नाम का राजा बना। वह महा अभिमानी और बडी क्रूर प्रकृति का था। सम्पूर्ण राजाओ को उसने वश मे कर लिया था और राजा लोग उसके नाम से ही कापते थे। उन दिनो राजकुमार पुण्डरीक और नन्दिषेण का प्रभाव निरन्तर बढ रहा था। इससे निशुम्भ पुण्डरीक का अकारण शत्रु बन गया और उसे दण्ड देने के लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा मे था। तभी एक घटना घटित हो गई। इन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन ने अपनी पुत्री पद्मावती का विवाह पुण्डरीक के साथ कर दिया। निशुम्भ तो कोई बहाना चाहता था। उसने एक चतुर दूत पुण्डरीक के पास भेजा और उससे पद्मावती को देने का आदेश दिया। दोनो भाइयो ने दूत का अपमान करके निकाल दिया। निशुम्भ ने जब यह सुना तो वह मारे क्रोध के आग बबूला हो गया और विशाल सेना सजाकर पुण्डरीक के साथ युद्ध करने चल दिया। दोनो भाई भी सेना लेकर रणभूमि मे आ डटे। दोनो सेनाओ मे घनघोर युद्ध हुआ। निशुम्भ की सेनाये दोनो भाइयो की मार के आगे नहीं ठहर सकी। तब निशुम्भ स्वय पुण्डरीक के साथ युद्ध करने आगे आया। दोनो वीरो मे लोमहर्षक युद्ध होने लगा। तब क्रोध मे

भरकर निशुम्भ ने पुण्डरीक के ऊपर देवाधिष्ठित चक्र फंका। किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर पुण्डरीक की दाई भुजा पर आकर ठहर गया। तब पुण्डरीक ने चक्र लिया और उसे निशुम्भ के ऊपर चला दिया। निमिषमात्र मे चक्र ने निशुम्भ का सिर उडा दिया।

उसी चक्र से पुण्डरीक ने अपने भाई नन्दिषेण के साथ भरत क्षेत्र के तीनो खडो पर विजय प्राप्त की और नारायण कहलाया। नन्दिषेण बलभद्र कहलाया। दोनो भाइयो ने प्रेमपूर्वक चिरकाल तक प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मी का भोग किया। पुण्डरीक अत्यन्त आरम्भ परिग्रह का धारक और रौद्र परिणामी था। उसने नरकायु का बन्ध किया और मरकर वह नरक मे गया।

नन्दिषेण को भ्रातृ-वियोग का गहरा शोक हुआ। इससे उन्हे ससार से वैराग्य हो गया। उन्होंने शिवघोष नामक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली और तपश्चरण करने लगे। उनके परिणामो मे निर्मलता और विशुद्धता आती गई। उन्होने कर्मो की मूल और उत्तर प्रकृतियो का नाश करके परम पद मोक्ष प्राप्त किया।

बलभद्र नन्दिषेण, नारायण पुण्डरीक और प्रतिनारायण निशुम्भ नारायण-प्रतिनारायण परम्परा मे छठे थे।

विंश परिच्छेद

भगवान मल्लिनाथ

पूर्व भव

मेरु पर्वत के पूर्व मे कच्छकावती नामक देश मे वीतशोक नगर था। वैश्रवण वहाँ का राजा था। एक दिन वह राजा वन का सौदर्य देखने एव वन-विहार के लिए गया। वन मे एक विशाल वटवृक्ष था, जिसकी शाखाथ प्रशाखाये विस्तृत भूमिखण्ड के ऊपर फैली हुई थी। राजा ने उस वटवृक्ष की विशालता की बडी प्रशसा की। राजा प्रशसा करता हुआ आगे बढ गया। लौटते समय वह फिर उसी मार्ग से वापिस आया। किन्तु महान् आश्चय की बात थी कि उस विशाल वटवृक्ष का कही पता भी न था। बल्कि उसके स्थान पर एक जला हुआ ठूँठ खडा था। इतने ही काल मे वज्र गिरने से वह वटवृक्ष जड़ तक जल गया था। उस दृश्य को देखकर राजा विचार करने लगा—जब इतने विशाल, उन्नत और बहुमूल्य वट वृक्ष की ऐसी दशा हो गई है तो इस निर्मल मनुष्य-जीवन पर क्या विश्वास किया जा सकता है। उसे इस क्षणभगुर जीवन मे विराग हो गया। उसने अपने पुत्र को राज्य-भार सौप दिया और श्रीनाग नामक मुनिराज के निकट प्रव्रज्या धारण कर ली। उसने नाना प्रकार के तपो द्वारा आत्मा को निर्मल किया, ग्यारह अगो का अध्ययन किया तथा निरन्तर सोलहकारण भावनाओ का चिन्तन किया, जिससे तीर्थकर नामकर्म का बन्ध किया। अन्त मे समाधि-मरण करके चौथे अपराजित नामक अनुत्तर विमान मे अहमिन्द्र बना।

गर्भ कल्याणक

मिथिला नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवशी, काश्यप गोत्री महाराज कुम्भ की महारानी का नाम प्रजावती था। जब उस अहमिन्द्र की आयु में छह माह शेष रह गये, तब देवो ने रत्नवृष्टि आदि द्वारा महाराज के नगर मे अचित्य वैभव प्रगट किया। जब उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, उस दिन चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को अश्विनी नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे शुभफल को सूचित करने वाले महारानी ने सोलह स्वप्न देखे। बन्दीजनो के मगल गान से महारानी की निद्रा भग हुई। वे शय्या त्यागकर उठी और नित्य कर्म से निवृत्त होकर माँगलिक वस्त्रालकार धारण करके महाराज के पास पहुँची। महाराज से स्वप्नो का फल सुनकर वे बडी हर्षित हुई। अहमिन्द्र का जीव महारानी के गर्भ मे अवतरित हुआ। देवो ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की तथा गर्भस्थ भगवान को नमस्कार किया।

जन्म कल्याणक

माता गर्भ में भगवान को धारण करके अत्यन्त सुशोभित हो रही थी। उनका सौन्दर्य, कान्ति और लावण्य दिनो-दिन बढता जा रहा था। गर्भ के कारण उन्हे कोई कष्ट या असुविधा का अनुभव नही होता था। इस प्रकार सुख से नौ मास बीतने पर महारानी प्रजावती ने मगसिर सुदी एकादशी को अश्विनी नक्षत्र मे पूर्ण चन्द्र के समान देदीप्यमान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। यह दिव्य बालक एक हजार आठ शुभ लक्षणो से युक्त था, तीन ज्ञान का धारक था। उसी समय समस्त देव और इन्द्रो ने आकर बाल भगवान को ऐरावत हाथी पर विराजमान किया और सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के पवित्र जल से उसका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने उसे वस्त्राभूषण पहनाये। सौधर्मेन्द्र ने बालक का नाम मल्लिनाथ रक्खा।

भगवान सुवर्ण वर्ण के थे, उनका शरीर पच्चीस धनुष ऊंचा था, पचपन हजार वर्ष की उनकी आयु थी, दाहिने पैर में कलश का चिह्न था।

भगवान जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने उनके विवाह का आयोजन किया। विवाह के हर्ष मे पुरजनो ने सारा नगर सजाया। सफेद पताकाओ और वन्दनमालाओ से नगर दुलहिन की तरह सजाया गया। राजपथो और वीथिकाओ मे सुगन्धित जल का सिचन किया गया। किन्तु जिनके लिए यह सब आयोजन हो रहा था, वे इस सबसे निर्लिप्त थे। वे जीवन भर भोगो से उदासीन रहे। वह जीवनव्यापी साधना इन राग के क्षणो मे भी चल रही थी। वे सोच रहे थे—वीतरागता का माहात्म्य अचिन्त्य है, राग में वह सुख कहाँ है। तभी उन्हे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्व जन्म में अपराजित विमान मे भोगे हुए सुखो के बारे मे सोचने लगे—जब स्वर्ग के वे भोग ही नही रहे तो इन नश्वर भोगो के सुख के लिए जीवन के अमूल्य समय का अपव्यय करने मे कोई बुद्धिमता नही है। इस प्रकार भोगो मे विरक्त होकर उन्होने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह के त्याग का सकल्प किया। तभी लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान को नमस्कार कर उनके सकल्प की सराहना की तथा उनसे प्रार्थना की—'भगवन्! ससार के जीवो का कल्याण करने के लिए धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन का अब काल आ पहुँचा है। भगवान दुखी प्राणियों पर करुणा करे।' इस प्रकार कहकर वे देव अपने स्वर्ग मे वापिस चले गये।

दीक्षा कल्याणक

इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान का दीक्षा कल्याणक महाभिषेक किया। फिर भगवान जयन्त नामक देवोपनीत पालकी मे आरूढ होकर श्वेत वन मे पहुँचे। वहाँ उन्होने समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके सिद्ध भगवान को नमस्कार किया और केश लुचन करके प्रव्रजित हो गए। उनके साथ मे तीन सौ राजाओ ने भी सकल सयम धारण कर लिया। उस दिन अगहन सुदी एकादशी थी, अश्विनी नक्षत्र था और सायकाल का समय था। यह सयोग की ही बात थी कि भगवान ने अपने जन्म दिन, मास, नक्षत्र और पक्ष को दीक्षा भी ग्रहण की थी। सयम के कारण भगवान को मन.पर्यय ज्ञान की भी प्राप्ति हो गई।

भगवान तीसरे दिन पारणा के लिये मिथिलापुरी मे प्रविष्ट हुए। वहाँ नन्दिषेण नामक राजा ने भगवान को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य का सचय किया। देवों ने पचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—दीक्षा लेने के पश्चात् भगवान मल्लिनाथ छद्मस्थ दशा मे केवल छह दिन रहे। उन्होने यह समय तपस्या मे बिताया। फिर वे दीक्षा वन मे पहुँचे और दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ हो गए। वही पर उन्हे पौष कृष्णा द्वितीया को पुनर्वसु नक्षत्र मे लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के केवलज्ञान का उत्सव मनाया, समवसरण की रचना की। उसमे बैठकर भगवान ने दिव्यध्वनि के द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। अनेक मनुष्यो, देवों और तिर्यञ्चो ने भगवान का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया, अनेक मनुष्यो और तिर्यचो ने मुनि और श्रावकों के योग्य सयम धारण किया।

भगवान का संघ—भगवान के मुनि-सघ में विशाख आदि २८ गणधर थे। इनके अतिरिक्त ५५० पूर्वधारी २९००० महाविद्वान् शिक्षक, २२०० अवधिज्ञानी, २२०० केवलज्ञानी, १४०० वादी, २९०० विक्रिया ऋद्धिधारी, और १७५० मन पर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियो की कुल सख्या ४०००० थी। बन्धुषेणा आदि ५५००० आर्यिकाये थी। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकाये थी। असख्यात देव और सख्यात तिर्यञ्च उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान अनेक देशो मे विहार कर अपने उपदेश से भव्य जीवो का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदाचल पर पहुँचे। वहाँ पाच हजार मुनियो के साथ उन्होने प्रतिमा योग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला पचमी को भरणी नक्षत्र मे सध्या के समय निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—इनके सेवक कुबेर यक्ष और अपराजिता यक्षिणी थे।

भगवान मल्लिनाथ की जन्म नगरी मिथिला—मिथिला नगरी उन्नीसवे तीर्थंकर मल्लिनाथ और इक्कीसवे तीर्थंकर नमिनाथ की जन्म नगरी है। यहां दोनो तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दोक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। इसलिए यह भूमि तीर्थभूमि है।

यहाँ अनेक सास्कृतिक और पौराणिक घटनाये घटित हुई है।

—मिथिला नरेश पद्मरथ भगवान वासुपूज्य के गणधर सुधर्म का उपदेश सुनकर ससार से विरक्त हो गया। वह वासुपूज्य भगवान के चरणो मे पहुँचा। वहाँ मुनि दीक्षा ले ली। मुनि पद्मरथ भगवान के गणधर बने। उन्हे अवधिज्ञान और मन.पर्यय ज्ञान हो गया। पश्चात् उन्हे केवलज्ञान प्रगट हो गया और अन्त में वे मुक्त हो गए।

—जब हस्तिनापुर मे अकपनाचार्य के सघ पर बलि आदि मत्रियो ने घोर उपसर्ग किया, उस समय मुनि विष्णुकुमार के गुरु मिथिला में ही विराजमान थे। उन्होने क्षुल्लक पुष्पदन्त को धरणीधर पर्वत पर मुनि विष्णु कुमार के पास उपसर्ग निवारण के लिए भेजा। गुरु के आदेशानुसार मुनि विष्णुकुमार ने हस्तिनापुर मे जाकर मुनि सघ का उपसर्ग दूर किया।

—मिथिला का राजा नमि मुनि बन गया। किन्तु तीन बार भ्रष्ट हुआ। फिर वह शुद्ध मन से मुनि-व्रत पालने लगा। एक बार एक गॉव में तीन अन्य मुनियो के साथ एक अवा के पास ध्यान लगाकर खड़ा था। कुम्हार आया और उसने अवा मे आग सुलगाई। आग धू-धू करके जल उठी। चारो मुनि उसी मे जल गये। वे शुद्ध भावो से श्रेणी आरोहण करके मुक्त हो गए।

—इसी नगर मे राजा जनक हुए। उनकी पुत्री सीता थी जो ससार की सतियों मे शिरोमणि मानी जाती है। जनक नाम नही, वह तो एक पदवी थी। सीता के पिता का नाम सीरध्वज जनक था।

इस वश का अन्त कराल नामक जनक राजा के काल मे हुआ। बौद्ध ग्रथो और कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार उसने एक ब्राह्मण कन्या के साथ बलात्कार किया था। इससे प्रजा भड़क उठी। उसने राजा को मार डाला। उस समय इस राज्य मे सोलह हजार गाव लगते थे। इसके पश्चात् वहाँ राजतन्त्र समाप्त हो गया। जनता ने स्वेच्छा से गणतन्त्र की स्थापना की, जिसे विदेह गणतन्त्र कहा जाता था। इसे वज्जी सघ भी कहा जाता था। कुछ काल के पश्चात् वैशाली का लिच्छवि सघ और मिथिला का वज्जी सघ पारस्परिक सन्धि द्वारा मिल गये और दोनो का सम्मिलित सघ वज्जी सघ कहलाने लगा। तथा वज्जी सघ के अधिपति राजा चेटक को सयुक्त सघ का अधिपति मान लिया। इस सघ की राजधानी मिथिला से उठकर वैशाली मे आ गई। यह नया वैशाली गण अत्यन्त शक्तिशाली बन गया। इन्ही राजा चेटक की पुत्री त्रिशला से भारत की लोकोत्तर विभूति भगवान महावीर का जन्म हुआ। वैशाली गणसघ का धर्म जैन धर्म था। इस सघ का विनाश श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने किया। अजातशत्रु महारानी चेलना का पुत्र था। चेलना चेटक की सबसे छोटी पुत्री थी। इस प्रकार वैशाली अजातशत्रु की ननसाल थी।

मिथिला क्षेत्र कहाँ था, आज इसका कोई पता नही है। वर्तमान जनकपुर प्राचीन मिथिला की राजधानी का दुर्ग है। पुरनैलिया कोठी से ५ मील दूर पर सिमराओ नामक स्थान पर प्राचीन मिथिला नगरी के चिह्न अब तक मिलते है। नन्दनगढ के टीले से चाँदी का एक सिक्का मिला था, जो ईसा से १००० वर्ष पूर्व का बताया जाता है। लगता है, मिथिला तीर्थ यही कही आस पास मे था।

यहाँ पहुँचने का मार्ग इस प्रकार है—सीतामढी से जनकपुर रोड स्टेशन रेल द्वारा। वहाँ से जनकपुर २४ मील बस द्वारा। सीतामढी या दरभगा से नैपाल सरकार की रेलवे के जयनगर स्टेशन जा सकते है। वहाँ से उक्त रेलवे द्वारा जनकपुर १८ मील है।

पद्म चक्रवर्ती

भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में पद्म नामक नौवा चक्रवर्ती हुआ। चक्रवर्ती पर्याय से पहले तीसरे भव की यह कथा है। सुकच्छ देश के श्रीपुर नगर मे प्रजापाल नामक एक राजा था। वह बडा वीर और न्यायी था। उसके राज्य में प्रजा बडे आनन्दपूर्वक रहती थी। एक बार उल्कापात देखकर उसे जीवन की

पूर्व भव

क्षणभगुरता का ज्ञान हुआ। तत्काल उसने अपने पुत्र को राज्य सौप दिया और वह शिवगुप्त भगवान के पास जाकर आत्म-कल्याण की अभिलाषा से सम्पूर्ण आभ्यन्तर और बाह्य आरम्भ और परिग्रह का त्याग कर प्रव्रजित हो गया। आठ प्रकार की शुद्धियो से उसका तप देदीप्यमान हो रहा था। अन्त में समाधि द्वारा मरण करके वह अच्युत स्वर्ग का इन्द्र बना।

काशी देश की वाराणसी नगरी मे इक्ष्वाकु वशी महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी से पद्म आदि शुभ लक्षणो से सुशोभित पद्म नामक पुत्र हुआ। उसकी आयु तीस हजार वर्ष की थी। उसका शरीर बाईस धनुष उन्नत था। सुवर्ण के समान उसकी कान्ति थी। कुमार काल बीतने पर पिता

चक्रवर्ती पद्म का जन्म

ने उसे राज्य-भार सौप दिया। उसके प्रबल पुण्य के योग से उसकी आयुधशाला मे चक्र रत्न आदि शस्त्र उत्पन्न हुए। तव वह दिग्विजय के लिए निकला। उसने कुछ ही काल मे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के राजाओ को अपना माण्डलिक बनाकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। साथ ही उसको चौदह रत्न और नौ निधियो का लाभ हुआ। उसे दस प्रकार के भोग प्राप्त थे। समस्त सासारिक भोग उसे उपलब्ध थे, किन्तु वह इनमें कभी आसक्त नही हुआ। उसके दस पुत्रियाँ थी जो अत्यन्त सुन्दर और शीलवती थी। उसने उन पुत्रियों का विवाह सुकेतु विद्याधर के पुत्रो के साथ कर दिया।

एक बार चक्रवर्ती प्रकृति की शोभा निहार रहा था। आकाश मे यत्र तत्र बादल के टुकडे नदी मे तैरते हुए राजहसो के समान इधर उधर डोल रहे थे। थोडे समय बाद आकाश निर्मल हो गया, बादल न जाने कहाँ अदृश्य हो गये। इस सहज घटना का चक्रवर्ती के मन पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पडा। उसका चिन्तन एक नई दिशा की ओर मुड़ गया—बादल का कोई शत्रु नही, फिर भी वह नष्ट हो गया। फिर जिनके सभी शत्रु है, ऐसी सम्पत्तियो मे विवेकी मनुष्य की श्रद्धा क्यो कर स्थिर रह सकती है। यह विचार कर चक्रवर्ती ने अनेक राजाओ के साथ जिन-दीक्षा लेली और तप द्वारा समस्त आस्रव का निरोध करके तथा सचित कर्मो की निर्जरा करके घातिया कर्मो का क्षय कर दिया। वे नौ केवल लब्धियो के स्वामी हो गये। अन्त मे अघातिया कर्मो का नाश करके अजर, अमर, मुक्त हो गये।

नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण और बलीन्द्र प्रतिनारायण

पूर्वभव—भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में सातवे बलभद्र नन्दिमित्र और नारायण दत्त हुए। इससे पूर्वातीसरे भव की यह कथा है—

अयोध्या नगरी मे एक राजा राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे। किन्तु पिता इन दोनो से ही बहुत असन्तुष्ट था। इसलिए उसने अपने छोटे भाई को युवराज पद दे दिया। दोनो भाइयो को इससे बडा परिताप

हुआ। किन्तु उन्होने समझा कि पिता ने यह कार्य मंत्री के द्वारा बरगलाने के कारण किया है, इसलिए वे मंत्री पर कुपित हुए और अपना सारा क्रोध उसके ऊपर उतारा। तिरस्कृत होकर राज्य में रहना उन्होने उचित नही समझा, अत उन्होने शिवगुप्त नामक मुनिराज के पास जाकर मुनि-दीक्षा ले ली। किन्तु छोटे भाई के मन से मंत्री के प्रति द्वेष भाव नही निकल सका। उसने मंत्री से बदला लेने का निदान बन्ध किया।

दोनो भाई दुर्धर तपश्चरण करने लगे। आयु के अन्त मे समाधिमरण किया और सौधर्म स्वर्ग मे देव हुए।

वाराणसी के राजा इक्ष्वाकुवशी अग्निशिख थे। वे बडे धार्मिक विचारो के थे। उनकी दो रानियाँ थी—अपराजिता और केशवती। वे दोनो देव उन रानियो से क्रमश नन्दिमित्र और दत्त नामक पुत्र हुए। नन्दिमित्र बडा था और दत्त छोटा। यद्यपि वे दोनो सौतेली माता के पुत्र थे किन्तु दोनो मे प्रगाढ स्नेह था।

बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण

उनकी आयु बत्तीस हजार वर्ष की थी। उनका शरीर बाईस धनुष ऊँचा था। नन्दिमित्र श्वेत कुन्द के समान श्वेत वर्ण तथा दत्त इन्द्रनील मणि के समान नील वर्ण था। बचपन से ही दोनो बड़े तेजस्वी और साहसी थे। नन्दिमित्र स्वभाव से शान्त और दत्त उद्धत प्रकृति का था।

उपर्युक्त मंत्री ससार भ्रमण करता हुआ विजयार्ध पर्वत के मन्दरपुर नगर के विद्याधरो का स्वामी बलीन्द्र हुआ। बलीन्द्र नाम से ही बलीन्द्र नही था, वास्तव मे ही वह बलीन्द्र था। सम्पूर्ण राजा उससे भयभीत रहते थे। एक दिन उसने अपना दूत दोनो भाइयो के पास भेजा और कहा—महाराज बलीन्द्र ने आदेश दिया है कि तुम्हारे पास जो भद्रक्षीर गन्धगज है, उसे हमारे पास भेज दो। दोनो भाइयो ने दूत की बात सुनकर परिहास मे कहा—अगर बलीन्द्र अपनी पुत्रियो का विवाह हमारे साथ कर दे तो हम उन्हे अपना गजराज दे देगे। बिना ऐसा किये तो हम नही दे सकेगे।' यह बात दूत ने जाकर जब बलीन्द्र से कही तो वह बड़ा कुपित हुआ। वह तो वास्तव मे दोनो भाइयो के बढते हुए प्रभाव से सशंकित था, इसलिए उन्हे मारने का कोई बहाना ढूंढ रहा था। अपने आदेश का उल्लघन होता देखकर वह सेना लेकर लड़ने के लिए तैयार हो गया।

तभी दक्षिण श्रेणी के सुरकान्तार नगर के स्वामी केशरीविक्रम नामक विद्याधर राजा ने दोनो कुमारो को सिंहवाहिनी और गरुडवाहिनी नामक दो विद्याये सम्मेदशिखर पर बुलाकर प्रदान की। यह राजा दत्त की माता केशवती का बडा भाई था। इस राजा ने दोनो कुमारो को सब प्रकार की सहायता देने का भी वचन दिया।

दोनो ओर की सेनाये आमने-सामने आकर डट गई। दोनो सेनाओ मे लोमहर्षक युद्ध हुआ। बलीन्द्र का पुत्र शतबलि नन्दिमित्र से जा भिडा। किन्तु नन्दिमित्र ने आनन-फानन मे शतबलि का बध कर दिया। पुत्र की मृत्यु देखकर बलीन्द्र नेत्रो से अग्नि ज्वाला बरसाता नन्दिमित्र की ओर लपका। बलीन्द्र को बढते देखकर दत्त आगे आ गया। दोनो का उस समय जो भयानक युद्ध हुआ, वह अद्भुत था। बलीन्द्र का अपने बल का बड़ा अभिमान था। आयु मे भी वह दत्त से बडा था। किन्तु दत्त के समक्ष उसका एक नही चल पा रही थी। तब भयकर क्रोध मे भरकर बलीन्द्र ने अमोघ चक्र दत्त के ऊपर फेका। देवाधिष्ठित चक्र प्रदक्षिणा देकर दत्त की दाहिनी भुजा पर आकर ठहर गया। तब दत्त ने वही चक्र बलीन्द्र के ऊपर चला दिया। मृत्यु को आते हुए देखकर बलीन्द्र भय के मारे घबड़ा गया। उसने प्रतिकार भी करना चाहा किन्तु चक्र के आगे उसकी एक नही चली और उसका शिर अलग जा पडा।

प्रतिनारायण बलीन्द्र को मारकर बलभद्र नन्दिमित्र और नारायण दत्त ने शत्रु सेना मे अभय घोषणा कर दी। फिर बलभद्र, नारायण पुण्य से प्राप्त चक्र आदि की सहायता से भरत क्षेत्र के तीन खण्डो पर विजय प्राप्त कर अर्धचक्री बने। चिरकाल तक राज्य सुख भोगकर एक दिन अचानक नारायण की मृत्यु हो गई। भाई के शोक में नन्दिमित्र को वैराग्य हो गया। वे मुनि बनकर तप करने लगे। अन्त में केवली होकर उन्होने मोक्ष प्राप्त किया।

एकविंश परिच्छेद

भगवान मुनिसुव्रतनाथ

अंगदेश के चम्पापुर नगर में हरिवर्मा नामक एक राजा राज्य करते थे। एक दिन नगर के बाह्य उद्यान में अनन्तवीर्य नामक निर्ग्रन्थ मुनिराज पधारे। उनका आगमन सुनकर राजा अपने परिजनो-पुरजनो के साथ पूजा की सामग्री लेकर दर्शनो के लिए गये। वहाँ जाकर राजा ने मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा दी, तीन बार वन्दना की और उनकी पूजा की। फिर हाथ जोडकर विनयपूर्वक मुनिराज मे धर्म के स्वरूप की जिज्ञासा की। मुनिराज ने विस्तारपूर्वक धर्म का स्वरूप समझाते हुए कल्याण का मार्ग बताया। उपदेश सुनकर महाराज हरिवर्मा को आत्म-कल्याण की अन्त प्रेरणा हुई। उन्होने बडे पुत्र को राज्य सौप कर बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार के परिग्रह का त्याग करके जैनेन्द्री दीक्षा ले ली। उन्होने गुरु के चरणो मे रहकर ग्यारह अगो का अध्ययन किया और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओ का चिन्तन कर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया। इस प्रकार चिरकाल तक नाना प्रकार के तप करके आत्म-विशुद्धि करते हुए अन्त में समाधिमरण करके प्राणत स्वर्ग के इन्द्र का पद प्राप्त किया।

पूर्व भव

जब उस इन्द्र की आयु छह माह शेष रह गई, तब राजगृह नगर के स्वामी हरिवश शिरोमणि काश्यपगोत्री महाराज सुमित्र के घर में छह माह तक रत्नवर्षा हुई। जब इन्द्र की आयु पूर्ण होने वाली थी, तब महाराज सुमित्र की महारानी सोमा को श्रावण कृष्णा द्वितीया को श्रवण नक्षत्र मे रात्रि के अन्तिम प्रहर मे तीर्थंकर प्रभु के गर्भावतरण के सूचक सोलह स्वप्न दिखाई दिये। स्वप्नो के अनन्तर उन्हे एक तेजस्वी गजराज मुख मे प्रवेश करता हुआ दिखाई दिया। उस इन्द्र का जीव तभी महारानी सोमा के गर्भ मे अवतरित हुआ।

गर्भ कल्याणक

प्रात. काल होने पर स्नानादि से निवृत्त होकर महारानी हर्षित होती हुई महाराज के पास पहुँची और उन्हे रात्रि में देखे हुए स्वप्न कह सुनाये तथा उनसे इन स्वप्नो का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान मे फल जानकर महारानी को बताया—देवी ! तुम्हारे तीन जगत के स्वामी तीर्थंकर प्रभु जन्म लेंगे। सुनकर महारानी को अपार हर्ष हुआ। तभी देवो ने आकर माता का अभिषेक किया और भगवान का गर्भकल्याणक मनाया। सौधर्मेन्द्र देवियो को माता की सेवा में नियुक्त करके देवो के साथ वापिस चला गया।

यथासमय तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ। चारो जाति के इन्द्र और देव, इन्द्राणी और देवियाँ आई और भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर देवो ने उनका अभिषेक किया। सौधर्मेन्द्र ने उस समय बालक का नाम मुनिसुव्रतनाथ रक्खा। उनका जन्म चिन्ह कछुआ था।

जन्म कल्याणक

भगवान की आयु तीस हजार वर्ष थी। शरीर की ऊँचाई बीस धनुष की थी। उनके शरीर का वर्ण मयूर के कण्ठ के समान नील था। वे एक हजार आठ लक्षणो और तीन ज्ञानो से युक्त थे।

जब कुमार काल के साढे सात हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तब पिता ने उनका विवाह कर दिया तथा राज्याभिषेक करके राज्य-भार सौप दिया। उन्होने सुखपूर्वक साढे सात हजार वर्ष तक राज्य किया। एक दिन

दीक्षा कल्याणक

आकाश मे घनघोर घटा छाई हुई थी। तभी उनकी गजशाला के अधिपति ने यह समाचार दिया कि प्रसिद्ध यागहस्ती ने आहार छोड दिया है। समाचार सुनकर भगवान चिन्तन मे लोन हो गये। किन्तु उपस्थित सभासदो को इस समाचार से बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने भगवान से इसका कारण जानना चाहा। भगवान बोले—पूर्वभव मे यह हाथी तालपुर नगर का स्वामी नरपति नाम का राजा था। यह बडा अभिमानी था। यह पात्र-अपात्र का भेद नही जानता था। इसने किमिच्छक दान दिया। इस कुदान के प्रभाव से इसे तिर्यच योनि प्राप्त हुई और यह हाथी बना।

जब भगवान सभासदो को हाथी का पूर्वभव सुना रहे थे, उस समय हाथी वहाँ खडा हुआ यह सुन रहा था। सुनकर उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उसने उसी समय सयमासयम धारण कर लिया अर्थात् श्रावक के व्रत धारण कर लिए। भगवान के मन मे भी ससार से वैराग्य हो गया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और भगवान के विचारो को सराहना की। उन्होंने अपने पुत्र युवराज विजय को राज्य सौप दिया। तभी देवों ने आकर भगवान का दीक्षाभिषेक किया। फिर वे मनुष्यों और देवताओ से उठाई हुई अपराजिता नामक पालकी मे बैठकर विपुल नामक उद्यान मे पहुँचे। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर वैशाख कृष्णा दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सायकाल के समय एक हजार राजाओ के साथ समस्त सावद्य से विरत होकर और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके जिन-दीक्षा धारण करली। भगवान ने जो केशलुचन किया था, उन बालो को रत्न-मजूषा में रखकर सौधर्म इन्द्र ने क्षीरसागर मे प्रवाहित कर दिया। दीक्षा लेते ही सयम और भाव-विशुद्धि के प्रभाव से भगवान को मन पर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। दीक्षा लेकर वे ध्यानमग्न होगये। उपवास समाप्त होने पर वे पारणा के लिए राजगृह नगर मे पधारे और वहाँ वृषभदत्त राजा ने परमान्न भोजन से पारणा कराया। यद्यपि भगवान समभाव से तृप्त थे, उन्हे आहार की कोई आवश्यकता नही थी। किन्तु जिनशासन मे आचार को वृत्ति किस तरह है, यह बतलाने के लिए ही उन्होने आहार ग्रहण किया था। आहार दान के प्रभाव से राजा वृषभदत्त देवकृत पचाश्चर्यो को प्राप्त हुआ।

केवल ज्ञान कल्याणक

इस प्रकार तपश्चरण करते हुए छद्मस्थ अवस्था के जब ग्यारह माह व्यतीत हो गये, तब वे दीक्षा-वन मे पहुँचे और एक चम्पक वृक्ष के नीचे स्थित होकर दो दिन के उपवास का नियम लिया। शुक्ल ध्यान मे विराजमान भगवान को दीक्षा लेने के मास, पक्ष, नक्षत्र और तिथि मे अर्थात् वैशाख कृष्णा नवमी के दिन श्रवण नक्षत्र मे सन्ध्या के समय घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये। तभी इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव किया और समवसरण की रचना की। उसमे विराजमान होकर भगवान ने गणधरो, देवो, मनुष्यो और तिर्यञ्चो को सागार और अनगार धर्म का उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेको ने सयम धारण किया, बहुतो ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये और बहुत से भव्य प्राणियो ने सम्यग्दर्शन धारण किया, अनेको ने सम्यग्दर्शन में निर्मलता प्राप्त की।

भगवान का चतुर्विध सघ

भगवान के सघ मे मल्लि आदि अठारह गणधर थे जो अपने अपने गणो की धर्म-रक्षा करते थे। ५०० द्वादशाग के वेत्ता, २१००० शिक्षक, १८०० अवधिज्ञानी, १८०० केवलज्ञानी, २२०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १५०० मन पर्ययज्ञानी और १२०० वादी मुनि थे। इस प्रकार सब मिलाकर ३०००० मुनिराज उनके साथ थे। पुष्पदन्ता आदि ५०००० अर्जिकाये थो। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकाये थी। उनके भक्त सख्यात तिर्यञ्च और असख्यात देव थे।

निर्वाण कल्याणक

धर्म-देशना देते हुए भगवान मुनि-सघ के साथ विभिन्न देशों में विहार करते रहे। जब उनकी आयु एक मास शेष रह गई, तब वे सम्मेद शिखर पर पहुँचे और एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमा योग धारण कर योग निरोध कर लिया और फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन रात्रि के अन्तिम पहर में समस्त घातिया कर्मो का क्षय करके निर्वाण प्राप्त किया, वे सिद्ध मुक्त हो गये।

उसी समय देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक वरुण यक्ष और बहुरूपिणी यक्षिणी थे।

भगवान मुनिसुव्रतनाथ की जन्म-नगरी—राजगृही

जैनधर्म मे राजगृही नगरी का एक विशिष्ट स्थान है। वह कल्याणक नगरी है, निर्वाण-भूमि है और भगवान महावीर के धर्म-चक्र-प्रवर्तन की भूमि है। धर्म-भूमि होने के साथ-साथ वह युगो तक राजनीति का केन्द्र भी रही है और भारत के अधिकाश भाग पर उसने प्रभावशाली शासन भी किया है। इसलिये इस नगरी ने इतिहास मे निर्णायक भूमिका अदा की है।

—इस नगरी में भगवान मुनिसुव्रतनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे।

—इस नगर के पाँच पर्वतो में वैभार, ऋषिगिरि, विपुलगिरि और बलाहक ये चार पर्वत सिद्धक्षेत्र रहे है। यहाँ से अनेक मुनियो ने निर्वाण प्राप्त किया है, जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने सस्कृत निर्वाण भक्ति मे बताया है।

—राजपुर नरेश जीवन्धर कुमार भगवान महावीर से दीक्षा लेकर मुनि हो गये। वे भगवान के साथ विहार करते हुए विपुलाचल पर पधारे। जब पावा मे भगवान महावीर का निर्वाण हो गया, उसके कुछ काल पश्चात् मुनि जीवन्धर कुमार भी विपुलाचल से मुक्त होगये।

—भगवान महावीर के सभी गणधर विपुलाचल से ही मुक्त हुए।

—अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का निर्वाण भी विपुलाचल से ही हुआ, ऐसी भी मान्यता है।

—उज्जयिनी नरेश धृतिषेण (मुनि अवस्था का नाम काल सन्दीव), पाटलिपुत्र नरेश वैशाख, विद्युच्चर, गन्धमादन आदि अनेक मुनियो ने राजगृह के इन्ही पर्वतो से मुक्ति प्राप्त की थी।

—भगवान महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर वैशाख शुक्ला दसमी को केवलज्ञान हुआ था। देवो ने तत्काल समवसरण की रचना की। किन्तु गणधर न होने के कारण भगवान की दिव्य ध्वनि नही खिरी। तब इन्द्र वेष बदलकर इन्द्रभूति गौतम के पास पहुचा और किसी उपाय से उन्हे भगवान के समवसरण मे लगया। गौतम भगवान के चरणो मे पहुँच कर अभिमान रहित होकर मुनि बन गये। तभी विपुलाचल पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को भगवान को प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और धर्म-चक्र-प्रवर्तन हुआ। इस समय अन्तिम तीर्थकर महावीर का धर्म-शासन प्रवर्त रहा है, इसलिये उनके शासन के अनुयायियो के लिए न केवल इस प्रथम दिव्य ध्वनि का, अपितु विपुलाचल का भी विशेष महत्त्व है। इस बात से विपुलाचल का महत्त्व जैन शासन मे कितना हो गया, इसका मूल्याङ्कन करने के लिए यहाँ एक ही बात का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। पौराणिक साहित्य मे किसी कथा के प्रारम्भ मे कहा जाता है—'विपुलाचल पर भगवान महावीर का समवसरण आया हुआ था। मगध नरेश श्रेणिक बिम्बसार भगवान के दर्शनो के लिए पहुंचे। उन्होने भगवान की वन्दना की और अपने उचित स्थान पर बैठ गये। फिर उन्होने गौतम गणधर से जिज्ञासा की। तब गौतम गणधर बोले।' इस प्रकार प्रत्येक प्रसग का प्रारम्भ होता है। गौतम गणधर से प्रश्न अकेले श्रेणिक महाराज ने ही नही पूछे थे, और भी अनेक व्यक्तियो ने पूछे थे। उनसे केवल विपुलाचल पर ही प्रश्न नही पूछे गये थे, अन्य स्थानो पर भी पूछ गये थे। किन्तु दिगम्बर परम्परा मे कथा कहने की एक अपनी शैली रही है और उस शैली मे विपुलाचल को विशेष महत्ता दी गई है। सभवत इसका कारण यही रहा है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे प्रकाण्ड विद्वान् का गर्व यही आकर गलित हुआ, यही उन्होने मुनि-दीक्षा ली और फिर यही भगवान की प्रथम धर्म-देशना हुई, जिससे धर्म का विच्छिन्न तीर्थ पुन प्रवर्तित हुआ। यह कोई सामान्य घटना नही थी। किसी धर्म के इतिहास मे यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है।

—मुनि सुकौशल और मुनि सिद्धार्थ (सुकौशल के पिता) को राजगृह के पर्वत मे पारणा के लिए नगर को जाते हुए मार्ग मे व्याघ्री (सुकौशल की पूर्व भव मे माता जयावती) ने मार डाला। दोनो मुनि समता भाव से मरे और सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए।

राजगृह पर यद्यपि शताब्दियो तक हरिवंशी नरेशो का शासन रहा, किन्तु उसकी प्रसिद्धि सर्वप्रथम

मगध साम्राज्य की राजधानी के रूप में

जरासघ के काल में हुई। वह बडा प्रतापी नरेश था। उसने बाहुबल द्वारा भरतक्षेत्र के आधे भाग पर अधिकार कर लिया था। मथुरा नरेश कस उसका दामाद और माण्डलिक राजा था। वह बड़ा क्रूर और अहकारी था। श्रीकृष्ण ने उसे मारकर प्रजा को उसके अन्याय-अत्याचारो से मुक्त किया।

किन्तु उससे यादव लोग सम्राट् जरासन्ध के कोप के शिकार हुए। उसने सत्रह बार मथुरा के यादवो पर आक्रमण किये। इन रोज-रोज के आक्रमणो से परेशान होकर और शक्ति सचित करने के लिए श्रीकृष्ण के नेतृत्व मे यादवो ने मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर को छोड़ दिया और पश्चिम मे जाकर समुद्र के मध्य मे द्वारका बसाकर रहने लगे।

कुछ समय पश्चात् कुरुक्षेत्र के मैदान में जरासन्ध और यादवो का निर्णायक युद्ध हुआ। उसमें श्रीकृष्ण ने जरासन्ध को मार दिया और वे अर्धचक्री नारायण बने। नारायण श्रीकृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारका को ही रक्खा। इससे राजगृह-जो उस समय गिरिव्रज कहलाती था—का महत्व कम हो गया।

इसके पश्चात् राजगृह का राजनैतिक महत्त्व शिशुनागवशी सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार के काल मे बढा। श्रेणिक ने राजगृह को ही अपनी राजधानी बनाया। उसका शासन-काल ई० पू० ६०१ से ५५२ माना जाता है। श्रेणिक के शासन-काल मे मगध साम्राज्य उत्तरी भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य माना जाता था।

श्रेणिक प्रारम्भ मे म० बुद्ध का अनुयायी था, किन्तु बाद मे वह भगवान महावीर का अनुयायी बन गया।

श्रेणिक के पश्चात् अजातशत्रु राजगृही का शासक बन गया। उसने अपने वृद्ध पिता को कारागार में डालकर बलात् शासन हथिया लिया। उसने अनेक राज्यो को जीतकर उन्हे अपने राज्य मे मिला लिया। वैशाली और मल्ल गणसघो का विनाश उसी ने किया। उसके राज्य-काल के प्रारम्भ के वर्षो मे राजगृह मगध साम्राज्य की राजधानी रही। किन्तु बाद मे उसने चम्पा को अपनी राजधानी बना लिया। उसके बाद उसके पुत्र उदायि ने पाटलिपुत्र नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया। इसके बाद राजगृह कभी अपने पूर्व गौरव को प्राप्त नही कर सकी।

वर्तमान राजगृह

आजकल राजगृह नगर एक साधारण कस्बा है। उसका महत्व तीर्थ के रूप मे है। जैन लोग राजगृह के विपुलाचल, रत्नागिरि, उदयगिरि, श्रवणगिरि और वैभारगिरि को अपना तीर्थ मानते है। उन्हे पचपहाड़ी भी कहा जाता है। बौद्ध लोग गृद्धकूट पर्वत को अपना तीर्थ मानते हैं तथा सप्तपर्णी गुफा मे प्रथम बौद्ध सगीति हुई थी, ऐसा माना जाता है।

यहाँ सोनभण्डार गुफा, मनियारमठ, बिम्बसार बन्दीगृह, जरासन्ध का अखाडा और प्राचीन किले के अवशेष दर्शनीय है। यहाँ गर्म जल के स्रोत है, जिनका जल अत्यन्त स्वास्थ्यकर है।

बलभद्र राम, नारायण लक्ष्मण और प्रतिनारायण रावण—

मलय देश में रत्नपुर नामक नगर था। उसमें प्रजापति राजा राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम गुणकान्ता था। उनके चन्द्रचूल नामक एक पुत्र था। महाराज के मन्त्री के पुत्र का नाम विजय था। चन्द्रचूल

पूर्व भव में निदान बन्ध

और विजय दोनों में परस्पर में बडा प्रेम था। दोनों ही अत्यन्त लाडप्यार में पले थे इसलिये वे दोनों दुराचारी हो गये। उस नगर के सेठ कुबेर ने अपनी कुबेरदत्ता पुत्री को वैश्रवण सेठ की गौतमा स्त्री से उत्पन्न कुमार श्रीदत्त के लिये देने का सकल्प किया। तभी किसी ने जाकर राजकुमार चन्द्रचूल से कुबेरदत्ता के रूप सौन्दर्य की प्रशसा की। सुनते ही चन्द्रचूल अपने साथी विजय को लेकर सेठ कुबेर के घर जा धमका और कुबेरदत्ता का बलात् अपहरण करने का प्रयत्न करने लगा। यह अनर्थ देखकर वैश्य लोग रोते चिल्लाते हुए महाराज के पास पहुँचे और उनसे जाकर फरियाद की। राजा को अपने पुत्र के इस अनाचार को देखकर बडा क्रोध आया। उन्होने नगर रक्षक को बुलाकर उसे राजकुमार का वध करने की आज्ञा दी। नगर-रक्षक कुछ सैनिको को लेकर राजकुमार को बन्दी बनाने गया और बन्दी दशा मे उसे महाराज के समक्ष लाकर खडा कर दिया। उसे देखते ही राजा ने राजकुमार को शूली का दण्ड दे दिया। नगर रक्षक राजकुमार को शूली पर चढाने के लिये ले चला। तभी प्रधान मन्त्री प्रमुख नागरिको को आगे करके महाराज के निकट आया और हाथ जोडकर निवेदन करने लगा—'देव ! राजकुमार को कार्य अकार्य का विवेक नही है। हम लोगो का प्रमाद रहा कि बाल्यकाल से इसकी ओर ध्यान नही दिया। यह आपका एकमात्र वंशधर और राज्य का भावी उत्तराधिकारी है। दण्ड का उद्देश्य तो व्यक्ति का सुधार है। यदि राज्य के इस एकमात्र कुमार को आपने शूली देदी तो उसका सुधार तो होगा नही, आपका वश भी निर्मूल हो जायेगा। अत आप इसे सुधारने का एक अवसर अवश्य दीजिये। किन्तु राजा ने उनकी एक नही सुनी। वे अपने निर्णय पर अटल रहे। तब प्रधान मन्त्री ने कहा—'देव की जैसी आज्ञा। किन्तु इसको मै स्वय दण्ड दूँगा। राजा ने इस बात की स्वीकृति दे दी।

प्रधानामात्य अपने पुत्र विजय और राजकुमार चन्द्रचूल को लेकर पर्वत पर पहुँचा और राजकुमार को यहाँ पर्वत पर लाने का उद्देश्य भी बता दिया। राजकुमार वडी निर्भयता से मृत्यु दण्ड पाने के लिये तैयार हो गया। तभी मन्त्री को पता चला कि यहाँ निकट ही महाबल नामक गणधर विराजमान है। मत्री दोनो को लेकर मुनिराज के समीप पहुंचा, उनकी वन्दना की और उन दोनो का भविष्य पूछा। मुनिराज बोले-'ये दोनो ही तीसरे भव मे इसी भरत क्षेत्र मे नारायण और बलभद्र होगे।' सुनकर मत्री बडा प्रसन्न हुआ। उन दोनो कुमारो ने भी मुनिराज का उपदेश सुना तो उन्हे अपने कृत्यो पर भारी ग्लानि हुई और उन्होने मुनि-दीक्षा ले ली।

मत्री ने महाराज के पास लौटकर पूरा वृत्तान्त सुना दिया और अन्त मे निवेदन किया- 'महाराज ! वे दोनो सुधार के मार्ग पर लग गये है। उनके लिये दण्ड का उद्देश्य पूरा हो गया। राजा ने सब बात सुनकर मत्री की वडी प्रशसा की। किन्तु इस घटना से उमे भी राज्य से विरक्ति हो गई। वह अपने कुल के किसी योग्य पुत्र को राज्य सौप कर इन्ही गणधर महाराज के निकट पहुँचा। वहाँ दोनो नवदीक्षित कुमारो को मुनि अवस्था मे देखकर उसने दोनो से क्षमा-याचना की। वे दोनो बोले-आपने हमारा बडा हित किया। यह सयम आपकी बदौलत ही हम लोगो ने ग्रहण किया है।

राजा ने भी अनेक व्यक्तियो के साथ सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर सयम अगीकार कर लिया और कठोर आभ्यन्तर वाह्य तपो का आचरण कर कुछ काल मे ही घातिया कर्मो का नाश कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये और अन्त मे शेष अघातिया कर्मो का क्षय कर वे सिद्धालय मे जा विराजे।

एक समय वे दोनो मुनिराज खड्गपुर नगर के बाहर आतापन योग धारण कर ध्यानारूढ थे। उस नगर के राजा सोमप्रभ की सुदर्शना और सीता नाम की दो रानियाँ थी, जिनके क्रमश सुप्रभ और पुरुषोत्तम नामक पुत्र थे। सुप्रभ बलभद्र थे और पुरुषोत्तम नारायण थे। जिस समय वे दोनो मुनि ध्यान लगाये हुए खडे थे, उस समय पुरुषोत्तम नारायण मधुसूदन प्रतिनारायण का वध करके बडे वैभव के साथ नगर मे प्रवेश कर रहा था। उसकी विभूति को देखकर चन्द्रचूल मुनि ने अज्ञानवश वैसी ही विभूति का निदान कर लिया। अन्त मे चारो प्रकार के आहार का त्याग कर दोनो ने चारो आराधनाओ का सेवन किया। वे मरकर सनत्कुमार स्वर्ग मे विजय और मणिचूल नामक देव हुए।

ये ही दोनो देव महाराज दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण हुए जोकि लोक विश्रुत बलभद्र और नारायण थे।

द्वाविंश परिच्छेद

जैन रामायण

कर्मभूमि के प्रारम्भ मे ससार के आदि महापुरुष, आदि ब्रह्मा, आदि तीर्थकर, आदिनाथ, आद्य भगवान ऋषभदेव हुए। उनके पिता का नाम नाभिराय था, जो चौदहवे कुलकर या मनु थे। माता का नाम मरुदेवी था।

इक्ष्वाकु वंश, सूर्यवंश, चन्द्रवंश

उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ थी। बडे पुत्र का नाम भरत था, जो भरत क्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् थे। इन्ही के नाम पर इस देश का नाम भारत पडा। दूसरे पुत्र बाहुबली थे, जो प्रथम कामदेव थे। पुत्रियो के नाम ब्राह्मी और सुन्दरी थे। ब्राह्मी को भगवान ऋषभदेव ने लिपि विद्या सिखाई थी। उसके नाम पर ही आगे लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पड गया। भगवान ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को अक विद्या सिखाई थी।

भगवान जब गृहस्थाश्रम छोडकर प्रव्रजित हो गये तो उन्होने छह माह तक घोर तपस्या की। उसके पश्चात् वे नगर मे आहार के लिये निकले। किन्तु उस समय लोग मुनिजनोचित आहार की विधि नही जानते थे। अत भगवान अपने नियमानुसार आहार को निकलते और विधि के अनुकूल आहार न पाकर बन मे लौट जाते। इस प्रकार छह माह बीत गये। तब विहार करते हुए भगवान हस्तिनापुर नगर मे पधारे। वहाँ के राजा सोमप्रभ के लघु भ्राता श्रेयान्स को भगवान का दर्शन करते ही पूर्वजन्म मे मुनि को दिये हुए आहार का स्मरण हो आया। उस समय महल मे शुद्ध इक्षु रस (गन्ने का रस) रक्खा हुआ था। राजकुमार श्रेयान्स ने भगवान को आहार मे वही इक्षु-रस दिया। राजा श्रेयान्स दान-तीर्थ के कर्ता और आद्य प्रवर्तक कहलाये।

यह घटना भगवान के मुनि-जीवन से सम्बन्धित प्रथम महत्त्वपूर्ण घटना थी। अत. भगवान का कुल इक्ष्वाकु वश कहलाया। इसी वश को इतिहासकारो ने ककुत्स्थ वश भी कहा है क्योकि भगवान ऋषभदेव का ध्वज-चिन्ह ककुत्स्थ (बैल) था।

इसी वश से सूर्यवश निकला। चक्रवर्ती भरत के ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति थे। वे अत्यन्त तेजस्वी और प्रभावशाली थे। उनके नाम पर ही सूर्यवश की उत्पत्ति हुई और उनके वशजो को सूर्यवशी कहा जाने लगा। इस वश में अनेक प्रतापी सम्राट् हुए। राजकुमार श्रेयान्स के बडे भ्राता सोमप्रभ से सोमवश अथवा चन्द्रवश चला।

इक्ष्वाकु वश मे अनेक राजा हुए। भगवान मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल मे विजय नाम का एक राजा हुआ। उसके वश मे सुन्दर, कीर्तिधर, सुकौशल, हिरण्य, रुचिनधुष, सोदास सिहरथ आदि राजा हुए। इसी वश मे हिरण्य

रघुवंश

कश्यप हुआ। उसके पुजस्थल, फिर ककुत्स्थ, और उससे रघु हुआ। रघु अत्यन्त प्रतापी सम्राट् था। उससे ही रघुवश चला।

राजा दशरथ और उनकी रानियाँ

राजा रघु के अनरण्य नाम का पुत्र हुआ। अनरण्य की पटरानी पृथ्वीमती थी। उनके दो पुत्र हुए—एक का नाम था अनन्तरथ और दूसरे का नाम था दशरथ। अनन्तरथ तो अपने पिता के साथ यथासमय सन्यास लेकर मुनि हो गया। अत राज्याधिकार दशरथ को प्राप्त हुआ।

दशरथ अत्यन्त तेजस्वी और नीति परायण नरेश थे। उन्होने तीन राजकुमारियो के साथ विवाह किये—

एक तो अपराजिता, जिसका दूसरा नाम कौशल्या था। यह दर्भपुर के राजा सुकोशल और उनकी रानी अमृतप्रभा की पुत्री थी। दूसरी सुमित्रा, जिसके माता-पिता पद्मपत्र नगर के राजा तिलकबन्धु और रानी मित्रा थी। तीसरी राजकुमारी का नाम सुप्रभा था जो रत्नपुर के राजा की पुत्री थी। इसी काल मे राजा जनक मिथिलापुर मे शासन कर रहे थे। वे हरिवशी थे। उनके पूर्वजो मे विजय, दक्ष, इलावर्धन, श्रीवर्धन, श्रीवृक्ष, सजयन्त, कुणिम, महारथ, पुलोमा आदि अनेक प्रतापी राजा हो चुके थे।

एक बार राजा दशरथ राजदरबार में बैठे हुए थे। तभी आकाशमार्ग से नारद आये। राजा ने उनकी यथोचित अभ्यर्थना की और कुशल-मंगल पूछने के बाद उनके आने का कारण पूछा। तब नारद ने बताया कि मै लका गया हुआ था। वहाँ का राजा महाबलवान राक्षसवशी रावण है। उसकी सभा मे एक बडा दु खदायक समाचार सुना। किसी ज्योतिषी ने रावण से यह कहा कि सीता के निमित्त से दशरथ के पुत्रो द्वारा तुम्हारी मृत्यु होगी। यह सुनकर विभीषण ने रावण से कहा कि दशरथ और जनक के जबतक सन्तान होगी, उससे पहले ही मै उन दौनो राजाओ को मार डालूँगा। उसने अपने चर छद्मवेश में तुम्हे देखने भेजे थे। वे तुम्हे देख कर वापिस चले गये हैं और तुम्हारे बारे मे सारे समाचार विभीषण को दिये है। अत विभीषण तुम दोनो को मारने के लिए शीघ्र ही आने वाला है। अत तुम्हे अपनी रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

नारद से यह समाचार सुनकर दशरथ अत्यन्त भयभीत हो गये। नारद वहाँ से राजा जनक के पास गये और उन्हे भी ये समाचार सुनाये। दोनो ने अपने मन्त्रियो से परामर्श किया। मत्रियो ने कहा कि जब तक यह विघ्न टल नही जाता, आप प्रच्छन्न रूप मे किसी दूसरे नगर मे रहे। यह सुनकर दोनो राजा देशान्तर को चले गये और उनके स्थान पर दो नकली शरीर बनाये गये। उनमे लाख आदि का रस भरकर सिहासन पर बैठा दिया। विभीषण ने आकर उन नकली राजाओ को मार डाला। विभीषण प्रसन्न होकर लका वापिस चला गया।

उधर दशरथ जनक के साथ अनेक देशो में भ्रमण करते हुए कौतुकमगल नगर मे पहुँचे। उस नगर का राजा शुभमति था। उसकी रानी का नाम पृथ्वीमही था। उसके दो पुत्र-कंकय और द्रोण थे और एक रूपगुणवती कन्या थी, जिसका नाम केकामती (कैकेयी) था। वह कन्या सगीत, शस्त्र और शास्त्र मे अत्यन्त निपुण थी। राजा ने उसके विवाह के लिए स्वयवर रचा, जिसमे अनेक राजा भाग लेने आये। वहाँ दशरथ और जनक भी बैठ गये। राजकुमारी कैकेयी वरमाला लेकर स्वयवर मण्डप मे आई। द्वारपाली सब राजाओ का परिचय देती गई। जब कैकेई दशरथ के सम्मुख पहुची तो उसने दशरथ के गले मे वरमाला डाल दी।

नारद की उत्पत्ति

नारद, जो बडा कलहप्रिय कहलाता है, उसका जन्म किन विचित्र परिस्थितियो मे हुआ, यह जानना बडा रुचिकर है।

ब्रह्मरुचि नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी पत्नी कूर्मी थी। दोनो सन्यासी थे। जगल मे एक मठ मे रहते थे। एक बार कूर्मी को गर्भ रह गया। वहाँ एक बार एक दिगम्बर मुनि पधारे। दोनो सन्यासी आकर बैठ गये। वे मुनि ने पूछा—यह गर्भिणी स्त्री कौन है? ब्राह्मण बोला—यह मेरी पत्नी है। मुनि बडे आश्चर्य से बोले-तू तो सन्यासी है। तुझे स्त्री रखना उचित नही है।

ब्राह्मण मुनिराज के उपदेश से मुनि बन गया। ब्राह्मणी को बडा दु ख हुआ कि इस अवस्था मे वह दीक्षा नही ले सकती। किन्तु जब बालक उत्पन्न हुआ और १६ दिन का हो गया तो ब्राह्मणी उसे एक सुरक्षित स्थान पर रखकर चली गई और तपस्विनी हो गई। बालक चुपचाप पडा था। सयोग की बात कि आकाश मे जाते हुए जृम्भक नामक एक देव ने बालक को देखा और दयावश उसे उठाकर ले गया। उसका लालन-पालन किया और शास्त्रो का अध्ययन कराया।

जब बालक यौवन सम्पन्न हुआ तो उसने आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर ली, क्षुल्लक के व्रत भी ले लिए। साथ ही जटाये रखली, मुकुट भी पहनने लगा। इस तरह वह न गृहस्थ ही रहा, न मुनि ही। वह हास-विलास का प्रेमी था, अत्यन्त वाचाल था, कलह देखने का इच्छुक और सगीत का शौकीन था, वह ब्रह्मचारी था, राजघरानो मे उसका बडा सम्मान था। देवो ने उसका पालन किया था ओर देवो के साथ उसकी क्रीडाये थी। इसलिए वह देवर्षि कहलाता था।

राजा लोग एक अज्ञातकुलशील व्यक्ति के गले मे वरमाला पड़ी देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और लडने के लिए तैयार हो गये। तब राजा शुभमति उनसे लडने के लिए तैयार हुआ, किन्तु दशरथ ने उसे राक दिया और सेना लेकर स्वय रणक्षेत्र मे जा पहुँचा। राजा दशरथ के सारथी का दायित्व कैकेयी ने लिया। कैकेयी रथसचालन मे अत्यन्त निपुण थी। दानो ओर से भयानक युद्ध हुआ। किन्तु दशरथ की रणचातुरी और कैकेई की रथ-सचालन की चातुरी के कारण विजयश्री दशरथ को मिली। राजा पराजित हो गये। दशरथ का कैकेयी के साथ समारोह-पूर्वक विवाह हो गया और वह अयोध्या लौट आये तथा जनक मिथिला चले गये।

एक दिन दशरथ रानियो के बीच बैठे हुए कैकेयी की प्रशसा करते हुए बोले—प्रिये! तुमने जिस कौशल से रथ का सचालन किया था, उसो के कारण मेरी विजय सभव हो सकी थी। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर मागलो। कैकेयी पहले तो अपनी लघुता बताती हुई टालती रही। किन्तु जब राजा ने बार-बार आग्रह किया तो बोली—'नाथ! मेरा वर आप धरोहर के रूप मे सुरक्षित रखले। जब मुझे आवश्यकता होगी, तब मै माग लूंगी।' राजा ने भी कह दिया—तथास्तु।

राक्षस वंश और बानर वंश

भरत क्षेत्र के मध्य मे विजयार्ध नामक एक विशाल पर्वत था, जिसकी दो श्रेणियाँ थीं—उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणी। इन दोनो श्रेणियो की राजधानी क्रमश अलकावती और रथनूपुर थी। इन श्रेणिया मे विद्याधरो का निवास था। वे यद्यपि मनुष्य थे किन्तु वे विद्याओ की सिद्धि किया करते थे, (जिसे आधुनिक भाषा मे कह सकते हैं कि वे वैज्ञानिक प्रयोग किया करते थे। इसलिए उनके पास विमान थे तथा अद्भुत शस्त्रास्त्र थे।) इन विद्याधरो मे अनेक जातियाँ थी—राक्षस, वानर, ऋक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि। इन्हे जातीय अभिमान था और ये भूमि पर रहने वालो को भूमिगोचरी कहते थे तथा उन्हे हीनदृष्टि मे देखते थे। यहाँ तक कि भूमिगोचरियो को अपना कन्या देना अपना अपमान समझते थे। यद्यपि भूमिगोचरी राजाओ ने अपने बाहुबल के द्वारा विद्याधरो की कन्याओ के साथ विवाह किया था, किन्तु फिर भी विद्याधरो मे जातीय अभिमान बहुत काल तक बना रहा।

राक्षस वंश

द्वितीय तीर्थकर भगवान अजितनाथ के समय मेघवाहन नामक राजा को प्रसन्न होकर राक्षस जाति के देवो के इन्द्र भीम और सुभीम ने समुद्र के मध्य मे बसे हुए राक्षस द्वीप की राजधानी लका तथा पाताल लका का राज्य दिया था तथा अद्भुत कान्ति वाला रत्नहार दिया था। फलत राजा मेघवाहन अपने परिवार सहित राक्षस द्वीप मे जा बसा और वहाँ आनन्दपूर्वक राज्य करने लगा।

उसके वश मे आगे चलकर एक महाप्रतापी राजा हुआ, जिसका नाम राक्षस था। उसके नाम पर उस वश का नाम राक्षस वश पड गया।

बानर वंश

विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी के मेघपुर नगर के अधिपति श्रीकण्ठ को लका नरेश कीर्तिशुभ ने, जो श्रीकठ का बहनोई था, शत्रुओ के उत्पात से बचाने के लिए बानर द्वीप दिया था। श्रीकठ ने वहाँ जाकर नगर बसाया और सुखपूर्वक रहने लगा। इस द्वीप मे वानर बहुत थे। श्रीकण्ठ तथा उसके नगरवासी उन बानरो से अपना खूब मनोरंजन किया करते थे तथा उनको पालते भी थे। उसी के वश में आगे चलकर अमरप्रभ राजा हुआ। उसने अपनी ध्वजा, मुकुट, छत्र, तोरण और द्वारो पर बानरो के चिन्ह खुदवा दिये। तबसे सारे नगरवासी बन्दरो को आदर की दृष्टि से देखने लगे। इसीलिए उनके वश का नाम बानर वश पड गया।

राक्षस कुल में रावण का जन्म

राक्षस और बानर वंशियो मे परस्पर बडा प्रमभाव था। एक बार रथनूपुर के राजा अशनिवेग से बानर नरेश और राक्षस नरेश सुकेश का युद्ध हुआ। उस युद्ध मे दोनो वश के राजा हार गये और युद्ध छोडकर भागे तथा पाताल लका मे जाकर रहने लगे। अशनिवेग ने लका की गद्दी पर निघति नामक राजा को बैठा दिया। कुछ काल पश्चात् बानर वशी किष्कन्ध ने समुद्र के किनारे किष्कन्ध नामक नगर बसाया और वही रहने लगा।

राक्षस वशी सुकेश के तीन पुत्र हुए—माली, सुमाली और माल्यवान। जब माली को अपने माता-पिता

से लंका की पराजय का समाचार मालूम हुआ तो उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेना लेकर लका पर आक्रमण कर दिया और निघति को मारकर पुन लका का राज्य प्राप्त कर लिया तथा राक्षसवशी पुन आनन्द से लका मे रहने लगे।

उस समय रथनूपुर नगर का राजा सहस्रार था। उसकी रानी मानससुन्दरी को गर्भ के समय इन्द्र जैसी क्रीडा करने की इच्छा होती थी। अत राजा रानी खूब क्रीडा किया करते थे। जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसका नाम इन्द्र रक्खा। इन्द्र बडा बलवान था। युवा होने पर उसने अपने वैभव आदि इन्द्र जैसे ही बनाने शुरू किये। अपने महल का नाम वैजयन्त रक्खा। अपने हाथी का नाम ऐरावत, सभा का नाम सुधर्मा, नर्तकियो का नाम उर्वशी, तिलोत्तमा रक्खा। नागरिको को देव सज्ञा दी। मत्री का नाम बृहस्पति, सेनापति का नाम हिरण्यकेश रक्खा। लोकपालो की चारो दिशाओ मे नियुक्ति की, जिनके नाम उसने सोम, वरुण, कुबेर और यम रक्खे। अपनी रानी का नाम शची रक्खा। इसने विजयार्ध की दोनो श्रेणियाँ जीत ली।

एक बार लकापति माली विजयार्ध की दोनो श्रेणियो को जीतने के लिए विशाल सेना लेकर चला। उसके साथ मे वानरवशी राजा सूर्यरज और यक्षरज भी थे। इन्द्र से उनका भयानक युद्ध हुआ। इस युद्ध मे माली मारा गया और राक्षस सेना युद्ध से भाग गई। तब इन्द्र के लोकपाल सोम ने लका और किष्किन्धा पर अधिकार कर लिया। राक्षस और बानरवशी पाताल लका मे जाकर रहने लगे।

सुमाली के रत्नश्रव नामक पुत्र हुआ। उसका विवाह केकसी से हो गया। केकसी ने एक रात को तीन स्वप्न देखे—एक तो क्रोध से उद्धत सिह देखा, दूसरा उगता हुआ सूर्य देखा और तीसरा परिपूर्ण चन्द्रमा देखा। रानी ने अपने स्वप्नो का हाल पति से कहा। राजा ने विचार कर कहा—प्रिये! तुम्हारे तीन पुत्र होगे— एक तो महान योद्धा और पाप कर्म मे समर्थ होगा तथा दो कुटुम्ब को सुख देने वाले पुण्य पुरुष होगे।

जब रावण गर्भ मे आया तो रानी अहकार मे भर उठी। वह बात-बात मे सिहनी की तरह दहाड उठती थी। यथासमय रावण का जन्म हुआ। एक दिन बालक इन्द्र द्वारा प्रदत्त उस रत्नहार के पास पहुँच गया, जिसकी रक्षा हजार नागकुमार देव करते थे। उसने वह हार उठा लिया। सब लोग बालक की महान शक्ति पर आश्चर्य करने लगे। उस हार मे नौ रत्न लगे थे। उनमे रावण के नौ मुख और दिखाई देने लगे। तब सब लोगो ने प्यार मे बालक का नाम दशानन रख दिया।

कुछ समय के पश्चात् केकसी के कुम्भकर्ण नामक दूसरा पुत्र हुआ। बाद मे पूर्ण चन्द्रमा के समान चन्द्रनखा नामक पुत्री हुई और फिर विभीषण नाम का पुत्र हुआ।

एक दिन माता केकसी अपने पुत्रो के साथ महल की छत पर बैठी हुई थी। तभी आकाश मे पुष्पक विमान जाता दिखाई दिया। उसे देखकर रावण ने माता से पूछा-मा! यह महा विभूति वाला कौन जा रहा है। तब माता बोली-पुत्र! यह तेरी मौसी कौशिकी का पुत्र वैश्रवण (कुबेर) है। यह विजयार्ध के राजा इन्द्र का लोकपाल है। इन्द्र ने तेरे बाबा माली को मारकर लका छीन ली थी और इस कुबेर को वहाँ का लोकपाल बना दिया है। जब से लका गई है, तब से तेरे पिता और मुझे रात मे नीद नही आती है। माता के वचन सुनकर रावण ने माता को धैर्य बधाया और कहा—मा! मै जल्दी ही विजयार्ध के विद्याधरो को हराकर लका पर अधिकार करूँगा। तू शोक और चिन्ता छोड़ दे।

इसके पश्चात् तीनो भाई वहाँ से भीम नामक वन मे जाकर घोर तपस्या करने लगे। कुछ ही समय मे रावण को एक हजार विद्याये सिद्ध हो गई, कुम्भकर्ण को पाच और विभीषण को चार विद्याये सिद्ध हो गई। इसके बाद रावण ने पुन तपस्या की और चन्द्रहास नामक तलवार प्राप्त हुई। विद्या-सिद्धि के समाचार जानकर सारे कुटुम्बी वहाँ आ गये और बडा हर्ष मनाने लगे।

एक दिन असुरसगीतनगर का दैत्य नरेश मय अपनी पुत्री मन्दोदरी को लेकर वहाँ आया। उसके साथ मे मारीच आदि उसके मत्री भी थे। मन्दोदरी अत्यन्त सुन्दरी गुणवती कन्या थी। राजा मय ने अपनी उस कन्या का विवाह रावण के साथ धूमधाम से कर दिया।

इसके बाद रावण ने पद्म श्री, अशोकलता, विद्युत्प्रभा आदि अनेक राजकन्याओ के साथ विवाह किये

मन्दोदरी उन सब रानियो मे मुख्य पटरानी रही। कुम्भकर्ण जिसका दूसरा नाम भानुकर्ण था-का विवाह तडिन्माला के साथ और विभीषण का विवाह राजीव सरसी नामक राजकन्या के साथ हो गया। यथासमय मन्दोदरी के दो पुत्र हुए—इन्द्रजीत और मेघवाहन।

अब रावण की कुवेर से छेडखानी शुरू हो गई। कुम्भकर्ण ने कुवेर की प्रजा लूट ली। कुवेर ने सुमाली के पास दूत भेज कर कहलवाया कि पहले तुम्हारा भाई मारा गया था। यदि तुमने अपने नातियो की उद्दण्डता को नही रोका तो तुम सबका वध निश्चित है। यह सुनकर रावण ने दूत को फटकार कर और अपमानित कर निकाल दिया। दूत ने जाकर कुवेर को सारे समाचार बताये। अत क्रुद्ध होकर कुवेर ने अपनी सेना सजाकर रणभेरी बजा दी। रावण भी राक्षसवशी और वानरवशी सेनाओ को लेकर जा डटा। मज नामक पर्वत पर दोनो सेनाओ का घोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में रावण ने कवेर पर बज्रदण्ड का प्रहार किया, जिससे वह मूर्छित हो गया और उसकी सेना भाग खडी हुई। रावण ने कुवेर के पुष्पक विमान पर अधिकार कर लिया।

रावण का इन्द्र के साथ युद्ध

अब रावण ने दक्षिण के राज्यो को जीतना प्रारम्भ किया। वह रुका नही, बढता ही गया। तभी समाचार मिला कि बानरवशी यक्षराज और सूर्यरज ने अपनी किष्कू नगरी लेने के उद्देश्य से वानर द्वीप लूट लिया। यह समाचार सुनकर इन्द्र का भयकर लोकपाल यम उनसे युद्ध करने आया। उसने युद्ध में यक्षरज को बन्दी बना लिया और सूर्यरज को मूछित कर दिया है। सारी वानर सेना का यम ने निर्दयतापूर्वक विध्वस करना प्रारम्भ कर दिया। बहुत से वानरवशी मारे गये और बहुत से वानर बन्दी बना लिये गये।

'यम ने अपने यहाँ नरक जैसी व्यवस्था कर रक्खी है। वहाँ वह बन्दी वानरो को निर्मम पीडा दे रहा है। अब आप की ही शरण है।' यह सुनकर रावण सेना सहित किष्कुपुर पहुँचा। वहाँ उसका यम के साथ भयंकर युद्ध हुआ। यम पराजित होकर भाग गया और इन्द्र के पास रथनूपुर जा पहुँचा। रावण ने बन्दी वानरो को मुक्त किया और यक्षरज को किष्कुपुर का राज्य दिया तथा सूर्यरज को किष्किन्धापुर का राज्य दिया। अपना गया हुआ राज्य पाकर बानरवशी बहुत प्रसन्न हुए और सुखपूर्वक रहने लगे। रावण तब राक्षसवशियो को लेकर समुद्र तट पर पहुंचा और बड़े उल्लास और समारोह के साथ लका मे प्रवेश किया।

इसी बीच एक घटना और हो गई। रावण लका से बाहर गया हुआ था। तभी अलकारपुर के राजा खरदूषण ने—जो मेघप्रभ का पुत्र था, लका मे आकर रावण की बहन सुन्दरी चन्द्रनखा को हर लिया। कुम्भ-कर्ण और विभीपण ने उसका प्रतिरोध भी किया, किन्तु वे उसे छुडा नही सके। खरदूपण बडा बलवान था। जब रावण लौटा और उसने यह समाचार सुना तो वह बडा क्रोधित हुआ और खरदूपण से युद्ध करने को तैयार हो गया। तब उसकी पटरानी मन्दोदरी ने उसे समझाया—'कन्या तो पराये घर की होती है। खरदूषण ने चन्द्र-नखा का अपहरण कर लिया तो क्या बात हो गई। अपहृत कन्या को एक तो कोई लेगा नही। दूसरे खरदूषण योग्य पात्र है। वह चौदह हजार विद्याधरो का राजा है। अनेक विद्याय उसे सिद्ध है। वह समय पड़ने पर आपकी सहायता भी कर सकता है। फिर पता नही, युद्ध मे किसकी जीत हो।'' इस प्रकार समझाने से रावण भी युद्ध से विरत हो गया।

अब उसने इन्द्र को जीतने के लिये कूच किया। चक्ररत्न उसके पास था, जिसकी रक्षा एक हजार देव करते थे। अनेक राजा और विशाल फौज उसके साथ थी। चलते चलते विन्ध्याचल पर नर्मदा के तट पर सेना ने पड़ाव डाला। प्रात काल नदी की बालू इकट्ठी करके उस पर जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा विराजमान करके रावण भक्ति से पूजा करने लगा। जहाँ रावण पूजा कर रहा था, उससे ऊपर की ओर नदी का जल बाधकर माहिष्मती का राजा सहस्ररश्मि अपनी स्त्रियो के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था। जब क्रीड़ा कर चुका तो उसने बाँध का पानी छोड दिया। पानी के पूर से रावण की पूजा मे बडा बिघ्न पडा। वह क्रोधित होकर बोला कि यह क्या गडबड है। कुछ लोगो ने आगे जाकर पता लगाया और आकर रावण से निवेदन किया—'महाराज! माहिष्म-ती नरेश सहस्ररश्मि अपनी रानियो के साथ जल-क्रीडा कर रहा था। उसने यह पानी छोड़ा है। यह सुनकर

रावण ने क्रोध मे भर कर उस पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया। सहस्त्ररश्मि भी युद्ध के लिए तैयार हो गया। दोनो ओर से युद्ध हुआ। अन्त मे रावण ने उसे कौशल से नागपाश से बाँध लिया। जब यह बात सहस्त्ररश्मि के पिता बाहुरथ को—जो चारण ऋद्धिधारी तपस्वी मुनि थे—ज्ञात हुई तो उन्होंने रावण को समझाया। फलतः रावण ने सहस्त्ररश्मि को सम्मानपूर्वक छोड दिया और उसके साथ बन्धुत्व भाव प्रगट किया। किन्तु सहस्त्ररश्मि अपमान से दुखित होकर दिगम्बर मुनि बन गया।

तत्पश्चात् रावण आगे बढा। मार्ग मे उसने अनेक मन्दिरो का निर्माण कराया, पुराने मन्दिरो का जीर्णोद्धार कराया। मार्ग में जो राजा पड़े, उन्हे जीतता हुआ उत्तर दिशा की ओर बढा।

रावण अब इन्द्र के नगर की ओर बढने लगा। किन्तु मार्ग में दुर्लंघ्यपुर नगर ने उसका अवरोध किया। इन्द्र ने विजयार्ध के मार्ग में रक्षा के लिए इस नगर मे नलकुवेर को नियुक्त कर रखा था। नलकुवेर ने नगर के चारो ओर अभेद्य कोट बना रक्खा था तथा उसके द्वारो का पता नही चलता था। गुप्त द्वार बनाये हुए थे। कोट पर किसी शस्त्र का प्रभाव नही पड़ता था। रावण यह देखकर अत्यन्त चिन्तित हो गया। किन्तु नलकुवेर की स्त्री रम्भा ने ही कामासक्त होकर कोट को विजय करने की विद्या रावण को बता दी और रावण ने उसे सहज ही जीत लिया।

जब इन्द्र को ज्ञात हुआ कि रावण अत्यन्त निकट आ गया तो वह देव सेना लेकर मोर्चे पर आ डटा। दोनो ओर से भयानक युद्ध हुआ। वीर प्राणो का मोह छोडकर युद्ध करने लगे। इस युद्ध मे इन्द्र के पुत्र जयन्त ने राक्षसवंशी माल्यवान के पुत्र श्रीमाली को मार डाला। इन्द्र के लोकपालो को कुम्भकर्णादि वीरो ने नागपाश से बाँध लिया। तब इन्द्र और रावण मे शस्त्रास्त्रो और विद्याओ से भयानक युद्ध हुआ। दोनो ही वीर थे। दोनो ने एक दूसरे के शस्त्रास्त्र और विद्याये बेकार कर दिये। एक दिन युद्ध करते हुए रावण बडी फुर्ती से अपने त्रैलोक्य-मण्डन हाथी से उछलकर इन्द्र के ऐरावत हाथी पर पहुँच गया और इन्द्र जब तक सम्हले, तब तक रावण ने उसे नागपाश मे बाध लिया। देव सेना पराजित होकर भाग गई। रावण की जय-जयकार होने लगी। रावण ने माली और श्रीमाली की मृत्यु का बदला चुका दिया।

रावण विजयार्ध की दोनो श्रेणियो को जीत कर मार्ग के सारे राजाओ को जीतता हुआ लका लौटा। वहाँ आकर उसने इन्द्र, सोम, यम आदि को कारागार मे डाल दिया। तब इन्द्र का पिता राजा सहस्त्रार प्रजा के अनुरोध को मानकर रावण के पास आया और इन्द्र को छोड़ देने का आग्रह किया। रावण ने सहस्त्रार का यथोचित सम्मान किया और हाथ जोडकर बोला—आप जो आज्ञा देगे वही होगा। और लोकपालो से विनोद में हँसते हुए बोला—इन्द्र जब मेरा दास बनकर गाँव के गधो की रखवाली करेगा, तब मै उसे छोड दूँगा। इसके अतिरिक्त वायु मेरे यहाँ झाड़ू दे, यम पानी भरे, कुवेर मेरे हार की रक्षा करे, अग्नि रसोई बनावे तथा देवगण घड़ों मे पानी भरकर लका के बाजारो मे छिड़काव करे तो मै सबको छोड दूँगा, अन्यथा नही।

यह विनोद बडा मर्मभेदी था। लोकपाल सुनकर लज्जा से अवनत मुख हो गये। तब रावण ने सबको मुक्त कर दिया और स्नान भोजन कराके इन्द्र से बोला—आज मे तुम मेरे चौथे भाई हो। तुम यहाँ लका में रहकर राज्य करो और मैं रथनूपुर चला जाऊँगा। फिर सहस्त्रार से बोले—आप हमारे पिता तुल्य है। इन्द्र मेरा चौथा भाई है। इसका इन्द्र पद और लोकपालो का पद यथापूर्व रहेगा। दोनो श्रेणियो पर इसका ही अधिकार रहेगा। यदि यह और भी राज्य चाहे तो ले ले। आप चाहे यहाँ विराजे या रथनूपुर, दोनो आपकी ही है।

इन वचनों से सहस्त्रार अत्यन्त सन्तुष्ट हो इन्द्र आदि सहित वहा से चलकर रथनूपुर आये। किन्तु मान भंग के कारण इन्द्र और लोकपालो का मन व्यथा से भर गया था। उनका मन किसी काम मे न लगता था। इन्द्र निरन्तर ससार के स्वरूप और सपत्ति की क्षणभगुरता के चिन्तन मे डूबा रहता। अन्त में एक दिन वह पुत्र को राज्य-भार देकर लोकपालों और अनेक राजाओ के साथ दिगम्बर मुनि बन गया और घोर तपस्या करके ससार से मुक्त हो गया।

रावण को चक्ररत्न तो पहले ही प्राप्त हो चुका था। अब उसने दिग्विजय करना प्रारम्भ किया। वह प्रभजन के वेग से चला। राजा लोग उपहार देकर उसका स्वागत करते और उसकी आधीनता स्वीकार कर लेते थे। किन्तु जो उसकी आधीनता स्वीकार नही करते थे, उनको वह पराजित करके कठोर दण्ड देता था। इस प्रकार अठारह वर्ष मे उसने भरत-क्षेत्र के तीनो खण्डो को जीत लिया और अर्धचक्री बनकर वह लका में रहकर शासन करने लगा।

रावण के चरित्र का एक उज्ज्वल पहलू

रावण चरित्रनिष्ठ धार्मिक व्यक्ति था। वह परस्त्री की मन में भी कभी बाँछा नही करता था। जब वह इन्द्र को जीतने चला और इन्द्र द्वारा नियुक्त राजा नलकुबेर के नगर दुर्लघ्यपुर पहुँचा तो वहाँ मायामय कोट को नही जीत पाया। उसने अनेक प्रयत्न किये, नाना उपाय किये। किन्तु नाम के अनुरूप दुर्लघ्यपुर दुर्लघ्य ही रहा। इस प्रकार उसे वहाँ पडे पडे छः माह हो गये। वह बडा चिन्तातुर हो गया –यो कब तक यहाँ पडा रहा जा सकता है और बिना इसे जीते आगे भी कैसे बढा जा सकता है। पीछे लौटना रावण के स्वभाव के विरुद्ध था।

रावण की कीर्ति का सौरभ नलकुबेर की पटरानी रम्भा के कानो मे भी पडा। वह अपने स्वयवर के समय से ही रावण मे अनुरक्त थी, किन्तु स्वयवर के समय रावण पहुँच नही पाया था, अत मजबूरन रम्भा ने नलकुबेर के गले मे वरमाला डाल दी थी। किन्तु अब रावण को अपने निकट आया जानकर उसका सुप्त प्रेम पुन. जाग उठा। उसने अपने मन की बात अपनी सखी और दासी चित्रला से कही और उससे यह भी कह दिया कि अगर तू मुझे जीवित देखना चाहती है तो कोई उपाय कर, जिससे मै रावण से मिल सकूं। चित्रला उसे आश्वासन देकर गुप्त मार्ग से रावण के कटक मे पहुँची और रावण से मिलकर उसने अपनी स्वामिनी का अभिप्राय निवेदन किया। रावण ने स्पष्ट शब्दो मे कह दिया—'भद्रे ! मै परस्त्री मे कभी समागम नही करता। यह बड़ा निंद्य कर्म है।' चित्रला निराश होकर वापिस जाने लगी तो रावण के लघु भ्राता विभीषण ने जो उसका मन्त्री भी था, रावण को समझाया—'आर्य ! आपको थोडा असत्य बोलकर भी इस समय दासी की बात स्वीकार कर लेनी चाहिये। इससे रम्भा आपको कोट की चाबी दे देगी। रावण ने बडे अनमने भाव से दासी को बुलाकर कह दिया—तू अपनी स्वामिनी से जाकर कह देना कि मै उनसे अवश्य मिलूंगा, किन्तु चोरो की तरह नही। जब मै नगर मे पहुँचूंगा, तब मिलूगा।

दासी प्रसन्न होकर लौट गई और जाकर रम्भा को सब बाते बता दी। रम्भा अत्यन्त कामासक्त हो उठी और उसने शालिका नाम की विद्या रावण के पास भेज दी, जिसके द्वारा रावण नगर के भीतर पहुँच गया और नलकुबेर को बन्दी बना लिया।

जब नलकुबेर को राजसभा मे रावण के समक्ष उपस्थित किया गया तो रावण ने रम्भा को भी बुलाया। रम्भा पुलकित होकर आशा सजोये रावण के निकट पहुँची तो रावण ने कहा—'माता !' उस अप्रत्याशित सबोधन पर रम्भा चौकी तो रावण बोला — तुमने मुझे विद्या दी है, अत. तुम मेरी गुरुआणी हो। और गुरुआणी माता के समान होती है। पर पुरुष की कामना करना महापाप है। तुम अपने पति नलकुबेर मे अनुरक्त रहो। तुमने मुझे विद्या दी है, अत मै तुम्हारे लिये तुम्हारे पति को मुक्त करता हूँ।' यो कहकर उसने नलकुबेर को मुक्त कर दिया। रम्भा बडी लज्जित हुई।

यह रावण के महान् चरित्र का एक उज्वल पक्ष है, जिसको लोगो ने समझा नही या उपेक्षा की है।

बाली द्वारा रावण का पराभव

किष्किधा नगर के वानरवशी राजा सूर्यरज और उसकी रानी चन्द्रमालिनी के बाली नामक पुत्र हुआ। वह महा बलवान, धार्मिक था। उसके कुछ समय पश्चात् सुग्रीव नामक पुत्र और श्रीप्रभा नाम की कन्या उत्पन्न हुई। इसी प्रकार किष्कुपुर नगर के राजा यक्षरज और उसकी रानी हरिकान्ता के नल और नील नामक दो पुत्र हुए। सूर्यरज के पश्चात् बाली अपनी स्त्री ध्रुवा के साथ राज्य शासन करने लगा।

बाली सम्यग्दृष्टि था। उसकी प्रतिज्ञा थी कि देव, गुरु और शास्त्र के अतिरिक्त किसी को नमस्कार नही

करूँगा। यह अभिमान की बात नही थी, बल्कि यह तो उसके धर्म का एक अनिवार्य अंग था। अत वह रावण के राज्य दरबार में नही जाता था। क्योकि वहाँ जाने पर रावण को नमस्कार करना पडता, न करता तो व्यर्थ में युद्ध होता। रावण ने समझा कि बाली मुझसे विमुख हो गया है। अत. उसने बाली के पास दूत भेजा। दूत ने आकर बाली से कहा--मेरे स्वामी रावण ने आपसे कहलवाया है कि हमने तुम्हारे पिता सूर्यरज को यम से छुडाकर किष्किधा का राज्य दिया था। तबसे हम दोनो में प्रेम चला आ रहा है। किन्तु तुम मुझसे विमुख हो गये हो। अतः तुम आकर मुझे नमस्कार करो और अपनी बहन श्रीप्रभा का विवाह मेरे साथ कर दो, जिससे हमारा प्रेम बना रहे, अन्यथा तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

बाली ने दूत की बात स्वीकार नही की और युद्ध के लिए तैयार हो गया। किन्तु मंत्रियो ने उसे समझाया —'महाराज! व्यर्थ युद्ध करके क्यो हिंसा का पाप मोल लेते हो और फिर रावण बडा बलवान् है। वह अर्धचक्री है। उससे जीत पाना कठिन है।' किन्तु बाली बोला—'मै रावण को चूर-चूर कर सकता हूँ।' फिर उसने सोचा— वास्तव में इस क्षणभंगुर राज्य के लिए युद्ध करना बुद्धिमानी नही है। और यों सोचकर वह राजपाट छोडकर दिगम्बर मुनि हो गया और वनो मे जाकर तपस्या करने लगा।

रावण को जब दूत ने आकर सब समाचार बताये तो वह क्रुद्ध हो उठा और चतुरंगिणी सेना सजाकर बाली का मानमर्दन करने किष्किधापुर आ पहुँचा। सुग्रीव ने—जो बाली के पश्चात् राजा हो गया था—रावण की अगवानी की और अपनी बहन श्रीप्रभा का विवाह रावण के साथ कर दिया तथा उसकी अनुमति से राज्य करने लगा।

एक बार रावण पुष्पक विमान में नित्यालोकपुर से लौटता हुआ लका जा रहा था कि उसका विमान एकाएक रुक गया। तब उसने मारीच से कहा—देखो तो, मेरा विमान किसने रोक लिया है। मारीच ने नीचे जा-कर देखा कि एक तपस्वी मुनिराज कैलाश पर्वत पर तपस्या कर रहे है। उन्ही के प्रभाव से विमान रुक गया है। उसने यह बात रावण से जाकर कही। रावण मुनिराज के दर्शन करने नीचे उतरा किन्तु वहाँ बाली मुनि को तपस्या करते हुए देखकर उसका पुराना क्रोध उमड पडा और बोला—'अरे मुनि! तूने अब भी वैर नही छोडा जो मेरा विमान रोक लिया है। मै तुझे अभी इसका दण्ड देता हूँ।' यो कहकर वह विद्या के बल से पर्वत के नीचे घुस गया और पर्वत को उठाने लगा। पर्वत पर रहने वाले पशु भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। वृक्ष टूट-टूट कर गिरने लगे। देवपूजित जिन मन्दिर हिल उठे। तब मुनिराज ने अवधिज्ञान से जाना कि यह कुकृत्य दशानन का है। उसके इस कृत्य से भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित विशाल मन्दिर भी नष्ट हो जायगे। मै पुण्योपार्जन के कारणभूत इन मन्दिरो की रक्षा करूँगा।

यो सोचकर बाली मुनिराज ने पैर के अगूठे से पर्वत को दबाया। उसके भार से दशानन पिचने लगा। उसके सारे अग पीड़ा से सिकुड गये। वह भयानक पीडा के कारण इतना जोर से रोने लगा कि जगत मे तबसे उसका नाम रावण विख्यात हो गया। उसके रोने का शब्द सुनकर उसकी रानियाँ आई और मुनिराज के चरणो मे गिरकर पति की प्राण-भिक्षा मागने लगी। तब मुनिराज ने दया करके अपना अगूठा ढीला कर दिया। देवो ने पचाश्चर्य की वर्षा की। रावण को भी बुद्धि आ गई और वह बाली के चरणो मे गिर कर स्तुति करने लगा और क्षमा मागने लगा।

इस काण्ड से लज्जित होकर रावण निकट के चैत्यालय मे गया और भगवान की पूजा करने लगा। वह भगवान की भक्ति मे इतना बेसुध हो गया कि अपनी भुजाओ से उसने आते निकाली और उन्हे वीणा की तरह बजाकर भगवान की स्तुति पढने लगा। रानियाँ नृत्य करने लगी।

उसकी भक्ति से प्रभावित होकर नागकुमार देवो का इन्द्र धरणेन्द्र वहाँ आया और बोला—'मै तेरी भक्ति से बडा प्रसन्न हूँ। तू कोई वर मांग।' रावण बोला—'नागेन्द्र! भगवान की भक्ति से बढकर और क्या चीज तुम्हारे पास है जो मै मागूँ।' किन्तु धरणेन्द्र ने कहा—'मेरे दर्शन निष्फल न हो अत मैं तुम्हे यह शक्ति देता हूँ। इससे देव और दानव तक पराजित हो जाते है।' यो कहकर उसने रावण को शक्ति प्रदान की। रावण एक महीने तक कैलाश पर्वत पर रहा। उसने अपने कृत्य का वहाँ रहकर प्रायश्चित्त किया और फिर लका को लौट गया।

बाली मुनि ने कर्मो का नाश कर मुक्ति प्राप्त की ।

ज्योतिपुर नरेश बह्निशिख की पुत्री सुतारा थी। वह बडी रूपवती थी । उसकी याचना चक्रपुर के राज कुमार साहसगति और सुग्रीव दोनो ने की थी । किन्तु बह्निशिख ने साहसगति को अल्पायु जानकर अपनी पुत्री का विवाह सुग्रीव के साथ कर दिया । उसमे दो पुत्र उत्पन्न हुए—अग और अगद । किन्तु साहसगति के मन से सुतारा निकल नही सकी । वह उसे प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा करता रहा । इसके लिए वह रूप-परिवर्तिनी शेमुषी विद्या का साधन करने लगा ।

एक बार रावण अपने परिवार के साथ सुमेरु पर्वत पर जिन मन्दिरो के दर्शनो के लिए गया हुआ था । वहाँ से लौटते हुए विभक्त पर्वत पर उसने अपार भीड देखी । पूछने पर मारीच से ज्ञात हुआ कि पर्वत पर अनन्त-वीर्य मुनि को आज ही केवलज्ञान हुआ है । यह सुनकर रावण बडे भक्ति भाव से विमान से उतरा और केवली भगवान के दर्शन किये । भगवान का उपदेश सुनकर अनेक लोगो ने नियम व्रत लिए । उस समय किसी ने रावण से भी कहा कि आप भी इस समय कुछ व्रत लीजिये । रावण बोला—'मेरा मन सदा पापी रहता है अत मै कोई व्रत नही ले सकता । फिर भी मै एक व्रत लेना चाहता हूँ कि जो स्त्री मुझे नही चाहगी, मै उसके साथ बलात्कार नही करूँगा ।' यह कह कर उसने गुरु से यह व्रत ले लिया । कुम्भकर्ण और विभीषण ने गृहस्थ के व्रत लिए ।

रावण द्वारा व्रत-ग्रहण

विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी मे आदित्यपुर नाम का एक नगर था । वहाँ के राजा प्रह्लाद और रानी केतुमती थी । उनके पवनकुमार नाम का एक पुत्र था । एक बार राजा प्रह्लाद अपने परिवार सहित कैलाश पर्वत पर तीर्थ-वन्दना को गये । उसी समय महेन्द्रपुर के राजा महेन्द्र अपनी रानी मनोवेगा के साथ तीर्थयात्रा को आये । दोनो राजाओ मे परस्पर परिचय और मित्रता हो गई । राजा महेन्द्र ने प्रह्लाद से निवेदन किया कि मेरे अजना नाम की एक कन्या है । मेरा विचार आपके पुत्र पवनकुमार के साथ उसका सम्बन्ध करने का है । राजा प्रह्लाद ने भी प्रसन्नतापूर्वक इस सम्बन्ध की स्वीकृति दे दी और सम्बन्ध पक्का कर दिया । दोनो ओर से विवाह की तैयारियाँ होने लगी ।

हनुमान का जन्म

इसी बीच पवनकुमार ने भी अजना के रूप सौन्दर्य की प्रशसा सुनी । वह उसे देखने को व्याकुल हो गया और अपने मित्र प्रहस्त से बोला--मित्र ! यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहते हो तो मुझे अ जना को एक बार दिखा दो । प्रहस्त ने वाद-विवाद के बाद अ जना को उसी रात को दिखाना स्वीकार कर लिया ।

रात्रि को विमान मे बैठकर दोनों मित्र महेन्द्रपुर नगर मे अ जना के महल पर उतरे और सातवी मजिल पर झरोखे मे से उन्होने अ जना को देखा । उसके अनिद्य सौंदर्य को देखकर पवनकुमार प्रसन्न हो गया । उस समय अ जना सखियो से घिरी बैठी थी और सखियाँ उससे विनोद कर रही थी । कोई पवनकुमार के रूप-गुणो की प्रशसा कर रही थी, तभी मिश्रकेशी नाम की सखी ने पवनकुमार की निन्दा की । अ जना लज्जावश मौन बैठी रही । पवन कुमार ने अपनी निन्दा सुनी तो वह बडा क्रोधित होकर अजना को मारने उठा—क्यो उसने मेरी निन्दा सुन ली । वह अवश्य पर पुरुष मे आसक्त है । किन्तु प्रहस्त ने उसे समझा बुझाकर शान्त किया । किन्तु अ जना के प्रति दुर्भाव लेकर पवनकुमार प्रहस्त के साथ लौट आया । उसका क्रोध शान्त नही हुआ । उसने दूसरे दिन महेन्द्रपुर पर चढाई करने के उद्देश्य से रणभेरी बजा दी और महेन्द्रपुर की ओर सेना लेकर चल दिया । महेन्द्र ने आकर कुमार के पैर पकड़ लिए । उसके पिता ने भी समझा-बुझाकर शान्त किया । पवनकुमार ने मन मे सोचा कि इस समय तो इनकी बात मान लेनी चाहिए । विवाह के बाद उस दुष्टा को जन्म भर के लिए मै छोड दूँगा । इस तरह सोचकर वह युद्ध से निवृत्त हो गया । यथासमय दोनो का विवाह हो गया और विदा होकर आदित्यपुर आ गये ।

नगर में वापिस आने पर कुमार ने अ जना को महल के एक एकान्त कक्ष में रख दिया । वह उससे न बात करता, न उसकी ओर देखता ही था । अ जना पति के इस अकारण क्रोध से बड़ी दुखी रहती थी और दिन-रात विलाप किया करती थी । घर के सभी लोग भी अ जना के दु.ख से दुखी रहते थे ।

इसी बीच राजा वरुण से रावण का युद्ध छिड गया । इस युद्ध में वरुण के पुत्रो ने खरदूषण को पकड

लिया। तब रावण ने सब आधीन राजाओ को सेना लेकर आने का निमन्त्रण भेजा। प्रह्लाद के पास भी निमन्त्रण-पत्र आया। वह जब सेना लेकर जाने लगा तो पवनकुमार अपने पिता को रोककर बोला—युवक पुत्र के होते हुए वृद्ध पिता का युद्ध के लिए जाना उचित नही है। और सेना लेकर चल दिया। चलते समय अजना द्वार पर खभे के सहारे खड़ी थी। किन्तु पवनकुमार ने उसकी ओर देखा तक नही और वहाँ से चल दिया।

वहाँ से चल कर वह मानसरोवर पहुँचा और उसके तट पर ही पडाव डाल दिया। सन्ध्या के समय वह अपने मित्र के साथ तट पर बैठा हुआ था। उसने देखा कि एक चकवी अत्यन्त दुखी हो रही है। उसने मित्र से इसका कारण पूछा। मित्र बोला—यह रात्रि में पति-वियोग के कारण दुखी है। यह सुनते ही पवनकुमार सोचने लगा—एक पक्षी केवल रात्रि भर के लिए अपने पति के वियोग मे इतनी दुखी है, तो अजना मेरे वियोग मे कितनी दुखी होगी जिसे मैने बाईस वर्ष से त्याग दिया है।

यह विचार आते ही मित्र से बोला—मित्र! मै अजना के वियोग को अब एक पल भर के लिए भी सह नही सकता। यदि तुम मेरा जीवन चाहते हो तो मुझे अजना से मिला दो। मित्र ने उसे बहुत समझाया कि इस समय जाने से लोक मे बडी हँसी होगी। किन्तु वह अपने आतुर स्वभाव के कारण जिद पर अड गया। आखिर प्रहस्त रात्रि होने पर गुप्त रूप से उसे विमान पर लेचला और वे शीघ्र ही अजना के महल पर जा उतरे। प्रहस्त ने अन्दर जाकर अजना को पवनकुमार के आने की सूचना दी। अजना और पवनकुमार बडे प्रेम से मिले। और पवनकुमार रातभर उसके पास रहे। प्रात जब पवनकुमार जाने लगे तो अजना हाथ जोड कर बोली—नाथ! मैं अभी ऋतुमती होकर चुकी हूँ। सभव है, मुझे गर्भ रह जाय। अब तक आप मुझसे बोलते नही थे। ऐसी दशा मे लोग मेरा अपवाद करेगे। पवनकुमार बोला—'देवि! चिन्ता मत करो। तुम्हारे गर्भ प्रकट होने से पहले ही मै यहाँ लौट आऊँगा। फिर भी मै अपने नाम की यह मुद्रिका दिये जाता हूँ। उससे अपवाद का अवसर नही आयेगा।' यो कहकर और मुद्रिका देकर वह अपने मित्र के साथ वहाँ से जैसे गुप्त रूप से आया था, वैसे ही गुप्त रूप से चला गया।

कुछ दिनो मे अंजना के गर्भ प्रकट होने लगा। उधर युद्ध लम्बा खिच जाने से पवनकुमार जल्दी नही लौट सका। अजना के यह गर्भ देखकर उसकी सास केतुमती को सदेह हुआ। उसने अजना से पूछा तो अजना ने रात मे पवनकुमार के आने की सारी घटना बतादी और उसके प्रमाण मे उसने अपने पति द्वारा दी हुई मुद्रिका भी दिखाई। किन्तु केतुमती को विश्वास नही हुआ कि उसका पुत्र जिसने बाईस वर्षो तक बोला तक नही, उससे मिलने वह चोरी से रात मे छिपकर क्यो आवेगा। अवश्य यह इस दुश्चरित्र स्त्री का पापाचार है। अजना ने अपनी दासी वसन्तमाला की भी साक्षी दिलाई। किन्तु केतुमती का सदेह बढता ही गया। उसने क्रोध मे भर कर गर्भवती अजना को कमर

बाईस घड़ी की भूल
बाईस वर्ष का दुःख

राजा मुकठ के दो रानियाँ थी—हेमोदरी और लक्ष्मी। लक्ष्मी भगवान की पूजा-उपासना मे लगी रहती। एक दिन सौतिया डाह मे हेमोदरी ने भगवान की प्रतिमा छुपा दी। लक्ष्मी दूसरे दिन प्रतिमा को न देखकर बडी दुखी हुई। उसने आहार-जल का त्याग कर दिया। सयोगवश सयमश्री नामक एक आर्यिका महल मे पधारी और लक्ष्मी के मुख से भगवान की प्रतिमा की चोरी की बात सुनकर वे सीधी हेमोदरी के पास पहुँची। हेमोदरी ने आर्यिका का भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और उत्तम आसन पर बैठाया। तब आर्यिका बोली—पूर्व पुण्य से तुझे राजसपदा और वैभव मिला। तू इस जन्म मे भी धर्म कर। तूने द्वेषवश भगवान की प्रतिमा छुपा दी है, वह दे दे। प्रतिमा चुराने जैसा पाप ससार मे दूसरा नही है। इससे नरक गति मे जाना पडता है। हेमोदरी यह सुनकर भयभीत हो गई और उसने प्रतिमा लाकर दे दी, बडा प्रायश्चित्त किया, पूजा और प्रभावना की।

हेमोदरी ने केवल बाईस घडी तक भगवान की प्रतिमा को छिपाये रखा था। उसका यह फल भोगना पडा कि उसे अजना के जन्म मे बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहना पडा।

मे जोर से लात मारी और क्रोध में भर कर उसे आदेश दिया कि तू इसी वक्त मेरे घर से निकल जा और अपना मुह कहाँ जाकर काला कर। राजा प्रह्लाद ने अपनी स्त्री की इस राय से सहमति दिखाई। केतुमती ने अंजना के साथ बसन्तमाला को भी घर से निकाल दिया।

वहाँ से निकल कर दोनो निरपराधिनी अबलाये अपने कर्मो को दोष देती हुई और लोकनिन्दा और लोक-उपहास का भार ढोती हुई चल दी। चलते-चलते उनकी दशा बुरी हो गई। वे अन्त में अपने पिता महेन्द्र के महलों पर पहुँची। द्वारपाल ने उनसे सारा समाचार ज्ञात कर महाराज को समाचार दिया। किन्तु जब राजा को यह ज्ञात हुआ कि कुकर्म के कारण अजना को उसके घर से निकाल दिया है तो उन्होने भी अपने घर मे स्थान देने से इनकार कर दिया। वहाँ से निराश होकर अजना अपने परिवारी और सम्बन्धियो के द्वार पर भी गई। किन्तु उसे किसी ने आश्रय नही दिया।

सब ओर से निराश होकर अजना अपनी सखी के साथ वन को चलदी। राह मे उसे अपार कष्ट हुए। वह दुख से बार बार विलाप करने लगती, किन्तु सखी उसे धीरज बधाती। यो चलते चलते वे एक पर्वत की गुफा के निकट पहुँची। वहाँ उन्होने एक मुनि को ध्यान लगाये बैठे देखा। मुनि को देख कर दोनो को सन्तोष हुआ। उन्होने मुनि को नमस्कार किया। मुनि महाराज ने उन्हे आशीर्वाद दिया और उन्हे सान्त्वना देते हुए कहा 'पुत्री! तू दुख मत कर। तेरा पुत्र लोकपूज्य होगा और पति से भी शीघ्र ही तेरा मिलन होगा।'

मुनि वहाँ से अन्यत्र चले गये और दोनो सखी उस गुफा मे रहने लगी तथा जगल के फलो और झरने के जल से अपना निर्वाह करने लगी। एक दिन एक भयानक सिह आया और गुफा के द्वार पर भयकर गर्जना करने लगा। अजना उसे सुनकर अत्यन्त भयभीत हो गई। तब उसके शील और पुण्य के प्रभाव से एक देव ने अष्टापद का रूप धारण कर सिह को भगा दिया।

नौ मास पूर्ण होने पर अजना के पुत्र हुआ। पुत्र महनीय पुण्य का अधिकारी था। उसके तेज से गुफा मे प्रकाश हो गया। अजना पुत्र का मुख देख कर एक बार तो अपने सारे दुखो को भूल गई। दोनो सखियाँ बडे दुलार से उसका पालन करने लगी। धीरे-धीरे वह लोकोत्तर पुत्र चन्द्रमा की तरह बढने लगा।

एक दिन बसन्तमाला ने आकाश मे एक विमान देखा। उसे देखकर अजना भयभीत हो गई– कही कोई शत्रु मेरे पुत्र को मारने तो नही आया। इस आशका से वह विलाप करने लगी। उसके विलाप का स्वर सुन कर विद्याधर ने विमान नीचे उतारा और अपनी स्त्रियो सहित वह दोनो सखियो के पास गया। वहाँ जाकर उसने उनका परिचय पूछा। वसन्तमाला ने सारी घटना सुनाकर परिचय दिया। परिचय सुनकर वह विद्याधर बोला— अरे यह अजना तो मेरी भानजी है। बहुत दिन से इसे नही देखा था। अत मै इसे पहचान नही सका। मेरा नाम प्रतिसूर्य है। मै हनुरुह द्वीप का रहने वाला हूँ। फिर अजना को उसने उसके बचपन की अनेक घटनाएँ सुनाकर सान्त्वना दी। और बालक के लग्न देखकर बोला—बालक का जन्म चैत्र कृष्णा अष्टमी को रात्रि के पिछले प्रहर मे श्रवण नक्षत्र मे हुआ है। अत यह सुखी और पराक्रमी होगा।' फिर वह विमान मे बैठा कर सबको ले चला।

विमान मे मोतियो की झालर टगी हुई थी। मामा-भानजी बातो मे निमग्न थे। बालक माता की गोद मे बैठा हुआ हिलती हुई मालाओ को पकडने को बार-बार हाथ मारता था। एक बार उसने ज्यो ही माला पकड़ने को जोर मारा तो माता की गोद से खिसक कर विमान मे से नीचे जा गिरा। बालक के गिरते ही अजना जोरो से चीख उठी। सभी लोग इस आकस्मिक मर्मान्तिक विपत्ति से त्रस्त हो उठे। विमान को दु.शका के साथ नीचे उतारा किन्तु वहाँ सबने आश्चर्य के साथ देखा कि बालक जिस शिला पर गिरा था, वह शिला तो छार छार हो गई है। किन्तु बालक के कोई चोट नही आई है और वह मजे में पडा पडा अगूठा चूस रहा है। अजना ने बडी पुलक से पुत्र को उठा लिया और छाती से चिपटा कर चूमने लगी। सब लोगो को विश्वास हो गया कि जब बचपन में इसमे ऐसी दैवी शक्ति है तो यह निश्चय ही चरम शरीरी है।

सब लोग पुन· विमान मे बैठे और आनन्द के साथ हनुरुह द्वीप मे पहुँचे। वहाँ अंजना और उसके पुत्र का गाजे बाजे के साथ स्वागत हुआ और पुत्र-जन्मोत्सव बड़े धूमधाम और समारोह के साथ मनाया गया। उसका

नाम हनुमान रक्खा गया। बालक वहां रहकर धीरे धीरे बडा होने लगा।

उधर रावण के पास पवनकुमार अपनी सेना के साथ पहुँचा और वरुण से भयानक युद्ध हुआ। युद्ध में पवनकुमार ने बड़ी वीरता दिखाई। उसने वरुण को बन्दी कर लिया। वरुण को अन्त मे खरदूषण को छोड़कर रावण के साथ सन्धि करनी पड़ी।

युद्ध समाप्त होने पर प्रशसा और सम्मान पाकर पवनकुमार अपने नगर की ओर लौटा। अब उसे अपनी प्राणप्रिया की याद सताने लगी। नगर में पहुँचने पर अपने विजयी राजकुमार का नगरवासियो ने हार्दिक स्वागत किया। उसे तो अजना से मिलने की शीघ्रता थी, वह स्वागत-सत्कार से निबट कर सीधा अजना के महल में पहुँचा। किन्तु महल को सूना पाकर वह व्याकुल हो गया। वह सारे कक्षो मे अजना का नाम लेता हुआ फिरने लगा। उसने दास दासियो मे अजना के बारे मे पूछा, किन्तु सब नीचा सिर किये चुप हो गये। उसके मित्र प्रहस्त ने अजना के बारे मे सब बाते पता लगाकर पवन से कही। तत्काल दोनो मित्र विमान से महेन्द्रपुर आये। वहां भी अंजना को न पाकर वह वहाँ से उसे ढूँढने चल दिया। प्रहस्त को उसने समाचार देने के लिए आदित्यपुर भेज दिया और स्वय बनो मे ढूँढने लगा। वह अजना के वियोग मे बिलकुल विक्षिप्त हो गया, न उसे खाने की सुध रही, न जल की चिन्ता। वह अजना-अजना चिल्लाता फिरता था।

उसके पिता प्रल्हाद पुत्र के समाचार सुनकर अत्यन्त चिन्तित हो गये। उन्होंने चारो ओर अजना और पवनकुमार को ढूँढने अपने आदमी भेज दिये और स्वय भी महेन्द्रपुर जाकर और महेन्द्र को लेकर ढूँढने चल दिये। जब प्रतिसूर्य के पास पवनकुमार के बारे मे समाचार पहुँचे तो अजना अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगी। प्रतिसूर्य ने उसे धैर्य बधाकर कहा—बेटी! चिन्ता मत कर, मै पवनकुमार को ढूँढकर आज ही यहाँ ले आऊँगा। यो कहकर वह कुमार को ढूँढने चल दिया। वह और राजा प्रल्हाद आदि ढूँढते-ढूँढते उसी बन मे पहुँचे और पवनकुमार को पाकर बडे प्रसन्न हुए। किन्तु पवनकुमार ने किसी से कोई बात नही की। वह चुपचाप बैठा रहा। तब प्रतिसूर्य ने उसे अजना के सब समाचार सुनाये। फलत पवनकुमार अत्यन्त आह्लादित होकर प्रतिसूर्य से गले मिला। सब लोग प्रसन्नतापूर्वक हनुरुह द्वीप आये और अजना को पाकर सब लोग बडे हर्षित हुए। कुछ समय पश्चात् सब लोग लौट गये किन्तु पवनकुमार वही रह गये।

धीरे-धीरे हनुमान यौवनसम्पन्न हुए और उन्होंने अनेक विद्याओं का साधन किया। एक बार पुन: रावण का वरुण के साथ युद्ध हुआ। रावण का निमन्त्रण पाकर सभी राजा अपनी सेनाय लेकर रावण के पास पहुँचे। पवनकुमार और हनुमान भी गये। हनुमान के रूप और यौवन को देखकर रावण बडा प्रसन्न हुआ और बडे प्रेम से हनुमान से मिला।

दोनो पक्षों मे भयानक युद्ध हुआ। इस युद्ध में हनुमान ने असाधारण वीरता दिखाई। उन्होंने वरुण के सौ पुत्रो को अपनी लागूल विद्या मे बाध लिया और रावण ने वरुण को नागपाश से बाध लिया। इस प्रकार हनुमान के असाधारण शौर्य के कारण रावण की विजय हुई।

रावण ने प्रसन्न होकर अपनी बहन चन्द्रनखा की पुत्री अनगकुसुमा का विवाह हनुमान के साथ कर दिया और कुण्डलपुर का राज्य देकर सब विद्याधरो का प्रमुख बना दिया। बाद मे सुग्रीव और किन्नरपुर के राजा ने भी अपनी कन्याओ का विवाह हनुमान के साथ कर दिया।

श्री रामचन्द्र आदि का जन्म

एक दिन राजा दशरथ की रानी अपराजिता (कौशल्या) रात्रि मे सुखपूर्वक सो रही थी। उसने रात्रि के पिछले पहर में चार स्वप्न देखे। वह उठी और अपने पति के पास जाकर और उनके चरणो मे नमस्कार करके बोली—नाथ! मैने आज रात्रि के अन्तिम प्रहर मे स्वप्न में हाथी, सिह, सूर्य और चन्द्रमा देखे है।' राजा सुनकर बोले—'देवि! तुम्हारे अत्यन्त प्रभावशाली, सुखी और शत्रुओं का दमन करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा। उसी रात्रि को ब्रह्म स्वर्ग से चलकर एक जीव रानी के गर्भ में आया। तबसे रानी का मन भगवान की पूजा में अधिक लगने लगा।

कुछ दिनो के बाद सुमित्रा ने भी रात्रि के पिछले प्रहर में पाँच स्वप्न देखे—सिह, पर्वत पर रक्खा हुआ सिहासन, गम्भीर समुद्र, उगता हुआ सूर्य और मागलिक चक्ररत्न । रानी ने उठकर पति से स्वप्नों का फल पूछा तो राजा ने बताया—देवि ! तुम्हारे गर्भ में चक्ररत्न से त्रिखण्ड को विजय करने वाला यशस्वी पुत्र उत्पन्न होगा। रानी स्वप्न का फल सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई।

नौ माह पूर्ण होने पर अपराजिता के फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को सूर्य के समान कान्ति वाला शुभलक्षण पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र के वक्षस्थल पर पद्म चिन्ह था। अत बालक का नाम पद्मनाभ (रामचन्द्र) रक्खा गया। सुमित्रा ने भी शुभ लक्षणो वाले लक्ष्मण पुत्र को जन्म दिया। उस समय शत्रुओ के घर मे भयकारी अपशकुन हुए। सूर्य-चन्द्रमा के समान दोनो बालक क्रीडा करने लगे।

केकामती ने भरत नाम के पुत्र को जन्म दिया तथा सुप्रभा ने शत्रुध्न को। चारो पुत्र इतने शोभित होते थे, मानो ससार को सहारा देने वाले चार स्तम्भ हो।

राजा ने ऐहिरूढ नामक एक विद्वान् ब्राह्मण को जो सब शस्त्र-शास्त्रो का ज्ञाता था, चारो राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के लिये नियुक्त किया और अल्प समय में ही चारो पुत्र शस्त्र-शास्त्रो मे निष्णात हो गये।

राजा जनक के भामण्डल और सीता का जन्म—मिथिला के राजा जनक की स्त्री विदेहा गर्भवती हुई। यथासमय विदेहा के युगल सन्तान उत्पन्न हुई-एक पुत्र और दूसरी पुत्री। पुत्र के उत्पन्न होते ही पूर्व जन्म के बैर के कारण एक देव उसे उठाकर ले गया और उसे आभूषण पहना कर तथा कानो मे देदीप्यमान कुण्डल पहनाकर पृथ्वी पर लिटा गया।

चन्द्रगति नामक एक विद्याधर अपने विमान मे आकाश मार्ग से जा रहा था। उसक दृष्टि देदीप्यमान आभूपण पहने बालक पर पडी। वह नीचे उतरा और तेजस्वी बालक को देखकर वह उसे उठाकर अपने महलो मे वापिस गया। वहाँ उसकी रानी पुष्पवती अपनी शय्या पर सो रही थी। राजा ने उस बालक को रानी की जघाओ के बीच मे रखकर रानी को जगाया और रानी से बोला-रानी ! उठो, तुम्हारे बालक उत्पन्न हुआ है। रानी ने उठकर उस बालक को देखा तो वह विस्मय मे भरकर पूछने लगी-'यह सुन्दर बालक किसका है। मै तो बाझ हूँ। आप क्यो मुझसे इस प्रकार हास्य करते है।' राजा बोला—'रानी! स्त्रियों के प्रच्छन्न गर्भ भी होता है। तुम्हारे भी ऐसा ही गर्भ था।' रानी को फिर भी पति के वाक्य पर विश्वास नही हुआ। वह पुन पूछने लगी—'यदि यह बालक मेरे ही गर्भ से हुआ है तो इसके मनोहर कुण्डल कहाँ से आये।' अब राजा सत्य बात को छुपा नही सके और उन्होने रानी को पुत्र मिलने की सारी घटना सुना दी और कहा—तुम अब इसे अपना ही पुत्र मानकर पालन करो और लोगो को भी यही बताना है कि तुम्हारे गूढ गर्भ था। तुमने ही इसको जन्म दिया हे।

राजा की आज्ञा से रानी प्रसूतिगृह मे गई। राजा ने सारे रथनूपुर नगर मे पुत्र-जन्म के समाचार प्रचारित कर दिये और धूमधाम से पुत्र जन्मोत्सव मनाया। देदीप्यमान कुण्डल धारण करने के कारण बालक का नाम भामण्डल रक्खा गया। बालक धाय को सौप दिया गया और अपने पुत्र की तरह ही उसका लालन-पालन होने लगा।

उधर मिथिलापुरी में राजकुमार के अपहरण का समाचार जानकर सारी प्रजा मे शोक छा गया। रानी विदेहा पुत्र-शोक से विलाप करने लगी। राजा जनक ने रानी को धैर्य बधाया—तुम चिन्ता क्यो करती हो। तुम्हारा पुत्र किसी ने हर लिया है। वह अवश्य जीवित है और एक न एक दिन तुम्हे अवश्य मिलेगा।' इसके पश्चात् राजा जनक ने अपने मित्र राजा दशरथ को यह समाचार भेज दिया। दोनो ने ढूढने का बडा प्रयत्न किया किन्तु पुत्र नही मिला।

इधर जानकी धीरे धीरे बढने लगी। उसकी बाल सुलभ लीलाओ को देखकर कुटुम्बी जन पुत्र-शोक को धीरे-धीरे भूलने लगे। जानकी के नेत्र कमल सदृश थे। वह अनिद्य सौन्दर्य को लेकर अवतरित हुई थी। ऐसा लगता था, मानों कोई देवी ही पृथ्वी पर आ गई हो। आयु के साथ उसके गुण और सौन्दर्य भी बढने लगा। वह अपने बचपन से ही पृथ्वी के समान क्षमाधारिणी थी। अत लोग प्यार में उसे सीता (पृथ्वी) कहने लगे और बाद

में प्यार का यह नाम ही जगविख्यात हो गया। उसके अग-प्रत्यग इतने सुन्दर थे, मानो विधाता ने उसे साचे में ही ढाला हो-चन्द्रमा के समान मुख, पल्लव के समान कोमल आरक्त हस्ततल, हसिनी की सी चाल, मौलश्री के समान भीनी-भीनी मुख की सुगन्धि, कोमल पुष्पमाल सी भुजाये, केहरी के समान कटि, केले के स्तम्भ जैसी जघाये; शची, रति और चक्रवर्ती की पटरानी का सौन्दर्य भी उसके समक्ष नगण्य लगता था। धीरे-धीरे वह सभी कलाओ और विद्याओ मे पारगत हो गई।

एक बार वर्बर देश के एक म्लेच्छ राजा ने राजा जनक के राज्य पर चढ़ाई कर दी। अपने राज्य को नष्ट-भ्रष्ट होते देखकर जनक ने दशरथ के पास एक दूत भेजकर सहायता मागी। दशरथ ने राम और लक्ष्मण को चतुरगिणी के साथ मिथिला भेज दिया। म्लेच्छो ने जनक और कनक दोनो भाइयो को बन्दी बनाया ही था कि दोनो राजकुमार मिथिला मे पहुँच गये और म्लेच्छो से युद्ध करके दोनो भाइयो को मुक्त किया तथा म्लेच्छों को मार भगाया। तथा जनक को राज्य सौप कर दोनो भाई वापिस अयोध्या आगये। राजा जनक राम की वीरता, सुन्दरता और गुणो से बडे प्रभावित हुए। साथ ही उनके द्वारा किये गए उपकार को चुकाने की भावना भी उनके मन में बनी रहती थी। अत उन्होने निश्चय किया कि मैं अपनी पुत्री सीता का विवाह राम के साथ कर दूँगा।

धनु परीक्षा और राम-सीता का विवाह

राम को सीता प्रदान करने का जनक का सकल्प नारद ने भी सुना। वे उत्सुकतावश सीता को देखने मिथिलापुरी आये और जनक की आज्ञा लेकर अन्त पुर में पहुँचे। उस समय सीता दर्पण मे अपना मुख देख रही थी। दर्पण मे नारद की दाढी जटाओ वाली भयानक आकृति के पडते ही सीता डरकर भीतर भाग गई। नारद भी उसके पीछे-पीछे जाने लगे। द्वारपाल नारद को जानते नही थे। उन्होने नारद को रोका। दोनो ओर से कलह होने लगी। एक अपरिचित व्यक्ति को अन्त पुर मे प्रवेश करने से रोकने के लिये शोर सुनकर और सिपाही एकत्रित हो गये और नारद को मारने दौडे। नारद शस्त्रधारी सिपाहियो को देखकर भयभीत हो गये और आकाश मार्ग से उडकर कैलाशपर्वत पर ही दम ली। जरा आश्वस्त हुए तो उनके मन मे यह विचार उत्पन्न हुआ कि मै सीता को देखने गया था। वहाँ मेरी यह दुर्गति हुई है। सीता ने ही मुझे पिटवाया है। इसके बदले मे अगर सीता को दु ख न दिया तो मै नारद ही काहेका।

मन मे इस प्रकार सोचकर उन्होने सीता का एक चित्रपट बनाया और रथनूपुर नगर मे जाकर कुमार भामण्डल को वह चित्र दिखाया। चित्र देखते ही भामण्डल कामवाण से बिद्ध हो गया। उसकी दशा खराब हो गई। यह बात उसके पिता को ज्ञात हुई। पिता ने नारद से पूछा तो नारद ने कहा—'मिथिला के राजा जनक की सीता नाम की पुत्री है। वह अत्यन्त गुणवती, रूपवती और अनेक कलाओ मे पारगत है। वह तुम्हारे पुत्र के सर्वथा उपयुक्त है' राजा ने रानी से परामर्श किया और निश्चय किया कि यदि कन्या के पिता से कन्या की याचना करेंगे तो सम्भव है, वे न माने। अत किसी उपाय से जनक को यहाँ ले आना चाहिये। फलत चन्द्रगति की आज्ञानुसार एक विद्याधर मिथिला गया और विद्या के बल से घोड़े का रूप धारण कर नगर मे उपद्रव मचाने लगा। जब वह किसी प्रकार वश में नही आया तो राजा जनक स्वय पहुँचे और घोड़े को वश मे करके उस पर सवार हो गये घोडा जनक को लेउड़ा और रथनूपुर मे आकर भूमि पर उतारा। वहाँ घोडे से उतरकर जनक एक मन्दिर मे जाकर बैठ गये।

विद्याधर ने राजा चन्द्रगति को समाचार दिया। चन्द्रगति वहाँ से सीधा मन्दिर मे पहुंचा और जाकर जनक से परिचय किया और आदर सहित अपने महलो मे ले आया। वहाँ आकर दोनो में बातचीत होने लगी। चन्द्रगति बोला—सुना है, आपके कोई कन्या है। मैं चाहता हूँ, आप उसका विवाह मेरे पुत्र के साथ कर दे। जनक बोले—मैंने अपनी कन्या तो अयोध्यापति दशरथ के पुत्र राम को देने का सकल्प कर लिया है। यो कह कर वे राम के गुणो और उनकी योग्यता की प्रशसा करने लगे। इस पर चन्द्रगति जनक का हाथ पकड़ कर आयुधशाला में ले गया और बोला—आप राम की वीरता की बड़ी प्रशसा कर रहे है। तो सुनिये। मेरे पूर्वज नमि विद्याधर को किसी समय धरणेन्द्र ने दो धनुष दिये थे—एक का नाम वज्रावर्त है और दूसरे का नाम सागरावर्त है। यदि राम

वज्रावर्त धनुष को ही चढा दे तो आप प्रसन्नतापूर्वक राम को अपनी कन्या दे दे। मुझे कोई आपत्ति नही होगी। यदि न चढ़ा सके तो मैं आपकी कन्या को बलात् लाकर उसका अपने पुत्र के साथ विवाह कर दूंगा। जनक ने उसकी यह शर्त स्वीकार कर ली। विद्याधर योद्धा धनुष और जनक को लेकर मिथिलापुरी आये। विद्याधर धनुष की रक्षा करते हुए बाहर ठहर गये।

जनक के आने से नगर मे हर्ष छा गया। तब जनक ने मन्त्रियो से परामर्श किया और बताया कि चन्द्रगति ने स्वयवर के लिये केवल बीस दिन का समय दिया है। मन्त्रियो ने कहा-महाराज! राम लक्ष्मण की शक्ति का परिचय धनुष के चढाने से ही हो जायगा। मन्त्रियो के परामर्श से जनक ने सब राजाओं को निमन्त्रण भेज दिये। अयोध्या को भी दूत भेजा। वे स्वयवर की तैयारी करने लगे। यथासमय सब आये। राम,लक्ष्मण भी अपने माता-पिता के साथ-साथ आये। सीता ने स्वयवर मण्डप में माला लिये हुए प्रवेश किया। कचुकी ने सब राजाओ का यथाक्रम परिचय दिया और राजा एव राजकुमार बारी-बारी से धनुष के पास आने लगे। किन्तु वे देखते कि धनुष से बिजली के समान लाल-लाल आग निकल रही है। बडे-बडे भयानक सर्प फुंकार रहे है। उन्हे देखते ही भय के मारे वे आखे बन्द कर लेते थे। कोई भय के मारे कही गिर पडा, किसी को मूर्छा आ गई। सबका बुरा हाल था। अन्त मे रामचन्द्र जी उठे। उन्होंने सूर्य की ज्योति के समान उस धनुष को उठाया। उस पर प्रत्यचा चढाई और टकार करने लगे। उसकी टकार से पृथ्वी गूज उठी। उस समय देवो ने पचाश्चर्य किये। सब लोग जय-जयकार करने लगे। सीता ने आगे बढकर लज्जामिश्रित हर्ष के साथ रामचन्द्र जी के गले मे वरमाला डाल दी और रामचन्द्र जी के पास बैठ गई। वह रामचन्द्र जी के पास बैठा हुई इन्द्र के पास बैठी इन्द्राणी जैसी सुशोभित हो रही थी।

इसके बाद लक्ष्मण उठे और उन्होने सागरावर्त धनुष को उठाकर उसकी प्रत्यचा चढा दी और उसपर सन्धान के लिए वाण की ओर देखने लगे। तब विद्याधरो ने बडी विनय से कहा—बस रहने दीजिये। लक्ष्मण अत्यन्त विनय से रामचन्द्र जी के समीप आकर बैठ गये।

विद्याधर धनुष छोडकर अपने नगर को लौट गये और जाकर राम-लक्ष्मण के पराक्रम का वर्णन करने लगे। चन्द्रगति यह सुनकर अत्यन्त चिन्तित हो गया। उधर राम और सीता का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ हुआ। जनक ने विपुल परिमाण मे दहेज दिया। उसी समय जनक के भाई कनक ने अपनी कन्या लोकसुन्दरी का विवाह भरत के साथ कर दिया। राजा दशरथ अपने पुत्रो के साथ अयोध्या वापिस लौट आये।

भामण्डल को सीता के बिना कुछ भी न सुहाता था। यहाँ तक कि उसने खाना-पीना तक बन्द कर दिया। यह बात उसके पिता को पता चली तो उन्होने उसे समझाया-बेटा! अब सीता की तू आशा छोड दे। अयोध्या के राजकुमार राम के साथ सीता का तो विवाह हो गया। यह सुनकर भामण्डल को बड़ा क्रोध आया और बोला—विद्याबल से रहित भूमिगोचरियो मे कितना बल है, मै उन्हे देखता हूँ। और वह सेना लेकर अयोध्या की ओर चल दिया। चलते-चलते वह विदग्धपुर पहुँचा। उस नगर को देखते ही उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो गया और शोक करते हुए मूर्छित हो गया कि मैने क्या अनर्थ किया। मैने अपनी बहन के साथ सम्बन्ध करना चाहा। तब लोग उसे उठाकर पुन: अपने नगर वापिस ले गये। मूर्छा दूर होने पर उसके पिता ने पूछा—क्या बात है, कौन तुम्हारी बहन है। तब भामण्डल ने अपने पूर्व-जन्म का सारा वृत्तान्त सुनाकर बताया कि मैं राजा जनक का पुत्र हूँ, सीता मेरी सगी बहन है।

भामण्डल और सीता का मिलन

चन्द्रगति यह सुनकर सपरिवार अयोध्या आया। एक मुनि से उपदेश सुनकर चन्द्रगति को वैराग्य हो गया और भामण्डल को राज्य देकर स्वयं मुनि बन गया। दूसरे दिन राजा दशरथ आदि मुनि वन्दना को आये। वहाँ भामण्डल का परिचय पाकर वे उससे बड़े प्रेम से मिले। सीता भी भाई से मिलकर बडी प्रसन्न हुई। यह समाचार राजा जनक को भेजा गया। वे सपरिवार अयोध्या आये और अपने पुत्र से मिलकर माता-पिता के हर्ष का ठिकाना नही रहा।

ससार की दशा और विभिन्न घटनाओं के कारण दशरथ के मन में संसार से वैराग्य हो गया। वे सोचने

लगे कि राज्य-भार पुत्र को सौंपकर अब मुझे मुनि बन जाना चाहिये। एक दिन मन्त्रियो को बुलाकर दशरथ ने कहा—मैं राम का राज्याभिषेक करके मुनि-दीक्षा लेना चाहता हूँ। अत तुम लोग राज्याभिषेक की तैयारियाँ करो।' रानियो ने बहुत समझाया किन्तु दशरथ अपने निश्चय पर अडिग रहे। राज्याभिषेक की तैयारियाँ होने लगी।

राम का वनवास

भरत का मन भी भोगो मे नही लगता था। वह विरक्त रहता था। कभी-कभी वह मुनि-दीक्षा लेने की बात भी करता था। उसकी यह प्रवृत्ति देखकर उसकी माता कैकयी को चिन्ता रहती कि पति तो मुनि बन ही रहे है, पुत्र भी यदि मुनि बन गया तो मैं कैसे जीवित रहूँगी। किस प्रकार भरत को दीक्षा लेने से रोकूँ। तभी उसे अपने वर का स्मरण हो आया। वह शीघ्र ही राजा के पास पहुँची और बोली—'महाराज! आपने रानियो के समक्ष प्रसन्न होकर मुझे वर देने को कहा था, अब आप मेरा वर मुझे दे दीजिये।' दशरथ बोले—'देवि! बोलो, क्या मांगती हो। जो मागोगी, वही दूँगा।' रानी अपना वर पहले ही निश्चित कर चुकी थी। वह बोली—'नाथ! आप दीक्षा लेने से पहले मेरे पुत्र को अयोध्या का राज्य दे दीजिये।' दशरथ चिन्ता मे पड गये। फिर कुछ देर सोचकर बोले—ठीक है, यही होगा। तुमने अपना वर माँगकर मुझे उऋण कर दिया।

इसके पश्चात् दशरथ ने राम को बुलाकर उनसे कहा—'बेटा! पहले एक युद्ध मे तुम्हारी माता कैकेई ने बडी कुशलतापूर्वक मेरा रथ चलाया था। उसके कारण मुझे युद्ध मे विजय मिली थी। उसके उपलक्ष्य में प्रसन्न होकर मैंने अन्य रानियों के समक्ष इन्हें इच्छित वर माँगने को कहा था। उस समय तो वह वर इन्होने मेरे पास धरोहर रख दिया। अब ये अपना वर मागकर अपने पुत्र भरत के लिए अयोध्या का राज्य माग रही है। प्रतिज्ञा के अनुसार मुझे उनकी माग पूरी करनी चाहिये। अन्यथा भरत दीक्षा ले लेगा और उसके वियोग मे यह पुत्र-वियोग मे प्राण दे देगी।

रामचन्द्र सुनकर बडे विनय से बोले—देव! अपने वचनो का पालन करे। अन्यथा आपका लोक में अपयश होगा। आपके अपयश के साथ तो मुझे इन्द्र की सम्पदा भी नही चाहिये।

दशरथ ने भरत को समझाया और राज्य स्वीकार करने का आग्रह किया—'पुत्र! तुमने मेरी आज्ञा का कभी उलंघन नही किया। अब तुम्हे दीक्षा का विचार छोडकर राज्य स्वीकार करना चाहिये।' किन्तु भरत बोले—पिता जी! यदि ससार मे ही सुख होता तो आप ही राज्य त्याग कर क्यो दीक्षा लेने का विचार करते। दशरथ इस उत्तर से निरुत्तर हो गये।

तब राम ने बडे स्नेह से हाथ पकडकर कहा—भाई! तुमने जो बात कही है, वह तुम्हारे ही अनुरूप है। समुद्र मे उत्पन्न होने वाला रत्न तालाब मे नही होता। किन्तु अभी तुम्हारी वय तप करने की नही है। अत. पिता की निर्मल कीर्ति फैलाने के लिये तुम्हे राज्य स्वीकार कर लेना चाहिये।

इस प्रकार भरत को समझाकर राम अपनी माता के पास आज्ञा लेने पहुँचे। उनके जाते ही दशरथ वियोग विह्वल होकर मूर्च्छित हो गये। जब माता कौशल्या ने सुना तो वे भी मूर्च्छित हो गई। जब मूर्च्छा भग हो गई तो वे शोक करने लगी। तब राम ने पिता द्वारा दिये हुए वचन की बात बताकर कहा कि माता के वरदान के कारण पिता ने भरत को राज्य दे दिया है। अतः मुझे यहाँ से जाना ही होगा। मेरे यहाँ रहने से भरत की आज्ञा का विस्तार नही होगा। इस तरह माता को सान्त्वना देकर पुन· पिता के पास आज्ञा लेने पहुँचे और आज्ञा लेकर अन्य माताओ के पास गये और उन्हे समझा बुझाकर नमस्कार कर उनमे आज्ञा मागी।

फिर वे सीता के पास गये और बोले—'प्रिये! मैं पिता की आज्ञा से अन्यत्र जा रहा हूँ। तुम यही रहना। सीता बोली—'नाथ! स्त्री पति की छाया होती है। जहाँ आप जायेंगे, मै भी वही रहूँगी। राम ने उसे वन के कष्टों का भयानक वर्णन करके विरक्त करना चाहा, किन्तु सीता ने कहा—पति चरणो में ही सारे सुख हैं। वन के शूल भी आपके साथ रहकर मेरे लिये फूल हो जायेंगे।

जब सबसे विदा लेकर राम और सीता लक्ष्मण के पास पहुँचे तो उसे चलने को तैयार पाया। राम को बड़ा आश्चर्य हुआ और बोले—'भाई! तुम यहाँ रहकर माता-पिता की सेवा करते रहना।' किन्तु लक्ष्मण बोले—

'तात ! यहाँ तो मेरे दो भाई हैं सेवा करने को, किन्तु आपकी और माता सीता की सेवा करने को कौन है। इसलिए आपकी सेवा करने को मैं आपके साथ चलूँगा।'राम ने निरुपाय होकर लक्ष्मण को भी साथ चलने की अनुमति दे दी। जब माताओं और पिता से आज्ञा लेकर लक्ष्मण सुमित्रा माता के पास पहुँचे और आज्ञा मागी तो सुमित्रा ने आशीर्वाद देते हुए कहा—'पुत्र! तुम अवश्य जाओ। तुम राम को अपना पिता दशरथ मानना और सीता को अपनी सुमित्रा माता मानना, और उन दोनो की हमारी ही तरह सेवा करना।'

जब राम-सीता और लक्ष्मण चले तो परिजन-पुरजनो की आँखो से सावन-भादो की तरह आसुओ की वर्षा हो रही थी। राम के मना करने पर भी पुरवासी उनके पीछे-पीछे चले। जब सरयू का तट आ गया तो राम ने सबको समझाया—'पिता ने भरत को राज्य दिया है। आप लाग उनकी आज्ञा मानकर सुखपूर्वक रहे और अब आप लोग वापिस लौट जाँय।

सबको विदाकर वे तीनो चल दिये। आगे राम थे, बीच मे सीता और उनके पीछे लक्ष्मण। उन्होने सरयू नदी पार कर गहन वन मे प्रवेश किया।

इधर भरत का राज्याभिषेक करके दशरथ ने मुनि-दीक्षा लेली। उनके वियोग मे कौशल्या और सुमित्रा शोकसतप्त रहने लगी। उनके शोक को देखकर भरत का राज्य विष जसा प्रतोत होता था। ककेयी ने जब दोनो को निरन्तर विलाप करते दुखो देखा तो एक दिन वह भरत से बाला—'बेटा ! मुझ राज्य ता मिल गया, किन्तु राम और लक्ष्मण के बिना यह राज्य सूना लगता हे। वे और जनकनन्दिना राजवभव मे पले है। वे पाव प्याद पथरोलो जमीन पर कैसे चलते होगे। अत. तू शीघ्र जाकर उन्हे लौटा ला। मै भी तेरे पोछे-पीछे आ रही हूं।

यह सुनकर शीघ्रगामी धोड़े पर सवार होकर साथ मे एक हजार घोड़े लेकर भरत वहाँ से रवाना हुआ। वह नदी नालो को पार करता हुआ लोगो से पूछता हुआ एक भयानक वन मे पहुँचा। वहाँ एक सरोवर के किनारे राम लक्ष्मण और सीता को बैठे हुए देखा। वह दूर से ही घोडे से उतर पडा और पैदल जाकर राम के चरणो मे जाकर मूर्च्छित हो गिर पडा। राम ने उसे सचेत किया और परस्पर कुशल क्षेम पूछी। तब भरत हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर बोला—'नाथ! आप विद्वान् है। राज्य के कारण मेरी यह विडम्बना हो रही है। आपके बिना वह राज्य तो दूर रहा, मुझे अपना जीवन भी अभीष्ट नही है। आप अयोध्या चले और राज्य सभाले। मै आपके सिर पर छत्र लगाये खडा रहूँगा, शत्रुघ्न चमर ढोरेगा और लक्ष्मण आप का मत्रीपद सभालेगा। मेरी मा पश्चाताप की अग्नि से जल रही है और आपकी और लक्ष्मण की माताय भी शोक से विह्वल है।'

भरत इस प्रकार कह ही रहा था कि इतने मे कैकेयी रथ पर सवार होकर सौ सामन्तो के साथ वहाँ आ पहुँची। पुत्रो को देख कर शोक से वह हाहाकार करने लगी। दोनो को उसने कंठ मे लगाया और बोली-बेटा ! उठो, अपनी राजधानी चले और वहाँ चलकर राज्य करना। तुम्हारे बिना सब सुनसान मालूम देता है। स्त्री होने के कारण मुझ नष्टबुद्धि से जो अनुचित कार्य बन पडा है, उसके लिए तुम मुझे क्षमा करो।' यह सुन कर रामचन्द्रजी बोले-मा ! क्या तुम नही जानती, क्षत्रियो के बचन अन्यथा नही होते। पिताजो ने जो कहा है, उसका मुझे और तुम्हे भी पालन करना चाहिए, जिससे भरत की ससार मे अपकीर्ति न हो।' फिर भरत को भी समझाया और सबके सामने उन्होने भरत का राजतिलक किया और कैकेयी को प्रणाम करके तथा भरत को पुन. छाती से लगाकर दोनो को कठिनता से विदा किया।

भरत जाकर न्यायपूर्वक राज्य-शासन करने लगा। उसका मन राज्य मे नही लगता था। उसने प्रतिज्ञा की कि राम के जब दर्शन होगे, तभी मै मुनि-व्रत धारण कर लूँगा। और वह घर मे हो योगी की तरह रहने लगा।

भ्रमण करते-करते रामचन्द्र चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे। वहाँ कुछ दिन रहे। सुन्दर मिष्ट फल, झरनो का शीतल जल, सुरागाय का दूध और जगलो चावल, कोई कष्ट नही था। फिर वहाँ से मालव देश में दशपुर के निकट आये। वहाँ देखा कि ईख के खेत खड़े है, धान्य के ढेर लगे हैं। गगन-चुम्बी जिनालय बने है, किन्तु मनुष्य एक भी नही दीख पडता। एक दरिद्र मनुष्य आता हुआ दिखाई दिया। उससे पूछा—यहाँ के सब मनुष्य कहाँ चले गये ? वह बोला—दशपुर नगर मे वज्रकर्ण

वज्रकर्ण का कष्ट निवारण

नामक एक पापी राजा रहता था। उसे एक दिन एक मुनिराज मिले। उनके उपदेश को सुनकर राजा ने उनसे श्रावक के व्रत ग्रहण किये और प्रतिज्ञा की कि मै देव, गुरु और शास्त्र के सिवाय किसी को नमस्कार नही करूँगा।

प्रतिज्ञा करके वह अपने नगर को लौट गया। उसने अपनी अगूठी में जिन-प्रतिबिम्ब जडवा रक्खा है। उसकी वह प्रतिदिन पूजा करता है। एक दिन वह उज्जयिनी गया। वहाँ के राजा सिहोदर को नमस्कार करने के बहाने मुद्रिका स्थित जिन-बिम्ब को ही नमस्कार किया। यह बात किसी दुष्ट पुरुष ने भापली और बाद मे सिहोदर से शिकायत कर दी। सिहोदर को बडा क्रोध आया और उसने दशपुर से वज्रकर्ण को बुलवाया। जब वह उज्ज-यिनी जाने को तैयार हुआ तो एक व्यक्ति ने उसे सिहोदर का दुरभिप्राय समझाया, जो उसने सिहोदर के महलो मे चोरी के लिये जाने पर सिंहोदर के मुख से ही सुना था। वज्रकर्ण उसकी बात पर विश्वास करके किले मे लौट गया। कुछ समय पश्चात् सिहोदर अपनी सेना लेकर उसे मारने आया। किन्तु किले को दुर्भेद्य और अजेय जानकर उसने वज्रकर्ण के पास दूत भेजा। दूत ने जाकर कहा—'महाराज! सिहोदर ने कहा है कि मेरे दिये हुए राज्य का तू उपभोग करता है और मुझे नमस्कार न करके अपने भगवान को नमस्कार करता है। अत तू आकर मुझे प्रणाम कर अन्यथा तुझे मार डाला जाएगा।' वज्रकर्ण ने दूत से स्पष्ट कह दिया—'मै धर्म नही छोड सकता हूँ, राज्य छोड सकता हूँ। यदि चाहें तो सिहोदर अपना राज्य वापिस ले ले। दूत ने यह बात सिंहोदर से जाकर कह दी। इससे वह और भी जल भुन गया और क्रोध मे आकर उसने सारा नगर उजाड दिया, घरो मे आग लगवादी, मनुष्यो को मार दिया। इस नगर के सुनसान होने का यह कारण है। रामचन्द्रजी ने उस दरिद्र को अपना रत्नहार दे दिया, जिसे लेकर वह प्रसन्नतापूर्वक वहाँ से चला गया।

रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा—लक्ष्मण! वज्रकर्ण धर्मात्मा है। उसकी रक्षा करनी चाहिये। रामचन्द्र जी की आज्ञा पाकर लक्ष्मण धनुष-वाण लेकर सिंहोदर के दरबार मे पहुँचे। सिहोदर ने पूछा—'तू कौन है? लक्ष्मण बोले—'मैं भरत का दूत हूँ। तुझे समझाने आया हूँ। तूने धर्मात्मा वज्रकर्ण को क्यो कष्ट दे रक्खा है। सिहोदर क्रोध में बोला—कौन भरत, कहाँ का भरत! वज्रकर्ण मेरा शत्रु है। वह मुझे नमस्कार नही करता, अपने भगवान को नमस्कार करता है। इसे मैं बिना मारे छोडूँगा नही। अगर भरत या तूने बीच मे टाग अडाई तो तुम्हे भी मारूँगा।' लक्ष्मण को यह सुनकर क्रोध आ गया। दोनों ओर से युद्ध होने लगा। लक्ष्मण ने आनन-फानन मे सिहोदर को जीत लिया और मुश्के बाधकर रामचन्द्र जी के पास ले आये। सिहोदर रामचन्द्र जी के पैरो मे गिर पडा। उसकी रानियाँ भी पति के प्राणो की भिक्षा मागने लगी। तब रामचन्द्र जी ने कहा—'तुम वज्रकर्ण की आज्ञा मे रहो।' सिहोदर ने यह बात स्वीकार कर ली। तब रामचन्द्र जी ने वज्रकर्ण को बुलाने एक आदमी भेजा। वज्रकर्ण भगवान के मन्दिर मे जाकर और उनको नमस्कार करके रामचन्द्र जी के पास आया। दोनो मे कुशल-क्षेम हुई। फिर रामचन्द्र जी और लक्ष्मणजी ने वज्रकर्ण की खूब प्रशसा की और उससे कुछ इच्छा प्रगट करने के लिये कहा। वज्रकर्ण ने कहा—आप सिहोदर को मुक्त कर दीजिये। लक्ष्मण ने तुरन्त उसे मुक्त कर दिया। तब वज्रकर्ण और सिहोदर दोनो गले से मिले और सिहोदर ने उज्जयिनी का आधा राज्य वज्रकर्ण को दे दिया और दोनो सुखपूर्वक रहने लगे।

इसके कुछ दिन पश्चात् राम वहाँ से नलकच्छपुर मे पहुँचे। वहाँ की राजकुमारी कल्याणमाला जो सदा पुरुषवेष में रहती थी, वह जगल मे लक्ष्मण को देखकर मोहित हो गई। वह राम के निकट आई। उसने बताया कि

लक्ष्मण को वनमाला का लाभ

उसके पिता बालखिल्य को म्लेच्छ राजा ने बन्दी बना लिया है। लक्ष्मण भी उसे देखकर कामासक्त हो गये। उन्होने उसके पिता को म्लेच्छो से छुडाने का वचन दिया। कुछ दिन बाद वे लोग चलकर विन्ध्याटवी पहुँचे और म्लेच्छो से युद्ध कर लक्ष्मण ने म्लेच्छराज रौद्रभूति के कारागार से वालखिल्य को मुक्त किया और रौद्रभूति को उसका मत्री बनाया।

फिर वे खानदेश मे पहुँचे। वहाँ जगल में वे लोग ठहरे हुए थे। उन्हे देखकर यक्षाधिपति ने उनके लिए सभी सुविधाओ से युक्त रामपुर नामक नगर बनाया। वे वहाँ रहने लगे। एक दिन दरिद्र कपिल ब्राह्मण वहाँ आया। उसने एक बार सीता का अपमान किया था, जब वे लोग उसकी यज्ञशाला में ठहरे थे। किन्तु रामचन्द्र जी ने उसे विपुल द्रव्य देकर विदा किया।

चातुर्मास के पश्चात् जब वे लोग रामपुर से चलने लगे तो यक्ष ने क्षमा-याचना करते हुए राम को स्वयप्रभ नामक एक सुन्दर हार दिया। लक्ष्मण को कानों के देदीप्यमान कुण्डल दिये और सीता को सुकल्याण नाम का एक चूडामणि रत्न दिया और एक सुन्दर वीणा दी। वहाँ से विदा होकर वे भयानक वनों मे से होते हुए विजय-पुर नगर के बाहर उद्यान मे ठहरे।

उस नगर के राजा पृथ्वीधर की सुन्दरी कन्या वनमाला बचपन मे लक्ष्मण की प्रशसा सुनकर उनके प्रति अनुरक्त हो गई थी और उन्हे मन मे पति मान लिया था। जब राजा पृथ्वीधर ने सुना कि राजा दशरथ के दीक्षा लेने पर राम-लक्ष्मण और सीता कही वन मे चले गये है तो उसने वनमाला का विवाह इन्द्रनगर के राजकुमार बालमित्र के साथ कर देना चाहा। जब वनमाला को यह ज्ञात हुआ तो उसने किसी परपुरुष के साथ विवाह न करने और पेड से लटककर गले में फासी लगाकर मर जाने का निश्चय कर लिया। सूर्यास्त होने पर वह माता पिता से आज्ञा लेकर सखियो के साथ रथ मे बैठकर वनदेवी की पूजा करने के लिए वन मे चल दी। दैवयोग से जिस वन मे जिस रात को राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उसी रात को उसी वन मे वह पहुंची। उसने वनदेवी की पूजा की और सखियो से आख बचाकर चुपचाप वहाँ से चल दी। आहट पाते ही लक्ष्मण उठ बैठे और किसी अनिष्ट की आशका से वे उसका अनुसरण करने लगे कि देखे, यह क्या करती है। वे एक वृक्ष की ओट मे खड हो गये। वनमाला चलती-चलती उसी वृक्ष के पास पहुँची और एक कपड़ा वृक्ष से बाँध कर बोली—इस वृक्ष पर रहने वाले हे देवताओ! यदि कभी इस वन मे घूमते हुए कुमार लक्ष्मण आवे तो तुम उनसे कह देना कि वनमाला तुम्हारे विरह मे मरगई। इस जन्म मे तो तुम नही मिल पाये किन्तु अगले जन्म मे तुम्ही मेरे पति होना।' यो कहकर वह अपने गले मे फन्दा बाँधने को तयार हुई त्योंही लक्ष्मण ने उसे रोककर कहा—'सुन्दरि! जिस गले मे मेरी बाहे पडनी चाहिये, उसमे तुम फाँसी क्यो डाल रही हो। मैं ही वह लक्ष्मण हूँ।' यह कहकर लक्ष्मण ने उसके हाथ से फाँसी छीन ली और उसे आलिगन मे भर लिया।

प्रभात होने पर जब रामचन्द्र जी उठे और लक्ष्मण को वहाँ नही देखा तो वे अधीर हो उठे और लक्ष्मण को आवाज देने लगे। लक्ष्मण फौरन वनमाला के साथ वहाँ आया। उन्हे नमस्कार किया और रात को सारी घटना कह सुनाई।

उधर जब सखियो ने वनमाला को न देखा तो वहाँ कोहराम मच गया। राजा के पास समाचार पहुँचा। राजा और रानी वहाँ आये जहाँ श्रीराम बैठे हुए थे। उन्हे नमस्कार कर वह बैठ गया। राजा ने उनसे राजमहलो मे पधारने की प्रार्थना की। सब लोग हाथी पर आरूढ होकर राजप्रासाद पहुँचे। वहाँ धूमधाम के साथ वनमाला का विवाह लक्ष्मण के साथ कर दिया।

एक दिन राजा पृथ्वीधर राम-लक्ष्मण के साथ राजदरबार मे बैठा हुआ था, तभी एक दूत वहाँ आया और राजा से निवेदन किया—'महाराज! नन्द्यावर्त के राजा अतिवीर्य ने सेना सहित आपको बुलाया है।' राजा ने उससे बुलाने का कारण पूछा तो दूत बोला—'महाराज अतिवीर्य ने अयोध्या के राजा भरत का सन्देश भेजा था कि या तो तुम मेरी आधीनता स्वीकार करो अन्यथा युद्ध के लिये तैयार रहो। शत्रुघ्न ने दूत को अपमानित करके निकाल दिया। जब राजा अतिवीर्य ने यह सुना तो वे अग, बग, तिलग देश के म्लेच्छ राजाओं को लेकर अयोध्या पर आक्रमण करने चल दिये। राजा भरत भी अवन्ती और मिथिला के राजाओ के साथ चलकर नर्मदा के तट पर आ डटा। रात मे शत्रुघ्न ने हमारे चौंसठ हजार घोड़े चुपचाप खोल दिये। इस पर अतिवीर्य महाराज ने विभिन्न देशो के राजाओ को बुलाने के लिये दूत भेजे है। अत आप भी वहाँ शीघ्र पहुचे।

रामचन्द्र जी को यह सुनकर बड़ी चिन्ता हुई। वे लक्ष्मण से बोले—'वत्स! अतिवीर्य बडा बलवान और असख्य सेना का अधिपति है। भरत के पास सेना कम है। अत भरत हार जायगा। हमें भरत की सहायता करनी है किन्तु छद्मवेश मे रहकर जिससे किसी को हमारा पता न चले।' उन्होने राजा पृथ्वीधर से भी अपना अभिप्राय प्रगट किया। पृथ्वीधर राम-लक्ष्मण और सीता सहित अपनी सेना लेकर चल दिया और जाकर अतिवीर्य से मिले। सीता को तो राम ने एक जिन मन्दिर में श्वेत वस्त्र पहनाकर आर्यिका के निकट ठहरा दिया और भगवान के दर्शन कर अतिवीर्य के पास पहुँचे। वहाँ कौशल से लक्ष्मण ने अतिवीर्य को बन्दी बना लिया। सब राजा भयभीत हो गये।

लक्ष्मण अतिवीर्य को लेकर रामचन्द्र जी के पास आये। रामचन्द्र जी बोले–भरत सारे भारत के राजा है। तुम उनकी आधीनता स्वीकार करो और आनन्दपूर्वक रहो।' यो कह कर उसके बन्धन खुलवा दिये। अतिवीर्य बोला—"मुझे अब भोगो की इच्छा नही है। मैं तो अब जिन दीक्षा लेकर आत्म कल्याण करूँगा।' यो कहकर वह मुनि बन गया। रामचन्द्र जी ने इसके पुत्र विजयरथ का राज तिलक कर दिया। विजयरथ ने अपनी बहन का विवाह लक्ष्मण के साथ कर दिया और भरत के साथ सन्धि कर ली। रामचन्द्रजी पृथ्वीधर के साथ विजयपुर लौट आये।

कुछ दिन वहाँ ठहरकर जब वे लोग वहाँ से चलने लगे तो लक्ष्मण वनमाला से विदा लेने पहुँचे और बोले—'प्रिये ! तुम यही रहना। कुछ दिन बाद मै तुम्हे लिवा ले जाऊँगा।' किन्तु वनमाला बोली—'नाथ ! मैं भी आपके साथ चलूँगी।' तब लक्ष्मण बोले—'हे शुभे! यदि मैं तुम्हे लेने न आऊँ तो मुझे वह दोष लगे, जो रात्रि भोजन करने से या कन्द मूल खाने से अथवा अनछना जल पीने ने लगता है।' तब वनमाला आश्वस्त हो गई और वे तीनो वहाँ से चुपचाप चल दिये।

वहाँ से चलकर वे क्षेमांजलि नगर के बाहर उद्यान मे ठहरे। राम की आज्ञा से लक्ष्मण शहर देखने गये और वहाँ के राजा की पुत्री जितपद्मा की प्रतिज्ञानुसार लक्ष्मण ने राजदरबार मे जाकर देवाधिष्ठित पाच शक्तियों को झेला तथा रामचन्द्रजी की आज्ञा से जितपद्मा के साथ विवाह किया।

वे वहाँ कुछ दिन ठहर कर एक दिन चुपचाप दक्षिण समुद्र की ओर चल दिये। चलते-चलते वे वंशस्थल नगर पहुँचे। वहाँ के लोगो को भयभीत देखकर रामचन्द्रजी ने इसका कारण पूछा तो एक व्यक्ति ने बताया कि 'रात मे इस पर्वत के ऊपर कुछ दिनों से बिजली गिरने जैसा भयानक शब्द होता है और भूतप्रेतादिको की डरावनी आकृतियाँ दिखाई देती है। रात को सब लोग बाहर भाग जाते है और सुबह फिर नगर मे आ जाते है।' यह सुनकर रात को रामचन्द जी लक्ष्मण और सीता के साथ पर्वत पर पहुँचे। वहाँ जाकर क्या देखते है कि देशभूषण और कुलभूषण नामक दो मुनि तपस्या कर रहे है और उनके सारे शरीर पर साप-विच्छू आदि लगे है। सबने उन्हे नमस्कार किया और अपने धनुषो से साँप-बिच्छुओ को हटाया। मुनियो के चरण धोये और उनकी पूजा की।

राम का जटायु से मिलन

कुछ देर बाद एक असुर ने उन मुनियो को नाना भाति के कष्ट देने आरम्भ किये। वह नाना प्रकार के डरावने रूप बनाकर भयानक आवाज करने लगा। सीता इसमे डर गई। तब रामचन्द्र जी ने सीता को तो मुनि चरणो मे बैठा दिया और दोनो भाई धनुप चढा कर टकारने लगे। असुर भयभीत होकर वहाँ से भाग गया। उपसर्ग दूर हो गया। उसी समय दोनो मुनियों को केवलज्ञान हो गया। चतुर्निकाय के देव भगवान का केवलज्ञान महोत्सव मनाने आये। भगवान का उपदेश हुआ। सबने उपदेश सुनकर आत्म कल्याण किया।

तभी गरुणेन्द्र वहाँ आया और प्रसन्न होकर रामचन्द्रजी से बोला—'तुमने दोनो मुनियो की जो सेवा की है, इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहो सो माग लो।' रामचन्द्रजी बोले—'जब आवश्यकता होगी, हम आप को स्मरण करेगे। आप उस समय हमारी सहायता करना।' गरुणेन्द्र ने 'तथास्तु' कहा।

वशपुर के राजा ने राम सीता और लक्ष्मण का बडा सम्मान किया। रामचन्द्रजी ने वहाँ कुछ दिन ठहर कर विशाल जिन मन्दिर बनवाये और उनकी प्रतिष्ठा करा दी तब से उस पर्वत का नाम रामगिरि हो गया।

वहाँ से वे चल दिये और वन के बीच बहने वाली कर्णरवा नदी के तट पर पहुँचे। सीता ने वहाँ भोजन बनाया। लक्ष्मण वन मे वनहस्ती के साथ क्रीड़ा करते हुए कुछ दूर निकल गये। तभी सीता ने सुगुप्ति और गुप्ति नामक दो मुनियों को आते देखा। उसने रामचन्द्रजी को बताया। फौरन रामचन्द्रजी और सीता ने दोनों मुनियों को पडगाया और विधिपूर्वक उनको आहार कराया। आहार होने पर देवो ने पचाश्चर्य किये। मुनि आहार के पश्चात् वही शिला पर बैठ गये। मुनियो को देखकर उस समय एक गृद्ध पक्षी को जाति-स्मरण ज्ञान (पूर्व जन्म का ज्ञान) हो गया। वह भक्ति से प्रेरित होकर मुनियो के चरणो में गिर पडा और चरणोदक में लोट-लोट कर स्तुति करने लगा। चरणोदक के प्रभाव से उसका शरीर स्वर्ण जैसा हो गया, बाल रेशम जैसे हो गये। पंख वैडूर्य मणि के समान हो गये और पजे पद्मराग मणि जैसे हो गये।

यह देखकर राम और सीता को बडा आश्चर्य हुआ। उन्होंने मुनि महाराज से इसका कारण पूछा तो अवधिज्ञानी मुनि बोले—पहले इस वन के स्थान पर एक सुन्दर नगर था। उसका नाम था कार्यकुण्डल। वहाँ का राजा दण्डक था, उसकी रानी मस्करी थी। दोनो विषयलम्पटी और सद्धर्म के विरुद्ध थे। एक दिन राजा ने बन मे एक मुनि को ध्यान करते हुए देखा। उसने उनके गले मे एक मरा हुआ सर्प डाल दिया। कुछ दिनों के बाद एक मनुष्य उधर से निकला। उसने मुनि के गले से वह सर्प हटा दिया। सर्प के विष के कारण मुनि का शरीर काला और चिपचिपा हो गया था। तभी वहाँ वह राजा आ निकला। उसने देखा कि मैंने मुनि के गले में जो सर्प डाला था, उसको मुनि ने स्वय नही हटाया है। यह देखकर वह मुनिभक्त बन गया और उसने जैन धर्म अगीकार कर लिया। इससे रानी को बडा बुरा लगा। वह राजा को जैन धर्म से हटाने का उपाय सोचने लगी। एक दिन एक मुनि आहार के निमित्त राजद्वार पर आये। रानी ने उनके ऊपर झूठा अपवाद लगाकर राजा से शिकायत कर दी। राजा को बडा क्रोध आया। उसने सारे दिगम्बर मुनियो को घानी में पेरने की आज्ञा दे दी। राजाज्ञा से सारे दिगम्बर मुनि जो वहाँ थे, घानी मे पेर दिये गये। एक मुनि बाहर गये हुए थे। जब वे नगर की ओर आ रहे थे तो मार्ग में एक व्यक्ति ने उनसे मुनियों के घानी में पेरने का समाचार सुनाया। सुनकर उन मुनि को बडा दुःख हुआ और अत्यन्त क्रोध भी आया। भयकर क्रोध के कारण उनकी बाई भुजा से कालाग्नि के समान एक अशुभ तजस पुतला निकला। उसने सारे नगर को भस्म कर दिया। उससे कोई मनुष्य-पशु-पक्षी तक नही बचा। राजा भी उसी मे भस्म हो गया। राजा नरक मे गया, मुनि भी चिरकाल से उपार्जित धर्म को नष्ट करने के कारण नरक में गये। राजा अनेक योनियो मे भ्रमण करते-करते अन्त में यह गृद्ध पक्षी बना है। इसे हमें देख कर अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया है और वह अपने किये हुए पापो का प्रायश्चित कर रहा है। धीरे-धीरे नगर के भस्म के स्थान पर यह वन लग गया। उस दण्डक राजा के नाम पर ही इस वन का नाम दण्डक-वन या दण्डकारण्य पड़ गया है।

इसके पश्चात् मुनिराज ने उस गृद्ध पक्षी को उपदेश दिया। फलतः उस पक्षी ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, जीव हिसा का त्याग कर दिया। तब मुनियो ने उस पक्षी को सीता के हाथ मे पालन-पोषण के लिये सौंप दिया और वे विहार कर गये।

तभी हाथी पर सवार होकर लक्ष्मण आये। उन्होने पक्षी को देख कर उसके बारे में पूछा। राम ने मुनि के आहार-दान और पक्षी के बारे मे सारी बाते बताईं। सबने बैठकर फिर भोजन किया और तीनों ने मिलकर उस पक्षी का नाम 'जटायु' रक्खा। वे लोग उस वन की शोभा देखकर वही कुटिया बनाकर रहने लगे।

अब रामचन्द्र जी विचार करने लगे कि यहाँ एक सुन्दर नगर बसा कर यही पर निवास किया जाय तथा माताओं को भी यही बुला लिया जाए। एक दिन वे लक्ष्मण से बोले—'वत्स ! देखो तो यहाँ नगर बसाने के लिये कौन-सा स्थान उपयुक्त रहेगा। लक्ष्मण धनुष-बाण लेकर स्थान की खोज मे चल दिये। कुछ दूर जाने पर उन्हे सुगन्ध आई। आगे बढे तो बांसो के झुरमुट मे एक लटकती हुई तलवार दिखाई दी। उन्होने बडे उत्साह से वह तलवार हाथ मे ले ली और उसकी तीक्ष्णता को परीक्षा करने के लिये उन्होने वह तलवार उसी बासो के झुरमुट पर फिराकर मारी। बासो के झुरमुट के साथ वहाँ किसी का सिर भी कट गया। उसे देखकर लक्ष्मण को बडा दुःख हुआ। वे तलवार हाथ मे लेकर रामचद्र जी के पास गये और बडे दुःख भरे शब्दो मे उनसे सारा वृत्तान्त निवेदन कर दिया। राम विचार कर बोले—यह किसी विद्याधर का सिर तूने काट दिया है। अतः यहाँ कुछ अनर्थ होने की सभावना है। अब सावधान रहना चाहिये।

सीता का अपहरण

अलकारपुर के राजा खरदूषण और (रावण की बहन) चन्द्रनखा के दो पुत्र थे – संबूक और सुन्दर। एक दिन सबूक ने पिता के मना करने पर भी सूर्यहास तलवार सिद्ध करने के लिये दण्डक-वन मे प्रवेश किया और बांसो के झुरमुट मे बैठ कर ब्रह्मचर्य व्रत लेकर दिन मे केवल एक बार भोजन और एक वस्त्र पहनकर धूप-दीप आदि से अर्चना करता हुआ सूर्यहास तलवार की सिद्धि के लिये बैठ गया। उसकी माता चन्द्रनखा प्रति दिन दोपहर को पुत्र

को भात दे जाती और उसे देख जाती। बारह वर्ष बाद एक दिन उसने खड्ग को देखा। वह बडी प्रसन्न हुई। उसने अपने पति से जाकर यह बात बताई कि आज से तीसरे दिन हमारा पुत्र खड्ग सिद्ध करके यहाँ आ जायगा। अतः उसके स्वागत की तैयारी करनी चाहिये।

जब अगले दिन चन्द्रनखा अपने पुत्र को देखने आई तो पुत्र का मस्तक कटा हुआ देखकर दुःख से रोने लगी। वह बार-बार मूर्च्छित हो जाती और होश मे आने पर विलाप करने लगती। वह सोचने लगी कि जिसने मेरे पुत्र का बध करके खड्ग को चुराया है, उस पापी को अपने पति और भाई द्वारा मरवा डालूंगी! यो सोचकर वह अपने पुत्र के हत्यारे को खोजने लगी। उसे कुछ दूर आगे जाने पर कामदेव जैसे दो देवकुमार दिखाई दिये। उन्हे देखते ही वह पुत्र-शोक भूल गई और काम से पीडित हो गई। वह विद्या मे वनलक्ष्मी के समान सुन्दर कन्या का रूप बनाकर एक वृक्ष के नीचे बैठ कर रोने लगी। उसका करुण रुदन सुनकर सीता उसके पास आई और उसे सान्त्वना देती हुई रामचन्द्रजी के पास ले आई। राम ने उससे रुदन का कारण पूछा तो वह बोली—'नाथ! बचपन मे ही मेरे माता-पिता मर गये। मैं अनाथ होकर इस जंगल मे मारी-मारी फिर रही हूँ। यदि आप दोनो में से मुझे कोई अपना ले तो मैं उन्ही की शरण मे पडी रहूँगी, अन्यथा मेरा मरण निश्चित है।' उसकी बात सुनकर समयज्ञ रामचन्द्रजी बोले—बाले! हम दोनो में से तो तुम्हे कोई नही चाहता। अन्यत्र तुम चली जाओ। यो कहकर उसे वहाँ से निकाल दिया। वह क्रुद्ध होकर अपने नगर में लौट आई और बाल बखेर कर शरीर मे खरोचकर बुरी तरह रोने लगी। उसका रुदन सुनकर खरदूषण आया और उससे रोने का कारण पूछने लगा। उसने रो रो कर बताया—'नाथ! हमारा पुत्र सबूक सूर्यहास तलवार को दण्डक-वन में साधन कर रहा था। कही से स्त्री सहित दो पुरुषो ने आकर हमारे पुत्र का बध कर दिया और तलवार छीन ली। मै पुत्र को देखने गई तो वे दुष्ट मेरे साथ कुचेष्टा करने लगे। यही अच्छा हुआ कि मेरा शील खण्डित नही हुआ। मै बडी कठिनाई से उनसे बच कर यहाँ आ सकी हूँ। आप उन पुत्रघातियो से अवश्य बदला लें।'

पुत्र-मरण का समाचार सुनकर खरदूषण मूर्च्छित हो गया और विलाप करने लगा। फिर उसे क्रोध आया- मैं अभी जाकर उन दुष्टो का सिर काट कर लाता हूँ।' जब वह चलने लगा तो मन्त्रियो ने समझाया—'जिन्होने सूर्य-हास खड्ग छीन लिया और सबूक कुमार का बध किया है, वे अवश्य ही कोई वीर पुरुष होगे। अत महाराज रावण को समाचार भेजना ठीक होगा। मन्त्रियो की बात सुनकर उसने एक दूत रावण के पास भेजा। दूत ने जाकर रावण को सब समाचार बताये। सुनकर रावण को बडा क्रोध आया और युद्ध की तैयारी करने लगा।

इधर खरदूषण पुत्र-शोक और क्रोध से अधीर हो रहा था। वह अपनी सेना लेकर दण्डक वन पहुँचा। जब सेना रामचन्द्र जी के निकट आगई, तब लक्ष्मण बोले—'देव! यह तो उस मरे हुए मनुष्य के पक्ष के लोग मालूम पडते है। उस कुलटा स्त्री ने ही ये भेजे मालूम पडते है।' रामचन्द्र जी बोले 'लक्ष्मण! तू सीता की रक्षा कर, मै इन्हे मारता हूं।' किन्तु लक्ष्मण ने आग्रह किया—'देव! मेरे रहते आपको युद्ध करना उचित नही है। आप राजपुत्री की रक्षा करें। मै युद्ध के लिये जाता हूँ। यदि मुझ पर कोई विपत्ति आई तो मै सिंहनाद कर आपको सूचना दूँगा।

यह कहकर सागरावर्त धनुष और सूर्यहास तलवार लेकर लक्ष्मण युद्ध के लिए शत्रु के सम्मुख आ डटे। दोनों ओर से युद्ध होने लगा। अकेले लक्ष्मण ने बाणो की वर्षा कर शत्रु-पक्ष को व्याकुल कर दिया। इसी बीच रावण भी सेना सहित दण्डक बन में आगया। वह 'सबूक को मारने वाला वह नराधम कहाँ है' इस प्रकार कहता हुआ सम्मुख आया और रूपलावण्यवती सीता को देख कर काम से पीडित हो गया। वह सोचने लगा—'मै इस रूप सुन्दरी को कैसे प्राप्त करूँ। बलपूर्वक इसका अपहरण करूँ तो व्यर्थ युद्ध होगा और अपयश भी होगा। अत. इसके हरने का कोई ऐसा उपाय करूँ कि कोई जान न पाये।

इस प्रकार सोचकर उसने कर्ण पिशाचिनी विद्या को बुलाकर उस स्त्री का परिचय पूछा और उपाय भी पूछा। उसने सीता का परिचय देकर कहा कि लक्ष्मण जब सिंहनाद का शब्द करेगा तो राम भी युद्ध के लिए जायेगा।' विद्या के बचन सुनकर उस परस्त्री लम्पट ने सिंहनी विद्या को बुलाया और उसे सिखा-पढ़ा कर युद्ध मे भेजा। उसने जाकर दोनो ओर की सेना मे घोर अंधकार कर दिया और लक्ष्मण की आवाज मे 'राम-राम' इस

प्रकार सिंहनाद किया। रामचन्द्र जी इस सिंहनाद को लक्ष्मण का समझ कर सीता को समझा-बुझा कर और जटायु से उसकी रक्षा करने को कहकर युद्ध के लिये चल दिये। रावण तो इस अवसर की ताक में ही था। उसने आकर सीता को उठाकर पुष्पक विमान में बैठा लिया। यह देखकर जटायु बड़ी जोर से रावण पर झपटा। उसने अपनी चोंच और नखों से रावण को क्षत-विक्षत कर दिया। रावण ने विघ्न आया देख कर जटायु पर प्रहार किया। बेचारा पक्षी उस प्रहार से मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। रावण पुष्पक विमान को लेकर अपने स्थान को चला गया।

सीता अपना अपहरण जानकर जोर-जोर से राम-राम चिल्लाती हुई विलाप करने लगी। रावण मन में विचार करता जा रहा था—'अभी यह अपने पति के लिये विलाप कर रही है। जब मेरे ठाठ-बाट देखेगी तो यह अपने पति को भूल जायगी और मुझसे प्रेम करने लगेगी। किन्तु मैंने तो गुरु से व्रत लिया है कि किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के बिना मैं बलात्कार नहीं करूँगा। अत इसे एकान्त उद्यान में रखकर युक्ति से वश में करना ठीक होगा।' इस प्रकार सोचता हुआ वह लंका जा पहुँचा।

उधर रण-भूमि में राम को आया देखकर लक्ष्मण बोला 'देव! आप भयानक वन में सीता को अकेली छोड़ कर क्यों चले आये?' राम बोले—'तुम्हारा सिंहनाद सुनकर ही मैं यहाँ चला आया।' लक्ष्मण बड़े आश्चर्य में भरकर बोले—'मैंने तो कोई सिंहनाद नहीं किया था। आप शीघ्र चले जाइये।' राम लक्ष्मण को आशीर्वाद देकर शीघ्र वहाँ से अपने स्थान पर वापिस आये। वहाँ सीता को न पाकर 'सीता, सीता' पुकारने लगे और मूर्च्छित होकर गिर पड़े। जब सचेत हुए तो वे फिर विलाप करने लगे —'देवि! तुम क्यों हँसी कर रही हो। तुम जरूर वृक्षों के पीछे कहीं छिपी हुई हो, जल्द निकल आओ। क्या तुम मुझे अपने वियोग से मरा हुआ देखना चाहती हो।' इस तरह विलाप करते हुए वे इधर-उधर घूमकर सीता को देखने लगे। तब उन्हें मरणासन्न जटायु धीरे-धीरे कराहता हुआ दिखाई दिया। रामचन्द्र एक क्षण को सीता का वियोग भूल गये और जटायु के कान में धीरे-धीरे णमोकार मन्त्र सुनाने लगे। मरते समय जटायु के भाव शुभ हो गये और वह मर कर देवयोनि में उत्पन्न हुआ। जटायु के मर जाने से उनका शोक और प्रबल हो गया। वे फिर मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। चेत आने पर वे फिर विलाप करने लगे—हे वन्य पशुओ! यदि तुमने कहीं मेरी सीता को देखा हो तो तुम मुझे बता दो। हे वृक्षो! यदि तुम्हें सीता का कुछ पता हो तो तुम्हीं बता दो।' जब कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला तो वे निरुद्देश्य ही वज्रावर्त धनुष को टंकारने लगे। वे बार बार मूर्च्छित होते और पुन चेत आने पर निरर्थक प्रलाप करने लगते।

इधर रामचन्द्र जी की यह दशा थी, उधर लक्ष्मण खरदूषण के सैनिकों से अकेले युद्ध कर रहे थे। इतने में चन्द्रोदर का पुत्र विराधित वहाँ आया और लक्ष्मण से कहने लगा-'देव! हमारा अलंकारपुर नगर हमसे खरदूषण ने छीन लिया है। आपकी कृपा से अब वह हमें मिल जायगा। आप खरदूषण से युद्ध करें और मैं उसके दुष्ट सैनिकों से लड़ता हूँ। यों कह कर विराधित तो सैनिकों से युद्ध करने लगा और लक्ष्मण खरदूषण से युद्ध करने लगे। लक्ष्मण ने उसे सात बार रथविहीन कर दिया। वह हाथी पर चढ कर युद्ध करने लगा तो लक्ष्मण के बाण से उसका हाथी भी मारा गया। तब दोनों में आमने सामने पैदल ही युद्ध होने लगा। लक्ष्मण ने सूर्यहास तलवार से उसका सिर काट दिया। उधर खरदूषण का सेनापति सुभग दूषण विराधित से जूझ रहा था। लक्ष्मण ने उसके वक्षस्थल पर भिन्दमाल का करारा प्रहार किया और वह भी निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़ा। सेनापति के मरते ही सेना भाग खड़ी हुई। लक्ष्मण ने सबको अभयदान दिया और शत्रु सेना की सामग्री विराधित को सौंप कर लक्ष्मण शीघ्रता से राम के पास पहुँचे। वहां सीता के बिना राम को मूर्च्छित देखकर लक्ष्मण ने उन्हें सचेत किया और पूछा—'देव! सीता कहाँ है?' राम ने लक्ष्मण को बिना घाव के देखा तो वे प्रसन्न हुए। किन्तु फिर शोक की घटा उमड़ पड़ी और विह्वल होकर बोले—पता नहीं, सीता को कोई दुष्ट हर ले गया या पाताल खा गया या उसे आकाश निगल गया।' लक्ष्मण ने उन्हें बड़ी सान्त्वना दी—'देव! इस प्रकार शोक करने से क्या मिलेगा।' और उनके हाथ-मुँह धोए।

कुछ देर पश्चात् विराधित अपनी सेना सहित आकाश-मार्ग से वहाँ आया। लक्ष्मण ने राम से कहा—

यह राजा चन्द्रोदर का पुत्र विराधित है। इसने युद्ध में मेरी बडी सहायता की है।' विराधित ने राम को नमस्कार किया और कहने लगा—'महाराज ! आप जैसे पुरुषोत्तम को पाकर मैं कृतार्थ हुआ। मुझे कुछ आज्ञा दीजिये।' यह सुनकर लक्ष्मण बोले—'मित्र ! किसी ने मेरे भाई की पत्नी हर ली है। यदि वह न मिली तो भाई उसके वियोग में प्राण दे देंगे और इनके बिना मैं भी जीवित नही रहूँगा। इनके प्राणो के आधार पर ही मेरे प्राण है। अत तुम कुछ प्रयत्न करो।' विराधित सान्त्वना भरे शब्दों में बोला—'देव ! आप कुछ चिन्ता न करे। मैं आपकी पत्नी को अवश्य खोज लाऊँगा।'

उसने तत्काल अपने योद्धाओ को सीता की खोजके लिए दसो दिशाओं में भेज दिया। उन्होंने सब कही छान मारा किन्तु सीता का कुछ पता न चला। वे कुछ काल के बाद लौट आये। तब राम निराश होकर बोले—'मेरे भाग्य मे दु ख ही लिखे हैं। माता-पिता से बिछुड कर मैं इस जगल मे आया, किन्तु दुर्भाग्य ने यहाँ भी मेरा पीछा नही छोडा। सीता के बिना मैं अब एक पल भी जीवित नही रहूँगा। आप लोग घर जाइये और सुखपूर्वक रहिये।' इस प्रकार राम को विलाप करते देखकर लक्ष्मण भी रोने लगे।

तब विराधित ने उन्हे आश्वासन दिया—'देव ! इस तरह शोक करने से तो सीता मिलेगी नही। आप धैर्य रख कर कुछ उपाय कीजिये। जीवन रहेगा तो सीता भी मिल जायगी। खरदूषण मारा गया है, अत उसके पक्ष के रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, मेघनाद, इन्द्रजीत आदि अभी चढ़कर आवेगे। अत आप अलकारपुर चलिये। वहाँ मैं शीघ्र अपने योद्धाओं को सीता का पता लगाने भेजूँगा और भामण्डल के साथ मिल कर मै और वे दोनो पता लगायगे। यदि मै सीता का पता न लगा पाया तो अपने प्राण त्याग दूँगा।' इस प्रकार उसके वचनो से आश्वस्त होकर सब लोग अलकारपुर चले। वहाँ जाकर नगर को घेर लिया और उस पर अधिकार कर लिया। चन्द्रनखा पश्चिम द्वार से अपने पुत्र के साथ निकल भागी। विराधित ने राम और लक्ष्मण को एक सुन्दर महल में ठहरा दिया। पुरजन अपने राजा को पुन पाकर बडे हर्षित हुए। सब लोग बैठकर सीता की खोज का उपाय सोचने लगे। किन्तु उस महल मे भी राम को सीता के बिना सब कुछ सूना-सूना लगता था। उन्हे कुछ देर भगवान की पूजा करने से शान्ति मिलती थी।

रावण विमान में ले जाते हुए सीता को समझाने लगा—'सुन्दरी ! तुम क्यों शोक करती हो। कहाँ वह दरिद्री राम और कहाँ त्रिखण्डपति मैं। मेरे पास ससार की सारी सपदायें है। तू राम का ध्यान छोडकर मेरे साथ भोग कर और आनन्दपूर्वक शेष जीवन बिता। मै तुझे अपनी अठारह हजार रानियो मे पटरानी का पद दूँगा।' यह कहकर उसने सीता की ओर ज्योही हाथ बढाया, सीता बडे क्रोध मे बोली—'पापी ! खबरदार जो मुझे स्पर्श किया। परस्त्री गमन से तू नरक मे पडेगा। यदि तूने मुझे स्पर्श करने का प्रयत्न किया तो सती के शील से तू अभी भस्म हो जायगा।' रावण भयभीत होकर पीछे हट गया और लका मे जाकर अपने महलो के पीछे अशोक उद्यान में सीता को ठहरा दिया।

लंका के उद्यान मे सीता

तभी चन्द्रनखा अपने पुत्र सहित बाल बिखेर कर विलाप करती हुई वहाँ आई। उसने अपने पुत्र और पति के वध का समाचार रावण को सुनाया। रावण के घर में हाहाकार मच गया। तब रावण ने उसे समझाते हुए कहा—'बहिन ! तू शोक मत कर। मै शीघ्र तेरे पति के हत्यारे का बध करके बदला लूँगा। तू यहाँ आनन्दपूर्वक रह।' इस प्रकार चन्द्रनखा को सान्त्वना देकर रावण अन्त पुर मे जाकर खेदखिन्न होकर शय्या पर पड गया। तब उसकी रानी मन्दोदरी आकर कहने लगी—'नाथ ! आप इतने शोकग्रस्त क्यो है। खरदूषण मारा गया तो क्या हुआ।' तब रावण कहने लगा—'देवि ! तुम शपथ खाओ कि मेरी बात सुनकर तुम क्रोध नही करोगी।' तब मन्दोदरी ने शपथ खाई। तब रावण बोला-'एक भूमिगोचरी की स्त्री सीता को लाकर मैंने उद्यान मे रक्खा है। अनेक उपाय करने पर भी वह मेरे अनुकूल नही होती। यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो तो तुम जाकर उसे अनुकूल करने का प्रयत्न करो।' मन्दोदरी यह सुनकर बोली—'अच्छी बात है। मैं उसे वश में करके तुमसे मिलाऊँगी।'

यह कहकर मन्दोदरी अशोक उद्यान में सीता के पास पहुँची और समझाने लगी—'लड़की ! तू यहाँ

आकर उदास क्यों है। जिसे रावण जैसा बली त्रिखण्डाधिपति पति प्राप्त हो रहा हो, उसे शोक करना उचित नही है। तेरे राम-लक्ष्मण रावण की तुलना मे अति तुच्छ है। यदि तू महाराज रावण की बात स्वीकार नहीं करेगी तो रावण कुपित होकर क्षणभर मे राम और लक्ष्मण को मार डालेगे। यदि तूने समझ से काम लिया तो तू पटरानी बनकर जीवन का आनन्द उठावेगी।'

यह सुनकर अश्रुपूरित नयनों से मन्दोदरी को देखती हुई सीता बोली—'माता! सतियो के मुख से ऐसे वचन नही निकलने चाहिये। मेरा शरीर टुकडे-टुकडे कर दिया जाय, तब भी मै राम को छोड अन्य पुरुष की इच्छा नही कर सकती। पर-पुरुष चाहे इन्द्र चक्रवर्ती ही क्यो न हो।'

इधर ये बाते हो हो रही थी कि काम से व्याकुल रावण वहाँ आया और मुस्कराता हुआ सीता को समझाने लगा। किन्तु सीता ने फटकारते हुए करारा उत्तर दिया। तब रावण ने क्रोधित होकर विद्याबल मे वहाँ घोर अधकार कर दिया। नाना प्रकार के फुकारते हुए विषधर और भयानक जन्तु सीता को डराने के लिये भेजे। किन्तु सीता राम के ध्यान मे निमग्न रही, वह भयभीत नही हुई।

तब रावण वहाँ पर ही पर्दा डालकर मत्रियो से मत्रणा करने लगा। वहाँ सीता के रुदन के शब्द विभीषण के कानो मे पडे। वह पर्दा उठाकर सीता के पास पहुँचा और पूछने लगा—'बहिन! तू किसकी पुत्री है और यहाँ बैठी क्यों रुदन कर रही है।' तब सीता ने उत्तर दिया—'भाई! मै मिथिलापति जनक को पुत्री और अयोध्यापति दशरथ की पुत्र-वधू हूँ। वन में जब मेरे पति राम और देवर लक्ष्मण युद्ध को गये थे तो मुझे अकेली पाकर पापी रावण मुझे हर लाया है। अत आप मुझे यहाँ से छुडाकर मेरे पति राम के पास पहुँचाने का कोई उपाय करो।'

सीता के मुख मे ये वचन सुनकर विभीषण को बडा क्रोध आया। वह रावण के पास आकर कहने लगा—'देव! आप ज्ञानवान है, फिर भी आपने परस्त्री हरण जैसा अपवादकारी निद्य पाप क्यो किया? आप यह तो जानते ही है कि परस्त्री समागम से कुल की अपकीर्ति और नाश हो जाता है। अत आप दया करके सीता को उसके पति के पास पहुँचा द।' किन्तु यह सुनकर निर्लज्ज रावण बड़ी धृष्टता से बोला—'त्रिखण्ड मे जितनी भी सुन्दर वस्तुये है, सब मेरी है।' यह कहकर वह मारीच आदि से बात करने लगा। तब मारीच कहने लगा—नाथ! राजाओं को सदा न्याय-मार्ग पर चलना चाहिये। लोकनिद्य काम करने से वश का नाश हो जाता है।'

रावण को मारीच का उपदेश रुचिकर नही लगा और वह वहाँ से उठकर चल दिया। उसने अपना सारा वैभव सीता के आगे से निकाला, जिससे सीता प्रभावित हो किन्तु सीता पर इसका कुछ प्रभाव नही पड़ा। वह तो सदा राम के ही चरणो का ध्यान करती थी। उसने मन मे सकल्प कर लिया कि जब तक पुन पति से समागम न होगा तब तक अन्न-जल ग्रहण नही करूंगी। रावण ने सीता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अनेक चतुर स्त्रियाँ सीता के पास रख दी, जो रत्न, मुक्तक आदि के अनेक आभूषण और शृगार की सामग्री सीता के पास लाकर रखती, उसे प्रेमभरी रसीली बाते सुनाती, कोई उसे भयभीत करती, किन्तु सीता उनको न कुछ उत्तर देती और न ही बोलती। वे जाकर रावण को रिपोर्ट देती कि सीता पर हमारी बातो का कुछ भी प्रभाव नही पडता। रावण काम विमूढ हुआ सीता का ही दिनरात ध्यान करता।

तब एक दिन विभीषण ने मत्रि-परिषद बुलाई और कहने लगा—'देखो, रावण सीता को ले आया है। इससे बड़ा अनर्थ होगा। न्याय मार्ग पर चलने वाले हनुमान आदि राजा विरुद्ध हो जायेगे। रावण का दाहिना हाथ खरदूषण मारा ही गया है। राम की सहायता पाकर विराधित बलवान हो गया है। वानरवशी अपनी ही समस्याओ में उलझे हुए है। भगवान के मुख मे आप लोग सुन ही चुके है कि दशरथ के पुत्रो के हाथ से रावण की मृत्यु होगी। अतः आप लोग कुछ उपाय करे कि यह अनर्थ टल सके।' तब मत्रियों ने निश्चय किया कि लका की सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिये। प्रभावशाली पुरुषों को मधुर वाक्यों से अपने पक्ष में कर लेना चाहिये और दुष्ट जनो को धनादि से परितृप्त कर अपने अनुकूल करना चाहिये। रावण का जिसमें हित हो, हमें वही कार्य

करना चाहिये। सीता के बिना राम जीवित नही रहेगा और राम के मरने पर लक्ष्मण स्वय मर जायगा। अत हमें तब तक धैर्य रखना चाहिये।

इस निर्णय के अनुसार विभीषण ने लका के चारो ओर यत्रो का एक दूसरा परकोट बनवाया, खाई खुदवादी। चारो ओर रक्षा के लिए सुभट और दिक्पाल नियुक्त कर दिये और युद्ध की सी तैयारी होने लगी।

सुग्रीव से राम की मित्रता

सुग्रीव की स्त्री सुतारा के प्रति आसक्त विद्याधर साहसगति पर्वत पर जाकर कामरूपिणी विद्या सिद्ध कर किष्किधापुरी आया। उस समय सुग्रीव कही बाहर गया हुआ था। अत साहसगति सुग्रीव का रूप बनाकर महलो मे गया और सुतारा को पकडने लगा। किन्तु रूप बना लेने पर भी साहसगति को सुग्रीव के समान बाते नही आती थी, न वह वहाँ के शयनासन, द्वारपालों आदि से ही परिचित था। अतः सुतारा को सन्देह हो गया और वह उससे बचकर दूसरे कक्ष में चली गई। तभी असली सुग्रीव नगर मे आया। उसे देखकर लोग आश्चर्य करने लगे—एक ता सुग्रीव पहले आया ही था, यह दूसरा कौन आ गया। लोगो के आश्चर्य को देखता हुआ असली सुग्रीव महलो मे पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही छद्मवेशी साहसगति उससे लडने आया। दोनो ओर की सेनाये भी आडटी। तब मत्रियों ने सोचा—'असली सुग्रीव कौन सा है, यह निर्णय करना कठिन है। फिर व्यर्थ ही इन गरीब सैनिको का अकारण वध क्यो कराया जाय।' यह सोचकर उन्होने दोनो सुग्रीवो को उत्तर और दक्षिण दिशा मे ठहरा दिया। सुतारा ने बताया कि जो पहले आया था, वह नकली सुग्रीव है। जामवन्त ने भी उसका समर्थन किया। किन्तु मत्रियो ने उनकी बात पर ध्यान नही दिया। वहाँ का शासन-सूत्र बाली के पुत्र चन्द्ररश्मि ने सभाल लिया तथा प्रतिज्ञा की कि जो भी सुग्रीव महलो मे आवेगा, उसका ही वध कर दूँगा।

असली सुग्रीव बेचारा बडा दुखी हुआ। उसने रावण तथा अपने मित्र हनुमान से सहायता मांगी। हनुमान सेना लेकर आया तो नकली सुग्रीव ने उसका बडा स्वागत किया। तब हनुमान भी असली और नकली सुग्रीव की पहचान नही कर पाया और वह वापिस चला गया। तब सुग्रीव खरदूषण से सहायता लेने के लिए दण्डकारण्य पहुँचा। वहाँ हाथी, घोडो और मनुष्यो की लाशो को देखकर सोचने लगा कि यहाँ युद्ध किसका हुआ है। उसने एक मनुष्य से इस बारे मे पूछा तो उसने खरदूषण की मृत्यु, सीता हरण आदि वृत्तान्त कह दिया। तब सुग्रीव ने सोचा कि जिन्होने खरदूषण जैसे वीर को मार दिया, वे अवश्य लोकोत्तर वीर पुरुष है। उन्ही से सहायता लेनी चाहिए। अत उसने एक दूत राजा विराधित के पास दोस्ती के उद्देश्य मे अलकारपुर भेजा। दूत ने जाकर विराधित से सब बाते कही। विराधित सोचने लगा—राम के ससर्ग से न जाने क्या-क्या लाभ होंगे। देखो, सुग्रीव भी मेरी शरण मे आ रहा है! यह विचार कर उसने दूत से कह दिया—सुग्रीव से कहना, वह राम की शरण मे आ जाय। वे ही उसका दुःख दूर कर सकेंगे।

दूत ने सुग्रीव से जाकर सब बाते कह दी। सुग्रीव अपनी सेना के साथ अलकारपुर जिसे पाताल लका भी कहते थे-आया। सेना का कोलाहल सुनकर लक्ष्मण ने विराधित से पूछा—'यह किसकी सेना आ रही है।' तब विराधित ने सुग्रीव का परिचय देते हुए कहा—वह वानर वशी राजा राम की सहायता करने के लिए आ रहा है। तभी सुग्रीव अपने मत्रियों सहित वहा आया। राम और लक्ष्मण उससे प्रेम से मिले। तब राम ने सुग्रीव के मत्री जामवन्त से उसके आने का कारण पूछा। जामवन्त बोला—'देव! यह चौदह अक्षौहिणी सेना का अधिपति वानर वशी राजा सुग्रीव है। जब यह तीर्थ यात्रा को गया हुआ था तो कोई मायावी पुरुष सुग्रीव का रूप बनाकर किष्किधापुरी मे आ गया और वहाँ रहने लगा। सुग्रीव इससे बडा दुखी है। इन्होने हनुमान से सहायता मागी, किन्तु उन्होंने इनकी कोई सहायता नही की। अतः ये आपकी शरण मे आये है। आप ही इनका दुःख दूर कर सकते है।'

राम ने सोचा—यह भी मेरी तरह ही पत्नी-वियोग से दुखी है। यह मेरा कार्य अवश्य करेगा। यह सोचकर वे सुग्रीव से बोले यदि तू मेरी पत्नी सीता का पता लगाकर लावेगा तो मैं नकली सुग्रीव को निकाल कर तुझे तेरी सुतारा और तेरा राज्य दिला दूँगा।' यह सुनकर सुग्रीव बोला—'महाराज! मै वचन देता हूँ कि यदि

सात दिन के भीतर मैं सीता का पता लगाकर न लाऊँगा तो अग्नि मे प्रवेश कर जाऊँगा ।' राम उसकी बातो से बडे प्रसन्न हुए और दोनो ने प्रतिज्ञा की—हम परस्पर विश्वासघात नही करेगे।

सुग्रीव राम और लक्ष्मण को रथ मे बैठाकर सेना सहित किष्किन्धापुरी आया और उसने एक दूत नकली सुग्रीव के पास भेजा। दूत ने उससे जाकर कहा—तुम या तो राजा सुग्रीव की शरण में जाओ या युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।' नकली सुग्रीव युद्ध के लिए तैयार हो गया और सेना लेकर आ डटा। दोनो पक्षो मे जोरदार युद्ध हुआ। विषयलम्पटी साहसगति ने सुग्रीव पर प्रहार किया। इससे सुग्रीव मूर्छित हो गया। उसे मरा हुआ जानकर साहसगति आनन्दपूर्वक नगर मे चला गया। होश आने पर सुग्रीव राम से बोला—प्रभो ! हाथ मे आया हुआ चोर निकल गया । आपने मेरी सहायता नही की ।' तब रामचन्द्र जी बोले—'मै युद्ध के समय तुम दोनो के रूप रंग मे अन्तर नही जान पाया। अतः मैंने मारना उचित नही समझा।'

इसके बाद राम ने साहसगति को पुनः युद्ध के लिए ललकारा और युद्ध के लिए उसके सम्मुख आये । उन्होने वज्रावर्त धनुष पर डोरी चढाई और उसे टकारने लगे । उसकी टकार सुनकर साहसगति की कामरूपिणी विद्या भय के मारे भाग गई। अत सुग्रीव का रूप हटकर वह पुनः साहसगति के रूप में आ गया। उसकी ओर की सारी सेना उसका असली रूप देखकर सुग्रीव की ओर आ गई । तभी राम ने तलवार से उसका सिर काट दिया। सेना मे जय-जयकार होने लगा । सुग्रीव ने राम-लक्ष्मण का खूब आदर किया । दोनो भाई नगर के बाहर एक मनोरम उद्यान में ठहर गये । सुग्रीव बहुत दिनो बाद सुतारा से मिला और वह विषय-भोगो मे इतना निमग्न हो गया कि राम से की हुई प्रतिज्ञा भी भूल गया।

जब राम ने देखा कि सुग्रीव अपनी प्रतिज्ञा को पूरा नही कर रहा है तो उन्हे बडा क्रोध आया । वे लक्ष्मण के साथ एक दिन सुग्रीव के महलो मे पहुँचे और उससे कहा—'रे दुष्ट ! सुतारा को पाकर तू सुख से घर मे बैठ गया है।' इस प्रकार कह कर राम उसे मारने को तैयार हुए तो लक्ष्मण ने बीच मे पडकर राम से कहा—देव ! इस पापी को क्षमा करे। यह अपने कार्य को भूल गया है।' फिर भय से काँपते हुए सुग्रीव से बोले—'राजन् ! महान पुरुषों को उपकार नही भूलना चाहिये।' तब सुग्रीव राम के पैरो मे पड कर क्षमा मागने लगा और बोला—'प्रभो ! आप मेरी शक्ति देखिये। मै अभी सीता का पता लगा कर लाता हूँ।' यो कहकर उसने अपने सुभटो को आवश्यक निर्देश देकर चारो ओर भेज दिया और स्वय भी विमान मे बैठकर वहाँ से चल दिया।

सुग्रीव अनेक नगरो, वनो और पर्वतो पर सीता को खोजता हुआ जा रहा था । तभी उसे कबुद्वीप के शिखर पर एक वृक्ष के नीचे एक व्यक्ति बैठा दिखाई दिया । सुग्रीव उसके पास पहुंचा । वह व्यक्ति भय से कापने और रोने लगा । उसने समझा कि सुग्रीव को रावण ने मेरा वध करने भेजा है। सुग्रीव ने उसके पास जाकर अभय देते हुए कहा—तू कौन है, काँपता क्यों है, भय मत कर ।' तब उस व्यक्ति ने कहा—'राजन् ! मै जटी का पुत्र रत्नजटी हूँ। मै जब धातकीखण्ड के चैत्यालयो की वन्दना करके आकाश मार्ग से लौट रहा था तो मेरे कानो मे सीता के रोने की आवाज आई। वह विलाप करती हुई 'हाय राम हाय लक्ष्मण, हाय भाई भामण्डल कह रही थी। मैने उसे पहचान लिया। मै तुरन्त रावण के पास गया और उसे ललकारते हुए कहा—'रे पापी ! यह राम की पत्नी और मेरे स्वामी भामण्डल की बहन है। इसे तू कहाँ लिये जा रहा है।' यह कह कर मै उससे लडने लगा। तब रावण ने क्रोध मे आकर मेरी सारा विद्याये नष्ट कर दी और मै इस कबुवन मे आकर गिरा। मै वहाँ से उठकर पर्वत पर आ गया।'

लक्ष्मण द्वारा कोटिशिला उठाना

सुग्रीव यह सुनकर बडा प्रसन्न हुआ। उसने कहा—'तुम चिन्ता मत करो कि तुम्हारी विद्याये नष्ट हो गई है। तुम हमारे भाई हो। आओ, हम राम के पास चले।' यो कह कर सुग्रीव रत्नजटी को राम के पास लिवा लाया और राम से बोला-'प्रभो ! सीता का पता लग गया है, विस्तृत समाचार इससे पूछिये।' राम ने रत्नजटी से सारा समाचार ज्ञात किया और बार बार पूछने लगे-भाई ! सत्य कहना, तुमने मेरी सीता देखी है ? रत्नजटी बोला—प्रभो ! सचमुच मैंने आपके वियोग से दुखी सीता को देखा है । लका का राजा पापी रावण उसे हर कर ले गया

है ।' तब राम ने प्रसन्न होकर विद्याधर को सुन्दर मणियों का हार और वस्त्र पुरस्कार में दिये और कहा कि तेरा राज्य भी तुझे वापिस दिलाऊँगा ।

इसके बाद राम ने क्रोध में भरकर विद्याधरों से पूछा कि लंका यहाँ से कितनी दूर है और दुष्ट रावण कौन है ? यह सुनकर विद्याधर डर गये । कोई रावण के बारे में बताने का साहस नहीं कर सका । बड़ी कठिनाई से जामवंत ने रावण के पराक्रम का परिचय दिया और कहा—उससे लड़ने की सामर्थ्य संसार में किसी की नहीं है । आप सीता का विचार छोड़ दें ।

तब लक्ष्मण बोले—'उस अधम रावण को हम देखेंगे । वह शक्तिशाली होता तो यों चोरों की तरह सीता को चुरा कर न ले जाता । आप लोग लंका का मार्ग बता दीजिये ।' तब जामवन्त बोला—पुरुषोत्तम राम ! आप यह हठ छोड़ दीजिये । एक बार रावण ने भगवान अनन्तवीर्य से पूछा था कि मेरी मृत्यु किसके हाथ में होगी । उस समय भगवान ने उत्तर दिया था कि जो अपने पराक्रम से कोटिशिला उठा लेगा, वही चक्र द्वारा तेरा बध करेगा ।

यह सुनकर लक्ष्मण बोले—'उस शिला को मैं उठाऊँगा ।' लक्ष्मण की यह बात सुनकर सुग्रीव, नल, नील, विराधित राम-लक्ष्मण को विमान में बैठाकर कोटिशिला के निकट गये । यह शिला नाभिगिरि के ऊपर स्थित है । यहाँ से अनेक मुनि सिद्ध हुए हैं । उन्होंने जाकर सुर-असुरों से पूजित उस शिला की अक्षत-पुष्पादि से पूजा की । बाद में लक्ष्मण ने सिद्ध भगवान को नमस्कार कर अपने पराक्रम से उस कोटिशिला को उठाया । लक्ष्मण ने उस शिला को जाँघों तक उठाया । राम आदि सभी यह देखते रहे । देवों ने पंचाश्चर्य किये । सब उपस्थित लोगों को विश्वास हो गया कि सचमुच में लक्ष्मण नारायण है । सब लोग उसी दिन विमान में अपने-अपने नगर में वापिस आ गये ।

किष्किंधापुरी वापिस आने पर राम ने कहा – विद्याधरो ! आप लोग अब देर न कीजिये और लंका पर जल्दी चढ़ाई करके दुखी सीता को छुड़ाइये ।' तब विराधित बोला—'देव ! आप युद्ध चाहते हैं या सीता ? यदि बिना युद्ध के सीता मिल जाय तो यह श्रेष्ठ मार्ग रहेगा । हम पहले किसी नीतिज्ञ चतुर व्यक्ति को रावण के पास भेजते हैं । शायद वह समझाने-बुझाने से सीता को वापिस करने पर सहमत हो जाय ।

हनुमान का लंका-गमन

राम ने भी इस उपाय को स्वीकार कर लिया । सबने परामर्श किया कि किस व्यक्ति को भेजना उचित रहेगा । सबने एक मत से कहा—हनुमान ही उपयुक्त व्यक्ति है । वही इस कार्य को कर सकता है और रावण को समझा भी सकता है । अतः एक दूत को तत्काल विमान द्वारा हनुमान के पास भेजा गया । उसने जाकर हनुमान से खरदूषण और शम्बूक की मृत्यु, और सुतारा की प्राप्ति आदि के सब समाचार सुनाये । अपने पिता खरदूषण और भाई शम्बूक की मृत्यु के समाचार सुन कर हनुमान की पत्नी अनंगकुसुमा विलाप करने लगी और हनुमान की दूसरी पत्नी पद्मरागा अपने पिता सुग्रीव के कुशल समाचार सुनकर हर्ष करने लगी और जिनालय में जाकर नृत्य गान करने लगी । हनुमान ने तब अनंगकुसुमा को धैर्य बंधाया । बाद में सेना लेकर वह किष्किंधापुर चला । सुग्रीव आदि राजाओं ने हनुमान का प्रेम से स्वागत किया । सुग्रीव ने सुतारा की प्राप्ति और रामचन्द्र जी के शौर्य आदि के बारे में विस्तारपूर्वक सब समाचार बताये । तब सब लोग रामचन्द्र जी के पास गये । हनुमान ने राम से कहा—'देव ! मैं रावण को समझा कर अवश्य सीता को वापिस लाऊँगा । आप निश्चिन्त रहें ।'

जब हनुमान चलने लगा तो जामवंत ने उसे समझाया—वानरवंशियों को एकमात्र तुम्हारा ही सहारा है । अतः तुम लंका में सावधानी से जाना और किसी के साथ विरोध मत करना ।' हनुमान ने उसकी बात मान ली और वहाँ से चलने लगा । तब रामचन्द्र जी ने हनुमान को छाती से लगा कर कहा—'तुम सीता से जाकर कहना कि राम तुम्हारे वियोग में न सोते हैं, न खाते हैं, न बैठते हैं । वे पागलों की तरह इधर-उधर घूमते रहते हैं । वे जानते हैं कि तुम शीलवती हो । उनके वियोग में तुम प्राण त्याग देने पर तुली हो । किन्तु मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है । अतः प्राणों की रक्षा का यत्न करो । शीघ्र ही तुम्हारा और उनका मिलाप होगा । तुम उनकी आशा रक्खो और भोजन करो ।' इस प्रकार कहकर रामचन्द्र जी ने निशानी के लिए अंगूठी दी और कहा—वीर ! तुम सीता को मेरी यह निशानी दे देना और उसे और भी विश्वास दिलाने के लिये उससे कहना कि रामचन्द्र जी ने कहा है

कि हम तुम दोनो ने दण्डक वन मे चारण मुनि को आहार दान दिया था, वशगिरि पर्वत पर हम लोगो ने मुनियो का उपसर्ग दूर किया था और जब उस दुष्ट कपिल ब्राह्मण ने तुम्हे जल नही दिया था, तब मैंने तुम्हे रामगिरि मे जल पिलाया था। जब तुम लौटो तो सीता का चूडारत्न ले आना।'

हनुमान ने कहा—'देव ! ऐसा ही करूँगा।' और राम के चरणो मे नमस्कार कर सब विद्याधरों से कहा—जब तक मै लौट कर वापिस न आऊँ, तब तक आप लोग यही रहना और इन दोनो महापुरुषो की सेवा करना।'

यह कह कर हनुमान वहाँ से सेना सहित सानन्द विदा हुआ। मार्ग मे उसे महेन्द्रपुर नगर दिखाई दिया जो उसकी ननिहाल थी। उसे देख कर हनुमान को बडा क्रोध आया कि जब मै पेट मे था, तब मेरे नाना ने मेरी माँ को बड़ा दुःख दिया था। अत: क्रोध मे भर कर हनुमान ने रणभेरी बजा दी। दोनों ओर की सेनाओं मे घोर युद्ध हुआ। अन्त मे हनुमान ने अपनी लागूल विद्या से महेन्द्र को बाध लिया। तब मत्रियो ने उन्हे छुडाया। नाना और धेवता तब प्रेम से मिले। राजा महेन्द्र ने अपने धेवते का बडा सम्मान किया। चलते समय हनुमान ने कहा—आप अपने पुत्रों और सेना को लेकर शीघ्र रामचन्द्र जी के पास पहुँच जायें।

इसके पश्चात् हनुमान मार्ग मे अपनी माता से मिला। आगे बढ़ने पर हनुमान ने देखा कि उदधिनामक द्वीप पर दधिमुख नगर के पास बन जल रहा है और उसमे दो चारण मुनि तपस्या कर रहे है। हनुमान ने बडी भक्ति और करुणा से अपनी विद्या द्वारा वहाँ जल बरसा कर अग्नि को शान्त किया और मुनि-चरणो की पूजा की। उपसर्ग दूर होने हा तीन कन्याओं को विद्या सिद्ध हो गई। वे तीनों दधिमुख नगर के गधर्व राजा की पुत्रियाँ थी। जिनके नाम चन्द्ररेखा, विद्युत्प्रभा और हरगमाला थे। उन्होने आकर पहले तो मुनियो की वन्दना की, फिर हनुमान को नमस्कार किया। हनुमान के पूछने पर उन कन्याओ ने बताया कि हमारे पिता ने एक अवधिज्ञानी मुनि से पूछा था कि हमारा पति कौन होगा। तब उन्होंने कहा था कि जो साहसगति को मारेगा, वही इनका पति होगा। उधर अगारकेतु विद्याधर हमे चाहता था। हम मुनि के वचनो पर विश्वास करके मनोनुगामिनी विद्या सिद्ध करने बारह दिन पहले इस बन मे तपस्या करने आई थी और ये मुनि आठ दिन पहले आये थे। तब अगारकेतु ने बडे उपसर्ग किये और उसी ने बन मे आग लगादी। उपसर्ग के कारण हमे बारह वर्ष मे सिद्ध होने वाली विद्याये बारह दिन मे सिद्ध हो गई। आपने आग बुझाकर मुनिराज और हमे जलने से बचा लिया।'

हनुमान ने कन्याओं की प्रशसा करते हुए रामचन्द्र जी का सारा वृत्तान्त सुनाया। यह समाचार गन्धर्वराज के पास पहुँचा तो वह नगरवासियो के साथ वहाँ आया और हनुमान से मिलकर कन्याओ को लेकर सेना सहित रामचन्द्र जी के पास चल दिया और वहाँ जाकर कन्याओ का विवाह रामचन्द्र जी के साथ कर दिया।

हनुमान चला जा रहा था कि उसकी सेना एक मायामई यन्त्रनिर्मित परकोटे से रुक गई। जब हनुमान को यह ज्ञात हुआ कि यह सब रावण की सुरक्षा के लिये भारी तैयारी है तो हनुमान ने कुछ देर में ही उस परकोटे के खण्ड-खण्ड कर दिये और शालिविद्या का हृदय भेद दिया। जब इस कोट के रक्षक बज्रमुख को, जिसने रावण की आज्ञा से इस कोट का निर्माण किया था—पता चला कि कोट ध्वस्न कर दिया है, वह हनुमान से सेना सहित लडने आया। दोनो मे युद्ध हुआ। अन्त मे हनुमान ने उसे मार दिया। तब उसकी पुत्री लकासुन्दरी युद्ध के लिये आई। किन्तु हनुमान का मोहन रूप देखकर उस पर मोहित हो गई और सन्धि कर ली।

वहाँ से चलकर हनुमान सर्वप्रथम न्यायशील विभीषण के घर पर गया। दोनो परस्पर गले मिले। फिर हनुमान ने विभीषण से कहा—'राजन् ! आपके भाई ने परस्त्री हरण करके बडा लोक निद्य कार्य किया है। आप उन्हे इस काम से रोकिये, नही तो व्यर्थ जन-धन हानि होगी।' विभीषण बोला—'मैने उन्हे बहुत समझाया बुझाया है, किन्तु वे मेरी एक नही सुनते। सीता को ग्यारह दिन भोजन छोडे हुए हो गये हैं किन्तु उन्हे दया नही आती। आप जाकर सीता को समझा कर भोजन कराइये। मैं तब तक रावण को समझाता हूँ।'

हनुमान यह सुनकर अशोक उद्यान में पहुँचा और अशोक वृक्ष के नीचे जहाँ सीता बैठी हुई थी, वहाँ पहुँचा। उसने देखा—सीता अपने हाथ की बायी हथेली पर गाल टेके हुए है, आखो से आसू झर रहे है। गर्म गर्म श्वास निकल रहे हैं, बाल बिखरे हुए है और राम का ध्यान कर रही है। हनुमान ने समझ लिया कि राम क्यो इसके गुणों

का स्मरण कर व्याकुल हो रहे हैं। तब हनुमान अपनी विद्या से वृक्ष पर रूप बदल कर जा बैठे और राम को दी हुई अंगूठी सीता की गोद मे डाल दी। अंगूठी राम नामाङ्कित थी। अगूठी को देख कर सीता बड़ी हर्षित हुई, मानो साक्षात् राम के ही दर्शन हो गये हो। सीता को प्रसन्न देखकर विद्याधरियो ने जाकर रावण को समाचार दिया। रावण ने समझा—मेरा कार्य सिद्ध हो गया। उसने उन विद्याधरियो को खूब पुरस्कार दिया और मन्दोदरी से कहा—तुम अन्य रानियो के साथ जाकर सीता को प्रसन्न करो।' मन्दोदरी अन्य रानियो को लेकर सीता के पास पहुँची और उससे कहा—'तुम्हें प्रसन्न देखकर हमे भी प्रसन्नता है। अब तुम ससार विजयी रावण के साथ आनन्द के साथ भोग करो।' सीता सुनकर बडी कुपित होकर बोली—'विद्याधरी! मुझे मेरे पति के समाचार मिल गये है इसलिये मै प्रसन्न हूँ। अब यदि मेरे पति ने यह सब सुन लिया तो रावण जीवित नहीं बचेगा।' फिर सीता कहने लगी—'यहाँ ऐसा मेरा कौन भाई है, जिसने लाकर मुझे राम की अँगूठी दी है।'

हनुमान यह सुनकर वृक्ष से नीचे उतरे और उन विद्याधरियो के समक्ष ही सीता के सामने जा पहुँचे और चरणों मे नमस्कार कर कहा–'माता! रामचन्द्र जी की यह अँगूठी मै लाया हूँ।' सीता द्वारा परिचय पूछने पर हनुमान ने अपना परिचय देते हुए कहा—रामचन्द्र जी आपके वियोग मे बड़े दुखी है, न खाते है, न सोते है। दिन-रात आपका ही ध्यान करते रहते है।' अपने पति के समाचार पा कर सीता बडी प्रसन्न हुई। फिर वह कहने लगी—'हाय! मै पापिनी तुझे इस समय इस खुशी के समाचारो के बदले कुछ भी नही दे सकती।' हनुमान बोला—, माता! आपके दर्शनो से ही मेरा पुण्य-वृक्ष फल गया।' तब सीता बार-बार राम-लक्ष्मण की कुशलता के समाचार पूछने लगी और कहने लगी--'हनुमान! सच कहना, कही उनकी अगुली से गिर जाने के कारण यह अगूठी तुम उठा तो नही लाये। वे इस समय कहाँ है। लक्ष्मण खरदूषण से युद्ध करने गये थे। उनके वियोग मे कही राम ने प्राण तो नही त्याग दिये।' तब हनुमान ने कहा—'माता वे इस समय किष्किधापुर मे है। बहुत से विद्याधर उनके साथ है। उन्होने ही मुझे आपके पास भेजा है।'

तब मन्दोदरी हनुमान से बोली—'अरे कृतघ्न! अब रावण की सेवा छोडकर विद्याधर होकर भी तूने भूमि गोचरियों की सेवा अगीकार करली है। अब तेरी कृतघ्नता का फल तुझे शीघ्र मिलेगा! रावण राम-लक्ष्मण सहित तुझे भी शीघ्र मार डालेगे।' तब हनुमान ने उसे करारा उत्तर देते हुए कहा --'भूमिगोचरी तो तीर्थकर भी होते हैं। तू राम-लक्ष्मण के पराक्रम को नही जानती। इसीलिए तू पटरानी होकर यह दूती का निद्य कार्य कर रही है। तू देखेगी कि राम-लक्ष्मण के हाथो तेरा पति रावण अब शीघ्र ही मारा जायगा।'

तब मन्दोदरी आदि सीता को मारने झपटी किन्तु हनुमान की एक ही हुकार से वे भयभीत होकर वहाँ से भाग गई। तब हनुमान ने सीता से कहा—'माता! आप भोजन कर लीजिये। रामचन्द्र जी ने यह आज्ञा दी है। विभीषण की रानियो ने भी सीता से भोजन करने का बहुत आग्रह किया। बडी कठिनाई से सीता ने थोडा सा भोजन किया। हनुमान ने फिर निवेदन किया—'माता! आप मेरे कन्धे पर बैठ जाइये। मै अभी आपको रामचन्द्र जी के पास पहुँचाये देता हूं।' किन्तु सीता ने कहा—'बिना प्रभु रामचन्द्र जी की आज्ञा के मै वहा नही जा सकती। दुनियाँ मेरा अपवाद करेगी। तू विश्वास के लिए यह चूडामणि रत्न लेजा और प्रभु से कहना— सीता आपके दर्शनो की लालसा से ही प्राण धारण किये हुए है।' इस प्रकार कह कर सीता ने हनुमान से शीघ्र चले जाने को कहा।

सीता की आज्ञानुसार हनुमान वहाँ से चल दिया। रानियो ने जाकर रावण से शिकायत की। रावण ने नौकरो को आज्ञा दी कि जाकर विद्याधर को पकड लाओ। नौकरो को आते देखकर हनुमान ने विद्या से बानर का रूप रख लिया और एक वृक्ष की शाखा मे छिप गया। जब हनुमान को कही नही देखा तो वे इधर-उधर ढूढने लगे। तब हनुमान ने वृक्ष उखाड़-उखाड उन्हे मारना शुरू कर दिया। उसने उस उद्यान को तहस-नहस कर दिया। घुडशालाये नष्ट कर दी, गजशालाओ में आग लगा दी। अनेक लोगो को मार डाला। तब कुछ लोगो ने जाकर रावण से फरयाद की— महाराज! कोई भारी दैत्य आया है। उसने अनेक घर ढा दिये, वृक्ष उखाड़ फेंके, अनेक लोगो को मार डाला।' यह सुनकर रावण ने अपने पुत्र मेघनाद से कहा—पुत्र! तू जा, देख तो यह कौन पापी आया है।

मेघनाद हाथी पर चढकर राक्षसो के साथ वहाँ आया। उसे देखकर हनुमान ने विद्या से वानर सेना तैयार करी। हनुमान और मेघनाद मे युद्ध हुआ। आखिर हनुमान ने मेघनाद को मार भगाया। तब इन्द्रजीत लडने आया। दोनो मे भयानक युद्ध हुआ। अन्त मे इन्द्रजीत ने हनुमान को नागपाश मे बाँध लिया और ले जाकर रावण के सामने खडा कर दिया।

रावण उसे देखकर अत्यन्त क्रुद्ध होकर बोला – अरे दुष्ट ! तूने लका मे यह ध्वस क्यो किया, मेरा उद्यान क्यो नष्ट कर दिया। मैंने तुझे प्रभुत्व दिया था और तू राम से जा मिला, जिसकी स्त्री को मै ले आया हूँ और अब तू उस राम का दूत बन कर आया है। मै तुझे अभी मारता हूँ।' यो कह कर रावण ने हनुमान को मारने के लिए तलवार उठाई, किन्तु मत्रियो ने उसे यह कह कर रोक लिया कि दूत अवध्य होते है। तब हनुमान ने निर्भय होकर कहा—मैंने तो अभी क्या नाश किया है, किन्तु क्रुद्ध राम शीघ्र ही तेरा नाश करेंगे। परस्त्री चोर रावण तो नरक जायगा ही, किन्तु आप लोग भी इस पाप मे साथ देने के कारण नरक मे जायेगे। समझलो, अब राक्षसवशियो का विनाश-काल आ गया है।

तब रावण ने क्रोध मे भर कर आज्ञा दी—'इस दुष्ट को नगर के बाहर ले जाकर शूली पर चढा दो।' अनेक सुभट हनुमान को लोहे की साँकलो से बाँध कर लका के बाजारो मे होकर ले चले। लोग हनुमान का उपहास उडाने लगे—रावण से विमुख होने का यही फल मिलता है। यह सुनकर हनुमान को क्रोध आ गया। उसने लौह शृखलाये तोडदी और आकाश में उड गया। उसने नगर का स्वर्णमयी कोट ढा दिया, फाटक तोड़ दिये। सारी लका मे आग लगा दी। रावण का घर, ध्वज, तोरण नष्ट कर दिये। इस प्रकार लका-दहन कर हनुमान किष्किधापुरी की ओर चल दिया। वह वहा पहुंच कर राम के पास पहुँचा और उन्हे प्रणाम कर खडा हो गया। राम ने उसे छाती से लगाकर पूछा—सीता कुशलपूर्वक तो है। तुमने उसे कहाँ देखा।' तब हनुमान ने चूडामणि रत्न निकाल कर उनके सामने रख दिया और सीता का कहा हुआ सन्देश सुना दिया। उसे सुनकर राम दु ख से अधीर होकर रोने लगे। तब लक्ष्मण ने उन्हे धैर्य देते हुए कहा– 'देव ! दु ख करने से क्या होगा। मै आज ही लका मे जाकर रावण को मारकर सीता को लाऊँगा।' तब राम को कुछ सान्त्वना मिली और अपने शरीर से आभरण उतार कर प्रेम पूर्वक हनुमान को दे दिये।

लक्ष्मण ने सब विद्याधरो को एकत्रित किया और उनसे कहा—'अब लका पर चढाई करने का समय आ गया है। अब देर नही करनी चाहिये। सब विद्याधर लका पर आक्रमण करने के लिए तैयार हो गये और सब विमानो मे बैठ कर चल दिये। उस दिन प्रभात के समय मार्गशीर्ष कृष्णा पचमी थी। चलते समय अनेक शुभ शकुन हुए। राम की सेवा मे बड-बडे योद्धा थे—नल, नील, सुग्रीव, अग, अगद, हनुमान, विराधित, महेन्द्र, प्रश्नकीर्ति, धनगति, भूतनाद, गजस्वन, वज्रमुख आदि। वे चलते-चलते वेलधर द्वीप पहुंचे। वहाँ पर नगर के राजा समुद्र से युद्ध हुआ। नल ने उसे जीता हुआ पकड लिया। जब उसने रामचन्द्रजी का आधिपत्य स्वीकार कर लिया तो उसे उसका राज्य दे दिया। वहाँ से चल कर सुवेलपुर पहुँचे और वहाँ के राजा सुवेल को जीता। वहाँ से लका को चले। विमानो से सबने देखा—सोने का कोट, सोने के महल, अत्यन्त वैभवपूण लका नगरी। सब लोग हसद्वीप मे उतर गये। वहाँ के राजा को जीता और भामण्डल की प्रतीक्षा करने लगे। तब तक लका मे एक दूत भेज दिया।

राम का लंका पर आक्रमण

राम का आगमन सुनकर लका में कोलाहल मच गया। रावण ने रणभेरी बजा दी। सभी सुभट एकत्रित होकर रावण के पास पहुचे। रावण को युद्ध के लिये उद्यत देखकर विभीषण उसे समझाने लगा—'देव ! कृपा कर मेरी विनय सुनिये। आप न्याय मार्ग पर चलने वाले है। अत आप राम को सीता सौंप दीजिये। व्यर्थ ही इस अन्याय युद्ध से लाभ नही होगा। हमारे वश का नाश हो जायगा।' यह सुन कर इन्द्रजीत बोला—'अगर आपको भय लगता है तो आप घर मे बैठिये। स्त्रीरत्न को पाकर कही छोड़ा जाता है। रावण के आगे राम बेचारा तुच्छ है।' तब विभीषण पुन. समझाते हुए बोला—'इन्द्रजीत ! ऐसा मत कहो। पाप से राजा भी रंक हो जाते है। तुम्हारे पिता सीता नही लाये, बल्कि विष लाये है। हनुमान आदि अनेक राजा-गण राम के पक्ष में मिल गये है।'

विभीषण के यह वचन सुन कर रावण क्रोध मे अधा होकर विभीषण को मारने दौडा, तब विभीषण भी युद्ध के लिये तैयार हो गया। तब मन्त्रियो ने समझा-बुझाकर दोनो को रोका। किन्तु रावण क्रोध मे भर कर बोला—'दुष्ट ! तू शत्रु से मिल गया है। अत तू इसी समय लका से निकल जा।' विभीषण बोला—'अच्छी बात है। मैं अभी यहाँ से जाता हूँ। यदि मैने लका नष्ट न की तो मै रत्नश्रवा का पुत्र नही। इस प्रकार कह कर विभीषण तीस अक्षौहिणी सेना लेकर राम से मिलने चल दिया।

विभीषण की सेना का कोलाहल सुनकर वानरवशी सेना भी युद्ध के लिए तैयार हो गई। राम और लक्ष्मण ने वज्रावर्त और सागरावर्त धनुष उठाये और नगर से बाहर युद्ध के लिये चल दिये। वानरवशी सेना भी उनके पीछे चल दी। तब विभीषण ने राम के पास दूत भेजा। दूत ने आकर राम से कहा—'देव ! विभीषण अपने भाई रावण से शत्रुता कर आपकी शरण मे आये है।' राम ने यह सुनकर जाबुनद आदि मन्त्रियों को बुला कर मत्रणा की और यह निर्णय किया कि विभीषण धर्मात्मा है। रावण से सीता को लेकर उसका प्रारम्भ से ही विरोध रहा है। अत दोनो मे मतभेद और शत्रुता होना कोई आश्चर्य की बात नही है। इसलिये विभीषण को अवश्य बुलाना चाहिये। फलत. विभीषण को भेजने के लिये दूत से कह दिया। विभीषण ने आकर राम को नमस्कार किया और बोला—'प्रभो ! इस जन्म में आप और दूसरे जन्म मे भगवान जिनेन्द्र मेरे शरण है।' राम ने बडे प्रेम से विभीषण से कहा—'विभीषण ! मैं विजय कर राक्षस द्वीप सहित लका तुम्हे दूँगा, मेरी यह प्रतिज्ञा है।'

इधर यह बात हो रही थी, तब तक अनेक विद्याओ का अधिपति भामण्डल आ पहुँचा। उसे देखकर वानर वंशियो को बडी प्रसन्नता हुई। उसके साथ एक हजार अक्षौहिणी सेना थी।

अब सेना को लेकर राम ने लका की ओर प्रयाण किया और लका के बाहर सेना का पडाव डाल दिया। उसी के सामने रावण की सेना भी आ डटी। रावण की सेना मे चार हजार अक्षौहिणी थी और राम की सेना मे दो हजार अक्षौहिणी थी।

सबसे प्रथम रावण की ओर से हस्त और प्रहस्त नामक सुभट अपनी सेना लेकर युद्ध के लिए आये। इधर राम, लक्ष्मण और नल-नील भी आगे बढे। उनके पीछे उनकी सेना थी। युद्ध प्रारम्भ हो गया। रक्त की कीचड मच गई। हाथी, घोडे, मनुष्य कट कट कर गिरने लगे। लाशो पर लाश पड़ने लगी। तब नल, नील ने भयकर युद्ध कर भिण्डमाल के प्रहार से हस्त-प्रहस्त को मार दिया।

दूसरे दिन रावण पक्ष के मारीच आदि राजा युद्ध के लिये आये। उन्होंने भयकर युद्ध किया। वानर वशियो मे भगदड मच गई। तब हनुमान आगे बढा। उसके प्रहार से राक्षसवशियो की सेना तितर-बितर होने लगी। उसे रोकने के लिए राक्षसो का सेनापति माली आगे आया। हनुमान और माली का घोर युद्ध हुआ। हनुमान ने माली के हृदय पर भयानक वेग से शक्ति का प्रहार किया। वह मूर्च्छित हो गया। उसके सैनिक उसे युद्धस्थल से उठा ले गये। तब वज्रोदर माली के स्थान पर लडने लगा। हनुमान ने उसे अल्पकाल मे ही मार डाला। फिर रावण का पुत्र जबुमाली लडने आया। दोनो वीरो में बडी देर तक युद्ध हुआ। हनुमान ने जबुमाली के सीने पर वज्रदण्ड का कठोर प्रहार किया, जिससे वह मूर्च्छित हो गया। उसका सेना उसे लेकर भाग निकली। हनुमान ने भागता हुई सेना का पीछा किया और जहाँ रावण खडा था, वहाँ होनिर्भय होकर युद्ध करने लगा। उसे देखकर रावण आगे बढा, किन्तु उसे रोक कर अन्य योद्धा युद्ध करने लगे और हनुमान को घेर लिया। तब नल, नील, सुग्रीव, सुपण, विराधित, प्रीतिकर, भामण्डल, समुद्र, हस आदि राजा मिलकर राक्षस-सेना पर टूट पडे। राक्षस घबडा गये। तब वीर कुम्भकर्ण लड़ने उठा। उसने वानरवंशियो को दबाना शुरू किया। तब उससे लडने के लिए हनुमान, अगद, भामण्डल, शशी इन्द्र, आय। कुम्भकर्ण ने माया से सबको सुला दिया। सबके हाथ से शस्त्र गिर गये। तब सुग्रीव ने प्रबोधिनी विद्या द्वारा सबको सचेत किया। वे पुनः सचेत हो गये और उससे युद्ध करने लगे। उनके प्रहारो से कुम्भकर्ण घबड़ा गया। तब रावण स्वय युद्ध करने आया। किन्तु इन्द्रजीत ने उसे रोक कर स्वय युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। उसने वाणो की वर्षा से सबको क्षत-विक्षत कर दिया। अपनी सेना का यह विनाश देखकर सुग्रीव, भामण्डल आदि उससे युद्ध करने लगे। सुग्रीव इन्द्रजीत से भिड़ गया, भामण्डल मेघनाद से जा जूझा।

हनुमान ने कुम्भकर्ण को जा दबाया। अद्भुत युद्ध हुआ। इन्द्रजीत ने मेघ वाण छोड़ा तो भयकर वर्षा होने लगी। सारा कटक मछली की तरह तैरने लगा। तब सुग्रीव ने पवन वाण से मेघो को छिन्न विच्छिन्न कर दिया। तब इन्द्रजीत ने अग्नि बाण छोडा। चारो ओर आग लग गई। उसे सुग्रीव ने मेघ बाण छोड कर बुझा दिया। अन्त मे इन्द्रजीत ने मायामय अस्त्रो से सुग्रीव को व्याकुल कर दिया और फिर नागपाश मे बाँध लिया। उधर मेघनाद ने भामण्डल को उसी शस्त्र से बाँध लिया।

यह देखकर विभीषण ने राम और लक्ष्मण से कहा—'प्रभो ! देखिये, सुग्रीव और भामण्डल को नागपाश मे बाँध लिया है और हनुमान को घायल कर कुम्भकर्ण ने भुजाओ मे जकड लिया है। इनके मर जाने पर हम सबका मरण निश्चित है। आप इनकी रक्षा कीजिये। मै तब तक इन्द्रजीत और मेघवाहन को रोकता हू।' यह कह कर विभीषण इन्द्रजीत और मेघनाद से युद्ध करने पहुँचा। दोनो भाई अपने चाचा से सकोच के साथ युद्ध मे हट गये। तब तक अगद ने कुम्भकर्ण से हनुमान को छुडा लिया। सुग्रीव और भामण्डल को मरा जानकर राक्षस वापिस चले गये। तब सब लोग उनके पास आये। उस समय राम ने गरुणेन्द्र को स्मरण किया और उससे उन दोनो को जिलाने के लिये कहा। तब प्रसन्न होकर गरुणेन्द्र ने राम को हल, मूशल, छत्र, चमर, और सिहवाहिनी विद्या दी और लक्ष्मण को गदा, खड्ग और गरुडवाहिनी विद्या दी। दोनो भाई अन्य राजाओ के साथ सुग्रीव और भामण्डल के पास आये। गरुडो की हवा लगने मे सर्पो के बन्धन ढीले पडने लगे, विष दूर हो गया और दोनो वीर मूर्च्छा से उठकर बैठ गये। सब लोग बड़े हर्षित हुए।

अगले दिन मारीच आदि सेनानायक युद्ध के लिए आगे आये और उन्होने वानरवशी सेना पर भारी दबाव डालना प्रारम्भ किया। उनका प्रतिरोध करने के लिये भामण्डल आगे बढा। उसने राक्षस सेना का दबाया।

लक्ष्मण के शक्ति का लगना

तब रावण युद्ध के लिये स्वय आया। उसने वाण-वर्षा करके वानर-सेना को तितर बितर कर दिया। यह देखकर विभीषण उससे युद्ध करने आ गया। उसे देखकर रावण बोला—'तू व्यर्थ मे क्यो मरने आ गया। मै तो शत्रुओ को मारने आया हू। अत तू लौट जा।' तब विभीषण बोला—'तुम सीता राम को सौप दो, अन्यथा तुम मारे जाओगे।' दोनो भाई युद्ध करने लगे। रावण ने विभीषण का छत्र उड़ा दिया। विभीषण ने उसकी ध्वजा उड़ा दी। लक्ष्मण इन्द्रजीत से और राम कुम्भकर्ण से युद्ध करने लगे।

इन्द्रजीत ने लक्ष्मण पर अन्धकार वाण छोडा। लक्ष्मण ने सूर्य वाण छोडकर अन्धकार का नाश कर दिया। इन्द्रजीत ने नागवाण छोडा तो लक्ष्मण ने गरुड बाण छोडकर नागो का भगा दिया। इसके बाद लक्ष्मण ने नागवाण छोड कर इन्द्रजीत को बाध लिया। इन्द्रजीत नागपाश मे बधकर पृथ्वी पर गिर पडा। राम ने भी कुम्भकर्ण को नागपाश मे बाँध लिया। राम-लक्ष्मण का सकेत पाते ही भामण्डल ने दोनो वीरों को अपने रथ मे डाल लिया। विराधित ने मेघनाद को नागपाश मे बाँध लिया। रावण ने विभीषण पर त्रिशूल छोडा, लक्ष्मण ने आकर उसे बीच मे ही रोक लिया। तब रावण ने धरणेन्द्र द्वारा दी हुई शक्ति को हाथ मे लेकर लक्ष्मण से कहा 'अरे बालक ! तू क्यो व्यर्थ मे युद्ध करने आया है। अब तू वज्र प्रहार से मेरे हाथो मारा जायगा। लक्ष्मण ने क्रोध मे उत्तर दिया—अरे दुष्ट ! तू परस्त्रीलम्पट है। आज तेरी मृत्यु निश्चित है।' यो कह कर दोनो महावीर परस्पर भिड गये। रावण ने ताक कर वह शक्ति लक्ष्मण के वक्षस्थल पर फेक कर मारी। शक्ति लगते ही लक्ष्मण मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पडे। तब राम रावण से युद्ध करने लगे। उन्होने रावण को छह बार रथरहित कर दिया और वाण-वर्षा से उसे ढक दिया। रावण व्याकुल होकर युद्ध बन्द कर लौट गया।

रावण को सन्तोष था कि चलो आज एक वीर तो मारा गया। किन्तु जब उसे कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघनाद के समाचार मिले तो वह विलाप करने लगा। उधर सीता को लक्ष्मण के समाचार मिले तो विलाप करने लगी।

रावण के चले जाने पर राम लक्ष्मण के पास पहुंचे और उन्हे मरा हुआ जानकर वे मूर्च्छित होकर गिर पडे। जब उन्हे होश आया तो वे विलाप करने लगे—वत्स ! तू मुझे विदेश मे अकेला छोड़ कर कहाँ चला गया।

अब मुझे सीता, माता और भाइयों से क्या काम है। हे विद्याधरो ! तुम शीघ्र चिता तैयार करो। मैं उसमें जलकर मर जाऊँगा, अब तुम लोग भी अपने घर वापिस जाओ और मेरे अपराध क्षमा करो। तब जाबुनद ने उन्हे समझाया—'देव ! आप व्यर्थ ही शोक क्यो करते है। लक्ष्मण शक्तिवाण से मूर्च्छित है। वे सुबह तक अवश्य होश मे आ जायेगे।

सब लोग लक्ष्मण को होश में लाने का उपाय करने लगे। वहाँ की युद्ध भूमि साफ करके वही डेरे तम्बू डाल दिये और कनात लगाकर सात दरवाजो पर सात वीर पहरा देने लगे। इतने मे आकाश-मार्ग से एक मनुष्य आया और भामण्डल से बोला—'देव ! आप मुझे इसी समय राम के दर्शन करा दीजिए। मैं लक्ष्मण को जीवित करने का उपाय बताता हूँ। तब भामण्डल उसे राम के निकट ले गये। राम को नमस्कार कर वह बैठ गया। तब राम ने उसका परिचय और आने का प्रयोजन पूछा। तो उस व्यक्ति ने कहा—'देव ! मैं देवगीत नगर के राजा शशिमडल का पुत्र शशिप्रभ हूँ। एक बार मेघ के पुत्र विनय ने मुझ पर शक्ति का प्रहार किया था। उससे मै मूर्च्छित हो गया था। मैं अयोध्या के बाहर मूर्च्छित पड़ा हुआ था। तब अयोध्या के राजा भरत ने मेरे ऊपर जल छिडका, उससे मै ठीक हो गया था। एक बार अयोध्या मे बीमारी फैल गई थी। तब लोगों के कहने से राजा भरत ने राजा द्रोण को बुलाया। द्रोण ने सबके ऊपर जल छिड़क दिया तो मनुष्य और पशु ठीक हो गये। तब राजा भरत ने द्रोण से उस जल के बारे मे पूछा तो उसने बताया कि मेरी पुत्री विशल्या को एक दिन उसकी धाय चन्द्रावती ने स्नान कराया था। उस जल के लगते ही एक कुतिया—जो सड रही थी—ठीक हो गई। तबसे चन्द्रावती ने उस जल के प्रभाव से अनेक रोगियो को ठीक किया है। अत विशल्या के जल के प्रभाव से लक्ष्मण की मूर्च्छा अवश्य दूर हो जायगी।'

तब राम ने विद्याधरो का आज्ञा दी कि तुम लोग शीघ्र जाकर विशल्या का जल ले आइये। तब उसी समय हनुमान, भामण्डल और अगद वहाँ से विमान मे चलकर अयोध्या आये और राजा भरत से मिले। हनुमान ने सीता हरण और रावण से युद्ध की बात बताई। यह सुनकर भरत को बड़ा क्रोध आया। उसने रणभेरी बजादी। भेरी का शब्द सुनकर अयोध्यावासी जाग गये और धीरे-धीरे सब लोग वहाँ एकत्रित होने लगे। शत्रुघ्न मत्रियो सहित वहाँ पहुँचा। उससे भरत ने कहा—शत्रुघ्न युद्ध की तैयारी करो। अभी लका पर आक्रमण करना है।' किन्तु हनुमान बोले—विद्याधरो के इस युद्ध मे आपको चलने की आवश्यकता नही है। लक्ष्मण शक्ति-वाण के कारण मूर्च्छित पडे है। आप तो विशल्या का स्नान-जल दे दीजिये।' भरत लक्ष्मण को मूर्च्छा की बात सुनकर रोने लगा। फिर बोला—जल से तो थाडा ही लाभ होगा। अच्छा यही होगा कि आप लोग विशल्या को ही अपने साथ लेते जाइये। उसके पिता द्रोण ने विशल्या का विवाह लक्ष्मण के साथ करने का निश्चय कर रखा है।' इस प्रकार कह कर भामडल, हनुमान, अगद और कैकेई को लेकर भरत कौतुक मगल नगर पहुँचा और वहाँ राजा द्रोण से मिल कर सब समाचार बताये तथा उनसे विशल्या की याचना की। द्रोण ने बडी प्रसन्नता के साथ विशल्या को उनके साथ कर दिया। वे लोग विशल्या को लेकर लका पहुँचे और, भरत कैकेयी अयोध्या लौट गये। अयोध्यावासी राम की चिन्ता करने लगे।

हनुमान आदि ने युद्ध स्थल पर पहुँच कर राम को विशल्या के आने का वृत्तान्त बताया। सबने विशल्या का सत्कार किया। ज्यों ही विशल्या ने लक्ष्मण के ऊपर जल छिडका तो लक्ष्मण यह कहते हुए उठ बैठे—'कहाँ गया पापी रावण। राम ने गद्‌गद होकर उसका आलिगन किया और सबने लक्ष्मण को नमस्कार किया। राम की आज्ञा से कुम्भकर्ण आदि पर भी वह जल छिड़का गया, जिससे सब लोग निर्विष हो गये। घायल लोग स्वस्थ हो गये।

मारीच आदि मत्रियो ने जब सुना कि लक्ष्मण पुन जीवित हो उठे है तो उन्हे अपने पक्ष की निर्बलता का अनुभव हुआ। उन्होने रावण से विनयपूर्वक कहा—'देव ! लक्ष्मण शक्ति से मरकर भी पुन जीवित हो उठा है, उनके पक्ष के सभी वीर स्वस्थ हो गये है। जबकि कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघवाहन अभी तक शत्रु के कारागार मे है। हमारी बहुत सी सेना मारी जा चुकी है। उधर देवर को जीवित हुआ जानकर सीता भी प्रसन्न है। वह राम के गुणो में अनुरागी है। वह आपको कभी स्वीकार नही करेगी। अत इस कुल-विनाशक व्यर्थ युद्ध करने से क्या लाभ है। हमारे लिये अब उचित यही होगा कि सीता राम को वापिस दे दे और उनसे सन्धि कर ले।'

रावण द्वारा बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करना

रावण ने कहा—'अच्छी बात है।' उसने एक दूत को समझा बुझा कर राम के पास भेजा। दूत ने जाकर राम को नमस्कार किया और कहने लगा—'महाराज! त्रिखण्डाधिपति रावण ने यह कहा है कि आप मेरे भाई और पुत्रो को छोड़ दे तथा मुझसे सन्धि कर ले। आप सीता की याद भूल जायें। उसके बदले मे आपको तीन सौ कन्याये और आधा राज्य दे दूँगा।' रामचन्द्रजी यह सुनकर बोले— भाई! मुझे अन्य स्त्रियो से कोई प्रयोजन नही है। तुम रावण से कह देना कि वह मुझे मेरी सीता वापिस कर दे, मैं उसके भाई और पुत्रो को वापिस कर दूँगा।' फिर भी दूत बोला—'देव! आप समझदार है। आप त्रिखडी राजा रावण के साथ दुराग्रह न करे। आपके पक्ष के बहुत से राजा उनके हाथ से मारे जा चुके है, आप भी उसी प्रकार व्यर्थ मारे जायेंगे।' दूत के ये उद्दण्ड वचन सुनकर भामण्डल को भारी क्रोध आया और उसने दूत को अपमानित करके निकाल दिया।

दूत ने जाकर रावण को सारी बाते बताई। रावण सोचने लगा— यदि मैं युद्ध मे वानरो को जीतकर भाई और पुत्रो को छुडाने का प्रयत्न करूँ तो वे उन्हे पहले ही मार डालेगे। यदि मै गुप्त रूप से जाकर रात मे उन्हे छुड़ाता हूं तो मेरी अपकीर्ति होगी। अत. उचित होगा कि मैं पहले बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करूँ। उसके सिद्ध हो जाने पर सब काम सिद्ध हो जायेगे।' यो निश्चय करके उसने मत्रियो को आदेश दिया कि मै जब तक विद्या सिद्ध करता हूँ, तब तक भरत क्षेत्र के सभी मदिरो मे तीनो काल पूजन, कीर्तन, सामायिक होनी चाहिये, लका में हिसा बन्द रहे, युद्ध बन्द रहे। मेरी सेवा मे केवल मन्दोदरी आदि रानियां रहेगी।' इस प्रकार आदेश देकर वह शातिनाथ जिनालय मे फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को शुद्ध वस्त्र पहन कर और सामग्री लेकर जा बैठा और नियम कर लिया कि जब तक कामरूपिणी विद्या सिद्ध न हो जायगी, तब तक के लिए उपवास है। इस प्रकार नियम करके वह ध्यान लगाकर बैठ गया।

जब विभीषण को यह ज्ञात हुआ तो उसने बानरवंशियो को एकत्र कर कहा—'रावण विद्या सिद्ध कर रहा है। यदि उसे वह विद्या सिद्ध हो गई तो हमारा जीतना कठिन हो जायगा। अत उसकी विद्या-सिद्धि मे विघ्न डालना चाहिये।' यह सुनकर अनेक विद्याधर लका मे जा पहुंचे। उन्होने नगर को लूटना, नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक लकावासियो को मार दिया। नगर में त्राहि त्राहि मच गई। उन्होने राजमहल मे भी जाकर बडे उत्पात किये। यह देखकर मय नामक दैत्य विद्याधरो से लडने को तैयार हुआ, किन्तु मन्दोदरी ने उसे रोक दिया कि महाराज रावण की ऐसी आज्ञा नही है। तब बानरवशी शान्तिनाथ जिनालय जा पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होने भगवान के दर्शन किये। उसके पश्चात् वे वहाँ पहुचे जहाँ रावण बैठा हुआ था। वहाँ जाकर उन्होने रावण के समक्ष ही रावण की रानियो की दुर्दशा करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु रावण अविचल भाव से विद्या-साधन करता रहा। अन्त में उसे वह विद्या सिद्ध हो गई। विद्या सिद्ध कर रावण भगवान शान्तिनाथ को नमस्कार कर सिह की तरह उठा। उसे उठते देखकर सब बानर सेना वहाँ से भाग खडी हुई। रानियो ने रावण से शिकायत की कि इन वानरो ने हमारी बड़ी दुर्गति की है। रावण बोला—'अब सब वानरवशी सेना मेरे हाथो से मारी जायगी। तुम लोग निश्चित रहो।' यह कह कर वह प्रासाद मे पहुंचा और वहाँ स्नान कर पुन जिनालय में गया। वहाँ उसने भगवान की पूजा की। फिर भोजन आदि मे निवृत्त होकर मण्डप मे आया और विद्या की परीक्षा की, इसके अनेक रूप बनते गये। अब सबको विश्वास हो गया कि रावण अवश्य विजयी होगा।

इसके पश्चात् रावण शृंगार करके सीता के पास पहुंचा। उस समय एक दासी सीता को रावण की बहुरूपिणी विद्या की सिद्धि की प्रशसा कर रही थी। तभी रावण वहाँ पहुंचा और बोला —'देवी! मुझे बहुरूपिणी विद्या सिद्ध हो गई है। मैंने भगवान अनन्तवीर्य के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि जो स्त्री मुझे नही चाहेगी, उसके साथ मैं बलात्कार नही करूँगा। अत मैने तुझे आज तक स्पर्श नही किया। अब मै तेरे राम और लक्ष्मण को इस विद्या के बल से निष्प्राण करूंगा। फिर तू मेरे साथ पुष्पक विमान में विहार करना और जीवन के आनन्द उठाना। तब सीता रावण को धिक्कारती हुई कहने लगी—'हे दशानन! तुम उच्च कुल में पैदा होकर ऐसे अधम विचार करते हो, तुम्हें धिक्कार है। मैं तुमसे एक बात कहती हूँ। जब तुम्हें मेरे राम मिलें तो उनसे कहना कि सीता के प्राण केवल तुम्हारे दर्शन के लिए अटके हुए हैं।' यों कह कर सीता मूर्छित हो गई।

यह देखकर रावण को पश्चाताप हुआ और वह मन मे अपने को धिक्कारता हुआ कहने लगा—मुझ पापी ने व्यर्थ ही इस शीलशिरोमणि सीता का अपहरण करके लोकनिद्य काम किया और अपने पवित्र वश में अकीर्ति-कालिमा लगाई। मैंने अपने बुद्धिमान भाई विभीषण की बात नही मानी। यदि उसकी बात मान कर मैं सीता को वापिस कर देता तो लोक मे मेरी प्रशसा होती। किन्तु अब तो वह अवसर जाता रहा। यदि इस समय मै सीता को वापिस करूँगा तो लोग मुझे कायर कहेगे। अब तो मेरे लिए एक ही मार्ग है। मैं युद्ध करूं और राम लक्ष्मण को जीवित पकड कर सीता के निकट लाऊं और उन्हे सीता को सौप कर वस्त्राभूषण से उनका सन्मान करूं। इससे लोक मे मेरी प्रशसा होगी तथा मैं पाप से भी बच जाऊंगा। किन्तु इन वानरवशो विद्याधरो को नही छोड़ूगा। उस अगद का तो मैं अवश्य बध करूंगा, जिसने मेरी रानियों का अपमान किया है और वह सुग्रीव, भामण्डल, हनुमान इनको भी मारूंगा। इन्होने मुझसे विद्रोह किया है।

इस प्रकार विचार कर वह वापिस महलो मे पहुंचा। तभी अनेक प्रकार के अपशकुन होने आरम्भ हो गए— आसन हिलने लगा, दसो दिशाये कपायमान होने लगी, उल्कापात हुआ, गीदडिया रुदन करने लगी। यक्षो की मूर्ति से अश्रुपात होने लगे। रुधिर की भी वर्षा हुई। और भी इसी प्रकार के अनेक अपशकुन हुए।

प्रात काल होने पर रावण राज दरबार मे गया। अनेक वीर राजा भी बैठे हुए थे। किन्तु वहाँ कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघनाद को न देखकर रावण बडा दु खी हो गया। उसका मुख कमल मुर्झा गया। फिर उसे क्रोध आया, नेत्र लाल हो गए, नथुने फडकने लगे। वह वहाँ से उठ कर अपनी आयुधशाला मे गया। उसी समय पूर्व दिशा मे छीक हुई, आगे बढा तो भयकर कालनाग मार्ग रोके खड़ा दिखाई दिया। हवा से छत्र का वैडूर्यमणि का दण्ड भग्न हो गया और उत्तरासन गिर पडा। दाहिने हाथ पर कौआ बोला। इन अपशकुनो से सबको अनिष्ट की आशका हो गई। तब मन्दोदरी ने चिन्तित होकर मंत्रियो से कहा—तुम लोग महाराज के हित की बात उनसे स्पष्ट क्यो नही कहते। कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघनाद बन्धन मे पड़े हुए है। तुम उन्हे युद्ध से रोको।' तब मन्त्री बोले- 'स्वामिनी! हमने सब प्रयत्न करके देख लिए। किन्तु महाराज हमारी एक नही सुनते। शायद आपकी बात मान ले।' तब मन्दोदरी रावण के पास पहुँची और बड़ी विनय से बोली—नाथ! युद्ध मे जाते समय अनेक अपशकुन हो रहे है। अत आप युद्ध का विचार छोड दीजिये और सीता राम को देकर शान्ति के साथ रहिए। साथ ही राम से कह कर कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मेघनाद आदि को बन्धन से छुडाइये। राम और लक्ष्मण बलभद्र नारायण के रूप मे पैदा हुए है और आप प्रतिनारायण हे। मन्दोदरी की बात सुनकर रावण को क्रोध आ गया। बोला —तुम क्यों डरती हो। उन भिखारियों को बलभद्र-नारायण बता रही हो। वे तो पेट भरने के लिए फिर रहे है। तुम कैसी क्षत्रिय कन्या हो, जो मृत्यु से डरती हो।'

रावण की मृत्यु

युद्ध के लिये चलते समय रावण ने अपने कुटुम्बी जनो से क्षमा माँगी तथा अपनी रानियों से भी कहा — 'देवियो! मैं युद्ध के लिये जा रहा हूँ। पता नही फिर आप मिले या नही। मैने हंसी मे या क्रोध मे यदि कोई अपशब्द कह दिया हो तो उसे मेरा प्रेमोपहार समझना।' रावण ने पुन पुन सबका प्रेमालिगन किया। फिर रण-भेरी बजवाई। रणभेरी की आवाज सुनते ही सब भट अपने परिवार से विदा होकर रावण के पास आ गये। रावण ने बहुरूपिणी विद्या के द्वारा इक्कीस खण्ड का एक रथ बनाया। उसमे एक हजार हाथी जुते हुए थे। वह उस रथ मे मय, मारीच, सार, सुक आदि मन्त्रियो के साथ बैठकर चला। उसके पीछे अगणित योद्धा विविध शस्त्रास्त्र लेकर विविध वाहनो मे चल रहे थे। चलते समय धुएं वाली अग्नि, कीचड मे सना हुआ तेल का बर्तन, बिखरे हुए बालो वाले मनुष्य इत्यादि अनेक शोकसूचक अपशकुन हुए। इन्हे देखकर भी वह अभिमानी लौटा नही।

शत्रु सैन्य को देखकर राम भी सिहरथ मे आरूढ़ होकर चल दिये। उसके पीछे लक्ष्मण, भामण्डल, नल, नील, सुग्रीव, हनुमान आदि भी चले। रावण को हजार हाथियो वाले रथ पर आता देख कर लक्ष्मण भी गारुड़ी रथ पर शस्त्रास्त्रों से सजकर बैठ चले। दोनो सेनाओं में भयकर युद्ध छिड़ गया। मारीच आदि राक्षसो द्वारा वानर सेना का विनाश होता हुआ देखकर हनुमान और नील राक्षसो पर झपटे। तब मय दैत्य हनुमान के सामने आया। हनुमान ने उसे छह बार रथरहित कर दिया। तब रावण ने अपनी विद्या द्वारा रथ बना कर मय को दिया।

मय ने तब हनुमान का रथ तोड दिया। इसके बाद भामण्डल, सुग्रीव, विभीषण मय से लडने आये। मय ने अपने बाणो से सबको व्याकुल कर दिया। तब राम युद्ध मे कूद पडे। दोनों मे घोर युद्ध हुआ। आकाश बाणो से आच्छादित हो गया। असख्य योद्धा कट-कट कर मरने लगे। हाथी और घोड़ों की चीत्कारो से कान के पर्दे फटने लगे। लाशों के अम्बार लग गये। मय ने अनेक मायामयी बाण राम के ऊपर चलाये, किन्तु राम ने उन सबको बीच मे ही प्रभावहीन कर दिया। उल्टे राम ने मय को अपने बाणों से जर्जरित कर दिया। मय की यह दशा देखकर रावण युद्ध करने आया। उसे ललकारते हुए लक्ष्मण ने कहा—'अरे पापी! तू प्राण लेकर मेरे आगे से कहाँ जाता है। आज धर्मबुद्धि रामचन्द्रजी ने मुझे आज्ञा दी है कि तुझ परस्त्री चोर का आज शिरच्छेद कर दूँ। रावण बोला—'अरे! क्यो व्यर्थ बकवास कर रहा है। सिह के आगे कुत्ते का इतना साहस।' यो कहकर रावण ने लक्ष्मण को बाणो से ढक दिया। बदले मे लक्ष्मण ने भी बाणो से रावण को व्याकुल कर दिया। तब रावण मायामयी शस्त्रो से युद्ध करने लगा। लक्ष्मण ने उसका उसी प्रकार उत्तर दिया। दोनो ओर से जलवाण, पवनवाण, अग्निवाण, नागवाण,गरुणास्त्र, अन्धकार-वाण, प्रकाशवाण, निद्रावाण, प्रबोधवाण आदि मायामय अस्त्रो से बडी देर तक युद्ध होता रहा।

इसी समय आकाश मे आठ विद्याधर कुमारियाँ आई। वे लक्ष्मण की मगल-कामना करने लगी। जब लक्ष्मण ने ऊपर की ओर देखा तो उन कुमारियो ने लक्ष्मण को सिद्धार्थ नामक महाविद्या दी। लक्ष्मण ने इससे रावण की सम्पूर्ण विद्याओ का प्रभाव नष्ट कर दिया। अब रावण, बहुरूपिणी विद्या द्वारा अनेक रूप बनाकर युद्ध करने लगा। लक्ष्मण उसका एक सिर काटते, उसकी जगह सौ सिर बन जाते। रावण अनेक सिर और भुजाये बनाता और लक्ष्मण उन्हे काटता जाता। इस प्रकार दोनो मे ग्यारह दिन तक भयकर युद्ध होता रहा। लक्ष्मण के बाणो से बहुरूपिणी विद्या का शरीर भी जर्जर हो गया। अत वह भी रावण के शरीर से निकल भागी। विद्या के निकल जाने पर रावण अपने असली रूप मे आ गया। तब उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर हजार आरो वाले चक्ररत्न को स्मरण किया। स्मरण करते ही सुदर्शनचक्र उसके हाथ मे आ गया। तब रावण लक्ष्मण से बोला—'अब भी तू आकर मुझे नमस्कार कर, अन्यथा मारा जायेगा।' लक्ष्मण हसकर बोला—इस कुम्हार के चाक पर तुझे इतना अभिमान है!' यह सुनते ही रावण ने चक्ररत्न की पूजा कर उसे लक्ष्मण पर फेका। इसी बीच राम ने मय को बाँध कर रथ मे डाल लिया और वे लक्ष्मण की ओर आये। सबने आग की ज्वालाओ के समान आते हुए चक्र को देखा। लक्ष्मण ने वज्रमयी बाणो से चक्र को रोकने का प्रयत्न किया, राम बज्रावर्त धनुष और हल लेकर, सुग्रीव गदा से, भामण्डल तलवार से, विभीषण त्रिशूल से, हनुमान मुद्गर से, नील वज्रदण्ड लेकर और अग अगद कुठार लेकर उसे रोकने लगे। किन्तु वह दवाधिष्ठित चक्र किसी के रोके न रुका। वह आया और लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण की अगुली पर ठहर गया।

लक्ष्मण की अगुली पर टिके हुए चक्ररत्न को देखकर वानरवशी विद्याधर हर्ष से नाचने लगे और कहने लगे—वास्तव मे ही ये दोनो भाई बलभद्र और नारायण है। रावण चक्र को लक्ष्मण के पास देखकर मन मे कहने लगा—इस क्षणस्थायी लक्ष्मी को धिक्कार है। वे भरत आदि महापुरुष धन्य है, जो इस लक्ष्मी का त्याग कर मोक्ष को प्राप्त हुए। मै जीवन भर विषयो मे ही लिप्त रहा। रावण यह सोच ही रहा था कि लक्ष्मण ने गरज कर रावण से कहा—'रावण! तू समझदार है। अब भी सीता राम को सौप दे। सीता राम को देकर उनके चरणो में प्रणाम कर और आनन्दपूर्वक राज्य कर।' यह सुनकर रावण क्रोध से बोला—'यह चक्र चला गया तो क्या हुआ, अभी मेरी शक्ति सुरक्षित है। देखता क्या है, चक्र चला।' रावण की यह दर्पोक्ति सुनकर लक्ष्मण ने बडे जोर से घुमाकर चक्र रावण को मारा। रावण ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु अब उसका पुण्य क्षीण हो गया था। चक्र ने रावण के वक्षस्थल को चीर डाला। हृदय के भिदते ही रावण पृथ्वी पर गिर पडा। रावण के मरते ही उसकी सेना भाग खडी हुई। उसे भागते देखकर हनुमान ने अभयघोषणा करते हुए कहा—आप लोग डरे नही, राम की आज्ञा शिरोधार्य कर सुख से रहे।

रावण को मरा हुआ देखकर विभीषण आत्महत्या के लिए तैयार हो गया, किन्तु राम ने उसे रोका। वह मूर्छित हो गया। होश में आने पर वह रावण की लाश के पास बैठकर विलाप करने लगा। जब यह समाचार लंका में

पहुँचा तो मंदोदरी आदि रानियाँ आकर वहाँ विलाप करने लगी, वे अपना सिर धुनने लगी, कोई छाती कूटने लगी। उसकी लाश के चारों ओर बैठकर उसकी अठारह हजार रानियाँ रावण का सिर गोद में रखकर जोर-जोर से विलाप करने लगी। तब राम, लक्ष्मण आदि वहाँ आये और विभीषणादि को देखकर कहने लगे—रावण धन्य है जो युद्ध में वीरतापूर्वक मारा गया। इसमे शोक मनाने की क्या आवश्यकता है।' फिर राम ने मन्दोदरी आदि रानियो को भी समझाया। बाद मे वानरवशियो और राक्षस-वशियो ने मिलकर पद्म सरोवर के तट पर चदन कपूर आदि से चिता बनाई और रावण का दाह-सस्कार किया। फिर राम की आज्ञा से कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मेघनाद, मय आदि को सुभट बन्धनो मे बाँधकर लाये। राम ने उन्हे बन्धनमुक्त करते हुए कहा—'अब आप लोग स्वतन्त्र है, प्रसन्नतापूर्वक अपना राज्य सभाले। मै तो सीता को लेकर यहाँ से चला जाऊंगा।' तब उन सबने उत्तर दिया—'अब हमें इस राज्य से कोई प्रयोजन नही है।' राम बोले—'आप धन्य है, जो आत्म-कल्याण का आपने विचार किया।

उसी दिन कुसुम नामक वन में मुनिराज को केवलज्ञान हुआ। देवो ने उनका ज्ञान महोत्सव मनाया। यह सुनकर वानरवशियो और राक्षसवशियो के साथ राम समवसरण मे पहुँचे और केवली भगवान की स्तुति, वन्दना और पूजा कर समवसरण मे बैठ गये। भगवान का उपदेश हुआ। भगवान का उपदेश सुनकर इन्द्रजीत, मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि ने मुनिदीक्षा लेली तथा मन्दोदरी आदि रानियाँ आर्यिका बन गई। इन्द्रजीत, और मेघवाहन तपस्या करके चूलगिरि (बडवानी) से मुक्त हुए। रेवा नदी के किनारे विध्य पर्वत पर इद्रजीत के साथ मेघवाहन मुनि ने तपस्या की थी। अत. वह मेघतीर्थ कहलाने लगा। कुम्भकर्ण रेवा के किनारे मुक्त हुए।

श्री रामचन्द्र जी ने त्रैलोक्य अम्बर हाथी पर आरूढ होकर विद्याधरो के साथ गाजे बाजे के साथ लका मे प्रवेश किया। लका की विशेष शोभा की गई थी। रामचन्द्र जी राजमार्ग पर होकर निकले। वे अशोक उद्यान मे पहुँचे, जहाँ सीता दासियो के बीच मे बैठी हुई थी। राम को देखकर सीता बडी पुलक के साथ उठी। राम धूलधूसरित सीता को देखकर हाथी से उतर पडे। सीता ने आगे बढकर राम के पैर छुए, राम ने बड़े हर्ष से उसे छाती से लगा लिया। फिर सीता राम के आगे हाथ जोडकर खड़ी हो गई। तभी लक्ष्मण ने आगे बढकर सीता को प्रणाम किया। सीता ने उसे आशीर्वाद दिया। इसके बाद भामण्डल ने सीता को सब विद्याधरो का परिचय कराया।

राम का लंका में प्रवेश और अयोध्या-गमन

सीता ने सबको आशीर्वाद दिया। उसके बाद रामचन्द्र जी सीता के साथ हाथी पर सवार होकर तथा अन्य विद्याधर अपनी-अपनी सवारियो पर आरूढ होकर रावण के स्वर्ण प्रासाद मे आये। वहाँ शान्तिनाथ जिनालय को देखकर सब लोग उतर पडे और सबने भगवान के दर्शन किये। फिर पूजन किया। रामचन्द्र जी ने वीणा बजाई, सीता नृत्य करने लगी। वहाँ से सब लोग सभा मण्डप में आये। विभीषण महल मे जाकर सुमाली, माल्यवान, रत्नश्रवा आदि को राम के पास ले आया। राम ने सबको बराबर आसन पर बैठाकर सबका समुचित सम्मान किया और सान्त्वना दी। फिर विभीषण ने राम को भोजन का निमन्त्रण दिया। सब लोग उठकर विभीषण के महलो में भोजन के लिए गये। राम, सीता आदि को तैलादि मर्दन कर स्नान कराया, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कराये और स्वादिष्ट भोजन कराया। फिर सबको यथायोग्य स्थानो पर ठहराया। राम सीता के साथ तथा लक्ष्मण विशल्या के साथ सुन्दर प्रासादो मे ठहरे।

एक दिन विद्याधरो ने तीन खण्ड के राजसिहासन पर राम-लक्ष्मण का अभिषेक करने की अनुमति माँगी। किन्तु राम ने कहा—हमारे पिता ने राजसिहासन हमारे भाई भरत को दिया है, अत राजा वही है। हम उन्ही की आज्ञा का पालन करेंगे। वे ही हम सबके मालिक है। फिर भी विद्याधरो ने 'त्रिखण्डाधिपति राम-लक्ष्मण की जय' बोलकर उनके ऊपर छत्र लगा दिया। राम-लक्ष्मण दोनो भाई छह वर्ष तक लका मे रहे।

एक दिन नारद अयोध्या गये। वहाँ अपराजिता (कौशल्या) से उन्हे राम का निर्वासन, राम-रावणयुद्ध आदि के बारे में समाचार ज्ञात हुए। वे तेतीस वर्ष बाद इधर आये थे। अत उन्हे इधर के कोई समाचार ज्ञात नही थे। रानी नारद को समाचार सुनाते सुनाते फूट-फूट कर रोने लगी। नारद को रानी के इस दुःख से बड़ा दुःख

हुआ। वे बोले—माता ! शोक मत करो। मैं जाकर राम के कुशल समाचार लाता हूं। यह कहकर नारद लका पहुँचे और राम से मिलकर उन्हे बताया कि आपकी माता आप लोगो के वियोग से बहुत दुखी है। आप यहाँ सुख में ऐसे मग्न है कि आपने उनकी बात तक भुलादी है। वे आप लोगों के दु ख से प्राण त्याग देगी। यह सुनकर रामचन्द्र जी बड़े व्याकुल हुए। उन्होने उसी समय विभीषण को बुलाया और कहा-तुम्हारे यहाँ हम लोग इतने दिन बडे सुख से रहे। अब हमारी इच्छा अयोध्या जाने की है। आप सवारियो का प्रबन्ध कर दीजिये।' विभीषण ने राम से सोलह दिन और ठहरने का आग्रह किया। राम ने यह स्वीकार कर लिया। विभीषण ने शीघ्र ही एक दूत अयोध्या को भेजा और भरत को समाचार दिया कि रामचन्द्र जी १६ दिन बाद लका से अयोध्या को प्रस्थान करेगे। यह सुनकर भरत आदि को बडी प्रसन्नता हुई। फिर विभीषण ने बहुत से राक्षस विद्याधरों को अयोध्या की सजावट करने के लिए भेजा।

राम लक्ष्मण ने सोलह दिन बाद अनेक विद्याधरो के साथ गाजे बाजे के साथ लका से प्रस्थान किया। राम सीता के साथ पुष्पक विमान में बैठे। लक्ष्मण, हनुमान आदि अन्य सवारियो मे बैठे। मार्ग में राम सीता को सारे स्थान बताते जाते थे। दण्डक वन, वन्शगिरि, क्षेमनगर, बालखिल्य नगर, उज्जयिनी, चित्रकूट सभी प्रवास-स्थानो को उन्होने बताया। इस तरह वे अयोध्या के बाहर आ पहुँचे। भरत भी शत्रुघ्न के साथ सेना लेकर राम की अगवानी को आया। भरत को देखकर राम आदि सभी विमान से उतरे। राम-भरत-लक्ष्मण और शत्रुघ्न परस्पर गले मिले और दोनो भाईयो ने सीता को प्रणाम किया। फिर सब अयोध्या की ओर चल दिये। मार्ग जन सकुल था। हर्ष से अयोध्या झूम उठा। सडके और गलियाँ नया शृगार करके अपने बिछुडे राम का स्वागत करने को मचल रही थी। सारा नगर सुसज्जित किया गया था। सडको पर गुलाबजल का छिड़काव किया गया था। तोरण और वन्दनबारो से अयोध्या पटी पडी थी। आज उसके नाथ जो आये थे। बन्दीजन विरुदावलियाँ गाते जा रहे थे, नर्तकियाँ नृत्य कर रही थी। अपूर्व शोभा थी अयोध्या की।

चारो भाई सीता को बीच मे करके राजद्वार पर पहुँचे। माताये बाहर दरवाजे पर आ गई। दोनो भाइयो ने माताओ के चरण छुए। माताओ ने उन्हे हृदय से लगा लिया और आनन्दाश्रु बहाने लगी। उसके पश्चात् सीता, विशल्या आदि ने सासुओ के पैर छुए। माताओं ने सबको आशीर्वाद दिया। सब लोग राजमहल में गये।

बलभद्र-नारायण की विभूति

रावण को विजय करने पर बलभद्र राम और नारायण लक्ष्मण स्वयमेव तीन खण्ड के अधिपति बन गये। उनके वैभव का वर्णन क्या किया जा सकता है। उनके पास ४२ लाख हाथी, ४२ लाख रथ, ६ करोड़ प्यादे, और तीन खण्ड के देव और विद्याधर उनके सेवक थे। राम के पास चार रत्न थे—हल, मूशल, रत्नमाला और गदा। लक्ष्मण के पास सात रत्न थे—शख, चक्र, गदा, खड्ग, दण्ड, नागशय्या और कौस्तुभ मणि। उनका घर इन्द्र के आवास जैसा लक्ष्मी का आगार था। ऊँचे दरवाजो वाला चतु शाल कोट था। उनकी सभा का नाम वैजयन्ती था। प्रासाद कूट नामक उनका महल था। वर्ध नाम का नृत्य घर था। शीत ऋतु का महल कुकडे के अण्डे जैसा था। ग्रीष्म ऋतु का धारा मण्डप गृह था। उनके सोने की शैय्या मे सिह के आकार के पाये थे। वह पद्मरागमणि की थी। अम्भोदकाण्ड नामक वर्षा ऋतु का महल था। सिहासन उगते सूर्य के समान था, चन्द्रमा के समान उज्वल उनके चमर और छत्र थे। अमूल्य वस्त्र और दिव्य आभरण थे। उनका कवच अभेद्य था। मनोहर मणियो के कुण्डल थे। अमोघ गदा, खड्ग, स्वर्णवाण थे। ५० लाख हल, एक करोड से अधिक गाय, और अक्षय भण्डार था। मनोहर उद्यान थे, जिनमें रत्नमई सीढियो वाली बावड़ी बनी हुई थी। उनके राज्य मे सारी प्रजा पूर्ण सुखी थी। किसानो के पास गाय भैंस और बैलो की अधिकता थी। राम के आठ हजार रानिया थी तथा लक्ष्मण के सोलह हजार रानियाँ थी। राम ने भगवान के हजारों जिनालय बनवाये। लोग सदा धर्म-कथा किया करते थे। राम के पधारने से अयोध्या की शोभा असख्य गुनी बढ़ गई। जन-जन मे राम के यश का वर्णन होता रहता था। किन्तु कुछ दुष्ट लोग सीता के सम्बन्ध में कभी कभी दबी चर्चा किया करते थे कि रावण सीता को हर लेगया था और वह उसके घर मे भी रही थी। फिर भी इतने विवेकी और न्यायवान होते हुए भी राम सीता को अपने घर ले आये।

भरत के मन में तो प्रारम्भ से ही राजपाट और गृहस्थी की ओर से विरक्ति थी। उनका मन विषय वासनाओं की ओर जाता ही नही था। जब राम अयोध्या लौटे नही थे, तब तक तो उन पर राज्य का भार था। अत वे चाहते हुए भी मुनि-दीक्षा नही ले सके। किन्तु राम के वापिस आने पर उन्होने मुनि बनने की मन मे ठानली। एक दिन उन्होने रामचन्द्र जी से अपने मन की बात कही और उनसे आज्ञा माँगी। यह जानकर माता कैकेयी विलाप करने लगी। राम और लक्ष्मण ने उसे समझाया—भैया! अभी तुम्हारी आयु मुनि के कठोर व्रत पालने की नही है। अत तुम घर मे रहकर राज्य शासन करो और धर्म का पालन करो। भरत उनकी आज्ञा उल्लघन नही कर सके। किन्तु फिर भी घर में रह कर मुनियो के उपयुक्त व्रतो का पालन करने लगे। एक दिन सीता, विशल्या, उर्वशी, कल्याणमाला, जितपद्मा, वसुन्धरा आदि दोनो भाइयो की रानियाँ भरत का मन विराग से हटाने के उद्देश्य से भरत के पास आकर बडे प्रेम से बोली—देवर! चलो, हम सब मिल कर जलक्रीड़ा करे। भरत उनके प्यार भरे आग्रह को टाल न सके और न चाहते हुए भी वे उनके साथ चल दिये। सबने सरोवर पर जाकर जल क्रीडा की। परस्पर विनोद करते हुए सबने जल मे स्नान किया। पश्चात् भरत उठकर निकट के चैत्यालय में जाकर भगवान की पूजा करने लगे। स्त्रियो मे से कोई वीणा बजाने लगी, कोई नृत्य करने लगी।

भरत घर में बैरागी

इतने मे त्रैलोक्य मण्डन हाथी बन्धन तुडाकर इधर-उधर भागने लगा। चिघाडता हुआ वह अनेक बाग बगीचो को उजाडने लगा, उसने अनेक घर ढा दिये। उसकी चिघाड सुनकर अनेक हाथी भी बन्धन तुडाकर भागने लगे। घोड़े हिनहिनाने लगे। सारी अयोध्या मे आतक छा गया। राम-लक्ष्मण, हनुमान आदि सभी हाथी को पकडने आये, किन्तु वह किसी के वश मे नही आया। वह काल के समान सीधा उस तालाब की ओर भागा, जहाँ रानियाँ जल-क्रीड़ा कर रही थी। हाथी को आता हुआ देख कर रानियाँ भय के मारे भरत के पीछे छिप गई। हाथी को भरत की ओर जाते देख कर सब हाहाकार करने लगे। किन्तु भरत को देखते ही हाथी को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया और सूँड नीची करके शान्त भाव से खड़ा हो गया। भरत ने बडे प्रेम से, उससे कहा—'गजेन्द्र! तुम इस प्रकार क्रुद्ध कैसे हो गये? भरत का प्रश्न सुनकर हाथी रोने लगा। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ।

भरत सीता और विशल्या के साथ उसी हाथी पर बैठ कर घर आया। भोजन आदि से निवृत्त होने पर राज सभा मे उसी हाथी की चर्चा थी। इतना क्रुद्ध होने पर भी यकायक भरत को देखकर वह शान्त कैसे हो गया तथा खुशामद करने पर भी चार दिन से आहार क्यो नही ले रहा।

उसी समय अयोध्या के बाहर उद्यान मे देशभूषण-कुलभूषण केवली भगवान का आगमन हुआ। समवसरण की रचना देख कर वनमाली ने उनके आगमन की सूचना राम को दी। यह समाचार सुन कर राम ने अपने आभूषण उतार कर माली को दे दिये और नगर मे ड्योढी पिटवा कर राम लक्ष्मण आदि के साथ केवली भगवान के दर्शनो को गये। साथ मे सभी विद्याधर, राज परिवार, पुरजन थे। सबने वहाँ पहुँच कर भगवान की वन्दना-पूजा की और भगवान का उपदेश सुना। भगवान से हाथी के सम्बन्ध मे प्रश्न करने पर भगवान ने बताया कि भरत और इस हाथी के जीव इस जन्म से पहले ब्रह्मोत्तर स्वर्ग मे देव थे। अभिराम का जीव तो स्वर्ग से चल-कर यह भरत हुआ है तथा मृदुमति का जीव मायाचारपूर्वक तप करने के कारण स्वर्ग से चलकर यह हाथी हुआ है। भरत को देखने से उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो आया, इसलिए वह शान्त हो गया।

अपने जन्मान्तर का हाल जानकर भरत ने केवली भगवान से दीक्षा देने की प्रार्थना की। तो राम कातर होकर कहने लगे—'भाई! पिता ने तुम्हे राज्य दिया था। अब इसे किसे दोगे। हमने तो तुम्हारे लिए ही विजय की है। यह चक्ररत्न भी तुम्हारा ही है। तुम इसे सम्भालो। यदि तुम हमसे विरक्त हो तो हम बाहर चले जायंगे। पिता गये, अब तुम भी चले जाओगे। पति और पुत्र के वियोग मे माता कैकेई रो रोकर जान दे देगी।' तब भरत बोले—'अब तक तो पिता की आज्ञा से मैने राज्य किया। अब तुम करना।' यह कहकर भरत ने मुनिदीक्षा लेली। उसके साथ कैकेयी आदि ने भी आर्यिका दीक्षा ग्रहण करली। हाथी ने श्रावक के व्रत ले लिए और चार वर्ष तक घोर तपश्चरण कर वह छठे स्वर्ग मे देव हुआ। भरत भी तपस्या करके कर्मों का नाश कर मुक्त हो गये।

राम-लक्ष्मण का राज्याभिषेक—भरत के दीक्षा लेने पर लक्ष्मण को बडा शोक हुआ। वह भरत के गुणो का बार-बार बखान करता। राम भी भरत के गुणो की चर्चा करते रहे। सारे नगर में भरत की ही प्रशसा के गीत गाये जाने लगे। घर-घर उन्ही की चर्चा थी।

अगले दिन सब राजा मिलकर राम के पास आए और हाथ जोडकर निवेदन करने लगे 'देव! हम सब भूमिगोचरी और विद्याधर राजा आपसे एक निवेदन करने आये है। हम सब आपका राज्याभिषेक करना चाहते है।' राम यह सुनकर बोले—'तुम सब लक्ष्मण का राज्याभिषेक करो। वह नारायण है। वह सदा मेरे चरणो मे नमस्कार करता है। फिर मुझे राज्य की क्या आवश्यकता है।' सब राजा तब लक्ष्मण के पास गये और उनसे राम का सन्देश कह कर राज्याभिषेक की अनुमति मागने लगे। लक्ष्मण सबको अपने साथ लेकर राम के पास आए और बोले—'देव! इस राज्य के स्वामी तो आप ही है। मैं तो आपका सेवक हूं।' तब राम ने बड स्नेह से कहा—'वत्स! तुम चक्र के धारी नारायण हो, इसलिए राज्याभिषेक तुम्हारा ही होना उचित है।' तब अन्त मे सबने यह निश्चय किया कि राज्याभिषेक दोनो का होना चाहिए।

नाना प्रकार के बाजे बजने लगे। याचको को मनोवाछित दान दिया गया। कमल पत्रा से ढके हुए स्वर्ण कलशो मे पवित्र जल भर कर उससे दोनो का एक ही आसन पर अभिषेक किया गया। दोनो भाइयो को मुकुट, भुजबन्ध, हार, केयूर, कुण्डलादि आभरण और कौशेय वस्त्र धारण कराये। तीनो खण्डो के आए हुए विद्याधर और भूमिगोचरी राजाओ ने दोनो का जय-जयकार किया। राम और लक्ष्मण का अभिषेक करने के बाद विद्याधर भूमिगोचरी रानियो ने सीता और विशल्या का अभिषेक किया। सीता राम की और विशल्या लक्ष्मण की पटरानी बनी।

अभिषेक के बाद राम ने लका विभीषण को दी, किष्किधापुर सुग्रीव को, श्रीनगर और हनुरुह द्वीप का राज्य हनुमान को, अलकारपुर विराधित को, वैताढ्य की दक्षिण श्रेणी का रथनूपुर भामण्डल को दिया और उसे समस्त विद्याधरो का अधिपति बनाया। रत्नजटी को देवोपुनीत नगरी का राज्य दिया। अन्य लोगो का भी यथायोग्य सम्मान किया।

सबसे निवृत्त होकर राम शत्रुघ्न से बोले- भाई! तुझे जो पसन्द हो, वहाँ का राज्य ले ले, चाहे तू आधी अयोध्या ले ले, चाहे पोदनपुर, हस्तिनापुर, बनारस, कौशाम्बी, शिवपुर इनमे से किसी को चुन ले।' शत्रुघ्न बोला—'मुझे तो मथुरा का राज्य चाहिए।' राम ने कहा—'वहाँ हरिवशी राजा मधु राज्य कर रहा है और वह रावण का दामाद है। उसके पास नागेन्द्र का दिया हुआ त्रिशूल है। उसके कारण उससे कोई युद्ध नही कर सकता। लक्ष्मण भी उससे शकित रहता है। तब तू उसे कैसे जीत सकता है।' शत्रुघ्न बोला– 'आप तो मुझे मथुरा का ही राज्य दे दीजिए। उसका अभिमान मै चूर करूंगा। राम ने उसका आग्रह देखकर मथुरा का राज्य दे दिया। शत्रुघ्न सबको प्रणाम कर चतुरगिणी सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण करने चल दिया। लक्ष्मण ने उसे अपना सागरावर्त धनुष और कृतान्त-वक्त्र सेनापति भी दे दिया।

शत्रुघ्न द्वारा मथुरा-विजय

शत्रुघ्न ने यमुना तट पर अपना पडाव डाल दिया। उसने एक गुप्तचर को मथुरा भेजा। उसने आकर समाचार दिए कि आज छह दिन हुए, मधु नन्दन वन मे क्रीडा करने गया है। सारा परिवार और अनेक सामन्त उसके साथ है। वह यहाँ से तीन योजन दूर है। शत्रुघ्न ने मथुरा मे जाकर रातो रात उस धन-जन से परिपूर्ण नगरी पर अधिकार कर लिया। शस्त्रालय, कोष और राजमहल पर फौजी पहरा बैठा दिया। शासन सूत्र अपने हाथ मे लेकर मथुरा पर रघुवशियो के शासन की ड्योढ़ी पिटवा दी।

प्रात काल होते ही किसो ने वन मे जाकर राजा मधु से यह समाचार कहा। मधु मथुरा पर शत्रुघ्न का अधिकार सुनकर क्रोध से जलता हुआ मथुरा आया। मधु के पास इस समय त्रिशूलरत्न नही था, फिर भी उसने नगर को घेरकर युद्ध की घोषणा कर दी। शत्रुघ्न की कुछ सेना युद्ध के लिए बाहर आई। जब मधु की सेना दबने लगी तब उसका पुत्र लवणार्णव युद्ध के लिए आया और उसने शत्रुघ्न की सेना तितर-बितर कर दो। यह देखकर

कृतान्तवक्त्र सेनापति युद्ध के लिए आया। दोनो में घोर युद्ध हुआ। कृतान्तवक्त्र ने उसकी छाती पर गदा का प्रहार किया, जिससे वह तत्काल मर गया। पुत्र को मृत जानकर मधु स्वय युद्ध के लिए आया। कृतान्तवक्त्र पीछे हटने लगा। यह देख शत्रुघ्न मैदान मे कूद पड़ा। दोनो में घोर युद्ध हुआ। अन्त मे मधु मारा गया। शत्रुघ्न ने उसका राजसी ठाठ से दाह सस्कार कराया।

स्वामी के न रहने पर त्रिशूलरत्न को देव उठा कर ले गये और गरुण इन्द्र को दे दिया। इन्द्र ने पूछा—इसे तुम क्यो ले आए। तब देवो ने कहा—शत्रुघ्न ने मधु का वध कर दिया है।' यह सुनकर गरुणेन्द्र शत्रुघ्न को मारने आया। और जब उसने मथुरा की प्रजा को मधु की मृत्यु पर खुशियाँ मनाते देखा तो वह और भी क्रुद्ध हो गया और उसने मथुरा मे मरी रोग फैला दिया। प्रजा धडाधड मरने लगी। शत्रुघ्न प्रजा के इस विनाश से दुखी होकर अयोध्या चला गया।

एक बार नागपुर के राजा श्रीनन्दन के सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिलय, सर्वसुन्दर, जय, विनय, लालस और जयमित्र ये सात पुत्र मुनि हो गये और तपस्या करके उन्हे ऋद्धि प्राप्त हो गई। वे विहार करते हुए मथुरा पधारे और एक बड़ के नीचे चातुर्मास किया। चारण ऋद्धि के कारण वे चार अगुल जमीन से ऊपर चलकर दूसरे नगरो मे आहार कर शाम को मथुरा वापिस आ जाते थे। मथुरा की सारी प्रजा नगर से भाग गई थी। उन ऋषियो के तप के प्रभाव से धीरे-धीरे मरी रोग शान्त हो गया और प्रजा पुन. नगर मे आ गई। शत्रुघ्न भी मथुरा से लौट आया। तब शत्रुघ्न ने सप्तर्षियो से निवेदन किया—'प्रभो ! आप इसी नगर मे विराजे, जिससे पुन मरी रोग न हो।' मुनि बाले—'तुम यहाँ जिनालयो का निर्माण कराओ, उनकी प्रतिष्ठा करो। उसमे पुन मरी रोग का भय नही रहेगा।' शत्रुघ्न ने महर्षियो की आज्ञा से अनेक जिनमदिर बनवाये। तबसे मथुरा मे खूब आनन्द मगल होने लगे और प्रजा सुख से रहने लगी।

अब राम-लक्ष्मण ने त्रिखण्ड विजय के लिए प्रयाण किया। जो राजा स्वेच्छा से उपहार लेकर आये, उन्हे आदर-सत्कार करके सन्तुष्ट किया। किन्तु जिन्होने उनकी आधीनता स्वीकार नही की, उनको दण्डित किया।

सीता का परित्याग

इस प्रकार अल्पकाल में ही भरत क्षेत्र के तीन खण्डो के समस्त राजाओ को, विद्याधरो और भूमिगोचरो को जीतकर नारायण लक्ष्मण त्रिखण्डाधिपति बन गये। उनके सोलह हजार रानियाँ थी जिनमें आठ मुख्य थीं—विशल्या, रूपवती, बनमाला, कल्याणमाला, रतिमाला, जितपद्मा, भगवती और मनोरमा। राम की रानियो मे मुख्य चार पटरानी थी—सीता, प्रभावती, रतिप्रभा, और श्रीदामा।

अब राम-लक्ष्मण आनन्दपूर्वक तीनो खण्डो पर शासन कर रहे थे। सोलह हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा मे रहते थे। धर्म, अर्थ, काम तीनो पुरुषार्थ उनके अनुकूल थे। एक बार सीता अपने महलों मे सो रही थी। उसने रात्रि के पिछले प्रहर मे दो सुन्दर स्वप्न देखे। वह शय्या से उठ कर राम के पास गई और निवेदन किया—नाथ ! मैने आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में दो स्वप्न देखे हैं। एक मे तो दो पूर्ण चन्द्र देखे है। उसके बाद दो सिह मुह मे प्रवेश करते देखे है। इन दोनो स्वप्नो का फल आप बतावे।' राम बोले—'देवि ! तुम्हारे सिह के समान दो पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होगे। वे दोनो ही भोगी, त्यागी और मोक्ष मार्ग के प्रवर्तक होगे और अन्त मे कर्म शत्रुओ को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करेंगे।' सीता स्वप्नो का फल सुनकर बडी प्रसन्न हुई और अपने महलो मे चली गई।

स्वप्न वाले दिन पुष्पोत्तर विमान से चलकर दो देव सीता के गर्भ मे आए। धीरे-धीरे गर्भ बढने लगा। उससे सीता कृश हो गई, मुह पीला पड गया। स्तनो का अग्र भाग काला पड़ गया। सीता की ऐसी हालत देख कर राम ने कहा—'तुम्हे जो दोहला हो, वह कहो, मै उसे पूरा करूँगा।' सीता ने कहा—'नाथ ! मै सब जगह जाकर भगवान की प्रतिमाओ का पूजन करना चाहती हूँ।' राम सीता को लेकर मदिरो में गये और आनन्दपूर्वक पूजा की। पूजा करते समय सीता की दाई आंख फड़की। सीता यह देखकर किसी अनिष्ट की आशका से चिन्तित हो गई। विघ्न शांति के लिए उसने यथेच्छ दान दिया और महलो को लौट आई।

रामचन्द्र जी वही प्रासाद मण्डप में अनेक लोगों के साथ बैठे रहे। तभी द्वारपाल ने आकर निवेदन

किया—'महाराज ! बहुत प्रजाजन आपके दर्शनो के लिए आना चाहते है।' राम ने सबको अन्दर ले आने की आज्ञा दी। प्रजाजन आकर नमस्कार कर यथास्थान बैठ गये। राम ने पूछा—'कहिए, आप लोग कैसे आए। मेरे राज्य में आपको कोई कष्ट तो नही है?' यह सुनकर सब चुप रह गये। राम ने फिर कहा—'आप लोग भय मत करिए, जो कुछ मन मे हो, निस्सकोच कहिए।' अभय पाकर एक लोकचतुर विजय नाम का प्रजाजन हाथ जोड़-कर बोला—'प्रभो ! निवेदन यह है कि आजकल देश में बडा अनाचार फैल रहा है। एक की स्त्री दूसरा भगा ले जाता है और वह दो तीन महीने उसके घर रहकर वापिस आ जाती है। यदि कोई पूछता है कि उस व्यभिचा-रिणी स्त्री को तुमने क्यो रख लिया। तो जवाब मिलता है कि रामचन्द्र जी भी तो सीता को रावण के घर से छह महीने के बाद ले आये है। जब छह महीने रावण के सपर्क मे रहने वाली सीता को राम जैसे धर्म धुरन्धर मर्यादा पुरुषोत्तम राजा भी पुन अगीकार कर सकते है, तब वे हमे अपनी अपहृत स्त्रियो को रखने से कैसे रोक सकते है। इस तरह दुष्ट लोग दिनदहाडे आपका उदाहरण देकर यह अनाचार कर रहे है। अत जिस प्रकार यह अनाचार रुके वह उपाय आपको करना चाहिए।

प्रजाजनो की यह बात सुनकर क्षण भर को राम गम्भीर हो गये, फिर बोले—अच्छा, आप लोग जाइये, मैं इसका कुछ उचित उपाय करूँगा। प्रजाजन लौट गये।

रामचन्द्र जी सोचने लगे—हाय ! जिसके बिना मैं व्याकुल रहा, जिसके लिए रावण को मारने समुद्र पार कर गया, उसके बिना तो मेरा जीना ही व्यर्थ हो जायेगा। हाय ! सुशील गुणवती सीता मुझसे कैसे छोड़ी जाएगी। उसके बिना तो मै एक घड़ी भर भी स्थिर नही रह सकता, उसके बिना मै जीवन भर उसका दुःख कैसे सहूँगा। यदि उसे न छोड़ा तो सदा के लिये मेरे कुल मे कलक लग जायेगा।' इस प्रकार सोचकर उन्होने लक्ष्मण को बुलाया और बोले—'वत्स ! सीता के बारे मे बडा लोकापवाद फैल रहा है। अत मै उसे जगल मे छोड देना चाहता हूँ।' लक्ष्मण यह सुनकर बड़ा क्रुद्ध होकर बोला—'कौन दुष्ट सीता को लेकर अपवाद फैला रहा है। मै उसका अभी तलवार से सिर उतारता हूँ। सीता के समान आज भी कोई पतिव्रता नही दीखती। उसमे जो दोष बतलाता है, मै उसकी जीभ काट लूँगा। समझ मे नही आता, दुष्ट लोगो के कहने से आप सीता को कैसे छोड़ रहे है। राम ने समझाया—'लक्ष्मण ! ऐसा मत कहो। सीता को रखने से हमारे वश मे हमेशा के लिए कलक लग जाएगा। अत: मैं सीता का अवश्य परित्याग करूँगा। तुम्हे अगर मुझसे स्नेह है तो इस विषय मे मौन ही रहना। हे लक्ष्मण ! जैसे सूखे ईधन मे लगी अग्नि जल से बुझाये बिना वृद्धि को प्राप्त होती है, उसी प्रकार अपकीर्ति रूपी अग्नि पृथ्वी पर फैलती है। उसका निवारण किए बिना मिटती नही। यह तीर्थंकरो का समुज्वल कुल प्रकाश रूप है। इसको कलक न लगे, वह उपाय करना चाहिए। यद्यपि सीता महा निर्दोष है, शीलवती है फिर भी मै उसका परित्याग करूँगा, मै अपनी कीर्ति मलिन नही करूँगा।' किन्तु लक्ष्मण को इन बातो से सन्तोष नही हुआ। वे उद्वेग से बोले—'देव ! लोग तो मुनियो की भी निन्दा करते है, धर्म की भी निन्दा करते है तो क्या लोगो के अपवाद के डर से मुनियो को छोड दे, धर्म को छोड दे। इसी तरह कुछ दुष्ट लोगो के अपवाद के भय से जानकी को कैसे छोड दे।' तब रामचन्द्र जी समझाने लगे—'लक्ष्मण ! जो शुद्ध न्यायमार्गी मनुष्य है, वे लोक विरुद्ध कार्य छोड़ देते है। जिसकी दसो दिशाओ में अकीर्ति फैल रही हो, उसे ससार मे क्या सुख है।'

यह कहकर राम ने कृतान्तवक्त्र सेनापति को बुलाया। और उससे कहा कि 'तुम तीर्थ यात्रा कराकर सीता को किसी बियावान जंगल में ले जाओ और वहाँ छोडकर शीघ्र लौट आओ।' 'जो आज्ञा' कहकर सेनापति रथ लेकर सीता के महल पर गया और कहा 'माता ! उठो। रामचन्द्र की आज्ञानुसार तुम्हे तीर्थ यात्रा के लिए चलना है।' सीता बड़ी प्रसन्नता से उठी, तैयार हो सबसे मिलकर यात्रा को चली। विशल्या आदि रानियो ने सीता के पैर छुए। सीता ने अपनी सासुओ के पैर छुए और देवरानियों से बोली—'तीर्थयात्रा कर शीघ्र ही लौटकर सबसे मिलूगी। वैसे तो इस हालत मे न जाती परन्तु सौभाग्य से मुझे दोहला ही ऐसा हुआ है कि मै तीर्थ वन्दना करू और दान पुण्य करूँ। अगर सकुशल लौट आई तो फिर सबके दर्शन करूंगी। आप सब मेरे अपराधो को क्षमा करना।' इस तरह कहकर सीता रथ में बैठकर राम के पास गई और उनसे आज्ञा लेकर यात्रा को विदा हुई।

चलते समय अपशकुन हुए। नदी, पर्वतादिको को लाघता हुआ रथ यात्रा कराता हुआ आगे बढा और सिहाटवी मे पहुंचा। सिह व्याघ्रादि से भरे हुए उस वन मे सेनापति ने रथ रोक दिया। सेनापति कुछ कहना ही चाहता था कि उसकी आँखो से अश्रुधारा बह निकली। सीता ने पूछा-'भाई ! हम लोग तीर्थयात्रा को निकले है। ऐसे हर्षपूर्ण प्रसग मे तुम्हारे दु.ख का अभिप्राय मै नही समझी।' सेनापति ने कहा--'माता ! बडे पाप के फल से कुत्ते के समान यह दास का जीवन मिलता है। दास बडे पाप के फल से नरको मे जाता है और वहाँ से निकल कर चाण्डालादि योनियो में जन्म लेता है।" सीता बोली–'वत्स ! तुम ऐसा क्यो कहते हो ?' सेनापति ने कहा—'माता! महाराज रामचन्द्र जी की आज्ञा है कि मै तुम्हे यही जंगल में छोड दूँ। उनका कहना है कि यद्यपि सीता निर्दोष है, फिर भी लोकापवाद के कारण मैं उसे रखने को तैयार नही हूँ। किन्तु तुम्हे एकाकी इस वन में किस प्रकार छोडूं। और यदि नही छोडता हूँ तो महाराज रामचन्द्र नाराज होगे। मेरे रोने का यही कारण है।'

सेनापति के वचन सुनते ही सीता को मूर्च्छा आ गई। जब उसे होश आया तो बोली—'हे वीर ! मुझे एक बार अयोध्या ले चलो। रामचन्द्र जी के चरणो के दर्शन करके और उनसे अपने मन की बात कह कर मैं पुन: वन मे चला आऊँगी।' किन्तु सेनापति बोला—'देवि ! इस समय रामचन्द्र जी क्रोध और कठोरता की मूर्ति हो रहे है। अत: उनके दर्शन करना भी बेकार है।' सीता ने कहा–'हे सेनापति ! तुम मेरे वचन राम से कहना कि मेरे त्याग का विषाद आप न करना, परम धैर्य धारण कर प्रजा की रक्षा करना, जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है। राजा को प्रजा ही आनन्द का कारण है। आप मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शन की आराधना करना और राज्य से सम्यग्दर्शन को श्रेष्ठ मानना। अभव्य जनो की निन्दा के भय से सम्यग्दर्शन को मत छोड़ना। आप सब शास्त्रो के ज्ञाता हो, अत मै आपको कोई उपदेश देने मे समर्थ नही हूँ। यदि मैने कभी परिहास मे अविनयपूर्ण वचन कहे हो तो आप क्षमा करना।' इस प्रकार कहकर रथ से उतर कर वह मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पडी, मानो रत्नो की राशि ही पडी हो।

कृतान्तवक्त्र सीता को चेष्टारहित मूर्छित देख कर बडा दुखी हुआ और मन में विचारने लगा—धिक्कार है इस पराधीनता को, जिसके कारण मुझे महासती सीता को निर्दय जीवो मे भरे हुए इस वन में अकेला छोडकर जाना पड़ रहा है। पराधीन जीवन बडे पाप का फल है। स्वामी की आज्ञा के अनुसार ही चलना सेवक का एकमात्र काम है। यह पराधीनता कभी किसी को प्राप्त न हो।' यो सोचकर अत्यन्त दुखी और लज्जित होता हुआ वह वहाँ पर ही सीता को अकेली छोड़कर अयोध्या को चल दिया।

इधर सीता को जब होश आया तो वह विलाप करने लगी—'आर्यपुत्र ! आप सब की रक्षा करते थे, किन्तु मेरे लिए इतने कठोर कैसे बन गये। देवर लक्ष्मण ! भाई भामण्डल ! तुम मुझे कैसे भूल गये। भरत ! शत्रुघ्न ! तुम्ही आकर मुझे इस वन में ढाढस बधाओ। क्या तुम सबने मुझे छोड दिया। विद्याधरो ! तुम मेरी रक्षा करने को लका गये थे, अब तुम मेरी रक्षा क्यो नही करते। इस प्रकार विलाप करके वह बार-बार मूर्छित होने लगी। सीता का विलाप सुनकर जंगल के पशु भी स्तब्ध रह गये। सीता पुन मन को सान्त्वना देने लगी- इसमे राम या किसी अन्य का क्या दोष है। मैंने जो शुभाशुभ कर्म किये है, उनका फल मुझे भोगना ही होगा। शायद मैंने किसी जन्म में मुनि-निन्दा की हो, सतियों को दोष लगाया हो या कोई ऐसा ही पाप किया हो। इस प्रकार सीता कभी विलाप करती, कभी आत्म निन्दा करती हुई हिरणी की भाति इधर उधर फिरने लगी।

सीता करुण क्रन्दन करती हुई वन में फिर रही थी तभी पुण्डरीकपुर का हरिवशी राजा वज्रजघ सेना सहित हाथी पकडने इसी जगल मे आ निकला। हाथी पकडकर लौटते हुए उसने सीता का विलाप सुना। वह शीघ्र सीता के पास आया। सेना को देखकर सीता और भी भयभीत होकर विलाप करने लगी। वन देवी की तरह सीता को बैठी देखकर सेना कौतुक से और भी समीप आई। सीता डरकर उन्हे अपने गहने देने लगी। तब वज्रजघ हाथी से उतर कर सीता के समीप आया और बोला—पुत्री ! तू इस वन में अकेली क्यों है। तेरे पिता, पति और श्वसुर कौन है ? सीता ने रोते हुए कहा—'भाई ! मैं दशरथ की पुत्र वधू, और जनक की पुत्री हूँ। रामचन्द्र मेरे पति हैं। और भामण्डल मेरा भाई है। भरत को राज्य सौपकर मेरे पति वन को गये थे। उनके साथ मै भी गई

थी। वहाँ दण्डक-वन मे पापी रावण ने मुझे हर लिया। इसके लिए राम ने रावण पर आक्रमण कर दिया। उस युद्ध में रावण मारा गया। हम लोग प्रेमपूर्वक अयोध्या वापिस गये। वहाँ समयानुसार मैं गर्भवती हुई। इसके बाद जनता ने इसका अपवाद करके रामचन्द्र से शिकायत की। उन्होने उस लोकापवाद के कारण मेरा परित्याग कर दिया। इस तरह अपना सारा वृत्तान्त कह कर वह पुन रोने लगी। सीता का करुण आक्रन्दन सुनकर वज्रजघ और उसके सैनिको के भी आसू निकलने लगे। वज्रजघ ने कहा—तू मेरी बहन है। मै तेरा भाई हूँ। चलो, हम लोग घर चले। वहाँ रहने से फिर रामचन्द्र जी के दर्शन होगे। इस तरह सीता को समझा बुझा कर वह पालकी मे बैठाकर अपने घर ले गया। मार्ग मे सीता का परिचय पाकर जगह जगह लोगो ने उसका सम्मान सत्कार किया। नगर प्रवेश करते ही जनता ने बडे समारोह से उसकी अगवानी की। राजद्वार पर आकर वज्रजघ की रानियाँ बडे आदर और सम्मान के साथ सीता को अन्दर ले गई। वज्रजघ ने आदेश कर दिया कि सीता मेरी बहिन है अत सब काम उसकी आज्ञानुसार होने चाहिए। सब रानियो ने राजाज्ञा शिरोधार्य की। सीता वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगी तो भी रामचन्द्र जी के बिना उसे सूना सूना लगता था।

उधर कृतान्तवक्त्र वापिस अयोध्या लौटा और रामचन्द्र जी के निकट पहुँचा और नमस्कार कर बोला—'प्रभो ! आपकी आज्ञानुसार मै सीता को भयानक वन में छोड आया हूँ।' राम बोले—'सीता ने मेरे लिए कुछ कहा तो नही।' तब सेनापति ने सीता का दिया हुआ सन्देश रामचन्द्र जी को कह सुनाया। सेनापति के मुख से सीता का सन्देश सुनते ही राम मूर्च्छा को प्राप्त हो गये। जब चेत आया तो वे विलाप करने लगे। फिर कृतान्तवक्त्र से पुन पुनः पूछने लगे—'कृतान्तवक्त्र ! कह, क्या तूने सीता को वन मे छोड दिया ? यदि तूने किसी शुभ स्थान मे छोडा हो तो तेरे मुखचन्द्र से अमृत रूप वचन बिखरे। यह सुनकर सेनापति ने लज्जा से नीचा मुख कर लिया। तब राम ने समझ लिया कि यह निश्चय ही सीता को भयानक वन मे छोड आया है। यह समझ कर राम पुन मूर्च्छित हो गये। तब लक्ष्मण आये और मन मे दुखित होते हुए कहने लगे—'देव ! क्यो व्याकुल होते हो। धैर्य धारण कीजिए। पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का फल भोगना ही पडेगा। केवल सीता को ही दुःख नही हुआ। सारी प्रजा ही दुखी है। यह कहते ही लक्ष्मण का भी धैर्य जाता रहा और वे भी रुदन करने लगे। 'हाय माता ! तू कहाँ गई। जैसे सूर्य बिना आकाश की शोभा नही है, इसी प्रकार तेरे बिना अयोध्या की शोभा नही रही। फिर राम से कहने लगे, 'हे देव ! सारे नगर मे गीत सगीत की ध्वनि बन्द हो गई और रुदन की ध्वनि आती रहती है। घर घर मे सब लोग रुदन करते है और सीता के अखण्ड सतीत्व और गुणो की ही चर्चा करते रहते है। अत आप शोक छोडिये आपका चित्त प्रसन्न है तो सीता को फिर बुला लेगे। इस तरह समझाने बुझाने से राम का शोक कुछ क्षणो के लिए कम हो गया। किन्तु वे सीता को भुला नही सके। उनका मन एक क्षण के लिए भी सीता के बिना नही लगता था।

लव-कुश का जन्म और दिग्विजय—नौ मास बीतने पर श्रावण शुक्ला पूर्णिमा मगलवार के दिन श्रवण नक्षत्र मे सीता ने दो पुत्रो को जन्म दिया। दोनो पुत्र सूर्य और चन्द्र की तरह कातिमान थे। उनका मुख देखकर सीता के साथ साथ सब जनो को परम सन्तोष हुआ। वज्रजघ ने खूब उत्सव मनाया, जिनेन्द्र देव की पूजा की और याचको को यथेच्छ दान दिया। बडे पुत्र का नाम अनगलवण और छोटे का नाम मदनाकुश रखा गया।

धीरे-धीरे दोनो बालक बढने लगे। उनका मुख देखकर सीता अपना शोक भूल गई। जब वे कुछ बडे हुए तो सीता को चिन्ता हुई कि इन्हे किस गुरु के पास पढने भेजा जाय। इतने मे सिद्धार्थ नामक एक क्षुल्लक भिक्षा के लिए सीता के घर पधारे। वे महाज्ञानी, शील सम्पन्न, तथा कला-विज्ञान के पारगामी थे। शरीर पर केवल एक वस्त्र रखते थे, केशलोच करते थे, अपने पात्र में ही भोजन करते थे और सदा ज्ञान ध्यान मे लीन रहते थे। सीता ने उन्हे आहार कराया। आहार करने के पश्चात् वे एक आसन पर बैठ गये। सीता भी इन्हें नमस्कार करके पास ही बैठ गई। इतने मे दोनो कुमार भी आ गये। उन्हे देखकर क्षुल्लक ने पूछा—'ये दोनो सुन्दर कुमार किसके है ?' क्षुल्लक का प्रश्न सुनकर सीता ने आखो मे आसू भरकर उन्हे सब वृत्तान्त सुनाया। सुनकर क्षुल्लक बोले—'दुःख मत करो पुत्री ! तुम्हारे दोनो पुत्र राजा होकर मुक्ति प्राप्त करेगे। मै इन्हे सब विद्याओ में निपुण

कर दूँगा।' यह सुनकर सीता बड़ी प्रसन्न हुई। क्षुल्लक वही एकान्त स्थान में रहने लगे और बालको को पढाने लगे। थोड़े ही समय मे दोनों बालक शस्त्र विद्या और शास्त्रविद्या मे निपुण हो गये।

अब वे हाथी पर सवार होकर नगर मे क्रीड़ा करते घूमते थे। वज्रजघ ने बडे पुत्र अनगलवण के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। अब उसे दूसरे पुत्र के विवाह की चिन्ता हुई। तब उसने पृथ्वीपुर के राजा पृथु के पास उनकी कन्या कनकावली को अपने दूसरे पुत्र के लिए माँगने के लिए अपने मत्री को भेजा। किन्तु राजा पृथु ने बडा कटु उत्तर दिया कि जिसके कुल गोत्र का ठिकाना नही, उसके लिये मै अपनी पुत्री को कैसे दे सकता हूँ। वज्रजघ ने जब मत्री से पृथु का यह अभद्रतापूर्ण उत्तर सुना तो उसे बडा क्रोध आया। वह सेना लेकर पृथु का मान-मर्दन करने चल दिया। मार्ग में वंशपुर का राजा व्याघ्ररथ जो पृथु के पक्ष का था—युद्ध करने आया। उसे पराजित कर वज्रजघ ने पृथ्वीपुर को घेर लिया। राजा पृथु ने अपने मित्र पोदनपुर के राजा को बुलाया। वह सेना लेकर मैदान मे आडटा। दोनो ओर से भीषण सग्राम हुआ किन्तु दोनो की सम्मिलित शक्ति के मुकाबले वज्रजघ ठहर नही सका। तब उसने दोनो कुमारो को बुला भेजा। दानो पुत्र और वज्रजघ के पुत्र फौरन युद्ध-स्थल मे आये। दोनो कुमारो ने थोडी ही देर मे पृथु को पकड़ लिया। साथ ही पोदनपुर के राजा को भी उसके रथ मे ही धर दबाया और उसे पकड़ लिया। दोनां राजकुमारो का प्रणाम कर पृथु बोला— आप दोनो भाई उच्च कुलीन और ज्ञानवान है। मैने अज्ञानता मे जो अपराध किया, उसे आप क्षमा कर द।' इस तरह विनयपूर्वक निवेदन करके उसने अपनी पुत्री कनकमाला का विवाह मदनाकुश के साथ कर दिया। कुमारो ने दोनो राजाओ को बधन मुक्त कर दिया और एक महीने पृथ्वीपुर मे ठहर कर दिग्विजय करने निकले। उनके साथ राजा पृथु, पोदनपुर का राजा और वज्रजघ भी चले। वे लोकाक्ष, मालवा, अवन्ति, तिलिग आदि दक्षिण देशो को जीतते हुए कैलाश पर्वत की ओर पूर्व दिशा में गये। उधर के अनेक राजाओ को जीतते हुए पश्चिम के राजाओं को जीता। पश्चात् विजयार्ध के समीप सिन्धु के किनारे के राजाओ को जीना। इस तरह तमाम पृथ्वी को जीतते हुए वे अपने नगर को लौट आये। प्रजा ने कुमारो का खूब स्वागत किया। वज्रजघ के साथ कुमार राजद्वार पर पहुँचे। रानियो ने तीनो की आरती उतारी। सीता भाई से मिली और कुमारो ने सीता के पैर छुए। सीता ने दोनों को आशीर्वाद दिया।

एक दिन देवर्षि नारद अयोध्या गये। नारद ने वहाँ सीता को न देखकर राम से पूछा— 'यहाँ सीता कही दिखाई नही देती।' नारद का प्रश्न सुनकर कृतान्तवक्त्र ने सारा समाचार सुनाया। उसे सुनकर नारद को बडा दु:ख हुआ और वे सीता को खोजने चल दिये। घूमते हुए वे पुण्डरीकपुर पहुँचे और वज्रजघ की आज्ञा लेकर अन्त-पुर मे गये। सीता ने उन्हे प्रणाम किया और बैठने को उच्च आसन दिया। नारद सीता को देखकर बडे प्रसन्न हुए। नारद ने सीता से कुशल समाचार पूछे तो सीता ने आपबीती सारी धटना कह सुनाई। इतने मे वही पर दोनो कुमार आ गये और नारद के पैर छूकर खडे हो गये। नारद ने उन्हे आशीर्वाद दिया—'राम-लक्ष्मण के समान तुम्हारे भी खूब विभूति हो।' कुमारो ने नारद से पूछा—'ये राम-लक्ष्मण कौन है।' नारद बोले—'क्या तुमने नारायण और बलभद्र लक्ष्मण राम का नाम नही सुना जिन्होने सीता को हरने वाले महा बलवान रावण को मारा है और जो तीन खण्ड के अधिपति बन कर अयोध्या मे शासन कर रहे हैं। उन्ही मे से बलभद्र के तुम दोनो पुत्र हो।' तब कुमारो ने सीता से पूछा कि नारद जी जो कुछ कह रहे है, क्या वह सत्य है ? तब सीता ने सब आप बीती सुना दी। माता का वृत्तान्त सुनकर दोनो पुत्र क्रुद्ध होकर राम लक्ष्मण को मारने के लिए तैयार हुए। नारद जी ने मना किया तो लवणांकुश तेजी मे बोला—लोगो के कहने मे आकर पिता ने क्यो हमारी माँ को छोड दिया। क्या उस समय अयोध्या में न्याय की बात कहने वाला कोई नही था कि एक स्त्री को भयानक वन में अकेली क्यों छोडा जाता है। अगर मामा ने माँ को न रखा होता तो अब तक माँ को शेर चीते खा जाते। आप बताइये, अयोध्या यहाँ से कितनी दूर है। हम भी तो देखे, पिता कितने पानी में है।' नारद ने कहा—'अयोध्या यहाँ से एक सौ साठ योजन है।' लवणांकुश ने मामा से कहा—'हम राम लक्ष्मण पर चढ़ाई करेंगे, आप सेना सजवाइये।' सीता ने पुत्रों से मना किया—बेटा ! तुम राम लक्ष्मण के साथ लड़ाई मत ठानो। वे बड़े बलवान है। उन्होनें तीन खण्ड के अधिपति और अनेक विद्याओ के स्वामी रावण को भी मार दिया।' लवणांकुश बोला—'मा ! हम लोग रावण की तरह

परस्त्री लंपट नही है। हम तुम्हारे चरणो की सौगन्ध खाते है कि हम उन्हे पीठ दिखाकर नहीं आवेगे।' इस तरह कहकर दोनो कुमार चतुरग सेना सजाकर युद्ध के लिए चल दिये।

अनेक देशो को जीतते हुए वे अयोध्या पहुँचे। किसी शत्रु-सैन्य का आगमन सुनकर राम लक्ष्मण से बोले—सेना तैयार करो। वज्रजघ को मारने हमे जाना ही था, किन्तु वह स्वय मरने के लिए यहाँ आ गया है।' लक्ष्मण ने दूत भेजकर हनुमान, विराधित, विभीषण आदि को भी बुला लिया। युद्ध भेरी बजाई गई। राम सिहरथ पर सवार होकर सबसे आगे चले। उनके पीछे गरुड रथ पर चक्र हाथ में लेकर लक्ष्मण चले। उनके पीछे असख्य राजा और सैन्य चली। दोनो सेनायें एक दूसरे के सम्मुख आ डटी।

सीता, सिद्धार्थ क्षुल्लक और नारद मुनि के साथ ऊपर विमान में बैठी हुई थी। दोनों ओर से युद्ध की तैयारी देखकर सीता चिंतित होकर नारद से बोली—यह आपने क्या किया? कुमार अभी बालक है। वे बलभद्र और नारायण से कैसे लडेंगे। दोनो ओर से कोई अनिष्ट हुआ तो मै कही की नही रहूँगी।' नारद ने कहा—'पुत्री! डरो मत। ये दोनो कुमार चरमशरीरी और बज्रमयी शरीरधारी है। इस प्रकार सीता को समझा कर नारद भामण्डल के पास पहुचे और उसे कुमारो का परिचय दिया। भामण्डल हनुमान को लेकर सीता के पास पहुँचा। दोनो कुमार भी वहाँ आकर भामण्डल और हनुमान से मिले। युद्ध शुरू होने से पहले ही भामण्डल और हनुमान राम का पक्ष छोडकर लवणांकुश की ओर आ मिले। यह देखकर अन्य विद्याधर भी युद्ध से तटस्थ हो गये। युद्ध प्रारम्भ हो गया। लवण के योद्धाओ ने राम की सेना को छिन्न भिन्न कर दिया। यह देखकर शत्रुघ्न युद्ध करने आया। उसे देखकर लव और कुश युद्ध करने आगे आये और शत्रुघ्न को बाणो से आच्छादित कर रथ से नीचे गिरा दिया। यह देखकर क्रुद्ध होकर राम और लक्ष्मण शत्रु सेना का सहार करते हुए इन दोनो कुमारो के सामने आ डटे। लवणांकुश के साथ राम और मदनाकुश के साथ लक्ष्मण युद्ध करने लगे तथा वज्रजघ शत्रुघ्न से युद्ध करने लगा। भयकर युद्ध हुआ। अनेक हाथी, घोडे, सैनिक मारे गये। रथो का चूरा हो गया। खून की नदी बहने लगी। खून की कीचड मच गई। राम ने हल उठाकर मारा, किन्तु लव ने उसे व्यर्थ कर दिया। राम ने दिव्य अस्त्र चलाये, किन्तु लव पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। बाद में लवण ने राम का रथ तोड दिया। राम बार-बार रथ बदलते और लवण उसे तोड़ देता। राम व्याकुल हो गये। राम सोचने लगे— मेरे सारे अस्त्र व्यर्थ हो गये, सारे विद्याधर धोखा दे गये। दिव्यास्त्रो का इस पर कोई प्रभाव नही पडा। भूमिगोचरी राजा इसने मार दिये। मेरे भी तीन बार इसने रथ तोड़ दिये। राम इस प्रकार सोच ही रहे थे कि लवण ने उनके वक्षस्थल पर प्रहार किया। वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पडे। राजाओ ने उठाकर राम को कठिनाई से सचेत किया।

उधर लक्ष्मण सागरावर्त धनुष लेकर क्रोध से मदनाकुश पर झपटे। उन्होने अनेक बाण छोडे किन्तु कुश ने उन सबको व्यर्थ कर दिया। लक्ष्मण ने तब गदा उठाकर मारी किन्तु कुश ने उसे धनुर्दण्ड से रोक दिया। फिर कुश ने लक्ष्मण पर वज्र का प्रहार किया। लक्ष्मण वज्र की चोट से बेहोश हो गये। विराधित रथ लौटाने लगा किन्तु लक्ष्मण ने उसे डाट दिया। तब कुश ने लक्ष्मण को बाणो से ढक दिया और सात बार लक्ष्मण का रथ तोड दिया। तब क्रुद्ध होकर लक्ष्मण ने कुश पर चक्र फेका, किन्तु चक्र कुश की प्रदक्षिणा देकर लौट आया। इस प्रकार लक्ष्मण ने सात बार चक्र मारा, किन्तु हर बार वह लौट आया। तब कुश ने लक्ष्मण पर धनुर्दण्ड घुमाया। सब लोग आश्चर्य से सोचने लगे—यह कोई नया नारायण पैदा हुआ है या कोई चक्रवर्ती आ गया है। लक्ष्मण सोचने लगे—मेरा पुण्य ही क्षीण हो गया है। इस प्रकार लक्ष्मण सोचते हुए खड़ रह गये।

तब नारद और सिद्धार्थ लक्ष्मण के पास आये और बोले—ये दोनो प्रतिद्वन्द्वी राम के पुत्र लवण और अकुश है। जिस सीता को आप लोगो ने भयानक वन में ले जाकर छोड़ दिया था, उसे वज्रजघ अपनी बहिन बना कर ले गया था। उसी के ये दोनो पुत्र माता के दु.ख से क्रोधित होकर आपसे लड़ने आये है। लक्ष्मण रथ से उतर पश्चाताप करता हुआ राम के पास गया और जाकर दोनों पुत्रो का वृत्तान्त बताया।

इसके बाद दोनो कुमारो ने आकर राम लक्ष्मण के पैर छुए। उन्होने उन दोनो कुमारो को छाती से लगा लिया। राम सीता-त्याग की घटना याद करके विलाप करने लगे। उन्हे विलाप करते देखकर अन्य लोगो के

भी आसू आ गये। विद्याधर और भूमिगोचरी राजा मिलकर राम के निकट आये। युद्ध बन्द हुआ। सब लोग परस्पर गले मिले। अपने पुत्रो का माहात्म्य देखकर सीता पुण्डरीकपुर लौट गई। भामण्डल की रानियाँ भी सीता के साथ गई। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भामण्डल, सुग्रीव, विभीषण, नल, नील, अंग, अगद हनुमान तथा अन्य विद्याधर सीता को देखने पुण्डरीकपुर गये। सबने सीता को प्रणाम किया, सीता ने उन्हे आशीर्वाद दिया। फिर सब लोग अयोध्या वापिस आ गये। पुत्रो के समागम की खुशी मे अयोध्यावासियो ने बडा हर्ष मनाया। नगर खूब सजाया गया। रामचन्द्र जी दोनो पुत्रो के साथ हाथी पर बैठकर नगर मे आये। स्त्रिया ने कुमारो की आरती उतारी। राम लक्ष्मण ने बज्रजघ का खूब सत्कार किया।

एक दिन विभीषण, हनुमान आदि विद्याधरो ने हाथ जोडकर रामचन्द्र जी से निवेदन किया—प्रभो! सीता पुण्डरीकपुर मे जाने कैसे अपना समय व्यतीत करती होगी। अगर आप आज्ञा दे तो उन्हे जाकर ले आवे।'

सीता जी की अग्नि परीक्षा

यह सुनकर रामचन्द्र जी आखो में आसू भर कर बोले—'मै जानता हूँ कि सीता निर्दोष है। परन्तु उसे ले आने से लोग फिर अपवाद करेगे। अगर सीता अग्नि मे प्रवेश करके अपनी निर्दोषता की परीक्षा दे तो मै उसे रख सकता हूँ।' 'अच्छा' कहकर विद्याधर लोग पुण्डरीकपुर पहुँचे और सीता से जन समुदाय के सामने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने की प्रार्थना की। सीता ने कहा—मै अब ससार के सुखो मे पुन· प्रवेश नही करना चाहती। यदि मेरे भाग्य मे सुख ही होते तो ये दुःख ही क्यों आते। जब मुझे कलक लग चुका तो क्या लेकर उन्हे अपना मुह दिखाऊँ।' विभीषण बोला—'दु ख करने से क्या लाभ है। जो कुछ होता है, सब अपने भाग्य से होता है। अत आप ऐसा कीजिये कि सब लोगो पर आपका विश्वास जम जाय। ऐसा करने से आपकी भी कीर्ति होगी।' सीता ने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करना स्वीकार किया और प्रसन्नता से विमान मे बैठ गई।

सीता अयोध्या आई। वह महेन्द्र उद्यान मे ठहराई गई। देश-विदेश के लोगो को निमन्त्रण-पत्रिका भेजी गई। देश विदेश के लोग आकर एकत्रित होने लगे। रामचन्द्र जी महल के समीप ही एक मच पर बैठ गये। राजा लोग भी यथास्थान बैठ गये। आज्ञा पाकर विद्याधर लोग सीता को हाथी पर बैठाकर सभा-मण्डप मे ले आये। सीता को आते देखकर लोग हर्षित हो उठे। जब सीता निकट आ गई तो राजा गण खड़े हो गये। लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि ने उनके पैर छुए। सीता राम के निकट आई। रामचन्द्र जी की उदासीनता देखकर सीता मन मे अत्यन्त व्याकुल हुई किन्तु फिर उनके पैर छू कर सामने खडी हो गई और लज्जा से निगाह नीची करके पैर के अगूठे से जमीन कुरेदने लगी। उसे ख्याल आने लगा कि मै यहाँ क्यो आई। इतने मे रामचन्द्र जी बोले—'सीता! सामने से दूर हो। तू यहाँ क्यो आई। छह महीने तू रावण के यहाँ रही है। अब किस मुँह से मै तुझे अपने यहाँ रक्खू। मैं जानता हूँ कि तू निर्दोष है। परन्तु जब तक लोग तुझे निर्दोष न मान ले, तब तक मेरे यहाँ तुम्हारी गुजायश नही है।' यह सुनकर सीता ने कहा—मुझे सब स्वीकार है। अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने के लिये आप कहे तो मैं साप के मुह मे अपना हाथ दे दूँ, आप कहे तो हलाहल विष पीलू, आप कहे तो तपे हुए लोहे के गोले हाथ मे ले लू, आप कहे तो आग मे कूद पडू। आप जो कुछ कहे, वह सब मै करने को तैयार हूँ। राम क्षण भर सोचकर बोले—'आग मे प्रवेश कर अग्नि-परीक्षा दो।' यह सुनकर नारद सोचने लगे—अग्नि का क्या विश्वास, न जाने क्या अनर्थ हो जाय। विभीषण हनुमान आदि भी इस आज्ञा से व्याकुल हो गये। लक्ष्मण, शत्रुघ्न, लवण और अकुश भी बडे दुःखी हुए। क्षुल्लक सिद्धार्थ ने खड़े होकर कहा—'महाराज! मैं विद्या के बल से सर्वत्र चैत्यालयो का वदना के लिये जाता रहता हूं। मैने मुनियो के मुख से भी सब जगह सीता के सतीत्व की प्रशसा सुनी है। अत आप सीता को अग्नि-प्रवेश की आज्ञा मत दीजिये।' विद्याधर और भूमिगोचरी लोग भी एक स्वर से कहने लगे—'प्रभो! सीता सती है, वह निर्दोष है, उन्हे अग्नि प्रवेश की आज्ञा मत दीजिये। राम क्रुद्ध होकर बोले—इतनी दया अब दिखा रहे हो तो पहले सीता का अपवाद क्यो किया था।'

राम की आज्ञा से फौरन दो पुरुष गहरा और तीन सौ हाथ लम्बा चौड़ा गड्ढा खोदा गया और सूखे ईधन से भरकर अग्नि प्रज्वलित की गई। असख्य जनता सीता की अग्नि-परीक्षा देखने वहाँ एकत्रित हो गई।

उसी रात को महेन्द्र उद्यान मे सकलभूषण मुनि को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवो ने आकर ज्ञानोत्सव मनाया। चारो निकाय के देवता वहाँ आये। मेघकेतु नामक एक देव सीता की परीक्षा के लिए बनाये गये अग्नि-कुण्ड को देखकर इन्द्र से कहने लगा—'प्रभो ! सीता पर घोर उपसर्ग आ पडा है। वह महासती शीलवती है। उसे दु.ख क्यो हो।' तब इन्द्र ने आज्ञा दी—'मै तो केवली भगवान का ज्ञानोत्सव मनाने जाता हूँ। तुम महासती का उपसर्ग दूर करना।' मेघकेतु देव अपने विमान मे आकाश मे ठहर गया।

जब अग्नि-कुण्ड की लपटे आकाश को छूने लगी तो राम सोचने लगे—कैसे सीता को इस भयकर आग मे कूदने दूँ। सीता जैसी स्त्री इस लोक मे नही है। यदि मै इसे अग्नि-प्रवेश से रोकता हूँ तो सदा के लिए मेरे कुल मे कलक लग जायगा। यदि सीता आग मे जल कर मर गई तो और भी अनर्थ होगा।' रामचन्द्र जी इधर यह सोच रहे थे, उधर सीता धीरे-धीरे अग्नि-कुण्ड के समीप आई। एकाग्र चित्त होकर उसने ऋषभदेव भगवान से लेकर मुनि-सुव्रतनाथ पर्यन्त तीर्थकरो की स्तुति की। बाद में बोली—'हे अग्नि ! मन से, बचन से काय से, स्वप्न मे या जागृत अवस्था मे राम के सिवाय मैने कभी पर पुरुष की इच्छा नही की है। यदि शील मे कोई दूषण लगा हो अथवा मै व्यभिचारिणी हूँ तो हे अग्नि ! तू मुझे भस्म कर देना। यदि मै सती हूँ तो मुझे मत जलाना।' यो कहकर सीता ने णमोकार मत्र का स्मरण किया और जलती हुई अग्नि मे प्रवेश कर गई। लोग भयभीत होकर, आशकित मन से उसका परिणाम देखने लगे।

अचानक आग बुझ गई। उसके शील के प्रभाव से अग्नि के स्थान पर निर्मल शीतल जल हो गया,मानो धरती को भेदकर ही यह वापिका पाताल से निकली हो। जल मे कमल खिल रहे है। वहाँ न अग्नि रही, न ईधन। वहाँ तो जल मे झाग उठने लगे, भवर पडने लगे। जैसे समुद्र मे गर्जन होता है, इस प्रकार उस वापी मे घोर शब्द होने लगा,जल उछल कर बढने लगा। पहले घुटने तक आया, फिर छाती तक आया। फिर सिर के ऊपर होकर पानी चलने लगा। लोग डूबने लगे। तब सब आर्तवाणी मे पुकारने लगे—'हे माता ! हे महासाध्वी ! हमारी रक्षा करो, हमे बचाओ।' जनता की इस विह्वल पुकार पर धीरे-धीरे जल रुका, फिर कम होता गया और सिमट कर तालाब बन गया। उसके मध्य मे एक सहस्र दल कमल खिल रहा था। उस कमल के बीच मे रत्नमयी सिहासन पर सीता विराजमान थी। देवागनाये सेवा कर रही थी। अनेक देवो ने आकर सीता के चरणों पर पुष्प चढाये। आकाश मे सीता के ऊपर पुष्पवर्षा होने लगी। देव और विद्याधर 'सीता सती है' इस प्रकार चिल्लाने लगे, विद्याधर आकाश मे नाचने लगे। लवण और अकुश जल पारकर सीता के पास गये और उसके आजू-बाजू बैठ गये। राम भी विद्याधरो के साथ सीता के निकट पहुँच कर कहने लगे-देवी ! उठो, चलो घर चले। मेरे अपराधो को तुम क्षमा करो। सारे ससार मे तुम सती ही नही, सतियो में भी प्रधान हो। मेरे प्राणो की रक्षा तुम्हारे ही आधीन है। आठ हजार रानियो मे तुम अपना पूर्व का प्रमुख पद सभालो।' सीता ने उत्तर दिया—मुझे अब भोगो से प्रयोजन नही है। अब तो मै ऐसा उपाय करूंगी, जिससे मेरा नारी-जन्म सफल हो। नाथ ! आपके साथ मैने अनेक सुख भोगे, अब उनमे मेरा जी ऊब गया है।' इस प्रकार कहकर सीता ने अपने हाथो से अपने बाल उपाड लिये और उन्हे राम के हाथो पर रख दिया। राम उन सुकोमल सुगन्धित बालो को देखकर मूछित होकर गिर पडे। लोग जब तक उन्हे होश में लाने की चेष्टा करते रहे, तब तक सीता ने पृथ्वीमती आर्यिका के पास दीक्षा लेली और आर्यिकाव्रत धारण कर महेन्द्र उद्यान मे केवली भगवान के निकट पहुँची।

राम को होश आया तो सीता को न देखकर उन्हे बडा शोक हुआ और सीता को देखते हुए वे सकलभूषण केवली भगवान की सभा मे जा पहुँचे। भगवान अशोक वृक्ष के नीचे सिहासन पर विराजमान थे, दिव्य छत्र उन पर लगे हुए थे। चमर ढुर रहे थे। आठ प्रातिहार्य से सम्पन्न थे। चारो ओर देव, मनुष्य और तिर्यच बैठे हुए थे। रामचन्द्र जी ने वहाँ पहुचकर अष्ट द्रव्य से भगवान की पूजा की और मनुष्यो के भाग में बैठ गये। लक्ष्मण आदि अन्य लोग भी उसी प्रकार भगवान की स्तुति पूजा कर राम के साथ ही बैठ गये। सबने भगवान का कल्याणकारी उपदेश सुना।

केवली भगवान का उपदेश सुनकर अनेक लोगों ने संसार विरक्त होकर मुनि दीक्षा लेली। सेनापति कृतान्तवक्त्र भी मुनि बन गया और तपस्या करके स्वर्ग में देव हुआ।

सीता ने वासठ वर्ष तक घोर तप किया और अन्त में सन्यासपूर्वक मरण करके सोलहवे स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई।

अपनी स्त्रियो के प्रति भामण्डल की आसक्ति बहुत बढ़ गई। वह निरन्तर स्त्रियो के साथ क्रीड़ा और भोग किया करता था। राम-लक्ष्मण का राज्य निष्कटक हो गया था। इसलिए उनकी ओर से भी अब युद्ध का निमन्त्रण नही आता था। उसके भी शत्रु नही रहे थे। इसलिये वह आनन्द के साथ अपना काल-यापन कर रहा था। एक दिन अपनी पुष्पवाटिका मे वज्राक मुनि को आहार-दान देकर वह महल के ऊपर बैठा विचार कर रहा था—ये भोग क्षणभगुर हैं, इसलिये इनका भोग अधिक से अधिक कर लेना चाहिये। न जाने कब बुढापा आ जाय और ये भोग भोगने योग्य अवस्था न रहे। अब मै भोग भी भोगूगा और शत्रुओ को परास्त कर उत्तर और दक्षिण दोनो श्रेणियो का राज्य करूँगा। भोगो मे पाप तो है, किन्तु क्या हुआ। जब बुढापा आयेगा और भोग भोगने योग्य नही रहूँगा, तब मैं मुनि-दीक्षा ले लूँगा और उन पापो का भी नाश कर डालूंगा।

दीर्घसूत्री भामण्डल का करुण निधन

वह इस प्रकार बैठा-बैठा न जाने कितने मन के कुलावे बाध रहा था। तभी अकस्मात् बिजली गिरी और भामण्डल उसी मे मर गया। इसीलिये तो आचार्यो ने कहा है—दीर्घसूत्री विनश्यति।

लक्ष्मण के पुत्र, राम के पुत्र लव और अकुश का उत्कर्ष सहन नही कर सके। फलत उन्होने मुनि बनना ही उचित समझा। हनुमान भी एक दिन आकाश मे तारे को टूटता हुआ देखकर विचार करने लगे कि ससार के भोग, यह देह और जीवन भी इसी प्रकार अस्थिर है, क्षणभगुर है। इन पर क्या विश्वास किया जाय और क्या इतराना। या सोचकर वे भी मुनि बन गये और तपस्या करके अन्त मे तुँगीगिरि से मोक्ष चले गये।

राम का वैराग्य और मोक्ष-गमन

एक दिन सौधर्म स्वर्ग मे इन्द्र देवो की सभा मे शास्त्र चर्चा करते हुए कहने लगे—तुम्हे देव पर्याय पुण्यो से प्राप्त हुई है। इसको भोगो में नही गवा देना चहिये। यदि यहाँ भगवान की भक्ति और धर्म की आराधना मे मन लगाओगे तो इसके बाद तुम्हे मनुष्य जन्म प्राप्त हो सकता है। तब वहाँ मुक्ति की साधना की जा सकती है।

तब एक देव बोला—देवराज ! स्वर्ग मे आकर सब ऐसा ही कहते है, किन्तु जब मनुष्य-जन्म मिल जाता है तो सब भूल जाते है। देखिये न, राम का जीव पूर्व जन्म मे जब ब्रह्म स्वर्ग का इन्द्र था, तब वह भी ऐसी ही वैराग्यभरी चर्चा किया करता था, किन्तु अब राम लक्ष्मण के मोह मे फँसे फँस रहे है।' तब देवराज इन्द्र बोले—अनुराग का बन्धन होता ही ऐसा है। राम और लक्ष्मण का भ्रातृ-स्नेह अन्यत्र मिलना कठिन है। इन्द्र सभा समाप्त कर उठ गये।

तब दो देवो ने सोचा—चलकर देखे तो सही, दोनो भाइयो मे कैसा स्नेह है। देव अयोध्या मे लक्ष्मण के महल में पहुँचे। उस समय वे बैठे हुये मुँह धो रहे थे। देवो ने राम के महल मे जाकर रुदन का कुहराम मचा दिया और ऐसी माया फैलाई कि मत्री, द्वारपाल आदि लक्ष्मण के पास आकर कहने लगे — 'देव ! अनर्थ हो गया।' लक्ष्मण बोले—'क्या हुआ ?' किन्तु किसी के मुख से वचन नही निकला, आँखो से आसुओ की धार बहती रही। बडी कठिनाई से इतना ही निकल पाया—'देव ! राम हमको अनाथ कर गये।' लक्ष्मण ने ये शब्द क्या सुने, मानो वज्रपात हो गया। एकदम उनके मुख से 'हाय' निकला और वे निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़े। देवो को अपने अविवेकपूर्ण कृत्य पर बड़ा पश्चाताप हुआ और दुखित मन से वे वहाँ से चले गये।

लक्ष्मण की मृत्यु होते ही महल में भयानक क्रन्दन शुरु हो गया। लक्ष्मण की रानियाँ लक्ष्मण की मृत देह को घेरकर विलाप करने लगी। तब किसी ने जाकर रामचन्द्र जी को दुःसवाद दिया। राम दौडे आये। रानियाँ उनके आते ही एक ओर हट गई। राम ने आते ही लक्ष्मण को गोद में उठा लिया और प्रलाप करने लगे—कौन कहता है, मेरा भाई मर गया है, वह तो सो रहा है। फिर लक्ष्मण से कहने लगे—वत्स ! तू तो कभी ऐसा सोता नही था।

आज तू ऐसा क्यों सो गया है कि जगाने पर भी नही जागता। अच्छा, अब समझा, तू मुझसे रूठ गया है किन्तु बता तो सही, क्यो रूठ गया है। इस प्रकार कहकर वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। वे बार-बार होश मे आते और लक्ष्मण से नाना प्रकार की बाते करने लगते, कभी उसके मुख मे भोजन देते, कभी दूध पिलाते और फिर बार-बार बेहोश हो जाते। किन्तु लक्ष्मण को एक क्षण को भी दूसरे को नही छूने देते। उन्हे किसी पर भी विश्वास नहीं था, न जाने ये लोग मेरे लक्ष्मण को क्या कर दे। वह रूठ गया है मुझसे, उसे मैं ही मनाऊँगा।

रुदन सुनकर सारा परिवार वहाँ एकत्रित हो गया। 'लवण और अकुश भी आये। उन्होने मृत लक्ष्मण को देखा और मन में सोचने लगे—ये लक्ष्मण नारायण थे, तीन खण्ड के अधिपति थे, कोई इनको जीतने में समर्थ नही था। किन्तु जब ऐसे महापुरुषो की भी मृत्यु होती है तो हम जैसो की तो बात ही क्या है। इस प्रकार विचार कर वे ससार, शरीर और भोगो से विरक्त हो गये और पिता की आज्ञा लेकर महेन्द्र वन में पहुँचे और वहाँ अमृतस्वर मुनि के पास दीक्षा लेकर मुनि बन गये तथा घोर तपस्या करके पावागिरि से मुक्त हो गये।

लक्ष्मण की मृत्यु का सवाद पाकर विभीषण, सुग्रीव आदि सभी राजा आये। जब लक्ष्मण की लाश को छाती से चिपटाये हुये तथा निरर्थक प्रलाप करते हुए राम को देखा तो सभी बहुत दुखित हुए। तब विभीषण ने राम को समझाया—देव! यह रोना छोडिये। ससार का स्वभाव ही ऐसा है। जो यहाँ जन्म लेता है, वह मरता अवश्य है। अत वीर लक्ष्मण की मृत देह का संस्कार करिये।' राम यह सुनकर क्रुद्ध होकर बोले—'आप लोग अपने पिता पुत्र का सस्कार करिये। मेरा भाई लक्ष्मण तो मुझसे रूठकर सो गया है। क्रोध कम होने पर वह अपने आप उठ बैठेगा।' इस तरह कहकर वे लक्ष्मण से कहने लगे—'भैया लक्ष्मण, उठ। इन दुष्टो के बीच से हम कही अन्यत्र चले चलेगे। ये दुष्ट विद्याधर हमारा अनिष्ट करने पर उतारू है।' इस तरह कहकर लक्ष्मण की लाश को लेकर रामचन्द्र जी चल दिये और इधर-उधर घूमने लगे। उनकी रक्षा के लिये विद्याधर लोग भी उनके पीछे घूमने लगे।

इस तरह कुछ दिन बीत गये। तो शत्रुओ ने देखा—इस समय लक्ष्मण मर गया है, राम भाई के शोक में पागल हो रहे है, लव और कुश दीक्षा ले गये है। अत अपने पिताओ का बदला लेने का बडा अच्छा अवसर है। यों सोचकर इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, खरदूषण आदि के पुत्रो ने सेना सजाकर अयोध्या पर चढाई कर दी। शत्रु का आक्रमण सुनकर राम लक्ष्मण की लाश को कन्धे से चिपटा कर धनुष उठा कर चल दिये। शोकसतप्त राजा भी उनकी सहायता करने लगे। बलभद्र राम पर चारो ओर से आई हुई विपत्ति देखकर जटायु और कृतान्तवक्त्र के जीव—जो चौथे स्वर्ग मे देव हुए थे—उन्होने आपस मे परामर्श किया। कृतान्तवक्त्र के जीव ने जटायु के जीव से कहा—लक्ष्मण की मृत्यु हो गई है। हमारे पूर्वजन्म के स्वामी राम शोक में पागल हो गये है। शत्रु नगर पर अधिकार करने चले है। ऐसे समय मे हमे उनकी सहायता करनी चाहिए। तुम जटायु पक्षी थे और तुम्हे उन्होने ही मरते समय णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से तुम देव बने हो। मै उनका कृतान्तवक्त्र सेनापति था। इस तरह कहकर कृतान्तवक्त्र का जीव देव दैत्य का रूप धारण कर शत्रुओ से युद्ध करने लगा। वह पर्वतो को उखाड कर शत्रुओं पर फेंकने लगा। शत्रु सेना डरकर भाग गई।

शत्रुओ को परास्त कर उन दोनो ने राम को प्रतिबोध देने का निश्चय किया। कृतान्तवक्त्र का जीव राम के सामने वृक्ष का सूखा ठूँठ बनकर खडा हो गया और जटायु का जीव उसे पानी से सीचने लगा। यह देखकर राम ने कहा—'अरे मूर्ख! इस सूखे ठूठ को तू क्यो सीच रहा है। इससे क्या तुझे फल मिल जायेगे।' उत्तर मे जटायु के जीव ने कहा—'दूसरो को उपदेश देने वाले तो बहुत है, किन्तु खुद अपनी ओर कोई नही देखता। आप ही बताइये, आप मुर्दे को छह माह से ढोते फिर रहे है, वह क्या जी जायगा।' यह सुनकर राम बोले—मूर्ख और दुष्ट आदमियो के हित की बात कहो, तो वह भी उन्हे बुरी लगती है। अत. चुप रहना ही ठीक है।

इस तरह कहकर राम आगे बढ़े तो देखा—एक आदमी पत्थर पर बीज बो रहा है और दूसरा आदमी घी के वास्ते जल और बालू मथ रहा है। राम ने उन दोनो से कहा—'पागलो! कही पत्थर से अकुर निकलते है और जल या बालू से घी निकलता है? व्यर्थ क्यो महनत करते हो।' तब कृतान्तवक्त्र के जीव ने कहा—'तब आप ही बताइये आप क्यो मृतक शरीर को लिये फिर रहे हैं, क्या वह उससे जीवित हो जायगा?'

वे दोनो इधर बात कर ही रहे थे, तब तक जटायु का जीव किसी लाश को कन्धे पर रक्खे उससे बातचीत करता हुआ राम के आगे मे निकला। राम ने उससे पूछा—'तू मुर्दे को क्यो लादे हुए है और उससे सुख-दुख की बात करने से तुझे क्या लाभ होगा?' तब जटायु के जीव ने उनसे कहा—'तब आपने भी तो अपने भाई की लाश को लाद रक्खा है। आपको ही उससे बातचीत करने से क्या मिल जायगा?' राम ने जब यह सुना तो उन्हे होश आया। वे बार-बार लक्ष्मण के मुँह की ओर ताकने लगे। जब देखा कि लक्ष्मण का शरीर प्राणरहित है तो उन्हे संसार की अनित्यता समझ कर वैराग्य हो गया। वे सोचने लगे—ससार मे कौन किसकी माता और कौन भाई है! यह यौवन सदा किसका रहा है? सब कुछ विनाशीक है। इन सबसे सम्बन्ध तोड लेना ही श्रेयस्कर है। राम को विरक्त जानकर दोनो देव प्रगट हुए और अपना परिचय देकर बोले— हम दोनो चौथे स्वर्ग मे देव हुए है। आपको दुखी जानकर समझाने आये थे।' राम के कहने से सुग्रीवादि ने चिता बनाकर लक्ष्मण की देह का दाह-सस्कार किया। स्नानादि से पवित्र होकर राम ने शत्रुघ्न का राज्याभिषेक करना चाहा, किन्तु उसने स्वीकार न करके दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की। तब राम ने लवणाकुश के पुत्र अनगलवण को राज्य का अधिपति बनाया और दीक्षा लेने वन को चल दिये।

वन मे जाकर चारणऋद्धिधारी अवधिज्ञानी मुनिसुव्रत से राम ने शत्रुघ्न सहित मुनिदीक्षा ले ली। भूषण वस्त्र और सिर के केश उखाड कर फेंक दिये। राम की यह दशा देखकर खडे हुए लोगो की आँखो से आँसुओ की धारा बह निकली। राम के साथ विभीषण, सुग्रीव, नल, नील, ऋव्य, विराधित आदि अनेक लोगो ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। अनेक रानिया गृह त्याग कर आर्यिका हो गई।

कुछ दिनो पश्चात् राम गुरु से आज्ञा लेकर एकलविहारी हो गये। वे पाँच दिनों तक उपवास करने के बाद एक नगर में पहुँचे तो उनके सुन्दर रूप को देखकर अनेक स्त्रियाँ काम से व्याकुल होकर नाना चेष्टाये करने लगी। राम अन्तराय समझकर लौट आये और निश्चय कर लिया कि अब मै आहार के लिये नगर मे नही जाया करूँगा। इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए वे अनेक देशो मे विहार करते हुए कोटिशिला पहुँचे और नासाग्र दृष्टि से ध्यान करने बैठ गये।

स्वर्ग में सीता के जीव ने अवधिज्ञान से राम का मुनि होना देखकर विचार किया कि राम को किस प्रकार तपस्या से विचलित करूँ जिससे वे इसी स्वर्ग में आवे और हम दोनो साथ-साथ रहे। इस तरह विचार कर वह प्रतीन्द्र राम के पास गया और सीता का रूप बनाकर अनेक हाव-भाव करके नाना प्रकार की चेष्टाये करने लगा। किन्तु रामचन्द्रजी ध्यान से विचलित नही हुए। क्षपक श्रेणी आरोहण करके उन्होने उसी समय घातिया कर्मो का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। माघ शुक्ला द्वादशी को रात्रि के पिछले पहर में वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हन्त भगवान बन गये। चारो प्रकार के देवो और इन्द्रो ने मिलकर भगवान राम का ज्ञानोत्सव मनाया और भगवान का उपदेश हुआ।

भगवान राम अनेक देशो में विहार करते हुए तुगीगिरि पहुँचे और योगनिरोध कर शेष अघातिया कर्मो का भी नाश करके परम पद मोक्ष को प्राप्त किया। राम सिद्ध भगवान बन गये। अब उनका ससार-भ्रमण, जन्म-जरा-मृत्यु सब छूट गये। वे कृत-कृत्य हो गये। ससार के सम्पूर्ण दुखो से वे परे हो गये।

भगवान राम के इस पावन जीवन-चरित को जो भव्यजन भक्ति भाव से पढते है और उन जैसा ही आदर्श जीवन बनाने का प्रयत्न करते है, वे भी एक दिन अवश्य भगवान बनगे।

बोलो भगवान रामचन्द्र की जय!

त्रयोविंशतितम परिच्छेद

नारद, वसु और पर्वत का संवाद—

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के बाद उनका पुत्र सुव्रत राजसिंहासन का अधिकारी हुआ। यथासमय वह अपने पुत्र दक्ष को राज्य-भार सोप कर अपने पिता भगवान मुनिसुव्रतनाथ के पास दीक्षित हो गया और तपस्या द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया। राजा दक्ष की रानी इला से ऐलेय नामक पुत्र हुआ।

हरिवंश की परम्परा में वसु

उसके बाद मनोहरी नामक पुत्री हुई। जब पुत्री यौवन को प्राप्त हुई तो उसका सौन्दर्य और भी निखर आया। दक्ष अपनी पुत्री के ऊपर ही मोहित हो गया। एक दिन उसने राज्य-सभा मे उपस्थित प्रजाजनो से पूछा—'यदि राज्य मे अश्व, गज, स्त्री आदि कोई वस्तु अनर्घ्य हो और वह प्रजा के योग्य न हो तो राजा उसका अधिकारी हो सकता है या नही ?' प्रजाजनो ने उत्तर दिया—'देव ! राजा अवश्य ही ऐसी वस्तु का अधिकारी है।' राजा बोला—'मै आप लोगों की सम्मति के अनुसार ही करूँगा।'

इस प्रकार प्रजाजनो का भ्रमित कर दक्ष ने अपनी पुत्री मनोहरी के साथ विवाह कर लिया। इस अनैतिक कृत्य से रुष्ट होकर रानी इला अपने पुत्र और अनेक सामन्तो के साथ चली गई और इलावर्धन नाम का नगर बसाकर रहने लगी। ऐलेय को वहाँ का राजा बनाया। इलावर्धन नगर अग देश मे था। बाद मे ऐलेय ने ताम्रलिप्ति नगर बसाया। फिर वह दिग्विजय करता हुआ नर्मदा तट पर आया। वहाँ उसने माहिष्मती नामक नगर बसाया और वही अपनी राजधानी बना कर राज्य करने लगा।

ऐलेय के बाद उसका पुत्र कुणिम राजगद्दी पर बैठा। उसने विदर्भ देश मे बरदा नदी के तट पर कुण्डिन नामक एक सुन्दर नगर बसाया। कुणिम के पश्चात् उसका पुत्र पुलोम राज्य का अधिकारी हुआ। उसने अपने नाम पर पुलोम नगर बसाया। पुलोम के बाद उसके दो पुत्र पौलोम और चरम राजा हुए। उन्होंने रेवा नदी के तट पर इन्द्रपुर नगर बसाया तथा चरम ने जयन्ती और वनवास्य नामक दो नगर बसाये। पौलोम के महीदत्त और चरम के संजय नामक पुत्र हुआ। महीदत्त ने कल्पपुर बसाया। उसके दो पुत्र हुए—अरिष्टनेमि और मत्स्य। मत्स्य दिग्विजय करता हुआ भद्रपुर और हस्तिनापुर को जीतकर हस्तिनापुर को अपनी राजधानी बनाकर रहने लगा। उसके अयोधन आदि सौ प्रतापी पुत्र हुए। फिर अयोधन राजा बना। उसके मूल, मूल के शाल, शाल के सूर्य नामक पुत्र हुआ। सूर्य ने शुभ्रपुर नगर बसाया। सूर्य के अमर नामक पुत्र हुआ। उसने वज्र नामक नगर बसाया। अमर के देवदत्त, देवदत्त के हरिषेण, हरिषेण के नभसेन, नभसेन के शङ्ख, शङ्ख के भद्र और भद्र के अभिचन्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अभिचन्द्र ने विन्ध्याचल के ऊपर चेदिराष्ट्र की स्थापना की तथा शुक्तिमती नदी के किनारे शुक्तिमती नामक नगरी बसाई। अभिचन्द्र का विवाह उग्रवंश की राजकन्या वसुमती से हुआ। उससे वसु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

हम वसु-नारद और पर्वत के उपाख्यान द्वारा यह बतावेगे कि किस प्रकार पर्वत ने 'अजैर्यष्टव्य' इसका अर्थ 'बकरो के द्वारा यज्ञ करना चाहिये' किया, जबकि नारद इसका अर्थ यह बताता था कि अज अर्थात् जो पैदा न हो सके ऐसे धान्य से यज्ञ करना चाहिए और इन दोनो के विवाद का फैसला राजा वसु ने

प्राचीन काल में यज्ञों का रूप

पर्वत के पक्ष में दिया, जिससे ससार मे यज्ञो मे पशुओ का होम होने लगा। इससे पहले हम यहाँ सक्षेप में वैदिक साहित्य के आधार पर यह बताना आवश्यक समझते है कि प्राचीन काल

में यज्ञो का क्या रूप था। इस विवरण से यह भी ज्ञात हो सकेगा कि यज्ञो के रूप का किस प्रकार क्रमिक विकास हुआ।

प्राचीन काल मे—सभवत उस काल में जब वैदिक आर्य भारत मे आये थे उससे पूर्व काल मे—भारत मे ज्ञान यज्ञ का प्रचार था। इस बात का समर्थन वेदो से भी होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद मे इसके समर्थक अनेक मत्र आये है।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ॥
तेहनाकं महिमानः स चन्त यत्रपूर्वे साध्या सन्ति देवाः ॥

—ऋग्वेद म० १ सू० १६४/५०, अथर्ववेद का० ७ सू० ५/१

अर्थात् पूर्व समय मे देवो ने ज्ञान से यज्ञ किया क्योकि प्राचीन समय का यही धर्म था। उस ज्ञान-यज्ञ की महिमा स्वर्ग मे जहाँ पहले साधारण देव रहते थे पहुँची।

अथर्ववेद मे आगे लिखा है - वह ज्ञान यज्ञ यहाँ (भारत मे) इतना उन्नत हुआ कि वह देवताओ का अधिपति बन गया। इसके पश्चात् यहाँ—

यत पुरुषेण हविषा यज्ञ देवा अतन्वत ।
अस्तिनु तस्मादो जीयो यद् विदव्येने जिरे ॥ ४ ॥

—जब यहाँ देवो ने हवि रूप द्रव्य यज्ञ फैलाया तो भी यहाँ ज्ञान यज्ञ ही मुख्य था। परन्तु हवि यज्ञ के अर्थ मूर्ख देवो ने कुछ और ही समझ लिये। इसलिये—

मुग्धा देवा उत शुनाथ जन्तोत गोरेङ्गै पुरुधायजन्त ।
य इम यज्ञ मनसाचिकेत प्राणो वोचस्तमिहेह ब्रव. ॥ ५ ॥

—उन्होने पशुओ से यज्ञ करना आरम्भ किया। यही तक नही, अपितु गौ के अगो से भी यज्ञ करने लगे।

यजुर्वेद अ० ३१ म० १४ और १५ तथा उसका महीधर भाष्य भी इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः॥'

इस मत्र का भाष्य करते हुए भाष्यकार श्री महीधर लिखते है—

'यज्ञेन मानसेन सकल्पेन यज्ञेन यज्ञं यज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त ।'

अर्थात् देवो ने मानस सकल्प रूप यज्ञ से यज्ञस्वरूप प्रजापति की पूजा की।

'तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रत ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ यजु० अ० ३१ म० ६ ॥

इसका महीधर भाष्य—यज्ञ यज्ञ साधनभूतं त पुरुष वर्हिषि मानसे यज्ञे (प्रौक्षत्) प्रौक्षितवन्त। तेन पुरुषरूपेण यज्ञेन मानस याग निष्पादितवन्त. के ते देवा, ये साध्या सृष्टि साधन योग्याः प्रजापति प्रभृतय। ये च तदनुकूला ऋषय।

अर्थात् यज्ञ साधनभूत पुरुप रूपी यज्ञ से देवो ने मानस यज्ञ निष्पन्न किया। वे देव प्रजापति आदि तथा उनके अनुकूल ऋषि आदि थे।

गीता मे भी ज्ञान योग की प्रशसा करते हुए कहा है कि ज्ञान योग से सम्पूर्ण कर्मों का विनाश हो जाता है और ज्ञानयोग के समान अन्य कोई योग नही है।

ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥ ४ । ३७
नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते ॥ ४ । ३८

उपर्युक्त विवरण पढकर यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक आर्यों से पहले भारत मे ज्ञान यज्ञ का प्रचार था। वैदिक आर्यों ने यहाँ आने पर द्रव्य यज्ञ फैलाया। अपने प्रारम्भिक काल में यह द्रव्य यज्ञ हिंसा रहित था। धीरे-धीरे हवि का अर्थ वदल कर उन्होने पशुओं से यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। फिर तो यज्ञो मे हिंसा का विस्तार बाध तोडकर बढता ही गया और एक समय ऐसा भी आया, जब गोमेध, अश्वमेध आदि से बढकर नरमेध

भी होने लगे।

यजुर्वेद अ० ३१ और मन्त्र ६,१४ तथा १५ तथा उसके भाष्य से एक बात पर विशेष रूप से प्रकाश पडता है कि मानस यज्ञ के प्रस्तोता प्रजापति तथा उनके अनुकूल चलने वाले अर्थात् उनके अनुयायी ऋषि थे। तथा देव अर्थात् ऋषि उस मानस यज्ञ से प्रजापति की पूजा करते थे। ये प्रजापति आद्यतीर्थंकर ऋषभदेव से अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नही थे। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भू स्तोत्र में ऋषभदेव का एक नाम प्रजापति भी बतलाया है—'प्रजापतिर्य प्रथमं जिजीविषु शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा ।

मूर्ख देवो ने हविरूप यज्ञ का अर्थ न समझकर यज्ञो से हिसा का जो विधान किया, उसका भी इतिहास मिलता है। इस सम्बन्ध मे हिन्दू पुराणो जैसे मत्स्य पुराण (मन्वन्तरानुकल्प-देवर्षि-सवाद नामक अध्याय १४६) तथा महाभारत (शान्ति पर्व-अध्याय ३३७ तथा अश्वमेध पर्व अध्याय ९१) तथा जैन शास्त्रो—जैसे हरिवश पुराण-सर्ग १७, पद्मचरित पर्व ११, उत्तर पुराण पर्व ६७, भाव प्राभृत ४५, त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित पर्व ७, सर्ग २७, वसुदेव हिण्डी प्रथम खण्ड पृ० १८९-१९१ तथा द्वितीय खण्ड पृ० ३५७ आदि मे प्राय समान विवरण उपलब्ध होता है। यदि अन्तर भी है तो साधारण सा ही। जिस प्रकार जैन शास्त्रो मे वसु आदि सम्बन्धी उपाख्यान में थोडा सा अन्तर है, इसी प्रकार हिन्दू पुराणो के उपाख्यानो मे साधारण सा अन्तर है। किन्तु हमें यहाँ अन्तर की चर्चा नही करनी है, बल्कि समानता की चर्चा करनी है। अनेकता मे एकता का अनुसधान करना ही हमारा लक्ष्य है।

जैन शास्त्रो का कथानक इस प्रकार है—

राजा अभिचन्द्र की राजधानी मे क्षीरकदम्ब नाम का एक विद्वान् रहता था। उसकी स्त्री का नाम स्वस्ति मती और पुत्र का नाम पर्वत था। क्षीरकदम्ब के पास राजा अभिचन्द्र का पुत्र वसु, नारद और पर्वत पढ़ते थे। एक दिन एक आकाशचारी निमित्तज्ञानी मुनि कहते जा रहे थे कि इन चार व्यक्तियो मे पाप के कारण दो तो नरक मे जायेगे और दो ऊर्ध्वगति प्राप्त करेगे। ये वचन सुनकर उपाध्याय क्षीरकदम्ब को बड़ी चिन्ता हुई। वे समझ गये कि इन तीनो शिष्यो मे वसु और पर्वत ये दोनो अवश्य अधोगति को जायेगे और नारद उच्च गति प्राप्त करेगा।

एक वर्ष बाद शिष्यो का शिक्षण समाप्त हुआ। तीनो ही शिष्य नाना विषयो के प्रकाण्ड विद्वान् हो गये। वसु तो राजमहलो मे चला गया। उसे यौवनसम्पन्न और योग्य जानकर उसके पिता अभिचन्द्र ने (कही-कही इनका नाम विश्वावसु भी आता है) उसका विवाह कर दिया और उसका राज्याभिषेक करके उन्होने दीक्षा लेली। वसु राजा हो गया। उसने अपना सिहासन स्फटिक के स्तम्भो के ऊपर बनवाया। वह सिहासन ऐसा प्रतीत होता था मानो वह आकाश मे अधर रक्खा हो। इससे जनता मे यह प्रसिद्ध हो गया कि राजा वसु के सत्य के प्रभाव से उसका सिहासन आकाश मे अधर स्थित रहता है। इसी कारण उसका नाम उपरिचर वसु के रूप मे विख्यात हो गया।

नारद कुछ दिनो तक उपाध्याय के घर ही ठहरा रहा। एक दिन नारद और पर्वत दोनो समिधा और पुष्प लाने बन मे गये हुए थे। वहाँ उन्होने देखा कि कुछ मयूर नदी का जल पीकर गये है। उनका मार्ग देखकर नारद ने पर्वत से कहा 'वयस्य ! ये जो मयूर गए है उन मयूरो मे एक तो मयूर है और सात मयूरी है। पर्वत बोला—'गलत बात है। मै शर्त लगाता हूँ कि तुम्हारा अनुमान मिथ्या है।' आगे बढने पर मयूरो का झुण्ड मिला। पर्वत को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि नारद ने जो कहा था, वह सत्य निकला। वे लोग कुछ दूर ही गये होगे कि नारद बोला—'मित्र ! यहाँ से अभी एक हथिनी गई है, वह बाई आँख से अन्धी है। पर्वत हँस कर बोला—'तुम्हारा एक अनुमान घुणाक्षर न्याय से सत्य निकल गया तो तुम समझते हो तुम्हारे सारे अनुमान सत्य होगे।' पर्वत यो कहकर नारद की बात को ईर्ष्यावश मिथ्या सिद्ध करने के लिए उसी मार्ग का अनुसरण करता हुआ आगे बढा तो उसे एक हथिनी वृक्ष की शीतल छाया मे बैठी हुई दिखाई पड़ी। उसे देखकर पर्वत को विश्वास करना पडा कि नारद ने जो कहा था वह सत्य है।

इन बातों से पर्वत को बडा दुःख हुआ और वह वापिस आने पर अपनी माता से सम्पूर्ण घटना सुना कर बोला—'पिता जी नारद को जो विद्याये सिखाते हैं मुझे नही बताते।' ब्राह्मणी ने उपाध्याय के आने पर पुत्र द्वारा कही हुई सारी बाते सुन कर उनसे यही शिकायत की। सुनकर उपाध्याय बोले—'देवी! मैं तो सबको एक सी शिक्षा देता हूँ। किन्तु सबको बुद्धि भिन्न-भिन्न होती है। नारद कुशाग्र बुद्धि है किन्तु तुम्हारा पुत्र सदा से ही मन्द बुद्धि है। तुम व्यर्थ ही नारद से ईर्ष्या न करो।' यों कहकर उन्होने नारद को बुलवाया और उससे पूछा—'वत्स ! आज तुम्हारा पर्वत से वन मे क्या विवाद हो गया था?' नारद विनयपूर्वक बोला—'गुरुदेव! मेरा वयस्य पर्वत से विवाद तो कुछ नही हुआ। हाँ, मैं पर्वत से वन मे विनोद-वार्ता करता हुआ जा रहा था। उस समय जल पीकर मोरो का झुण्ड लौट रहा था। उस झुण्ड मे जो मयूर था, वह पानी मे पूँछ के चन्द्रक भीगकर भारी न हो जायँ, इससे पीछे की ओर पैर करके और मुह आगे की ओर करके लौटा था तथा मयूरियाँ जल से भीग जाने के कारण अपने पख फटकार कर जा रही थी। यह देखकर मैने अनुमान लगाया कि इनमे एक मयूर होगा तथा शेष सात मयूरी। यही बात मैने अपने वयस्य पर्वत से कही थी। आगे चलने पर मैने देखा कि चलते समय हस्तिनी के पैर उसी के मूत्र से भीगे है इससे मैने जाना कि यह हस्तिनी होगी। उसके दाई ओर के वृक्ष और लताएँ टूटी हुई थी। इससे मे समझ गया कि वह बाई आँख से अधी है। उस पर बैठी हुई स्त्री मार्ग की क्लान्ति के कारण उतर कर शीतल छाया में नदी के किनारे लेटी थी। उसके उदर के स्पर्श से भूमि पर जो चिन्ह बन गये थे, उससे मैने अनुमान लगाया कि हथिनी पर सवार स्त्री थी और वह गर्भिणी है। उसकी साड़ी का एक खण्ड किसी झाडी मे उलझा रह गया था। इसे देखकर मैने जाना कि वह श्वेत साडी पहने थी। यह बात अनुमान से मैने पर्वत से कही थी।

उपाध्याय और ब्राह्मणी दोनो नारद की बाते ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। यह सुनकर उपाध्याय बोले-देवी ! इसमें मेरा क्या अपराध है। मैने दोनो को समान भाव से अध्ययन कराया है।' सब बाते सुनकर ब्राह्मणी नारद मे बहुत प्रसन्न हुई।

तब उपाध्याय ने निमित्त ज्ञानी मुनि की कही हुई बात ब्राह्मणी को बताई और दोनो शिष्यो के भावो की परीक्षा करने का निश्चय किया। उपाध्याय ने आटे के दो बकरे बनाकर नारद और पर्वत को सौपते हुए कहा कि ऐसे एकात स्थान मे जाकर जहाँ कोई देखता न हो चन्दन और माला आदि से इसकी पूजा करना और इसे काटकर (कही-कही कान काटकर) शीघ्र ले आओ। पर्वत एक बन मे पहुँचा और एकान्त देखकर वह बकरे को अथवा बकरे के कानो को काटकर वापिस पिता के पास आ गया और अपने पिता से बोला—'तात! आपने जैसा आदेश दिया था, मैंने वैसा ही किया है।' उधर नारद सारे दिन वन मे पर्वत पर घूमता फिरा, किन्तु उसे कोई ऐसा स्थान नही मिला जहाँ कोई देख न रहा हो। वह संध्या समय घर लौटा और बडा म्लान मुख होकर बोला—'गुरुदेव! मुझे कोई ऐसा स्थान नही मिल सका, जहा मुझे कोई देख नहो रहा हो। देवता, सिद्ध भगवान, केवली और स्वय मेरी अन्तरात्मा मेरी हर गति विधि को देख रहे है। दूसरी बात यह है कि शास्त्रो मे नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारो निक्षेपो मे से किसी के द्वारा अभिहित पदार्थो मे हिसा अथवा पापकारी कार्य करने का निषेध है। इसलिए मै आटे के इस बकरे के प्रति हिसा रूप कार्य नही कर सका।'

नारद की बात सुनकर उपाध्याय अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होने नारद की प्रशसा करते हुए कहा—'हे पुत्र! तुमने बहुत विवेकपूर्ण कार्य किया है। फिर वे पर्वत से कहने लगे—'पर्वत ! तूने बड़ा अविवेकपूर्ण कार्य किया है। तुझे कार्य-अकार्य का भी ज्ञान नही है। तू बिलकुल निर्बुद्धि है।

उपाध्याय को निश्चय हो गया कि पर्वत अवश्य ही नरकगामी है और नारद उर्ध्व गति प्राप्त करेगा। उन्होने पर्वत को बहुत कुछ उपदेश दिया, किन्तु ऊसर भूमि मे बीज बोने के समान सब व्यर्थ रहा।

कुछ दिनो पश्चात् नारद अपने नगर को चला गया। उपाध्याय क्षीरकदम्ब ने प्रव्रज्या लेली। उनके स्थान पर पर्वत गुरु-पद पर आसीन हो गया और वह गुरुकुल का सचालन करने लगा।

बहुत दिन बाद नारद अपने वयस्य पर्वत से मिल और गुरुआणी की पाद वन्दना करने के लिए आया। उस समय पर्वत शिष्यो से घिरा हुआ बैठा था और वह शिष्यो को पाठ पढा रहा था। नारद ने पर्वत को अभिवादन

किया, पर्वत ने भी प्रत्यभिवादन करके नारद की अभ्यर्थना की। नारद ने गुरुआणी की पाद-वन्दना की और बैठ गया। पर्वत उस समय 'अजैर्यष्टव्य' इस वेद-वाक्य की व्याख्या कर रहा था। वह इसका अर्थ इस प्रकार कर रहा था 'इस मत्र मे अज शब्द पशु परक है। इसलिए स्वर्ग के इच्छुक द्विजो को बकरे मे यज्ञ करना चाहिए।' नारद ने इस अर्थ पर आपत्ति करते हुए कहा—'वयस्य पर्वत ! तुम यह निन्दनीय व्याख्या क्यो कर रहे हो ? हम दोनो वर्षो तक एक उपाध्याय से पढे है। तुम्हे यह सम्प्रदाय कहाँ से प्राप्त हुआ है। एक ही गुरु के शिष्यो में सम्प्रदाय-भेद नही होता। क्या तुम्हे स्मरण नही है, गुरु जी ने यहाँ अज शब्द का यह अर्थ बताया था कि जिसमे अकुर उत्पन्न होने की शक्ति नष्ट हो गई हो, ऐसा पुराना धान्य अज कहलाता है। ऐसे धान्य से यज्ञ करना चाहिए।' किन्तु पर्वत अपने दुराग्रह का त्याग नही कर सका। बल्कि आवेश मे आकर कहने लगा—'नारद ! यदि इस विषय मे मैं पराजित हो जाऊँ तो अपनी जिव्हा का छेद करवा लूँगा। चलो, कल इसका निर्णय राजा वसु से कराते है। वह भी हमारा सहाध्यायी रह चुका है।'

नारद तो अपने स्थान पर चला गया। पर्वत अपनी माता के निकट पहुँचा और उसने सारा वृत्तान्त सुना दिया। यह सुनकर माता बडी दुखी हुई। वह कहने लगी—'मूर्ख ! यह तूने क्या किया ! नारद का कथन सत्य है। तेरे पिता ने जो अर्थ बताया था, नारद वही कह रहा है। तेरा कहना मिथ्या है।' प्रात काल होने पर वह राजा वसु के घर गई। वसु ने गुरुआणी की वन्दना की, उच्च आसन दिया और आने का कारण पूछा। स्वस्तिमती ने वसु को सारा वृत्तान्त सुनाकर उसे धरोहर रक्खी हुई गुरु-दक्षिणा का स्मरण दिलाया और याचना की—'पुत्र ! यद्यपि तू तत्त्व और अतत्त्व को भली भाँति जानता है, किन्तु तुझे पर्वत के पक्ष का समर्थन करना है और नारद के पक्ष को दूषित ठहराना है।' गुरु-दक्षिणा का स्मरण दिलाया था, अत वसु ने गुरुआणी की बात स्वीकार करली। स्वस्तिमती भी निश्चिन्त होकर घर वापिस आगई।

प्रात काल राजसभा लगी हुई थी। वसु सिहासन पर आसीन था, सामन्त गण यथास्थान बैठे हुए थे। तभी अनेक शिष्यो से परिवृत उपाध्याय पर्वत और सर्व शास्त्रो मे पारङ्गत नारद ने राज-सभा मे प्रवेश किया। उपरिचर वसु को आशीर्वाद देकर नारद और पर्वत अपने पक्षधरो और सहायको के साथ निश्चित स्थान पर बैठ गये। उन दोनो विद्वानो का शास्त्रार्थ सुनने के कुतूहलवश अनेक ब्राह्मण विद्वान और वेदपाठी द्विजगण भी सभा मे पधारे थे। जब सब यथास्थान बैठ गए, तब ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध जनो ने राजा वसु से निवेदन किया—

राजन् ! ये नारद और पर्वत विद्वान् वेद के किसी विषय मे विसवाद होने से आपके पास आये है। आप स्वय विद्वान् है, न्यायासन पर विराजमान है। आपकी अध्यक्षता मे इन विद्वानो के आगे ये दोनो अपने-अपने पक्ष उपस्थित करे और सत्यासत्य एव जय-पराजय का निर्णय आप करे, हमारी यह प्रार्थना है।

वृद्धजनो की प्रार्थना स्वीकार कर राजा वसु ने पर्वत को पूर्व पक्ष उपस्थित करने की घोषणा की। पर्वत ने अत्यन्त गर्व के साथ अपना पक्ष उपस्थित करते हुए कहा—'अजैर्यष्टव्य स्वर्ग कामै ' इस वेद मत्र मे अज शब्द पशु परक है। अज का प्रसिद्ध अर्थ बकरा होता है। अत इस मत्र का अर्थ 'स्वर्ग के इच्छुक द्विजो को बकरे से यज्ञ करना चाहिए' है। घात करते समय पशुओ को दु ख होगा, यह आशका करना ही व्यर्थ है क्यो कि मत्रो के प्रभाव से वध्य पशु को वध होने पर स्वर्ग के सुख प्राप्त होते है।'

इस पक्ष का निराकरण करने के लिए नारद उठा। वह कहने लगा—'सज्जनो ! पर्वत ने जो पक्ष रक्खा है, वह नितान्त दूषित है। वेदो मे शब्दार्थ की व्याख्या अपने अभिप्राय के अनुसार नही होती, गुरु आम्नाय से चली आई व्याख्या ही मान्य होती है। अध्ययन के समान अर्थ-ज्ञान भी गुरु-परम्परा की अपेक्षा रखता है। हमारे पूज्य गुरुदेव ने हम तीनो शिष्यो-वसु, पर्वत और मुझको एक ही अर्थ बताया था, तब विभिन्न शिष्यो का सम्प्रदाय भिन्न कैसे हो सकता है। यहाँ 'अजैर्यष्टव्य' इस मत्र मे अज शब्द ऐसे धान्य का वाचक है, जिसमें उगने की शक्ति नष्ट हो गई हो ऐसे धान्यो से यज्ञ करना चाहिए।

तब शिष्टजनो ने राजा वसु से निवेदन किया—'राजन् ! आपने गुरु-मुख से जो अर्थ सुना हो, वह अर्थ प्रगट कर इस विवाद का निर्णय कीजिए।'

यद्यपि वसु को गुरु-वचनों का अच्छी तरह स्मरण था और वह जानता था कि नारद का पक्ष सत्य है, किन्तु मोहवश वह इस प्रकार कहने लगा—'सभाजनो ! नारद ने जो कहा है, वह बहुत युक्तियुक्त है किन्तु पर्वत ने जो कहा है, वह उपाध्याय द्वारा कहा गया है।

इतना कहते ही वसु का स्फटिकासन पृथ्वी में धस गया और पाताल में जा गिरा। वसु की तत्काल मृत्यु हो गई और वह नरक में उत्पन्न हुआ। असत्यवादी वसु को सब लोगो ने निन्दा की, पर्वत को नगर से अपमानित करके निकाल दिया तथा यथार्थवादी नारद को ब्रह्म रथ पर आरुढ करके उसे नगर मे निकाला और सार्वजनिक सम्मान किया। वसु और पर्वत को असत्य का फल तत्काल मिल गया।

मत्स्य पुराण में यज्ञों के विकास का इतिहास—हिन्दू धर्म मे मान्य 'मत्स्य पुराण' में इस सम्बन्ध में जो कथा दी हुई है, उससे वसु के चरित्र, यज्ञो के प्रारम्भिक रूप और परिवर्तित रूप पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। कथा इस प्रकार है—

'त्रेतायुग के प्रारम्भ मे इन्द्र ने विश्व-युग नामक यज्ञ किया। बहुत से महर्षि उसमें आये। किन्तु जब उन्होंने यज्ञ में पशु-बध होते देखा तो उन्होने उसका घोर विरोध किया। उन्होने स्पष्ट कहा—'नाय धर्मो ह्यधर्मोऽय, न हिंसा धर्म उच्यते।' अर्थात् यह धर्म नही है, यह तो वास्तव मे अधर्म है। हिंसा धर्म नही कहलाता। उन्होने यह भी कहा कि पूर्वकाल मे यज्ञ पुराने धानो से किया जाता रहा है। मनु ने भी ऐसा ही विधान किया है। किन्तु इन्द्र नही माना। इस पर एक विवाद उठ खडा हुआ। अन्त मे इस विवाद का निपटारा कराने के लिए वे चेदि नरेश वसु के पास पहुँचे। उसने विना सोचे विचारे कह दिया कि यज्ञ स्थावर और जगम दोनो प्रकार के प्राणियो से हो सकता है। इस पर ऋषियो ने वसु को शाप दे दिया।

महाभारत में वसु का चरित्र—राजा वसु घोर तपस्या मे लीन थे। इन्द्र को शका हुई कि यदि यह इसी प्रकार तपस्या करता रहा तो यह एक दिन मेरा इन्द्र पद ले लेगा। यह सोच कर इन्द्र उसे तपस्या से विरत करने के लिये वसु के पास आया और उसे चेदि विषय का राज्य दे दिया तथा उसे स्फटिकमय गगनचारी विमान दिया[1]।

वसु उस गगनचारी विमान में आकाश में विहार करने लगा। इस कारण लोक मे वह उपरिचर वसु के नाम से विख्यात होगया। एक बार वसु ने अश्वमेध यज्ञ किया। उस यज्ञ में पशु-वध नही किया गया। बल्कि वन में उत्पन्न होने वाले फलमूलादि का ही हविष्य दिया गया। इसमे देवाधिदेव भगवान उस पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होने यज्ञ मे प्रगट होकर वसु को साक्षात् दर्शन दिये तथा अपने लिये अर्पित हविष्य ग्रहण किया[2]।

एक बार यज्ञ मे दिये जाने वाले हविष्य के सम्बन्ध मे देवताओ और ऋषियो मे विवाद उत्पन्न हो गया। देवगण ऋषियो से कहने लगे—'अजर्यष्टव्यम्' इस श्रुतिवाक्य मे अज का अर्थ बकरा है। इसका आशय यह है कि बकरो द्वारा यज्ञ करना चाहिए।' किन्तु इसका विरोध करते हुए ऋषि बोले—'देवगण ! वैदिक श्रुति का अर्थ यह नही है। इसका अर्थ तो 'बीजो द्वारा यज्ञ करना चाहिये' यह है। अज का अर्थ यहाँ बकरा नही, किन्तु बीज है। अतः बकरे का वध करना उचित नही है। इस सत्य युग मे पशु-वध कैसे किया जा सकता है।'

जिस समय देवताओ और ऋषियो मे यह विवाद चल रहा था, तभी आकाश मे विचरण करते हुए राजा वसु उस स्थान पर पहुँच गये। उनका सहसा आगमन देखकर वे ऋषि देवताओ से बोले—'देवताओ ! ये राजा वसु हम लोगो के सशय को दूर कर देंगे। ये स्वय यज्ञ करने वाले है, सर्वभूतहित-निरत है। ये शास्त्र के विरुद्ध वचन नही कहेंगे।'

दोनों ने राजा वसु से अपने पक्ष कह दिये। तब वसु ने देवताओ के पक्ष का समर्थन करते हुए कहा—'अज का अर्थ बकरा है। अतः बकरे के द्वारा ही यज्ञ करना उचित है।'

१ महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३, श्लोक १-१७
२ महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६, श्लोक १-१३

इतना सुनते ही ऋषि क्रुद्ध होकर कहने लगे—'राजन् ! तुमने यह जानते हुए भी कि यहाँ अज का अर्थ बकरा नही , अन्न है, तुमने देवताओ के पक्ष का समर्थन किया है। अत: तुम आकाश से नीचे गिर जाओ। आज से आकाश में विचरण करने की तुम्हारी शक्ति नष्ट होजाय। हमारे शाप से तुम पृथ्वी को भेद करके पाताल मे प्रवेश करोगे। राजन् ! यदि तुमने वेद और सूत्रो के विरुद्ध वचन बोले हो तो हमारा शाप तुम पर लगेगा। यदि हमने विरुद्ध वचन बोले हो तो हमारा पतन हो।'

ऋषियो के इस प्रकार कहते ही उपरिचर वसु उसी समय आकाश से नीचे आगिरे और भूमि के विवर मे प्रविष्ट होगये।[1]

---

१ महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७, श्लोक १-१७

चतुर्विंशतितम परिच्छेद

भगवान नमिनाथ

पूर्व भव भरत क्षेत्र के वत्स देश में कौशाम्बी नगरी का राजा पार्थिव था। वह इक्ष्वाकु वंशी था। उसके शौर्य की गाथायें सारे देश मे विख्यात थी। शत्रुदल उसके नाम से ही कांपता था। उसकी महारानी सुन्दरी से सिद्धार्थ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। एक दिन मनोहर उद्यान मे परमावधिज्ञान के धारक मुनिराज मुनिवर पधारे। राजा उनके दर्शनो के लिये गया और उनसे धर्म का स्वरूप पूछा। मुनिराज ने धर्म का यथार्थ स्वरूप बतलाया। उसे सुनकर राजा को ससार असार लगने लगा। वह विचार करने लगा–ससार मे प्राणी मरण रूपी मूलधन लेकर मृत्यु का कर्जदार होरहा है और प्रत्येक जन्म में उसका यह कर्ज निरन्तर बढता जारहा, है जिसके कारण वह नाना प्रकार के कष्ट भोग रहा है। जबतक यह प्राणी रत्नत्रय रूपी धन का उपार्जन कर मृत्यु रूपी साहूकार को व्याज सहित ऋण नही चुकाता तब तक इसके दुःखो का अन्त कैसे होसकता है। यह विचार करके उसने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर मुनिराज मुनिवर से प्रव्रज्या ग्रहण करली। सिद्धार्थ न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा।

एक दिन राजा सिद्धार्थ ने अपने पिता पार्थिव मुनिराज के समाधिमरण का समाचार सुना। इस समाचार से उसके मन मे भारी निर्वेद होगया। उस समय मनोहर उद्यान मे महाबल नामक केवली भगवान विराजमान थे। उनका उपदेश सुनकर राजा ने अपने पुत्र श्रीदत्त को राज्य-भार देकर केवली भगवान से दिगम्बर मुनि की दीक्षा लेली। परिणाम विशुद्धि के कारण उसे तत्काल क्षायिक सम्यग्दर्शन होगया। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन करके सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया। फलत: उसे तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। अन्त मे समाधिमरण करके अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अतिशय ऋद्धि का धारक अहमिन्द्र हुआ।

गर्भ कल्याणक—बङ्ग देश मे मिथिला नगरी थी। वहां के शासक इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री, महाराज विजय थे। उनकी महारानी का नाम वप्पिला था। जब उक्त अहमिन्द्र की आयु मे छह मास शेष रह गये तबसे देवो ने इन्द्र की आज्ञा से महाराज विजय के महलो मे रत्नवर्षा प्रारम्भ कर दी। जब अहमिन्द्र की आयु पूर्ण हुई उस दिन अर्थात् आश्विन कृष्णा द्वितीया के दिन आश्विनी नक्षत्र मे रात्रि के पिछले पहर मे सुख निद्रा मे सोई हुई महारानी को तीर्थंकर प्रभु के गर्भावतरण के सूचक सोलह शुभ स्वप्न दिखाई दिये। उसी समय उन्होंने मुख मे प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। तभी अहमिन्द्र के जीव ने महारानी के गर्भ मे अवतार लिया।

स्वप्नो के देखने के पश्चात् महारानी की निद्रा भंग होगई। वे आवश्यक कृत्यो से निवृत्त होकर मगल वस्त्राभूषण धारण करके महाराज के निकट पहुँची और देशावधि ज्ञान के धारक महाराज से देखे हुए स्वप्नों का वर्णन करके उनका फल पूछा। राजा ने विस्तार से स्वप्नो का फल बताकर कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है। उसी समय इन्द्रो और देवो ने आकर तीर्थंकर प्रभु का गर्भकल्याणक महोत्सव किया।

जन्म कल्याणक— वप्पिला महादेवी ने आषाढ कृष्णा दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र के योग मे समस्त लोक के स्वामी महाप्रतापी पुत्र को जन्म दिया। देवो और इन्द्रो ने उसी समय आकर भगवान का जन्म कल्याणक

महोत्सव किया। बालक को सुमेरु पर्वत पर लेजाकर उनका क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया। सौधर्मेन्द्र ने बालक का नाम नमिनाथ रखा।

भगवान नमिनाथ की आयु दस हजार वर्ष की थी। उनका शरीर पन्द्रह धनुष ऊँचा था। शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनका चिन्ह नील कमल था। उनकी आयु के ढाई हजार वर्ष कुमार काल मे व्यतीत हुए। उसके पश्चात् पिता ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। उन्होंने ढाई हजार वर्ष पर्यन्त राज्य शासन किया।

एक दिन आकाश मेघाच्छन्न था। शीतल पवन बह रही थी। मौसम सुहावना था। ऐसे समय भगवान नमिनाथ हाथी पर आरूढ़ होकर वन विहार के लिये निकले। वहाँ आकाश मार्ग से दो देव आये और भगवान को नमस्कार करके हाथ जोड़कर अपना परिचय देते हुए अपने आने का प्रयोजन कहने लगे—

दीक्षा कल्याणक देव ! हम दोनो पूर्व जन्म मे धातकीखण्ड द्वीप मे रहते थे। वहा हमने तपस्या की। फलत हम सौधर्म स्वर्ग मे उत्पन्न हुए। उत्पन्न होने के दूसरे दिन पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित वत्सकावती देश की सुसीमा नगरी मे भगवान अपराजित तीर्थंकर के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा के लिये अन्य देवो के साथ हम दोनो भी गये। वहाँ समवसरण मे प्रश्न हुआ कि इस समय भरत क्षेत्र मे भी क्या कोई तीर्थंकर है ? तब सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान अपराजित ने उत्तर दिया—'बग देश की मिथिला नगरी मे अपराजित स्वर्ग मे अवतरित होकर नमिनाथ हुए है। उन्हे जल्दी ही केवलज्ञान उत्पन्न होगा और वे धर्म तीर्थ की स्थापना करेंगे। इस समय ग्रहस्थ अवस्था मे राज्य लक्ष्मी का भोग कर रहे है।' भगवान के वचन सुनकर कुतूहलवश हम लोग आपके दर्शनो के लिये आये है।'

देवो की बात सुनकर भगवान नगर मे लौट आये। उन्होने अवधिज्ञान से जाना कि अपराजित तीर्थंकर और मेरा जीव पिछले भव मे अपराजित विमान मे देव थे। उन्होंने मनुष्य भव पाकर जन्म-मरण की शृ खला का नाश करने का उद्योग किया, जिसमे वे सफल हुए और उन्हे केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। किन्तु मैं अनादिकाल के सस्कारवश अभी तक राग-द्वेष के इस प्रपच मे पडा हुआ हूँ। मेरा कर्तव्य इस प्रपच को समाप्त करना है। मुझे अब उसी का उद्योग करके शुद्ध आत्म स्वरूप की उपलब्धि करना है।

भगवान के मन से राग की वासना क्षण मात्र मे तिरोहित हो गई और भोगो के प्रति उनके मन में निर्वेद भर उठा। भगवान की वैराग्य-भावना होते ही सारस्वत आदि लौकान्तिक देवो ने आकर भगवान की पूजा और भगवान के विचारो की सराहना की तथा वे अपने स्थान को लौट गये। भगवान ने अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य-भार सौप दिया। तभी देवो और इन्द्रो ने आकर भगवान का दीक्षाभिषेक किया। फिर भगवान उत्तर कुरू नामक पालकी मे आरूढ होकर चैत्रवन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने बेला का नियम लेकर आषाढ कृष्णा दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र मे सायकाल के समय सम्पूर्ण आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके एक हजार राजाओ के साथ जैनेन्द्री दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हे मन पर्यय नामक ज्ञान प्राप्त हो गया।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान पारणा के लिए वीरपुर नामक नगर मे पधारे। वहाँ राजा दत्त ने परमान्न का आहार देकर अक्षय पुण्य का लाभ लिया।

भगवान ग्रामानुग्राम बिहार करते हुए नाना प्रकार के कठोर तप करते रहे। इस प्रकार नौ वर्ष तक उन्होने आत्म-साधना मे बिताये। तब वे बिहार करते हुए अपने दीक्षा-वन मे पहुँचे। वहाँ वे एक वकुल वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ हो गये। यही पर इन्हे मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन सायकाल के समय समस्त लोकालोक के सम्पूर्ण द्रव्यो और पर्यायो का युगपत् ज्ञान करने वाला निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रो और देवो ने उसी समय आकर केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने दिव्य समवसरण की रचना की, जिसमे गन्धकुटी मे सिहासन पर विराजमान होकर भगवान ने जगत् का कल्याण करने वाला उपदेश देकर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। भगवान का उपदेश सुनकर अनेक मनुष्यो ने सकल सयम धारण किया, अनेक मनुष्यो और तिर्यचो ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक मनुष्यो, तिर्यचो और देवो ने सम्यग्दर्शन धारण किया।

भगवान का चतुर्विध संघ—भगवान के चतुर्विध संघ में सुप्रभार्य आदि सत्रह गणधर थे। ४५० मुनि समस्त पूर्वो के ज्ञाता, १२६०० व्रती शिक्षक मुनि, १६०० अवधिज्ञानी, १६०० केवलज्ञानी, १५०० विक्रियाऋद्धिधारी, १२५० मन पर्ययज्ञानी और १००० वादी मुनि थे। इस प्रकार समस्त मुनियो की सख्या २०००० थी। मंगिनी आदि ४५००० आर्यिकायें थी। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकाये थो। उनके, भक्तो मे सख्यात तिर्यच और असख्यात देव-देवियाँ थी।

भगवान ने सम्पूर्ण आर्यक्षेत्र मे विहार करके समीचीन धर्म का उपदेश दिया। जब उनकी आयु मे एक माह शेष रह गया, तब उन्होने बिहार बन्द कर दिया और सम्मेद शिखर पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियो के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और बैशाख कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में अश्विनी नक्षत्र मे अघातिया कर्मो का क्षय करके अक्षय पद प्राप्त किया। वे सिद्ध परमेष्ठी बन गये। देवो और इन्द्रो ने आकर नमिनाथ स्वामी का निर्वाण कल्याणक महोत्सव किया।

निर्वाण कल्याणक

यक्ष-यक्षिणी—भगवान नमिनाथ के सेवक यक्ष का नाम भ्रकुटि और यक्षिणी का नाम चामुण्डी था।

जयसेन चक्रवर्ती—

ऐरावत क्षेत्र के श्रीपुर नगर मे वसुन्धर नामक राजा शासन करता था। वह बड़ा प्रतापी और न्यायवान था। दैव-दुर्विपाक से उसकी स्त्री पद्मावती का असमय निधन हो गया। वह अपनी इस रानी से बड़ा प्रेम करता था। अत उसके मरण से राजा को बहुत दु:ख हुआ। उसका मन राज्य और परिवार से विरक्त हो गया। तभी मनोहर उद्यान म वरचर्म नामक केवली भगवान पधारे। राजा उनके दर्शनो के लिए गया और उनका उपदेश सुनकर उसने मुनि-दीक्षा लेने का निश्चय किया। उसने अपने पुत्र विनयन्धर को राज्य-भार सौप कर केवली भगवान के पाद मूल मे दैगम्बरी दीक्षा लेली। वह घोर तप करने लगा। आयु के अन्तिम समय में समाधि द्वारा मरण किया। मरकर वह महाशुक्र स्वर्ग मे महर्द्धिक देव हुआ। वहाँ उसकी सोलह सागर की आयु थी। वह महा विभूतिसम्पन्न था। दिव्य भोगो को भोगते हुए उसने यह काल आनन्दपूर्वक बिताया।

पूर्व भव

ग्यारहवां चक्रवर्ती—वत्स देश की कौशाम्बी नगरी का अधिपति इक्ष्वाकुवशी राजा विजय प्रभावशाली नरेश था। उसकी पट्टमहिषी प्रभाकरी की कुक्षि से एक कान्तिमान पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम जयसेन रक्खा गया। उसकी जन्म-लगन और लक्षणो को देखकर ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की कि यह बालक सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती बनेगा।

जयसेन बचपन से ही तेजस्वी था। उसकी लीलाये और चेष्टाये असाधारण थी। बचपन से ही शासन करने की उसकी प्रकृति थी। बडे-बड़े अभिमानी और उद्दण्ड व्यक्ति भी उसकी भगिमा देखते ही विनीत बन जाते थे। ऐसा था उसका प्रभाव।

जयसेन की आयु तीन हजार वर्ष की थी। उसकी अवगाहना साठ हाथ की थी। उसके शरीर की कान्ति तप्त स्वर्ण के समान थी। कुमार काल बीतने पर पिता ने उसे राज्य का भार सौप दिया। कुछ दिनो के बाद उसके शस्त्रागार में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। अब महाराज जयसेन ने दिग्विजय करने का विचार किया। वह चारो दिशाओं में गया। उसकी शक्ति और तेज के आगे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के राजाओं का दर्प चूर-चूर हो गया और सबने उसकी आधीनता स्वीकार की। जब जयसेन सम्पूर्ण भरतक्षेत्र की विजय करके अपनी नगरी कौशाम्बी वापिस लौटा

तो समस्त राजाओ और प्रजा ने मिलकर चक्रवर्ती पद पर उसे अभिषिक्त किया। वह ग्यारहवाँ चक्रवर्ती कहलाया। वह चौदह रत्न और नौ निधियों का स्वामी था। दस प्रकार के भोग उसे प्राप्त थे। वह इक्कीसवे तीर्थकर भगवान नमिनाथ के तीर्थ में हुआ था।

उसे भोग भोगते हुए जब बहुत समय बीत गया, तब एक दिन उसने देखा कि आकाश से उल्कापात हुआ है। उसे देखते ही उसके मन में चिन्तन की एक कोमल धारा प्रवाहित होने लगी—यह प्रकाश-पुंज ऊपर आकाश मे स्थित था, किन्तु वह नीचे आगिरा और अन्धकार मे विलीन हो गया। 'मेरा तेज भी बहुत ऊँचा है' इस प्रकार का अभिमान जो मनुष्य करता है, उसका तेज भी इस उल्का-पुंज के समान अधोगति को प्राप्त होता है।

यह विचार कर चक्रवर्ती ने साम्राज्य त्यागकर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। उसने युवराज को राज्य देना चाहा, किन्तु उसने राज्य न लेकर दीक्षा लेने की इच्छा की। तब उसने क्रम से अन्य पुत्रो को यह भार स्वीकार करने के लिए कहा, किन्तु सबका एक ही उत्तर था—'यदि आप राज्य-भोग में सुख मानते है तो आप ही इसका त्याग क्यो कर रहे है। आप हमारे शुभाकाँक्षी है। आप तपस्या करके सुख प्राप्त करना चाहते है तो हमें भी उसी मार्ग पर चलने की अनुमति दीजिए।'

पुत्रो का यह उत्तर सुनकर चक्रवर्ती निरुत्तर हो गया। अन्त में उसने छोटे पुत्र को राज्य-भार स्वीकार करने के लिए सहमत कर लिया और उसका राज्याभिषेक करके जयसेन अपने पुत्रो और अनेक राजाओ के साथ वरदत्त नामक केवली भगवान के पास समस्त बाह्य और आभ्यन्तर आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके प्रव्रजित हो गये। उन्होने विविध तप करना प्रारम्भ किया। अल्प समय में ही उन्हे ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयी। अन्त में प्रायोपगमन सन्यास मरण करके सम्मेदशिखर के चारण नामक शिखर से जयन्त नामक विमान मे अहमिन्द्र हुए।

पंचविंशतितम परिच्छेद

भगवान नेमिनाथ

पश्चिम विदेह क्षेत्र मे सीतोदा नदी के उत्तर तट पर सुगन्धिला नामक देश था। उस देश में सिहपुर नगर का स्वामी अर्हद्दास था। उसकी महारानी का नाम जिनदत्ता था। राज-दम्पति आनन्दपूर्वक राज्य-सुखो का भोग कर रहे थे। एक बार अष्टान्हिका पर्व मे भगवान जिनेन्द्र की महा पूजा कराई। पूजा के पश्चात् महारानी ने मन मे यह इच्छा की कि मैं कुलगौरव पुत्र प्राप्त करूँ। उसी रात्रि को महारानी ने स्वप्न मे सिह, हाथी, सूर्य, चन्द्रमा और लक्ष्मी का अभिषेक देखा। स्वप्न देखने के बाद ही महारानी के गर्भ में पुण्यात्मा जीव अवतीर्ण हुआ। नौ माह व्यतीत होने पर रानी ने अति बलवान पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के जन्म के बाद उसके पुण्य प्रताप से राजा अर्हद्दास को कोई शत्रु पराजित नही कर सका। इसलिये पुत्र का नाम सोच समझकर अपराजित रक्खा गया।

पूर्व भव

बालक अत्यन्त रूपवान और बलवान था। गुणो के साथ बढता हुआ वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन राजोद्यान मे विमलवाहन तीर्थंकर पधारे। राजा परिजनो और पुरजनो के साथ उनके दर्शनो के लिये गया। राजा ने वहाँ जाकर भगवान के दर्शन करके तीन प्रदक्षिणाएं दी, अष्ट द्रव्य से पूजन की और यथास्थान बैठकर उनका दिव्य उपदेश सुना। उपदेश सुनकर उसके मन मे भोगो से निर्वेद हो गया। वहाँ से लौट कर उसने पुत्र अपराजित का राज्याभिषेक करके पाच सौ राजाओ के साथ सयम ग्रहण कर लिया।

अपराजित ने भी अणुव्रत धारण कर लिये। यद्यपि वह राज्य-शासन करता था, किन्तु उसका मन धर्म मे रगा हुआ था। एक दिन उसे समाचार मिला कि भगवान विमलवाहन और पिता मुनि अर्हद्दास गन्धमादन पर्वत से मुक्त होगये। समाचार सुनते ही उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक मै भगवान विमलवाहन के दर्शन नही कर लूंगा, तब तक भोजन नही करूगा। मन्त्रियो और परिवार के लोगो ने समझाया कि भगवान मुक्त होचुके है, उनके दर्शन किस प्रकार सभव है, ऐसी असभव प्रतिज्ञा करने से क्या लाभ है। किन्तु राजा ने किसी की बात नही सुनी, वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। इस प्रकार उसे निराहार रहते हुए आठ दिन बीत गये। तब सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने भगवान विमलनाथ का दिव्य रूप बनाकर राजा को दर्शन कराये। राजा ने गद्गद होकर भक्तिभाव से उनका पूजन किया, तब भोजन किया।

एक दिन राजा अपराजित अष्टान्हिका पर्व में पूजन करने के पश्चात् बैठा हुआ था। तभी आकाश से दो चारण ऋद्धिधारी मुनि आकाश मार्ग से बिहार करते हुए वहाँ पधारे। राजा ने उठकर बडी विनयपूर्वक उनकी पाद-वन्दना की, उनका धर्मोपदेश सुना। तदनन्तर राजा हाथ जोड़कर बोला—'पूज्य ! मैने आपको कही पहले भी देखा है।'

ज्येष्ठ मुनि कहने लगे—'राजन् ! तुम यथार्थ कह रहे हो। तुमने हम दोनो को देखा है। किन्तु इस जन्म में नही, पूव जन्म मे देखा है।' राजा को यह सुनकर बड़ा बिस्मय हुआ। वह पूछने लगा—'प्रभु ! कहाँ देखा है, यह

जानने की मुझे जिज्ञासा है।' तब मुनि कहने लगे—'पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम सुमेरु की पश्चिम दिशा में महानदी के उत्तर तट पर गन्धिल नामक एक देश है। उसके विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में सूर्यप्रभ नगर का स्वामी राजा सूर्यप्रभ राज्य करता था। उसकी रानी का नाम धारिणी था। उसके तीन पुत्र थे—चिन्तागति, मनोगति और चपलगति। उसी विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी मे अरिन्दमपुर नगर का शासक अरिजय था। अजितसेना उसकी रानी और प्रीतिमती पुत्री थी। पुत्री ने प्रतिज्ञा की थी कि जो विद्याधर मेरु पर्वत की तीन प्रदक्षिणा देने मे मुझे जीत लेगा उसे ही मैं वरण करूँगी। इस प्रतियोगिता मे चिन्तागति ने उसे जीत लिया। किन्तु उसे जीतकर चिन्तागति कहने लगा—'तू मेरे लघु भ्राता को स्वीकार करले।' किन्तु प्रीतिमती ने उत्तर दिया—'मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे जीत लेगा, उसे ही वरण करूँगी। तुमने मुझे जीता है। तुम्हे छोडकर मै अन्य को किस प्रकार वरण कर सकती हूँ।' चिन्तागति बोला—'तूने उसे प्राप्त करने की इच्छा से ही उसके साथ गति-स्पर्द्धा की थी, अत. तू मेरे लिये त्याज्य है।'

चिन्तागति का उत्तर सुनकर प्रीतिमती अत्यन्त निराश हो गई। उसे ससार से ही विरक्ति होगई और उसने विवृता नामक अर्जिका के पास जाकर आर्यिका दीक्षा लेली। राजकुमारी के इस साहस से प्रेरित होकर उन तीनों भाइयो ने भी दमवर नामक मुनिराज के पास जाकर मुनि-दीक्षा लेली। वे तप करने लगे और मरकर चौथे स्वर्ग मे सामानिक जाति के देव हुए। आयु पूर्ण होने पर दोनो छोटे भाई पूर्व विदेह क्षेत्र के पुष्कलावती देश में विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी मे गगनवल्लभ नगर के राजा गगनचन्द्र और रानी गगनसुन्दरी के हम दोनो अमितगति तथा अमित-तेज नामक पुत्र हुए। हम तीनो प्रकार की विद्याओ से युक्त थे। एक दिन हम दोनो पुण्डरीकिणी नगरी मे स्वयप्रभ तीर्थंकर के दर्शनो के लिये गये। हमने भगवान से अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त पूछे तथा यह भी पूछा कि हमारा बडा भाई इस समय कहाँ उत्पन्न हुआ है। भगवान ने बताया कि वह इस समय सिहपुर नगर मे अपराजित नाम का राजा है। हम लोगो ने भगवान के समीप ही दीक्षा ले ली। हम लोग पूर्व जन्म के स्नेहवश तुम्हारे पास आये है। तेरी आयु केवल एक माह की शेष है। इसलिये तू आत्म कल्याण कर।

राजा ने मुनिराज से अपने जन्म का वृत्तान्त सुनकर उनकी वन्दना की और निवेदन किया—'भगवन्! यद्यपि आप वीतराग निर्ग्रन्थ है। फिर भी आपने पूर्व जन्म के स्नेहवश मेरा बडा उपकार किया है।

मुनि-युगल वहां से विहार कर गया। राजा ने अपने पुत्र प्रीतिकर को राज्यारूढ करके सन्यास ले लिया और प्रायोपगमन सन्यास धारण कर लिया। आयु पूर्ण होने पर वह सोलहवे स्वर्ग के सातकर नामक विमान में देव हुआ। बाईस सागर की उसकी आयु थी।

कुरुजागल देश मे हस्तिनापुर के राजा श्रीचन्द्र की श्रीमती रानी थी। वह देव आयु पूर्ण होने पर रानी के गर्भ में आया और सुप्रतिष्ठ नामक पुत्र हुआ। कुमार अवस्था पूर्ण होने पर उसका विवाह सुनन्दा के साथ हो गया। सुयोग्य जानकर पिता ने उसे राज्य सौप दिया और सुमन्दर नामक मुनि के पास दीक्षा लेली। सुप्रतिष्ठ कुशलता पूर्वक राज्य शासन करने लगा। एक दिन सुप्रतिष्ठ ने यशोधर नामक मुनिराज को नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। आहार निरन्तराय समाप्त हुआ। देवो ने पचाश्चर्य किये। राजा ने मुनिराज से अणुव्रत धारण किये और सम्य-ग्दर्शन की विशुद्धि की। एक दिन राजा राजमहलो के ऊपर बैठा हुआ प्रकृति का सौन्दर्य निहार रहा था। निकट ही रानियाँ बैठी हुई थी। तभी आकाश मे उल्कापात हुआ। उसे देखकर राजा के मन मे भावनाएं उद्वेलित होने लगी और उसे ससार की क्षणभगुरता का विचार हो आया। उसे राज्य, भोग सब कुछ निस्सार जचने लगे। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुदृष्टि का राज्याभिषेक कर दिया और सुमन्दर नामक जिनेन्द्र के निकट मुनि दीक्षा लेली। उसने ग्यारह अगो का अभ्यास किया और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे सातिशय पुण्य वाले तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लिया। आयु का अन्त निकट जानकर एक माह का सन्यास ले लिया, जिससे वह जयन्त नामक अनुत्तर विमान मे महर्द्धिक अहमिन्द्र हुआ। उसकी आयु तेतीस सागर की थी।

हरिवंश की उत्पत्ति—

कौशाम्बी नगरी का राजा सुमुख प्रतापी राजा था। उस नगर मे व्यापारिक कारणो से वीरक नामक एक सेठ अपनी स्त्री वनमाला के साथ आकर रहने लगा। एक दिन राजा सुमुख वन-विहार के लिये गया। उसकी दृष्टि वन में भ्रमण करती हुई सुन्दरी वनमाला पर पडी। उसे देखते ही वह वनमाला पर आसक्त हो गया। उसने किसी उपाय से वीरक सेठ को व्यापार के बहाने विदेश भेज दिया और प्रच्छन्न रूप से वनमाला को अपने महलो में बुलाकर उसके साथ भोग करने लगा। बारह वर्ष पश्चात् सेठ वीरक विदेश से लौटा। जब उसे अपनी स्त्री का पापाचार ज्ञात हुआ तो वह शोकाकुल होकर पागलों के समान इधर उधर फिरने लगा। फिर एक दिन विरक्त होकर प्रोष्ठिल मुनि के पास जाकर मुनि बन गया और मरकर सौधर्म स्वर्ग में चित्रागद नामक देव हुआ।

हरिवंश की स्थापना

कुछ काल पश्चात् सुमुख और वनमाला ने धर्मसिह नामक मुनिराज को आहार दिया। उस समय दोनों के मन में अपने कृत्य के प्रति भारी आत्मग्लानि और पश्चाताप के भाव थे। दूसरे दिन बिजली गिरने से दोनो की मृत्यु हो गई। सुमुख का जीव भोगपुर के राजा प्रभजन का पुत्र सिहकेतु हुआ और वनमाला का जीव वस्वालय नगर के नरेश वज्रचाप की विद्युन्माला पुत्री हुई। विद्युन्माला का विवाह सिहकेतु के साथ हो गया। एक दिन पति पत्नी बन विहार के लिए गए। उन्हे चित्रागददव ने देखा। देखते ही उसे पूर्व जन्म के वैर का स्मरण हो आया। उसने मन में निश्चय कर लिया कि 'मैं इन्हे मारूगा। यह विचार कर वह उन्हे उठाकर ले चला। मार्ग में सूर्यप्रभ नामक एक देव ने उसका अभिप्राय जान लिया। सूर्यप्रभ पूर्व जन्म मे राजा सुमुख का प्रिय मित्र रघु था। उस देव ने चित्राङ्गद को समझाया-'भद्र ! इन दोनों का वध करने से तेरा क्या हित होगा। तू व्यर्थ ही पाप बन्ध क्यो करता है।' यह सुनकर चित्रागद को भी दया आ गयी और उन्हे छोडकर चला गया। तब सूर्यप्रभ देव ने दोनो को आश्वासन दिया और उन्हे ले जाकर चम्पापुर के वन मे छोड दिया। इसका कारण यह था कि वह भविष्य मे इनको मिलने वाले सुख को जानता था। दैवयोग से उसी समय चम्पापुर का राजा चन्द्रकीर्ति बिना पुत्र के मर गया था। राज्य-परम्परा अक्षुण्ण रखने के लिए मन्त्रियो ने विचार कर किसी योग्य पुरुष की तलाश करने के लिए एक समझदार हाथी को छोड़ दिया। वह हाथी घूमता हुआ वन मे पहुँचा और सिहकेतु तथा विद्युन्माला को अपने कन्धे पर बैठाकर नगर में पहुँचा। मन्त्रियो ने बडे आदर के साथ सिहकेतु का अभिषेक किया और उसे राज सिहासन पर बैठाया। तब मन्त्रियो ने उससे परिचय पूछा। उत्तर मे सिहकेतु ने कहा—'मेरे पिता का नाम प्रभजन है और माता का नाम मृकण्डू है। कोई देव पत्नी सहित मुझे लाकर यहाँ वन मे छोड़ गया है।' उसका परिचय सुनकर लोग बड़े प्रसन्न हुए और मृकण्डू का पुत्र होने के कारण उसका नाम मार्कण्डेय रख दिया। वह चिरकाल तक राज्य सुख का भोग करता रहा। ये दोनो भगवान शीतलनाथ के तीर्थ मे हुए।

इन दोनों के हरि नामक पुत्र हुआ। यौवन अवस्था को प्राप्त होने पर पिता ने उसे राज्य-भार सोप दिया। हरि बड़ा प्रतापी और वीर था। उसने बाहुबल द्वारा अनेक राजाओ को पराजित करके अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। उसकी ख्याति सम्पूर्ण लोक मे फैल गई। इसी से 'हरिवश' की प्रसिद्धि हुई।

हरिवश की परम्परा

राजा हरि के महागिरि नामक पुत्र हुआ। महागिरि का हिमगरि, हिमगरि का वसुगिरि, वसुगिरि का गिरि हुआ। इस प्रकार इस वश में अनेक राजा हुए। फिर सुमित्र हुए। सुमित्र के बीसवे तीर्थ कर मुनिसुव्रतनाथ हुए। मुनिसुव्रतनाथ के सव्रत, सुव्रत के दक्ष, दक्ष के ऐलेय पुत्र हुआ। उसने इलावर्धन, ताम्रलिप्ति, माहिष्मती, नामक नगर बसाये। ऐलेय के कुणिम पुत्र हुआ। उसने कुण्डिन नगर बसाया। कुणिम के पुलोम पुत्र हुआ। उसने पुलोमपुर बसाया। पुलिम के पौलोम और चरम नामक पुत्र हुए। उन्होंने रेवा के तट पर इन्द्रपुर नगर बसाया। चरम ने जयन्ती तथा वनवास्य नगरियाँ बसाई। पौलोम के महीदत्त और चरम के संजय पुत्र हुए। महीदत्त ने कल्पपुर बसाया। उसके अरिष्ट-

नेमि और मत्स्य नामक पुत्र हुए। मत्स्य हस्तिनापुर में रहने लगा। मत्स्य के अयोधन, अयोधन के मूल, मूल के शाल, शाल के सूर्य नामक पुत्र हुआ। सूर्य ने शुभ्रपुर नगर बसाया। सूर्य के अमर पुत्र हुआ। उसने बज्रपुर बसाया। अमर के देवदत्त, देवदत्त के हरिषेण, हरिषेण के नभसेन, नभसेन के शङ्ख, शङ्ख के भद्र और भद्र के अभिचन्द्र नामक पुत्र हुआ। अभिचन्द्र ने विन्ध्याचल के ऊपर चेदि राष्ट्र की स्थापना की और शुक्तिमती नदी के किनारे शुक्तिमती नगरी बसाई। अभिचन्द्र से वसु हुआ। बसु का पुत्र बृहद्ध्वज हुआ जो मथुरा मे जाकर रहने लगा। वृहद्ध्वज के सुबाहु, सुवाहु के दीर्घबाहु, दीर्घबाहु के वज्रबाहु, वज्रबाहु के लब्धाभिमान, लब्धाभिमान के भानु, भानु के ययु, ययु के सुभानु और सुभानु के भीम नामक पुत्र हुआ। इस प्रकार अनेक राजा होते रहे। फिर इसी वश मे इक्कीसवे तीर्थ कर भगवान नमिनाथ हुए। आगे चलकर इसी वश मे यदु नामक राजा हुआ। यह बडा प्रतापी था। इससे 'यदुवश' चला। राजा यदु के नरपति, नरपति के शूर और सुवीर नामक पुत्र हुए। वीर अथवा सुवीर मथुरा में शासन करने लगा और शूर ने कुशद्य देश में शौर्यपुर नगर बसाया और वही शासन करने लगा। शूर के अन्धकवृष्णि और सुवीर के भोजकवृष्णि पुत्र हुए। अन्धकवृष्णि के १० पुत्र हुए—१ समुद्रविजय २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमित सागर, ४ हिमवान, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण, ९ अभिचन्द्र, और १० वसुदेव, इनके अतिरिक्त दो पुत्रियाँ हुई—कुन्ती और माद्री। भोजक वृष्णि के उग्रसेन, महासेन और देवसेन नामक पुत्र हुए।

वसु की वंश— परम्परा मे जरासध

राजा वसु का एक पुत्र सुवसु था जो कुञ्जरावर्त नगर(नागपुर) में रहने लगा था। सुवसु के वृहद्रथ पुत्र हुआ। वह मागधेशपुर मे जाकर राज्य करने लगा। वृहद्रथ के दृढरथ दृढरथ के नरवर, नरवर के दृढ़रथ, दृढ़रथ के सुखरथ, सुखरथ, के दीपन, दीपन के सागरसेन, सागरसेन के सुमित्र, सुमित्र के वप्रथु, वप्रथु के विन्दुसार, विन्दुसार के देवगर्भ, देवगर्भ के शतधनु पुत्र हुआ। इसी प्रकार इस वश मे अनेक राजा हुए। फिर इस वश मे निहतशत्रु हुआ। उसके शतपति, शतपति के वृहद्रथ और वृहद्रथ के जरासन्ध पुत्र हुआ। वह राजगृह नगर का स्वामी था। वह अर्धचक्री था। उसने भरत क्षेत्र के तीन खण्डो पर विजय प्राप्त करके अर्धचक्री का विरुद पाया था। वह नौवाँ प्रतिनारायण था। कालिन्दसेना उसकी पटरानी थी। कालयवन आदि नीतिज्ञ पुत्र थे। अपराजित आदि अनेक वीर भाई थे।

जरासन्ध ने दक्षिण श्रेणी के समस्त विद्याधरो, उत्तरापथ और दक्षिणापथ के समस्त राजाओ, पूर्व पश्चिम समुद्र के तटवर्ती नरेशो और मध्य देश के सम्पूर्ण शत्रुओ को जीत लिया था।

एक बार शौर्यपुर के उद्यान मे सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज प्रतिमायोग से ध्यानारूढ थे। एक यक्ष ने उनके ऊपर भयानक उपसर्ग किये। किन्तु मुनिराज अपने ध्यान में अचल रहे और उन भयानक उपसर्गो के कारण उनके मन की शान्ति और समता भाव तनिक भी भग नही हुए। बल्कि वे आत्मा मे स्थित रहकर

महाराज समुद्र विजय का राज्याभिषेक—

सचित कर्मो का शुक्ल ध्यान द्वारा क्षय करने लगे। वे श्रेणी आरोहण करके उस स्थिति को प्राप्त हो गये, जहाँ ध्यान, ध्याता, और ध्येय, चैतन्य भाव, चैतन्य कर्म और चैतन्य की क्रिया अभिन्न एकाकार हो जाती है। उसी समय उन्होने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मों का विनाश कर दिया। तभी उनकी आत्मा विशुद्ध केवलज्ञान की अनन्त आभा से आलोकित हो उठी। तभी चारो जाति के इन्द्र और देव भगवान सुप्रतिष्ठ की वन्दना के लिए आये। महाराज अन्धकवृष्णि भी परिजन-पुरजनो के साथ भगवान के दर्शनो के लिये आये। आकर उन्होने भगवान की वन्दना और पूजा की और यथास्थान बैठ गये। तभी भगवान का लोक हितकारी उपदेश हुआ। उपदेश सुनकर अन्धकवृष्णि के मन में सासारिक भोगो के प्रति सवेग उत्पन्न होगया। उन्होने शौर्यपुर के राज सिहासन पर कुमार समुद्रविजय का राज्याभिषेक करके उनका पट्टबन्ध किया और कुमार वसुदेव के सरक्षण का भार भी उन्हे सौप दिया। अन्धकवृष्णि ने भगवान सुप्रतिष्ठ के निकट जाकर सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मुनि दीक्षा अगीकार कर ली। उधर भोजक वृष्णि ने भी मथुरा में मुनि व्रत धारण कर लिये। महाराज समुद्रविजय ने महारानी शिवादेवी को पट्टबन्ध करके पटरानी घोषित किया। महाराज समुद्रविजय ने यौवन प्राप्त होने पर अपने आठों अनुजो का सुन्दर राज कन्याओं के

साथ विवाह कर दिया। अक्षोभ्य का धृति के साथ, स्मिमित सागर का स्वयंप्रभा के साथ, हिमवान का सुनीता के साथ, विजय का सिता के साथ, अचल का प्रियालापा के साथ, धारण का प्रभावती के साथ, पूरण का कालिगी के साथ और अभिचन्द्र का सुप्रभा के साथ विवाह हो गया। सब भाई आनन्दपूर्वक रहने लगे। सभी भाइयो में परस्पर में अत्यधिक स्नेह था। कुमार वसुदेव सभी के प्रिय और स्नेहभाजन थे।

वसुदेव की कुमार- लीलाए—कुमार वसुदेव यौवन मे पदार्पण कर रहे थे। वे शौर्यपुर नगर में देव कुमारों के समान इच्छानुसार क्रीडा करते थे। वे कामकुमार थे। रूप, लावण्य, सौभाग्य और चतुरता से वे जन-जन के प्रिय थे। कभी वे लोकपालो का वेष रखकर नगर मे निकल जाते थे। उनका शरीर सूर्य के समान तेजस्वी और मुख चन्द्रमा के समान सौम्य था। उनके अनिन्द्य सौन्दर्य को देखने के लिए स्त्रियाँ घरो से बाहर निकल आती थी और उन्हे देखकर काम विह्वल हो जाती थी। कुमार के रूप मे अद्भुत मोहिनी थी।

एक दिन मात्सर्यवश कुछ वृद्धजन सघबद्ध होकर राज-परिषद मे पहुँचे और महाराज समुद्रविजय को नमस्कार करके निवेदन करने लगे—'प्रभो! आपके राज्य मे सम्पूर्ण प्रजाजन आनन्दपूर्वक और निर्भय होकर रह रहे है। आपके पुण्य प्रभाव से यहाँ की भूमि शस्य श्यामला बन गई है। वणिक् वर्ग समृद्ध और सुसम्पन्न है। गाय-भैसे क्षीरवर्षी है। प्रजा के सभी वर्गों को सब प्रकार का आनन्द है, किन्तु थोडा-सा दुःख भी है। किन्तु उसे हम लोग प्रगट भी नही कर सकते।

यह सुनकर महाराज समुद्रविजय प्रजाजनो से बोले—'भद्रजनो! मेरे राज्य मे प्रजाजनो को कष्ट हो, यह मेरे लिये गौरव की बात नही है। आप लोग निर्भय होकर अपना कष्ट बताइये। मै उसे प्राणपण से भी दूर करूँगा।

वृद्धजन महाराज से आश्वासन पाकर कहने लगे—'प्रभो! हमारे अविनय को क्षमा करे। कुमार वसुदेव धीर-वीर, शील शिरोमणि और शुद्ध हृदय वाले है। किन्तु जब वे नगर मे निकलते है तो उनका रूप लावण्य देखकर नगर की कुल स्त्रियाँ रागान्ध होकर अपने तन बदन की सुधबुध भूल जाती है। वे सारा कार्य छोडकर घर से बाहर दौड़ पडती हैं। नगरवासियो का चित्त उद्भ्रान्त हो जाता है। हम लोगो ने अपनी मनोव्यथा निवेदन कर दी। अब जो करणीय हो, वह आप कीजिये।

महाराज प्रजाजनो की बात सुनकर विचारमग्न हो गये। कुछ समय पश्चात् प्रजाजनो को आश्वासन देकर विदा किया। प्रजाजन भी सन्तुष्ट होकर अपने घरो को लौट गये। तभी कुमार वसुदेव नगर-भ्रमण के बाद लौटे। आकर उन्होने महाराज को प्रणाम किया। महाराज ने बडे प्रेमपूर्वक आलिगन किया और बालक के समान उन्हे अपनी गोद मे बैठाकर मस्तक सूँघा और स्नेहसिक्त स्वर मे बोले—'कुमार! तुम वन-भ्रमण से परिश्रान्त हो गये हो। देखो तो, तुम्हारा मुख कैसा मुरझा गया है। तुम्हे भ्रमण के चाव मे अपने शरीर की भी सुध नही रहती। अब भविष्य मे तुम्हे स्नान और भोजन के समय का अतिक्रमण नही करना है। अब अन्तःपुर के उद्यान मे ही तुम क्रीडा किया करो।

इस प्रकार अपने प्रिय अनुज को समझाकर महाराज समुद्रविजय उनका हाथ पकड कर अपने प्रासाद मे ले गये। उन्होने वसुदेव के साथ ही स्नान और भोजन किया। उन्होने इस प्रकार कौशल मे व्यवस्था कर दी कि कुमार बाहर न जा पावे और कुमार को प्रतिबन्ध का अनुभव भी न हो। कुमार भी अन्तःपुर के उद्यान मे विविध क्रीडायें करने लगे।

एक दिन एक कुब्जा दासी महारानी शिवादेवी के लिये विलेपन लिये जा रही थी कि कुमार ने विनोद में उससे विलेपन छीन लिया। दासी रुष्ट होकर बोली—'कुमार! तुम ऐसी ही हरकतो के कारण कारागार में डाले गये हो।' दासी की बात सुनकर कुमार सशकित हो उठे और पूछने लगे—'कुब्जे! तूने यह क्या कहा? मुझे कैसा कारागार?' तब दासी ने कुमार को सब सत्य बात सुना दी। सुनकर वे गम्भीर हो गये और सोचने लगे- निश्चय ही मेरे साथ धोका हुआ है। वे इस बात पर विचार करते रहे और अन्त मे एक निर्णय पर पहुँचने का उन्हें सन्तोष हुआ। वे चुपचाप राजप्रासाद और नगर को त्यागकर चल दिये एक लक्ष्यहीन दिशा की ओर। वे

अपने साथ एक विश्वस्त अनुचर को साथ ले गये और नगर के श्मसान में जा पहुँचे और नौकर को एक स्थान पर बैठाकर उससे कहा—'मैं मत्र सिद्ध करता हूँ। जब मैं आवाज दूं, तभी तुम उत्तर देना।' इस प्रकार कहकर वे कुछ दूर चले गये। वहाँ एक चिता जल रही थी तथा एक शव पडा हुआ था। कुमार ने अपने आभूषण उस शव को पहना कर उसे जलती चिता मे रख दिया और जोर से कहा—'पिता के समान राजा और चुगली करने वाले नागरिक सुख से रहे। मै तो अग्नि-प्रवेश करता हूँ।' इस प्रकार कहकर और दौडने का अभिनय करके, मानो वे अग्नि मे प्रवेश कर रहे हो, वे अन्तर्हित हो गये। अनुचर ने सुना तो वह दौडकर आया और चिता में कुमार के दग्ध शव को देखकर बडी देर तक विलाप करता रहा। फिर वह अत्यन्त शोकाकुल होकर राजमहलो को वापिस लौट गया। वहाँ जाकर उसने सम्पूर्ण घटना महाराज को सुना दी। यह हृदय विदारक घटना सुनकर सारे राज कुल और नगरवासियो मे शोक छा गया। महाराज समुद्रविजय तत्काल बन्धु-बाधवो, नगरवासियो और राज्याधिकारियो को लेकर श्मसान पहुँचे। वहाँ शव की भस्म के साथ कुमार के आभूषणो को देखकर सबको निश्चय हो गया कि कुमार अवश्य ही अग्नि में भस्म हो गये हैं। यह विश्वास होने पर सभी करुण विलाप करने लगे। राजा समुद्रविजय को घोर पश्चाताप हुआ और अपने प्रिय अनुज की मृत्यु से उन्हे हार्दिक दुख हुआ। उन्होंने शोक सन्तप्त हृदय से मरणोत्तर क्रियायें की और सब लोग नगर मे वापिस लौट आए।

कुमार वसुदेव निश्चिन्त मन से पश्चिम दिशा की ओर चल पडे। उन्होने एक ब्राह्मण कुमार का वेष धारण कर लिया। चलते-चलते वे विजयखेट नगर मे पहुंचे। उस नगर मे सुग्रीव नामक एक गन्धर्वाचार्य रहता था। उसकी दो पुत्रियाँ थी सोमा और विजयसेना। दोनो ही अपूर्व सुन्दरी थी। गन्धर्वाचार्य ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो गन्धर्व विद्या मे मेरी पुत्रियो को जीतेगा, वही इनका स्वामी होगा। किन्तु आज तक उन दोनों को कोई पराजित नही कर सका था। किन्तु वसुदेव ने उन्हे थोडे समय में ही पराजित कर दिया। सुग्रीव ने दोनो पुत्रियो का विवाह, कुमार वसुदेव के साथ कर दिया। वे वही पर सुखपूर्वक रहने लगे। कुछ काल के पश्चात् विजयसेना ने पुत्र प्रसव किया, जिसका नाम अक्रूर रखा गया।

अनेक कन्याओ के साथ विवाह—

एक दिन कुमार गुप्त रूप से वहाँ से भी निकल गये। भ्रमण करते हुए वे एक अटवी में पहुँचे। वहाँ एक सुन्दर सरोवर को देखकर वे उसमे बहुत देर तक जलक्रीडा करते रहे और हथेलियों से जल को बजाने लगे। उस आवाज मे तट पर सोया हुआ एक हाथी जाग गया। वह क्रुद्ध होकर कुमार के ऊपर झपटा। कुमार बडी चपलता से उसके दातो को पकड कर उसके मस्तक पर आरूढ हो गये और मुष्टिका प्रहारों से उस गजेन्द्र को अपना वशवर्ती बना लिया। उसी समय दो विद्याधर कुमार आये और कुमार को हाथी के मस्तक से अपहरण करके विजयार्ध पर्वत के मध्य मे स्थित कुजरावर्त नगर में ले गये और कुमार को उस नगर के वाह्य उद्यान में छोड दिया। कुमार एक अशोक वृक्ष के नीचे सुखपूर्वक बैठ गये, तब उन दोनो विद्याधर कुमारों ने आकर उन्हें नमस्कार किया और निवेदन किया—'स्वामिन्! आप यहाँ विद्याधर नरेश अशनिवेग की आज्ञा से लाये गये है। आप उन्हे अपना श्वसुर समझे। मेरा नाम अर्चिमाली है और यह दूसरा वायुवेग है।' यो कहकर उनमें से एक तो नगर की ओर चला गया और दूसरा वही सुरक्षा के निमित्त रह गया। नगर में जाकर उसने नरेश को यह शुभ सवाद सुनाया कि हाथी के मान का मर्दन करने वाला सुदर्शन कुमार लाया जा चुका है। सुनकर नरेश बहुत हर्षित हुआ और उसे पुरस्कृत करके नरेश ने मगलाचार पूर्वक कुमार वसुदेव का नगर प्रवेश कराया और शुभ मुहूर्त में नरेश ने अपनी रूपवती कन्या श्यामा का विवाह कुमार के साथ कर दिया। निमित्तज्ञानियो ने भविष्यवाणी की थी कि जो व्यक्ति गजेन्द्र का मान मर्दन करेगा, वही राजपुत्री का पति बनेगा। इसीलिए नरेश ने दो युवकों को गजेन्द्र के निकट पहरा देने के लिए नियुक्त कर दिया था। निमित्तज्ञानियो की भविष्यवाणी पूरी हुई। कुमार राजकन्या के साथ सुखपूर्वक भोग भोगते हुए कुछ काल पर्यन्त वही रहे और वहाँ रहकर गन्धर्वविद्या का अध्ययन किया।

एक दिन श्यामा का चचेरा भाई अगारक रात्रि के समय सोते हुए कुमार का अपहरण कर ले गया। वह आकाश मार्ग से जा रहा था। तभी श्यामा की नीद खुल गई। वह भी हाथों में शस्त्रास्त्र लेकर विद्या-बल

से आकाश में पहुँची। वहाँ अंगारक और श्यामा का भयानक युद्ध हुआ। कुमार ने शत्रु की छाती पर मुष्टिका प्रहार किया जिससे वह व्याकुल होकर कुमार को छोडकर भाग खड़ा हुआ। कुमार चपानगरी के एक सरोवर में गिरे। वहाँ से निकलकर नगर मे गये। वहाँ उन्हे ज्ञात हुआ कि इस नगर के कुवेर चारुदत्त की पुत्री गन्धर्वसेना के लिए आज गायन-वाद्य प्रतियोगिता होने वाली है। श्रेष्ठी-पुत्री ने नियम किया है कि जो मुझे गान-वाद्य विद्या में पराजित कर देगा, वही मेरा पति होगा। इस समाचार को सुनकर कुमार भी प्रतियोगिता सभा में पहुँचे और वीणावादन और गायन कला मे कुमार ने उस मानवती का मान भग करके विजय प्राप्त की। श्रेष्ठी कन्या ने हर्ष से वरमाला उनके गले में डालकर उनका वरण किया। श्रेष्ठी ने विधिपूर्वक दोनो का विवाह कर दिया। चिर-काल तक कुमार ने वहाँ रहकर आनन्दपूर्वक भोग भोगे।

एक दिन रात्रि में एक बैताल कन्या ने आकर कुमार वसुदेव को जगाया और बलात् वह उन्हें श्मसान में ले गई। वहाँ उसने नीलयशा नामक एक सुन्दरी कन्या को दिखाया और कहा कि यह कन्या आपके प्रेम में ग्रस्त है और आपसे विवाह की इच्छुक है। यह असित पर्वत नगर के राजा सिहदष्ट्र की पुत्री है। कुमार ने उससे विवाह करने की स्वीकृति दे दी। तब विद्याधरियाँ कुमार को आकाशमार्ग से असित पर्वत नगर ले गई। वहाँ शुभ मुहूर्त में कुमार के साथ नीलयशा का विवाह हो गया। कुमार वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे।

इस प्रकार कुमार वसुदेव ने विभिन्न स्थानो पर अनेक कन्याओ के साथ विवाह किया। उनके रूप-गुण और वीरता पर मुग्ध होकर अनेक राजाओ ने उन्हे अपनी कन्याये प्रदान की। उनके आकर्षक व्यक्तित्व पर मुग्ध होकर अनेक कन्याओ ने उन्हे स्वेच्छा से वरण किया। अनेक कन्याओ को विभिन्न प्रतियोगिताओ मे उन्होने जीता। गिरितट नगर वासी ब्राह्मण पुत्री सोमश्री, अचलग्राम की श्रेष्ठी पुत्री वनमाला, वेदसामपुर की कपिला, शालगुहा नगर की पद्मावती, भद्रिलपुर की राजकुमारी चारुहासिनी, जयपुर की राजकन्या, इलावर्धन नगर की श्रेष्ठी-पुत्री रत्नवती तथा राजकुमारी सोमश्री, विद्याधर-कन्या मदनवेगा, वेगवती, गगनवल्लभपुर की राजकन्या बालचन्द्रा, श्रावस्ती की श्रेष्ठी-पुत्री बन्धुमती, और राजपुत्री प्रियगुसुन्दरी, विद्याधर पुत्री प्रभावती, कुण्डपुर की राजकुमारी, चम्पानगरी के मंत्री की कन्या, म्लेच्छराज की कन्या जरा, अवन्तिसुन्दरी, शूरसेना, जीवद्यशा आदि अनेक कन्याओ के साथ कुमार वसुदेव का विवाह हुआ। तथा जरत्कुमार, पौण्ड्र आदि अनेक पुत्र हुए।

इस बीच मे राजगृह नरेश जरासन्ध को निमित्तज्ञानियो ने यह बताया कि जो पुरुष जुए मे एक करोड़ मुद्राये जीतकर वही सब बाट देगा, वह तुम्हे मारने वाले पुत्र को जन्म देगा। निमित्तज्ञानियो के वचनानुसार जरासन्ध ने ऐसे पुरुष की खोज करने के लिए चर नियुक्त कर दिए। एक बार दुर्घटनावश कुमार वसुदेव राजगृह नगर मे पहुँचे। वहाँ वे जुए में एक करोड़ मुद्राये जीत गये और उन्होने वे सब मुद्राये वही बाट दी। चरो ने आकर कुमार को पकड लिया और उन्हे चमडे की एक भाथडी मे बन्द करके पर्वत के ऊपर से पटक दिया, जिससे वे मर जाये। किन्तु जब वे गिरे, तभी विद्याधरी वेगवती ने वेग से आकर उन्हे बीच मे ही थाम लिया। इस प्रकार वे बच गये।

रोहिणी की प्राप्ति—देशाटन करते हुए कुमार वसुदेव अरिष्टपुर नगर में आये। वहाँ उन्होने राजपथो पर मनुष्यो की भारी भीड और कोलाहल को देखकर एक नागरिक से कुतूहलवश पूछा—'भद्र! यह मनुष्यो का कैसा समुदाय है? ये सब लोग कहाँ जा रहे है?' उस नागरिक ने उत्तर दिया—'आर्य! इस नगर के महाराज रुधिर की सुलक्षणा कन्या रोहिणी का स्वयवर है। यह मनुष्य-समुदाय वही पर जा रहा है।'

वसुदेव यह समाचार सुनकर कुतूहलवश स्वयवर देखने की इच्छा से स्वयवर मण्डप मे पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि मण्डप मे जरासन्ध, समुद्रविजय आदि अनेक नरेश आये हुए है और मणिजटित महार्घ्य आसनो पर विराज-मान है। सबके मुखो पर दर्प और आशामिश्रित भाव है। कुमार ने उस समय पणव बाजा बजाने वाले का वेष धारण कर रखा था, जिससे उन्हे उनके बन्धुजन भी न पहचान सके। उनके हाथ में भी पणव नामक वाद्य यन्त्र था तथा जहाँ पणव वाद्य बजाने वाले बैठे हुए थे, वे वही जाकर बैठ गये।

तभी रूप और शोभा की आगार, सौन्दर्य मे रति को लज्जित करने वाली राजकुमारी रोहिणी ने धाय के

साथ स्वयवर-मण्डप में प्रवेश किया। तभी शखो और तूर्यो का मंगल-निनाद हुआ। राजाओ ने कुमारी रोहिणी के अनिंद्य सौन्दर्य की प्रशसा भर सुनी थी। अब अनर्ध्य वस्त्रालकारो से सुसज्जित मूर्तिमती लक्ष्मी के समान रोहिणी की रूपछटा देखकर विस्मयविमुग्ध होकर देखने लगे। सबके मन मे उस लालित्य मूर्ति की प्राप्ति की आशा की किरण प्रस्फुटित हो रही थी।

वाद्यो का तुमुल रव शान्त हुआ। धाय कुमारी रोहिणी को साथ में लेकर यथाक्रम सब राजाओ का परिचय देने लगी—हे पुत्रि ! ये श्वेत छत्रधारी त्रिखण्डाधिपति महाराज जरासन्ध है, ये जरासन्ध के प्रतापी पुत्र है, ये मथुरा के तेजस्वी नरेश उग्रसैन है, ये शौर्यपुर के स्वामी महा बलवान समुद्रविजय है। यदि तेरी रुचि हो तो इनमे से किसी के गले मे वरमाला डाल दे। किन्तु धाय ने देखा कि इनमें से किसी के ऊपर कन्या का अनुराग प्रतीत नही होता, तब उसने आगे बढकर महाराजा पाण्डु, विदुर, दमघोष, दत्तवक्त्र, शल्य, शत्रुजय, चन्द्राभ, कालमुख, पोण्ड्र, मत्स्य, सजय, सोमदत्त, भूरिश्रवा, अशुमान, कपिल, पद्मरथ, सोमक, देवक, श्रीदेव आदि राजाओ के वश, शौर्य आदि गुणो का परिचय देते हुए कहा—हे सौम्य बदने ! इन नरेशो मे से जो तुम्हारे चित्त को हरण करने वाला हो, उसके सौभाग्य को प्रकाशित कर।

किन्तु राजकुमारी ने उत्तर दिया -हे मात ! आपने उचित ही कहा है। किन्तु आपके द्वारा बताये हुए इन राजाओ मे से किसी के प्रति मेरा मन अनुरक्त नही है।

तभी राजबाला के कर्णकुहरो में पणव की मधुर ध्वनि पडी। कन्या ने मुडकर उस ओर देखा। तभी उसे राजलक्षणो से युक्त कुमार वसुदेव दृष्टिगोचर हुए। उन्हे देखते ही रोहिणी का सम्पूर्ण शरीर हर्ष से रोमांचित हो उठा। वह राजहंसी के समान मन्थर गति से आगे बढी और कुमार वसुदेव के गले मे वरमाला डाल दी। कामदेव और रति के समान इस सुदर्शन युगल को देखकर कुछ राजाओ ने हर्ष से कहा—जिस प्रकार रत्न और सुवर्ण का सयोग होता है, उसी प्रकार इन वर-वधू का सयोग हुआ है। इस रत्न पारखी कन्या को धन्य है।

किन्तु कुछ राजा मात्सर्यवश कहने लगे—यह तो घोर अन्याय है। एक पणववादक को वर कर राजकन्या ने सम्पूर्ण नरेश मण्डल का अपमान किया है। इस अपमान का प्रतिकार होना ही चाहिए। यदि प्रतिकार नही किया गया तो इससे कुल मर्यादा भग हो जाएगी। यदि यह व्यक्ति कुलीन है तो अपना कुल बतावे, अन्यथा इसे यहाँ से निष्काषित करके यह कन्या किसी राजपुत्र को दे देनी चाहिए।

राजाओ का यह अनर्गल प्रलाप सुनकर धीर वीर वसुदेव बोले—राजागण हमारे वचन सुने। स्वयवर मे आई हुई कन्या अपनी इच्छा के अनुरूप किसी का वरण करने के लिए स्वतत्र है। उसमे कुलीन-अकुलीन का कोई प्रश्न नही है। यदि कन्या ने मुझ अपरिचित का सौभाग्य प्रगट किया है तो इस विषय मे आप लोगो का कुछ नही कहना चाहिए। इतने पर भी पराक्रम के अहकारवश कोई शान्त नही होता है तो मै कान तक खींचकर छोडे हुए बाणो से उसे शान्त कर दूंगा।

इस दर्पयुक्त धमकी को सुनकर जरासन्ध कुपित होकर बोला—इस उद्दण्ड और वाचाल पुरुष को तथा पुत्र सहित राजा रुधिर को पकड लो। चक्रवर्ती की आज्ञा पाते ही मात्सर्यदग्ध राजा युद्ध के लिए उद्यत हो गये। कुछ राजा तटस्थ होकर अपनी सेना लेकर अलग जा खडे हुए। जो राजा रुधिर के पक्ष के थे, वे अपनी सेना लेकर वहाँ आ पहुँचे। राजा रुधिर का पुत्र स्वर्णनाभ रोहिणी को अपने रथ पर आरूढ कर खडा हो गया। वसुदेव अपने श्वसुर से बोले—'पूज्य ! मुझे अस्त्र शस्त्रो से भरा हुआ रथ दे दीजिये। ये दम्भी क्षत्रिय एक अज्ञात कुलशील व्यक्ति के बाणो की तीक्ष्णता का अनुभव करे।' राजा रुधिर ने तत्काल अस्त्र-शस्त्रो से भरा हुआ तीव्रगामी अश्वो से युक्त महारथ मगवा दिया। तभी दधिमुख विद्याधर कुमार के पास आकर बोला—'आप मेरे रथ मे आरूढ होकर शत्रु दल का सहार कीजिये। मै आपका सारथी बनूँगा। कुमार ने वैसा ही किया। राजा रुधिर की सेना कुमार के चारों ओर एकत्रित हो गई। उस सेना में दो हजार रथ थे, छह हजार हाथी, चौदह हजार घोडे और एक लाख पदाति थे।

प्रतिपक्ष की सेना का कोई पार नही था। दोनों सेनाओ ने आमने-सामने मोर्चा जमा लिया। शख, तुरही

आदि के तुमुलनाद के होते ही दोनों सेनायें एक दूसरी से जूझ पडीं। मनुष्यो की लाशों से मैदान पट गया। घोड़ो और हाथियो की भयकर चीत्कारो से आकाश पट गया। बाणो की अजस्र वर्षा से सूर्य तक ढक गया। तलवार, चक्र, गदा, परशु और नाना अस्त्र-शस्त्रो के प्रहारो से रुधिर की नदी बहने लगी। कुमार वसुदेव के हस्त-लाघव और शस्त्र-सचालन की निपुणता ने शत्रु-पक्ष के महावीरो को हतप्रभ कर दिया। तब उन्होने मिलकर एक साथ वसुदेव पर आक्रमण किया। किन्तु कुमार ने बडी कुशलता से उनका सामना किया। कुछ न्यायप्रिय राजाओं ने कहा कि एक व्यक्ति के ऊपर अनेक वीरो का आक्रमण करना घोर अन्याय है। तब जरासन्ध ने आज्ञा दी कि अब एक-एक राजा इस युवक के साथ युद्ध करे। जरासन्ध का आदेश पाकर एक-एक राजा क्रम से कुमार के साथ युद्ध करने लगा। किन्तु कुमार के असह्य वाणो के प्रहार के आगे टिक नही सके।

तब राजा समुद्रविजय की बारी आई। वे रथ मे आरूढ थे। रथ वेग से वसुदेव की ओर बढा। वसुदेव ने अपने पूज्य अग्रज को देखकर सारथी दधिमुख से कहा—'दधिमुख ! ये मेरे पिता के तुल्य है। इनकी सुरक्षा का ध्यान रखते हुए मुझे युद्ध करना है।' जब दोनो रथ आमने-सामने आगये तो उस युवक का देखकर समुद्रविजय सारथी से बोले—'भद्र ! इस सौम्य युवक को देखकर मेरा मन स्नेहाकुल हो रहा है। मेरी दाहिनी आख और भुजा भी फड़क रही है। इसका फल तो बन्धु-मिलन है। किन्तु युद्ध भूमि मे यह कैसे सभव हो सकता है?' सारथी बोला—'स्वामिन् ! यह शत्रु अजेय है। आप इसे जीतकर यश के भागी बनेंगे। तब बन्धु-समागम भी होगा।

समुद्रविजय कुमार से बोले—'प्रिय ! तुमने अब तक कौशल का प्रदर्शन किया है। अब भी वही कौशल दिखाना। ध्यान रहे, मै समुद्रविजय हूँ।' कुमार वेष बदले हुए थे ही, आवाज भी बदल कर बोले—'तात ! चिन्ता न करे। वही कौशल अब भी दिखाऊँगा। आप समुद्रविजय है तो मै सग्रामविजय हूँ। पहले बाण आप चलावे।'

समुद्रविजय ने बाण सन्धान किया, किन्तु कुमार ने उसे मार्ग मे ही अपने बाण से काट दिया। समुद्रविजय ने जितने बाण चलाये, सबको कुमार ने काट दिया तब क्रोध में भरकर समुद्रविजय ने दिव्यास्त्र चलाना प्रारम्भ किया। कुमार ने भी उनका उसी प्रकार उत्तर दिया। इतना ही नही, उन्होने समुद्रविजय के रथ, सारथी, और घोड़ो को भी आहत कर दिया। तब समुद्रविजय ने भयानक रौद्रास्त्र चलाया, कुमार ने ब्रह्मशिर नामक दिव्यास्त्र से उसे भी काट डाला। कुमार के रण कौशल और हस्तलाघव को देखकर शत्रु पक्ष के योद्धा भी उनकी प्रशसा करने लगे। दोनो ही वीर अप्रतिम थे। जब बहुत समय युद्ध करते हुए व्यतीत हो गया, तब कुमार ने अपने नाम से अकित एक बाण अपने बडे भ्राता के पास भेजा। बाण के साथ एक सन्देश भी सलग्न था। वाण मन्थर गति से चलकर समुद्रविजय के पास पहुँचा। समुद्रविजय ने सन्देश पढा। उसमे लिखा था—जो अज्ञात रूप से निकल गया था, वही मै आपका अनुज वसुदेव हूँ। आज सौ वर्ष पश्चात् पुन. आत्मीय जनो के निकट आया हूँ। मै आपको सादर प्रणाम करता हूँ।'

सन्देश प्राप्त होते ही समुद्रविजय रथ से कूदकर भुजा पसारे हुए अपने छोटे भाई की ओर दौड़े। वसुदेव भी रथ से उतर कर आगे बढे और अपने आदरणीय अग्रज के चरणो मे गिर पड़े। बड़े भाई ने उन्हे उठाकर अपने अक मे भर लिया। दोनो की आखो से आनन्दाश्रु बहने लगे। उनके अन्य भाई भी आ गये। सभी गले लगकर मिले। जरासन्ध आदि राजा भी वसुदेव का परिचय पाकर बड़े सन्तुष्ट हुए। फिर शुभ बेला मे वसुदेव का रोहिणी के साथ विवाह हो गया।

विवाह के बाद महाराज जरासन्ध, समुद्रविजय आदि नरेश और वसुदेव एक वर्ष तक राजा रुधिर के अतिथि रहे। एक दिन देवी रोहिणी सुख शैया पर सो रही थी। उन्होने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे चार शुभ स्वप्न देखे। प्रथम स्वप्न में गर्जन करता हुआ श्वेत गज देखा। द्वितीय स्वप्न मे उन्होंने उन्नत लहरो वाला गर्जन करता हुआ समुद्र देखा। तृतीय स्वप्न में षोडशकलायुक्त पूर्ण चन्द्र देखा और चतुर्थ स्वप्न में उन्होने मुख मे प्रवेश करता हुआ श्वेत सिह देखा। प्रात काल जागने पर उन्होंने अपने पति से स्वप्नो का वर्णन करते हुए उनका फल पूछा। स्वप्न सुनकर वसुदेव

बलभद्र बलराम का जन्म

अत्यन्त हर्षित होकर बोले--'प्रिये ! तुम्हारे ऐसा पुत्र होगा जो अत्यन्त धीर, वीर, अजेय, पृथ्वी का स्वामी और प्रजाबल्लभ होगा'। स्वप्नों का फल जानकर देवी रोहिणी भी बहुत सन्तुष्ट हुई। महाशुक्र स्वर्ग से च्युत होकर एक महासामानिक देव रोहिणी के गर्भ में आया।

नौ माह पूर्ण होने पर शुभ नक्षत्र मे पुत्र-जन्म हुआ। राजा रुधिर ने दौहित्र का धूम-धाम से जन्मोत्सव मनाया और बालक का नाम 'राम' रक्खा।

एक दिन राज-मण्डप मे सब लोग बैठे हुए थे। एक विद्याधरी आकाश मार्ग से मण्डप में आई और आकर वसुदेव से बोली—'देव ! आपकी पत्नी वेगवती और हमारी पुत्री बालचन्द्रा आपके चरणो के दर्शनो के लिए व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रही है। पुत्री बालचन्द्रा ने आपको अपने मन मे वरण कर लिया है। इसलिए उसके साथ विवाह करके उसके प्राणो की रक्षा कीजिए।' विद्याधरी के वचन सुनकर व्यवहारज्ञ वसुदेव ने अपने अग्रज समुद्र विजय की ओर देखा। समुद्रविजय बोले—'वत्स ! तुम्हे वहाँ अवश्य जाना चाहिये।' वसुदेव भ्राता की आज्ञा मिलने पर गगनवल्लभपुर गये और अपनी प्रिया वेगवती से मिले तथा बालचन्द्रा के साथ विवाह किया। इधर जरासन्ध और समुद्रविजय आदि नरेश भी अपने-अपने नगरों को लौट गये। राजा रुधिर ने सबका यथोचित सत्कार कर उन्हे विदा किया। कुमार वसुदेव भी गगनवल्लभपुर मे अपनी दोनो स्त्रियों को लेकर और विभिन्न नगरो से अपनी सभी पत्नियो को लेकर शौर्यपुर पहुँच गये। राजा और जनता ने चिर वियोग के पश्चात् कुमार को पाकर बडा हर्षोत्सव मनाया और उनका अभिनन्दन किया।

कस का जन्म और वसुदेव द्वारा वचन-दान--वसुदेव भाइयो के आग्रह को मानकर शौर्यपुर मे रहने लगे और राजकुमारो को शस्त्र-विद्या सिखाने लगे। उनके शिष्यो मे कस नामक एक कुमार भी था। एक दिन वसुदेव अपने कस आदि शिष्यों के साथ सम्राट जरासन्ध से मिलने राजगृह गये। वहाँ पहुँच कर उन्होने एक राजकीय घोषणा सुनी—'जो व्यक्ति सिहपुर के स्वामी सिहरथ को जीवित पकडकर सम्राट् के समक्ष उपस्थित करेगा, सम्राट् उसका बडा सम्मान करेगे, अपनी अद्वितीय सुन्दरी पुत्री जीवद्यशा का विवाह उसके साथ करेगे और उसे इच्छित देश का राज्य देगे।'

वसुदेव ने भी यह राज-घोषणा सुनी। उन्होने कस से प्रेरणा करके पताका उठवाई, जिसका अर्थ था कि वह सम्राट् के इस कार्य को करने के लिए तैयार है और सेना लेकर सिहरथ से लडने के लिए चल दिये। सिहपुर के बाहर मैदान मे दोनो ओर की सेनाये आ डटी। सिहरथ केवल नाम से ही सिहरथ नही था, उसके रथ मे वास्तव मे जीवित सिह जुते हुये थे। वसुदेव ने क्रीडा मात्र मे अपने बाणो द्वारा सिहो की रास काट दी। सिह स्वतन्त्र होकर भाग गये। उसी समय बड़ी फुर्ती से वसुदेव की आज्ञा से कस ने सिहरथ को बाध लिया। वसुदेव अपने शिष्य के इस शौर्य और फुर्ती को देखकर बडे प्रसन्न हुये। उन्होने प्रसन्न होकर कस से कोई वरदान मागने के लिए कहा। कस बडा चालाक था। वह विनयपूर्वक बोला 'देव ! अभी वरदान को मेरी धरोहर समझकर अपने पास ही रखिये। मुझे जब आवश्यकता होगी, मै आपसे माग लूँगा।' वसुदेव ने भी उससे कह दिया—'तथास्तु।'

वसुदेव और कस शत्रु को लेकर राजगृह पहुचे और जरासन्ध से मिले। जरासन्ध वसुदेव की वीरता पर प्रसन्न होकर बोला—'कुमार ! जीवद्यशा पुत्री को मै तुम्हे अर्पित करता हूँ।' किन्तु कुमार ने उसे बीच मे ही टोक कर बड़ी विनय के साथ कहा—'आर्य ! शत्रु को कस ने पकड़ा है, मैने नही।' तब जरासन्ध ने कस से उसका कुल, गोत्र पूछा। कंस बोला—मेरी माता मजोदरी कौशाम्बी मे रहती है और मदिरा बनाने का काम करती है। जरासन्ध कस के रूप और शौर्य को देखकर विचार करने लगा 'यह वीर युवक मदिरा बनाने वाली का पुत्र नही हो सकता।' उसने तत्काल कुछ सैनिक कौशाम्बी भेजकर वहाँ से मजोदरी को बुलवा लिया। सम्राट् ने उससे कस के कुल, गोत्र का सत्य समाचार बताने की आज्ञा दी। मजोदरी बोली—एक दिन मै यमुना तट पर गई हुई थी। वहाँ मैने एक मजूषा बहती देखी। उसे मैने निकाल लिया। उसमे एक शिशु को देखकर मुझे दया आई और उसे निकाल कर मै पालने लगी। जब यह किशोर अवस्था मे पहुँचा तो इसकी उद्दण्डता बढने लगी। साथी बालको को यह मारता-पीटता था। इससे नित्य ही उलाहने और शिकायत आने लगी। तब दुखित होकर मैने इसे घर से निकाल दिया। ज्ञात हुआ कि यह कही शस्त्र-विद्या सीखने लगा। कांस की मजूषा मे निकला था, इसलिए इसका नाम कस

रख दिया था। वास्तव में मैं इसकी माता नही हूँ। वह मजूषा यह है।' यह कहकर उसने मंजूषा सम्राट् को देदी। जरासन्ध ने मजूषा खोलकर देखी तो उसमे एक मुद्रिका तथा लेख मिला। लेख में लिखा था—यह राजा उग्रसैन और रानी पद्मावती का पुत्र है। जब यह गर्भ मे था, तभी से यह उग्र था। अत. अनिष्टकारी समझकर उसे त्याग दिया है।

जरासन्ध को अब कोई सन्देह नही रहा कि वह राजपुत्र है। उसने अपनी पुत्री जीवद्यशा का विवाह प्रसन्नतापूर्वक कस के साथ कर दिया। कस को अपने पिता के ऊपर अत्यन्त क्रोध आया। प्रतिशोध लेने का सकल्प करके उसने जरासन्ध से मथुरा का राज्य माँगा। जरासन्ध ने उसे स्वीकार कर लिया। तब कस विशाल सेना लेकर मथुरा आया और अपने पिता उग्रसैन से युद्ध करके उन्हे कौशल से बाध लिया। इतना ही नही, उसने अपने पिता को नगर के मुख्य द्वार के ऊपर कारागार मे डाल दिया। अब वह मथुरा का शासक हो गया।

वसुदेव-देवकी का विवाह—कस अपने विद्या-गुरु वसुदेव के उपकारो को भूला नही था। उसने उन्हे अत्यन्त आग्रह और सम्मान के साथ मथुरा बुलाया और गुरु-दक्षिणा के रूप मे अपनी बहन देवकी का विवाह उनके साथ कर दिया। वसुदेव उसके आग्रह को मानकर वही पर रहने लगे।

एक दिन अतिमुक्तक नामक एक निर्ग्रन्थ मुनि आहार के समय राज मन्दिर पधारे। कस-पत्नी जीवद्यशा ने उन्हे देवकी का आनन्द-वस्त्र दिखाकर उनसे उपहास किया। इससे मुनि को क्षोभ आ गया। उन्होने क्रोध में कहा—'मूर्ख! तू शोक के स्थान मे आनन्द मान रही है। इसी देवकी के गर्भ से उत्पन्न बालक तेरे पति और पिता का सहार करेगा।' यह कहकर वे वहाँ से विहार कर गये।

इस भविष्यवाणी को सुनकर जीवद्यशा भय से कापने लगी। उसे विश्वास था कि निर्ग्रन्थ मुनि के वचन कभी मिथ्या नही होते। वह पति के पास पहुँची और उसने सब समाचार उसे बता दिये। धूर्त कस ने विचार किया और वह वसुदेव के पास पहुँचा। उसने उन्हे प्रणाम करके बड़ी विनम्रता से धरोहर स्वरूप रखा हुआ वरदान देने की प्रार्थना की। वह बोला—'आर्य! आपने मुझे वरदान देने का वचन दिया था। मै वह वर माँगता हूँ कि बहन देवकी प्रसूति के समय मेरे घर पर रहा करे। वसुदेव को इस समाचार का कुछ ज्ञान नही था, अत उन्होने इसे स्वीकार कर लिया।

किन्तु उन्हे शीघ्र ही कस की दुरभिसन्धि का पता चल गया। तब उन्हे बडी चिन्ता हुई। वे देवकी को लेकर वन मे अतिमुक्तक मुनिराज के पास गये। मुनिराज को नमस्कार करके दोनो उनके पास बैठ गये। मुनिराज ने उन्हे आशीर्वाद दिया। तब वसुदेव ने उनसे पूछा—'भगवन्! मेरा पुत्र इस पापी कस का सहार कैसे करेगा, यह मै आपसे जानना चाहता हूँ।' अतिमुक्तक मुनिराज अवधिज्ञान के धारक थे। वे बोले—राजन्! इस देवकी का सातवां पुत्र शङ्ख, चक्र, गदा और धनुष का धारक नारायण होगा। वह कस और जरासन्ध आदि शत्रुओ का वध कर अर्धचक्रेश्वर बनेगा। शेष छहो पुत्र चरम शरीरी होगे। रोहिणी का पुत्र रामभद्र बलभद्र है। तुम्हे किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नही है।

वसुदेव और देवकी सन्तुष्ट मन से लौट गये। वसुदेव चूँकि वचन दे चुके थे। अत उन्होने कस के साथ मित्रता तो रक्खी, किन्तु उसमे उपेक्षा आ गई। वे दोनो आनन्दपूर्वक मथुरा मे रहने लगे। कस मृत्यु की शका से शकित हुआ उनकी पहल की अपेक्षा अधिक अभ्यर्थना और सेवा सुश्रूषा करने लगा।

देवकी ने तीन बार गर्भ धारण किये और तीनो बार युगल पुत्र उत्पन्न हुए। इन्द्र की आज्ञा से सुनैगम देव ने प्रत्येक बार देवकी के पुत्रो को सुभद्रिलनगर के सेठ सुदृष्टि की पत्नी अलका के यहाँ और अलका के युगल मृत पुत्रो को देवकी के यहाँ पहुँचा दिया। कस ने उन मृत पुत्रों को शिला पर पछाड दिया। वे छहों पुत्र अलका सेठानी के घर पर रह कर दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। उनका रूप, लावण्य और पुण्य अद्भुत था। उनके नाम इस प्रकार थे—नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न और जितशत्रु।

नारायण कृष्ण

एक दिन देवकी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सात शुभ स्वप्न देखे। प्रथम स्वप्न में उगता हुआ सूर्य, दूसरे में पूर्ण चन्द्र, तीसरे मे दिग्गजो द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी, चौथे मे आकाश से नीचे उतरता हुआ विमान, पाचवे में ज्वालाओ से युक्त निर्धूम अग्नि, छठे में रत्नो की किरणो से दीप्त देव-ध्वज और सातवे स्वप्न मे अपने मुख मे प्रवेश करता हुआ सिह देखा। प्रात काल उठकर उन्होने पतिदेव से अपने स्वप्नों का वर्णन करके उनका फल पूछा। वसुदेव स्वप्नो का हाल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—'देवी ! तुमने जो स्वप्न देखे है, उनका फल यह है कि तुम्हारे ऐसा प्रतापी पुत्र होगा जो समस्त पृथ्वी का स्वामी होगा। वह सूर्य के समान प्रतापी, चन्द्रमा के समान सर्वजन प्रिय, दिग्गजो द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी के समान अतुल राज्य लक्ष्मी का स्वामी, स्वर्ग से अवतरित होकर, अत्यन्त कान्ति युक्त, स्थिर प्रकृति और सिह के समान निर्भय वीर होगा।

कृष्ण-जन्म

स्वप्नो का फल सुनकर देवकी को अपार हर्ष हुआ। उसी दिन देवकी ने गर्भ धारण किया। गर्भ धीरे धीरे बढने लगा। कुटिल कस अलक्ष्य रूप से गर्भ के महीनो और दिनो की गिनती करता हुआ पूर्ण देख रेख कर रहा था। अन्य बालक नौ माह पूर्ण होने पर उत्पन्न हुए थे। परन्तु कृष्ण का जन्म श्रवण नक्षत्र मे भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को सातवे माह मे हो गया। सद्य जात बालक के शरीर पर शख, चक्र आदि शुभ लक्षण थे। शरीर का वर्ण और कान्ति नीलमणि के समान थी। उनकी कान्ति से प्रसूति गृह प्रकाशित हो उठा। बालक के पुण्य प्रभाव से बन्धु बान्धवो के घरो मे शुभ शकुन होने लगे और शत्रुओ के घरो मे अशुभ शकुन होने लगे।

सात दिनो से आकाश मेघाच्छन्न था। काली अधियारी सारे नगर पर छाई हुई थी। घनघोर वर्षा हो रही थी। वसुदेव और बलराम ने परामर्ष करके निश्चय किया कि बालक को यथाशीघ्र नन्दगोप के घर पहुँचा देना चाहिये, वही इसका पालन पोषण होगा। उन्होने अपनी योजना देवकी को भी बता दी। बलराम ने बालक को गोद मे उठा लिया, वसुदेव ने उस पर छत्र लगा लिया और वे उस घोर अधियारी रात मे वर्षा मे ही चल दिये। सारा नगर वेसुध सो रहा था। अन्धेरे मे राह नही सूझती थी। किन्तु बालक के असीम पुण्य के प्रभाव से नगर देवता बैल का रूप धारण करके आगे-आगे चलने लगा। उसके सीगो पर दो रत्न-दीप जल रहे थे, जिससे रास्ते में प्रकाश विकीर्ण हो रहा था। गोपुर के द्वार बन्द थे किन्तु बालक का चरण स्पर्श होते ही द्वार खुल गये। तभी पानी की एक बूद बालक की नाक मे घुस गई, जिससे उसे छीक आ गई। छीक का शब्द बिजली के समान गम्भीर था। उस गोपुर के ऊपरी भाग मे कस के पिता महाराज उग्रसेन बन्दी थे। छीक के शब्द को सुनकर बोले—'तू निर्विघ्न रूप से चिरकाल तक जीवित रह' पिता-पुत्र इस आशीर्वचन को सुनकर बडे प्रसन्न हुए और कहने लगे—'पूज्य ! रहस्य की रक्षा की जाय। देवकी का यह पुत्र ही आपको बन्धन-मुक्त करेगा।' यो कहकर वे नगर के बाहर निकल गये।

बरसात की यमुना घहराती हुई प्रबल वेग से बह रही थी। किन्तु कृष्ण के पुण्य से यमुना ने दो भागों में विभक्त होकर उन्हे मार्ग दे दिया। यमुना पारकर वे अपने विश्वासपात्र नन्दगोप के घर की ओर जा रहे थे। तभी उन्होने देखा—नन्दगोप सद्य जात एक बालिका को लिये हुए आ रहे है। वसुदेव ने उनसे पूछा-'नन्द ! तुम यह बालिका कहाँ लिये जा रहे हो ?' नन्द बोले-'कुमार ! मेरी स्त्री ने देवी देवताओ की बडी मनौती मनाई थी कि सन्तान हो जाय। किन्तु जब यह कन्या उत्पन्न हुई तो वह कहने लगी-'ले जाओ इस कन्या को। मुझे नहीं चाहिये। उन्ही देवताओ को दे आओ। उसके कहने से मै इस कन्या को लिये जा रहा हूँ।' नन्दगोप की बात सुन कर वसुदेव बड़े प्रसन्न हुए और बोले-'मित्र ! यह कन्या तुम मुझे दे दो और इसके बदले तुम यह पुत्र ले लो और अपनी पत्नी को यह कहकर सोंप दो कि देवताओं ने तुम्हारी प्रार्थना सुनकर स्वीकार करली है और पुत्री के बदले यह पुत्र दे दिया है।' इसके बाद उन्होने अपने उस विश्वासपात्र मित्र नन्दगोप को सारा वृत्तान्त सुना कर कहा-

मित्र ! इस रहस्य की तुम प्राण पण से रक्षा करना। मैं इस भावी अर्धचक्री को तुम्हे सोप रहा हूँ। इसको तुम अपना ही बालक मानकर पालन पोषण करना।'

नन्दगोप ने जब उस राजीव लोचन श्याम सलोने कामदेव के समान सुन्दर बालक को देखा तो हर्ष से उनका रोम-रोम खिल उठा। वे बालक को लेकर चल दिये। वसुदेव और बलराम भी बालिका को लेकर उसी रहस्यमय ढग से वापिस गये, जिस प्रकार वे आये थे और ले जाकर देवकी को सोप दिया।

जब कस को बहन की प्रसूति का समाचार ज्ञात हुआ तो वह प्रसूति-गृह मे घुस गया। जब उसने बहन के बगल मे कन्या देखी तो उसके मन मे से भय दूर हो गया। फिर भी उसने सोचा-कदाचित् इसका पति मेरा शत्रु हो सकता है। यह विचार कर उसने कन्या को उठा लिया और उसकी नाक मसल कर उसे चपटी कर दिया। उसे यह भी विश्वास हो गया कि अब देवकी के सन्तान होना बन्द हो गया है। अत वह निश्चित मन से वापिस लौट गया।

उधर यथासमय नन्दगोप के घर पर बालक का जात सस्कार हुआ और उसका नाम 'कृष्ण' रक्खा गया।

कृष्ण का बाल्य-जीवन—कृष्ण धीरे धीरे बढने लगे। बालक की अद्भुत बाल-क्रीडाओ को देख देख कर नन्द और यशोदा फूले नही समाते थे। वह बालक माता पिता की आखो का तारा था। उसका रूप मोहक था। गाव की गोपिकाये बालक को खिलाने के बहाने वहाँ आती और उसे घण्टो तक अपलक नेत्रो से निहारती रहती। यही दशा वहाँ के गोपो की थी। नन्द का घर दिन रात इन गोप-गोपिकाओ से सकुल रहता था और वे बालक की एक झलक पाने के लिये व्याकुल रहते थे।

कृष्ण द्वारा देवियो का मान-मर्दन—एक दिन वरुण नामक एक निमित्तज्ञानी ने कस से निवेदन किया—'राजन् ! तुम्हारा घातक शत्रु उत्पन्न हो गया है और वह छद्म रूप में बढ रहा है। तुम उसका पता लगाओ।' निमित्तज्ञानी की बात सुनकर कस को चिन्ता होने लगी। उसने तीन दिन का उपवास किया। उससे उसके पूर्वजन्म की हितैषी सात देवियाँ आई और वे बोली—'हम तुम्हारे पूर्व भव में किये हुए तप से सिद्ध हुई है। आपका हम क्या प्रिय कार्य कर सकती है।' कस बोला—'देवियो ! मेरा शत्रु कही उत्पन्न हो चुका है। तुम उसका पता लगाओ और उसका विनाश कर दो।'

कस की आज्ञा पाते ही वे सातो देवियाँ चल दी। एक देवी भयकर पक्षी का रूप धारण करके कृष्ण के पास पहुची और अपनी तेज चोचो से उन पर प्रहार करने लगी। किन्तु बालक कृष्ण ने उसकी चोच इतनी जोर से दबाई कि वह प्राण बचाकर भागी। दूसरी देवी पूतना का रूप धारण कर बालक को विषमय स्तन पिलाने लगी। कृष्ण ने स्तन इतनी जोर से चूसा कि वह भी भयभीत होकर भाग गई। तीसरी पिशाची शकट का रूप धारण करके कृष्ण के सन्मुख आई किन्तु कृष्ण ने उसे लात मारकर भगा दिया।

बालक कृष्ण अब कुछ बडे हो गये। उनकी शरारते दिनो दिन बढती जाती थी। वे निगाह बचते ही मक्खन चुराकर खाजाते थे। परेशान होकर माता यशोदा ने एक दिन कृष्ण को उखली से बांध दिया। तभी दो देवियाँ जमल और अर्जुन वृक्ष का रूप धारण करके कृष्ण को मारने आयी। किन्तु कृष्ण ने उन्हे धराशायी कर दिया। एक दिन एक देवी मत्त बैल का रूप बनाकर आई। वह बैल गोपो की बस्ती मे भयकर शब्द करता हुआ फिरने लगा। फिरता हुआ वह घोर गर्जना करता हुआ कृष्ण की ओर झपटा। कृष्ण यमराज के समान उस भयकर बैल को आते देखकर जरा भी विचलित नही हुए। उन्होने बैल की गर्दन जोरो से पकड कर मरोड दी। बेचारी देवी अपने प्राण बचाकर भागी। जब वे छह देवियाँ असफल होकर लौट गई तो सातवी देवी को भयकर क्रोध आया। उसने गोकुल के ऊपर पाषाण और जल की भयकर वर्षा प्रारम्भ कर दी। गोकुल वासी सम्पूर्ण गोप और गाये व्याकुल होकर इधर उधर भागने लगे। तब कृष्ण ने सबको एक जगह गोवर्धन पर्वत के ऊपर एकत्रित किया और सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया। इस प्रकार उन्होने सारे गोवर्धन का भार उठा लिया अर्थात् गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले गापो और गायो की रक्षा का दायित्व उन्होने अपने ऊपर ले लिया और सफलतापूर्वक उसे पूरा किया।

कुछ लोगों का विश्वास है कि कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को ऊपर उठा लिया और सम्पूर्ण गोप और गायें उसके नीचे इन्द्र के प्रकोप से सुरक्षित रहे। हिन्दू पुराणो के इस आलंकारिक वर्णन का रहस्य न समझ कर कुछ लोग उनके शब्दो को पकड़ लेते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू पुराणों में आलंकारिक वर्णन प्राय: मिलता है। जैसे द्रोणाचल पर जाने पर हनुमान सजीवनी बूटी नहीं पहचान सके तो वे द्रोणाचल को ही उठा लाये। साधारण जनता ने इसका अर्थ यही निकाला कि वे वास्तव में पर्वत को उठा लाये। किन्तु क्या पर्वत को उठा लाना सभव है, इस पर विचार नही किया। जैसे किसी नौकर को किसी ने साग लाने के लिये कुछ रुपये दिये। नौकर अपनी इच्छा और बुद्धि से दस पाच तरह के साग खरीद लाया। तब सागो को देखकर मालिक बोला अरे! तू तो सारा बाजार ही उठा लाया। इसका अर्थ यह नही है कि वह बाजार की सारी चीजे ले आया, बल्कि इसका आशय वस्तुओ की बहुलता है। इसी प्रकार गोवर्धन पर्वत को कृष्ण ने उठा लिया, इसका आशय यह नही है कि उन्होने पर्वत को पकड़ कर ऊपर उठा लिया। पर्वत को ऊपर उठाना सभव भी नही है। इसका आशय यह है कि कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले गोपो और गायो की जिम्मेदारी उठाई। जैसे बोलचाल मे कहते है—घर का सारा भार मेरे ऊपर है। इसका अर्थ यह नही है कि घर का सारा सामान और मकान वह अपने ऊपर लिये फिरता है, बल्कि इसका आशय यह है कि घर की सारी जिम्मेदारी मेरे ऊपर है। ऐसे ही कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठाया अर्थात् उन्होने गायो और ग्वालो को गोवर्धन पर्वत के किसी सुरक्षित स्थान पर ले जाकर हिन्दू पुराणो के अनुसार इन्द्र के प्रकोप से से अर्थात् वर्षा आदि से रक्षा की।

गोवर्धन पर्वत उठाने का रहस्य

कृष्ण की वीरता की गाथाये वसुदेव और देवकी के कानो तक पहुँची। देवकी का मातृ-हृदय अपने पुत्र से मिलने के लिये आतुर हो उठा। वह व्रत का बहाना करके पुत्र को देखने के लिये गोकुल पहुँची। वहाँ वह पीनस्तनी गायों और हृष्ट-पुष्ट गोप-बालको को देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। वह यशोदा से मिलने उसके घर पहुंची। नन्द और यशोदा अपनी स्वामिनी एव सखी को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका बडा आतिथ्य किया। तभी बालक कृष्ण वहाँ आये। वे उस समय पीताम्बर धारी थे। सिर पर मोर-पखो का मुकुट धारण कर रक्खा था। गले मे नील कमल की माला धारण कर रक्खी थी। कानो मे स्वर्णाभरण धारण किए हुए थे। कलाइयों में स्वर्ण के कड़े सुशोभित थे। माथे पर दुपहरिया के फूल लटक रहे थे। उनके साथ अनेक बाल गोपाल थे। देवकी अपने पुत्र के इस अद्भुत परिधान और मनभावन रूप को अपलक देखती ही रह गई। यशोदा के कहने पर कृष्ण ने देवकी को प्रणाम किया। देवकी ने उसे अक में भर लिया। पुत्र-वात्सल्य के कारण उसके स्तनो से दूध झरने लगा। बुद्धिमान बलदेव ने रहस्य खुल जाने के भय से दूध के घडे से माता का अभिषेक कर दिया और शीघ्र ही माता को लेकर मथुरा पहुँचा दिया।

देवकी का पुत्र से मिलन

कृष्ण को शस्त्र विद्या का शिक्षण—वसुदेव ने अपने पुत्र कृष्ण की सुरक्षा और देख-भाल के लिये अपने बडे पुत्र बलदेव को नियुक्त कर दिया। रहस्य प्रगट न हो जाय, इसलिये बलदेव भी यदा-कदा जाकर अपने अनुज को देख आते थे और वहाँ जाकर वे कृष्ण को राजकुमारोचित अस्त्र-शस्त्र-सचालन की शिक्षा देते थे। कृष्ण अत्यन्त मेधावी थे। उन्होंने अल्पकाल में ही अस्त्र-शस्त्र-सचालन में पूरी निष्णता प्राप्त कर ली। वे मल्ल-विद्या में भी पारङ्गत हो गये।

चाणूर और कस का बध—कृष्ण की शौर्य गाथाये नाना रूप में लोक में फैल रही थी। उन्हे सुन-सुन कर कंस को विश्वास होने लगा कि मेरा शत्रु छद्म रूप में बढ़ रहा है। उसने कृष्ण को मारने के लिये नानाविध उपाय किए, किन्तु वे सब व्यर्थ हो गये। तब ऐसी दशा में उसका चिन्तित होना स्वाभाविक था। उसके अत्याचारो को वसुदेव मौन होकर देख रहे थे क्योकि वे वचनबद्ध थे।

एक दिन अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना हो गई। कंस के यहाँ सिंहवाहिनी नागशय्या, अजितजय नामक

धनुष और पाञ्चजन्य नामक शख ये तीन अद्भुत शस्त्र उत्पन्न हुए।[१] ये शस्त्र असाधारण थे। देव लोग इनकी रक्षा करते थे। कस द्वारा इन शस्त्रों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पूछने पर वरुण ज्योतिषी ने कहा—'राजन्! जो व्यक्ति नागशय्या पर चढकर धनुष पर प्रत्यचा चढ़ादे और पाञ्चजन्य शङ्ख को फूंक दे, वही तुम्हारा शत्रु है।' ज्योतिषी के वचन सुनकर कस की चिन्ता और भी बढ गई। उसने शत्रु का पता लगाने के लिये नगर में घोषणा करा दी—'जो कोई यहाँ आकर नागशय्या पर चढकर एक हाथ से पाञ्चजन्य शख बजावेगा और दूसरे हाथ से धनुष पर डोरी चढा देगा, वह पराक्रमी माना जाएगा। महाराज कस उसका बहुत सम्मान करेंगे और अपनी पुत्री उसे देंगे।'

घोषणा अन्य नगरो मे भी प्रचारित की गई। उसे सुनकर अनेक देशो के राजा मथुरापुरी आने लगे। राजगृह से कस का साला स्वर्भानु अपने पुत्र भानु के साथ बड़े वैभव के साथ आ रहा था। मार्ग मे वह व्रज के गोधावन के एक सरोवर के तट पर ठहरने का उपक्रम करने लगा। इस सरोवर मे भयकर सर्पों का निवास था। उसे ठहरते देखकर ग्वाल बालो ने उससे कहा-'यहाँ ठहरना असभव है। इस सरोवर से कृष्ण के अतिरिक्त कोई व्यक्ति पानी नही ले सकता।' यह सुनकर स्वर्भानु ने अन्यत्र अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया और कृष्ण को अपने निकट बुलाकर बात करने लगा। कृष्ण के पराक्रम की बातो को सुनकर वह बड़ा प्रभावित हुआ और उन्हें स्नेह-वश अपने साथ मथुरापुरी ले गया।

मथुरा पहुँचने पर वे लोग कस से मिले। उन्होने उन लोगो को भी देखा, जिन्होने नागशय्या पर चढने का प्रयत्न किया था किन्तु असफल रहे। यह देखकर साहसी कृष्ण आगे बढे। उन्होने भानु को पास ही खडा कर लिया और देखते-देखते उस नागशय्या पर साधारण शय्या के समान चढ गये, जिसके ऊपर भयकर सर्पों के फण लहरा रहे थे। तब उन्होंने एक हाथ से अजितजय धनुष की प्रत्यचा चढ़ाकर दूसरे हाथ से शख को पकड़कर फूंका। इसके बाद स्वर्भानु का सकेत पाकर कृष्ण वहाँ से चल दिये। कृष्ण के लोकोत्तर प्रभाव को देखकर बलदेव को दुष्ट कस से आशंका हो गई। अत: उन्होने कृष्ण को अकेला नही जाने दिया, बल्कि एक विजयी योद्धा के समान उनके साथ अनेक आत्मीय जनों को भी भेजा।

इधर समारोह से विजयी योद्धा के अन्तर्धान होने से नाना भाँति की चर्चा होने लगी। किसी ने कहा—यह महान् कार्य राजकुमार भानु ने किया है। किसी ने कहा—यह कार्य भानु ने नही, अन्य राजकुमार ने किया है। यह सुनकर कस ने कहा—'कौन राजकुमार था वह, उसका नाम, धाम पता लगाना होगा। मुझे उसके लिये अपनी कन्या देनी है।' जब नन्द गोप को पता लगा कि यह असाध्य काम मेरे पुत्र ने किया है तो वे स्त्री-पुत्र और गायो को लेकर कस के भय से भाग गये।

यद्यपि कस को ज्ञात हो गया था कि यह कार्य कृष्ण ने किया है, किन्तु उसने अपना सदेह प्रगट नही किया और उन्हें मारने का उपाय सोचने लगा। उसने विचार करके गोपों को आदेश दिया—'नाग ह्रद के सहस्रदल कमल की मुझे आवश्यकता है। तुम लोग उस सरोवर से मुझे कुछ कमल लाकर दो।' कस का यह आदेश सुनकर कृष्ण निर्भय होकर उस सरोवर मे घुस गये। तभी वहाँ के सापो का अधिपति मणिधारी कालिय नाग भयकर फण फैला-कर कृष्ण की ओर तीव्र वेग से आया। किन्तु कृष्ण ने क्रीड़ा मात्र में उस विषधर का मान मर्दन कर दिया। समस्त गोप उस सर्प की भयकर आकृति को देखकर ही भयभीत हो गये थे, किन्तु जब उन्होने देखा कि कृष्ण ने उस सर्प का वध कर दिया है तो वे हर्ष के मारे उनकी जय-जयकार करने लगे। पीताम्बरधारी कृष्ण कमल तोडकर ज्यो ही सरोवर से निकले, नीलाम्बरधारी बलभद्र ने उन्हे प्रगाढ़ आलिगन में भर लिया।

समस्त गोप सहस्र दल कमल लेकर कंस के पास पहुँचे और उसके समक्ष उन कमलों का ढेर लगा दिया। यह देखकर कस ईर्ष्या से दग्ध हो गया। उसने तत्काल आदेश दिया—'नन्द गोप के पुत्र और समस्त गोप मल्लयुद्ध के लिये तैयार हो जाये। उन्हे हमारे मल्लो के साथ युद्ध करना है।'

---

१. उत्तर पुराण के अनुसार मथुरा मे जैन मन्दिर के समीप पूर्व दिशा मे दिक्पाल के मन्दिर मे ये तीनों शस्त्ररत्न उत्पन्न हुए थे।

वसुदेव क्रूर कस के दुष्ट अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अपने अनावृष्टि नामक पुत्र से परामर्श किया और उसे शौर्यपुर अपने सब भाईयों को बुलाने भेज दिया। समाचार मिलते ही महाराज समुद्रविजय और उनके आठों भाई रथ, घोड़े, हाथी और पदाति सेना लेकर चल दिये और मथुरा जा पहुँचे। जब कस को उनके आगमन की सूचना मिली तो उसका हृदय शकित हो उठा। किन्तु उसे आश्वस्त कर दिया गया कि ये लोग चिरकाल से वियुक्त अपने भाई वसुदेव से मिलने आये हैं, तब वह उनके स्वागत के लिये पहुँचा और सबको सम्मानसहित नगर में लाया, उन्हें उत्तम भवनों मे ठहराया और सब प्रकार का उचित आतिथ्य किया।

समय अनुकूल समझ कर बलभद्र कृष्ण को लेकर नदी पर स्नान करने गये और वहाँ उन्हें कस की दुरभि-सन्धि, कृष्ण के जन्म से पूर्व कस द्वारा देवकी के सभी पुत्रो की तथाकथित हत्या, समय से पूर्व कृष्ण का जन्म और छिपाकर नन्द गोप के घर पहुँचाने आदि के समाचार विस्तार से बताये। साथ ही अतिमुक्तक मुनि की भविष्यबाणी सुनाते हुये कहा—'कस मल्ल विद्या के बहाने तुम्हारा वध करना चाहता है। उसने इस प्रकार के कई प्रयत्न किये है।' कृष्ण बलभद्र से अपने वास्तविक वश, माता-पिता-बन्धु और दुष्ट कस के समाचार सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। फिर दोनो भाई तैयार होकर गोपो के साथ मथुरा की ओर चले।

वे लोग नगर में प्रवेश करते हुए जब द्वार पर पहुँचे तो शत्रु की योजनानुसार चम्पक और पादाभर नामक दो हाथी उन लोगो की ओर हूल दिये गये। वे लोग पहले से ही सावधान थे। तुरन्त ही बलभद्र ने चम्पक को धर दबाया और कृष्ण पादाभर से जूझ गये। उन मत्त गयन्दो ने अपने दात, सूड़ और पैरो के प्रहार से उन दोनो नरसिहो को चूर-चूर करना चाहा, किन्तु सिह के समान उन दोनो वीरो ने अपनी मुष्टिका और पाद-प्रहारो से उन गजो का मद विगलित कर दिया और वे उनके कठिन प्रहारो से चीत्कार करने लगे।

शत्रु की योजना को इस प्रकार विफल करके दोनो वीर भ्राता गोपमण्डली के साथ रगभूमि में पहुँचे। वहाँ पहुचते ही बलभद्र ने सकेत से कृष्ण को समझा दिया कि यह है शत्रु कस और ये है शत्रु-पक्ष के लोग। ये सामने अपने पुत्रो सहित समुद्रविजय आदि बन्धु बैठे है।

वहाँ मल्ल-युद्ध देखने के लिए अनेक नगरवासी, नगर के अधिकारी और राजा लोग एकत्रित थे। कस की आज्ञानुसार मल्ल-युद्ध प्रारम्भ हुआ। मल्लो के कई जोड़े रगभूमि मे आये और अपने-अपने कौशल दिखाकर चले गये। तब कस ने कृष्ण से युद्ध करने के लिये अपने राजकीय मल्ल चाणूर को भेजा। उसने सकेत से मुष्टिक मल्ल को भी कृष्ण के ऊपर टूट पड़ने का सकेत कर दिया।

कृष्ण और चाणूर दोनो मुष्टि-युद्ध मे जुट गये। अवसर देखकर मुष्टिक मल्ल आकर पीछे से कृष्ण पर प्रहार करना ही चाहता था, तभी विद्युत् गति से बढकर 'बस-बस ठहर' कहते हुए बलभद्र ने मुष्टिक के जबड़ों और सिर पर भारी मुष्टिका प्रहार करके उसे प्राणरहित कर दिया। उधर कृष्ण के साथ विशाल आकारधारी दैत्य सम चाणूर जूझ रहा था। कृष्ण ने चाणूर को अपने वक्ष स्थल से लगाकर इतनी जोर से दबाया कि उसके मुख से रुधिर की धारा वह निकली और गतप्राण हो गया। जब कस ने अपने दोनो मल्लो को प्राणरहित देखा तो वह क्रोध से नथुने फुलाता हुआ तलवार लेकर उन्हें मारने दौड़ा। कृष्ण ने सामने आते हुए शत्रु के हाथ से तलवार छीन ली और मजबूती से उसके बाल पकड़ कर उसे पृथ्वी पर पटक दिया। तत्पश्चात् उसके पैरो को पकड़कर उसे पत्थर पर पछाड़ कर मार डाला। कस को मारकर कृष्ण हँसने लगे।

राजा की हत्या से क्षुब्ध होकर कस की सेना शस्त्र सभाले आगे बढी। बलभद्र ने क्रोधवश मच का एक स्तम्भ उखाड़ लिया और उसी से सेना पर बज्र तुल्य प्रहार करने लगे। उन्होने कस की सेना को अल्पकाल मे ही परास्त कर दिया। तब कस की सेवा में नियुक्त जरासन्ध की सेना आगे आई। उस सेना को बढ़ते देखकर यादवो की सेना उस पर टूट पड़ी और शत्रु-सैनिको को समाप्त करने मे उन्हे विशेष समय नही लगा।

माता-पिता से कृष्ण का मिलन—बलभद्र और कृष्ण दोनों भाई अनावृष्टि के साथ रथ में आरुढ होकर अपने पिता के घर गये। वहाँ पर महाराज समुद्रविजय और उनके सभी भाई पहले ही पहुँच चुके थे। दोनो भाइयो ने जाकर समुद्रविजय आदि गुरुजनों को नमस्कार किया। गुरुजनो ने उन्हे आशीर्वाद दिया। अपने चिर वियुक्त पुत्र

को पाकर वसुदेव और देवकी के हर्ष का पार नहीं था। आज उन्होंने पहली बार अपने पुत्र का मुख नि:शंक रूप से देखा था।

इसके बाद सबने मिलकर राज्य के भविष्य के बारे में निर्णय किया। तद्नुसार कृष्ण ने कारागार में पड़े हुए महाराज उग्रसेन को वहाँ से मुक्त किया तथा राजसिंहासन पर लेजाकर बैठाया। फिर सबने मिलकर कंस आदि का अन्तिम संस्कार किया। कंस की पत्नी जीवद्यशा रुदन करती हुई तथा क्रोध में भरी हुई वहां से चलकर अपने पिता राजगृह नरेश जरासन्ध के पास पहुँच गई।

सत्यभामा और रेवती का विवाह—एक दिन यादववंशी नरेश गण राजसभा में बैठे हुए थे, तभी विजयार्ध-पर्वत की दक्षिण श्रेणी के नगर रथनूपुर चक्रवाल के नरेश सुकेतु का दूत सभा मे आया। उसने बड़े आदर और विनय के साथ शत्रुओं का संहार करने वाले श्रीकृष्ण से कहा—'हे देव! विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल प्रसिद्ध नगर है। वहाँ के अधिपति महाराज सुकेतु ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है। उन्होंने सिंहवाहिनी नागशय्या पर आरोहण, पाँचजन्य शंख को फूकने और अजितंजय धनुष के सन्धान से आपकी परीक्षा करके यह निवेदन किया है कि आप मेरी सुलक्षणा पुत्री सत्यभामा को अंगीकार करलें। इससे विद्याधर लोक का गौरव बढ़ेगा।' दूत के वचन सुनकर प्रसन्न चित्त से कृष्ण ने अपनी सहमति देदी।

सहमति प्राप्त होते ही दूत वहाँ से रथनूपुर पहुँचा और वहाँ अपने स्वामी सुकेतु से कृष्ण और बलभद्र भाइयों की प्रशंसा करके कार्य सिद्ध होने की सूचना दी। दूत-मुख से यह हर्ष-समाचार सुनकर राजा सुकेतु और उसका भाई रतिमाल अपनी-अपनी कन्याओं को लेकर चल दिए। सुकेतु की कन्या का नाम सत्यभामा था और वह रानी स्वयप्रभा की पुत्री थी। रतिमाल की कन्या का नाम रेवती था। मथुरा पहुँच कर उन्होंने बड़े समारोह के साथ विवाह-मण्डप तैयार कराया। उसमे रतिमाल ने अपनी पुत्री रेवती बलभद्र के लिए अर्पित की और सुकेतु ने अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह कृष्ण के साथ कर दिया। इस विवाह-सम्बन्ध से समस्त यादव, विशेषत. माता रोहिणी और देवकी अत्यन्त सन्तुष्ट थी।

यादवों के प्रति जरासन्ध का अभियान—कंस की स्त्री जीवद्यशा जब गिरिव्रज पहुँची और जरासन्ध के आगे करुण विलाप करते हुए उसने यादवों का नाश करने के लिए अपने पिता को भड़काया तो जरासन्ध भी अपनी पुत्री और दामाद के प्रति यादवों द्वारा किये गये अनुचित कार्य से क्षुब्ध हो उठा। उसने पुत्री को सान्त्वना देकर यादवों के विनाश का निश्चय किया। उसने अपने महारथी पुत्र कालयवन को चतुरंगिणी सेना के साथ यादवों का समूल विनाश करने के लिये भेजा।

इधर श्रीकृष्ण ने उग्रसेन को कारागार से मुक्त करके उन्हे मथुरा का राज्य सौंप दिया तथा अपने पिता नन्द तथा अपने बालसखा गोपालों का धन आदि से उचित सम्मान करके उन्हे आदर सहित विदा कर दिया। सब कार्यों से निवृत्त होकर वे शौर्यपुर नगर चले गये और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे।

कालयवन विशाल सेना लेकर चला। दूतों द्वारा समाचार जानकर यादव लोग भी सेना सजाकर शत्रु का प्रतिरोध करने आगे बढे। मार्ग में दोनों सेनाओं का सामना हुआ और भयंकर युद्ध हुआ। कालयवन को श्रीकृष्ण के हाथों करारी पराजय मिली और उसे रणभूमि छोड़कर भागना पड़ा। किन्तु वह पुन: सेना लेकर जा चढा। इस प्रकार उसने सोलह बार आक्रमण किया और प्रत्येक बार उसे पलायन करना पड़ा। सत्रहवी बार अतुल मालावर्त पर्वत पर यादवों के साथ उसकी करारी मुठभेड़ हुई किन्तु इस युद्ध में श्रीकृष्ण के द्वारा उसकी मृत्यु हो गई।

अपने पुत्र की मृत्यु के दारुण समाचार सुनकर जरासन्ध को यादवों पर भयंकर क्रोध आया और उसने अप्रतिम वीर भ्राता अपराजित को यादवों से बदला लेने के लिये भेजा। उसने तीन सौ छयालीस बार यादवों के साथ युद्ध किया। अन्त में श्रीकृष्ण के बाणों ने उसे भी कालयवन के निकट पहुँचा दिया।

भगवान का गर्भ कल्याणक—तीर्थंकर प्रभु शौर्यपुर मे माता शिवादेवी के गर्भ में आने वाले है। यह बात अवधिज्ञान से जानकर इन्द्र ने छह माह पूर्व कुबेर को रत्नवर्षा की आज्ञा दी। कुबेर ने भगवान के जन्म पर्यन्त-पन्द्रह माह तक महाराज समुद्रविजय के महलों में प्रतिदिन तीन बार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की एक बार के हिसाब से

वर्षा की। महाराज समुद्रविजय इस धन को याचकों में वितरित कर देते थे। इन्द्र के आदेश से छप्पन दिक्कुमारियाँ माता की सेवा करती थी।

एक दिन माता शिवादेवी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसी दिन कार्तिक शुक्ला षष्ठी को जयन्त विमान से अहमिन्द्र का जीव चलकर माता के गर्भ मे अवतरित हुआ। प्रातः काल वन्दीजनो की मागलिक विरुदावलियो और भेरियो की ध्वनि सुनकर माता शिवादेवी शय्या छोड़कर उठ बैठी और मगल स्नान किया, वस्त्राभरण धारण किये और बड़ी विनय के साथ अपने पति के निकट जाकर अर्धासन पर आसीन हो गई। पश्चात् उन्होने रात को देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनका फल पूछा। महाराज ने स्वप्न सुनकर उनका फलादेश बताते हुए कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ मे तीन लोक के स्वामी तीर्थंकर अवतीर्ण हुए है। स्वप्न फल सुनकर रानी अत्यन्त हर्षित हुई। उसी समय इन्द्रो ने चिन्हो से तीर्थंकर का गर्भावतरण जान लिया और उन्होंने देवो के साथ आकर भगवान का गर्भ कल्याणक महोत्सव किया।

जन्म कल्याणक—भगवान त्रिलोकीनाथ गर्भ मे थे, इसलिये माता को किसी प्रकार का कष्ट नही होता था। देवागनाओ द्वारा सपादित अमृतमय आहार करने के कारण उनका शरीर कृश होने पर भी सुवर्ण की कान्ति जैसा देदीप्यमान हो गया था। महाराज समुद्रविजय का यश-वैभव भी निरन्तर वृद्धिगत हो रहा था। इस प्रकार गर्भ के नौ मास आनन्दपूर्वक व्यतीत हुए।

नौ माह पश्चात् वैशाख शुक्ला त्रयोदशी की शुभतिथि में जब चन्द्रमा का चित्रा नक्षत्र के साथ सयोग था और शुभग्रह अपने उच्च स्थान पर थे, तब शिवादेवी ने अतिशय सुन्दर बालक को जन्म दिया। बालक तीन ज्ञान—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से युक्त था, उसका शरीर एक हजार लक्षणो से युक्त था और नील कमल की आभा का धारक था। प्रसूतिगृह मे मणिमय दीपको की कान्ति उस बालक के तेज से और भी अधिक उद्योत को प्राप्त हो गई।

भगवान के जन्म लेते ही उनके पुण्य-प्रभाव से भवनवासी देवो के लोक मे स्वय ही शखो का जोरदार शब्द होने लगा, व्यन्तर लोक में पटह बजने लगे, ज्योतिष्क लोक में सिहनाद होने लगा और कल्पवासी देवो के विमानो मे घण्टे बजने लगे। सभी इन्द्रो के मुकुट और सिहासन चचल हो उठे। तब चारो निकाय के समस्त इन्द्र देवो के साथ भगवान का जन्म कल्याणक मनाने चल पड़े। अहमिन्द्र यद्यपि अपने-अपने स्थान पर ही रहे, किन्तु उन्होंने अपने सिहासनो से सात कदम सामने जाकर वही से जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार किया था।

भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा प्रथम स्वर्ग से लेकर सोलहवे स्वर्ग तक के कल्पवासी देव और उनके इन्द्र वहाँ आये। इन सबमे सौधर्मेन्द्र की शोभा अद्भुत थी। वह इन्द्राणी के साथ ऐरावत गजराज पर बैठा हुआ था। गजराज के दातो पर अप्सराये नृत्य कर रही थी। इन्द्र के पीछे उसकी सात प्रकार की देवसेना चल रही थी। सबसे आगे पदाति थे। फिर अश्व-सेना थी। उसके पीछे बैलो की सेना थी। तदनन्तर रथों की सेना थी। फिर हाथियो की सेना चल रही थी। इसके बाद गन्धर्व-सेना थी जिसने मधुर मूर्छनासे कोमल वीणा, उत्कृष्ट बासुरी और ताल के शब्द से मिश्रित सातो प्रकार के आश्रित स्वरो मे मध्यलोकको व्याप्त कर दिया था और सबके अन्त में थी नर्तकियो की सेना जो नृत्य द्वारा रस-सृष्टि कर रही थी। इन सेनाओ मे प्रत्येक की सात कक्षाये थी। प्रथम कक्षा में चौरासी हजार घोड़े, इतने ही हाथी, रथ आदि थे। इससे आगे की कक्षाओ में क्रम से दूने-दूने होते गये थे।

ये देव और इन्द्र शौर्यपुर में आये, तब तक दिक्कुमारी देवियो ने भगवान का जात कर्म निष्पन्न किया। रत्नाभरण धारण करने वाली विजया, वैजयन्ती, अपराजिता, जयन्ती, नन्दा, आनन्दा, नन्दिवर्धना और नन्दोत्तरा देवियाँ जल से पूर्ण झारियाँ लिये खड़ी थीं। यशोधरा, सुप्रसिद्धा, सुकीर्ति, सुस्थिता, प्रणिधि, लक्ष्मीमती, चित्रा और वसुन्धरा देवियाँ मणिमय दर्पण लिये हुए थी। इला, नवमिका, सुरा, पीता, पद्मावती, पृथ्वी, प्रवर कांचना और चन्द्रिका नामक देविया माता के ऊपर श्वेत छत्र ताने हुए थी। श्री, धृति, आशा, वारुणी, पुण्डरीकिणी, अलम्बुसा, मिश्रकेशी और ह्री देवियाँ चमर लिये खड़ी थी। कनकचित्रा, चित्रा, त्रिशिरा और सूत्रामणि ये विद्युत्कुमारी देवियाँ भगवान के समीप खड़ी थी। विद्युत्कुमारियो में प्रधान रुचकप्रभा, रुचका, रुचकाभा और

रुचकोज्वला तथा दिक्कुमारियों में प्रधान विजया आदि चार देवियों ने विधिपूर्वक भगवान का जात कर्म सम्पन्न किया।

भगवान के जन्मोत्सव के पूर्व ही कुबेर ने शौर्यपुर को दुलहिन की तरह सजा रक्खा था। उसके महलों पर ऊँची-ऊँची ध्वजायें फहरा रही थीं, राज्य पथ और वीथियाँ बिलकुल स्वच्छ थी। सारे नगर में तोरणों और वन्दनमालाओं की शोभा अद्भुत थी। चारों निकाय के इन्द्रों और देवों ने नगर की तीन प्रदक्षिणाये दीं। फिर इन्द्र ने कुछ देवो के साथ नगर में प्रवेश किया और इन्द्राणी को सद्योजात बाल भगवान को लाने का आदेश दिया। तब इन्द्राणी ने प्रसूतिका-गृह में प्रवेश करके आदर पूर्वक जिन-माता को प्रणाम किया और उनकी बगल में मायामय बालक सुलाकर और उन्हें मायामयी निद्रा में सुलाकर जिन बालक को लाकर इन्द्र को सौप दिया। इन्द्र भगवान को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके समस्त देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर ले चला। उस समय की शोभा अवर्णनीय थी। ऐरावत हाथी के बत्तीस मुख थे। प्रत्येक मुख मे आठ-आठ दांत थे। प्रत्येक दात पर एक-एक सरोवर था। प्रत्येक सरोवर में एक-एक कमलिनी थी। एक-एक कमलिनी में बत्तीस-बत्तीस पत्र थे। एक-एक पत्र पर अक्षय यौवना अप्सरा नृत्य कर रही थी। इस प्रकार की दैवी बिभूति के साथ देव लोग सुमेरु पर्वत के निकट पहुँचे और उसकी प्रदक्षिणा देकर पाण्डुक नामक वन- खण्ड मे पहुँचे। वहाँ पाण्डुक शिला पर स्थित सिंहासन पर भगवान को विराजमान किया। उस समय देवाङ्गनाये और नृत्यकार देव भक्ति नृत्य कर रहे थे, नगाडे, शख और भेरियो का तुमुलनाद हो रहा था। सुगन्धित धूप घटो में जल रही थी। सुगन्धित वायु वातावरण को सुवासित कर रही थी। सुमेरु पर्वत और क्षीरसागर के मध्य देदीप्यमान कलश हाथ में लिये हुए देवो की पक्तियाँ खड़ी थी और वे कलश एक हाथ से दूसरे हाथ मे जा रहे थे। इन्द्रो ने और फिर देवो ने भगवान का अभिषेक किया। इन्द्राणी और देवियों ने भगवान का शृगार किया। तब देव लोग भगवान को लेकर शौर्यपुर वापिस लौटे और प्रासाद मे पहुँच कर इन्द्राणी ने बालक को जिन-माता की गोद मे दिया। तब इन्द्र ने आनन्दनाटक और भक्तिपूरित हृदय से ताण्डव नृत्य किया। फिर इन्द्र ने माता-पिता को प्रणाम किया, जिन बालक के दाहिने हाथ के अगूठे में अमृत निक्षिप्त किया और कुबेर को ऋतु, अवस्था आदि के अनुसार भगवान की सब प्रकार की व्यवस्था करने का आदेश देकर समस्त देवो के साथ वापिस प्रस्थान किया। इस प्रकार भगवान नेमिनाथ का जन्म महोत्सव समस्त इन्द्रो और देवो ने मिलकर मनाया।

यादवों द्वारा शौर्यपुर का परित्याग—अपने पुत्रो और प्राणोपम भ्राता की मृत्यु से जरासन्ध जितना शोकाकुल हुआ, उससे कही अधिक उनका घात करने वाले यादवो पर क्रोध आया। उसने यादवो का समूल विनाश करने का निश्चय कर लिया। उसने अविलम्ब चरो द्वारा मित्र नरेशो और अधीन राजाओ को सन्देश भेज दिये। फलतः नाना देशो के नरेश अपनी-अपनी चतुरगिणी सेना लेकर आ पहुँचे।

यादवो को अपने चतुर चरो द्वारा जरासन्ध की विशाल युद्ध तैयारियों का पता चल गया। अत युद्ध-स्थिति पर विचार करने और अपनी भावी नीति निर्धारित करने के लिये शौर्यपुर मे शौर्यपुर, मथुरा और वीर्यपुर के वृष्णिवशी और भोजवशी यादवों के प्रमुख लोगो की मत्राणागार मे सभा जुड़ी। मत्रणा का निष्कर्ष इस प्रकार रहा—

जरासन्ध की आज्ञा भरतक्षेत्र के तीन खण्डो में कभी अतिक्रान्त नहीं हुई। चक्र, खड्ग, गदा और दण्डरत्न के कारण वह अजेय समझा जाता है। हम लोगो पर वह सदा उपकार करता रहा है किन्तु अब वह अपने भ्राता और पुत्रो के वध के कारण यादवो पर अत्यन्त क्रुद्ध हो रहा है। वह इतना अहकारी है कि हम लोगो के दैव और पुरुषार्थ सम्बन्धी सामर्थ्य को जानता हुआ भी उसे अनदेखा कर रहा है। कृष्ण और बलराम का पौरुष और प्रताप बालकपन से ही प्रगट हो रहा है। इन्द्र और देव भी जिनके चरणों मे नम्रीभूत होते है और लोकपाल जिनके लालन-पालन करने के लिये व्यग्र रहते हैं, वे नेमिनाथ तीर्थंकर यद्यपि अभी बालक ही है, किन्तु तीर्थंकर के कुल का अपकार करने का सामर्थ्य तीन लोक मे किसी में नहीं है।

फिर भी हमें उसकी असंख्य सेना और अपार बल का सामना करने के लिए शक्ति-संग्रह करना आवश्यक है और उसके लिये हमे कुछ समय के लिये शान्तिपूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिये। इसलिये हमे अभी इस स्थान का परित्याग करके पश्चिम दिशा की ओर किसी सुरक्षित स्थान पर चलना चाहिये। यदि जरासन्ध हमारा

सामना करना चाहेगा तो हम लोग दण्डनीति का आश्रय करके उसे मृत्युलोक में पहुँचा देगे। तीर्थंकर नेमिनाथ, नीति विचक्षण कृष्ण और महाबली बलराम के रहते हम लोगो को चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नही है।

निर्णय हो गया कि यादवो को अविलम्ब प्रस्थान करना है। कटक में आदेश प्रचारित कर दिया गया। भेरी-घोष सुनकर वृष्णिवश और भोजवश के समस्त यादव शुभ मुहूर्त में वहाँ से चल पडे। मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर की समस्त प्रजा भी स्वामी के अनुराग से उनकी अनुगत हुई। उस समय अपरिमित धन से युक्त अठारह कोटि यादवो ने वहाँ से प्रस्थान किया।

यादव थोडी-थोडी दूर पर पड़ाव डालते हुए पश्चिम दिशा की ओर बढ़ रहे थे। जब वे विन्ध्याचल पर पहुँचे तो चरों द्वारा उन्हे समाचार प्राप्त हुआ कि मार्ग में जरासन्ध विशाल सेना लेकर शीघ्रता पूर्वक पीछे-पीछे आ रहा है। यादव वीरो ने यह समाचार सुना तो उनकी भुजाये फड़कने लगी। जरासन्ध से निबटने के लिये वे लोग उसकी प्रतीक्षा अधीरतापूर्वक करने लगे।

किन्तु प्रकृति को कुछ और ही इष्ट था। जब दोनो सेनाओ में थोडा ही अन्तर रह गया तो अर्धभरत क्षेत्र में निवास करने वाली देवियो ने अपनी दिव्य सामर्थ्य से असंख्य जलती हुई चिताये बनादी। जब जरासन्ध सेना सहित वहाँ पहुँचा तो उसने चिताओ में जलती हुई सेना को देखा। जरासन्ध यह देखकर विस्मित रह गया। उसने अपनी सेना वही ठहरा दी। तभी उसकी दृष्टि चिताओं के निकट रोती हुई एक वृद्धा पर पडी। जरासन्ध उसके निकट पहुँचा और पूछने लगा—'वृद्धे! यह किसका कटक जल रहा है और तू यहाँ बैठी क्यो रो रही है? मुझे सच-सच बता।' वह वृद्धा कठिनाई से अपना रुदन रोक कर उच्छ्वसित कण्ठ से बोली—'राजन्! मैं आपको सम्पूर्ण घटना बतानी हूँ। आपके समक्ष अपना दु:ख निवेदन करने मे शायद मेरा दुःख कम हो जाय। सुना है, राजगृह नगर में जरासन्ध नामक कोई प्रतापी सम्राट है, जिसके प्रताप की अग्नि समुद्र मे भी बडवानल बनकर जलती है। यादव लोग अपने अपराधो के कारण उस सम्राट् से भयभीत होकर अपना नगर छोडकर भागे जा रहे थे। परन्तु समस्त पृथ्वी में भी उन्हे किसी ने शरण नही दी। तब उन्होने अग्नि मे प्राण विसर्जन करके मरण की शरण को ही उत्तम समझा। मैं यादव-नरेशो की वश परम्परागत दासी हूँ। मुझे अपने प्राण प्रिय थे, इसलिये मैं नही मर सकी, किन्तु अपने स्वामी के इस कुमरण के दु:ख से दुखी होकर यहाँ बैठी रो रही हूँ।'

वह वृद्धा के वचन सुनकर अत्यन्त विस्मित हुआ और यादवो के जल मरने की बात पर उसने विश्वास कर लिया। वह वहाँ से राजगृही को लौट गया। यादव लोग भी वहाँ से चलकर पश्चिम समुद्र के तट पर जा पहुँचे।

द्वारिका नगरी का निर्माण—शुभ मुहूर्त में कृष्ण और बलभद्र स्थान प्राप्त करने के उद्देश्य से तीन दिन के उपवास का नियम लेकर पच परमेष्ठियो का ध्यान करते हुए दर्भासन पर स्थित हो गये। उनके पुण्य से और तीर्थंकर नेमिनाथ की भक्ति से प्रेरित होकर सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से गौतम नामक शक्तिशाली देव ने समुद्र को दूर हटा दिया और कुबेर ने उस स्थान पर द्वारका नामक नगरी की रचना कर दी। यह नगरी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी तथा बज्रमय कोट से युक्त थी। समुद्र उसकी परिखा का काम करता था। उस नगरी मे सुगन्धित कमलो से भरी हुई पुष्करिणी, वापिका, सरोवर और तड़ाग थे, अनेक जाति के फलवाले वृक्ष और पुष्पो वाली लताये थी, रत्ननिर्मित प्राकार और तोरणो से युक्त जिनालय थे, स्वर्णमय प्राकार और गोपुरो से युक्त अनेक खण्डो वाले प्रासाद थे। उस नगरी के बीचो-बीच समुद्रविजय आदि दसो भाइयो के महल थे और उनके बीच मे कृष्ण का अठारह खण्डो वाला सर्वतोभद्र प्रासाद था। इस प्रासाद के निकट अन्त पुर और पुत्रों आदि के योग्य महलो की पक्तियाँ बनी हुई थीं। अन्त.पुर की पक्तियो से घिरा हुआ एव वापिका, उद्यान आदि से सुशोभित बलभद्र का महल था। इस महल के आगे एक सभामण्डप बना हुआ था। उग्रसैन आदि राजाओ के महल आठ आठ खण्ड के थे।

नगरी की रचना पूर्ण होने पर कुबेर ने श्रीकृष्ण को इसकी सूचना दी तथा उन्हे मुकुट, उत्तम हार, कौस्तुभ मणि, दो पीत वस्त्र, नक्षत्रमाला आदि आभूषण, कुमुद्वती नामक गदा, शक्ति, नन्दक नामक खड्ग, शार्ङ्ग धनुष, दो तरकश, बज्रमय वाण, दिव्यास्त्रो से युक्त और गरुड़ की ध्वजा वाला दिव्य रथ, चमर और श्वेत छत्र प्रदान किये।

बलभद्र के लिये दो नील वस्त्र, माला, मुकुट, गदा, हल, मूसल, बाणों से भरे दो तरकश, रथ एवं छत्र दिये। समुद्र विजय आदि राजाओं का भी कुबेर ने वस्त्राभरणों से सत्कार किया। बाल तीर्थंकर नेमिनाथ का विशेष रीति से कुबेर ने पूजन, सत्कार किया। सबका सत्कार करने पर कुबेर ने प्रार्थना की—आप लोग नगर में प्रवेश कीजिये। इसके पश्चात् पूर्णभद्र को नगर की सुरक्षा के लिये नियुक्त करके वह स्वर्ग को लौट गया।

यादवों के संघ ने समुद्र के तट पर श्रीकृष्ण और बलभद्र का अभिषेक कर के उनकी जयजयकार की। तब सब यादवों ने प्रसन्न मन से द्वारिका नगरी मे प्रवेश किया। पूर्णभद्र यक्ष ने सबको यथायोग्य स्थान पर ठहराया। तब कुबेर ने समस्त द्वारिका नगरी में साढे तीन दिन तक अटूट धन-धान्यादि की वर्षा की।

धीरे-धीरे महाराज श्रीकृष्ण का प्रभाव चारों ओर फैलने लगा। इससे पश्चिम के सभी नरेश उनकी आज्ञा मानने लगे।

रुक्मिणी के साथ कृष्ण का विवाह—द्वारिका में यादवो की सभा हो रही थी। तभी आकाश-मार्ग से नारद जी पधारे। उनकी जटाएँ, दाढ़ी और मूँछे पीत वर्ण की थी। उनका वर्ण श्वेत था। वे रग-बिरगे योगपट्ट से विभूषित थे। वे कौपीन और चादर धारण किये हुए थे। वे तीन लर वाला यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। राजप्रासादो के अन्तःपुरों मे उनका अव्याहत प्रवेश था। किन्तु वे कलह-प्रिय, स्वाभिमानी और क्रोधी थे। शिशु वय मे उनका पालन जृम्भक नामक देव ने वैताढ्य पर्वत पर किया था। देव उनसे अत्यन्त स्नेह करते थे। आठ वर्ष की अवस्था मे देवो ने उन्हे जिनागम की विद्या और आकाशगामिनी विद्या प्रदान की थी। वही शिशु नारद नाम से विख्यात हुआ। नारद श्रावक के अणुव्रतो के भी पालक थे।

नारद ने आकर तीर्थंकर नेमि प्रभु, कृष्ण और बलराम को नमस्कार किया। शेष व्यक्तियो ने उन्हे नमस्कार किया। आसन ग्रहण करने पर उन्होने इधर-उधर की चर्चा की। फिर वे अन्तःपुर में पहुँचे। उस समय कृष्ण की महादेवी अपने शृगार में लीन थी। वह नारद को नही देख पाई। नारद के स्वाभिमान को इससे बहुत ठेस पहुँची। उन्होने मन में निश्चय किया कि मैं इसकी एक सपत्नी लाकर इसके सौन्दर्य के अहकार को अवश्य चूर-चूर करूँगा। यह निश्चय करके वे वापिस लौट आये और आकाश-मार्ग से वे कुण्डिनपुर जा पहुँचे। वे वहाँ के नरेश भीष्म के अन्तःपुर में पहुँचे। रानियो तथा भीष्म की बहन ने आकर उन्हें नमस्कार किया। वहाँ रति के समान एक रूपवती कन्या को देखकर वे विचार करने लगे—यह कन्या कृष्ण की पट्टमहिषी पद पर अधिष्ठित होने योग्य है। इस कन्या के द्वारा ही मै गर्विणी सत्यभामा का दर्प चूर्ण करूँगा।

रूप की खान उस कन्या का नाम रुक्मिणी था। उसने विनय और सभ्रम के साथ नारद को नमस्कार किया। नारद ने उसे आशीर्वाद दिया—द्वारिका के स्वामी कृष्ण तुम्हारे पति हो।' रुक्मिणी के पूछने पर नारद ने द्वारिका के वैभव और कृष्ण के प्रभाव, पौरुष का ऐसा सरस वर्णन किया कि रुक्मिणी के मन में कृष्ण के प्रति तीव्र अनुराग उत्पन्न हो गया।

नारद रुक्मिणी के मन में प्रेम की ज्वाला सुलगा कर वहाँ से चल दिये। उन्होने एकान्त में बैठकर चित्र पट पर रुक्मिणी का मनमोहन चित्र अकित किया। वे पुन. द्वारिका पहुँचे और कृष्ण को वह चित्रपट दिखाया। कृष्ण उस चित्र को विमुग्ध भाव से निहारते रहे। उन्होने मनोभावो को वाणी का रूप देकर पूछा—'देवर्षि! कौन है यह कन्या? क्या यह कोई सुरबाला है अथवा कोई नाग-कन्या है?' नारद ने किंचित् मुस्कराकर उनका परिचय दिया। परिचय ऐसा सरस था कि कृष्ण के मन मे उसे पाने की तीव्र ललक जागृत हो गई।

उधर रुक्मिणी को एकान्त मे ले जाकर उसकी बूआ बोली—पुत्री! मेरी बात सुन। एक बार अतिमुक्तक नामक अवधिज्ञानी मुनि यहाँ पधारे थे। उन्होंने तुझे देखकर कहा था—'यह सुलक्षणा कन्या त्रिखण्डाधिपति नारायण की सोलह हजार रानियो में पट्टमहिषी पद से विभूषित होगी। आज देवर्षि नारद ने भी वही आशीर्वाद तुझे दिया है। लगता है, भविष्य दृष्टा मुनि के वचन यथार्थ सिद्ध होंगे। किन्तु समस्या यह है कि तेरे प्रतापी सहोदर रुक्मी ने तुझे शिशुपाल को देने का सकल्प किया है। और शिशुपाल आजकल में यहाँ आने ही वाला है।'

रुक्मिणी बोली—मुनिराज के वचन अन्यथा कैसे हो सकते हैं। इस जीवन में कृष्ण ही मेरे पति होंगे, मेरा

यह सकल्प है। किन्तु मेरे इस सकल्प की सूचना कृष्ण तक पहुँचाने की आप कोई व्यवस्था कर दीजिये।'

बुआ ने तत्काल कृष्ण को एक पत्र लिखा —'महाबली कृष्ण! पुत्री रुक्मिणी ने जबसे आपका नाम सुना है, वह आपमे हृदय से अनुरक्त हो उठी है। वह केवल आपके नाम के सहारे जीवन धारण कर रही है। किन्तु उसके पिता और बन्धुजन उसे शिशुपाल को अर्पित करना चाहते है। यदि आप माघ शुक्ला अष्टमी के दिन उसका अपहरण करके नही ले जाते तो वह शिशुपाल को अर्पित कर दी जायगी। उस दशा मे उसका मरण निश्चित है। वह नागदेव की पूजा के बहाने नगर के बाह्य उद्यान मे स्थित नाग मन्दिर मे उस दिन आपकी प्रतीक्षा करेगी।' इस पत्र को गुप्त रूप से एक विश्वस्त व्यक्ति के द्वारा कृष्ण के पास भेज दिया। पत्र मिलते ही कृष्ण अपने भ्राता बलभद्र के साथ कुण्डिनपुर पहुँच गये। शिशुपाल भी विदर्भ नरेश भीष्म का निमन्त्रण पाकर चतुरगिणी सेना लेकर वहाँ जा पहुँचा।

रुक्मिणी विवाह की धूमधाम में नाग-पूजा के बहाने अपनी बुआ के साथ नगर के बाह्य उद्यान मे नाग-मन्दिर में जा पहुँची। वहाँ पहुँचकर वह बडी अधीरतापूर्वक कृष्ण की प्रतीक्षा करने लगी। क्षण क्षण का विलम्ब उसे युगो जैसा प्रतीत हो रहा था। उसके प्राण कठ में अटक रहे थे। कृष्ण-मिलन अथवा मृत्यु-वरण यही उसका सकल्प था। प्रियतम की अक या मृत्यु का आलिगन, तीसरा कोई विकल्प नही था उसके मन मे।

कृष्ण ने तभी प्रगट होकर रुक्मिणी मे कहा—'प्रिये! मै आ गया हूँ। जिसकी तुम प्रतीक्षा कर रही हो, वह मैं ही हूँ। रुक्मिणी ने ये अमृतवर्षी वचन सुने तो उसका रोम-रोम अपूर्व पुलक से भर गया। उसके कमल नयन ऊपर को उठ और लज्जा से फिर अवनत हो गये। कृष्ण ने आगे बढकर उसे आलिगन मे बाध लिया। प्रेमी-युगल के इस प्रथम मिलन के साक्षी थे पाषाण के नाग देवता। एक बार तो जैसे वे भी सरस अभिष्वग पर मुस्करा दिये।

कृष्ण ने अपनी उस कोमल नव परिणय मुग्धा को हौले से उठाकर रथ में बैठा दिया। प्रथम स्पर्श-सुख से दोनो ही प्रेमी कुछ समय के लिये अभिभूत हो गये। कुछ क्षण के पश्चात् जब कृष्ण को नाजुक परिस्थिति का बोध हुआ तो उन्होने भीष्म, रुक्मी और शिशुपाल को रुक्मिणी-हरण का समाचार देकर रथ आगे बढा दिया। तभी कृष्ण ने अपना विख्यात पाचजन्य शख और बलभद्र ने सुघोष नामक शख फूँका। समाचार मिलते ही रुक्मी और शिशुपाल रथो मे आरूढ होकर कृष्ण और बलभद्र का सामना करने पहुँच गये। उनके साथ अपार सेना थी। किन्तु कृष्ण निर्भयता और आनन्द के साथ रुक्मिणी से बात करते हुये धीरे-धीरे रथ हांक रहे थे।

रुक्मिणी ने जब अपार सेना के साथ अपने भाई और शिशुपाल को आते हुए देखा तो वह अत्यन्त व्याकुल होकर कहने लगी—'नाथ! मेरा भाई महाबली रुक्मी और शिशुपाल विशाल अक्षौहिणी लेकर आ रहे है। इस विशाल सेना के साथ एकाकी आप दोनो किस प्रकार युद्ध कर सकोगे।' कृष्ण ने उसे धैर्य बंधाते हुए कहा—'प्रिये! चिन्ता मत करो। हम दोनो के रहते तुम्हे भय नहीं करना चाहिये।' उन्होने अपनी भयभीत प्रियतमा को आश्वासन देने हुए अपनी अगूठी के हीरे को लेकर चुटकियो से चूर-चूर कर दिया तथा एक ही बाण से सामने खडे हुए तमाल वृक्ष को काट दिया।' कृष्ण के इस अलौकिक बल को देखकर रुक्मिणी हाथ जोडकर बोली—'नाथ! युद्ध मे मेरे भाई का कोई अनिष्ट न हो।' कृष्ण ने उसे अपनी स्वीकृति देकर रथ शत्रु-सेना की ओर मोड़ दिया। कृष्ण शिशुपाल के सामने जा डटे और बलराम ने रुक्मी का सामना किया। कृष्ण के एक बाण से ही शिशुपाल का मस्तक कटकर भूलुठित हो गया। उधर बलराम ने रुक्मी के रथ और सारथी का विनाश करके रुक्मी को बुरी तरह परास्त कर दिया। सारी सेना उन दोनो वीरो के बाणो से आहत होकर इधर-उधर भाग गई।

दोनो भाई युद्ध मे विजयी होकर आनन्दपूर्वक वहाँ से चल दिये। रैवतक पर्वत पर जाकर कृष्ण ने विधि-पूर्वक रुक्मिणी के साथ विवाह किया और भाई बलराम के साथ बड़े वैभव के साथ द्वारकापुरी में प्रवेश किया। दोनो भाई अपने-अपने महल में चले गये।

दूसरे दिन कृष्ण ने रुक्मिणी के लिए सब प्रकार की सम्पदाओ ओर सुविधाओ से युक्त एक पृथक् महल दिया तथा उसे पटरानी का पद प्रदान किया। सत्यभामा को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तो वह सापत्न्य-द्वेष से जलने लगी।

प्रद्युम्न का जन्म और अपहरण—एक दिन हस्तिनापुर नरेश दुर्योधन ने श्रीकृष्ण के पास एक दूत के द्वारा समाचार भेजा–'यदि मेरे पुत्री उत्पन्न हुई और रुक्मिणी या सत्यभामा के जिसके पहले पुत्र उत्पन्न हुआ तो उन दोनो का विवाह कर दिया जाय।' श्रीकृष्ण इस सन्देश को पाकर बडे प्रसन्न हुए। उन्होंने दूत को अपनी स्वीकृति देकर और उसका यथोचित सम्मान करके उसे विदा किया।

सत्यभामा ने जब समाचार सुना तो उसने रुक्मिणी के पास अपनी सेविकायें भेजी। उन्होंने रुक्मिणी से जाकर सन्देश दिया—'देवी! हमारी स्वामिनी ने आपके लिये एक प्रिय सन्देश भेजा है कि हम दोनो में से जिसके पहले पुत्र उत्पन्न होगा, वह दुर्योधन की पुत्री का पति होगा, यह निश्चित हो चुका है। हम दोनों में से जिसके पुत्र नही होगा, उसकी चोटी काट कर वर और वधू उसके ऊपर स्नान करेंगे। यदि आपको यह बात स्वीकार हो तो आप अपनी सहमति प्रदान कीजिये।' रुक्मिणी ने प्रसन्न होकर अपनी स्वीकृति दे दी।

संयोग की बात थी कि रुक्मिणी ने एक दिन रात्रि में स्वप्न में हंस विमान के द्वारा आकाश में विहार किया। उसी दिन अच्युतेन्द्र ने उसके गर्भ में अवतरण किया। उसी दिन सत्यभामा ने भी स्वर्ग से च्युत हुए जीव को गर्भ में धारण किया। नौ माह पूर्ण होने पर दोनो ही रानियो ने एक ही रात्रि में पुत्र प्रसव किये। यह शुभ समाचार देने के लिए दोनो के सेवक श्रीकृष्ण के पास पहुँचे। श्रीकृष्ण उस समय शयन कर रहे थे। अतः सत्यभामा के सेवक उनके सिरहाने और रुक्मिणी के सेवक उनके पैरो की ओर खडे होकर उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगे। श्रीकृष्ण जब जागे तो पहले उनकी दृष्टि पैरों की ओर खडे सेवकों पर पडी। सेवकों ने उन्हे रुक्मिणी के पुत्र-जन्म का हर्ष समाचार सुनाया। श्रीकृष्ण ने अपने शरीर पर स्थित सभी आभूषण उतार कर सेवको को पुरस्कार स्वरूप दे दिये। जब श्रीकृष्ण ने मुडकर दूसरी ओर देखा तो सत्यभामा के सेवको ने उन्हे सत्यभामा की पुत्रोत्पत्ति का शुभ समाचार सुनाया। श्रीकृष्ण ने उन्हे भी यथोचित पुरस्कार देकर सन्तुष्ट किया।

तभी एक भयानक दुर्घटना घटित हो गई जिसने राज प्रासाद में हर्ष के वातावरण को विषाद में परिणत कर दिया। धूमकेतु नामक एक भयंकर असुर विमान मे जा रहा था। जब उसका विमान रुक्मिणी के महलो के ऊपर आया तो वही स्थित हो गया। असुर ने विभंगावधिज्ञान से इसका कारण ज्ञात किया तो उसे अपने पूर्व जन्म के बैरी को देखकर भयंकर क्रोध आया। उसने मायामय निद्रा में प्रहरियो, सेवको और रुक्मिणी को सुलाकर अचेत कर दिया और बालक को लेकर आकाश मार्ग से चल दिया। वह मन में विचार करने लगा कि इसको किस प्रकार मारा जाय। तभी उसे खदिर अटवी दिखाई दी। वह वहाँ उतरा और एक शिला से बालक को दबाकर चल दिया।

उसी समय मेघकूट नगर का राजा कालसंवर अपनी कनकमाला रानी के साथ विमान द्वारा आकाश-मार्ग मे जा रहा था। उस बालक के पुण्य-प्रभाव से विमान आकाश मे ही ठहर गया। वह नीचे उतरा। वहाँ उसने एक आश्चर्यजनक वस्तु देखी। उसने एक विशाल शिला हिलती हुई देखी। उसने कुतूहलवश शिला को हटाकर देखा। उसके आश्चर्य की सीमा नही रही, जब उसने कुसुम कोमल सद्यःजात और कामदेव के समान सुन्दर बालक को देखा। उसने बालक को गोद मे उठाकर रानी से कहा—'प्रिये! तुम्हारे कोई पुत्र नही है, लो यह तुम्हारा पुत्र हुआ।' रानी चतुर थी। वह बोली—'नाथ! आपके ५०० पुत्र है। उनके सामने इस अज्ञात कुलशील बालक का क्या सम्मान हो सकेगा। इससे तो मैं निपूती ही अच्छी हूँ।' कालसंवर ने तत्काल अपने कान का सुवर्ण-पत्र लेकर बालक के पट्टबन्ध किया और कहा—यह बालक आज से ही युवराज है। महाराज के इस वचन को सुनकर रानी ने अत्यन्त हर्षित और पुलकित होकर शिशु को अपने अंक में भर लिया तथा वे लोग सानन्द अपने नगर में वापिस आ गये। वहाँ राज्य भर मे यह समाचार प्रचारित किया गया कि महारानी कनकमाला को गूढ गर्भ था। उन्होंने पुण्यशील पुत्र को जन्म दिया है। सारे राज्य में राजा और प्रजा की ओर से पुत्र जन्मोत्सव विविध आयोजनपूर्वक मनाया गया। कामदेव के समान सुन्दर होने के कारण पुत्र का नाम प्रद्युम्न रक्खा गया। पुत्र शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान दिनोंदिन बढने लगा।

उधर द्वारकापुरी मे जब रुक्मिणी की निद्रा भंग हुई और ढूँढने पर भी शिशु नही मिला तो वह करुण

विलाप करने लगी। रुदन सुनकर परिजन भी शोकातुर हो उठे। महाराज श्रीकृष्ण और बलदेव भी यह शोक-समाचार सुनकर वहाँ आये। श्रीकृष्ण इस अकल्पित घटना से स्तब्ध रह गये। वे नाना भाँति रुक्मिणी को धैर्य बधाने लगे। तभी वहाँ आकाश मार्ग से नारद ऋषि आ पहुँचे। वे इस दारुण समाचार को सुनकर क्षण-भर के लिए मौन हो गये। फिर वे श्रीकृष्ण से कहने लगे—मैं विदेह क्षेत्र में सीमन्धर भगवान से पूछकर पुत्र समाचार अतिशीघ्र लाऊँगा। तुम अब शोक छोड़ो। उसके पश्चात् नारद रुक्मिणी के निकट पहुँचे। उसे शोक-सतप्त और अत्यन्त कातर देखकर नारद ने उसे भी सान्त्वना दी और शीघ्र समाचार देने का आश्वासन देकर वे वहाँ से चल दिये।

वे आकाश-मार्ग से विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में भगवान सीमन्धर स्वामी के समवसरण मे जा पहुँचे। वहाँ बड़ी भक्ति और विनय के साथ भगवान को नमस्कार किया, उनकी भक्ति विह्वल कण्ठ से स्तुति की और जाकर अपने उपयुक्त कक्ष में बैठ गये।

उस समय समवसरण मे पद्मरथ चक्रवर्ती भी बैठा हुआ था। वह पाच सौ धनुष ऊचा था। नारद केवल दस धनुष ऊचे थे। उन्हे देखकर चक्रवर्ती अपना कुतूहल नही रोक सका। उसने नारद को उठाकर हथेली पर रख लिया और भगवान से पूछा—'भगवन्! यह मनुष्य के आकार का कौन-सा कीड़ा है ? इसका क्या नाम है ?' भगवान सीमन्धर बोले—'राजन्! यह जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र का नारद है।' चक्रवर्ती ने पुन प्रश्न किया—'प्रभो! यह यहाँ किसलिये आया है ?' इसके उत्तर में भगवान ने नारद के आने का उद्देश्य बताते हुए कहा—'यह नौवे नारायण कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के अपहरण के बारे में समाचार जानने आया है। इस समय वह बालक मेघकूट पर्वत पर कालसवर नरेश के घर पर आनन्द पूर्वक रह रहा है। यह बालक सोलहवा वर्ष आने पर सोलह लाभ प्राप्त कर तथा प्रज्ञप्तिनामक विद्या प्राप्त कर अपने माता-पिता से मिलेगा।' इसके पश्चात् भगवान ने उसके अपहरण का कारण बताते हुए उसके पूर्वभवो का वर्णन किया तथा यह भी बताया कि जब उसके आने का समय होगा, तब क्या चिन्ह प्रगट होंगे।

नारद रुक्मिणी-पुत्र के समाचार ज्ञात कर अत्यन्त आनन्दित हुए और सीमन्धर भगवान को नमस्कार कर वे आकाश मार्ग से मेघकूट पर्वत पर पहुँचे। वहाँ वे महाराज कालसवर और उनकी महारानी कनकमाला से मिले। उन्होंने कुमार प्रद्युम्न को भी देखा। राजा और रानी ने उनका यथोचित सम्मान किया। उन्हे आशीर्वाद देकर नारद द्वारका पहुँचे और यादवो को राजकुमार का समाचार सुनाया, जिसे सुनकर सभी हर्षित हो उठे। नारद इसके पश्चात् अन्त:पुर में पहुँचे और रुक्मिणी को यह हर्ष समाचार सुनाकर भगवान द्वारा कही हुई सारी बात सुनाई। उन्होने यह भी बताया कि 'जब कुमार के आने का समय होगा, तब तुम्हारे उद्यान मे मयूर कूजने लगेगा ; उद्यान की मणि वापिका कमलो से युक्त जल से पूरित हो जायेगी ; अशोक वृक्ष असमय में ही अकुरित और पल्लवित हो उठेगा , तुम्हारे यहाँ जो गूँगे है, वे पुत्र के निकट आते ही बोलने लगेंगे। उन लक्षणो से तुम पुत्र के आगमन का समय जान लेना।' रुक्मिणी अपने पुत्र का समाचार सुनकर हर्ष से भर उठी। उसके स्तनों से दूध झरने लगा। वह इस शुभ समाचार को लाने के लिए नारद के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता प्रगट करती हुई बोली—आपने यह समाचार लाकर मेरे दु:ख के भार को बहुत हलका कर दिया है। मुझे अब इतना तो सन्तोष हो गया कि मेरा लाल मुझे एक दिन अवश्य मिल जायगा।

उधर प्रद्युम्न कुमार शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढने लगा। वह कामदेव के समान अत्यन्त रूपवान था। उसने किशोर वय मे ही अस्त्र-शस्त्र सचालन में निपुणता प्राप्त कर ली, आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर ली।

प्रद्युम्न को विजय-लाभ

राजा कालसवर के पाँच सौ पुत्र थे। एक बार राजा ने अपने शत्रु सिहरथ को जीतने के लिए इन पुत्रो को युद्ध में भेजा, किन्तु वे उसे पराजित नही कर सके। तब प्रद्युम्न को भेजा गया। उसने शत्रु को निमिष मात्र में पराजित कर दिया। राजा ने उसकी वीरता और गुणो पर मुग्ध होकर बड़े समारोह के साथ उसको युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया।

प्रद्युम्न के सम्मान, यश और शौर्य के कारण पाच सौ भाई उससे द्वेष करने लगे और उसके नाश का उपाय करने लगे। किन्तु जिसका पुण्य प्रबल है, उसे कौन क्षति पहुँचा सकता है। भाइयों ने उसकी मृत्यु के

अनेक षड्यन्त्र रचे, किन्तु प्रबल पुण्य का स्वामी प्रद्युम्न न केवल हर बार उन षड्यन्त्रों से सुरक्षित रहा, अपितु उनके फलस्वरूप प्रत्येक बार उसे लाभ ही हुआ। एक बार सिद्धायतन के गोपुर के ऊपर भाइयों के कहने से वह चढ गया और वहाँ के रक्षक देव से विद्या, कोष और अनर्घ्य मुकुट प्राप्त हुआ, महाकाल गुफा में निर्भय होकर प्रवेश किया और वहाँ के देव से छत्र, चमर, ढाल और तलवार का लाभ हुआ। नागगुफा में प्रवेश करने पर देव ने उसे उत्तम पादपीठ, नागशय्या, आसन, वीणा और भवन निर्मात्री विद्या प्रदान की। एक वापिका में जाने पर मकर चिन्ह वाली ध्वजा प्राप्त की। मेघाकृति पर्वत में प्रवेश करने पर दो कुण्डल मिले। इस प्रकार भाइयो ने उसे विभिन्न भयानक स्थानो पर जाने के लिए प्रेरित किया और वहाँ से कुछ न कुछ लाभ प्राप्त करके वह वापिस लौटा, इस प्रकार उसे सोलह लाभ प्राप्त हुए।

प्रद्युम्न की दृढ़ शील-निष्ठा—प्रद्युम्न कुमार मेघकूट नगर मे वापिस आया और अपने पिता कालसवर के दर्शन किये। उसके पश्चात् वह अपनी माता कनकमाला के पास पहुँचा। माता ने बड़ दुलार से उसका मस्तक सूंघा और निकट बैठाकर उसके शरीर पर हाथ फेरा। किन्तु उसके कामदेव के समान मोहन रूप को देखकर उसके मन में कामवासना जागृत हो गई। वह मन मे विचार करने लगी 'उस स्त्री का जन्म सार्थक है, जिसे इसके अंगो का स्पर्श प्राप्त हो।' प्रद्युम्न माता को प्रणाम करके चला गया।

दूसरे दिन माता की अस्वस्थता के समाचार सुनकर प्रद्युम्न उसे देखने आया। किन्तु कनकमाला काम विह्वल होकर काम-चेष्टा करने लगी। प्रद्युम्न इस अप्रत्याशित प्रसग से मर्माहत हो उठा। उसने माता और पुत्र के सम्बन्ध का स्मरण कराते हुए माता को इस प्रकार की चेष्टा से विरत करने का प्रयत्न किया। कनकमाला ने अब उसे सारा वृत्तान्त सुना दिया कि वह भयानक अटवी मे कैसे मिला था। प्रद्युम्न इस वात पर विश्वास न कर सका। किन्तु उसे सन्देह अवश्य हो गया। वह जिनालय पहुँचा, जहाँ मुनिराज सागरचन्द्र विराजमान थे। मुनिराज को नमस्कार करके उनसे अपने सम्बन्ध मे पूछा। अवधिज्ञानी मुनिराज ने उसे उसके पूर्व भव बताकर उसके अपहरण, अटवी मे उसके मिलने आदि का सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया तथा यह भी सूचित किया—'वत्स! अभी तुझे कनकमाला से प्रज्ञप्ति विद्या का लाभ मिलने वाला है।'

प्रद्युम्न वहाँ से पुन कनकमाला के आवास मे पहुँचा। कनकमाला ने समझा कि इसने मेरी मूक प्रार्थना स्वीकार कर ली है। वह बडी प्रसन्न होकर बोली—'कामदेव! मैं तुझे गौरी और प्रज्ञप्ति नामक दो विद्यायें देती हूँ, तू मेरी इच्छा पूरी कर।' प्रद्युम्न ने विनय से माता के चरणो में सिर झुकाया। कनकमाला ने विधिपूर्वक उसे दोनो विद्याये प्रदान की। प्रद्युम्न ने सिर झुका कर निवेदन किया—'आपने बचपन मे मुझे प्राण दान दिया था और अब आपने विद्याये देकर विद्या-दान दिया है। अत: आप मेरे लिये पूज्य है।' यो कहकर वह वहाँ से चला गया।

तभी वहाँ नारद आ गये। प्रद्युम्न ने उन्हे नमस्कार किया और बड़ा सम्मान किया। नारद ने उसे उसके वास्तविक माता-पिता का परिचय दिया। प्रद्युम्न अपने माता-पिता से मिलने के लिए आतुर हो गया। उसने काल-सवर आदि को नमस्कार करके वहाँ से जाने की आज्ञा मागी। उन्होने उसे सहर्ष आज्ञा दे दी। प्रद्युम्न ने बडी प्रसन्नतापूर्वक नारद के साथ विमान मे द्वारका के लिये प्रस्थान किया। जब विमान हस्तिनापुर के ऊपर आया तो उसने देखा कि एक विशाल सेना जा रही है। उसने नारद से उसके बारे में पूछा। नारद ने सत्यभामा और उसकी माता रुक्मिणी में हुई शर्त की बात बताकर कहा—'रुक्मिणी के सेवको ने तुम्हारे जन्म का समाचार श्रीकृष्ण को पहले दिया था और सत्यभामा के सेवक उसके पुत्र भानुकुमार के जन्म की बात बाद में बता पाये। अत: तुम अग्रज घोषित किये गये। किन्तु धूमकेतु असुर तुम्हारा अपहरण करके ले गया। हस्तिनापुर नरेश दुर्योधन ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि मेरे पुत्री हुई और रुक्मिणी या सत्यभामा के पहले पुत्र होगा, उसे मैं अपनी पुत्री दूँगा। वह पुत्री तुम्हे मिलनी थी, किन्तु तुम्हारा अपहरण होने के कारण अब यह भानुकुमार को अर्पण करने सेना के साथ द्वारका जा रही है।'

प्रद्युम्न कुमार का माता-पिता से मिलन

प्रद्युम्न विमान को आकाश में स्थिर करके भूमि पर उतर गया और कौतुक मात्र में सेना को जीत कर दुर्योधन-पुत्री उदधिकुमारी का अपहरण करके विमान मे ले गया। विमान द्वारका पहुँचा। वहाँ उसने अनेक कौतुक दिखाये। नारद ने सोलह वर्ष पूर्व प्रद्युम्न के आने पर जिन चिन्हो के प्रगट होने की सूचना दी थी, वे चिन्ह प्रगट हो गये। इससे रुक्मिणी को पुत्र-मिलन की आशा हो गई। तभी प्रद्युम्न विमान से उतरकर नाना प्रकार के कौतुक दिखाता हुआ वेष बदलकर माता रुक्मिणी के प्रासाद मे पहुँचा। उसे देखते ही रुक्मिणी के स्तनो से दूध झरने लगा। उसे विश्वास हो गया कि हो न हो, मेरा पुत्र यही है। यह वेष बदलकर आया है। प्रद्युम्न के मन मे भी माता से मिलने की ललक थी। वह अपने वास्तविक वेष मे माता के समक्ष पहुँचा और उनके चरणो में नमस्कार किया। माता हर्ष से रोमाचित हो गई, नेत्र हर्षाश्रुओं से पूरित हो गये। सोलह वर्ष का वियोग-जन्य दु ख क्षण मात्र में सुख के रूप में परिवर्तित हो गया। मा ने अपने बिछुडे हुए छौना को अ क मे भर लिया। बिछुडे हुए माता-पुत्र का यह मिलन कितना रोमाचक, कितना आल्हादक और कितना मार्मिक था, इसके साक्षी थे दोनो के नेत्रो से बहते हुए हर्ष के आँसू। रुक्मिणी माता अपने नन्हे मुन्ने को कभी अ क मे कस लेती, कभी वह उसका चुम्बन लेती, कभी उसके सिर को सू घती और कभी वात्सल्य से उसके सारे शरीर पर अपना हाथ फेरती। किन्तु उसे तृप्ति नही हो रही थी। उसके नेत्र हर्ष की वर्षा कर रहे थे, अधर कंपित थे, गला अवरुद्ध था। स्तनो से वात्सल्य बरस रहा था।

हर्ष मे बेसुध माता और पुत्र न जाने कितनी देर इसी दशा मे रहे। तब प्रद्युम्न ने माता से ऊपर विमान मे चलने का आग्रह किया। माता ने स्वीकृति दे दी। प्रद्युम्न अपनी माता को लेकर विमान मे पहुँचा। वहाँ रुक्मिणी नारद और उदधिकुमारी से मिली। तभी प्रद्युम्न के मन मे कौतुक जागा। वह आकाश मे स्थिर होकर बोला—'यादवगण सुने। मै आप लोगो की पटरानी रुक्मिणी का अपहरण करके ले जा रहा हूं। जिसमे साहस हो, वह छुडा ले।' यो कहकर उसने शख-नाद किया।

समस्त यादव इस चुनौती को सुनकर अपने अस्त्र-शस्त्रो को लेकर निकल पडे। किन्तु प्रद्युम्न ने समस्त यादव-सेना को अपनी विद्या मे मूर्च्छित कर दिया। यह देखकर नारायण कृष्ण युद्ध के लिये आगे। पिता-पुत्र मे बहुत समय तक नाना प्रकार का युद्ध हुआ। दोनो ही अप्रतिम वीर थे। बालक प्रद्युम्न के आगे श्रीकृष्ण का सारा अस्त्र-कौशल निष्फल हो गया। तब दोनो बाहु-युद्ध के लिए तैयार हुए। श्रीकृष्ण मन में विचार कर रहे थे—आज मेरी भुजाओ का बल कहाँ चला गया। एक बालक ने समस्त यादव-सेना को निश्चेष्ट कर दिया है। इसे देखकर मेरे मन मे रोष के स्थान मे वात्सल्य क्यो उमड रहा है?

रुक्मिणी पति और पुत्र के इस अकारण युद्ध से चिन्तित थी। वह अनिष्ट की आशका से बार-बार काँप उठती थी। उसने बडे अनुनय के साथ नारद से इस गृह-युद्ध को रोकने की प्रार्थना की। तब नारद ने आकाश मे स्थित होकर कहा—'नारायण! अपने मन मे से ग्लानि दूर कर दो। तुम जिस बालक के साथ युद्ध कर रहे हो, वह तुम्हारा शत्रु नही पुत्र है। वह रुक्मिणी का अपहृत पुत्र प्रद्युम्न कुमार है जो सोलह वर्ष पश्चात् आपके दर्शनो के लिए आया है।'

नारद की यह घोषणा सुनते ही श्रीकृष्ण ने दौडकर अपने चिरवियुक्त पुत्र को गाढ़ आलिगन में भर लिया और प्रद्युम्न ने झुककर अपने पिता के चरण-स्पर्श किये। फिर उसने माया मे निद्रित सेना को विद्या द्वारा जागृत कर दिया। पिता और पुत्र ने स्वजनो और परिजनो के साथ हर्ष के साथ नगर मे प्रवेश किया।

महाभारत युद्ध

भगवान ऋषभदेव के काल में कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में सोमप्रभ और श्रेयान्स दो नररत्न हुए। श्रेयान्स ने भगवान ऋषभदेव को सर्वप्रथम आहार देकर दान तीर्थ की प्रवृत्ति की। सोमप्रभ से सोमवंश अर्थात् चन्द्रवंश और कुरुवंश चला। सोमप्रभ के जयकुमार हुआ जो प्रथम चक्रवर्ती भरत का प्रधान सेनापति था। जयकुमार के कुरु हुआ। इसी प्रकार क्रम से कुरुचन्द्र, शुभकर, धृतिकर आदि हुए। फिर इसी वंश मे चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार, सोलहवें तीर्थंकर एवं चक्रवर्ती शान्तिनाथ, सत्रहवें कुन्थुनाथ और अठारहवें अरनाथ हुए। इनके पश्चात् महापद्म चक्रवर्ती, उनके विष्णु और पद्म नामक दो पुत्र हुए। इन्ही विष्णुकुमार ने मुनि अवस्था मे बलि आदि मन्त्रियो द्वारा अकंपनाचार्य आदि सात सौ मुनियों पर प्राण-घातक उपसर्ग करने पर वामन रूप धारण कर उपसर्ग दूर किया था। इनके अनन्तर सुपद्म, पद्मदेव, कुलकीर्ति, कीर्ति, सुकीर्ति, कीर्ति, वसुकीर्ति, वासुकि, वासव, वसु, सुवसु, श्रीवसु, वसुन्धर, वसुरथ, इन्द्रवीर्य, चित्र,विचित्र, वीर्य, विचित्र, विचित्रवीर्य, चित्ररथ, महारथ, धृतरथ, वृषानन्त, वृषध्वज, श्रीव्रत, व्रतधर्मा, धृत, धारण, महासर, प्रतिसर, शर, पारशर, शरद्वीप, द्वीप, द्वीपायन, सुशान्ति, शान्तिभद्र, शान्तिषेण हुए। शान्तिषेण के शन्तनु हुए। उनकी रानी का नाम योजनगन्धा था। शन्तनु के धृतव्यास, तदनन्तर धृतधर्मा, धृतोदय, धृततेज, धृतयश, धृतमान और धृत हुए। धृत के धृतराज नामक पुत्र हुआ। उसकी तीन रानियाँ थी—अम्बिका, अम्बालिका और अम्बा। अम्बिका से धृतराष्ट्र, अम्बालिका से पाण्डु और अम्बा से विदुर नामक पुत्र हुए। धृतराज के भाई रुक्मण और उनकी रानी गगा से भीष्म नामक पुत्र हुआ।

कुरुवंश—

धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए। इनमें परस्पर मे बडा प्रेम था। राजकुमार पाण्डु ने यदुवंशी समुद्रविजय की बहन कुन्ती के साथ गुप्त रूप से गन्धर्व विवाह किया था। उससे कर्ण नामक पुत्र हुआ। पश्चात् उन दोनो का सार्वजनिक रूप से विवाह हो गया। तब उनके युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन नामक पुत्र उत्पन्न हुए। पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री से नकुल और सहदेव नामक दो पुत्र हुए। पाण्डु के ये पाचो पुत्र पाण्डव कहलाये। इन पाचो भाइयो मे भी परस्पर में अत्यन्त स्नेह था। दुर्योधन आदि सौ भाई कौरव कहलाते थे। जब पाण्डु और रानी माद्री का स्वर्गवास हो गया, तब राज्य के अधिकार के प्रश्न पर कौरवो और पाण्डवो में वैमनस्य हो गया। तब भीष्म, विदुर, मन्त्री शकुनि आदि ने बीच मे पडकर कुरु राज्य के दो समान भाग कर दिये। एक भाग पाण्डवो को और दूसरा भाग कौरवो को मिला।

दुर्योधन कूटनीति में निपुण था, जबकि युधिष्ठिर धर्मानुकूल नैतिक मूल्यों के प्रति दृढ़ निष्ठावान थे। कर्ण को कुन्ती ने अपवाद के भय से जन्म होते ही एक मंजूषा में रखकर नदी में प्रवाहित कर दिया था। किन्तु उसे एक सूत ने नदी में से निकाल लिया था। वह बालक बड़ा होने पर शस्त्रास्त्र-सचालन में अत्यन्त निष्णात हो गया। दुर्योधन की सूक्ष्म दृष्टि मे वह समा गया और उसने उससे मित्रता करली। दुर्योधन ने अपना बल बढाने के लिए सम्राट् जरासन्ध से भी घनिष्टता बढाली।

राजकुमारों का प्रशिक्षण—कौरवो और पाण्डवो को शस्त्रास्त्र विद्या सिखाने के लिए उस युग के सर्वश्रेष्ठ विद्यागुरु द्रोणाचार्य को नियुक्त किया गया। द्रोणाचार्य भार्गववंशी ब्राह्मण थे। उनके पूर्वज भार्गवाचार्य थे। वे अपने समय के सर्वश्रेष्ठ धनुर्वेत्ता थे। भार्गवाचार्य से यह विद्या आत्रेय को प्राप्त हुई। इसी प्रकार क्रमशः पुत्र-परम्परा

से यह विद्या कौथुभि, अमरावर्त, सित, वामदेव, कपिष्टल, जगत्स्थामा, सरवर, शरासन, रावण और विद्रावण को मिली, विद्रावण ने यह विद्या अपने पुत्र द्रोण को दी। द्रोणाचार्य की स्त्री का नाम अश्विनी था और उनका पुत्र अश्वत्थामा था। द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र को धनुर्विद्या में पारगत कर दिया।

द्रोणाचार्य कौरवो एव पाण्डवों को समान रूप से शस्त्र-सचालन का प्रशिक्षण देते थे। किन्तु अपनी प्रतिभा, रुचि और विनय के द्वारा अर्जुन धनुर्विद्या में अप्रतिम रूप से पारगत होगया। दुर्योधन और भीम गदा-युद्ध में निष्णात होगये। नकुल और सहदेव ने तलवार सचालन में दक्षता प्राप्त की। इसी प्रकार अन्य राजकुमार भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न शस्त्रास्त्र सचालन के विशेषज्ञ बन गये। किन्तु उस युग मे धनुर्विद्या ही प्रभावक और निर्णायक मानी जाती थी। अतः अर्जुन की धनुर्विद्या में निष्णता देखकर दुर्योधन आदि कौरव पाण्डवों से ईर्ष्या करने लगे। उनकी ईर्ष्या के मूल मे वस्तुत उनके मन में समाया हुआ भय था।

पाण्डवों का अज्ञातवास—कुछ समय पश्चात् कौरव ईर्ष्यावश दोनों पक्षो मे राज्य विभाजन के सम्बन्ध में हुई सन्धि मे दोष निकालने लगे। उनका तर्क था कि सन्धि दबाव में आकर हमे करनी पडी थी किन्तु यह सन्धि नितान्त अनुचित है। एक ओर आधे राज्य का भोग केवल पाच पाण्डव कर रहे है, जबकि दूसरी ओर हम सौ भाइयो के लिए आधा राज्य मिला है यह अन्यायपूर्ण है। कौरवो की यह बात पाण्डवो के कानो मे भी पहुँची। उससे भीम आदि चारो भाई एकदम क्षुब्ध होउठे किन्तु धीर गम्भीर युधिष्ठिर ने उनको शान्त कर दिया।

किन्तु कौरव अवसर की प्रतीक्षा मे थे। वे पाण्डवो का कण्टक सदा के लिये निकालना चाहते थे। एक दिन दुर्योधन ने योजना बनाकर राजप्रासाद मे सोते हुए पाण्डवो के घर में आग लगादी। सहसा उनकी नीद खुल गई और पाचो पाण्डव माता कुन्ती को लेकर गुप्त मार्ग द्वारा निकल गए। इस अन्यायपूण घटना से जनता में रोष छा गया। वह दुर्योधन के विरुद्ध हो गई। जनता के इस उमड़ते हुए विद्रोह को देखकर बुद्धिमान मत्रियो ने जनता मे प्रचारित कर दिया कि पाण्डवो के महल में आग स्वत लगी है और पाचो पाण्डव एव उनकी माता उसी मे भस्म हो गये हैं। उन्होने शीघ्रता से पाण्डवो की मरणोत्तर क्रिया भी सम्पन्न करादी जिससे जनता का विद्रोह शान्त हो जाय।

पाण्डव माता के साथ गगा को पार कर पूर्व दिशा की ओर चल दिये। वे अपना काल स्वय अगीकृत अज्ञातवास में बिताने लगे।

पाण्डवो के दाह का समाचार द्वारका में पहुँचा। राजा समुद्रविजय, उनके भाई और समस्त यादव अपनी बहन कुन्ती और भागिनेय पाण्डवो को जलाकर हत्या करने की इस अन्यायपूर्ण घटना को सुनकर दुर्योधन के प्रति अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। इस अन्याय का प्रतिशोध लेने के लिए वे विशाल सेना लेकर हस्तिनापुर की ओर चल पडे। उनके इस अभियान का समाचार चरों द्वारा जरासन्ध को भी ज्ञात हुआ। वह भी सेना लेकर चल दिया। वहाँ पहुँचकर वह यादवों से आदरपूर्वक मिला और उसने दोनों पक्षो में सम्मानपूर्ण सन्धि करादी।

पाण्डव कौशिक आदि नगरो मे होते हुए ईहापुर पहुँचे। वहाँ प्रजा को अत्यन्त सन्त्रस्त और भयभीत देखकर पाण्डवो ने उसके कारण का पता लगाया। वे जिस गृहपति के आवास मे ठहरे थे, उससे ज्ञात हुआ कि इस नगर मे एक महा भयानक और क्रूर नरभक्षी भृङ्ग नामक राक्षस आता है, वह मनुष्यो की हत्या करता है और उन्हे खाता है। नगरवासियो ने इन हत्याओ से त्रस्त होकर प्रतिदिन एक घर से एक मनुष्य को भेजने की पारी बांध दी है। आज हमारे घर की पारी है। अत हम लोग दुखी हैं। गृहपति की यह दुःखभरी गाथा सुनकर माता कुन्ती को बड़ी दया आई। उन्होंने गृहपति को आश्वासन देकर कहा—'आर्य! आपको दुखी होने की आवश्यकता नही है। आपने हमारा आतिथ्य किया है। हमारा कर्त्तव्य है कि आपके कुछ काम आवें। मेरे ये पाँच पुत्र है। आपके स्थान पर मेरा एक पुत्र आज जायगा। आप चिन्ता न करें।' गृहपति यह सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गया। वह हाथ जोड़कर बोला— माता! मुझ जैसा अधम और कौन होगा जो अपने अतिथि को ही स्वेच्छा से मृत्यु के मुख मे धकेल दे। मेरे पुण्य के बल से आप यहाँ पधारे और आपके दर्शन हुए। आपके ऊपर मेरे घर मे निवास करने के समय कोई सकट आवे, इससे तो मृत्यु श्रेष्ठ है। मै आपको यह कार्य नही करने दूँगा।' कुन्ती

ने उसकी आशंका को यह कहकर बड़ी कठिनता से दूर किया कि मेरा पुत्र महाबली है, उसके प्राणो को कोई सकट नही है। वह राक्षस को मार कर अभी लौट आवेगा और इस नगर के निवासियों का सकट सदा के लिये दूर कर आवेगा।' बड़ी कठिनाई से कुन्ती गृहपति को सहमत कर सकी। तब उन्होने भीम से कहा—'वत्स! हमें गृहपति ने आश्रय दिया और हमारा समुचित आतिथ्य किया है। हमे इनके उपकार के ऋण से मुक्त होने का सुयोग प्राप्त हुआ है। पुत्र! तुम जाओ और उस नराधम के सत्रास मे इन्हे मुक्ति दिलाओ।' महाबली भीम माता का आदेश मिलते ही उन्हे और अपने अग्रज को नमस्कार करके चल दिया और निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा, जहाँ वह नर राक्षस अधीरता पूर्वक अपने भोज्य की प्रतीक्षा कर रहा था। हृष्ट पुष्ट भीम को देखकर वह अट्टहास करता हुआ कहने लगा—'अहा! आज मेरी उदरदरी की तृप्ति होगी। स्थूल शरीर मे मास की अधिकता होती है। कई दिनो से पर्याप्त आहार न मिलने से मेरी क्षुधा शान्त नही हुई थी। तुझे देखकर वह और अधिक उद्दीप्त हो उठी है।' वह नर राक्षस अपने भोज्य को ललचाई आँखो से देख रहा था, उसकी जीभ बार-बार लपलपाने लगती थी।

भीम ने उसके निकट पहुँच कर बज्र निर्घोष स्वर में कहा—'अरे अधम! देखता क्या है। आज तेरा आहार काल बनकर आया है। यदि तुझमे शक्ति हो तो भक्षण कर।' राक्षस ने सुनकर पुन. अट्टहास किया और अपने तीक्ष्ण नाखूनो वाले पजो को फैलाये हुए वह भीम की ओर लपका। भीम भी सावधान था। उसने राक्षस के जबडो पर कसकर मुष्टिका का प्रहार किया, ऐसा प्रतीत हुआ, मानो बज्रपात हुआ हो। वह दैत्याकार राक्षस एक ही प्रहार मे रक्त वमन करने लगा। भीम ने उसे सावधान होने का अवसर दिये बिना लगातार बज्र तुल्य कई प्रहार किये और उनसे वह प्राणहीन होकर भूमि पर गिर पडा।

जब भीम राक्षस का वध करके लौटा तो नगरवासियो ने सकटमोचक इस देवपुरुष का हर्षपूर्वक जय घोष किया। भीम सबका आदर और अभ्यर्थना ग्रहण करता हुआ अपार जन-समूह के साथ अपने आवास को लौटा। उसने आकर माता और भ्राता के चरण स्पर्श किये। उसके मुख से सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर सभी बडे हर्षित हुए।

पाण्डव लोग वेश बदलकर विचरण कर रहे थे। मार्ग मे कौशिक नगर के नरेश वर्ण की पुत्री कुसुमकोमला ने युधिष्ठिर की प्रशसा सुनकर हृदय में उन्हे ही पति मान लिया था। वसुन्धरपुर के राजा विन्ध्यसेन की पुत्री वसन्तसुन्दरी को युधिष्ठिर को अर्पित करने का सकल्प गुरुजनो ने कर रखा था। किन्तु

द्रौपदी-स्वयवर

पाण्डवो के अग्नि-दाह के समाचार सुनकर कन्या निराश होकर श्लेष्मान्तक वन मे एक आश्रम मे तापसी बनकर रहने लगी। त्रिशृङ्ग नगर के नरेश प्रचण्ड वाहन की दस पुत्रियाँ थी—गुण प्रभा, सुप्रभा, ह्री, श्री, रति, पद्मा, इन्दीवरा, विश्वा, आचर्या और अशोका। इन्हे भी युधिष्ठिर को प्रदान करने का सकल्प किया गया था। अग्नि दाह का समाचार सुनकर ये राजकुमारियाँ श्राविका के व्रत लेकर विरक्त जीवन बिताने लगी। इसी प्रकार इसी नगर के श्रेष्ठी प्रियमित्र की कन्या नयनसुन्दरी भी युधिष्ठिर के सम्बन्ध में अन्यथा समाचार सुनकर उक्त राजकुमारियो के समान अणुव्रत धारण करके रहने लगी।

चलते-चलते पाण्डव चम्पापुरी मे पहुंचे। वहाँ कर्ण शासन करता था। वहाँ एक मदोन्मत्त राजहस्ती नगर में बडा उपद्रव मचा रहा था। भीम ने उसे मुष्टिका प्रहारो द्वारा वश मे कर लिया। भीम की इस वीरता से कर्ण क्षुब्ध हो उठा। तब पाण्डव विदिशा पहुँचे। एक दिन ब्राह्मण वेशधारी भीम भिक्षा के लिए राजमहलो मे पहुँचा। राजा वृषध्वज ने भीम को देखते ही अनुमान लगाया कि छद्म वेश मे यह कोई महापुरुष है। वह अपनी कन्या दिशानन्दा को लेकर भीम के आगे खडा हो गया और बडी विनयपूर्वक बोला—'महाभाग! यह कन्या ही आपके लिये उपयुक्त भिक्षा है, इसलिए आप इसे स्वीकार कीजिए और पाणिग्रहण के लिए हाथ बढाइये।' भीम बोला—'राजन्! यह भिक्षा तो अपूर्व है। किन्तु ऐसी भिक्षा ग्रहण करने के लिए मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। यों कहकर भीम वहाँ से वापिस लौट आया। किन्तु कन्या ने मन मे उसे ही अपने पति के रूप मे स्वीकार कर लिया।

तदनन्तर पाण्डव नर्मदा नदी को पाकर विन्ध्याचल में पहुँचे। वहाँ सध्याकार नगर में हिडम्बवशी राजा सिहघोष राज्य करता था। उसकी सुदर्शना रानी और हृदयसुन्दरी नामक पुत्री थी। राजकुमारो के सम्बन्ध में

निमित्तज्ञानियो ने यह बताया था कि जो व्यक्ति विन्ध्याचल पर्वत पर गदा विद्या को सिद्ध करने वाले विद्याधर को मारेगा, वह हृदयसुन्दरी का पति होगा। एक दिन भीम भ्रमण करते हुए विन्ध्याचल पर्वत पर पहुँचा। वहा उसने देखा कि एक व्यक्ति वृक्ष की कोटर मे बैठकर गदा को सिद्ध कर रहा है। देखते ही भीम ने गदा उठाली और उस गदा के एक प्रहार से वृक्ष को धराशायी कर दिया। वृक्ष के साथ विद्याधर की भी मृत्यु हो गई। राजा ने बडे सम्मानपूर्वक हृदयसुन्दरी का विवाह भीम के साथ कर दिया।

वहाँ कुछ दिन रह कर पाण्डव लोग विभिन्न स्थानो पर भ्रमण करते हुए हस्तिनापुर की ओर चल दिये। वे चलते-चलते माकन्दी नगरी मे पहुँचे। वहाँ का राजा द्रुपद था और भोगवती नामक रानी थी। इनके धृष्ट-द्युम्न आदि पुत्र और द्रौपदी नामक पुत्री थी। द्रौपदी अत्यन्त सुन्दरी थी, रूप की खान थी और सौन्दर्य मे रति को भी लज्जित करती थी। अनेक राजाओ और राजकुमारो ने उसकी याचना की। अन्तत राजा द्रुपद ने स्वयवर का आयोजन किया और यह शर्त रक्खी कि जो घूमते हुए चन्द्रक यन्त्र का वेध कर देगा, वही राजकुमारी के हाथो वरमाला धारण करने का अधिकारी होगा।

इसी अवसर पर सुरेन्द्रवर्धन नामक विद्याधर राजा वहाँ आया। उसने राजा द्रुपद की आज्ञा से यह शर्त रख ली कि जो गाण्डीव धनुष पर प्रत्यचा चढा देगा, और उससे चन्द्रक-वेध करेगा, वही राजकुमारी को पा सकेगा।

स्वयवर का निमन्त्रण पाकर दुर्योधन आदि अनेक राजा और राजकुमार वहाँ एकत्रित हुए। पाण्डव भी कतूहलवश वहाँ पहुँच गये। सब राजाओ ने गाण्डीव धनुष पर प्रत्यचा चढ़ाने का प्रयत्न किया, किन्तु उस दिव्य धनुष को उठाकर कोई झुका भी नही सका। जब सब परास्त हो गये, तब अर्जुन उठा, बडे भ्राताओ के चरणस्पर्श किये, जाकर गाण्डीव धनुष उठाया और लीला मात्र मे उसकी प्रत्यचा चढा दी। दुर्योधन कर्ण आदि राजा अर्जुन के हस्तलाघव को देखकर मन में विचार करने लगे—अर्जुन तो अग्नि मे भस्म हो गया, दूसरा अर्जुन कौन उत्पन्न हो गया?

नरेशगण मन मे नाना भाति की कल्पना करने में लगे हुए थे, तभी अर्जुन ने निरन्तर घूमते हुए चन्द्रक यन्त्र में स्थित नेत्र की ओर अपने बाण का लक्ष्य साधा और निमिष मात्र मे लक्ष्य वेध कर दिया। तभी लज्जा से अवनतमुखी द्रौपदी दोनो हाथो में वरमाला लिये हुए आगे बढ़ी और अर्जुन के गले मे डाल दी। उस समय वायु वेग से चल रही थी, चारो भाई अर्जुन के पास खड़े हुए थे। गले मे वरमाला डालते समय वह टूट गई और वायु के वेग से उड़कर अर्जुन के साथ अन्य चारो भाइयो के ऊपर जा गिरी। किसी रसिक व्यक्ति ने विनोद मे कह दिया कि राजकुमारी ने पाँच कुमारो का वरण किया है। एक क्षणिक विनोद स्थाई किम्वदन्ती बन गया।

पाण्डव वधु वर-वधू को लेकर माता कुन्ती के पास ले चले। किन्तु कुछ मात्सर्यदग्ध नरेश एक अज्ञात कुलशील युवक को वरमाला धारण करते हुए देखकर उत्तेजित हो उठे और वे युद्ध के लिए तैयार हो गये। इधर अर्जुन, भीम और धृष्टद्युम्न ने भी अपने धनुष सभाल लिये। उन्होने अपने बाणो से युद्धलिप्सु नरेशों को रोक दिया। तब अर्जुन ने धृष्टद्युम्न के रथ पर आरूढ होकर अपना नामाङ्कित बाण गुरु द्रोणाचार्य के चरणो में फेका। द्रोण, अश्वत्थामा भीष्म, विदुर आदि ने अर्जुन का नाम पढ कर पाचो पाण्डवो को पहचान लिया। सभी पाण्डवो को जीवित देखकर बड प्रसन्न हुए। सारा वातावरण ही बदल गया, हर्षनाद होने लगा, शखवादित्रो का तुमुल घोष होने लगा। नीतिविचक्षण दुर्योधन और उसके भाइयों ने बन्धु-समागम पर हर्ष व्यक्त किया और पाण्डवों का अभिनन्दन किया। अर्जुन और द्रौपदी का विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ। दुर्योधन पाँचो पाण्डवों के प्रति प्रेम प्रगट करता हुआ माता सहित उन्हे हस्तिनापुर ले गया और वहाँ कौरव और पाण्डव पूर्व के समान आधे-आधे राज्य का भोग करने लगे।

अज्ञातवास के समय युधिष्ठिर और भीम ने जिन कुल कन्याओ को स्वीकार करने का आश्वासन दिया था, उन्हें बुलाकर उनके साथ विवाह कर लिया। सब लोग आनन्दपूर्वक रहने लगे।

कौरवों और पाण्डवों का समय सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। किन्तु कुटिल दुर्योधन पाण्डवो के वैभव और उत्कर्ष को देखकर ईर्ष्या मे दग्ध रहता था, किन्तु प्रकट में वह प्रेम प्रदर्शित करता था। एक बार दुर्योधन

पांडवों का पुनः अज्ञातवास

ने अपने भाइयों के साथ मन्त्रणा की कि पाण्डवो को किस प्रकार राज्यच्युत करके उनके राज्य पर अधिकार किया जाय। इस मन्त्रणा मे शकुनि भी सम्मिलित था। वह दुर्योधन का मामा था और अमात्य भी था। वह अत्यन्त धूर्त और कुटिल व्यक्ति था। द्यूत विद्या मे वह पारगत था। उसने परामर्ष दिया—युधिष्ठिर धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं, किन्तु उन्हे द्यूत क्रीडा की बहुत रुचि है। उन्हे प्रेरित करके द्यूत क्रीडा के लिए तैयार करो। शर्त यह रहे कि पराजित पक्ष को बारह वर्ष अज्ञातवास में रहना होगा। यदि उनका परिचय प्रगट हो जाय तो पुन: बारह वर्ष का अज्ञातवास होगा। आप लोग चिन्ता न करे, मेरे कुटिल दाव को युधिष्ठिर समझ भी न पावगे और उन्हे पराजित होना पड़ेगा। युधिष्ठिर प्रतिज्ञा निभायेगे और उनके भाई उनकी आज्ञा का अतिक्रमण नही कर सकेगे। इस प्रकार आप लोग निष्कण्टक राज्य भोगना।

धूर्त शकुनि का परामर्ष सबको रुचिकर लगा। तदनुसार एक दिन दुर्योधन ने युधिष्ठिर से कहा—धर्मराज! मेरी इच्छा है कि हम दोनो शर्त रखकर द्यूत क्रीडा करे। इससे मनोरजन भी होगा और भाग्य-निर्णय भी होगा। इस क्रीडा मे जो पराजित होगा, उस पक्ष को बारह वर्ष पर्यन्त अज्ञातवास करना होगा। समय से पूर्व प्रगट होने पर पुन: बारह वर्ष तक इसी प्रकार अज्ञातवास धारण करना होगा। क्या आप यह चुनौती स्वीकार करने के लिये तैयार है?

युधिष्ठिर क्षत्रिय थे। कोई उन्हे चुनौती दे और वे स्वीकार न करे, ऐसा क्या सभव था? उन्होने दुर्योधन की बात स्वीकार कर ली। चौसर बिछ गई। दोनो पक्ष आ जुटे। युधिष्ठिर और दुर्योधन द्यूत क्रीडा मे उस युग के प्रख्यात विशेषज्ञ माने जाते थे। शकुनि इस विद्या का मर्मज्ञ था। पासे उसके इच्छानुवर्ती थे। वह इस विद्या के गूढ रहस्यो, कुटिल दावों और वचना-प्रवचनाओ में कुशल था। ऐसे महारथियो की प्रतिद्वन्द्विता का समाचार चारो ओर फैल गया। कुतूहलवश दर्शक बहुसख्या मे आ जुटे।

पासे फेके जाने लगे। दाव जीतने पर दर्शक ही नही, क्रीडकों, परामर्षकों, पक्षधरो के मुख से भी हर्ष-नाद निकल पड़ता था। बाजी जमी, खूब जमी। पहले युधिष्ठिर की निरन्तर विजय होती रही। युधिष्ठिर इससे उत्साहित होकर लम्बे दाव लगाने लगे। कुटिल शकुनि की यह भी एक चाल थी, वह दाना डालकर चिडिया को फंसाना चाहता था।

कुछ समय बाद बाजी बदली। पासे युधिष्ठिर को धोका देने लगे, वे ही दुर्योधन की इच्छानुकूल पडने लगे। कहाँ प्रवंचना है, इसे पाण्डव नही समझ पाये। कौरव प्रसन्न थे। शकुनि युधिष्ठिर को बडा दाव लगाने को बार-बार प्रोत्साहित करता। गया हुआ वापिस प्राप्त करने की सभावना से युधिष्ठिर मूढो के समान अधिक-अधिक लगाते गये और हारते गये। अन्त मे सब कुछ दाव पर लगा दिया और सब कुछ चला गया। अब पाण्डवो को वहाँ से चले जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नही बचा था। नीतिज्ञ वृद्ध जन कह रहे थे—पाण्डवों के साथ धोका हुआ है, अन्याय हुआ है। चारो भाई भी क्षुब्ध थे, वे अन्याय का प्रतीकार करने को तत्पर थे। किन्तु युधिष्ठिर ने उन्हे शान्त कर दिया। प्रतिज्ञा के अनुसार वे चारो भाइयो को लेकर चल दिये। उनके साथ केवल द्रौपदी ही गई।

पाण्डव चलते-चलते कालाजला अटवी में पहुँचे। उस वन मे असुरोद्गीत नगर का प्रकीर्णकासुरी का पुत्र सुतार नामक विद्याधर किरात का वेष धारण करके अपनी हृदयवल्लभा कुसुमावली के साथ क्रीड़ा कर रहा था। अर्जुन भ्रमण करते हुए उधर ही जा निकला। किरात अर्जुन के आगमन से बडा क्रोधित होकर धनुष-बाण लेकर मारने दौडा। अर्जुन ने भी अपना गाण्डीव सम्हाल लिया। दोनो मे भयकर युद्ध होने लगा। फिर बाहु युद्ध हुआ। अर्जुन ने किरात की छाती पर कस कर मुष्टिका-प्रहार किया। इससे वह अस्त-व्यस्त हो गया। पति की दुर्दशा देखकर विद्याधरी दीनतापूर्वक अर्जुन से पति के प्राणो की भिक्षा मागने लगी। अर्जुन ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके किरात को छोड दिया।

तदनन्तर विभिन्न स्थानो में भ्रमण करते हुए पाण्डव रामगिरि पहुँचे। यह वही पवित्र क्षेत्र था—जहाँ राम, लक्ष्मण और सीता के साथ ठहरे थे और जहाँ उन्होने सैकड़ो जिनालय बनवाये थे। पाण्डव लोग उन्ही

जिनालयो में दर्शन-पूजन करते थे। वह स्थान उन्हे इतना रुचिकर लगा कि वे वहाँ ११ वर्ष तक ठहरे।

पाण्डव विराट नगर में—वहाँ से वे चलकर विराटनगर पहुँचे। वहाँ विराट नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सुदर्शना था। पाडवो और द्रौपदी ने वेष बदल कर विराट के यहा नोकरी करली। द्रौपदी को सैरन्ध्री का काम मिला। वह रानी के शरीर मे तेल मर्दन और शृगार का कार्य करती थी। उन्ही दिनो रानी सुदर्शना का सहोदर कीचक अपनी बहन से मिलने आया। कीचक बडा बलवान, दुष्ट और क्रूरकर्मा था।

एक दिन उसने द्रौपदी को देख लिया। देखते ही वह उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गया। वह नाना उपायों से द्रौपदी को आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु द्रौपदी ने उसकी ओर एक बार देखा तक नही। जब उसकी चेष्टाये सीमा का अतिक्रमण करने लगी, तब एक दिन अवसर पाकर द्रौपदी ने भीमसैन से उसकी शिकायत कर दी। सुनते ही भीमसैन क्रोध मे उबल पडा। उसने द्रौपदी को उपाय बता दिया, जिसके अनुसार द्रौपदी ने कीचक को सायकाल के समय एकान्त स्थान मे मिलने का सकेत कर दिया। यथासमय कीचक उस स्थान पर पहुँचा। द्रौपदी का वेष धारण करके भीमसेन भी उस अन्धकारपूर्ण मिलन-स्थान पर जा पहुँचा। काम विह्वल कीचक ज्यो ही आलिगन के लिए आगे बढा, भीमसेन ने कीचक के गले मे दोनो भुजाय डाल कर ऐसा आलिगन किया कि कीचक भूमि पर जा गिरा। भीम ने उसकी छाती पर चढकर कस कर मुष्टिका प्रहार किये, जिससे उसका अग-अग चूर-चूर हो गया। इस प्रकार उसकी परस्त्री विषयक आकाक्षा का पूर्णकर दयालु भीमसैन ने 'जा पापी तुझे आज छोड देता हू' यह कहकर छोड दिया। भयकर रूप मे दण्डित और अपमानित होने से कीचक को वैराग्य हो गया। उसने मुनि-दीक्षा लेली। मुनि बनकर कीचक घोर तप करने लगे और निरन्तर आत्मा की निर्मलता बढाते रहे। आयु के अन्त मे समस्त कर्मो का नाश करके व जन्म-मरण से मुक्त हो गये।

जब कीचक के सौ भाइयो को कीचक की दुर्दशा और अपमान का समाचार ज्ञात हुआ तो वे लोग वहाँ आये और सेरन्ध्री को ही इसका कारण समझ कर उसे एक जलती हुई चिता मे डालने का उपक्रम करने लगे। भीम ने वहाँ पहुँचकर उन सबको यमधाम पहुँचा दिया।

दुर्योधन निश्चिन्त नही बैठा था। उसे अपने विश्वस्त चरो द्वारा समाचार प्राप्त हुआ कि एक ही व्यक्ति ने कीचक के महाबलवान सौ भाइयो का वध कर दिया है। इस समाचार से उसे सन्देह हो गया कि हो न हो, यह कार्य भीम ने किया है। फिर भी उसने अपने सन्देह की निवृत्ति के लिए एक उपाय किया। उसने एक सेना विराट नगर की ओर भेजी। सेना ने विराट नगर के बाहर राजा विराट की चरती हुई गायो को घेर लिया और उन्हे हाक कर ले जाने लगी। रोते चिल्लाते ग्वालो ने आकर यह समाचार राजा को दिया। विराट ने तत्काल अपनी सेना भेज दी। यह समाचार अर्जुन के कानो मे भी पडा। वह विराट की पुत्री उत्तरा को नृत्य विद्या सिखाने के कार्य मे नियुक्त था। उसने महाराज से एक रथ और उपयुक्त शस्त्रास्त्र देने की प्रार्थना की। राजा ने वैसा ही किया। अर्जुन रथ मे आरूढ होकर युद्ध स्थल की ओर रवाना हुआ। मार्ग मे उसने एक शमी वृक्ष पर छिपाये हुए अपने गाण्डीव धनुष और शस्त्रास्त्रो को उतारा और जाकर कौरव सेना पर भयकर वेग से आक्रमण कर दिया। नकुल और सहदेव दोनो भ्राता तलवार मे पटु थे। वे भी अपने शस्त्रो से सज्जित होकर मोर्चे पर पहुंचे। उन तीनो भाइयो के हस्तलाघव और वीरता के आगे कौरव सेना युद्ध क्षेत्र और गायो को छोडकर प्राण बचाकर भागी।

अब दुर्योधन को सन्देह का कोई कारण शेष नही रहा। उसे विश्वास हो गया कि पाण्डव विराट नगर मे छद्म वेष मे अज्ञातवास का काल यापन कर रहे है। किन्तु अज्ञातवास का काल समाप्त हो गया था। अत पाण्डव पुन हस्तिनापुर को लौट गये और वहाँ राज्य-शासन करने लगे।

किन्तु कौरव शान्त रहने वाले नही थे। उन्होंने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि पाण्डव अज्ञातवास के निश्चित समय से पूर्व आ गये है। अत उन्हे बारह वर्ष का अज्ञातवास पुन स्वीकार करना चाहिए। सन्धि की यह शर्त बहुत स्पष्ट है। कौरवो की ये अनर्गल बाते सुनकर भीम आदि चारो भाई उत्तेजित हो जाते, किन्तु

युधिष्ठिर नही चाहते थे कि भाइयो मे परस्पर कटुता उत्पन्न हो। अत उन्होने राज्य का परित्याग करके अपने भाइयो के साथ बाहर जाना ही उचित समझा। अतः वे दक्षिण की ओर चले गये। वे यात्रा करते-करते विन्ध्यवन में पहुँचे। वहाँ एक आश्रम में तपस्या करते हुए महामना विदुर मिले। पाण्डवों ने उन्हे सम्मानपूर्वक नमस्कार किया। वहाँ से चलकर वे लोग द्वारिका पुरी मे पहुँचे। उनके आगमन का समाचार सुनते ही समस्त यादव अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। महाराज समुद्र विजय आदि दसो भाई, नेमिनाथ, बलभद्र-कृष्ण आदि समस्त यादवप्रमुख पाण्डवो के आगमन पर अत्यन्त हर्षित हुए। यादव और पाण्डव परस्पर प्रेमपूर्वक मिले। स्वागत सम्मान के बाद श्रीकृष्ण ने उन्हें सम्पूर्ण भोगोपभोग सामग्री से युक्त प्रासादो मे पृथक्-पृथक् ठहरा दिया। वहा रहते हुए उनका विवाह पाच यादव राजकुमारियो के साथ हो गया—युधिष्ठिर का लक्ष्मीमती के साथ, भीम का शेषवती के साथ, अर्जुन का सुभद्रा के साथ, नकुल का रति के साथ और सहदेव का विजया के साथ।

पाण्डव द्वारिका में

एक बार कुछ व्यापारी राजगृह पहुँचे। वे सम्राट् जरासन्ध की राज्य सभा मे पहुँचे और उन्हे अनर्घ्य रत्न अर्पित किये। जरासन्ध ने उन रत्नो को बडे विस्मय से देखा और पूछने लगा—ये बहुमूल्य रत्न तुम्हे कहाँ प्राप्त हुए ? व्यापारियो ने उत्तर दिया—राजन् ! हम लोग सिंहल, स्वर्णद्वीप आदि देशों में व्यापार के निमित्त भ्रमण करते हुए द्वारिकापुरी पहुंचे। उस नगरी की समृद्धि और सम्पन्नता को देखकर हम विस्मित रह गये। वहाँ महा पराक्रमी श्रीकृष्ण राज्य करते है। जब महाराज समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी के तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म हुआ, उससे पन्द्रह मास पूर्व से उस नगरी मे देवो ने रत्न वर्षा की। उन्ही रत्नो मे से कुछ रत्न हम लोग आपकी सेवा मे लेकर आये है। व्यापारियो की यह बात सुनकर और यादवो की सुख-समृद्धि की बात जानकर जरासन्ध अत्यन्त कुपित होकर बोला—मै तो समझता था कि यादव मेरे भय से पलायन करते हुए जलती हुई चिताओ मे जल मरे है। मुझे अब तक ज्ञात ही नही हुआ कि मेरे शत्रु, मेरे दामाद और पुत्रो-बाधवो को मारने वाले अधम यादव अब तक जीवित है और सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे है। क्या अपने चरो की इसी योग्यता के बल पर गिरिव्रज का शासन अपने सम्राट् का शासनादेश स्थिर रख सकेगा। अब तक मेरे अमात्य ही मुझे और स्वय को धोका देते रहे है। जब तक मुझ ज्ञात नही था, तब तक मेरे शत्रु जीवित रहे। अब ज्ञात हो गया है तो वे मेरे विमुख रहकर एक क्षण भी जीवित नही रह सकेगे। अभी मेरे सभी मित्र नरेशो के पास सेना सहित उपस्थित होने की सूचना भेज दो जाय। अभी यादवो के विरुद्ध अभियान करके उन्हे शीघ्र समूल विनष्ट करना है।

यादव कुल के प्रति जरासन्ध का कोप

मंत्रियो ने अपने सम्राट् को नेमिनाथ-बलभद्र और श्रीकृष्ण के अजेय बल-विक्रम की बात बताकर निवेदन किया—देव ! यादवो की शक्ति इस समय अजेय है। उनसे सामनीति के अनुसार शान्ति-सन्धि करना अधिक विवेकपूर्ण रहेगा।

जरासन्ध ने मंत्रियो के इस परामर्श की उपेक्षा करके अपने मित्र नरेशो के पास सहायता के उद्देश्य से राजदूत भेज दिये तथा एक चतुर दूत द्वारिकापुरी के लिए भी भेज दिया। जरासन्ध का वह राजदूत अजितसेन द्वारिका पुरी पहुंचा और यादवो की राज्य सभा में पहुंचा। यादवो ने उसका समुचित आतिथ्य करके उपयुक्त स्थान दिया। राजदूत ने अपने प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करके अपने आने का उद्देश्य बताते हुए कहा—राजन्यवर्ग ! समस्त यादवगण सुने। परम भट्टारक चक्रवर्ती सम्राट् जरासन्ध के मन मे यादवो के प्रति कोई दुर्भावना नही है। उनके भय से आप लोग अपनी जन्म-भूमि त्याग कर समुद्र के बीच में आकर बस गये है। चक्रवर्ती आपको आश्वासन देते है कि यदि आप चाहे तो पुन अपनी जन्म-भूमि में लौट जाये, उन्हे इसमें कोई आपत्ति नही है। यदि आप लोग यही निवास करना चाहे तो भी चक्रवर्ती की आपके ऊपर कृपा-दृष्टि रहेगी। सम्राट् आप लोगो के हित मे और शान्ति एव सौहार्द के महान प्रयोजनवश केवल यह चाहते है कि आप लोग उन्हें नमस्कार करके अपना सम्राट् स्वीकार कर ले और उनकी छत्रछाया में निर्बाध राज्य-सुख का भोग करे। यदि सम्राट् की आज्ञा का पालन नही हुआ तो यादव कुल का विनाश अनिवार्य है।

दूत के राजनयिक निवेदन का विपरीत ही प्रभाव पडा। स्वाभिमानी और स्वातन्त्र्य प्रेमी यादव किसी सम्राट् की दासता को अगीकार करने को तत्पर नही थे। महाराज श्रीकृष्ण ने दूत को सबोधन करते हुए उत्तर दिया—'शृगाल की मृत्यु आती है तो वह नगर की ओर जाता है। तुम्हारा वह दम्भी राजा सेना सज्जित करके यादव कुल के विरुद्ध अभियान करना चाहता है, यादव कुल रणभूमि मे आकर उसका स्वागत करेगा और उसके दर्प का समुचित उत्तर देगा। यादव कुल का यह उत्तर अपने राजा से जाकर कह देना।'

यह कह कर उन्होंने दूत को वहाँ से विदा कर दिया। दूत ने यादवो का यह उत्तर अपने सम्राट् को निवेदन कर दिया।

इधर यादवो ने परिवर्तित परिस्थिति पर मन्त्रणागार मे मन्त्रणा की। निर्णय हुआ कि यादवों को कुछ अवसर प्राप्त करने के लिये जरासन्ध से कुछ निश्चित अवधि के लिए शान्ति-सन्धि कर लेना उपयुक्त होगा। इस कार्य के लिए कुमार लोहजघ को भार सौपा गया। कुमार लोहजघ शूरवीर, चतुर, व्यवहार कुशल और नीतिज्ञ पुरुष था। वह गिरिव्रज पहुँच कर जरासन्ध से मिला। उसने उसे समझाया कि युद्ध से दोनो पक्षों की ही जन-धन-हानि होगी। यह बुद्धिमत्तापूर्ण होगा कि सम्राट् और यादव कुल मे एक सीमित अवधि के लिए शान्ति सन्धि निष्पन्न हो जाय। अवधि के पश्चात् इसका पुनर्नवीकरण करने अथवा अन्यथा प्रवृत्ति करने का दोनो पक्षो को अधिकार होगा। यादवो के इस नीतिज्ञ राजदूत की तर्कसगत बातो का जरासन्ध पर भी प्रभाव पडा। वह भी तैयारी के लिए कुछ समय चाहता था। अन्त मे दोनो पक्षो की पारस्परिक सहमति द्वारा एक वर्ष की शान्ति सन्धि पर दोनो ओर के हस्ताक्षर हो गये।

कुरुक्षेत्र में महाभारत युद्ध

एक वर्ष की अवधि के पश्चात् जरासन्ध विशाल वाहिनी लेकर कुरुक्षेत्र के विस्तृत मैदान मे जा पहुँचा। श्रीकृष्ण भी अपनी सेना सज्जित करके वहाँ जा डटे। श्रीकृष्ण के पक्ष मे समस्त यादवो के अतिरिक्त पाण्डव, दशार्ह, भोज, पाण्ड्य, इक्ष्वाकु वशी मेरू, राष्ट्रवर्धन, सिहल, बर्बर, यमन, आभीर, काम्बोज, द्रविड देश के नरेश, शकुनि का भाई चारुदत्त, पद्मरथ, आदि अनेक नरेश थे। इनके पक्ष मे सात अक्षौहिणी सेना[1] थी। दूसरी ओर जरासन्ध के पक्ष मे कौरवो के अतिरिक्त गान्धार, सिन्ध, मध्य देश के नरेश कर्ण आदि नरेश थे। उसकी सेना का सख्या-बल ग्यारह अक्षौहिणी था।

दोनों पक्षों की सेनाये जब आमने-सामने डट गई, तब कुन्ती बडी चिन्तित हो गई। वह युधिष्ठिर आदि पुत्रो की सहमति से कर्ण के पास पहुँची। उसने कर्ण को कण्ठ मे लगाकर उसे सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रारम्भ से

---

१ अक्षौहिण्यामित्यधिकैः सप्तत्या ह्यष्टभि शतै।
अयुक्तानि सहस्राणि गजानामेकविशति.॥
एवमेव रथाना तु सख्यान कीर्तित बुधै।
पञ्चषष्टि सहस्राणि षट्शतानि दशैव तु॥
सख्यातास्तुरगास्तज्ज्ञैर्विना रथतुरगमै।
नृणा शतसहस्राणि सहस्राणि तथा नव।
शतानि त्रीणि चान्यानि पञ्चाशच्च पदातय.॥

—अमरकोश टीका

भारते अक्षौहिणी प्रमाणम्—

अक्षौहिण्या. प्रमाण तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजै।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नै पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः॥

—एक अक्षौहिणी मे २१८७० हाथी, २१८७० रथ, ६५६१० अश्व, १०९३५० पदाति सैनिक होते है।

माता कुन्ती और कर्ण की भेंट

अन्त तक का सुनाया कि किस प्रकार लोक-लाज के कारण उसने अपने पुत्र को कम्बल मे लपेट कर छोड़ दिया था। फिर बोली—पुत्र ! मैं तेरी अपराधिनी हूं, किन्तु तू है तो पाण्डु-कुल का ही एक रत्न और युधिष्ठिर आदि पाडवो का अग्रज। वत्स! चल वहां, जहां तेरे बन्धु-बान्धव है और कुरु-वश का स्वामी तू ही है। तू कृष्ण और बलदेव के लिए प्राणो से भी प्रिय है। चलकर तू अपना राज्य सभाल। युधिष्ठिर तेरे ऊपर छत्र लगायेगा, भीम चवर ढोरेगा, धनजय तेरा मन्त्री बनेगा, नकुल और सहदेव तेरे द्वारपाल होगे। फिर तुम सबकी हितकामना करने वाली तुम्हारी माता तुम्हारे साथ है।'

कर्ण माता के स्नेह रसपूरित वचन सुनकर द्रवित हो उठा, किन्तु जरासन्ध ने उसके प्रति जो उपकार किये थे, उन्हे भूलकर वह कृतघ्न नही बनना चाहता था। अत वह बोला—'ससार मे माता, बन्धु-बाधव दुर्लभ हैं, यह मैं जानता हूँ, किन्तु युद्ध उपस्थित होने पर स्वामी का कार्य छोडकर बन्धु-बान्धवो का कार्य करना अनुचित होगा। मैं वचन देता हूँ कि मैं अपने भाइयो के साथ युद्ध न करके अन्य योद्धाओं के साथ युद्ध करूगा। यदि युद्ध के पश्चात् हम लोग जीवित रहे तो बन्धुओ के साथ समागम अवश्य होगा।' इतना कहकर उसने माता कुन्ती के चरणो का स्पर्श किया।

व्यूह-रचना—जरासन्ध के पक्ष ने चक्र-व्यूह की रचना की। इस चक्रव्यूह मे सेना की चक्राकार रचना की गई। इस चक्र के एक हजार आरे थे। उसकी रक्षा के लिए एक-एक आरे पर एक-एक राजा अपनी सेना के साथ उपस्थित था। चक्र के मध्य भाग मे जरासन्ध स्थित था। उसकी रक्षा के लिये कर्ण, दुर्योधन आदि सौ भाई, गान्धार, सिन्ध और मध्य देश के राजा सन्नद्ध खडे थे। जरासन्ध ने राजा हिरण्यनाभ को आज का सेनापति नियुक्त किया।

दूसरी ओर वसुदेव ने चक्रव्यूह के उत्तर मे गरुड व्यूह की रचना की। इस व्यूह के मुख पर यादव कुमार नियुक्त किये गये। अतिरथ, बलदेव और श्रीकृष्ण उसके मस्तक पर स्थित हुए। वसुदेव के पुत्र अक्रूर, कुमुद, वीर, सारण, विजय, जय, पद्म, जरत्कुमार, सुमुख, दुर्मुख, दृढमुष्टि, विदूरथ और अनावृष्टि बलदेव और श्रीकृष्ण के रथ की रक्षा करने के लिए पृष्ठरक्षक नियुक्त किये गये। राजा भोज गरुड के पृष्ट भाग पर स्थित हुआ और धारण, सागर आदि अनेक वीर भोज के पृष्ठरक्षक बनाये गये। महाराज समुद्रविजय गरुड के दाये पख पर स्थित हुए। बलदेव-पुत्र और पाण्डव गरुड के बॉये पख पर स्थित हुए। उनके पृष्ठ भाग पर सिहल, वर्वर, कम्बोज, केरल, कोसल और द्रमिल देश के राजा नियत किये गये।

तभी अनेक विद्याधर नरेश अपनी-अपनी सेनाये लेकर वसुदेव के पक्ष मे आ मिले। उनसे यह भी समाचार मिला कि विद्याधरो की एक विशाल सेना जरासन्ध की सहायता करने के लिए आने वाली है। तब मन्त्रणा करके यादव प्रमुखो ने उन्ही विद्याधर नरेशो के साथ प्रद्युम्न, शम्ब आदि पुत्रो सहित वसुदेव को विजयार्ध पर्वत की ओर इस शत्रु विद्याधर सेना का प्रतिरोध करने के लिए भेज दिया।

सभी वीर युद्ध के लिए सन्नद्ध थे। वीरो की भुजाये अपना कौशल प्रस्तुत करने के लिए फडक रही थी। महाबली बलदेव कुबेर द्वारा समर्पित दिव्य अस्त्रो से परिपूर्ण सिंह रथ पर आरूढ हुए। महामना श्रीकृष्ण गरुडांकित पताका से सुशोभित दिव्य अस्त्र शस्त्रो से परिपूर्ण गरुड रथ में विराजमान हुए। भगवान नेमिनाथ इन्द्र द्वारा प्रेषित और मातलि सारथी से युक्त रथ मे जा विराजे। उनकी दिव्य कांति से सम्पूर्ण युद्ध-भूमि प्रभासित थी। तब यादव प्रमुखो ने परामर्ष करके वसुदेव के महावीर पुत्र अनावृष्टि को सेनापति बनाकर उसके ललाट पर कुकुम का तिलक लगाया।

युद्ध का भेरी-घोष—दोनो पक्षो मे युद्ध प्रारम्भ करने की सूचना देने वाले शख और भेरियो का तुमुल घोष होने लगा। भेरी-घोष सुनते ही दोनों सेनाये परस्पर जूझ पडी। गज सेना गज सेना के साथ, अश्व सेना अश्व सेना के साथ, रथारोही रथारोहियो के साथ और पदाति पदातियो के साथ भिड गये। वीरो की हुकारो और ललकारो, धनुष की टकारो, हाथी और घोड़ो की चीत्कारो से दसो दिशाये फटने-सी लगी।

जरासन्ध की सेना ने यादव सेना को दबाना प्रारम्भ कर दिया। यह देख कर नेमिनाथ, अर्जुन और अनावृष्टि श्रीकृष्ण के सकेत पर आगे बढ़े। भगवान नेमिनाथ ने इन्द्र द्वारा प्रदत्त ऐन्द्र, अर्जुन ने देवदत्त और सेनापति अनावृष्टि ने बलाहक शख फूका। शख-ध्वनि सुनते ही यादव-सेना में उत्साह भर गया। अनावृष्टि ने चक्रव्यूह का मध्य भाग, नेमिनाथ ने दक्षिण भाग और अर्जुन ने पश्चिमोत्तर भाग क्षणमात्र मे भेद दिया। तब प्रतिपक्ष का सेनापति हिरण्यनाभ अनावृष्टि के साथ, रुक्मी नेमिनाथ के साथ और दुर्योधन अर्जुन के साथ भिड़ गये। भगवान नेमिनाथ ने भयंकर बाणवर्षा से रुक्मी को रथ के नीचे गिरा दिया और असख्य वीरो को तितर-बितर कर दिया। उपयुक्त अवसर पाकर पाँचो पाण्डवो ने कौरवो के साथ भयकर युद्ध किया। युधिष्ठिर शल्य के साथ, भीम दुःशासन के साथ, सहदेव शकुनि के साथ और नकुल उलूक के साथ युद्ध करने लगे। पाण्डवो ने दुर्योधन के अनेक भाइयों को मार डाला, जो जीवित रह गये, उन्हें मृतक के समान कर दिया।

उधर दोनो पक्षों के सेनापतियों का लोमहर्षक द्वन्द्व युद्ध हो रहा था। हिरण्यनाभ ने अनावृष्टि को बाण वर्षा द्वारा सत्ताईस बार आहत किया। उत्तर मे अनावृष्टि ने अपने भयकर बाणो द्वारा सौ व्रण दिये। हिरण्यनाभ ने अनावृष्टि की ध्वजा भग कर दी और अनावृष्टि ने उसके धनुष, छत्र और सारथि को भेद दिया। हिरण्यनाभ ने दूसरा धनुष, सभाल लिया तो अनावृष्टि ने उसका रथ तोड दिया। तब हिरण्यनाभ तलवार हाथ मे लेकर कूद पडा। अनावृष्टि ने भी तलवार और ढाल लेकर उसका सामना किया। दोनो वीरो मे भयानक युद्ध हुआ। अन्त में अनावृष्टि ने हिरण्यनाभ पर घातक प्रहार किया। उसमे उसकी दोनों भुजाये कटकर अलग जा पडी, छाती फट गई और निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पडा। सेनापति के गिरते ही शत्रु-सेना प्राण लेकर भागने लगी। यादव-सेना में हर्ष-नाद होने लगा। बलदेव और श्रीकृष्ण ने चक्रव्यूह का भेदन करने वाले भगवान नेमिनाथ, अर्जुन और सेनापति अनावृष्टि का प्रेमपूर्ण आलिगन किया। प्रथम दिन के युद्ध में यादवो की विजय हुई और शत्रु सेना में शोक छा गया।

श्रीकृष्ण द्वारा जरासन्ध का वध—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही मैदान में दोनों सेनाये आ डटी। व्यूह-रचना पूर्ववत् की गई। तब रथ मे आरूढ जरासन्ध अपने मत्री हसक से बोला—हसक! मुझे यादव पक्ष के महावीरो के नाम, चिन्ह और परिचय बता, जिससे मैं उन्हीं का वध करू, अन्य साधारण जनो के वध से क्या लाभ है।

तब हसक अपने स्वामी को शत्रु पक्ष के सेनानियो का परिचय देते हुए कहने लगा—'देव! स्वर्ण शृखलाओ से युक्त श्वेत अश्वो और गरुड ध्वजा वाला श्रीकृष्ण का रथ है। स्वर्ण साँकलो वाला, हरे अश्वो वाला और वृषभ ध्वजा वाला अरिष्टनेमि का रथ है। कृष्ण के दाई ओर रीठा के समान वर्ण वाले अश्वों और ताल ध्वज वाला बलदेव का रथ है। इसी प्रकार अमात्य ने अनावृष्टि, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, समुद्र विजय, अक्रूर, सात्यकि, भोज, जरत्कुमार, सिहल, मरुराज पद्मरथ, सारण, मेरुदत्त, विदूरथ आदि महारथियो का परिचय दिया।

सबका परिचय पाकर जरासन्ध ने सारथि को आदेश दिया 'सारथि! मेरा रथ यादवो की ओर ले चल। तब जरासन्ध और उसके पुत्रो ने यादव सेना पर बाण-वर्षा करके उसे व्याकुल कर दिया। जरासन्ध के पुत्र कालयवन ने अनेक यादव कुमारो के शिर छेद दिये। तब क्रुद्ध होकर सारण आगे बढा और उसने खड्ग के एक ही तीव्र प्रहार मे कालयवन को यमराज के घर भेज दिया। जरासन्ध के अन्य पुत्र प्रतिरोध करने आगे बढे, उन्हे श्रीकृष्ण ने अपने घातक बाणो से सदा के लिए सुला दिया।

पुत्रो की मृत्यु से भयकर क्रोध में भरकर अपने नेत्रो से आग बरसाता हुआ जरासन्ध श्रीकृष्ण के समक्ष पहुँचा। दोनो अप्रतिम वीरो मे उस समय दारुण युद्ध हुआ। जरासन्ध ने दिव्य नागास्त्र छोडा। कृष्ण सावधान थे। उन्होंने गरुडास्त्र छोडकर उसे व्यर्थ कर दिया। तब जरासन्ध ने प्रलयकाल के मेघ के समान वर्षा करने वाला सवर्तक अस्त्र छोडा तो श्रीकृष्ण ने महाश्वसन नामक अस्त्र के द्वारा भयकर आँधी चलाकर उसे दूर कर दिया। इस प्रकार दोनो वीर वायव्य अस्त्र, अन्तरीक्ष अस्त्र, आग्नेय बाण, वारुणास्त्र, वैरोचन अस्त्र, माहेन्द्र अस्त्र, राक्षसबाण, नारायण बाण, तामसास्त्र, भास्कर बाण, अश्वग्रीव बाण, ब्रह्मशिरस बाण आदि दिव्य शस्त्रास्त्र चलाते और

एक दूसरे को छकाते रहे। जब जरासन्ध के सभी दिव्यास्त्रों को कृष्ण ने निष्प्रभ कर दिया, तो जरासन्ध ने हजार यक्षो द्वारा रक्षित चक्ररत्न को स्मरण किया। स्मरण करते ही चक्ररत्न समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ उसकी उगली पर आकर ठहर गया। तब उसने वह चक्ररत्न श्रीकृष्ण की ओर फेका। उस प्रकाशमान चक्ररत्न को आते हुए देखकर समस्त यादव सेना में आतक छा गया। समस्त यादवपक्षी वीर उस चक्ररत्न को रोकने का प्रयत्न करने लगे। सभी वीर भय से अस्थिर हो रहे थे, केवल एक ही व्यक्ति स्थिर और शान्त था और वे थे भगवान नेमिनाथ, वे अवधिज्ञान के द्वारा इसका परिणाम जानते थे। इसलिए वे श्रीकृष्ण के पास शान्त भाव से खड़े हुए देख रहे थे। वह कान्तिमान चक्ररत्न धीरे-धीरे बढता हुआ आया। उसने भगवान नेमिनाथ और श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा दी और श्रीकृष्ण के शख, चक्र, अकुश मे चिन्हित दाये हाथ पर आकर ठहर गया। उसी समय आकाश में देव-दुन्दुभि बजने लगी, पुष्प वर्षा होने लगी, यह नौवा नारायण है, इस प्रकार देव कहने लगे। सुगन्धित पवन बहने लगा।

जरासन्ध को अपनी मृत्यु का निश्चय हो गया, किन्तु वह वीर निर्भय होकर बोला—अरे गोप! एक चक्र चला गया तो क्या हुआ, मेरे पास अभी बल और शस्त्रास्त्र सुरक्षित है। तू इसे चला कर देख ले।

स्वभाव से धीर गम्भीर श्रीकृष्ण शान्त भाव से बोले—'अब तो तुम्हे विश्वास हो गया होगा कि मैं नारायण हूँ। यदि अब भी तुम मेरी आधीनता स्वीकार करके मुझे नमस्कार करो तो मे तुम्हे क्षमा कर सकता हूँ।' किन्तु जरासन्ध गर्व से बोला—'इस कुम्हार के चाक को पाकर तुझे व्यर्थ ही अभिमान हो गया है। मै समस्त यादवो सहित तुझे अभी यमपुर पहुँचाता हूं।

श्रीकृष्ण ने कुपित होकर घुमाकर चक्ररत्न छोडा। उसने शीघ्र ही जरासन्ध के वक्षस्थल को भेद दिया। जरासन्ध टूटे हुए वृक्ष के समान निष्प्राण होकर भूलुठित हो गया। चक्ररत्न पुनः लोट कर श्रीकृष्ण के हाथ मे आ गया। श्रीकृष्ण ने अपना पाँचजन्य शख फूका। भगवान नेमिनाथ, अर्जुन और सेनापति अनावृष्टि ने भी अपने-अपने शख फूके। शत्रु-सेना मे अभय घोषणा कर दी गई। सब श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी बन गये। दुर्योधन, द्रोण, दुशासन, कर्ण आदि ने विरक्त होकर मुनि-दीक्षा ले ली।

दूसरे दिन जरासन्ध आदि मृत व्यक्तियो का सम्मानपूर्वक दाह सस्कार किया गया। इधर शत्रु-पक्ष तो पराजित हो गया था, किन्तु वसुदेव अपने पुत्रों और पौत्रो के साथ विद्याधरो के प्रतिरोध के लिए गये थे, किन्तु वे अभी तक नही लौटे थे, न कोई समाचार ही मिला था। यादव इसी चिन्ता मे बैठे हुए थे। तभी अनेक विद्याधरियाँ वेगवती, नागकुमारी के साथ आकाश-मार्ग से आई। आकर उन्होने सबको नमस्कार किया और यह शुभ समाचार सुनाया कि विद्याधरो के ऊपर वसुदेव ने विजय प्राप्त कर ली है और सभी विद्याधर उनके आज्ञानुवर्ती बन गये हैं। वे कुछ समय मे आने ही वाले है। तभी विमानो में विद्याधरो के साथ वसुदेव और उनके सभी पुत्र और पौत्र आये। आकर सब विद्याधरो ने नारायण कृष्ण और बलभद्र बलदेव के चरणो मे नमस्कार किया। वसुदेव ने अपने दोनो विजयी पुत्रो का आलिगन किया, दोनो ने पिता के चरणो में नमस्कार किया। फिर वसुदेव और पुत्रो पोत्रों ने महाराज समुद्रविजय आदि को नमस्कार किया।

श्रीकृष्ण द्वारा दिग्विजय

महाभारत युद्ध मे विजय प्राप्त करके श्रीकृष्ण और बलदेव दिग्विजय के लिए निकले। उन्होंने अल्प समय मे ही भरत क्षेत्र के तीन खण्डो अर्थात् अर्ध भरत क्षेत्र के सभी राजाओ पर विजय प्राप्त कर ली। तब वे दक्षिण दिशा से कोटिशिला पर पहुँचे। वहाँ पहुँच कर श्रीकृष्ण ने उस एक योजन ऊँची, एक योजन लम्बी और एक योजन चौडी शिला की पूजा करके उसे अपनी भुजाओं से चार अगुल ऊपर उठा लिया। प्रथम त्रिपृष्ठ नारायण ने इस शिला को भुजाओं से सिर से ऊपर उठाया था। द्वितीय नारायण ने मस्तक तक, तीसरे स्वयंभू ने कण्ठ तक, चौथे पुरुषोत्तम ने वक्षस्थल तक, पाचवें नृसिंह ने हृदय तक, छठवे पुण्डरीक ने कमर तक, सातवें दत्तक ने जाँघों तक, आठवें लक्ष्मण ने घुटनों तक और नौवे नारायण श्रीकृष्ण ने उसे चार अगुल ऊपर तक उठाया। शिला उठाने के कारण समस्त नरेशों और सेना ने उन्हे नारायण स्वीकार कर लिया।

दिग्विजय करके श्रीकृष्ण और बलराम द्वारिका वापिस आये। समस्त नरेशो ने दोनों भाइयों को अर्ध-चक्रीश्वर पद पर आसीन करके अभिषिक्त किया। फिर श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के द्वितीय पुत्र सहदेव को मगध का राज्य प्रदान किया। उग्रसैन के पुत्र द्वार को मथुरा का, महानेमि को शौर्यपुर का, पाण्डवों को हस्तिनापुर का, राजा रुधिर के पौत्र रुक्मनाभ को कोशल देश का राज्य प्रदान किया।

श्रीकृष्ण का वैभव अपार था। उनके पास सुदर्शन चक्र, शार्ङ्ग धनुष, सौनन्दक खड्ग, कौमुदी गदा, अमोघ-मूला शक्ति, पाचजन्य शख, कौस्तुभ मणि ये सात दिव्य रत्न थे। इसी प्रकार बलदेव के पास अपराजित हल, गदा, मूसल, शक्ति और माला ये पाच दिव्य रत्न थे। नारायण की आज्ञा शिरोधार्य करने वाले राजाओ की सख्या सोलह हजार थी। उनकी सोलह हजार रानियाँ थी तथा बलदेव की आठ हजार रानियाँ थी। श्रीकृष्ण की आठ पटरानियाँ थी, जिनके नाम इस प्रकार थे—रुक्मिणी, सत्यभामा, जामवती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती और गान्धारी।

पाण्डव आनन्दपूर्वक हस्तिनापुर मे राज्य कर रहे थे। उनका प्रताप चारो ओर व्याप्त हो रहा था। नारायण श्रीकृष्ण उनके मित्र थे। एक दिन घुमन्तू नारद पाण्डवो के महलो मे पधारे। पाण्डवो ने उनका यथोचित सम्मान किया। फिर वे अन्त पुर मे गये। द्रौपदी उस समय श्रृगार में लीन थी, इसलिए नारद कब आये और चले गये उसे इसका कुछ पता नही चला किन्तु नारद को द्रौपदी का यह व्यवहार असह्य लगा। उन्होने द्रौपदी का मान-मर्दन करने का निश्चय किया और वे आकाश-मार्ग से पूर्व धातकी खण्ड के भरत-क्षेत्र की अमरककापुरी के नरेश पद्मनाभ के महलो में पहुँचे। पद्मनाभ ने उनकी अभ्यर्थना की और अपनी स्त्रियो को दिखाकर कहा—क्या आपने ऐसी रूपवती स्त्रियाँ ससार मे कही अन्यत्र देखी है? तब नारद ने द्रौपदी के रूप लावण्य का ऐसा सरस वर्णन किया कि पद्मनाभ उस स्त्री रत्न को पाने के लिए ललक उठा। नारद द्रौपदी के क्षेत्र- नगर, भवन आदि का पता बताकर चले गये।

पांडवों का निष्कासन

तब पद्मनाभ ने सगमक नामक देव द्वारा सोती हुई द्रौपदी को पर्यक सहित अपने महलो मे मगा लिया। जब द्रौपदी सो कर उठी तो वह आश्चर्य से चारो ओर देखने लगी। तभी पद्मनाभ आकर बोला—'देवि! तुम धातकी खण्ड मे हो, मै यहाँ का नरेश पद्मनाभ हूँ। मैने तुम्हे यहाँ मंगवाया है। मैं तुम्हे अपनी पटरानी बनाना चाहता हूँ। अब तुम अपने पति को भूल जाओ और मेरे साथ इच्छानुकूल भोग भोगो।' द्रौपदी कुपित होकर बोली-तुम नही जानते, नारायण कृष्ण और बलभद्र बलराम मेरे भाई है, जगविख्यात धनुर्धर अर्जुन मेरे पति है। मेरे ज्येष्ठ और देवर अतुल बल विक्रमधारी है। उनको कोई स्थान अगम्य नही है। यदि तुम्हे मृत्यु प्रिय नही है तो तुम अभी मुझे मेरे स्थान पर पहुँचा दो।' यह सुन कर पद्मनाभ खिलखिला कर हँस पड़ा।

द्रौपदी इस सकट से विचलित नही हुई। उसने नियम कर लिया कि जब तक मुझे मेरे पति अर्जुन के दर्शन नही होगे, तब तक मेरे अन्न-जल का त्याग है।

इधर जब आकस्मिक रूप से द्रौपदी अदृश्य हो गई तो पाडव किकर्तव्य विमूढ हो गये। वे सीधे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे और उन्ह यह दु.सवाद सुनाया। सुनकर उन्हे बड़ा दु ख हुआ। उन्होने सभी नगरो मे खोज कराई, किन्तु कोई पता नही लगा।

एक दिन श्रीकृष्ण की सभा में नारद का आगमन हुआ। यादवो से अभ्यर्थना पाकर नारद बोले—'मैंने द्रौपदी को धातकी खण्ड द्वीप की अमरककापुरी में राजा पद्मनाभ के महलो मे देखा है। वह निरन्तर अश्रुपात करती रहती है। उसे केवल अपने शीलव्रत का ही भरोसा है।' द्रौपदी के समाचार पाकर श्रीकृष्ण, पाण्डव और समस्त यादव अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे नारद की प्रशंसा करने लगे।

समाचार पाकर श्रीकृष्ण और पाँचो पाडव द्रौपदी को लाने के लिए रथ में आरूढ होकर चल दिये। दक्षिण समुद्र के तट पर पहुँच कर उन्होने लवण समुद्र के अधिष्ठाता देवता की आराधना की और तीन दिन का उपवास करके बैठ गये। देवता ने प्रसन्न होकर उन्हें छह रथों में आरूढ करके धातकी खण्ड पहुँचा दिया। वहाँ से वे लोग अमरकंकापुरी पहुँच और बाह्य उद्यान में ठहर गये। उद्यान में नियुक्त प्रहरियों ने जाकर महाराजा

पद्मनाभ को समाचार दिया कि श्रीकृष्ण आदि आ गये हैं। राजा ने उनसे युद्ध करने के लिये अपनी सेना भेजी। उसे श्रीकृष्ण आदि ने बुरी तरह परास्त कर दिया। अवशिष्ट सेना भागकर नगर में पहुँची। राजा ने नगर कोट के द्वार बन्द करा दिये। श्रीकृष्ण ने पैर की एक ठोकर में द्वार और प्राकार तोड दिये, नगर का विध्वंस करना आरम्भ कर दिया। नगर में त्राहि-त्राहि मच गई। हाथी और घोड़े बन्धन तुड़ाकर भागने लगे। तब भयभीत होकर पद्मनाभ स्त्रियो और नागरिको को लेकर द्रौपदी की शरण मे पहुँचा और दीनतापूर्वक अपने अपराध की क्षमा-याचना करता हुआ प्राण की भिक्षा मागने लगा। तब उसकी दीन दशा देखकर दयार्द्र होकर द्रौपदी ने कहा--तू स्त्री वेष धारण करके चक्रवर्ती श्रीकृष्ण की शरण मे जा। वे ही तुझे क्षमा करेगे। पद्मनाभ ने ऐसा ही किया और स्त्री वेष धारण करके द्रौपदी को आगे करके स्त्रियो के साथ श्रीकृष्ण की शरण में जा पहुँचा। श्रीकृष्ण ने शरणागत को अभय-दान दिया और उसे वापिस लौटा दिया। द्रौपदी ने श्रीकृष्ण के चरणो मे नमस्कार किया तथा वह पाण्डवो से विनय के साथ मिली तथा अपना दु ख रोते-रोते प्रगट किया, जिससे दु:ख का भार उतर गया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण द्रौपदी को रथ में बैठाकर पाण्डवो के साथ समुद्र तट पर आये और अपना पाचजन्य शंख बजाया। उसके शब्द से दिशायें प्रतिध्वनित होने लगी। उस समय चंपा नगरी के बाहर विराजमान जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने के लिये धातकी खण्ड का नारायण कपिल आया था। उसने भी शख का शब्द सुना। अत उसने जिनेन्द्र भगवान से पूछा--'भगवन् ! मेरे समान शक्तिसम्पन्न किस व्यक्ति ने यह शख ध्वनि की है। इस क्षेत्र में तो मेरे समान अन्य कोई नारायण नही है।' तब जिनेन्द्र देव ने श्रीकृष्ण नारायण और पाण्डवो के सम्बन्ध मे सारा वृत्तान्त बताया। नारायण कपिल नारायण कृष्ण को देखने की इच्छा से वहाँ से चलने लगा ता भगवान बोले—'राजन् ! कभी तीर्थकर-तीर्थंकर की, चक्रवर्ती-चक्रवर्ती की, नारायण-नारायण की, बलभद्र-बलभद्र की और प्रतिनारायण-प्रति नारायणकी भेट नही होती। केवल चिन्ह मात्र ही कृष्ण नारायण का तुम देख पाओगे।'

कपिल नारायण जब समुद्र-तट पर पहुँचा, तब तक श्रीकृष्ण समुद्र में जा चुके थे। केवल उनकी ध्वजा के ही दर्शन हो सके। वहाँ लौट कर नारायण कपिल ने राजा पद्मनाभ को खूब डाटा।

कृष्ण और पाडव समुद्र को पारकर इस तट पर आ गये। वहाँ श्रीकृष्ण तो विश्राम करने लगे और पाण्डव नौका द्वारा गगा को पार कर उसके दक्षिण तट पर ठहर गये। भीम ने विनोदवश नोका वही छुपा दी। श्रीकृष्ण ने घोडो और सारथी सहित रथ को उठाकर गंगा को पार किया। तट पर आकर श्रीकृष्ण ने पाडवो से पूछा—'तुम लोगो ने नाव क्यो नही भेजी ?' भीम बोला—हम आपकी शक्ति देखना चाहते थे।' यह बात सुन कर श्रीकृष्ण को क्रोध आ गया और उन्होने क्रोधवश कहा—'क्या तुमने अब तक मेरी शक्ति नही देखी थी ? तुम लोग हस्तिनापुर से निकल जाओ।' उन्होने हस्तिनापुर जाकर वहां का राज्य सुभद्रा के पुत्र आर्यसूनु को दे दिया।

पाण्डव कृष्ण के आदेश से हस्तिनापुर त्याग कर अपने अनुकूल जनो के साथ दक्षिण दिशा की ओर चले गये और वहाँ दक्षिण मथुरा नाम की नगरी बसा कर रहने लगे।

नेमिनाथ का शौर्य प्रदर्शन—एक दिन भगवान नेमिनाथ यादवो की कुसुमचित्रा नामक सभा मे गये। उनके पहुँचने पर सभी यादवो ने खड़े होकर भगवान के प्रति सम्मान प्रगट किया। नारायण श्रीकृष्ण ने आगे जाकर उनकी अभ्यर्थना की और उन्हे अपने साथ सिहासन पर बैठाया।। सबके बैठने पर राजाओ मे चर्चा चली कि सबसे अधिक बलवान इस समय कौन है। किसी ने पाण्डवो का नाम लिया, किसी ने श्रीकृष्ण का, किसी ने बलराम का किन्तु अन्त में अधिकाश राजाओं और बलदेव ने कहा कि भगवान नेमिनाथ के समान तीनो लोको मे अन्य कोई पुरुष बलवान नही है। ये अपनी हथेली से पृथ्वी को उठा सकते है, समुद्रो को दिशाओ मे फैक सकते है, सुमेरु पर्वत को कम्पायमान कर सकते हैं। ये तो तीर्थकर है। इनसे उत्कृष्ट दूसरा कौन हो सकता है।

बलदेव के ये वचन सुनकर श्रीकृष्ण न भगवान की ओर देखकर मुसकराते हुए कहा—'भगवन् ! यदि आपके शरीर में ऐसा उत्कृष्ट बल है तो क्यों न बाहु-युद्ध में उसकी परीक्षा कर ली जाय।' भगवान ने किंचित् मुसकरा कर कहा—'हे अग्रज ! इसकी क्या आवश्यकता है। यदि आपको मेरा बाहु-बल ही जानना है तो इस

आसन से मेरा पैर ही विचलित कर दीजिये।' श्रीकृष्ण कमर कसकर उठे और वे पूरे बल से भगवान के पैर से जूझ गये किन्तु पैर को तो क्या हटा पाते, पैर की एक उगली तक को न हिला सके। उनके मस्तक पर श्रम-बिन्दु झलमलाने लगे, श्वास प्रवल वेग से चलने लगी। अन्त में श्रान्त होकर श्रीकृष्ण हाथ जोडकर बोले—भगवन्! आपका बल लोकोत्तर है।

किन्तु इस घटना से श्रीकृष्ण के मन में एक शका बद्धमूल होकर जम गई कि भगवान का बल अपार है, इनके रहते मेरा राज्य-शासन स्थिर कैसे रह पाएगा।

तभी एक घटना और हो गई। बसन्त ऋतु थी। श्रीकृष्ण अपने परिवार और समस्त यादवो के साथ बन-क्रीडा के लिए प्रभास पर्वत पर गये। भगवान नेमिनाथ भी साथ मे थे। सभी लोग यथायोग्य वाहनों मे बैठकर गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वनश्री पूरे यौवन पर थी। नाना जाति के पुष्प विकसित थे। भ्रमरावलियाँ मधु-पान करती हुई गुँजन कर रही थी। कोकिल कूज रही थी। मलय पवन बह रहा था। ऐसे मादक वातावरण मे सभी लोग क्रीडा मे रत हो गये। श्रीकृष्ण की रानियो ने अपने देवर नेमिनाथ को घेर लिया। वे उनके साथ नाना प्रकार की क्रीडायें करने लगी। फिर वे सरोवर में जल-क्रीड़ा करने लगी। भगवान भी उनके साथ इस आमोद-प्रमोद में पूरी तरह भाग ले रहे थे। जब सभी परिश्रान्त हो गई तो वे लोग जल से बाहर निकली और वस्त्र बदलने लगी। भगवान ने वस्त्र बदलकर विनोद-मुद्रा मे नारायण की प्रेमपात्र महारानी जाम्बवती से उतारे हुए गीले वस्त्र निचोडने के लिए कहा। यह सुनते ही महारानी जाम्बवती छद्म क्रोध प्रगट करती हुई कहने लगी—कौस्तुभ मणि धारण करने वाले, नागशय्या पर आरुढ होकर शख की ध्वनि से तीनो लोको को कपाने वाले, शार्ङ्ग धनुप की प्रत्यञ्चा चढाने वाले, राजाओ के भी महाराज श्रीकृष्ण मेरे पति है, वे भी मुझे कभी ऐसी आज्ञा नही देते। किन्तु आश्चर्य है कि आप मुझे अपने कपडे निचोडने की आज्ञा दे रहे है।

महारानी की यह बात सुनकर अन्य रानियो ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—तीन लोक के स्वामी और इन्द्रों से पूजित भगवान के लिए तुम्हे इस प्रकार अयुक्त वचन बोलना क्या शोभा देता है?

किन्तु भगवान ने मुस्कराते हुए कहा—'महाराज श्रीकृष्ण के शौर्य की जो प्रशसा तुमने की है, वैसा शौर्य क्या कठिन है?' यों कहकर वे वेग से राजमहलो मे पहुँचे और फुँकारते हुए नागो के फणो से मण्डित नागशय्या पर चढकर उन्होने शार्ङ्ग धनुप को झुकाकर उसकी प्रत्यञ्चा चढा दी तथा पाञ्चजन्य शख को जोर से फूका। शख के भयकर शब्द से आकाश और पृथ्वी व्याप्त हो गई। हाथी और घोड़े बन्धन तुडाकर चिघाडने और हिनहिनाने लगे। श्रीकृष्ण ने शख-ध्वनि सुनी तो उन्होने तलवार खीचली। नगरवासी आतक से विजडित हो गये। जब श्रीकृष्ण को ज्ञात हुआ कि यह तो हमारे ही शख का शब्द है तो आशकाओ से त्रस्त होकर वे शीघ्र आयुधशाला मे पहुँचे, किन्तु जब उन्होंने कुमार नेमिनाथ को नागशय्या पर अनादर पूर्वक खड़ा हुआ क्रोधित मुद्रा मे देखा तो उन्हे सन्तोष का अनुभव हुआ। उन्होने कुमार को प्रेमपूर्वक आलिगनबद्ध कर लिया और अपने साथ ही उन्हे घर लेगये। घर पहुंचने पर उन्हे ज्ञान हुआ कि वन विहार मे मेरी ही रानियो के कारण कुमार को कामोद्दीपन हुआ है तो वे बडे हर्षित हुए।

नेमिनाथ के विवाह का आयोजन—श्रीकृष्ण ने भोजवशी उग्रसैन की पुत्री राजीमती की कुमार नेमिनाथ के लिए याचना की। उन्होने राजाओ को रानियो सहित आने के निमन्त्रण भेज दिए तथा अपने बन्धुजनो के पास भी पाणिग्रहण सस्कार के समाचार भेज दिये।

श्रावण मास की वर्षा ऋतु मे यादवों की बरात सजधज कर द्वारिका से निकली। बरात मे अगणित बराती थे। अनेक नरेश राजसी वैभव का प्रदर्शन करते हुए जा रहे थे। बराती नानाविध वाहनो मे बैठे थे। श्री-कृष्ण, बलराम आदि मे घिरे हुए कुमार नेमिनाथ वर की वेषभूषा धारण किए और रत्नालकारों से अलकृत हुए रथ में विराजमान थे। त्रिलोकसुन्दर भगवान अलकार धारण करके रूप के साकार रूप लग रहे थे। यादव कुमारियाँ मूर्तिमान कामदेव के मार्ग मे पलक पावडे बिछाये उनके ऊपर अक्षत-लाजा की वर्षा कर रही थी। सौभाग्यवती स्त्रियाँ राजपथों के किनारे पर जल से परिपूर्ण स्वर्ण घट लिए खड़ी थी। युवती स्त्रियाँ हर्म्यों, प्रासादो

और भवनों के गवाक्षो से वर के ऊपर पुष्प-पराग बखेर रही थी। यादवो की यह बरात जब जूनागढ़ पहुँची तो बरात का दूसरा सिरा द्वारिका में था। वर का रथ शनैः शनैः आगे बढ रहा था। भोजवशी उनकी अभ्यर्थना के लिए आगे बढ़े। राजकुमारी राजमती वधू के वेष मे साक्षात् रति लग रही थी। उसकी सहेलियाँ उसे नेमिकुमार के रूप लावण्य को लेकर बार-बार छेड़ रही थी और राजमती लाज के मारे सिकुड़ जाती थी किन्तु उसके हृदय की हर धड़कन में 'नेमि पिया' का ही स्वर गूंज रहा था। वह अपने साजन की एक झलक पाने के लिए अधीर हो रही थी। वह अपनी भावनाओ के गगन मे ऊँची उड़ाने भर रही थी। तभी नानाविध वाद्यों का तुमुल नाद सुनाई पड़ा। सहेलियाँ आई और उसे घसीटती हुई प्रासाद के बाहरी छज्जे पर ले गई। राजीमती सहेलियो के बीच में तारों के मध्य चन्द्रमा के समान शोभा पा रही थी।

वर का रथ आगे बढा, तभी उनकी दृष्टि एक मैदान मे बाड़े में घिरे हुए भयविह्वल तृणभक्षी वन्य पशुओ पर पड़ी। नेमिकुमार ने सारथी से पूछा—'भद्र! ये नाना जाति के पशु यहाँ किसलिए रोके हुए हैं?' सारथी ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'प्रभो! आपके विवाहोत्सव में जो मासभक्षी म्लेच्छ राजा आये है, उनके लिए नाना प्रकार का मास तैयार करने के लिए यहाँ पशुओं का निरोध किया गया है।'

सारथी के वचन सुनकर नेमिकुमार कहने लगे—एक की प्रसन्नता के लिये दूसरे की हिंसा करना घोर अधर्म है। सारथि! मैं विवाह के लिए तनिक भी उत्सुक नही हूँ। तुम इन प्राणियो को बन्धनमुक्त कर दो।' भगवान का हृदय दया से ओत-प्रोत था। वे राजकुमारो से कहने लगे—मनुष्यो की निर्दयता तो देखो। वन ही जिनका घर है, तृण और जल ही जिनका आहार जल है और जो अत्यन्त निरपराध है, ऐसे दीन मृगों का भी मनुष्य वध करते है। जो शूर वीर होकर भी पैर मे काटा न चुभ जाय, इस भय से जूता पहनते है, वे इन मृगों, शशको की गरदन पर तीक्ष्ण धार वाले शस्त्र चलाते है, यह कैसा आश्चर्य है! यह प्राणी जिव्हा की लोलुपता की तृप्ति के लिए भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक खो देता है। किन्तु क्या ससार मे किसी को भी तृप्ति हुई है? मैने स्वय असख्य वर्षो तक इन्द्र, धरणेन्द्र, और नरेन्द्रों के सुख भोगे है, किन्तु मुझे उनसे भी तृप्ति नहीं हुई। ये सासारिक सुख असार है और मेरी आयु भी असार है। मैं इन असार सुखो का त्याग करके नित्य, अनन्त और अविनाशी सुख के उपार्जन का पुरुषार्थ करूँगा।

भगवान के मन मे इन अनित्य सुखो के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो गई। उन्हे आत्म विमुख होकर सासारिक सुखो में क्षणभर भी अटकना निष्प्रयोजन लगने लगा। तभी लौकान्तिक देव आये और भगवान के चरणों में सिर झुका कर विनत मुद्रा मे निवेदन करने लगे—'प्रभो! भरत क्षेत्र मे पाप की प्रवृत्ति बढ गई है, जन-जन के मन में मिथ्या का तमस्तोम छा रहा है। अब तीर्थ-प्रवर्तन का काल आ पहुंचा है। ससार के दिग्भ्रान्त और दुखी प्राणियो पर दया करके आप तीर्थ-प्रवर्तन कीजिये।' देव यों निवेदन करके अपने आवास को लौट गये।

भगवान ने दयार्द्र होकर मृगो का बन्धनमुक्त कर दिया। मृग मुक्त होकर भागे नही, किन्तु जगद् बन्धु भगवान के चरणो में सिर झुकाकर खड़े हो गये और अपने त्राता की ओर निहारने लगे। भगवान ने हाथ उठाकर उन्हे मानो सुरक्षा का आश्वासन दिया। आश्वस्त होकर वे मूक प्राणी वन मे चले गये।

भगवान का दीक्षा-कल्याणक—भगवान ने वरोचित ककण और मोहर उतार दिया। वे वापिस लौटकर नगरी में पहुंचे और राज सिंहासन पर विराजमान हो गये। तभी इन्द्र और देव वहाँ आये। इन्द्रो ने भगवान को स्नान पीठ पर विराजमान करके देवों द्वारा लाये हुए क्षारोदक से उनका अभिषेक किया और उन्हे स्वर्गीय माला, विलेपन, वस्त्र और आभूषणो से विभूषित किया। सभी यादव प्रमुख श्रीकृष्ण, बलराम आदि भगवान को घेर कर खड़े हुए थे। भगवान मोह-माया को तोड़कर वन मे जाने को तैयार थे। मोह का कोई बन्धन उन्हे उनके सकल्प से विचलित न कर सका।

भगवान माता, पिता, बन्धु बान्धवों को समझाकर कुबेर द्वारा निर्मित उत्तरकुरु पालकी मे आरूढ़ हुए। देवों ने पालकी को ध्वजाओ और छत्र से मण्डित किया था। उसमे मणियो के बेल बूटे बने हुए थे। राजाओं ने पालकी को अपने कधे पर उठाया और कुछ दूर ले गए। उसके बाद पालकी को इन्द्रों ने उठाया और आकाश

मार्ग से ले चले । उस समय अद्भुत दृश्य उपस्थित था, आकाश मे देव हर्ष-ध्वनि कर रहे थे और पृथ्वी पर यादव वशी और भोजवशो करुण विलाप कर रहे थे। भगवान को तप के लिए जाने के अवसर पर अप्सराय हर्षित होकर भगवान के आगे भक्ति-नृत्य कर रही थी और पृथ्वी पर यादवो को कुलवधुएँ और रानियाँ शोक विव्हल हो रही थी। देव लोग पालकी को लेकर गिरनार पर्वत पर पहुँचे ।

भगवान पालकी से उतर कर एक शिलातल पर विराजमान हुए । उन्होने अलकार और वस्त्र उतार दिए और पचमुष्ठियो से केशलुँचन किया । वे पद्मासन से विराजमान होकर 'ॐ नम. सिद्धेभ्य.' कहकर ध्यान में लीन हो गये । भगवान की दीक्षा से प्रभावित होकर तत्काल एक हजार राजाओ ने भी दिगम्बर मुनिदीक्षा लेली । उस समय उन राजाओं ने केशलोच किया, वह दृश्य अनुपम था । वह केशलोच नही था, किन्तु वे वस्तुतः कुटिल केशों के उखाडने के बहाने मानो कुटिल शल्यो को ही उखाड़ रहे थे । सौधर्मेन्द्र ने भगवान के केशों को एक मणिमय पिटारे मे वन्द करके उन्हे क्षीरसागर में क्षेपण कर दिया। दीक्षा लेते ही भगवान को मन.पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। उस दिन श्रावण शुक्ला चतुर्थी का दिन था। उस दिन भगवान ने वेला का नियम लेकर दीक्षा ली थी। भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाकर देव और मनुष्य अपने अपने स्थान पर चले गये ।

भगवान पारणा के लिए द्वारकापुरी मे पहुंचे । वहाँ प्रवरदत्त को भगवान को आहार देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस उत्तम दाता ने भगवान को परमान्न का आहार दिया। देवो ने पचाश्चर्य किये—देवो ने रत्न वर्षा की, सुगन्धित जल की वर्षा हुई, शीतल सुगन्धित हवा बहने लगी, देव हर्ष में भरकर दुन्दुभि बजाने लगे और जयजयकार करने लगे—धन्य यह उत्तम दाता, धन्य यह उत्तम पात्र और धन्य है यह उत्तम दान ।

वधू के रत्नाभरणो से मण्डित राजमती—जिसे परिवार वाले प्यार मे राजुल कहते थे सखियो के साथ बरात की धूमधाम मे कल्पनालोक मे विहार कर रही थी। वह अपने पिया के प्रेम के झूले पर लम्बी-लम्बी पेंगे ले रही थी। तभी बिस्फोट के समान यह समाचार सुनाई पडा कि नेमिकुमार विवाह से मुख मोडकर लौट गए है और उन्होने दीक्षा लेली है। समाचार क्या था, मानो वज्रपात था। समाचार सुनते ही राजमती कटे वृक्ष के समान सज्ञाहीन होकर भूमि पर गिर पड़ी। जब वह होश मे आई तो वह करुण विलाप करने लगी । वह बार-बार अपने भाग्य का दोष देती थी। वह बार-बार कहती—'नेमिकुमार महान है। मै ही शायद उनके उपयुक्त नहीं थी। मैं तो वामन थी और मैने आकाश को छूना चाहा। किन्तु यह कैसे सभव हो सकता था। भाग्य ने नेमिकुमार को मेरे लिए वर बनाया था किन्तु दुर्भाग्य ने मेरा मार्ग अवरुद्ध कर दिया। अब मैं उसी दुर्भाग्य से सघर्ष करूँगी। मेरे नेमिकुमार मुझे सासारिक दशा मे प्राप्त नही होसके, किन्तु वे ही मेरे इहभव और परभव के पति है। वे जिस राह गये हैं, वही मेरी राह है। उन्होंने मुझे राह दिखादी है। मै अब उसी राह पर चलूंगी।'

राजीमती द्वारा दीक्षा

माता-पिता और परिजनो ने उसे बहुत समझाया—तेरी वय अभी तप करने की नही है। किसी उपयुक्त राजकुमार के साथ तेरा विवाह किये देते है।' किन्तु राजमती का एक ही उत्तर था—पतिव्रता स्त्री के जीवन में एक ही पति होता है। नेमिकुमार ही मेरे इस जीवन मे पति है, उनका स्थान दूसरा कोई कैसे ले सकता है। वे मुझे छोड कर चले गये है। उनसे मुझे कोई शिकायत नही है। उनके कार्य को मीमासा करने का मेरा क्या अधिकार है। मैं उनके चरणों की दासी हूं। वे ही मेरे सर्वस्व है। वे गये है और मुझे भी आने का सकेत कर गये है।

राजीमती अपने पति की जोगन बनकर अकेली उसी पथ पर चलदी जिस पथ पर उसके महान पति गये थे। उसने सारे आभरण, शृगार के साधन और साजसज्जा त्याग दी, शरीर पर केवल एक श्वेत शाटिका धारण कर ली। वह परिजनो और पुरजनों से सकुल राजपथ पर होकर अवनतमुखी गिरनार पर्वत पर धीरे-धीरे चढने लगी। उसका रूप लावण्य और वय तप के उसके महान सकल्प से और भी अधिक सतेज हो उठे। उसका प्रयोजन महान था। वह ससार की सारी माया से निलिप्त, शरीर से निर्मोह होकर उस कण्टकाकीर्ण मार्ग पर बढ़ती गई, जो आत्म स्वातन्त्र्य के लिए जाता है।

ससार की किस वधू ने अपने निर्मोही पति के लिए इतना महान और सर्वस्व त्याग किया होगा ! जिसकी रगीन कल्पनाये और मीठे सपने एक अप्रत्याशित झटके से बिखर गये, किन्तु जिसने उसके प्रतिरोध का न कोई

प्रयत्न किया, न जिसने अपने भावी पति के विरुद्ध कोई अभाव अभियोग ही उपस्थित किया, बल्कि केवल ककण की लाज को ही सब कुछ मानकर उसी ठुकराने वाले निष्ठुर पति का ही अनुगमन किया, वह नारी नारीत्व का महानतम श्रृंगार है। राजुल ! तुमने अपनी कामनाओं का होम करके और आत्माहुति देकर जो ज्योति जलाई, वह युग-युगों तक दिग्भ्रान्त नारी जाति का पथ आलोकित करती रहेगी। देवी ! तुमने अपने जीवन को धन्य किया, समग्र नारी जाति को धन्य किया और मानव की महानता को धन्य किया। तुम अपने इस महान तप और त्याग के कारण जगन्माता के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होकर अखिल मानव जाति की श्रद्धास्पद बन गई हो। तुम्हे सहस्र प्रणाम !

भगवान नेमिनाथ का केवलज्ञान कल्याणक

मुनिराज नेमिनाथ अन्तर बाह्य परिग्रह का त्याग करके घोर तप करने लगे। वे प्राय आत्म ध्यान में लीन रहते थे। उन्हे एकान्त, प्रासुक तथा क्षुद्र जीवो के उपद्रव से रहित क्षेत्र, वज्रवृषभनाराच सहनन रूप द्रव्य, उष्णता आदि बाधा से रहित काल और निर्मल अभिप्राय रूप श्रेष्ठ भाव यह क्षेत्रादि चतुष्टय रूप सामग्री उपलब्ध थी। अत वे प्रशस्त ध्यान मे लीन रहते थे। ध्यान के समय उनके नेत्र न तो अत्यन्त खुले रहते थे, न बन्द ही रहते थे। नीचे के दांतों के अग्रभाग पर उनके ऊपर के दाँत स्थित रहते थे। उनकी इन्द्रियो का समस्त व्यापार निवृत्त हो चुका था। उनके श्वासोच्छवास का सञ्चार शनै. शनै होता था। वे अपनी मनोवृत्ति को नाभि के ऊपर मस्तक पर, हृदय मे अथवा ललाट मे स्थिर कर आत्मा को एकाग्र करके प्रशस्त ध्यान करते थे। उनकी कर्मश्रृंखलाय टूटती गई और केवल छप्पन दिन की कठोर साधना के पश्चात् उन्हे आश्विन शुक्ला प्रतिपदा के दिन अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय प्राप्त हो गया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। इन्द्रो के आसन और मुकुट कम्पित होने लगे। चारो जाति के देवो के आवासो मे घण्टो के शब्द, सिंहनाद, दुन्दुभि के शब्द और शखो के शब्द होने लगे। देवो और इन्द्रो ने अवधिज्ञान से जान लिया कि भगवान को केवलज्ञान प्राप्त होगया है, वे सब गिरनार पर्वत पर भगवान का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाने आए। कुबेर ने समवसरण की रचना की। देवो और इन्द्रो ने भगवान का ज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया और भगवान की पूजा की, भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी। इस प्रकार भगवान ने धर्म चक्र प्रवर्तन किया।

भगवान का धर्म विहार—भगवान नेमिनाथ ने विभिन्न देशों में धर्म विहार किया। वे सोराष्ट्र, लाट, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, कुरुजागल, पाञ्चाल, कुशाग्र, मगध, अञ्जन, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, आदि देशो मे विहार करते हुए गए। उनके उपदेश सुनकर सभी वर्गो के लोग जैनधर्म मे स्थित हुए।

तदनन्तर वे बिहार करते हुए मलय नामक देश मे आये। वे भद्रिलपुर नगर के सहस्राम्र वन में ठहरे। उस नगर का राजा पौण्ड्र नगरवासियो के साथ भगवान के दर्शनो के लिए आया। महारानी देवकी के छहों पुत्र, जिनका लालन-पालन सुदृष्टि सेठ और अलका सेठानी ने किया था, अलग-अलग रथ मे आरूढ होकर भगवान के समवसरण में आये। उनमें से प्रत्येक की बत्तीस-बत्तीस स्त्रिया थीं। वे भगवान को नमस्कार करके मनुष्यो के कोष्ठ मे बैठ गये। भगवान का उपदेश सुनकर उन छहो भाइयो को ससार से वैराग्य हो गया और उन्होने भगवान के चरणो मे मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होंने घोर तप किया। उन्हे अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई। वे छहो मुनि साथ-साथ ही उपवास, पारणा, ध्यान, धारणा, शयन, आसन और त्रैकालिक योग करते थे।

एक दिन भगवान नेमिनाथ के दर्शन करने के लिए राजमाता देवकी समवसरण में पहुँची। उन्होने भगवान की प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया और उनकी स्तुति करके स्त्रियो के कक्ष मे बैठ गई। उनके मन मे एक शका कई घण्टो से पल रही थी। उसके निरास के लिये वे हाथ जोडकर बोली—'भगवन् ! आज मेरे आवास मे अत्यन्त तेजस्वी दो मुनि आये। दोनो का रूप-लावण्य, तेज-कान्ति समान थी। मैने उन्हे आहार दिया। किन्तु आहार के पश्चात् वह मुनि-युगल पुन दो बार आया और पुन आहार लिया। प्रभो ! क्या उन मुनियों का एक ही भवन में एक ही दिन तीन बार आहार लेना उचित है ? यह भी सम्भव है, तीन बार आने वाला यह मुनि-युगल रूप-सादृश्य के कारण एक ही प्रतीत होता हो। किन्तु भगवन् ! इन मुनियों को देखकर मेरे हृदय में वात्सल्य क्यो उमड पडा। उन्हे देखते ही मेरा आचल दूध से भर गया और उन्हे आहार देते समय मेरे मन में यह भाव क्यो जागा कि मैं मुनियो को नही; अपने ही पुत्रों को भोजन करा रही हूँ ?

भगवान बोले—देवी ! ये छहो मुनि वास्तव मे तुम्हारे पुत्र है। उन्हे कृष्ण-जन्म से पहले तीन युगल मे तुमने ही जन्म दिया था। देव ने कंस से इनकी रक्षा की। उसने इनका जन्म होते ही भद्रिलपुर के श्रेष्ठी सुदृष्टि और उनकी अलका सेठानी के यहां पहुँचा दिया तथा उनके सद्योजात मृत पुत्र-युगलो को तुम्हारे पास लाकर सुला दिया। उन छहो पुत्रो का लालन-पालन उन सेठ-सेठानी के घर पर हुआ। वे ही छहो भ्राता धर्म श्रवण कर मेरे पास मुनि बन गये। वे कर्मों का क्षय करके इसी जन्म मे मुक्ति प्राप्त करेगे। पुत्र होने के कारण ही तुम्हारे मन मे इनके प्रति वात्सल्य जागृत हुआ था।

देवकी यह सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। उन्होने तथा श्रीकृष्ण आदि ने उन मुनियों को नमस्कार किया।

भगवान का धर्म-परिकर—भगवान के समवसरण मे वरदत्त आदि ११ गणधर, ४०० पूर्वधारी, ११८०० शिक्षक, १५०० अवधिज्ञानी, १५०० केवलज्ञानी, ६०० विपुलमति मन पर्ययज्ञानी, ८०० वादी और ११०० विक्रिया ऋद्धिधारी मुनि थे। राजीमती आदि ४०००० अर्जिकाये थी। १६६००० श्रावक और ३३६००० श्राविकाये थी।

गजकुमार मुनि पर उपसर्ग श्रीकृष्ण के अनुज का नाम गजकुमार था। वह अत्यन्त तेजस्वी, सुदर्शन और सौम्य था। श्रीकृष्ण उससे अत्यन्त स्नेह करते थे। कुमार का विवाह अनेक राजकुमारियो के साथ कर दिया गया। श्रीकृष्ण ने उसके लिये सोमशर्मा नामक ब्राह्मण का पुत्री सोमा का भी वरण कर लिया। यह विवाह होने से पूर्व भगवान नेमिनाथ विहार करते हुए द्वारकापुरी पधारे। भगवान गिरनार पर्वत पर विराजमान थे। यादव लोग भगवान के दर्शनो के लिये गये। यादवो को गिरनार पर्वत पर जाते देखकर गजकुमार भी समवसरण मे जा पहुँचा। वह भगवान को नमस्कार करके मनुष्यो के कोठे मे बैठ गया। भगवान का उपदेश सुनकर उसे भोगो से विराग हो गया। वह माता-पिता, बन्धु-बान्धवो से अनुमति लेकर भगवान के चरणो मे मुनि-दीक्षा लेकर घोर तप करने लगा।

एक दिन मुनि गजकुमार एकान्त मे रात्रि मे प्रतिमा योग से विराजमान थे, तभी सोमशर्मा उधर आ निकला। वह मुनि गजकुमार को देखकर अपनी पुत्री का त्याग करने के कारण क्रोध से विवेकहीन हो गया। उसने जलती हुई अगीठी मुनिराज के सिर पर रखदी और वह क्रूर पिशाच के समान मुनिराज को जलते हुए देखने लगा। ज्यो-ज्यो मुनिराज का शरीर जलने लगा, वह दुष्ट उतना ही प्रसन्न होने लगा। इस रोमहर्षक प्रतिशोध से निकाचित कर्मो द्वारा उसकी आत्मा तमसावृत्त हो गई। उधर मुनिराज ने साम्यभाव से इस दारुण यत्रणा को सहकर शुक्ल ध्यान द्वारा कर्मों का विनाश कर दिया और वे अन्तकृत केवली होकर सिद्ध परमात्मा बन गये।

गजकुमार मुनि को सिद्ध पद की प्राप्ति होने पर देवो ने आकर उनके शरीर की पूजा की। उनके मरण से दुखी होकर वसुदेव को छोडकर समुद्रविजय आदि भाई तथा अनेक यादव ससार की असारता पर विचार करके दीक्षित हो गये। देवकी और रोहिणी को छोडकर शेष रानियो और श्रीकृष्ण की पुत्रियो ने भी दीक्षा ले ली।

भगवान की भविष्यवाणी—भगवान वहाँ से विहार करके उत्तर दिशा, मध्यदेश और पूर्व दिशा के देशो में धर्मोद्योत करते रहे। विहार करते हुए एक बार वे पुन द्वारका पधारे और रैवतक पर्वत पर विराजमान हो गये। उनके पधारने की सूचना पाकर वसुदेव, बलदेव और श्रीकृष्ण परिजनो और पुरजनो के साथ भगवान के दर्शनो के लिये आये। भगवान को नमस्कार करके सब यथास्थान बैठ गये और भगवान का कल्याणकारी उपदेश श्रवण करने लगे। धर्मकथा के पश्चात् बलदेव ने हाथ जोड़कर भगवान से पूछा—भगवन् ! इस द्वारकापुरी की रचना कुबेर ने की है। इसका अन्त कितने समय मे होगा ? प्रभो ! कृष्ण की मृत्यु किस निमित्त से होगी ? देवाधिदेव ! मेरा चित्त कृष्ण के स्नेह-पाश से बंधा हुआ है, क्या ऐसी स्थिति मे मैं कभी सयम ग्रहण कर सकूँगा ? प्रभो ! मेरी जिज्ञासा का समाधान करने की कृपा करे।

त्रिकालदर्शी भगवान कहने लगे—हे बलराम ! तुमने भविष्य जानने की इच्छा प्रगट की है, वह सुनो। द्वारकापुरी आज से बारहवे वर्ष मे मद्यप यादवों की उद्दण्डता के कारण द्वैपायन मुनि के द्वारा क्रोध करने पर भस्म होगी। अन्तिम समय मे श्रीकृष्ण कौशाम्बी के वन में शयन करेगे। उस समय जरत्कुमार के निमित्त से

श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी। उसी समय श्रीकृष्ण की मृत्यु का निमित्त पाकर तुम्हें वैराग्य उत्पन्न होगा और तुम तप करके ब्रह्म स्वर्ग में उत्पन्न होगे। आभ्यन्तर कारण के रहते हुए बाह्य निमित्त मिलने पर जगत में अभ्युदय और क्षय होता है। इसलिये विवेकी जन जगत का स्वभाव जानकर इस अभ्युदय और क्षय में समान भाव रखते हैं, वे कभी हर्ष और विषाद नही करते।

बलराम के मामा द्वैपायनकुमार भगवान के वचन सुनकर ससार से विरक्त होकर मुनि बन गये तथा अप्रिय प्रसग को टालने के लिये वे पूर्व देश की ओर विहार कर गये एव कठोर तप करने लगे। जरत्कुमार भगवान के वचन सुनकर बड़ा दुखी हुआ, 'मेरे अग्रज की मृत्यु का मै ही कारण बनूँगा' इस मनस्ताप के कारण वह बन्धु-बान्धवो को त्याग कर अज्ञात स्थान की ओर चल दिया, जहां श्रीकृष्ण दिखाई भी न दे। जरत्कुमार के जाने से श्रीकृष्ण को बडा दुःख हुआ। वह तो उनका प्राणोपम बन्धु था। यादव लोग भी सन्तप्त मन से नगर को लौट गये।

बलदेव और श्रीकृष्ण ने नगर में आदेश प्रचारित कर दिया—'आज से नगर में मद्य-निषेध आदेश लागू किया जाता है। न नगर मे कोई मद्य पीएगा, न मद्य बनाएगा, न सग्रह करेगा। जो मद्य नगर में विद्यमान है, उसे नष्ट कर दिया जायगा तथा मद्य-निर्माण के साधन भी नष्ट कर दिये जायंगे।' मद्य-प्रतिबन्धक आदेश के लागू होते ही मद्यपी लोगों ने मदिरा बनाने के साधन और मद्य को पर्वत के कुण्डो मे फेक दिया। पाषाण-कुण्डो मे वह मदिरा भरी रही।

मदिरा पर प्रतिबन्ध लगाने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने यह घोषणा की कि 'यदि मेरे माता, पिता, पुत्रियाँ अथवा अन्तपुर की स्त्रियाँ भगवान के निकट दीक्षा लेना चाहे, तो उन्हें मेरी ओर से कोई बाधा नही होगी, वे तप करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है।' यह घोषणा होते ही प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार आदि पुत्रो ने दीक्षा ले ली। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने भी आज्ञा लेकर सयम ग्रहण कर लिया। जब बलदेव का भ्राता सिद्धार्थ दीक्षा लेने के लिये तत्पर हुआ, तो बलदेव ने उससे याचना की—'यदि संयम ग्रहण करते समय मुझे मोह उत्पन्न हो तो तुम मुझे सबोधन करके मार्ग मे स्थित करना।' सिद्धार्थ ने प्रार्थना स्वीकार करके तप ग्रहण कर लिया।

भगवान वहाँ से अन्यत्र बिहार कर गये। भवितव्य टलता नही। द्वैपायन मुनि भ्रान्तिवश बारहवे वर्ष को समाप्त हुआ जानकर बारहवे वर्ष में द्वारकापुरी में आ पहुँचे। वे पर्वत के निकट आतापन योग धारण करके प्रतिमायोग से विराजमान थे। उस समय शम्ब आदि यादव कुमार वन-क्रीडा के लिए पर्वत पर गये। वहाँ से वे जब लौटे तो पिपासा से क्लान्त होकर उन्होने कादम्ब वन के कुण्डो में भरे हुए जल को पी लिया, जो वस्तुतः जल न होकर मदिरा थी। मदिरा पुरानी थी, अत उसमें मादकता अधिक बढ़ गई। उस मदिरा को पीते ही यादव कुमार मद विव्हल होगए। वे असयत होकर अनर्गल प्रलाप करने लगे। जब वे लौट रहे थे तो मार्ग मे सूर्य के सन्मुख खड़े होकर तप करने वाले द्वैपायन मुनि को उन्होने देखा। वे उन पर व्यग्य करने लगे, अश्लील परिहास करने लगे, कुछ यादव कुमारो ने उन्हे पत्थर मारना प्रारम्भ कर दिया। इससे मुनि आहत होकर गिर पड़े। उन्हे यादव कुमारो की उद्दण्डता को देखकर भयानक क्रोध आया। उनकी भृकुटी तन गई, ओठ फड़कने लगे, नेत्र रक्तवर्ण हो गये।

द्वारका-दाह

यादव कुमार झूमते इठलाते हुए द्वारका नगरी पहुँचे। किसी ने द्वैपायन मुनि के साथ किए गए दुर्व्यवहार का समाचार श्रीकृष्ण को सुनाया। समाचार सुनते ही श्रीकृष्ण और बलराम ने समझ लिया कि भगवान ने द्वैपायन मुनि द्वारा द्वारका के विनाश की जो घड़ी बताई थी, वह आ पहुँची है। दोनो भाई अनिष्ट की आशका से व्याकुल होकर शीघ्रतापूर्वक उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ द्वैपायन मुनि क्रोधमूर्ति बने हुए थे। दोनो ने मुनि को आदरपूर्वक प्रणाम किया और यादव कुमारो द्वारा किए गये अभद्र व्यवहार के लिए उनसे बार-बार क्षमा-याचना की और शान्त होने की प्रार्थना की। किन्तु अविवेकी मुनि के ऊपर कुछ भी प्रभाव नही पड़ा। उन्होने द्वारकापुरी को भस्म करने का निश्चय कर लिया था। उन्होने बलराम और श्रीकृष्ण के लिए दो अगुलियां दिखाई जिसका स्पष्ट आशय था कि तुम दोनो ही बच सकोगे, अन्य नही।

दोनो भाई मुनि को दुष्ट निर्णय से विरत न कर सके और वे निराश होकर लौट आये। शम्बकुमार आदि अनेक यादव कुमार विरक्त होकर मुनि बन गये। द्वैपायन मुनि उसी क्रोध मे मरकर अग्नि कुमार नामक भवनवासी देव बने। जब उस देव को अवधिज्ञान द्वारा द्वैपायन मुनि की पर्याय में यादवकुमारो द्वारा किये गए उपसर्ग और भयकर अपराध का ज्ञान हुआ तो उसने यादवो से भयकर प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। वह क्रूर परिणामी भयकर क्रोध मे भर कर द्वारकापुरी पहुँचा और उसे जलाना प्रारम्भ कर दिया। उसने स्त्री-पुरुष तो क्या, पशु-पक्षियो तक को बच निकलने का अवसर नही दिया। जिन्होने बच निकलने का प्रयत्न भी किया, उन्हे पकड-पकड़ कर अग्नि में फेकने लगा। श्रीकृष्ण और बलराम ने आग बुझाने का असफल प्रयत्न किया। उन्होने माता-पिता और बन्धु जनो को भी बचाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु इसमे भी वे सफल नही हो सके। अन्त मे हताश होकर, अपने प्रियजनो और अपनी इन्द्रपुरी जैसी नगरी का दारुण विनाश देखते हुए वे दोनो उदास चित्त से बाहर निकल गये।

इस प्रकार वह नगरी, जिसकी रचना स्वय कुबेर ने की थी, देव जिसकी रक्षा करते थे, भस्म होगई।

शोकाभिभूत दोनों भाई— बलराम और श्रीकृष्ण वहाँ से चल दिए, निरुद्देश्य, अन्तहीन लक्ष्य की ओर। क्षुधा और तृषा से क्लान्त वे हस्तवप्र नामक नगर मे पहुँचे। श्रीकृष्ण तो उद्यान मे ठहर गए और बलराम अन्न जल जुटाने के लिए नगर मे गये। उस नगर का नरेश अच्छदन्त यादवो का शत्रु था। बलराम ने किसी व्यक्ति से अपना स्वर्ण कडा और कुण्डल देकर खाने-पीने की सामग्री खरीदी। जब वे सामग्री लेकर लौट रहे थे, नगर रक्षको ने उन्हे पहचान लिया। उन्होने यह समाचार राजा से निवेदन किया। राजा सेना लेकर वहाँ आया। बलराम ने सकेत द्वारा श्रीकृष्ण को बुला लिया। बलराम ने हाथी बाधने का एक खम्भा उखाड लिया और श्रीकृष्ण ने एक लौह अर्गला ले ली। उन्ही से उन दोनो ने सेना का प्रतिरोध किया। उनकी भयकर मार से सेना भाग गई। तब उन दोनो ने जाकर भोजन किया।

श्रीकृष्ण का करुण निधन

भ्रमण करते हुए दोनो भाई कौशाम्बी के भयानक वन मे पहुँचे। उस समय सूर्य सिर के ऊपर तप रहा था, भयकर गर्मी थी। मार्ग की अविरल यात्रा से क्लान्त और तृषार्त श्रीकृष्ण एक स्थान पर रुक गये। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता से बोले—'आर्य! मै प्यास से बहुत व्याकुल हूँ। मेरा तालू तृषा से कण्टकित हो रहा है। अब मैं एक डग भी चलने मे असमर्थ हू। कही से जल लाकर मुझे दीजिए।' बलराम अपने प्राणोपम अनुज की इस असहाय दशा से व्याकुल होगए। वे सोचने लगे—भरत क्षेत्र के तीन खण्डो का अधिपति और बल-विक्रम मे अनुपम यह मेरा भाई आज इतना अवश क्यो हो रहा है। जो जीवन मे कभी थका नहीं, वह आज अकस्मात् ही इतना परिश्रान्त क्यो हो उठा है? कोटिशिला को अपने बाहुबल से उठाने वाला नारायण आज सामान्य व्यक्ति के समान निर्बलता अनुभव कर रहा है। क्या कारण है इसका?

वे बोले—'भाई! मै अभी शीतल जल लाकर तुम्हे पिलाता हूँ। तुम इस वृक्ष की शीतल छाया मे तब तक विश्राम करो। यो कहकर वे जल की तलाश मे चल दिये। श्रीकृष्ण वृक्ष की छाया मे वस्त्र ओढकर लेट गए। थकावट के कारण उन्हे शीघ्र ही नीद आ गई। भवितव्य दुर्निवार है। जरत्कुमार भ्रमण करता हुआ उसी वन मे आ निकला। दूर से उसने वायु से श्रीकृष्ण के हिलते हुए वस्त्र को हिरण का कान समझा। उसने मृग का शिकार करने की इच्छा से कान तक धनुष खीचकर शर सन्धान किया। सनसनाता बाण श्रीकृष्ण के पैर मे जाकर विध गया। श्रीकृष्ण ने उठकर चारो ओर देखा, किन्तु उन्हे वहाँ कोई दिखाई नही पडा। तब उन्होने जोर से कहा—'किस अकारण वैरी ने मेरे पादतल को बेधा है? वह आकर अपना कुल और नाम मुझे बतावे। जरत्कुमार ने यह सुनकर अपने स्थान से ही उत्तर दिया—'मै हरिवश मे उत्पन्न वसुदेव नरेश का पुत्र जरत्कुमार हूँ। भगवान नेमिनाथ ने भविष्य कथन किया था कि जरत्कुमार के द्वारा कृष्ण का वध होगा। भगवान के इस कथन से डरकर मैं बारह वर्ष से इस वन में रह रहा हूँ। मुझे अपना अनुज कृष्ण प्राणो से भी प्यारा है। इसलिए मैं इतने समय से इस एकान्त मे जन जन से दूर, बहुत दूर रहा हूँ। मैंने इतने समय से किसी आर्य का नाम भी नही सुना। फिर आप कौन हैं?

जरत्कुमार की बात सुनकर श्रीकृष्ण बोले—'भाई! तुम यहाँ आओ, मैं कृष्ण हूँ, तुम शीघ्र आओ।' जरत्कुमार को ज्ञात तो गया कि यह तो मेरा कृष्ण है। वह शोक करता हुआ शीघ्रता से वहाँ आया। वह पश्चाताप

और ग्लानि की आग में जला जा रहा था। उसने धनुष-बाण दूर फेंक दिया और श्रीकृष्ण के चरणो में गिरकर अश्रु बहाने लगा। श्रीकृष्ण ने उसे उठाकर गले से लगाया और सान्त्वना देते हुए बोले—आर्य ! शोक न करे, भवितव्य अलङ्घ्य है। आपने राज वैभव छोड़कर बन मे निवास स्वीकार किया, किन्तु दैव के आगे सब व्यर्थ होता है।

श्रीकृष्ण द्वारा समझाने पर भी जरत्कुमार विलाप करता रहा। श्रीकृष्ण बोले—'आर्य ! बडे भाई राम मेरे लिए जल लाने गए है। उनके आने से पूर्व ही आप यहाँ से चले जाँय। सभव है, वे आपके ऊपर क्षुब्ध हों। आप पाण्डवों के पास जाकर उन्हें सब समाचार बतादे। वे हमारे प्रियजन है। वे आपकी रक्षा अवश्य करेगे।' इतना कहकर उन्होने जरत्कुमार को परिचय के लिए कौस्तुभ मणि देदी और उसे विदा कर दिया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण यन्त्रणा के कारण व्याकुल हो गए, किन्तु उन्होने अत्यन्त शान्त भाव से उसे सहन किया। उन्होने पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करके भगवान नेमिनाथ का ध्यान किया और पृथ्वी पर सिर झुकाकर लेट गए। उन्होने मोह का परित्याग करके शुभ भावनाओं के साथ शरीर का परित्याग किया। वे भविष्य मे भरत क्षेत्र में तीर्थंकर बनेगे।

ससार कितना असार है ! जो एक गोप के घर मे मक्खन और दूध पीकर बडे हुए, जो अपने शौर्य और नीति विचक्षणता द्वारा सम्राट् जरासन्ध जैसे प्रतापी नरेश पर विजय पाकर अर्ध चक्रेश्वर के पद पर आरूढ़ हुए, जिनकी आखो के संकेत ने एक हजार वर्ष के इतिहास का सृजन किया, वे ही महापुरुष श्रीकृष्ण एकान्त वन में असहाय दशा में निधन को प्राप्त हुए। वे जब उत्पन्न हुए तो कोई मगल गीत गाने वाला नही था और जब उन्होने मरण का वरण किया तो वहाँ कोई रोने वाला नही था। लगता है, दैव अपने निष्ठुर निर्मम हाथो से सबकी भाग्य लिपि लिखता है। उसका अतिक्रमण करने का साहस किसी मे नही है।

स्नेहाकुल बलराम अपने तृषित प्राणोपम भाई के लिए जल की तलाश मे बहुत दूर निकल गए, किन्तु कही जल नहीं मिल रहा था। मार्ग में अपशकुन हो रहे थे, किन्तु उनका ध्यान एकमात्र जल की ओर था। जल मिल नही रहा था, विलम्ब हो रहा था, उधर उनके मन मे चिन्ता का ज्वार बढता जा रहा था—मेरा

मोहविह्वल बलराम की प्रव्रज्या

प्यारा भाई प्यासा है, न जाने प्यास के मारे उसकी कैसी दशा होगी। तब उन्होने वेग से दौडना प्रारम्भ कर दिया, उनकी दृष्टि जल की तलाश मे चारो ओर थी। पर्याप्त विलम्ब और दूरी के बाद उन्हें जलाशय दिखाई पडा—जल से परिपूर्ण, कमल पुष्पो से सकुल। वे जलाशय पर पहुँचे। उन्होंने जल में अवगाहन करके शीतल जल पिया और कमल-दलका पात्र बनाकर जल भरकर ले गए। उन्होने देखा। श्रीकृष्ण वस्त्र ओढकर सो रहे है। उन्होने विचार किया—सभवतः थक जाने पर मेरा भाई सुख निद्रा मे सो रहा हैं। इसे स्वय ही जगने दिया जाय। जब बहुत देर हो गई और श्रीकृष्ण नही जागे तो उन्होने श्रीकृष्ण को जगाना उचित समझा। उन्होंने कहा—वीर ! इतना अधिक क्यो सो रहे हो। निद्रा छोडो और उठकर यथेच्छ जल पिओ।

इतना होने पर भी श्रीकृष्ण की निद्रा भग नही हुई। तभी बलराम ने देखा कि एक बडी मक्खी व्रण के रुधिर की गन्ध से कृष्ण के ओढ़े हुए वस्त्र के भीतर घुस गई है किन्तु निकलने का मार्ग न पाने से व्याकुल है। उन्होंने श्रीकृष्ण का मुख उघाड दिया। उन्होने देखा कि श्रीकृष्ण निष्प्राण पडे हुए हैं। उन्होने समझा कि मेरा प्यारा भाई प्यास से मर गया है। उनके मुख से आर्त गिरा निकली और वे अचेत होकर गिर पडे। सचेत होने पर वे श्रीकृष्ण के शरीर पर हाथ फेरने लगे। तभी उनकी दृष्टि पैर के व्रण पर पडी, जिसके रुधिर से वस्त्र रक्त वर्ण हो गया था। उन्हे निश्चय हो गया कि सोते समय किसी ने इनके पैर मे वाण से प्रहार किया है। वे भयकर गर्जना करते हुए कहने लगे—किस अकारण शत्रु ने मेरे सोते हुए भाई पर प्रहार किया है, वह मेरे सामने आवे। किन्तु उनका गर्जन-तर्जन निष्फल रहा, कोई भी अकारण शत्रु उनके समक्ष उपस्थित नही हुआ और न उस शत्रु का कोई चिह्न ही मिला।

निरुपाय वे पुनः श्रीकृष्ण को गोद में लेकर करुण विलाप करने लगे। वे मोहान्ध होकर बार-बार श्रीकृष्ण को जल पिलाने लगे। कभी वे जल से उनका मुख धोते, कभी उन्हें चूमते, कभी उनका सिर सूघते। फिर वे अनर्गल प्रलाप करने लगते। फिर वे श्रीकृष्ण के शव को लेकर वन मे निरुद्देश्य भ्रमण करते रहे। इस प्रकार न जाने कितनी ऋतुएं उनके सिर के ऊपर से गुजर गई।

उधर जरत्कुमार श्रीकृष्ण के आदेशानुसार पाण्डवों की सभा में पहुँचा और अपना परिचय दिया। तब युधिष्ठिर ने उससे स्वामी की कुशल-वार्ता पूछी। जरत्कुमार ने शोकोच्छ्वसित अवरुद्ध कण्ठ से द्वारका-दाह तथा अपने प्रमाद से श्रीकृष्ण के निधन के करुण समाचार सुनाये और विश्वास दिलाने के लिये उसने श्रीकृष्ण की दी हुई कौस्तुभमणि दिखाई। ये हृदय विदारक समाचार सुनते ही पाण्डव और उनकी रानियाँ, जरत्कुमार और उपस्थित सभी जन रुदन करने लगे। जब रुदन का वेग कम हुआ, तो पाण्डव, माता कुन्ती, द्रौपदी आदि रानियाँ जरत्कुमार को आगे कर सेना के साथ दु.ख से पीडित बलदेव को देखने के लिये चल दिये। कुछ दिनो मे वे उसी वन मे पहुँचे। वहाँ उन्हे बलदेव दिखाई पडे। वे उस समय श्रीकृष्ण के मृत शरीर को उबटन लगाकर उसका शृङ्गार कर रहे थे। यह देखकर पाण्डव शोक से अधीर होकर उनसे लिपट गये और रोने लगे। तब माता कुन्ती ने और पाण्डवो ने बलदेव से श्रीकृष्ण का दाह-सस्कार करने की प्रार्थना की। किन्तु बलदेव यह सुनते ही आग बबूला हो गये। वे प्रलाप करते हुए श्रीकृष्ण के निष्प्राण शरीर को गोद मे लेकर निरुद्देश्य चल दिये। किन्तु पाण्डवो ने उनका साथ नही छोड़ा, वे भी उनके पीछे-पीछे चलते रहे।

बलदेव का भाई सिद्धार्थ, जो सारथी था, मरकर स्वर्ग में देव हुआ था तथा जिससे दीक्षा लेने के समय बलदेव ने यह वचन ले लिया था कि यदि मै मोहग्रस्त हो जाऊँ तो तुम मुझे उपदेश देकर मार्गच्युत होने से बचाओगे, वह देव बलदेव की इस मोहान्ध अवस्था को देखकर वहाँ आया। वह रूप बदलकर एक रथ मे बैठकर बलदेव के सामने आया। रथ पर्वत के विषम मार्ग पर तो टूटा नही, किन्तु समतल भूमि मे चलते ही टूट गया। वह रथ को ठीक कर रहा था, किन्तु वह ठीक ही नही होता था। यह देखकर बलदेव बोले—'भद्र ! तेरा रथ पर्वत के ऊबड़ खावड़ मार्ग पर टूटा नही, किन्तु समतल मार्ग मे टूट गया, यह बडा आश्चर्य है। अब यह ठीक नही हो सकता, इसे ठीक करना व्यर्थ है। देव ने बलदेव को आश्चर्य मुद्रा मे देखा और बोला—महाभारत युद्ध मे जिन महारथी कृष्ण का बाल बाका नही हुआ, वे जरत्कुमार के एक साधारण बाण से भूमि पर गिर पडे। अब इस जन्म मे उनका फिर से उठना क्या सभव है ?

बलदेव उसकी बात की उपेक्षा करके आगे बढ गये। आगे जाने पर उन्होने देखा—एक व्यक्ति शिलातल पर कमलिनी उगाने का प्रयत्न कर रहा है। यह देखकर बलदेव बोले—'क्यो भाई ! क्या शिलातल पर भी कमलिनी उग सकती है ?' देव जैसे इस प्रश्न के लिये तैयार ही बैठा था—'आप ठीक कहते है, पाषाण के ऊपर तो कमलिनी नही उग सकती है किन्तु निर्जीव शरीर मे कृष्ण पुन जीवित हो उठेगे ?'

बलदेव आगे बढे तो क्या देखते है कि एक मूर्ख व्यक्ति सूखे वृक्ष को सीच रहा है। बलदेव से नही रहा गया, वे पूछ ही बैठे—क्यो भाई ! इस सूखे वृक्ष को सीचने से क्या लाभ है, यह क्या पुनः हरा हो जायगा ? देव ने उत्तर दिया—'मेरा वृक्ष सीचने से तो हरा नही होगा, किन्तु आपके निर्जीव कृष्ण स्नान-भोजनादि कराने से अवश्य जीवित हो उठेगे।' बलदेव 'उंह' करके आगे चल दिये।

उन्होने देखा—'एक मनुष्य मृत बैल को घास-पानी दे रहा है। उन्होने सोचा—दुनिया मे मूर्खों की कमी नही है। वे कहने लगे-अरे भोले मानस ! इस मृतक को घास-पानी देने से क्या लाभ है ? यह सुनते ही वह मनुष्य तन कर खडा हो गया और बोला—दूसरो को उपदेश देने वाले ससार मे बहुत है, किन्तु स्वय उस उपदेश पर अमल करने वाले कम ही मिलते है। मेरा मृतक बैल तो दाना-पानी नही खा सकता, किन्तु आपके मृतक कृष्ण अवश्य खाना-पानी खा सकते है। क्या यही आपका विवेक है ?' यह सुनते ही बलदेव के अन्तर मे एक झटका-सा लगा और प्रकाश की एक ज्योति कोध गई। वे बोले—'भद्र ! आप ठीक कह रहे है। मै अब तक मोह मे अन्धा हो रहा था। कृष्ण का शरीर तो सचमुच ही प्राणरहित हो गया है।' देव बोला—जो कुछ भी हुआ, भगवान नेमीश्वर पहले ही सब कुछ बता चुके है। किन्तु सब कुछ जानते हुए भी आप जैसे विवेकी महापुरुष ने छह माह व्यर्थ ही खो दिये। संयोग वियोगपरिणामी है। जन्म मे मरण की विभीषिका छिपी हुई है, सुख के फूल दु:ख के काटो में बिंधे हुए है। केवल मोक्ष-सुख ही अविनाशी है। उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।' इस प्रकार कहकर देव ने अपने वास्तविक रूप में प्रगट होकर अपना परिचय दिया। बलदेव ने जरत्कुमार और पाण्डवों की सहायता से तुङ्गीगिरि

पर कृष्ण का दाह-सस्कार किया, जरत्कुमार को राज्य दिया और नेमीश्वर भगवान की साक्षी से वही उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली।

मुनि बलदेव अत्यन्त रूपवान थे। वे जब नगर में चर्या के लिये जाते थे, तो उन्हे देखकर कामिनियाँ कामविह्वल हो जाती थी। यह देखकर उन्होंने नियम लिया कि यदि मुझे वन में ही आहार मिलेगा, तो लेंगे, अन्यथा नही। वे कठोर तप द्वारा शरीर को कृश करने लगे, किन्तु उससे आत्मा की निर्मलता बढ़ती गई। वे वन मे ही विहार करते थे। यह बात राजाओं के भी कान मे पड़ी। व अपने पुराने बैर-विरोध को स्मरण कर शस्त्रसज्जित होकर उसी वन मे आगय। सिद्धार्थ देव ने यह देखकर वन मे सिह ही सिह पैदा कर दिये। जब उन राजाओ ने मुनि बलदेव के चरणो म अनेक सिह देखे तो उनकी सामर्थ्य देखकर शान्त हो गये। तभी से जगत मे बलदेव मुनिराज नरसिह नाम से विख्यात हो गय।

उन्होन सौ वर्ष तक घोर तप किया। अन्त मे समाधि धारण करके वे ब्रह्मलोक मे इन्द्र बने। अवधिज्ञान से उसने पूर्व जन्म के बन्धु-बान्धवों को जान लिया। वह अपने पूर्वजन्म के प्राणापम भाई कृष्ण के जीव के पास गया। उसने कृष्ण को अपने साथ ले जाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु सफल नही हो सका। तब कृष्ण के जीव ने उसे समझाया—देव ! सब जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभ-अशुभ गति और सुख-दुःख पाते है। कोई किसी को सुख देने और दु.ख हरने मे समर्थ नही है। हम दोनो अपनी वर्तमान आयु पूर्ण करके मनुष्य पर्याय प्राप्त करेगे और वहाँ तप करके मोक्ष प्राप्त करेगे।

ब्रह्मेन्द्र वहाँ से वापिस आ गया और कृष्ण के जीव के अनुरोध के अनुसार उसने इस पृथ्वी पर कृष्ण के अनेक मन्दिर बना दिये, कृष्ण की मूर्तियाँ, शख, चक्र और गदा युक्त बनाई और कृष्ण को भगवान का अवतार बताकर लोगो को भ्रमित कर दिया। उसने बलदेव को शेषनाग का अवतार बताकर एक विमान में कृष्ण और बलदेव का रूप बनाकर लोगो को दर्शन दिये। इस प्रकार ससार मे कृष्ण को भगवान का अवतार मानने की मान्यता और कृष्ण-पूजा प्रचलित हुई। उनके नानाविध मोहन रूपो की कल्पना की गई और उन्हे सोलह कला का अवतारी पूर्ण पुरुष मान लिया गया।

पाण्डवो ने जरत्कुमार का राज्याभिषेक किया, उसका विवाह अनेक सुलक्षणा कन्याओ के साथ कर दिया। इस काम से निश्चिन्त होकर वे पल्लव देश मे गये, जहाँ भगवान नेमिनाथ विराजमान थे। उन्होने भगवान को नमस्कार किया और प्रदक्षिणा देकर यथोचित स्थान पर बैठकर भगवान का अमृत उपदेश सुना। सुनकर उन्होंने भगवान के चरणा मे मुनिदीक्षा लेली। कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि रानियाँ राजीमती आर्यिका के समीप दीक्षित हो गई।

पाण्डवो की निर्वाण-प्राप्ति

एक बार पाँचो पाण्डव मुनि शत्रुजय पर्वत पर प्रतिमायोग से विराजमान थे। तभी दुर्योधन का भानजा घूमता-फिरता उधर ही आ निकला। उसने पाण्डवो को देखा। उसके मन मे यह सोचकर अत्यन्त क्षोभ हुआ कि मेरे मातुल वश का उच्छेद करने वाले ये ही दुष्ट पाण्डव है। मुझे अपने मातुल वश के इन शत्रुओ से प्रतिशोध लेने का आज यह स्वर्ण सुयोग प्राप्त हुआ है। यह विचारकर वह गाव में जाकर लोहे के आभूषण ले आया और उन्हे प्रज्वलित अग्नि मे तपाकर पाचो पाण्डवो को पहना दिये। उन तप्त लौहाभरणों मे मुनियों के शरीर तिल-तिलकर जलने लगे। किन्तु धीर वीर और आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानने वाले वे मुनिराज आत्मस्वभाव मे लीन हो गये। शरीर जलता रहा और उनके वीतराग परिणामो से कर्म जलते रहे। उनका ध्यान आत्मा मे था, शरीर की ओर उनका उपयोग नही था, अतः शरीर के दाह का अनुभव भी उन्हे नही हुआ। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मुनिराज तो शुक्लध्यान द्वारा कर्मो का क्षय कर सिद्ध परमात्मा बन गये और नकुल, सहदेव मुनिराज सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।

भगवान नेमिनाथ उपदेश करते हुए उत्तरापथ से सौराष्ट्र देश में गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वहाँ आकर भगवान ने समवसरण में विराजमान होकर उपदेश दिया। फिर समवसरण विसर्जित हो गया। भगवान एक माह तक योग निरोध कर ध्यानलीन हो गये। उन्होने अघातिया कर्मों का नाश करके आषाढ कृष्णा अष्टमी के दिन

भगवान नेमिनाथ का निर्वाण कल्याणक

प्रदोष काल में अपने जन्म नक्षत्र के रहते ५३६ मनियों के सहित सिद्धपद प्राप्त किया। उनके ८००० शिष्यो ने मुक्ति प्राप्त की। भगवान नेमिनाथ के कुल ४ अनुबद्ध केवली हुए। चारो निकाय के इन्द्रो और देवो ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने गिरनार पर्वत पर वज्र से उकेरकर पवित्र सिद्धशिला का निर्माण किया और उस पर जिनेन्द्र भगवान के लक्षण अकित किये।

यादवो मे समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकी के युगल छह पुत्र, शव, प्रद्युम्नकुमार आदि मुनि भी गिरनार पर्वत से मोक्ष को प्राप्त हुए।

जरत्कुमार पृथ्वी का शासन करने लगा। कलिग नरेश की पुत्री जरत्कुमार की पटरानी थी। उसके वसुध्वज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वसुध्वज राज्य-शासन करने योग्य हो गया, तब जरत्कुमार पुत्र पर राज्य-भार सौप कर मुनि-दीक्षा लेकर तप करने लगा। वसुध्वज के सुवसु नामक पुत्र हुआ। सुवसु के भीमवर्मा पुत्र हुआ जो कलिग का शासक था। इस प्रकार इस वश मे अनेक राजा हुए। फिर कपिष्ट, उसके अजातशत्रु, उसके शत्रुसेन शत्रुसेन के जितारि और जितारि के जितशत्रु हुआ। जितशत्रु के साथ भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ की छोटी बहन का विवाह हुआ। जब भगवान महावीर का जन्मोत्सव हो रहा था, तब जितशत्रु कुण्डलपुर आया था। उस समय महाराज सिद्धार्थ ने अपने इस पराक्रमी मित्र का बडा सम्मान किया था। सिद्धार्थ का बहन का नाम यशोदया था। उसके यशोदा नामक पुत्री हुई। जितशत्रु अपनी पुत्री का विवाह महावीर के साथ करना चाहता था, किन्तु महावीर ने विवाह करने स इनकार कर दिया और तप करने चले गये। जितशत्रु और यशोदा दोनो ने भी दीक्षा लेली। बाद मे मुनिराज जितशत्रु को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे मोक्ष गये।

जरत्कुमार की वश-परम्परा

भगवान नेमिनाथ : एक ऐतिहासिक व्यक्तित्त्व

कुछ वर्ष पूर्व तक विद्वानो को श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता मे सन्देह था, किन्तु अब उन्हे ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया गया है। ऐसी दशा मे श्रीकृष्ण के समकालीन और उनके ताऊ समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ की ऐतिहासिकता मे सन्देह करने का कोई कारण नही है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० राय चौधरी ने 'वैष्णव धर्म का इतिहास' ग्रन्थ मे नेमिनाथ को श्रीकृष्ण का चचेरा भाई लिखा है। उन्होने श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए है किन्तु नेमिनाथ के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञातव्य नही दिया। सभवत इसका कारण यही रहा है कि उनकी दृष्टि और उनका वर्ण्य विषय श्रीकृष्ण ही थे। उन्होने नेमिनाथ का चरित्र-चित्रण करने मे जैन ग्रन्थो का उपयोग करने मे कोई रुचि नही दिखाई।

पी० सी० दीवान[1] ने इसके दो कारण बताये है। प्रथम तो यह कि हमे यह स्वीकार करना होगा कि हमारे वर्तमान ज्ञान के लिए यह सभव नही है कि जैन ग्रन्थकारो द्वारा एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर के बीच सुदीर्घकाल का अन्तराल कहने मे उनका क्या अभिप्राय है, इसका विश्लेषण कर सकें। किन्तु केवल इसी कारण से जैन ग्रन्थो मे वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त को, जो अति प्राचीन प्राकृत ग्रन्थो के आधार पर लिखा गया है, दृष्टि से ओझल कर देना युक्तियुक्त नही है। दूसरे कारण का स्पष्टीकरण स्पष्ट है। भागवत सम्प्रदाय के ग्रन्थकारो ने अपने परम्परागत ज्ञान का उतना ही उपयोग किया है जितना श्रीकृष्ण को परमात्मा सिद्ध करने के लिए आवश्यक था। जैन ग्रन्थो मे ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य वर्णित है, जैसा कि ऊपर दिखाया है, जो भागवत साहित्य के वर्णन में नही मिलते।"

वैदिक साहित्य मे यादव वश का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसमे अरिष्टनेमि का उल्लेख भी अनेक स्थलो पर उपलब्ध होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि हिन्दू पुराणो मे भी यादव वश का वर्णन एक-सा नही है, उसमे पर्याप्त असमानता है। हिन्दू पुराण 'हरिवश' मे यादव वश-परम्परा इस प्रकार दी है—

1 Annals of the Bhandarkar Research Institute, Poona, Vol 23, P. 122.

महाराज यदु के सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अजिक नामक देवकुमारों के तुल्य पांच पुत्र हुए। क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित और देवमीढुष नामक दो पुत्र हुए। युधाजित के वृष्णि और अन्धक नामक दो पुत्र हुए। वृष्णि के दो पुत्र हुए—स्वफल्क और चित्रक। स्वफल्क के अक्रूर हुआ। चित्रक क बारह पुत्र हुए जिनके नाम इस प्रकार थे:—

चित्रकस्याभवन् पुत्रा. पृथुर्विपृथुरेव च।
अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च सुपार्श्वकगवेषणौ ॥१५॥
अरिष्टनेमिरश्वश्च सुधर्माधर्मभृत्तथा।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ ॥१६॥

—हरिवश पु०, पर्व १, अध्याय ३४

चित्रक के पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु नामक बारह पुत्र और श्रविष्ठा एव श्रवणा नाम की दो पुत्रियाँ हुई।

यहाँ चित्रक के एक पुत्र का नाम अरिष्टनेमि दिया है।

हरिवश पुराण में श्रीकृष्ण की वश-परम्परा इस प्रकार दी है—

क्रोष्टा के दूसरे पुत्र देवमीढुष के शूर, शूर के दस पुत्र और पाच पुत्रियाँ हुई। पुत्रो के नाम इस प्रकार थे—वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, अनावृष्टि, कनवक, वत्सवान्, गृजिम, श्याम, शमीक और गण्डूष। पुत्रियो के नाम ये थे—पृथुकीर्ति, पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी

—हरिवश पर्व १, अ० ३४, श्लोक १७-२३

हरिवश पुराण पर्व २ अध्याय ३७ और ३८ मे एक दूसरी वंश-परम्परा दी है जो इस प्रकार है—

इक्ष्वाकु वश में हर्यश्व हुआ। उसकी रानी मधुमती से यदु नामक पुत्र हुआ। यदु के पाच पुत्र हुए—मुचकुन्द, माधव, सारस, हरित और पार्थिव। माधव से सत्वत, सत्वत से भीम, भीम से अन्धक, अन्धक से रैवत, रैवत से विश्वगर्भ, विश्वगर्भ की तीन स्त्रियो से चार पुत्र हुए—वसु, वभ्रु, सुषेण और सभाक्ष। वसु से वसुदेव और वसुदेव से श्रीकृष्ण हुए।

हरिवश पुराण के समान महाभारत में भी यदुवंश की दो परम्परायें दी गई हैं—

प्रथम परम्परा के अनुसार बुध से पुरुरव, पुरुरव से आयु, आयु से नहुष, नहुष से ययाति, ययाति से यदु, यदु से क्रोष्टा, क्रोष्टा से वृजिनिवान्, वृजिनिवान् से उषगु, उषगु से चित्ररथ, चित्ररथ का छोटा पुत्र शूर, शूर से वसुदेव और वसुदेव से चतुर्भुजाधारी श्रीकृष्ण हुए।

—महाभारत, अनुशासन पर्व, अ० १४७ श्लोक २७—३२

महाभारत की द्वितीय परम्परा के अनुसार ययाति की रानी देवयानी से यदु हुआ। उसके वश मे देवमीढ हुआ। देवमीढ से शूर, शूर से शौरि वसुदेव हुए।

—महाभारत, द्रोणपर्व, अ० १४४, श्लोक ६—७

इस प्रकार हम देखते है कि हिन्दू पुराणो मे यदुवश की परम्परा के सम्बन्ध में अनेक मत प्राप्त होते है। काल के लम्बे अन्तराल ने यदु वश परम्परा को विस्मृति के कुहासे मे ढक दिया। जिन ऋषियो ने जैसा सुना, वैसा लिख दिया।

दूसरी ओर जैन परम्परा में यदु-वश की एक ही परम्परा उपलब्ध होती है। दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों की अपनी-अपनी निरवच्छिन्न परम्परा रही है। इसी कारण दोनो ही सम्प्रदायो मे यदु-वश-परम्परा मे एकरूपता और समानता मिलती है। जैन परम्परा के अनुसार यदुवश परम्परा इस भाति है—

हरिवश में यदु नामक प्रतापी राजा हुआ। इसी से यदुवश चला। यदु से नरपति, नरपति के दो पुत्र हुए—शूर और सुवीर। सुवीर मथुरा मे शासन करने लगा। शूर ने कुशद्य देश में शौर्यपुर नगर बसाया और वहीं शासन करने लगा। शूर के अन्धकवृष्णि और सुवीर के भोजकवृष्णि पुत्र हुआ। अन्धकवृष्णि के १० पुत्र हुए—

१ समुद्रविजय, २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमितसागर, ४ हिमवान, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण, ९ अभिचन्द्र और १० वसुदेव। दो पुत्रियाँ हुई—कुन्ती और माद्री। समुद्रविजय के नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमि हुए, जो बाईसवे तीर्थंकर थे। वसुदेव के बलराम और श्रीकृष्ण हुए जो नौवें बलभद्र और नारायण थे। इस प्रकार नेमिनाथ और श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे।

जैन परम्परा के समान हिन्दू पुराण 'हरिवश' के अनुसार भी श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे। इन दोनो के परदादा युधाजित और देवमीढुष दोनो सहोदर थे।

हिन्दू पुराणो मे हरिवश पुराण और महाभारत के अतिरिक्त प्रभास पुराण मे रैवत (गिरनार) पर्वत पर नेमि जिन का उल्लेख मिलता है और उन्हें मुक्तिमार्ग का कारण बताया है। वह उल्लेख इस प्रकार है--

"रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥

स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड मे शिव और नेमिनाथ को एक माना है। सन्दर्भ इस प्रकार है—

"भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम्।
तेनैव तपसाकृष्टः शिवः प्रत्यक्षतां गतः॥
पद्मासनः समासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवोऽथैवं नाम चक्रेऽस्य वामनः॥
कलिकाले महाघोरे सर्वपापप्रणाशकः।
दर्शनात् स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः॥

अर्थात् जन्म के अन्तिम भाग मे वामन ने तप किया। उस तप के कारण शिव ने वामन को दर्शन दिया। वे शिव पद्मासन से स्थित थे। श्याम वर्ण थे और दिगम्बर थे। वामन ने उन शिव का नाम नेमिनाथ रक्खा। ये नेमिनाथ इस घोर कलिकाल मे सब पापो के नाश करने वाले है। उनके दर्शन और स्पर्शमात्र से करोड़ो यज्ञों का फल होता है।

यहाँ शिव को पद्मासनासीन, श्याम वर्ण और दिगम्बर बताया है और उनको नेमिनाथ नाम दिया है। जैन परम्परा में नेमिनाथ कृष्ण वर्ण, पद्मासनासीन और दिगवर माने गये है। उनकी मूर्तियो में ये तीन विशेषताये होती है। जबकि शिव वस्तुतः कृष्ण वर्ण के नही थे। हिन्दू पुराणो की एक विशेष शैली है। वे वैदिकेतर महा-पुरुषो को शिव या विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित करते है। उन्होने ऋषभदेव को विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है। इसी प्रकार नेमिनाथ को शिव के रूप मे लिखा है।

हिन्दू पुराणो मे शौरिपुर के साथ यादवो का कोई सबन्ध स्वीकार नही किया। किन्तु महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १४९ मे विष्णुसहस्र नाम मे दो स्थानो पर 'शूर' शौरिर्जनेश्वरः' पद आया है। यथा—

'अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः॥५०॥
कालनेमिनिहा वीरः शूरः शौरिर्जनेश्वरः॥८२॥

इसमे उल्लेखनीय बात यह है कि इसमे श्रीकृष्ण को शौरि लिखा है। आगरा से ४० मील दूर शौरीपुर नामक स्थान है। जैन साहित्य में नेमिनाथ का जन्म इसी शौरीपुर मे माना गया है। यादवो की अन्धकवृष्णि शाखा की राजधानी यही नगरी थी। यही पर नेमिनाथ और श्रीकृष्ण के पिता रहते थे। हिन्दू 'हरिवश पुराण' में भी श्रीकृष्ण को एक स्थान पर शौरि लिखा है। यथा—

'वसुदेवाच्च देवक्यां जज्ञे शौरिर्महायशाः॥७॥

—हरिवंश पुराण पर्व १, अध्याय ३५

महाभारत में तो वसुदेव के विशेषण के रूप में शौरि पद प्रयुक्त हुआ है। यथा—

शूरस्य शौरिर्नृवरो वसुदेवो महायशाः॥७॥

—महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय १४४

इन उल्लेखो से इस जैन मान्यता की पुष्टि होती है कि वसुदेव, श्रीकृष्ण और नेमिनाथ शौरीपुर के रहने वाले थे, जबकि हिन्दू मान्यता में शौरीपुर को कोई स्वीकृति नही मिलती। जेन मान्यता के अनुसार जरासन्ध के आक्रमणो से परेशान होकर और युद्ध की तैयारी के लिये समय प्राप्त करने के उद्देश्य से यादवो ने शौरीपुर से पलायन किया था और द्वारका नगरी का निर्माण करके वहाँ रहने लगे थे।

जब हम हिन्दू पुराणो से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते है तो हमे उसमे भी अरिष्टनेमि के उल्लेख अनेक स्थलो पर प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य मे ऋग्वेद को प्राचीनतम रचना स्वीकार किया जाता है। उसमे अनेक मन्त्रों का देवता अरिष्टनेमि है और उसकी बार-बार स्तुति की गई है।[1]

अथर्ववेद के माण्डूक्य, प्रश्न और मुण्डक उपनिषदो मे भी अरिष्टनेमि के उल्लेख मिलते है।

हिन्दू साहित्य के समान बौद्ध साहित्य मे भी अरिष्टनेमि का स्मरण अनेक स्थानो पर किया गया है। 'लकावतार' के तृतीय परिवर्तन मे लिखा है—जैसे एक ही वस्तु के अनेक नाम होते है, ऐसे ही बुद्ध के भी असख्य नाम हैं। लोग इन्हे तथागत, स्वयभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, ईश्वर विष्णु, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि आदि नामो से पुकारते है।

'ऋषि भाषित सुत्त' मे अरिष्टनेमि और कृष्ण निरूपित पेतालीस अध्ययन है। उनमे बीस अध्ययनो के प्रत्येक बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हुए थे।

इतिहासकारो मे कर्नल टाड लिखते है—'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए है। उनमे पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केण्डोनेविया निवासियो के प्रथम 'ओडिन' और चीनियो के प्रथम 'फो' देवता थे।'

श्रीकृष्ण के गुरु

छान्दोग्य उपनिषद् मे देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण का उल्लेख मिलता है। उसमे उनके गुरु का नाम घोर आङ्गिरस बताया है। आङ्गिरस ऋषि ने श्रीकृष्ण को नैतिक तत्वो एव अहिसा का उपदेश दिया। जैनो की मान्यतानुसार भगवान नेमिनाथ ने श्रीकृष्ण को अहिसा का उपदेश दिया था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'भारतीय सस्कृति और अहिसा' पुस्तक के पृष्ठ ३८ मे यह सभावना व्यक्त की है कि घोर आङ्गिरस नेमिनाथ के अतिरिक्त अन्य कोई नही हो सकते। यद्यपि इस सभावना की पुष्टि अन्य प्रमाणो द्वारा अभी तक नही हो पाई है। किन्तु जैन पुराणो मे श्रीकृष्ण को अहिसा का उपदेश देने वाले नेमिनाथ और छान्दोग्य उपनिषद् मे श्रीकृष्ण को अहिसा का उपदेश देने वाले घोर आङ्गिरस मे समानता के बीज ढूंढे जा सकते है। अन्वेषण के फलस्वरूप नेमिनाथ और आङ्गिरस मे ऐक्य स्थापित हो जाय तो कोई आश्चर्य न होगा।

श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मानने की परिकल्पना

हिन्दू धर्म मे श्रीकृष्ण का प्रभाव सर्वोपरि है। भागवत आदि पुराणो मे विष्णु के जिन चौवीस अथवा दशावतारो की कल्पना की गई है, उनमे श्रीकृष्ण को पूर्णावतार और शेष अवतारो को अशावतार स्वीकार किया गया है। वेदो मे अवतारवाद की यह कल्पना दृष्टिगोचर नही होती। उपनिषद् काल में भी अवतारवाद का जन्म नहीं हुआ। ब्राह्मण काल मे अवतारवाद के वीज प्राप्त होते है। शतपथ ब्राह्मण मे सर्वप्रथम यह उल्लेख मिलता है कि प्रजापति ने मत्स्य, कूर्म और वराह का अवतार लिया था। किन्तु इसमे भी विष्णु के अवतार लेने का कोई सकेत नही है। पौराणिक काल मे सभवतः इसी भावना को पल्लवित और विकसित करके विष्णु के अवतार की कल्पना की गई। इस प्रकार अवतारवाद की मान्यता वैदिक धर्म के लिये सर्वथा नवीन और अपूर्व थी। किन्तु वैदिक ऋषियो को वेदो मे वर्णित भौतिक और काल्पनिक देवताओं को तिलाञ्जलि देकर विष्णु के मानव देहधारी अवतार की कल्पना क्यो करनी पड़ी, यह जानना अत्यन्त रुचिकर होगा और उससे वैदिक धर्म के क्रमिक विकास के इतिहास पर प्रकाश पडता है।

---

१. ऋग्वेद १।१४।८६।६, १।२४।१८०।१०, ३।४।५३।१७, १०।१२।१७८।१ मथुरा सस्करण १९६०

जब वैदिक आर्य पश्चिमोत्तर प्रदेश से भारत मे प्रविष्ट हुए, उन्हे यहा जिन लोगों से पाला पड़ा, वे शिश्न-देव, व्रात्य, और वातरशना मुनियो की उपासना करते थे। उनकी सभ्यता अत्यन्त समुन्नत और विकसित थी। इतिहासकारो ने उसे द्रविड़ सभ्यता का नाम दिया है। उस सभ्यता के दर्शन हमे सिन्धुघाटी के 'मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा मे मिलते है। उस सभ्यता को नागर सभ्यता भी कहा जाता है। नागर सभ्यता से नगर नियोजन की उस विकसित परम्परा का आशय लिया जाता है जो इन नगरो मे उत्खनन के परिणामस्वरूप हमे देखने को मिलती है। इन वैदिक आर्यों ने भारत में आकर दो कार्य किये—इनके योद्धा लोगों ने यहाँ के मूल निवासियों पर क्रमश: विजय पाई और इनके विद्वान् ब्राह्मण ऋषि मन्त्रों की रचना करके प्रकृति के तत्त्वो की देवता के रूप में पूजा करते थे। जब धीरे-धीरे वैदिक आर्यों का राज्य कुछ प्रदेशों में स्थिर हो गया और स्थानीय मूल निवासियों के साथ वे घुल मिल गये तो दोनो सस्कृतियो का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ और इस प्रकार सास्कृतिक आदान-प्रदान का क्रम चालू हुआ।

यहाँ के मूल निवासियो की सस्कृति, जिसे श्रमण संस्कृति के नाम से जाना जाता है, क्षत्रियो की सस्कृति थी तथा बाहर से आने वाले आर्यों की सस्कृति, जिसे वैदिक सस्कृति पुकारा जाता है, ब्राह्मणो की सस्कृति थी। दोनो के सास्कृतिक आदान-प्रदान के इस काल को हम सक्रान्ति काल मान सकते है। इस काल मे युद्ध का रूप बदल गया, युद्ध का उद्देश्य बदल गया। जब आर्य आये थे, उस समय उनका एकमात्र उद्देश्य अपने लिये राज्य प्राप्त करना था, भूमि प्राप्त करनी थी, जहाँ टिक सकें। जब राज्य प्राप्त हो गया और वे टिक गये, तब युद्ध का एक नया रूप उभरा। वह रूप था सास्कृतिक। अब युद्ध न केवल राजनैतिक होते थे, अपितु उन्होने एक सांस्कृतिक रूप ले लिया। दोनों ही सस्कृतियाँ अपने प्रचार प्रसार की ओर अधिक ध्यान देने लगी, दोनो ही सर्वसाधारण को अपनी श्रेष्ठता से प्रभावित करने के लिए सचेष्ट हो उठी, दोनो ही अपने आपको दूसरी से श्रेष्ठतर सिद्ध करने में जुट पडी। प्रथम चरण मे इस युद्ध का मोड जातीय श्रेष्ठता सिद्ध करने की ओर हो गया। ब्राह्मणो ने अपने आपको अन्य वर्णो से श्रेष्ठतम घोषित किया और ब्रह्मर्षि जैसे सर्वोच्च पद के लिए ब्राह्मण होना अनिवार्य करार दिया। दूसरी ओर श्रमण सस्कृति के उन्नायकों ने मानवो मे श्रेष्ठतम तीर्थंकर पद के लिए केवल क्षत्रिय कुल मे जन्म लेना आवश्यक बताया। इस जातीय सघर्ष के इतिहास की झलक हमें वैदिक साहित्य मे यत्र-तत्र बिखरी हुई देखने को मिलती है। इसका एक सशक्त उदाहरण विश्वामित्र और वशिष्ठ के युद्ध के रूप मे मिलता है। वैदिक आख्यान के अनुसार गाधि के पुत्र विश्वामित्र नामक एक क्षत्रिय राजा ने राज्य का परित्याग करके ब्रह्मर्षित्व प्राप्त करने के लिए घोर तप करना प्रारम्भ कर दिया। आर्यो के उपास्य इन्द्र ने, जो वस्तुत: देव नामक मनुष्य जाति का राजा होता था, विश्वामित्र को तप से भ्रष्ट करने के लिये अपनी जाति की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी अप्सरा मेनका को भेजा। उसने अपने हाव-भाव और नृत्य विलास से उस युवक क्षत्रिय ऋषि को विचलित करके अपने प्रति अनुरक्त कर लिया। फलत: शकुन्तला नामक कन्या का जन्म हुआ। किन्तु कन्या को जन्म देकर मेनका वहाँ से तिरोहित हो गई। तब विश्वामित्र को रहस्य समझते देर नही लगी। वे कन्या को वन में ही छोडकर पुन: अतिशय घोर तप करने लगे। इसमे ऋषि गणो में भयानक हलचल मच गई। तब भी ऋषियो ने उन्हे ब्रह्मर्षि स्वीकार नही किया, बलिक विश्वामित्र के ब्रह्मर्षि बनने के दावे को झुठलाने और उन्हे दण्ड देने के लिए एक विशाल सैन्य बल के साथ महर्षि वशिष्ठ आगे आये। वैदिक आख्यान के अनुसार दोनों में साठ हजार वर्ष तक घोर युद्ध हुआ। सारे ऋषि महर्षि और देवता एक ओर थे, जबकि लगता है, क्षत्रिय वर्ग ने विश्वामित्र का पक्ष लिया। अन्त में विजय विश्वामित्र के पक्ष की हुई। ऋषियो ने विश्वामित्र के आगे झुककर उन्ही की शर्तों पर समझौता किया। समझौते के अनुसार विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि पद प्रदान किया गया, उन्हे सप्तर्षियों मे स्थान दिया गया और उनके द्वारा रचित गायत्री मत्र को समस्त वैदिक मत्रो से शक्तिशाली और वेदो का सार मान लिया गया। विश्वामित्र के आग्रह का एक सीमित उद्देश्य था और वह था स्वय को ब्रह्मर्षि पद पर प्रतिष्ठित करना। उनका उद्देश्य न तो व्यापक था और न समस्त क्षत्रिय जाति को ब्रह्मर्षि पद के लिए अधिकार दिलाने का उनका आग्रह ही था। अपने उद्देश्य में वे सफल हो गये और उन्होने विजय प्राप्त करके ब्राह्मण जाति की सर्वश्रेष्ठता को थोथा साबित कर दिया। इसी जातीय सघर्ष की शृखला की एक कड़ी परशुराम द्वारा इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन करने का प्रयत्न थी।

इस सांस्कृतिक युद्ध का दूसरा चरण उस समय प्रारम्भ हुआ, जब जातीय युद्ध से लोग ऊब गये। उस समय तक आर्य लोग विशाल भूखण्ड पर अधिकार कर चुके थे और वे यहाँ के मूल निवासियो के साथ काफी घुलमिल गये थे और उनकी संस्कृति की अनेक विशेषताओं से वे प्रभावित हो चुके थे। उन्होने अनुभव किया कि नीरस यज्ञ-यागो और शुष्क क्रियाकाण्डो के सहारे सस्कृति की गाड़ी को गति नही मिल सकती। ये जनमानस को अधिक प्रभावित भी नही करते। दूसरी ओर क्षत्रिय वर्ग गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्व चिन्तन में निरत था। उससे अध्यात्म रसिको की जिज्ञासा को समाधान मिलता था। क्षत्रिय वर्ग की इस अध्यात्मविद्या से प्रभावित होकर ही वैदिक ऋषियों ने उस काल मे उपनिषदो की रचना की। उपनिषदो में अनेक स्थलो पर इस प्रकार के कथानक और परिसंवाद उपलब्ध होते है, जिनसे ज्ञात होता है कि अनेक ऋषि क्षत्रियो के निकट अध्यात्मविद्या सीखने जाते थे। वस्तुतः उस काल तक आत्म विद्या के स्वामी क्षत्रिय ही थे, ब्राह्मण ऋषियो को आत्म विषयक ज्ञान नही था।

छान्दोग्य उपनिषद् (५-३) मे एक सवाद आया है, जिसका आशय इस प्रकार है—एक बार आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पाञ्चाल देश के लोगो की सभा मे आया। उससे जीवल के पुत्र प्रवाहण ने पूछा—'कुमार! क्या पिता ने तुझे शिक्षा दी है?' उसने कहा—'हाँ भगवन्!' तब प्रवाहण ने उससे आत्मा और उसके पुनर्जन्म के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे किन्तु वह एक का भी उत्तर नही दे सका। तब निराश होकर श्वेतकेतु अपने पिता के पास गया और सारी घटना बताकर कहा कि आपने मुझसे यह कैसे कह दिया कि मैने तुझे शिक्षा दी है। मैं उस क्षत्रिय के एक भी प्रश्न का उत्तर नही दे सका। तब वह गौतम गोत्रीय ऋषि बोला—मैं भी इन प्रश्नो का उत्तर नही जानता। इसके पश्चात् वह ऋषि प्रवाहण के पास गया और उससे आत्म-विद्या सिखाने का अनुरोध किया। राजा ने ऋषि से कहा—'पूर्व काल मे तुममे पहले यह विद्या ब्राह्मणो के पास नही गई। इसी से सम्पूर्ण लोको मे इस विद्या के द्वारा क्षत्रियो का ही अनुशासन होता रहा[1] है।' अन्त में राजा ने उसे वह विद्या सिखाई। वह विद्या थी पुनर्जन्म का सिद्धान्त। इससे प्रमाणित होता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त ब्राह्मणो ने क्षत्रियो से लिया[2] है।

छान्दोग्य उपनिषद् (५-११) तथा शतपथ ब्राह्मण (१०-६-१) मे एक कथा आई है कि उपमन्यु का पुत्र प्राचीन शाल, पुलुष का पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लवि का पौत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्र होकर आत्मा के सम्बन्ध मे जिज्ञासा लेकर अरुण के पुत्र उद्दालक के पास गये, किन्तु वह आत्मा के सम्बन्ध मे स्वय ही नही जानता था। अतः वह इन्हे लेकर केकयकुमार अश्वपति के पास गया। उसने राजा से आत्मा के सबन्ध मे जिज्ञासा की। तब राजा ने उन्हे आत्म-विद्या का उपदेश दिया।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य को राजा[3] जनक ने, इन्द्र को प्रजापति[4] ने, नारद को सनत्कुमार[5] ने, नचिकेता को यमराज[6] ने आत्म-विद्या सिखाई, इस प्रकार के उपाख्यान वैदिक साहित्य मे मिलते है, जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि यह अनुभव करते थे कि वैदिक क्रियाकण्ड आत्मज्ञान के सामने तुच्छ है। वैदिक क्रिया काण्ड से स्वर्ग भले ही मिल जाय, किन्तु अमृतत्व और अभयत्व केवल आत्म ज्ञान से ही मिल सकता है।

इस सम्बन्ध मे डॉ० दास गुप्ता का अभिमत है कि "आमतौर से क्षत्रियो मे दार्शनिक अन्वेषण की उत्सुकता विद्यमान थी और उपनिषदो के सिद्धान्तो के निर्माण मे अवश्य ही उनका मुख्य प्रभाव रहा है।"[7]

वेदो मे क्षत्रियो की आत्म-विद्या के दर्शन नही होते। सर्वप्रथम उपनिषदो ने क्षत्रियो से आत्म-विद्या

१ यथेय न प्राक् त्वत्त पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥७॥ छान्दोग्य उपनिषद् ५-३

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, डॉ० विण्टरनीट्स, जिल्द १. पृ० २३१

३. विण्टरनीट्सकृत हि० आ० इ० लि०, जि० १ पृ० २२७-८

४. छान्दोग्य उपनिषद् अ० ८

५. " अ० ७

६. कठोपनिषद्

७. History of Indian Philosophy, by Dr. Das Gupta, Vol. I, p 13

लेकर उसे आत्मसात् कर लिया और उसे ऐसा रंग प्रदान किया, जिससे यह प्रतीत होने लगा कि आत्म-विद्या उपनिषदो की मौलिक देन है। इसके पश्चात् वैदिक धर्म ने क्षत्रियो द्वारा स्वीकृत एव व्यवहृत सन्यास मार्ग को अपनाया। लोकमान्य बाल गगाधर तिलक 'गीता रहस्य' (पृ० ३४२) मे लिखते है—'जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्तको ने कापिल साख्य के मत को स्वीकार करके इस मत का विशेष प्रचार किया कि संसार को त्याग कर सन्यास लिये बिना मोक्ष नही मिलता।...... यद्यपि श्री शकराचार्य ने जैन और बौद्धो का खण्डन किया है, तथापि जैन और बौद्धो ने जिस सन्यास मार्ग का विशेष प्रचार किया था, उसे ही श्रौत स्मार्त सन्यास कहकर आचार्य ने कायम रक्खा।' वेदो में सन्यास मार्ग का कोई वर्णन नही मिलता। वेद तो क्रियाकाण्ड प्रधान प्रवृत्तिपरक ग्रन्थ है; निवृत्ति मार्ग तो केवल क्षत्रियो की श्रमण परम्परा मे ही प्रचलित था। उपनिषद् काल मे उन्ही से सन्यास मार्ग को अपनाया गया।

धीरे-धीरे वैदिक धर्मानुयायी जनता उपनिषदो के शुष्क आध्यात्मिक वितण्डावाद से भी ऊबने लगी। उसकी आध्यात्मिक चेतना और भूख को उपनिषद् भी खुराक नही जुटा सके। वह जनता ब्राह्मणो की एकाधिकारवादी प्रवृत्ति से भी असन्तुष्ट थी। वह देख रही थी कि जैन और बौद्ध धर्म में सभी वर्गो और वर्णो के लिये उन्नति के द्वार खुले हुए है। जैन तीर्थंकरो और तथागत बुद्ध का उपदेश जनता की भाषा मे होता है, सभी वर्ण के लोग उसको सुनने, सुनकर उसका आचरण करने और आचरण करके अपनी सर्वोच्च आत्मिक उन्नति करने के अधिकारी है। सभी तीर्थंकर और बुद्ध मानव से भगवान बने है। उक्त धर्मों की इन विशेषताओ के कारण वैदिक जनता मे वैदिक धर्म के प्रति घोर असन्तोष व्याप्त हो रहा था, बुद्धिजीवी वर्ग विद्रोह तक करने के लिये तैयार था और अनेक लोग वैदिक धर्म को त्याग कर जैन और बौद्ध धर्मों में दीक्षित हो रहे थे। अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के ग्यारह गणधरो मे सभी ब्राह्मण थे। तथागत बुद्ध के पचवर्गीय भिक्षुओ मे सभी ब्राह्मण थे। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन वैदिक जनता मे अपने धर्म के प्रति कितना घोर असन्तोष था। अत उस समय इन धर्मो के बढते हुए प्रभाव को रोकने के लिये ऐसे धर्म की आवश्यकता थी, जो उक्त धर्मो के विरुद्ध जनता को प्रभावित कर सकता। उसी आवश्यकता के फलस्वरूप भागवत धर्म की उत्पत्ति हुई, जिसे बाद मे वैष्णव धर्म कहा जाने लगा। यद्यपि इस धर्म के प्रवर्तक ब्राह्मण थे, किन्तु जन-असन्तोष को देखकर उन्हे क्षत्रिय कृष्ण को विष्णु का अवतार घोषित करना पड़ा और इस प्रकार मानव शरीरधारी ईश्वर की सृष्टि की गई।

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखते है—

"बौद्ध और जैनधर्म के प्रचार से वैदिक धर्म को बहुत हानि पहुँची। इतना ही नही, किन्तु उसमें परिवर्तन करना पड़ा और वह नये साचे में ढलकर पौराणिक धर्म बन गया। उसमे बौद्ध और जैनो से मिलती धर्म सम्बन्धी बहुत-सी नई बातो ने प्रवेश किया[1]।"

यद्यपि हिन्दू इतिहासकारो ने इस बात को दबे शब्दो मे स्वीकार किया है, किन्तु तथ्य यह है कि जैन तीर्थंकर और तथागत बुद्ध मनुष्य थे। वे अपने आध्यात्मिक प्रयत्नो से भगवान बने थे और उनकी मान्यता एव पूजा देवताओ से अधिक होती थी, यहाँ तक कि देवता भी उनकी पूजा करने मे गौरव का अनुभव करते थे। मनुष्य भी अपने प्रयत्नो से भगवान बन सकता है, यह सिद्धान्त लोक-मानस को अधिक रुचिकर एव प्रेरणाप्रद लगा। इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर ब्राह्मण धर्मनायको ने एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की, जो मनुष्य के रूप मे अवतार लेकर अलौकिक कार्य करने की क्षमता रखता है, जो दुष्ट-दलन और शिष्ट-पालन करता है। श्रमण परम्परा के सिद्धान्त को ब्राह्मणों ने अपनी शैली मे ढालकर हिन्दू-धर्म की जर्जर नाव को डूबने से बचाया। कृष्ण को अवतार मानने की यह प्रक्रिया निश्चय ही श्रमण परम्परा के व्यापक प्रभाव का परिणाम थी, यद्यपि इस प्रक्रिया मे दोनो सस्कृतियो का मौलिक भेद स्पष्टतया उभर कर आने से छिपा रह नही सका। श्रमण परम्परा मे मनुष्य भगवान बन सकता है, यह उत्तारवाद अथवा उन्नतिवाद का परिणाम है। दूसरी ओर भगवान मनुष्य बन सकता है, यह अवतारवाद अथवा अवनतिवाद का परिपाक कहा जा सकता है। दूसरी बात जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह

---

१. राजस्थान का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १०-११

यह है कि श्रमण परम्परा की मौलिक विशेषता श्रम की प्रतिष्ठा है, जबकि वैदिक परम्परा श्रम को महत्व न देकर अधिनायकवाद को प्रश्रय देती है। श्रमण परम्परा में लोकतन्त्री व्यवस्था का उच्च स्थान है, वहाँ हर व्यक्ति को समान अधिकार, उन्नति के समान अवसर और कर्तव्य की प्रतिष्ठा है, जबकि वैदिक परम्परा के अवतारवाद की कल्पना में कोई अपने पुरुषार्थ से सर्वोच्च आध्यात्मिक पद प्राप्त करने का अधिकारी नही है, वहाँ ससार से मुक्त होने या निर्वाण प्राप्त करने तथा भगवान बनने की कल्पना तक नही की जा सकती, बल्कि अवतारी भगवान की प्रसन्नता पाने पर विष्णु-लोक में पहुँचने तक की उडान की गई है। ब्राह्मणो ने दूसरों की अच्छाइयों, दूसरो के महापुरुषों और सिद्धान्तो को आत्मसात् करके उन्हे अपने रग में रगने का जो निष्फल प्रयास किया, उसी के फल-स्वरूप शिव, पार्वती, विष्णु, कृष्ण, ऋषभ, बुद्ध आदि को अपने अवतारो में गिन तो लिया, उससे ऋषभ, बुद्ध आदि अवतार उनके ग्रन्थो की शोभा वस्तु तो बन गये, किन्तु उनके मन्दिरो में वे प्रवेश न पा सके। शिव और विष्णु के अवतारों की भी ऐसी खिचडी पकी कि उनके दाने अलग थलग ही रहे, मिल नही पाये। शिव पुराण, लिंग पुराण आदि में विष्णु से शिव को उच्चतर पद दिया गया और महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण, हरिवश पुराण आदि में विष्णु—विशेषत. उनके अवतार कृष्ण को सबसे उच्च पद पर आसीन किया गया। फिर भी इससे इन्कार नही किया जा सकता कि ब्राह्मणों की सबको पचाकर हजम करने की प्राचीन प्रक्रिया के कारण वैदिक धर्म भारत के व्यापक क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करने मे समर्थ हो सका। अब शिव प्रार्यकालीन देवता नही प्रतीत होते, वे तो, लगता है जैसे वेदो की उपज हो। इसी प्रकार विष्णु और उनके अवतार कृष्ण पश्चात्कालीन कल्पना की उपज नही लगते, बल्कि गीता मे कृष्ण ने अपने आपको यज्ञरूप और वेदरूप कहकर वेदों से समझौता कर लिया है, ऐसे ज्ञात होते हैं।

अधिकाश इतिहासकार इससे सहमत है कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया गया था। उन्हे सर्वोच्च स्थान देने की दृष्टि से ही अन्य अवतारो को विष्णु के अवतार के रूप में मान्यता दी गई। इसीलिये इन अवतारो मे भी भेद रखा गया। कृष्ण को विष्णु का षोडश कलावतार अथवा पूर्णावतार माना गया, जबकि अन्य अवतारो को केवल अशावतार ही माना गया।

जैन मान्यतानुसार श्रीकृष्ण की लोकव्यापी प्रतिष्ठा स्थापित करने में उनके भाई बलराम का हाथ था। उन्होने देव बनने के बाद पूर्व जन्म के भ्रातृस्नेहवश श्रीकृष्ण के रूप, गुण, बुद्धि, पराक्रम, वेभव आदि के चमत्कारो का ऐसा सुनियोजित प्रचार किया, जिससे लोक मानस म श्रीकृष्ण आराध्य के रूप मे छा गये और वे घर-घर मे अतिमानव के रूप मे पूजे जाने लगे। यह कल्पना भी पौराणिक काल की उपज रही हो तो इसमे हमे कोई आपत्ति नही होगी।

भगवान नेमिनाथ से सम्बद्ध नगर

नेमिनाथ की जन्म-नगरी-शौरीपुर—आगरा से, दक्षिण-पूर्व की ओर वाह तहसील में ७० कि० मी० दूर वटेश्वर गांव है। यहाँ से ५ कि० मी० दूर यमुना के खारो मे शौरीपुर क्षेत्र अवस्थित है। वाह से वटेश्वर ८ कि०मी० और शिकोहाबाद से २५ कि० मी० है।

शौरीपुर ही वह पावन भूमि है, जहाँ भगवान नेमिनाथ वहाँ के अधिपति समुद्रविजय की महारानी शिवा-देवी के गर्भ में अवतरित हुए थे। उनके गर्भावतरण से छः माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने रत्नवर्षा की थी, जो उनके जन्म-काल तक प्रतिदिन चार बार होती रही। उनके जन्म के सम्बन्ध में तिथि आदि ज्ञातव्य बातों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य यतिवृषभ 'तिलोय पण्णत्ती' ग्रन्थ मे लिखते है—

सउरीपुरम्मि जादो सिवदेवीए समुद्दविजएण।
वइसाह तेरसीए सिदाए चित्तासु णेमिजिणो ।।४।५४७

अर्थात् नेमि जिनेन्द्र शौरीपुर मे माता शिवादेवी और पिता समुद्रविजय से बैशाख शुक्ला १३ को चित्रा नक्षत्र मे उत्पन्न हुए।

देवो और इन्द्रों ने भक्ति और उल्लासपूर्वक भगवान के इन दो कल्याणकों का महोत्सव शौरीपुर म अत्यन्त समारोह के साथ मनाया। इन दो कल्याणको के कारण यह भूमि कल्याणक भूमि, क्षेत्र मगल और तीर्थ क्षेत्र कहलाने लगी।

पौराणिक उल्लेखो से ज्ञात होता है कि इस तीर्थक्षेत्र पर कुछ मुनियो को केवलज्ञान तथा निर्वाण प्राप्त हुआ था।

गन्धमादन पर्वत पर सुप्रतिष्ठ मुनि तप कर रहे थे। उनके ऊपर सुदर्शन नामक एक यक्ष ने घोर उपसर्ग किया। मुनिराज ने उसे समतापूर्वक सहन कर लिया और आत्म-ध्यान मे लीन रहे। फलत: उन्हे केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्ही केवली भगवान के चरणो मे शौरीपुर नरेश अन्धकवृष्णि और मथुरा नरेश भोजकवृष्णि ने मुनि दीक्षा लेली।

मुनि धन्य यमुना-तट पर ध्यानमग्न थे। शौरीपुर नरेश शिकार न मिलने के कारण अत्यन्त क्षुब्ध था। उसकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उस मूर्ख ने विचार किया कि शिकार न मिलने का कारण यह मुनि है। उसने क्रोध और मूर्खतावश तीक्ष्ण वाणो से मुनिराज को बीध दिया। मुनिराज शुक्लध्यान द्वारा कर्मों को नष्ट कर सिद्ध भगवान बन गये।

मुनि अलसत्कुमार विहार करते हुए शौरीपुर पधारे और यमुना-तट पर योग निरोध करके ध्यानारूढ़ हो गये। कर्म शृखलाये टूटने लगी। उन्हे केवलज्ञान हो गया और निर्वाण प्राप्त किया।

यम नामक अन्त कृत केवली यही से मुक्त हुए।

इस प्रकार न जाने कितने मुनियो को यहाँ केवलज्ञान हुआ और कितने मुनि यहाँ से मुक्त हुए। मुनियों को यहाँ से निर्वाण प्राप्त हुआ, अत यह स्थान साधारण तीर्थ न होकर निर्वाण क्षेत्र या सिद्धक्षेत्र है।

सिद्धक्षेत्र होने के अतिरिक्त यहाँ अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक घटनाये भी हुई थी। भगवान ऋषभदेव, भगवान नेमिनाथ, भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर का इस भूमि पर विहार हुआ था। उनका समवसरण यहाँ लगा था और उनके लोककल्याणकारी उपदेश हुए थे। यही पर प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्र के गुरु आचार्य लोकचन्द्र हुए थे। यह भी अनुश्रुति है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' की रचना यही पर की थी।

उस समय यादववंशियो के तीन राज्य थे—(१) कुशद्य-जनपद, जिसकी राजधानी शौरीपुर या शौर्यपुर थी और जिसे शूर ने बसाया था। (२) शूरसेन जनपद, जिसकी राजधानी मथुरा थी। (३) वीर्यपुर। यह कहाँ अवस्थित था और इसका कौन राजा था, यह ज्ञात नही हो पाया। सभवत: चन्दवाड का पूर्वनाम वीर्यपुर रहा हो अथवा यह इसके कही आसपास रहा हो। मथुरा के नरेश भोजकवृष्णि और शौरीपुर के नरेश अन्धकवृष्णि दोनो चचेरे भाई थे। भोजकवृष्णि के तीन पुत्र थे—उग्रसैन, महासेन और देवसेन। पिता के पश्चात् मथुरा का राज्य उग्रसैन को मिला। उग्रसेन का पुत्र कस था, जिसने अपने पिता को कारागार मे डाल दिया था और बाद मे श्रीकृष्ण ने कस का वध करके उग्रसैन को कारागार से मुक्त किया। अन्धकवृष्णि की महारानी सुभद्रा से दस पुत्र और दो पुत्रियाँ हुई। दस पुत्रो मे समुद्रविजय सबसे ज्येष्ठ थे और वसुदेव सबसे छोटे थे। पुत्रियो के नाम कुन्ती और मद्री थे, जिनका विवाह हस्तिनापुर के राजकुमार पाण्डु के साथ हुआ और जिनसे पाच पाण्डव उत्पन्न हुए। समुद्रविजय की महारानी शिवादेवी से नेमिनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ। वसुदेव की महारानी रोहिणी से बलराम हुए और दूसरी महारानी देवकी से श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए। दोनों भाई क्रमश बलभद्र और नारायण थे। नारायण श्रीकृष्ण ने ही उस समय के सबसे प्रतापी सम्राट् राजगृह नरेश जरासन्ध का वध किया था।

जब यादव शौरीपुर, मथुरा और वीर्यपुर का त्याग करके पश्चिम की ओर चले गये और द्वारका बसाकर वही रहने लगे, तब वहाँ का शासन-सूत्र श्रीकृष्ण ने सभाला। यादवो के जाने के पश्चात् शौरीपुर की महत्ता समाप्तप्राय हो गई। जैन पुराणों मे यादवों के निष्क्रमण के पश्चात् शौरीपुर का उल्लेख बहुत कम आया है। एक

बार तो उस समय, जब श्रीकृष्ण ने भरत क्षेत्र के तीन खण्डो पर विजय प्राप्त करके विभिन्न व्यक्तियो को विभिन्न स्थानों का राज्य प्रदान किया। उस समय उग्रसैन के पुत्र द्वार को मथुरा का राज्य दिया तथा महानेमि को शौर्यपुर का राज्य प्रदान किया। किन्तु महानेमि की वश-परम्परा के सम्बन्ध मे जैन पुराण मौन है। सभवत इसका कारण यह रहा हो कि शौरीपुर मे इसके पश्चात् कोई उल्लेखनीय घटना घटित न हुई हो और शौरीपुर का महत्त्व राजनैतिक या धार्मिक दृष्टि से नगण्य रह गया हो। दूसरी बार उस समय, जब विहार करते हुए भगवान पार्श्वनाथ शौरीपुर पधारे। उस समय यहाँ प्रभंजन नामक राजा राज्य करता था। भगवान का उपदेश सुनकर वह उनका भक्त बन गया।

वर्तमान में यहाँ आदि मन्दिर, वरुआ मठ, शखध्वज मन्दिर ये तीन मन्दिर है तथा पच मठी है। एक अहाते में यम मुनि, और धन्य मुनि की छतरियाँ बनी हुई है, जिनमें चरण विराजमान है। दो छतरियाँ खाली पड़ी हुई है। एक टोक भी बनी हुई है। उसमें कोई प्रतिमा नही है। चरण अवश्य विराजमान है, जिनकी स्थापना भट्टारक जिनेन्द्र भूषण के उपदेश से सवत् १८२८ मे हुई थी। वरुआमठ यहाँ का सबसे प्राचीन मन्दिर है, किन्तु इसकी कुछ प्राचीन प्रतिमाये चोरी चली गई। इन मन्दिरो मे सबसे प्राचीन मूर्ति उसके लेख के अनुसार सवत् १३०८ में प्रतिष्ठित हुई थी।

यहाँ समाज की ओर से तथा सरकार की ओर से उत्खनन हो चुके है। फलत यहाँ शिलालेख, खण्डित-अखडित जैन मूर्तियो और प्राचीन जैन मन्दिरो के अवशेष प्राप्त हुए थे। एक शिलालेख के अनुसार सवत् १२२४ में मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख मिलता है। उत्खनन मे प्राप्त एक मूर्ति पर सवत् १०८२ (अथवा ६२) का लेख है। यहाँ उत्खनन के परिणामस्वरूप सबसे महत्त्वपूर्ण जो चीज मिली है, वह है अपोलोडोटस और पार्थियन राजाओ के सिक्के। अपोलोडोटस वाख्त्री वश का यूनानी नरेश था। उसका तथा पार्थियन राजाओ का काल ईसा पूर्व दूसरी तीसरी शताब्दी है। इन सिक्को से ज्ञात होता है कि आज से २२००—२३०० वर्ष पहले शौरीपुर बहुत समृद्ध और प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था तथा उपर्युक्त सिक्के व्यापारिक उद्देश्य से ही यहाँ लाये गये होगे।

एक किम्वदन्ती के अनुसार प्राचीन काल मे किसी रानी ने यहाँ के सम्पूर्ण जैन मन्दिरो का विध्वस करा दिया था। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे यहाँ अनेक मन्दिर रहे होगे और यह जैनो का प्रमुख केन्द्र रहा होगा।

यह तीर्थ मूलत: दिगम्बर जैनो का है। सभी प्राचीन मन्दिर, मूर्तियाँ और चरण दिगम्बर जैनाम्नाय के हैं। प्राचीन काल से आसपास के जैन यही पर मुण्डन, कर्णवेधन आदि सरकार कराने आते है। यादववशी जैनो मे प्रथा है कि किसी आत्मीयजन की मृत्यु होने पर कार्तिक सुदी १४ को यहाँ दीपक चढाते है। यह क्षेत्र मूलसघाम्नायी भट्टारको का प्रमुख केन्द्र रहा है। भट्टारक जगतभूषण और विश्वभूषण की परम्परा में भट्टारक जिनेन्द्र भूषण १८वी शताब्दी मे हुए है। वे एक सिद्ध पुरुष थे। उनके चमत्कारो की अनेक कहानियाँ यहाँ अबतक प्रचलित है।

इसके निकटवर्ती वटेश्वर मे इन्ही भट्टारक द्वारा बनवाया हुआ तीन मजिल का एक मन्दिर है। इसकी दो मजिले जमुना के जल मे जमीन के नीचे है। इसका निर्माण सवत् १८३८ मे हुआ था। यहाँ मन्दिर मे भगवान अजितनाथ की कृष्ण वर्ण की मूलनायक प्रतिमा विराजमान है जो महोबा से लाई गई थी और जिसकी प्रतिष्ठा सवत् १२२४ में वैशाख सुदी ७ को परिमाल राज्य में आल्हा-ऊदल के पिता जल्हण ने कराई थी। प्रतिमा अत्यन्त सातिशय है। इस मन्दिर में भगवान शान्तिनाथ की एक मूर्ति है जो संवत् ११५० वैशाख बदी २ को प्रतिष्ठित हुई, ऐसा मूर्ति-लेख से ज्ञात होता है। अन्य कई प्रतिमाये भी ११—१२वी शताब्दी की लगती है।

यहाँ दो जैन धर्मशालायें है। यहाँ कार्तिक शुक्ला ५ से १५ तक जैनो का मेला होता है। कार्तिक मास में यहाँ पशुओं का प्रसिद्ध मेला भरता है। मगसिर बदी १ को जैन रथयात्रा सारे बाजार मे होकर निकलती है। इसमें हजारों जैन-अजैन सम्मिलित होते हैं।

भगवान नेमिनाथ की निर्वाण-भूमि गिरनार—भगवान नेमिनाथ सौराष्ट्र देश में स्थित गिरनार पर्वत से मुक्त हुए थे। साहित्य में गिरनार के अनेक नाम मिलते है, जैसे उज्जन्त, ऊर्जयन्त, गिरिनार, गिरनार, गिरनेर,

रैवतक, रेवत। हिन्दू पुराणों में रैवतक पर्वत नाम मिलता है। आचार्य जिनसेनकृत 'हरिवंश पुराण' में भगवान के अन्तिम समय का वर्णन करते हुए लिखा है—

'जब निर्वाण का समय समीप आ गया तो अनेक देव और मनुष्यो से सेवित भगवान गिरनार पर्वत पर पुनः लौट आये। समवसरण की जैसी रचना पहले हुई थी, वैसी ही रचना पुनः हो गई। समवसरण के बीच विराजमान होकर जिनेन्द्र भगवान ने स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का साधनभूत, रत्नत्रय से पवित्र और साधु सम्मत उपदेश दिया। जिस प्रकार सर्व हितकारी जिनेन्द्र भगवान ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद पहली बैठक मे विस्तार के साथ धर्म का उपदेश दिया था, उसी प्रकार अन्तिम बैठक में भी उन्होने विस्तार के साथ धर्म का उपदेश दिया। तदनन्तर योग निरोध करके भगवान नेमिनाथ अघातिया कर्मों का अन्त करके कई सौ मुनियो के साथ निर्वाण धाम को प्राप्त हो गये।······ समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकी के युगलिया छह पुत्र, शवु और प्रद्युम्नकुमार आदि मुनि भी गिरनार पर्वत से मुक्त हुए। इसलिए उस समय से गिरनार आदि निर्वाण स्थान ससार मे विख्यात हुए और तीर्थयात्रा के लिये अनेक भव्य जीव आने लगे[1]।

आचार्य यतिवृषभ ने 'तिलोय पण्णत्ती'[2] में भगवान नेमिनाथ के साथ मुक्त होने वाले मुनियों की संख्या ५३६ बताई है। उत्तर पुराण[3] मे भगवान नेमिनाथ के अतिरिक्त मुक्त होने वाले मुनियो मे जाम्बवती के पुत्र शवु, कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का नामोल्लेख करते हुए उनकी मुक्ति विभिन्न कूटों से बतलाई है। वर्तमान मे भी दूसरे पर्वत से अनिरुद्धकुमार, तीसरे से शवुकुमार, चौथे से प्रद्युम्नकुमार और पाचवे से नेमिनाथ की मुक्ति मानी जाती है। इन टोको पर इन मुनिराजो और भगवान के चरण-चिन्ह बने हुए है। प्राकृत 'निर्वाण काण्ड'[4] मे ऊर्जयन्त पर्वत से मुक्त होने वाले मुनियो के नाम और सख्या का उल्लेख करते हुए बताया है कि ऊर्जयन्त पर्वत से भगवान नेमिनाथ, प्रद्युम्न, शवुकुमार और अनिरुद्ध के अतिरिक्त ७२ करोड़ ७०० मुनि मुक्त हुए। गजकुमार भी यही से मुक्त हुए थे। इतने मुनियो का निर्वाण-धाम होने के कारण ही गिरनार की ख्याति और मान्यता सम्मेद शिखर के समान ही है।

सस्कृत 'निर्वाण भक्ति'[5] मे भी नेमिनाथ की मुक्ति-स्थलों के रूप मे ऊर्जयन्त का उल्लेख किया गया है, किन्तु उदयकीर्तिकृत अपभ्रश निर्वाण भक्ति[6] मे प्राकृत निर्वाण भक्ति के समान ही वर्णन मिलता है।

अपभ्रश भाषा के 'णायकुमार चरिउ' मे नागकुमार की ऊर्जयन्त-यात्रा का वर्णन करते हुए ऊर्जयन्त गिरि का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि पहले नागकुमार ने उस स्थान की वन्दना की जहाँ नेमिनाथ ने दीक्षा ली थी (यह स्थान सहस्राम्र वन है)। उपरान्त उन्होनें 'ज्ञानशिला' की वन्दना की (यह वही स्थान था, जहाँ भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था)। इसके बाद उन्होने अनिरुद्धकुमार, शवुकुमार, प्रद्युम्नकुमार आदि मुनियो और नेमिनाथ के निर्वाण स्थानो की पूजा की। अन्त में उन्होने यक्षीनिलय अर्थात् अम्बिका देवी के मन्दिर को देखा, जहाँ उन्होने दीन-अनाथो को दान दिया। फिर वे वापिस गिरिनयर (जूनागढ) आ गये।

इससे ज्ञात होता है कि नेमिनाथ भगवान के दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण स्थान अलग-अलग थे, जैसा कि वर्तमान मे भी है। राजीमती ने विरक्त होकर गिरनार पर ही तप किया था।

---

१ हरिवश पुराण सर्ग ६५ श्लोक ४ मे १७

२ तिलोयपण्णत्ती ४। १२०६

३. उत्तर पुराण सर्ग ७२ श्लोक १८६—१६१

४. णेमिसामी पज्जण्णो सवुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
वाहत्तार कोडीओ उज्जते सत्तसया सिद्धा॥५॥

५ निर्वाणभक्ति श्लोक २३

६ उज्जत महागिरि सिद्धिपत्तु। सिरिणेमिणाहु जादव पवित्तु॥
अण्णु वि पुणु सामि पज्जुणु णवेवि। अणुरुद्धइ सहियर णमवि तेवि॥३॥
अण्णु वि पुणु सत्त सयाइ तित्थु। वाहत्तर कोडिय सिद्ध जेत्थु।

जिस स्थान पर भगवान को निर्वाण प्राप्त हुआ था, वहाँ इन्द्र ने वज्र से सिद्धशिला का निर्माण करके उसमे भगवान के चिन्ह[1] अंकित कर दिये थे। इन्द्र ने वहाँ वज्र से अत्यन्त शान्त और आयुध एवं वस्त्राभूषणों से रहित दिगम्बर नेमिनाथ की मूर्ति की भी स्थापना की थी[2]। यह मूर्ति यतिपति मदनकीर्ति के समय में (वि० स० १२८५ के लगभग) विद्यमान थी। कहते है, यह लेपमूर्ति थी। काश्मीर का रत्न नामक एक श्रीमन्त जैन गिरनार की वन्दना के लिए आया। उसने इस मूर्ति का जलाभिषेक किया, जिससे मूर्ति गल गई तब उसे बडा दुःख हुआ। उसने उपवास किया। रात्रि मे अम्बिका देवी प्रगट हुई। उसकी आज्ञानुसार रत्न ने १८ रत्नो की, १८ स्वर्ण की, १८ चांदी की और १८ पाषाण की प्रतिमाये प्रतिष्ठित की। रत्नो की प्रतिमाओ को वह अपने साथ लेता गया।[3]

इससे प्रतीत होता है कि इन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित नेमिनाथ मूर्ति थी अवश्य, किन्तु वह बाद मे खण्डित होगई।

गिरनार की अम्बिकादेवी का असाधारण महत्त्व बताया जाता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में ऐसी किम्बदन्तियाँ प्रचलित हैं कि दिगम्बर और श्वेताम्बर यात्रा सघ गिरनार की वन्दना को गये। पर्वत पर पहले कौन जाय, इस बात को लेकर दोनो में विवाद हो पडा। एक महीने तक वाद चला। अन्त में दोनो पक्षों ने अम्बिका को मध्यस्थ चुना। अम्बिका की देव-वाणी हुई, जिसके अनुसार दोनो को मान्यता है कि उनके पथ को देवी ने सत्य पथ घोषित किया। इन किम्बदन्तियो मे कितना सार है, यह नही कहा जा सकता।

चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धन स्वामी[4] गिरनार की वन्दना के लिए आये थे। आचार्य भद्रबाहु ने भी इस निर्वाण तीर्थ की बन्दना की थी।

'श्रुतस्कन्ध'[5] और 'श्रुतावतार'[6] के अनुसार आचाराग के धारी धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्र गुफा मे रहते थे। अपनी आयु का अन्त निकट जानकर उन्होने दक्षिणा पथ की महिमानगरी मे एकत्रित मुनि-सघ को दो व्युत्पन्न मुनि श्रुताध्ययन के लिये भेजने को लिखा। मुनि संघ ने पुष्पदन्त और भूतवलि नामक दो विद्वान् मुनियो को धरसेनाचार्य के पास भेजा। धरसेनाचार्य ने उन मुनियो को दो मन्त्र सिद्ध करने के लिये दिये। एक मन्त्र में हीनाक्षर था और दूसरे मन्त्र मे अधिक अक्षर था। उन्होने दोनों मुनियो को गिरनार की सिद्धशिला पर—जहाँ भगवान नेमिनाथ का निर्वाण कल्याणक हुआ था—मन्त्र साधन की आज्ञा दी। दोनो योग्य शिष्यो ने तीन दिन तक मन्त्र साधन किया। उन्हे देवी सिद्ध हुई, किन्तु एक देवी काणाक्षी थी और दूसरी दन्तुल थी। दोनो ने विचार करके मन्त्रो को शुद्ध किया और पुनः साधन किया। इस बार देवियाँ सौम्य आकार मे आकर उपस्थित हुई। दोनो मुनियों ने गुरु के निकट जाकर यह निवेदन किया। गुरु ने उन्हे सुयोग्य जानकर अगज्ञान का बोध दिया। अध्ययन करके वे वहाँ से गुरु की आज्ञा से चले गये और उन्होने षट्खण्डागम की रचना की तथा लिपिवद्ध करके सम्पूर्ण सघ के समक्ष ज्येष्ठ शुक्ला पचमी को उस शास्त्र की ससमारोह पूजा की।

ऐसे भी उल्लेख[7] मिलते है कि आचार्य कुन्दकुन्द गिरनार की वन्दना के लिये आए थे। नन्दि संघ की गुर्वावली मे उल्लेख है कि पद्मनन्दी मुनि ने गिरनार पर्वत पर स्थित सरस्वती देवी से यह घोषणा कराई थी कि 'सत्य पन्थ निर्ग्रन्थ दिगम्बर' इसी घटना के कारण सरस्वती[8] गच्छ की उत्पत्ति हुई। बीरसेनाचार्य गिरनार की

१. आचार्य समन्तभद्र कृत स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक १२७—२८। आचार्य दामनन्दी कृत पुराण सार सग्रह ५। १३१

२. मदनकीर्ति विरचित शासन चतुस्त्रिशिका श्लोक २०

३. श्वेताम्बराचार्य राजशेखरसूरिकृत 'प्रबध कोष' का रत्न श्रावक प्रबध। रचना वि० स० १४०५

४. वृहत्कथा कोष पृ० ३१०

५. श्रुतस्कन्ध, पृ० १६५

६. श्रुतावतार कथा, श्लोक १०३—६

७. 'ज्ञान प्रबोध' एव पाण्डव पुराण

८. पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती ॥३६॥
ऊर्जयन्त गिरौ तेन गच्छ सारस्वतो भवेत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने ॥३७॥

खाण्ड गुफा में आकर रहे थे। और भी बड़े-बड़े आचार्यो ने इस तीर्थ की वन्दना की थी।

प्रारम्भ से ही दिगम्बर जैन इसे अपना पूज्य तीर्थ मानते रहे है और प्राचीन काल से यहाँ की वन्दना के लिये दिगम्बर जैन यात्रा सघ जाते रहे है। पुरातत्व और इतिहास के साक्ष्यो से यह सिद्ध होता है कि गिरनार के देव नेमिनाथ है और वह जैनों का तीर्थ रहा है। सौराष्ट्र के प्रभासपट्टन से वेवीलोनिया के बादशाह नेवूचडनज्जर (Nebuchadnazzar) का एक ताम्रपट लेख प्राप्त हुआ है। इसे डॉ० प्राणनाथ विद्यालकार ने पढ़ा था, जिसका आशय यह है—

"रेवानगर के राज्य के स्वामी सु जाति का देव, नेवुचडनज्जर आया है, वह यदुराज के नगर (द्वारका) में आया है। उसने मन्दिर बनवाया। सूर्य ··· देव नेमि कि जो स्वर्ग समान रैवत पर्वत के देव है (उनको) हमेशा के लिये अर्पण किया।[1]

—'जैन' भावनगर भा० ३५ अक, पृ०२

स्मरणीय है कि नेवूचडनज्जर का समय ११४० ई० पू० माना जाता है। अर्थात् आज से ३००० वर्ष पूर्व भी गिरनार जैनो का तीर्थ था।

दक्षिण भारत के कल्लरगड्डु (शिमोगा) से प्राप्त सन् ११२१ के एक शिलालेख मे भगवान नेमिनाथ के निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख है। उस समय अहिच्छत्र मे विष्णुगुप्त राज्य करता था। उसने ऐन्द्रध्वज पूजा की। देवेन्द्र ने उसे ऐरावत हाथी दिया। शिलालेख का मूल पाठ इस प्रकार है—

'हरिवंश केतु नेमीस्वर तीर्थं वर्तिसुत्तगिरे गंगकुलांबर भानु पुट्टिदं भासुरतेजं विष्णुगुप्तनेम्ब नृपालम् ।। आ—धराधिनाथं सम्राज्यपदवियं कैकोण्डहिच्छत्र-परदोल् सुखमिद्दु नेमितीर्थकर परमदेव-निर्वाण कालदोल ऐन्द्रध्वज वेम्बं पूजेयं माडे देवेन्द्रनोसेदु।

अनुपमदैरावतमं । मनोनुरागदोल् विष्णुगुप्तङ्गम् ।
जिनपूजेयिन्दे मुक्तिय । ननर्घ्यमं पडेगुमन्दोडुलिदुदु पिरिदे ।।

—जैनशिलालेख सग्रह भाग २ पृ० ४०८—६

अर्थ—जब नेमीश्वर का तीर्थ चल रहा था, उस समय राजा विष्णुगुप्त का जन्म हुआ। वह राजा अहिच्छत्रपुर मे राज्य कर रहा था। उसी समय नेमितीर्थकर का निर्वाण हुआ। उसने ऐन्द्रध्वज पूजा की। देवेन्द्र ने उसे ऐरावत हाथी दिया।

इस शिलालेख से यह सिद्ध होता है कि नेमिनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। शिलालेख मे गग वशावली दी गई है।

गिरनार पर्वत पर भी कुछ शिलालेख मिले है। इनमे सर्व प्राचीन लेख क्षत्रप रुद्रसिह का है। यह लेख खण्डित है और इसे डॉ० वुल्हर ने पढा था। लेख से यह ज्ञात होता है कि गिरनार की गुफाओ का निर्माण सौराष्ट्र के साही राजाओ ने ईसा की दूसरी शताब्दी मे जैनो के लिए कराया था। इस लेख के सम्बन्ध मे मि० वर्गेस[2] ने लिखा है—

'इस शिलालेख मे सबसे रोचक शब्द है 'केवलिज्ञानसम्प्राप्तानाम्' केवल ज्ञान शब्द केवल जैन शास्त्रो में ही मिलता है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि शिलालेख जैनो से सम्बन्धित है। इससे ज्ञात होता है कि इन गुफाओं का निर्माण ईसा की द्वितीय शताब्दी में सौराष्ट्र के साही राजाओ ने जेनो के लिए किया हो। सभव है, गुफाये लेख से प्राचीन हो।'

मि० वर्गेस का यह अनुमान गलत नही लगता। ईसा पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी में धरसेनाचार्य यहाँ की चन्द्रगुफा में रहते थे, यह ऊपर बताया जा चुका है।

१ Times of India 19 March 1935

२. Burgess, the Repport on the Antiquties of kathiawad and kacchha, pp. 141-143

मि० वर्गेस, मि० टाड आदि को गिरनार पर्वत पर कुछ शिलालेख स० ११२३, १२१२, १२२२ के मिले हैं, जिनमें श्रावको द्वारा सीढ़ियाँ बनाने का उल्लेख है। सवत् १२१५ के एक शिलालेख मे राज सावदेव और जसहड़ द्वारा ठा० सालवाहण ने देवकुलिकाये बनवाईं, ऐसा उल्लेख है। सवत् १२१५ के शिलालेख के अनुसार प्राचीन मन्दिरो के स्थान पर नवीन मन्दिरों का निर्माण कराया गया। मि० वर्गेस की रिपोर्ट में बताया है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के राष्ट्रीय वैश्य पुष्पगुप्त ने गिरनार पर 'सुदर्शना' नामक झील बनवाई थी और महाक्षत्रप रुद्रदामा ने उस झील का सेतु बनवाया था जो नदियो की बाढ़ से टूट गया था।

वर्तमान में गिरनार पर्वत की तलहटी में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनो की धर्मशालाये बनी हुई हैं जो सड़क के दोनो ओर आमने-सामने हैं। दिगम्बर धर्मशाला के अन्दर तीन मन्दिर बने हुए है। यहाँ हिन्दुओ के मन्दिर और धर्मशालाये भी है। दिगम्बर धर्मशाला से लगभग सौ कदम चलकर चढने का द्वार मिलता है। लगभग ३००० सीढ़ियाँ चढ़ने पर पहला शिखर आता है। यहाँ 'राखङ्गार' का ध्वस्त कोट और महल है। दिगम्बर और श्वेताम्बरो की एक-एक धर्मशाला है। कोट के अन्दर अनेक जैन मन्दिर है, जिन पर श्वेताम्बरो का अधिकार है। आगे चलने पर एक पर्वत शिला में पद्मावती देवी और उसके शीर्ष पर पार्श्वनाथ की मूर्ति है। फिर राजीमती की गुफा है। इसमे पाषाण में राजीमती की मूर्ति बनी हुई है। आगे बढने पर एक परकोटे मे तीन दिगम्बर जैन मन्दिर है। आगे दाईं ओर चौमुखी मन्दिर तथा रथनेमि का एक श्वेताम्बर मन्दिर है। कुछ ऊपर चढने पर अम्बा देवी का मन्दिर है। इस पर अब हिन्दुओं का अधिकार है। इसके बगल में अनिरुद्धकुमार के चरण है। यह दूसरा शिखर है। यहाँ से कुछ ऊँचाई पर तीसरा शिखर है। इस पर शम्बुकुमार के चरण है। यहाँ हिन्दुओं का गोरक्षनाथ का मन्दिर है। यहाँ से लगभग ४००० फुट उतर कर चौथा शिखर है। इस पर प्रद्युम्नकुमार के चरण है। यहाँ एक काले पाषाण पर नेमिनाथ की मूर्ति तथा दूसरी शिला पर चरण है। इस शिखर पर सीढियाँ न होने से चढ़ाई कठिन है। तीसरे शिखर से पांचवे शिखर को सीढियाँ जाती है। पाचवे शिखर पर एक मठिया में नेमिनाथ भगवान के चरण है और एक पद्मासन दिगम्बर प्रतिमा बनी हुई है। इन चरणो को हिन्दू लोग दत्तात्रय के चरण मानकर पूजते है। चरणों के पास ही एक बड़ा भारी घण्टा बधा हुआ है। इसकी देखभाल एक नागा साधु करता है। इस टोक से उतरने पर रेणुका शिखर, फिर कालिका की टोक आती है। कोई जैन इन पर नही जाता। लौटते हुए दूसरी टोंक के चौराहे से उत्तर की ओर गोमुखी कुण्ड के पास से सहसा वन के लिये मार्ग जाता है। इसके लिये पहले शिखर से सीढियाँ गई हैं। गोमुखी कुण्ड मे चौबीस तीर्थकरो के चरण एक शिलाफलक पर बने हुए हैं। सहसावन में भगवान नेमिनाथ के दीक्षा कल्याणक और केवल ज्ञानकल्याणक की द्योतक देवकुलिकाओ मे चरण बने हुए है। यहाँ भगवान के दो कल्याणक हुए थे।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बारहवाँ और अन्तिम चक्रवर्ती था, जिसने भरत क्षेत्र की षट्-खण्ड पृथ्वी को जीता था। वह बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ और तेईसवे तीर्थकर पार्श्वनाथ के मध्यवर्ती काल मे नेमिनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुआ था। इसके सम्बन्ध मे दिगम्बर जैन साहित्य मे बहुत ही कम परिचय मिलता है। आचार्य गुणभद्र कृत 'उत्तर पुराण' में तो केवल इतना ही परिचय दिया गया है कि 'वह ब्रह्मा नामक राजा और चूड़ादेवी रानी का पुत्र था। उसका शरीर सात धनुष ऊँचा था और उसकी आयु सात सौ वर्ष की थी। वह सब चक्रवर्तियो में अन्तिम चक्रवर्ती था।'

हरिषेण कृत 'कथाकोष' में इसके पूर्व भव और उसकी जीवन सम्बन्धी एक घटना के अतिरिक्त उसकी मृत्यु का वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है—

'काशी जनपद में वाराणसी नगरी थी। उसमे सुषेण नामक एक निर्धन कृषक रहता था। उसकी स्त्री का

नाम गन्धारी था। इनके दो पुत्र थे—संभूत और चित्त। ये दोनों नृत्य और गान में बडे निपुण थे और स्त्री वेष धारण करके ये विभिन्न नगरों मे नृत्य और गान का प्रदर्शन करते थे। यही उनकी आजीविका का साधन था। एकबार वे दोनो राजगृह नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होने गीत और नृत्य का प्रदर्शन किया। स्त्री का वेष धारण किये हुए सभूत का नृत्य देखकर वसुशर्मा पुरोहित इसके ऊपर मोहित होगया। बहुत समय पश्चात् उसे ज्ञात हुआ कि यह नर्तकी स्त्री नही, कला विज्ञान में निष्णात कोई रूपवान् पुरुष है। तब पुरोहित ने प्रसन्न होकर संभूत के साथ अपनी बहन लक्ष्मीमती का विवाह कर दिया। किन्तु जब भाई-बहन को सभूत के कुल गोत्र का पता चला तो उन्हे बड़ी लज्जा आई और वे दोनो वहाँ से पाटलिपुत्र चले गये। एक दिन, दिन के प्रकाश मे लोगो को भी दाढ़ी मूँछ के कारण पता चल गया कि ये दोनों स्त्री नही, पुरुष हैं। इससे उनके व्यवसाय को बड़ी क्षति पहुँची।

इन्ही दिनो काशी में गुरुदत्त नामक एक जैन मुनि पधारे। दोनो भाई भी उनका उपदेश सुनने गये। उपदेश सुनकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होने मुनि दीक्षा लेली। उन्होने समस्त आगमो का अध्ययन किया और घोर तप करने लगे। एक बार विहार करते हुए वे राजगृही पधारे। सभूत मुनि पक्षोपवास के पारणा के लिए नगर मे पधारे। भिक्षा के लिए जाते हुए मुनि ने वसुशर्मा पुरोहित को देखा। पुरोहित ने इन्हे पहचान लिया और वह मारने दौड़ा। मुनि भय के कारण भागने लगे। तभी मुनि के मुख से भयानक तेज निकला। उसकी अग्नि से सम्पूर्ण दिशायें व्याप्त हो गई। ज्यो ही इस घटना का पता चित्त मुनिराज को लगा, वे शीघ्रता पूर्वक वहाँ आये और उन्होने सभूत मुनि के तेज को रोक दिया। वसुशर्मा इस घटना के कारण इतना भयभीत हो गया कि वह अपने प्राण बचाकर वहाँ से भाग गया।

एक देवी चक्रवर्ती का रूप धारण करके बडी विभूति के साथ मुनिराज की सेवा करने लगी। चक्रवर्ती रूपधारिणी देवी का वैभव देखकर सभूत मुनि ने मूर्खतावश यह निदान किया कि यदि मेरे तप मे कोई बल है तो मुझे उसके फलस्वरूप अन्य जन्म मे चक्रवर्ती पद की प्राप्ति हो। यह निदान करके सभूत मुनि मरकर सौधर्म स्वर्ग मे महर्द्धिक देव हुए।

कम्पिला नगरी में ब्रह्मरथ नामक राजा राज्य करता था। उसकी महादेवी का नाम रामिल्ला था। उनके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम ब्रह्मदत्त रक्खा गया। यह सभूत का ही जीव था, जो आयु पूर्ण होने पर यहाँ उत्पन्न हुआ। जब वह शासन करने योग्य हुआ तो पिता ने उसका तिलक करके राज्य-भार सौंप दिया। उसकी आयुधशाला मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसकी सहायता से उसने अल्पकाल में ही सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीत लिया। वह चक्रवर्ती बन गया। उसके पास चौदह रत्न, नवनिधि और अपार वैभव था। वसुशर्मा पुरोहित ससार मे नाना योनियो मे भ्रमण करता हुआ चक्रवर्ती की भोजनशाला में सूपकार (रसोइया) बना।

एक दिन चक्रवर्ती भोजन करने बैठा तो उस जयसेन रसोइया ने गर्म-गर्म दूध परोस दिया। चक्रवर्ती ने दूध पिया तो उसकी जीभ जल गई। इससे वह इतना कुपित हुआ कि उसने वह गर्म-गर्म दूध रसोइया के सिर पर उंडेल दिया। उबलते हुए दूध के कारण रसोइया की तत्काल मृत्यु हो गई। मरकर वह लवण समुद्र के रत्न द्वीप में व्यन्तर जाति का देव बना। जब उसे पूर्व जन्म का ज्ञान हुआ तो उसे चक्रवर्ती के ऊपर भीषण क्रोध आया और उसका प्रतिशोध लेने के लिये चल दिया। वह परिव्राजक का वेष धारण करके नाना प्रकार के फल लाया और उन्हे चक्रवर्ती को भेट किये। उन्हे खाकर चक्रवर्ती अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बोला—तात! इतने मधुर और स्वादिष्ट फल तुम्हें कहाँ मिले, क्या ऐसे फल और भी है? तापस सविनय बोला—'राजाधिराज! मेरे पास इस समय तो इतने ही फल है, किन्तु मेरे मठ मे ऐसे अनेक प्रकार के स्वादिष्ट फलो की प्रचुरता है। यदि आप मेरे साथ चले तो मै आपको ऐसे फलों से तृप्त कर दूगा।' चक्रवर्ती उसके साथ अकेला ही जाने के लिए तैयार हो गया। वे मंत्रियो ने बहुत रोका और समझाया, किन्तु उसने किसी की बात नही मानी और तापस के साथ एकाकी ही चल दिया। तापस उसे बीच समुद्र में ले जाकर घोर उपसर्ग करने लगा। अब चक्रवर्ती को रहस्य विदित हुआ। वह प्रत्याख्यान करके णमोकर मत्र पढ़ने लगा। देव उसका कुछ नही बिगाड़ सका। वह समझ गया कि जब तक यह णमोकार मत्र पढता रहेगा, तब तक इसका कोई अनिष्ट नही हो सकता। अत: वह बोला—'अरे दुरात्मन्! तू जानता है, मैं वही सूपकार हूं, जिसे तूने उबलता हुआ दूध डालकर मार डाला था। मै तुझे छोड़ नही सकता। मैं

तेरी हत्या करूँगा। तेरी रक्षा का केवल एक ही उपाय है। यदि तू भूमि पर णमोकार मन्त्र लिखकर पैर से उसे पोछ दे तो तेरा जीवन बच सकता है, अन्यथा नही। चक्रवर्ती अपने प्राणो के मोह से विवेक खो बैठा। उसने देव के कथनानुसार भूमि पर णमोकार मन्त्र लिखा और उसे पैर से मिटा दिया। ऐसा करते ही देवता ने उसे यमधाम पहुँचा दिया। ब्रह्मदत्त मरकर सप्तम नरक मे उत्पन्न हुआ।

श्वेताम्बर परपरा में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती—श्वेताम्बर साहित्य मे ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का जीवन परिचय अत्यन्त विस्तृत रूप मे मिलता है। उसका जीवन अत्यन्त घटनापूर्ण रहा था। उसका जीवन वृत्तान्त सक्षेप मे इस प्रकार गुम्फित किया गया है—

काम्पिल्यपुर के नरेश ब्रह्म की महारानी चुलनी ने चौदह स्वप्न देखे। नौ महीने पूर्ण होने पर उसके एक पुत्र हुआ जो तप्त काचन के समान वर्ण वाला था। पिता को बालक का मुख देखते ही ब्रह्म में रमण करने के समान आनन्दानुभूति हुई, इसलिये उसका नाम ब्रह्मदत्त रक्खा गया।

काशी नरेश कटक, हस्तिनापुर नरेश कणेरुदत्त, कोशलपति दीर्घ और चम्पानरेश पुष्पचूलक काम्पिल्य नरेश के अन्तरग मित्र थे। उनम इतनी घनिष्टता थी कि वे पांचो एक-एक राजधानी मे क्रमशः एक वर्ष तक साथ-साथ ही रहते थे। उस वर्ष काम्पिल्यपुर की बारी थी, अत. पाचो वहाँ रहने लगे। एक दिन काम्पिल्य नरेश का देहान्त हो गया। तब चारो मित्रो ने परामर्श करके अपने दिवगत मित्र के राज्य की रक्षा करने का निश्चय किया और जब तक ब्रह्मदत्त राज्य-भार सभालने मे सक्षम न हो जाय, तबतक एक-एक वर्ष के लिये क्रमश एक नरेश काम्पिल्यपुर मे रहकर ब्रह्मदत्त और राज्य का सरक्षक बनकर रहे, यह निश्चित हुआ। उस समय ब्रह्मदत्त की आयु बारह वर्ष की थी।

इस निर्णय के अनुसार प्रथम वर्ष के लिये कोशल नरेश दीर्घ को यह दायित्व सोपा गया। दीर्घ वही आकर रहने लगा। किन्तु दीघ अत्यन्त विश्वासघाती निकला। उसने न केवल राज्य के कोष और राज्य पर ही अपना अधिकार कर लिया, अपितु उसने अपने स्वर्गीय मित्र की रानी चुलना को भी अपने प्रेमपाश में जकड़ लिया। दीर्घ और चुलना की प्रेम लीलाय अवाध गति से चलने लगी।

प्रधानामात्य धनु से यह प्रणय-व्यापार छिपा नही रह सका। उस राज्यनिष्ठ व्यक्ति को चिन्ता हुई कि ये कामान्ध कही बालक ब्रह्मदत्त का अनिष्ट न कर दे। अत. उसने अपने पुत्र वरधनु के द्वारा राजकुमार को सतर्क रहने का परामर्श भिजवा दिया तथा अपने पुत्र को सदा राजकुमार के साथ रहने की आज्ञा दे दी।

अब बालक ब्रह्मदत्त को सारी परिस्थिति ज्ञात हो गई। उसने राजा को सावधान करने के लिये एक उपाय किया। वह एक पिजड़े मे काक और कोयल को लेकर दीर्घ और चुलना के केलिगृह के द्वार पर जाकर क्रोध मे तीव्र स्वर मे कहने लगा—'अरे नीच कौए! तेरी इतनी धृष्टता कि इस कोकिल के साथ तू केलि-क्रीडा कर रहा है। तुम दोनो को मैं अभी यमलोक पहुचाता हूं।' ब्रह्मदत्त की यह अन्योक्ति सुनकर दीर्घ चुलना से बोला—'प्रिये! सुना तुमने ब्रह्मदत्त हम दोना को काक और कोकिल बताकर हमारा वध करना चाहता ह। चुलना ने इस बात को यह कह कर उड़ा दिया कि वह अभी बालक है।' किन्तु ब्रह्मदत्त ने उन्हे समझाने के लिये इसी प्रकार के कई उपाय किये। इससे भयभीत होकर दीर्घ बोला—"प्रिय! बालक समझकर योंही टालना ठीक नही है। बड़ा होने पर यह हमारा शत्रु वन जायगा। हम और तुम जीवित रहे तो पुत्र तो और भी हो जायेगे। किन्तु इस कण्टक को दूर करने मे ही हम दोनो का हित है।" कामान्ध चुलना भी इससे सहमत हो गई। उन्होने निश्चय किया कि यथाशीघ्र ब्रह्मदत्त का विवाह करके सुहागरात्रि को वर-वधू को लाक्षा-गृह मे सुलाकर समाप्त कर दिया जाय।

ब्रह्मदत्त के लिये उसके मातुल पुष्पचूल नरेश की पुत्री पुष्पवती का वाग्दान हो गया। विवाह की जोर शोर से तैयारियाँ होने लगी। उधर प्रधानामात्य धनु भी असावधान नही था। चरो द्वारा उसे दीर्घ की योजना का पता चल गया। उसने एक दिन दीर्घ के निकट जाकर अजलिबद्ध होकर यज्ञ करने की अनुमति माँगी। दीर्घ ने उसे अनुमति दे दी। प्रधानामात्य ने गगा-तट पर विशाल यज्ञ-मण्डप की रचना कराई और अन्न-दान यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। सहस्रो लोग प्रतिदिन वहाँ आकर अन्न प्राप्त करने लगे। किन्तु इस धूमधाम के बीच

प्रधानामात्य ने कारीगर लगाकर यज्ञमण्डप से लाक्षा-गृह तक सुरग खुदवाली। इसकी किसी को कानो-कान खबर नही हुई। प्रधानामात्य ने पुष्पचूल को भी दीर्घ और चुलना की दुरभिसन्धि का समाचार गुप्त रूप से पहुँचा दिया।

यथासमय विवाह सम्पन्न हो गया। वर-वधू को लाक्षा-गृह मे सुहागरात मनाने के लिये भेज दिया गया। मन्त्री-पुत्र वरधनु भी ब्रह्मदत्त के साथ लाक्षा-गृह मे गुप्त रीति से प्रविष्ट हो गया। मन्त्री की दीर्घसूत्रता के आगे व्यभिचारी दीर्घ की भी नही चली। वधू के स्थान पर उसी के समान रूपवाली एक दासी-पुत्री ब्रह्मदत्त के साथ लाक्षा-गृह मे गई, यह भी किसी को ज्ञात नही हो सका।

अर्धरात्रि के समय षड्यन्त्रकारियो ने लाक्षा-गृह मे आग लगवादी। लाक्षा-गृह भयानक अग्निज्वालाओ मे भस्म का ढेर हो गया।

ब्रह्मदत्त वरधनु के साथ सुरग-मार्ग से यज्ञ-मण्डप मे पहुँचा। वहाँ योजनानुसार दो वेगगामी अश्व बँधे हुए थे। दोनो अश्वो पर बैठ कर चल दिये। प्रधानामात्य धनु भी उन्हे विदाकर वहाँ निरापद स्थान के लिये पलायन कर गया।

दोनो मित्र भागते हुए काम्पिल्यपुर की सीमा को पीछे छोड़कर बहुत दूर निकल गये। इतनी लम्बी यात्रा के कारण घोड़ो ने दम तोड दिया। वे फिर पैदल ही भागने लगे। वे कोष्टक ग्राम के बाहर पहुँचे। उन्होने वेष बदल लिया और भिक्षुक के रूप मे ग्राम मे प्रवेश किया। एक ब्राह्मण ने उन्हे प्रेमपूर्वक भोजन कराया। भोजन कर चुकने पर ब्राह्मणी ब्रह्मदत्त के सिर पर अक्षत क्षेपण करती हुई अपनी अत्यन्त रूपवती कन्या के साथ हाथ जोडकर खडी हो गई। दोनो मित्र आश्चर्य मुद्रा मे देखने लगे। ब्राह्मणी बोली—भस्म से ढकी अग्नि कही छिपती है। भस्मी रमा लेने से भाग्य थोड़े ही छिपता है। निमित्तज्ञानियो ने बताया है कि मेरी यह कन्या वन्धुमती चक्रवर्ती की रानी बनेगी और वह भिक्षुक के वेष मे स्वय द्वार पर उपस्थित होगा। उन्होने यह भी बताया था कि जो व्यक्ति अपने श्रीवत्स चिन्ह को वस्त्र से छिपाये हुए तुम्हारे घर आकर भोजन करे, उसी के साथ इस कन्या का विवाह कर देना। यह देखिये, वस्त्र के नीचे श्रीवत्स चिन्ह चमक रहा है।' आखिर ब्राह्मणी की बात स्वीकार कर ली गई। ब्रह्मदत्त के साथ वन्धुमती का विवाह हो गया।

प्रात.काल होने पर नई विपत्ति ने घेर लिया। भागने के लिये कोई मार्ग ही नही था। दीर्घ के सैनिको ने सारे गाव के मार्गो को घेर रक्खा था। वे दोनो झाडियो मे छिपते हुए निकले, किन्तु वरधनु पकड़ा गया। सैनिको ने उसे बहुत मारा। किन्तु ब्रह्मदत्त किसी प्रकार भाग निकला। तीन दिन बाद वह जगल मे एक तापस से मिला। वह उसे कुलपति के पास ले गया। कुलपति के पूछने पर उसने सारा वृत्तान्त सुना दिया। वृत्तान्त सुनकर और उसकी छाती पर श्रीवत्स लाछन देखकर कुलपति बोले— कुमार! तुम्हारे पिता ब्रह्म मेरे बड़े भाई के तुल्य थे। तुम इस आश्रम को अपना ही घर समझकर यहा निश्चिन्ततापूर्वक रहो। वहाँ रहते हुए ब्रह्मदत्त ने सब प्रकार के शास्त्र और अस्त्र-शस्त्र सचालन मे निष्णता प्राप्त कर ली। अब वह युवा हो गया था।

एक दिन वह कुछ तापसों के साथ वन मे गया। वहाँ उसने हाथी के तुरन्त के पद-चिन्ह देखे। वह तापसो द्वारा निषेध करने पर भी पद-चिन्हो का अनुसरण करता हुआ एक भयानक वन मे पहुंचा। वहां एक मदोन्मत्त हाथी खड़ा था। हाथी चिघाड़ता हुआ उस पर झपटा। किन्तु ब्रह्मदत्त क्रीड़ामात्र मे उस पर सवार हो गया। इतने मे मूसलाधार वर्षा होने लगी। हाथी भयभीत होकर भागा। ब्रह्मदत्त एक वृक्ष की शाखा पकड़कर लटक गया। किन्तु वह राह भूल गया। आगे चलने पर एक नदी मिली। वह उसे तैरकर पार हो गया। आगे उसे एक उजड़ा हुआ ग्राम मिला और एक झाडी मे उसे ढाल और तलवार मिली। उसने उन्हे उठा लिया। कुतूहलवश उसने बासो के झुरमुट पर तलवार चलाई। किन्तु एक मनुष्य का सिर धड से अलग होकर दूर जा पड़ा। उसे ज्ञात हुआ कि वह मनुष्य बासो में उल्टा लटक कर कोई विद्या सिद्ध कर रहा था। उसे बड़ा दु ख हुआ। आगे बढ़ने पर उसने एक रमणीय उद्यान मे एक भव्य भवन देखा। वह अपना कुतूहल नही रोक सका। वह सीढियो पर चढ़ कर महल मे जा पहुँचा। वहाँ उसने एक सुसज्जित कक्ष मे एक सुन्दरी बाला को चिन्तित मुद्रा में पलग पर बैठे हुए देखा। वह पूछने लगा—'सुन्दरी'! तुम कौन हो और इस एकान्त भवन मे शोकमग्न मुद्रा मे क्यो बैठी हो?'

एक अपरिचित तेजस्वी युवक को देखकर वह कन्या भयभीत हो गई और पूछने लगी—'आप कौन है ? आप यहाँ क्यो आये है ?' ब्रह्मदत्त बोला—'मैं पाञ्चाल नरेश ब्रह्म का पुत्र ब्रह्मदत्त हूँ।' सुनकर वह कन्या उसके पैरो मे गिर पड़ी—'मैं आपके मामा पुष्पचूल की पुत्री पुष्पवती हूँ जिसका वाग्दान आपके साथ हुआ था। मैं आपके साथ विवाह की प्रतीक्षा मे थी कि मुझे नाट्योन्मत्त नामक विद्याधर अपहरण करके ले आया। वह निकट ही कही झाड़ियो मे विद्या-साधन कर रहा है। अब मैं आपकी शरण हूँ।' कुमार ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—अज्ञानवश वह विद्याधर अभी मेरे हाथों मारा गया है। अब मेरे रहते हुए तुम्हे कोई भय नही करना चाहिये।'

दोनो ने गान्धर्व विवाह कर लिया। किन्तु प्रात.काल होने पर आकाश-मार्ग से नाट्योन्मत्त विद्याधर की दो बहनें—खण्डा और विशाखा को आते हुए देखा तो पुष्पवती बोली—'नाथ ! यदि इन्हे अपने सहोदर की मृत्यु का पता चल गया तो अपने सजातीय विद्याधरो को ले आवेगी। तब तो अनर्थ ही हो जायगा। अत आप यहाँ से भाग जाइये।'

विषम परिस्थिति देखकर ब्रह्मदत्त वहाँ से छिपकर चल दिया। आगे जाने पर उसने लताकुज में फूल चुनती हुई एक अपूर्व सुन्दरी को देखा। वह उस रूपराशि को अपलक निहारता रहा। वह सुन्दरी भी उसी की ओर सकेत करती हुई अपनी सखी से मुस्कराती हुई कुछ कह रही थी। तभी अकस्मात् वह लता गुल्म मे अदृश्य हो गई। ब्रह्मदत्त ठगा-सा उधर ही देखता रहा। तभी उसे नूपुर की झकार सुनाई पडी। वह सखी ताम्बूल, वस्त्र और आभूषण लिये उसके पास आई और बोली—आपने अभी जिन्हे देखा था, उन राजकुमारी जी ने आपके लिये ये वस्तुएँ भेजी है तथा आपको मन्त्री जी के घर पहुँचाने की आज्ञा दी है।' वह उस स्त्री के साथ चल दिया।

मन्त्री-निवास पहुँचने पर उसका जोरदार आतिथ्य किया गया। राजा ने अपनी पुत्री श्रीकान्ता का विवाह बड़े समारोहपूर्वक उसके साथ कर दिया। वह कुछ दिन वहाँ आनन्दपूर्वक रहा।

श्रीकान्ता का पिता वसन्तपुर का राजा था। गृह-कलह के कारण वह भागकर चौर-पल्ली का राजा बन गया और लूट मार करके निर्वाह करने लगा। एक दिन एक गाव को लूटते हुए वरधनु भी हाथ आ गया। इस प्रकार चिरकाल के पश्चात् ब्रह्मदत्त और वरधनु दोनो का मिलन हुआ। तभी उन्हे दीर्घराज के सैनिको के आने का समाचार मिला। वे दोनो वहाँ से भागे और कौशाम्बी जा पहुँचे। वहा दीर्घराज के अनुरोध पर कौशाम्बी नरेश ब्रह्मदत्त और वरधनु की खोज करवा रहा था। वे वहाँ से बचकर भागे और राजगृह पहुँचे। वहाँ नाट्योन्मत्त विद्याधर की दोनो बहनो-खण्डा और विशाखा तथा वहाँ के धनकुबेर धनावह सेठ की भतीजी रत्नवती के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह हुआ। वे सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे।

एक दिन दोनों मित्र वासन्ती परिधान धारण करके वसन्तोत्सव देखने गये। तभी राजा का हाथी बन्धन तुड़ाकर उत्सव मे आगया और उत्पात करने लगा। ब्रह्मदत्त ने उसे क्रीडामात्र मे वश मे कर लिया और गजशाला मे पहुँचा दिया। मगध नरेश ने प्रसन्न होकर उसके साथ अपनी पुत्री पुण्यमानी का विवाह कर दिया। यहा उसके साथ वैश्रवण श्रेष्ठी की पुत्री श्रीमती और मन्त्री-सुता नन्दा का भी विवाह हुआ।

फिर दोनो मित्र युद्ध की तैयारी के लिये वाराणसी पहुँचे। वाराणसी नरेश ने अपने मित्र ब्रह्म के पुत्र ब्रह्मदत्त के आगमन का समाचार सुनकर उसका बड़ा सत्कार किया। उसने अपनी कन्या कटकवती का विवाह उसके साथ कर दिया और दहेज मे उसे चतुरंगिणी सेना भी दी। ब्रह्मदत्त के वाराणसी आगमन का समाचार सुनकर हस्तिनापुर नरेश कणेरुदत्त, चम्पा नरेश पुष्पचूलक, प्रधानामात्य धनु और भगदत्त आदि अनेक नरेश सेना लेकर वहाँ आगये। ब्रह्मदत्त ने सभी सेनाओ को सुगठित करके वरधनु को सेनापति पद पर नियुक्त किया और दीर्घ पर आक्रमण करने के लिये काम्पिल्यपुर की ओर प्रयाण किया। दीर्घ भी सेना लेकर रणक्षेत्र में आगया। दोनो सेनाओ में भीषण युद्ध हुआ। ब्रह्मदत्त और दीर्घ आपस में जूझ गये। दोनों अतुल पराक्रमी थे। दोनो ही वीर अजेय थे। उनका ऐसा भयानक युद्ध हुआ कि दोनो सेनाये भी परस्पर यद्ध छोड़कर यह द्वन्द्व-युद्ध देखने लगी। तभी अपनी प्रभा से सबको चकाचाध करता हुआ चक्ररत्न प्रगट हुआ और ब्रह्मदत्त की तीन प्रदक्षिणा देकर उसकी दाये हाथ की तर्जनी पर स्थित हो गया। ब्रह्मदत्त ने घुमाकर उसे दीर्घ की ओर फका। चक्र अपनी किरणो से स्फुलिग बरसाता हुआ दीर्घ की ओर

चला और क्षणभर में दीर्घ का मस्तक काटकर वापिस लौट आया। ब्रह्मदत्त की जयघोषो से आकाश गूंजने लगा। ब्रह्मदत्त ने बड़े समारोह के साथ काम्पिल्यपुर मे प्रवेश किया। चुलनी भयभीत होकर प्रव्रजित होकर चली गई। राजाओं और प्रजा ने समारोह के साथ ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक किया। इस प्रकार निरन्तर सोलह वर्ष तक अनेक सकटों और सघर्षों का सामना करता हुआ ब्रह्मदत्त अपने पैतृक राज्य का अधिकारी हुआ।

वह छप्पन वर्ष तक माण्डलिक राजा के रूप मे राज्य करता रहा। फिर वह विशाल सेना लेकर दिग्विजय के लिये निकला और सोलह वर्ष में सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को विजय करके वह काम्पिल्यपुर लौटा। वह चौदह रत्नों, नवनिधियो और चक्रवर्ती की सम्पूर्ण समृद्धियों का स्वामी बन गया। वह अपनी ऋद्धियो और राज्यश्री का भोग करने लगा। भरत क्षेत्र के छह खण्डो के राजा उसके सेवक के समान उसकी सेवा करने में अपना सौभाग्य मानते थे।

एक दिन एक यवनेश्वर ने उसे एक सुन्दर अश्व भेट किया। वह अश्व की परीक्षा करने अश्व पर सवार हो भ्रमण करने निकला। चाबुक पड़ते ही घोडा वायु-वेग से भागा और अनेक वन-उपवनों और पर्वतो को लाघता हुआ वह एक सघन वन मे रुका। उस वन में एक सरोवर के तट पर एक सुन्दर नागकन्या को किसी जार के साथ सभोग करते हुए देखा। वह दुराचार का घोर विरोधी था। इस अनाचार को देखकर वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने चाबुक से उस जार और नागपत्नी को बुरी तरह पीटकर कठोर दण्ड दिया। तब तक उसके अगरक्षक उसे खोजते हुए आ पहुँचे। चक्रवर्ती उनके साथ काम्पिल्यपुर लौट आया।

उधर उस नागपत्नी ने अपना क्षत-विक्षत शरीर अपने पति नागराज को दिखाते हुए और करुण रुदन करते हुए कहा—'नाथ ! मै आज आपके पुण्य-प्रताप से जीवित वापिस लौट सकी हूँ। मैं अपनी सखियो के साथ वन-विहार के लिये गई थी। उसी वन में ब्रह्मदत्त आ गया। उस कामुक ने मुझ पर आसक्त होकर कुचेष्टाये करना प्रारम्भ कर दिया। मैने प्रतिरोध किया तो उसने मुझे चाबुक से इतना पीटा कि मैं मूर्छित हो गई। मैने आपका नाम लेकर कहा कि मै नागराज की पतिव्रता पत्नी हूँ, किन्तु चक्रवर्ती-पद के अभिमान में उसने आपकी भी पर्वाह नहीं की। न जाने कौन से पुण्य थे जो मै आपके दर्शन कर सकी।'

यह सुनते ही नागराज अत्यन्त कुपित होकर चक्रवर्ती का वध करने चल दिया और किसी प्रकार प्रहरियों की निगाह बचाकर उसके शयनागार मे जा पहुँचा। रात्रि का समय था। ब्रह्मदत्त पलंग पर लेटा हुआ था। उस समय पट्टमहिषी ने पूछा—प्राणनाथ ! आज आप अश्व पर आरूढ होकर अनेक वनों में घूम आये। क्या आपने वहाँ कोई आश्चर्यजनक घटना भी देखी।' चक्रवर्ती ने एक जार के साथ नागकन्या के दुश्चरित्र की घटना सुनाते हुए चाबुक द्वारा दोनो की पिटाई की बात बताई।

नागराज उनकी बाते सुन रहा था। सत्य घटना सुनकर उसकी आंखे खुल गई। उसको सत्य का पता चल गया। वह शयन-कक्ष से बाहर निकला और हाथ जोडकर खड़ा हो गया। चक्रवर्ती ने प्रश्नसूचक दृष्टि से उसे देखा। वह बडी विनय से बोला—'स्वामिन् ! आज आपने जिस दुराचारिणी स्त्री को पीटा था, मै उसका पति हू। उसने आपके विरुद्ध असत्य आरोप लगाया, उससे क्रुद्ध होकर मैं आपकी हत्या करने के लिये यहाँ आया था। किन्तु आपके मुख से तथ्य सुनकर मेरा हृदय आपके प्रति श्रद्धा से पूरित हो गया है। आप आदेश दीजिये कि मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?

ब्रह्मदत्त बोला—'नागराज ! मेरी इच्छा है, मेरे राज्य में दुराचार, अनाचार, ईति-भीति बिलकुल न रहे।'

नागराज बोला—'राजन् ! ऐसा ही होगा। किन्तु मैं आपका कुछ हित करना चाहता हूँ।'

चक्रवर्ती बोला—'नागराज ! मैं चाहता हूँ कि मैं प्राणीमात्र की भाषा समझ सकूं।'

नागराज बोला—'भरतेश ! मैं आप पर बहुत प्रसन्न हूं। मैं यह विद्या आपको देता हूँ किन्तु यह ध्यान रखियेगा कि यदि आपने इस रहस्य को किसी पर प्रगट कर दिया तो आपका सिर खण्ड-खण्ड हो जायगा।'

चक्रवर्ती ने आश्वासन दे दिया। नागराज प्रसन्न मुद्रा में अभिवादन करके वहाँ से चला गया।

एक दिन चक्रवर्ती पट्टमहिषी के साथ बैठा हुआ मनोरंजन कर रहा था। वह घरोली दम्पत्ति (एक प्रकार का पक्षी) की बात सुनकर अट्टहास कर उठा। महिषी पति के अकारण अट्टहास से विस्मित होकर हास्य का कारण पूछने लगी, किन्तु चक्रवर्ती रहस्योद्घाटन का परिणाम जानता था। उसने टालने का बहुत प्रयत्न किया, यहाँ तक कह दिया कि यह रहस्य है। इसे बताते ही मेरी मृत्यु हो जायगी। किन्तु महारानी भी हठ पकड गई। अन्त में वह त्रिया-हठ के आगे मृत्यु का वरण करने को भी तैयार हो गया। यहाँ तक कि उसने रानी के साथ श्मसान मे जाकर चिता तैयार कराई और रहस्य बताने को उद्यत हो गया। तभी उसकी कुलदेवी अकारण अकाल मृत्यु के लिये उद्यत चक्रवर्ती को समझाने के लिये गर्भवती बकरी और बकरे का रूप बनाकर आई। बकरी कहने लगी—नाथ ! राजा के घोड़े के खाने के लिये हरी-हरी जौ की पूलियाँ आई है, उनमें से एक पूली मुझे लाकर दो, जिसे खाकर मैं अपना दोहला पूर्ण करूँ।' बकरे ने कहा—'क्या कहती हो, ऐसा करते ही राजकर्मचारी मुझे मार ही डालेगे।' बकरी ने आत्म-हत्या का भय दिखलाया तो बकरा बोला—मैं ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के समान मूर्ख नही हूँ जो अपनी स्त्री के कहने पर प्राण त्याग रहा है।' चक्रवर्ती बकरे की बात सुनकर लौट आया।

एक दिन एक ब्राह्मण भोजन के समय चक्रवर्ती के पास आया। चक्रवर्ती ने उसे भोजन के लिये पूछा। ब्राह्मण बोला—यदि आप भोजन कराना ही चाहते है तो मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु जो भोजन आपके लिये बना है, मैं उसी भोजन को खाऊँगा।

ब्रह्मदत्त बोला—ब्रह्मन् ! वह आपके लिये दुष्पाच्य और उन्मादकारी होगा।' किन्तु ब्राह्मण नही माना। ब्रह्म हठ के आगे चक्रवर्ती को ब्राह्मण की बात माननी पडी। उसने ब्राह्मण और उसके परिवार को अपना भोजन खिला-कर सतृप्त किया। धीरे धीरे उस भोजन ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ किया। ब्राह्मण, उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई, बहन सभी कामान्ध हो गये और परस्पर मे अकरणीय कृत्य करने लगे। प्रात काल होने पर भोजन का प्रभाव कम हुआ, तब उन्हे अपने अविवेक पर बडी लज्जा आई। वे एक दूसरे से मुख छिपाने फिरे। किन्तु ब्राह्मण को चक्रवर्ती के ऊपर बड़ा क्रोध आया और अपने लज्जाजनक कुकृत्य का कारण चक्रवर्ती को समझकर वह उसकी हत्या का उपाय सोचने लगा। वन मे निरुद्देश्य घूमते हुए उसने देखा कि एक चरवाहा अपनी गुलेल मे ककड़ी रखकर उससे वट वृक्ष के पत्ते गिराकर बकरियो को चरा रहा है। चरवाहे की निशानेबाजी से ब्राह्मण बडा प्रभावित हुआ। उसने सोचा कि इसके द्वारा ब्रह्मदत्त से बदला लिया जा सकता है। उसने चरवाहे को धन देकर इस बात के लिये तैयार कर लिया कि जब ब्रह्मदत्त हाथी पर सवार होकर निकले तो गुलेल की गोली से उसकी दोनों आखे फोड दी जाये।

चरवाहे ने अपने कृत्य का दुष्परिणाम समझे बिना ही नगर मे जाकर राजपथ से निकलते हुए गजारूढ़ ब्रह्मदत्त की दोनों आखे गुल से दो गोलियो द्वारा एक साथ फोड दी।[1]

राजपुरुषो ने अविलम्ब चरवाहे को पकड लिया। उससे ज्ञात होने पर वह ब्राह्मण और उसका परिवार पकड़ लिया गया। ब्रह्मदत्त के आदेश से उन सबको मौत के घाट उतार दिया गया। ब्रह्मदत्त का क्रोध फिर भी शान्त नही हुआ, उसने सभी ब्राह्मणो को चुन-चुन कर मरवा डाला। अन्धा होने पर उसका क्रोध बढता ही गया। उसने अमात्य को आदेश दिया कि अगणित ब्राह्मणों की आखे निकलवाकर थाल मे रखकर मेरे समक्ष उपस्थित की जाये। अमात्य ने लिसोडे की अगणित चिकनी गुठलियाँ निकलवा कर थाल मे रखकर ब्रह्मदत्त के समक्ष उपस्थित कर दी। वह एक क्षण को भी थाल को अपने पास से नही हटाता था। इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने अपनी आयु के अन्तिम सोलह वर्ष अति तीव्र आर्त और रौद्र ध्यान में बिताये एव सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर अपनी पट्टमहिषी कुरुमती के नाम का बार-बार उच्चारण करता हुआ दुर्ध्यान से मरकर सातवें नरक मे गया।[2]

१—"केण उण उवाएण पच्चु वयारो णखइणो कीरई ?" त्ति झायमाणेण कओ वह्लहि अ वयरियव्व विण्णासेहि गुलियाधणु विक्खेवणिउणो वयसो। कयसक्सा वाउसयस य साहियो णियथाहिप्पाओ। तेणावि पडिवण्ण सरहम।

—चउव्वन्न महापुरिस चरिय पृ० २३

२—यातेषु जन्म दिवसोऽथ ससा शतेषु, सप्तस्वसौ कुरुमतीत्यसकृदब्रुवाणः।
हिंसानुबन्धिपरिणाम फलानुरूपा, ता सप्तमी नरकलोकभुवं जगाम ॥

—त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व ९, सर्ग १, श्लोक ६००

हिन्दू परम्परा में भी ब्रह्मदत्त का कथानक मिलता है। 'महाभारत' और 'हरिवंश पुराण' में ब्रह्मदत्त का जो चरित्र दिया गया है, वह जैन परम्परा से बहुत कम अंशो मे मिलता है। जैन परम्परा के कथानको—विशेषत ६३ शलाका पुरुषो—का चरित्र प्राय सभी ग्रन्थो में समान मिलता है, अन्तर प्राय विस्तार और सक्षेप का ही रहता है। उनके काल के सम्बन्ध में समस्त जैन वाङ्मय मे एकरूपता और ऐकमत्य प्राप्त होता है। जबकि दूसरी ओर हिन्दू पुराणो में यह वैशिष्ट्य नही मिलता, उनमें चरित्र और कालगत असमानताये दृष्टिगोचर होती है। इसलिये जब हिन्दू पुराणो में किसी चरित्र के सम्बन्ध में ऐकमत्य नही है, ऐसी दशा में जैन और हिन्दू शास्त्रों के पौराणिक आख्यानो में ऐकमत्य खोजना कहाँ तक सगत है। दोनो परम्पराओ के तत्सम्बन्धी आख्यानो मे अपनी-अपनी विशेषता है।

हिन्दू परम्परा में ब्रह्मदत्त कथानक

हिन्दू पुराणो के अनुसार ब्रह्मदत्त महाभारत[1] से पूर्व काम्पिल्यपुर[2] में उत्पन्न हुआ था। पूर्व भव में वह एक पक्षी था। उसने एक राजा का वैभव देखकर यह विचार[3] किया था कि यदि मैंने कोई तप या सुकृत किया हो तो मुझे भी ऐसी विभूति मिले। उसे तथा उसके अमात्य कण्डरीक को सरोवर को देखकर अपने पूर्व जन्म[4] का स्मरण हो आया और उसने ब्राह्मण को बहुत धन दिया। पूर्व भवो[5] का वर्णन करते हुए बताया है कि वह दशार्ण में सात बार व्याध बना, कालिंजर पर्वत पर मृग बना, शरद्वीप मे चक्रवाक, मानसरोवर मे हंस, कुरुक्षेत्र मे आभिजात्य ब्राह्मण बना। ब्रह्मदत्त ने देवल ब्राह्मण की श्यामा कन्या सन्मति से विवाह[6] किया। वह पशु-पक्षियो की भाषा जानता था। एक नर पिपीलिका को मादा पिपीलिका से काम-याचना करते हुए सुनकर उसने अट्टहास[7] किया। अन्त मे पूजनिका नामक एक चिडिया ने उसकी दोनो आँखे फोड दी।

---

१. हरिवंश पुराण पर्व १ अ० २५ श्लोक ११-१२
२. महाभारत शान्ति पर्व अ० १३९ श्लोक ५; अ० २२४ श्लोक २९
३. हरिवंश पुराण पर्व १ अध्याय २३ श्लोक ४३-४४
४. ,, ,, २२-२३
५. ,, पर्व १ अध्याय २५ श्लोक २०-२१
६. ,, ,, २३ ,, २९
७. ,, ,, २४ ,, ३-४

षड्विंशतितम अध्याय

भगवान पार्श्वनाथ

पूर्व भव—जैन ग्रन्थो में भगवान पार्श्वनाथ के पूर्व के १० जन्मो का वर्णन मिलता है। उनमे परस्पर में कही-कही भेद है, परन्तु वह भेद साधारण ही है और वह नगण्य है। यहाँ उस भेद का भी सकेत किया जायगा, जिससे सभी जैनाचार्यों के दृष्टिकोण का परिचय मिल सके।

प्रथम भव—जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र मे सुरम्य नामक एक बड़ा देश था। उसमे पोदनपुर नामक विशाल नगर था। उस नगर का शासक अरविन्द नामक नरेश था जो प्रजावल्लभ था। उसके नगर मे विश्वभूति नामक ब्राह्मण और उसकी पत्नी अनुन्धरी रहते थे। विश्वभूति राजपुरोहित थे। उनके दो पुत्र थे—कमठ और मरुभूति। कमठ अत्यन्त नीच प्रकृति का था, जबकि मरुभूति अत्यन्त धार्मिक वृत्ति वाला था। कमठ की स्त्री का नाम वरुणा और मरुभूति की स्त्री का नाम वसुन्धरी था। वरुणा सदाचारिणी और वसुन्धरी दुराचारिणी थी। एक दिन विश्वभूति ने अपना पद अपने पुत्र को देकर और घरवार छोड़कर जिनदीक्षा धारण करली। अनुन्धरी ने भी प्रव्रज्या धारण करली।

राजा अरविन्द को राजपुरोहित की दीक्षा का समाचार ज्ञात हुआ। उसने राजपुरोहित के दोनो पुत्रो को राजसभा में बुलाया। उनमे कनिष्ठ मरुभूति को विशेष सज्जन समझकर पुरोहित पद पर प्रतिष्ठित किया। कुछ समय पश्चात् राजा युद्ध के निमित्त गया। मरुभूति को भी उसके साथ जाना पडा। कमठ ने इसी अवधि मे मरुभूति की पत्नी वसुन्धरी को देखा। देखते ही वह उसके ऊपर आसक्त हो गया। यही स्थिति वसुन्धरी की हुई और दोनो में प्रेम हो गया। वे विषयलम्पटी काम-सेवन करने लगे। कुछ समय पश्चात् राजा सेना सहित वापिस लौट आया, मरुभूति भी लौट आया। वह आकर कमठ से प्रेमपूर्वक मिला और अपनी स्त्री के पास आकर विदेश मे लाया हुआ धन उसे प्रेम से सोप दिया।

एक दिन मरुभूति को उसकी भावज वरुणा ने अपने पति कमठ और अपनी देवरानी वसुन्धरी की प्रणय-लीला की बात बताई। पहले तो मरुभूति को विश्वास नही हुआ, किन्तु जब रात्रि मे उसने स्वय अपनी आंखो से दोनो को क्रीडारत देख लिया तो वह क्रोध से जलने लगा। उसने तत्काल राजभवन मे जाकर राजा से न्याय की याचना की। राजा ने अभियोग सुनकर सैनिको को कमठ को गिरफ्तार करने की आज्ञा दी। जब कमठ बन्दी बनाकर वहाँ लाया गया तो उसका मुख काला करके और गधे पर बैठाकर नगर से निर्वासित कर दिया।

कुछ समय पश्चात मरुभूति अपने भाई कमठ की याद मे बेचैन हो गया। उसने राजा से प्रार्थना की—'देव! मैंने क्रोधवश उस समय अपने भाई को घर से निकाल दिया था, किन्तु मैं अब उसे घर वापिस लाने की आपसे अनुमति चाहता हूँ। राजा ने उसे बहुत समझाया किन्तु वह माना नही, अपने भाई को ढूंढने चल दिया। वह नगरो, वनों और पर्वतो में भाई की तलाश में भटकता फिरा। इस तरह घूमते हुए उसे सिन्धुतट पर पचाग्नि तप से कृशकाय कमठ दिखाई पडा। वह दौड कर रोते हुए उसके चरणो में गिर पड़ा और क्षमा-याचना करता हुआ घर वापिस चलने की प्रार्थना करने लगा। किन्तु दुष्ट कमठ उसे देखते ही क्रुद्ध हो गया और उसने एक भारी पत्थर उठाकर मरुभूति के सिर पर दे मारा। इस प्रकार उसने कई बार पत्थर उठा-उठाकर मारा। थोड़ी देर में मरुभूति का प्राणान्त हो गया।

द्वितीय भव—मरुभूति मर कर मलय देश के कुब्जक नामक सल्लकी के बडे भारी वन मे वज्रघोष (अशनिघोष) नामक हाथी हुआ। वरुणा मरकर उसकी हथिनी हुई। कमठ मरकर उसी वन मे कुक्कुट नामक सर्प हुआ।

राजा अरविन्द एक दिन शरद काल की शोभा देख रहे थे। आकाश में उस समय मेघ छाये हुए थे। कुछ समय पश्चात् मेघ लुप्त हो गया। इससे राजा के मन में प्रेरणा जगी—जैसे आकाश मे मेघ दिखाई दिया और अल्प-काल में ही नष्ट हो गया, इसी प्रकार देखते देखते हमारा भी नाश हो जायगा। अत: जब तक इस शरीर का नाश नही होता, तब तक मैं वह तप करूँगा, जिससे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो।

इस प्रकार विचारकर अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर और परिजनो-पुरजनो को समझा बुझाकर राजा ने पिहितास्रव नामक मुनि से मुनि-दीक्षा लेली। तप करते हुए मुनिराज अरविन्द को अवधि ज्ञान की प्राप्ति हो गई। एक बार मुनि अरविन्द सघ के साथ सम्मेद शिखर की यात्रा के लिये निकले। वे उसी वन मे पहुँचे जहाँ वज्र-घोष हाथी निवास करता था। सामायिक का समय होने पर वे प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये। इतने मे वह मदोन्मत्त गजराज झूमता हुआ उधर ही आ निकला। उसके दोनो कपोलों से मद झर रहा था। मुनिराज को देखते ही वह चिघाड़ता हुआ उनकी ओर मारने दौड़ा। किन्तु उनके निकट आते ही उनके वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह देखकर उसे विचार आया—इनको मैंने कही देखा है। जब गजेन्द्र मन मे इस प्रकार विचार कर रहा था, तभी मुनिराज को सामायिक समाप्त हुई। उन्होने गजराज के मन की बात जानली। वे बोले—हे गजवर! मै राजा अरविन्द हूँ, पोदनपुर का स्वामी हूँ। मुनि बनकर यहाँ आया हूँ। तू मरुभूति है जो हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ है। तू सम्यक्त्व और अणुव्रतो को ग्रहण कर। इसी से तेरा कल्याण होगा।

मुनिराज का उपदेश सुनकर गजराज ने सम्यक्त्व सहित अणुव्रतो को धारण किया। उस समय से वह हाथी पाप के डर से दूसरे हाथियो द्वारा तोडी हुई वृक्ष की शाखाओं और सूखे पत्तो को खाने लगा। पत्थरो पर गिरने से अथवा हाथियो के सघटन से जो जल प्रासुक हो जाता था, उसे ही वह पीता था। तथा प्रोषधोपवास के बाद पारणा करता था। इस प्रकार कुछ ही दिनो म वह महा बलवान हाथी अत्यन्त दुर्बल हो गया। एक दिन वह नदी मे पानी पीने गया था कि वहाँ कीचड़ मे गिर गया। उसने उठने का कई बार प्रयत्न किया, किन्तु उठ नही सका। तभी (कमठ का जीव) उस कुक्कुट सर्प ने पूर्व जन्म के वैर के कारण उसे काट लिया।

तीसरा भव—वह गजराज मरकर सहस्रार[1] स्वर्ग मे महर्द्धिक देव हुआ। उसकी आयु सोलह सागर की थी। वरुणा भी संयम को धारण कर उसी स्वर्ग मे देवी बनी। कुक्कुट सर्प मरकर पाचवे नरक मे गया। मुनिराज अरविन्द सम्मेद शिखर पर तप करते हुए कर्मों का नाश करके मुक्त हो गये।

चौथा भव—स्वर्ग मे आयु पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत हुआ और जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र मे पुष्कलावती देश है। उसके विजयार्ध पर्वत पर विद्यमान त्रिलोकोत्तम नामक नगर मे वहाँ के राजा विद्युद्गति[2] और रानी विद्यु-न्माला[3] के रश्मिवेग[4] नामक पुत्र हुआ। जब रश्मिवेग राज्यासीन हुआ तो उसने अपने तमाम शत्रुओ को वश मे करके खूब राज्य-विस्तार किया। वह प्रजा का बल्लभ था। उसने यौवनावस्था मे ही समाधिगुप्त मुनिराज के पास मुनि-दीक्षा लेली। वे घोर तप मे लीन हो गये। एक दिन मुनिराज हिमगिरि पर्वत की गुफा मे योग धारण करके विराजमान थे। कमठ का जीव पाचवें नरक की आयु पूर्ण करके इसी गुफा मे अजगर[5] हुआ। मुनिराज को

१. वादिराज सूरिकृत 'सिरि पासनाह चरिउ' मे महाशुक्र स्वर्ग लिखा है।

२. पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' के अनुसार विद्युद्वेग, कविवर रइधू कृत 'पासचरिय के अनुसार अशनिगति।

३ महापुराण के अनुसार तडिन्माला, देवभद्र सूरिकृत 'सिरि पासनाह चरिउ' के अनुसार 'तिलकावती, हेमचन्द्र कृत 'त्रिशष्ठि शलाका पुरुष चरित' के अनुसार कनकतिलका, पद्मकीर्ति कृत 'पासणाह चरिउ' के अनुसार 'मदनावली, हेमविजयगणि कृत 'पार्श्व चरितम्' के अनुसार कनकतिलका, रइधूकृत 'पास चरिय' के अनुसार तडितवेगा।

४. देवभद्र सूरि, हेमचन्द्र, पद्मकीर्ति और हेमविजय गणि के अनुसार किरणवेग तथा रइधू के अनुसार अशनिवेग।

५. किसी ग्रन्थ मे भुजग, सर्प महोरग।

देखते ही उसे भयंकर क्रोध आया और वह उन्हें निगल गया। अजगर दावानल में जलकर मर गया और छटवे नरक में उत्पन्न हुआ।

पांचवां भव—रश्मिवेग मरकर अच्युत स्वर्ग के पुष्कर विमान में देव हुआ। बाईस सागर की उसकी आयु थी।

छटवां भव—जम्बूद्वीप के पश्चिमी विदेह क्षेत्र में पद्म नामक देश था। वहाँ अश्वपुर नगर था। वहाँ के राजा वज्रवीर्य और रानी विजया[1] के बज्रनाभि नामक पुत्र हुआ। वह चक्रवर्ती था। षट्खण्ड पृथ्वी का वह अधिपति था। चौदह रत्न और नवनिधि का स्वामी था। उसने राज्य लक्ष्मी का खूब भोग किया। किन्तु एक दिन उसने राज्य लक्ष्मी के स्थान पर मोक्ष लक्ष्मी का उपभोग करने का निश्चय किया और क्षेमंकर मुनिराज के समीप संयम धारण कर लिया।

कमठ का जीव छटवे नरक की आयु पूर्ण करके कुरंग नामक भील हुआ। यह बड़ा क्रूर प्रकृति का था। एक दिन मुनिराज बज्रनाभि[2] उसी वन मे ध्यान लगाये हुए बैठे थे। घूमता फिरता वह भील उधर ही आ निकला।

सातवां भव

मुनिराज को देखते ही उसके मन मे क्रूरता उत्पन्न होगई और वह मुनिराज के ऊपर घोर उपसर्ग करने लगा। भयकर उपसर्ग होने पर मुनिराज आराधनाओ का आराधना कर सुभद्र नामक मध्यम ग्रैवेयक में सम्यग्दर्शन के धारक अहमिन्द्र हुए। उनकी आयु सत्ताईस सागर की थी। कमठ का जीव कुरग भील मरकर अपने क्रूर परिणामो के कारण सप्तम नरक में नारकी हुआ।

आयु के अन्त में वहाँ से च्युत होकर जम्बूद्वीप के कोशल देश में अयोध्या नगर में काश्यपगोत्री इक्ष्वाकुवशी राजा बज्रबाहु[3] और रानी प्रभकरी[4] के आनन्द[5] नामक पुत्र हुआ। यौवन आने पर पिता ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। वह अतिशय विभूतिसम्पन्न मण्डलेश्वर राजा था। एक बार फाल्गुनी अष्टान्हिका मे

आठवां भव

सिद्धचक्र विधान कराया। उसी समय विपुलमति नामक मुनिराज पधारे। आनन्द ने मुनिराज की वन्दना करके उनसे धर्मोपदेश सुना। मुनिराज ने जिनेन्द्र प्रतिमा और जिन-मन्दिर के माहात्म्य का वर्णन करते हुए उन्हें पुण्य-बन्ध का समर्थ साधन बताया तथा इसी सन्दर्भ में उन्होने सूर्य-मन्दिर में स्थित जिन-मन्दिर की विभूति का वर्णन किया। आनन्द उससे इतना प्रभावित हुआ कि वह दोनों समय सूर्य-विमान मे स्थित जिन-प्रतिमाओं की स्तुति करने लगा। उसने कलाकारो द्वारा श्रद्धावश मणि और स्वर्ण खचित सूर्य-विमान बनवाया और उसके भीतर अत्यन्त कान्तिमान जिन-मन्दिर बनवाया। राजा को सूर्य की पूजा करते देखकर प्रजाजन भक्तिपूर्वक सूर्यमण्डल की स्तुति करने लगे। भारतवर्ष में सूर्योपासना तभी से प्रचलित होगई।

एक दिन राजा आनन्द ने दर्पण में मुख देखते हुए सिर मे एक सफेद बाल देखा। यौवन की क्षणभगुरता देखकर उसे ससार, शरीर और भोगो के प्रति निर्वेद होगया। उसने अपने पुत्र को राज्य देकर समुद्रगुप्त नामक मुनिराज के पास मुनिदीक्षा लेली। उन्होने चारो आराधनाओ की आराधना कर परम विशुद्धि प्राप्त की और ग्यारह अंगों का अध्ययन करके सोलह कारण भावनाओ का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे उन्हे पुण्य रूप तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होगया। वे नाना प्रकार के तप करते हुए अन्त मे प्रायोपगमन सन्यास लेकर क्षीरवन मे प्रतिमायोग से विराजमान हुए। कमठ का जीव नरक की घोर यातनाये सहन करता हुआ मरकर उसी वन में सिंह बना। सिंह ने मुनिराज को देखते ही भयकर गर्जना की और एक ही प्रहार मे उन्हे प्राणरहित कर दिया।

---

१. श्वेताम्बर लेखको के अनुसार लक्ष्मीमती।

२. पुष्पदन्त कृत महापुराण के अनुसार वज्रबाहु। वादिराज के अनुसार चक्रनाभ और पद्मकीर्ति के अनुसार चक्रायुध।

३. श्वेताम्बर लेखको ने कुलिशबाहु नाम दिया है जो समानार्थक है।

४. हेमचन्द्र ने सुदर्शणा और हेमविजय गणि ने सदर्शणा दिया है।

५. देवभद्रसूरि आनन्द के स्थान पर कनकबाहु, हेमचन्द्र और हेमविजय गणि सुवर्णबाहु, पद्मकीर्ति कनकप्रभ नाम का प्रयोग करते हैं और उसे चक्रवर्ती मानते है। कविवर रइधू ने नाम तो आनन्द ही दिया है किन्तु उसे चक्रवर्ती माना है।

नौवाँ भव आनन्द मुनि सिंह के उपसर्ग को शान्तिपूर्वक सहन कर सन्यास मरण द्वारा अच्युत[1] स्वर्ग के प्राणत विमान में इन्द्र बने। वहाँ पर उसकी बीस सागर की आयु थी। कमठ का जीव सिंह पर्याय समाप्त करके रौद्र परिणामो के कारण नरक[2] मे गया।

इस भरत क्षेत्र में काशी नामक देश में वाराणसी नामक नगर था। उसमे काश्यप गोत्री राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ब्राह्मी था। जब उस अच्युतेन्द्र की आयु के अन्तिम छह माह शेष रह गये तो देवों ने महाराज अश्वसेन के महलो मे रत्न वर्षा की। वैशाख कृष्ण द्वितीया को प्रात काल के

गर्भकल्याणक समय विशाखा नक्षत्र में रानी ब्राह्मी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसके बाद अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। प्रात. काल के मगल वाद्यो के कारण महारानी की नीद खुल गई। उन्होने मंगल अभिषेक किया और वस्त्राभूषण पहनकर वे अपने पति के पास पहुँची। पति ने उनकी अभ्यर्थना की और उन्हें अपने वाम पार्श्व मे स्थान दिया। महारानी ने रात्रि मे देखे हुए स्वप्न बताकर उनका फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान द्वारा जानकर कहा—'देवि ! पुण्योदय से तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर आज अवतरित हुए है।' पति से स्वप्नो का फल सुनकर महारानी का रोम-रोम हर्ष से भर गया। महारानी के गर्भ में अच्युतेन्द्र आयु पूर्ण होने पर अवतरित हुआ। उसी समय समस्त इन्द्रो और देवो ने आकर बडे हर्ष से स्वर्गावतरण की वेला मे भगवान के माता-पिता का कल्याणाभिषेक करके गर्भकल्याणक का उत्सव मनाया। देवो ने गर्भ के नौ मास तक अर्थात् गर्भ मे आने के छह माह पूर्व से भगवान के जन्म पर्यन्त—पन्द्रह माह तक माता-पिता के प्रासाद मे रत्न-वर्षा करके भगवान के प्रति अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति की।

पार्श्वनाथ के माता-पिता के नामो के सम्बन्ध में जैनग्रन्थो मे एकरूपता नही मिलती। उत्तरपुराण में माता-पिता का नाम ब्राह्मी और विश्वसेन दिये गये है। पुष्पदन्त ने उत्तरपुराण का ही अनुकरण किया है किन्तु वादिराज ने माता का नाम ब्रह्मदत्ता बताया है। पद्मकीर्ति और रइधू ने पिता का नाम अश्वसेन के स्थान

पार्श्वनाथ के माता, पिता, वंश और जन्म-तिथि पर हयसेन दिया है। अश्व और हय समानार्थक है, सभवतः इसलिये यह नाम विपर्यय किया गया है। तिलोयपण्णत्ती मे माता का नाम वर्मिला तथा पद्मचरित मे वर्मादेवी दिया गया है। समवायाङ्ग और आवश्यक निर्युक्ति में पिता का नाम आससेण और माता का नाम वामा मिलता है। अनेक श्वेताम्बर आचार्यो ने इन्ही का अनुकरण किया है।

पार्श्वनाथ के वश के सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ती मे हमें जो सूचना प्राप्त होती है, उसके अनुसार वे उग्रवश के थे। उत्तरपुराणकार उन्हे काश्यप गोत्री बताते है। आवश्यक निर्युक्ति मे भी उन्हे काश्यप गोत्र का बताया है। पुष्पदन्त पार्श्व को उग्रवशी बताते है। देवभद्रसूरि, हेमचन्द्र तथा कई श्वेताम्बर आचार्यो ने उन्हे इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न माना है। किन्तु समवायाङ्ग, कल्पसूत्र, वादिराज और पद्मकीर्ति ने उनके वश का स्पष्ट उल्लेख नही किया।

यदि गहराई से विचार किया जाय तो कोई मतभेद प्रतीत नही होता। जैन शास्त्रो के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने जिन चार वशो की स्थापना की थी, उनमें एक उग्रवश भी था। काशी के महाराज अकपन को यह वश दिया गया था। मूलत. तो एक इक्ष्वाकुवश ही था। ऋषभदेव स्वय इक्ष्वाकुवश के थे। लगता है, ये चारो वश इक्ष्वाकु वश के ही भेद थे। अतः उग्रवश भी इक्ष्वाकुवश का ही भेद था।

वृहदारण्यक उपनिषद् मे गार्गी और याज्ञवल्क्य का एक संवाद मिलता है। उसमे गार्गी ने काशी और विदेह-वासी को उग्रपुत्र कहा है—'काश्यो वा वैदेहो वा उग्रपुत्र।' इसमें काशी के निवासी को उग्रपुत्र बताया है। उग्रपुत्र का अर्थ सभवतः उग्रवशी होगा। इसी प्रकार बौद्धजातकों में ब्रह्मदत्त के सिवाय वाराणसी के छह राजा और बतलाये है—उग्गसेन, धनंजय, महासीलव, सयम, विस्ससेन और उदयभद्दा इनमे दो नाम उल्लेखनीय है—उग्गसेन और विस्ससेन। संभवतः उग्गसेन (उग्रसेन) से उग्रवश की स्थापना हुई। उसी वश में विस्ससेन (विश्वसेन) उत्पन्न हुए। विष्णुपुराण

१. कई जैनाचार्यों ने आनत के स्थान पर प्राणत, वैजयत, दशम कल्प या चौदहवा कल्प लिखा है।

२. आचार्यों मे नरक के नाम के सम्बन्ध मे साधारण सा मतभेद है। विभिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं, जैसे तमप्रभ, पंकप्रभा, धूमप्रभा। कुछ ने नरक का नाम न देकर केवल नरक या रौद्र नरक लिख दिया है।

और वायुपुराण में ब्रह्मदत्त के उत्तराधिकारियों में योगसेन, विश्वकसेन और भल्लार के नाम दिये गये है। पुराणो के विश्वसेन, बौद्धजातको के विस्ससेन और उत्तर पुराण के विश्वसेन एक ही थे, ऐसा प्रतीत होता है। यदि यह सत्य है तो उत्तर पुराण में पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन और उन्हे उग्रवश का बताया है, वह वास्तविकता के अधिक निकट है।

पार्श्वनाथ की जन्म नगरी वाराणसी के सम्बन्ध मे सभी जैन ग्रन्थकार एकमत है। किन्तु उनको जन्म-तिथि के सम्बन्ध मे साधारण सा मतभेद है। तिलोयपण्णत्ती मे उनको जन्म-तिथि पौष कृष्णा एकादशी बताई है, किन्तु कल्पसूत्र मे पौष कृष्णा दशमी बताई है। दिगम्बर ग्रन्थकारो ने तिलोयपण्णत्ती का अनुकरण किया है और श्वेताम्बर ग्रन्थकारो ने कल्पसूत्र का। किन्तु दोनो ही परम्पराये उनके जन्म-नक्षत्र विशाखा के बारे मे एकमत है।

नौ माह पूर्ण होने पर पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनिल योग मे महारानी ब्राह्मी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र असाधारण था और तीनो लोको का स्वामी था। उस पुत्र के पुण्य प्रताप से इन्द्रो के आसन कम्पायमान होने लगे।

भगवान का जन्म कल्याणक

उन्होने अवधिज्ञान से तीर्थंकर भगवान के जन्म का समाचार जान लिया। तब इन्द्रो और देवो ने आकर सुमेर पर्वत पर उस अतिशय पुण्य के अधिकारी बालक को लेजाकर उसका महाभिषेक किया। इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रक्खा। दिगम्बर परम्परा मे तीर्थंकरो का नामकरण इन्द्र ने किया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा मे 'पार्श्व' यह नाम इन्द्र ने न रखकर माता-पिता ने रक्खा, यह माना जाता है। आवश्यक निर्युक्ति १०८ आदि श्वेताम्बर ग्रथो मे यह नाम घटनामूलक बताया जाता है। घटना इस प्रकार है कि जब पार्श्वनाथ गर्भ मे थे, तब वामादेवी ने पार्श्व (बगल) मे एक काला सर्प देखा, अत बालक का नाम पार्श्व रक्खा गया।

पार्श्वनाथ का जन्म नेमिनाथ के बाद <u>८३७५० वर्ष व्यतीत हो जाने पर</u> हुआ था। उनकी आयु सौ वर्ष की थी। उनके शरीर का वर्ण धान के छोटे पौधे के समान हरे रग का था। उनका शरीर नौ हाथ ऊँचा था। वे उग्रवंश में उत्पन्न हुये थे।

पार्श्वनाथ द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढते हुए जब सोलह वर्ष के हुए, तब वे अपनी सेना के साथ वन बिहार के लिये नगर के बाहर गये। वन मे उन्होने देखा कि एक वृद्ध तपस्वी पचाग्नि तप कर रहा है। यह तपस्वी

पार्श्वनाथ और महीपाल तपस्वी

महीपाल नगर का राजा महीपाल था जो पत्नी-वियोग के कारण साधु बन गया था। स्मरण रहे, यह कमठ का ही जीव था और भव-भ्रमण करता हुआ महीपाल राजा हुआ था और अब घर द्वार छोड़कर तपस्वी बन गया था। पार्श्वनाथ जन्मजात अवधिज्ञानी थे। वे उस तपस्वी के पास ही जाकर खडे हो गये, उन्होने तपस्वी को नमस्कार करना भी उचित नही समझा। यह बात तपस्वी को अत्यन्त अभद्र लगी। वह सोचने लगा—मै तपोवृद्ध हूँ, वयोवृद्ध हूं, इसका नाना हूं किन्तु इस अहंकारी कुमार ने मुझे नमस्कार तक नही किया' यह सोचकर वह बहुत क्रुद्ध हुआ और बुझती हुई आग मे लकडी डालने को लकडी काटने के लिये कुल्हाडी उठाई। तभी अवधिज्ञानी कुमार पार्श्वनाथ ने यह कहते हुए उसे रोका कि इस लकडी को मत काटो, इसमे सर्प है।' किन्तु वह साधु नही माना और लकड़ी काट डाली। लकडी के साथ उसके भीतर रहने वाले सर्प-सर्पिणी के दो टुकड़े हो गये। पार्श्वकुमार यह देखकर बोले—तुझे अपने इस कुतप का बड़ा अहकार है किन्तु तू नही जानता कि इस कुतप से इस लोक और परलोक मे कितना दुःख होता है। मैं तेरी अवज्ञा या अनादर नही कर रहा, किन्तु स्नेह के कारण समझा रहा हूं कि अज्ञान तप दुःख का कारण है।' यह कह कर मरते हुए सर्प-सर्पिणी के पास बैठकर पार्श्वकुमार ने अत्यन्त करुणार्द्र होकर उन्हे णमोकार मत्र सुनाया और उन्हे उपदेश दिया, जिससे वे दोनो अत्यन्त शान्ति और समतापूर्वक पीडा को सहते हुए प्राण त्याग कर महान् वैभव के धारी नागकुमार जाति के देवो के इन्द्र-इन्द्राणी धरणेन्द्र और पद्मावती हुए। उधर तपस्वी महीपाल अपने तिरस्कार से क्षुब्ध होकर अत्यन्त क्रोध करता हुआ मरा और सम्बर नामक ज्योतिष्क देव हुआ।

पार्श्वकुमार का विवाह ?—भगवान पार्श्वनाथ का विवाह हुआ या नही, इस सम्बन्ध मे दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा मे मतभेद है। दिगम्बर परम्परा के सभी आचार्य इस विषय मे एकमत है और उनकी मान्यता

हैं कि पार्श्वनाथ का विवाह नही हुआ और वे कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित हुए। श्वेताम्बर परम्परा में इस विषय में दो मत हैं। इन दो मतों के आधार पर श्वेताम्बर आचार्य दो वर्ग मे विभाजित हो गये है। एक वर्ग, जो प्राचीन परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, उसका मत है कि पार्श्वनाथ अविवाहित रहे और कुमार वय में प्रव्रजित हुए। दूसरे वर्ग का मत इसके विरुद्ध है और पार्श्वनाथ को विवाहित स्वीकार करता है।

यहाँ दोनों परम्पराओं की मान्यताओं का उल्लेख करना अत्यन्त रुचिकर होगा।

दिगम्बर परम्परा—आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती में बताया है कि—

णेमीमल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि॥ ४।६७०।

अर्थात् भगवान नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पाच तीर्थकरो ने कुमारकाल मे और शेष तीर्थकरो ने राज्य के अन्त मे तप को ग्रहण किया।

यतिवृषभ की इस परम्परा में पद्मचरित, उत्तरपुराण, महापुराण, सिरिपासनाह चरिउ और पासचरिय जैसे सभी दिगम्बराम्नाय के शास्त्र सम्मिलित है। सभी ने पार्श्वनाथ का कुमार प्रव्रजित स्वीकार किया है।

इस परम्परा के पद्मकीर्ति ने पासनाहचरिउ मे पार्श्वनाथ के विवाह का प्रसग तो उठाया है, किन्तु विवाह हुआ नही। पद्मकीर्ति ने यवनराज के साथ पार्श्वनाथ के युद्ध का वर्णन किया है। कुशस्थल का राजा रविकीर्ति या भानुकीर्ति था जो पार्श्वनाथ का मामा था। जब उसके पिता शक्रवर्मा रविकीर्ति के ऊपर राज्य-भार सौंपकर जिन-दीक्षा लेकर चले गये तो राज्य को निर्बल जानकर यवनराज ने एक दूत भेजकर रविकीर्ति से कहलाया कि तुम अपनी कन्या प्रभावती का विवाह मेरे साथ कर दो और मेरी आधीनता स्वीकार करो, अन्यथा तुम्हे अपने प्राणों से हाथ धोना पडेगा। रविकीर्ति ने सहायता के लिये वाराणसी नरेश हयसेन के पास अपना दूत भेजा। पिता की आज्ञा लेकर पार्श्वकुमार सेना सहित कुशस्थल पहुँचे। वहाँ यवनराज के साथ उनका भयानक युद्ध हुआ। इसमे पार्श्वनाथ की विजय हुई। पश्चात् रविकीर्ति ने अपनी कन्या प्रभावती का विवाह पार्श्वकुमार के साथ कर देने का विचार किया। पार्श्वकुमार ने भी अपनी स्वीकृति देदी। किन्तु तभी वे वन में आश्रम के तापसो को देखने गये। वहा कमठ तापस ने मना करने पर भी लकडी काटी। उसमे सर्प-सर्पिणी की मृत्यु हो गई। इसे देखकर पार्श्व कुमार को वैराग्य हो गया और उन्होने दीक्षा लेली।

पद्मकीर्ति ने सभवत यह प्रसग विमलसूरि के पउमचरिउ से उधार लिया है। पउम चरिउ में जनक की राजधानी यवनराज द्वारा घिर जाने पर जनक ने दशरथ को सहायता के लिये सदेश भेजा। दशरथ ने राम को युद्ध के लिए भेजा। राम ने जाकर यवनो से युद्ध किया और उसमे विजय प्राप्त की। जनक ने राम के साथ अपनी पुत्री सीता का विवाह कर दिया। सभवत इसी प्रसग से प्रेरणा प्राप्त करके पद्मकीर्ति ने रविकीर्ति और पार्श्वकुमार की घटना का उद्घाटन किया और प्रभावती के विवाह का प्रसग निरूपित किया।

इस घटना का उल्लेख देवभद्रसूरि ने भी किया है। देवभद्रसूरि और पद्मकीर्ति के विवरण में अन्तर भी है और वह अन्तर यह है कि देवभद्रसूरि के अनुसार कुशस्थल के राजा का नाम प्रसेनजित है, जबकि पद्मकीर्ति के अनुसार कुशस्थल के राजा का नाम रविकीर्ति है। देवभद्रसूरि ने पार्श्व को युद्ध से बचा लिया और पार्श्व और प्रभावती का विवाह करा दिया। पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर लेखको ने देवभद्रसूरि का ही अनुकरण किया है। किन्तु पद्मकीर्ति के अतिरिक्त अन्य किसी दिगम्बर आचार्य ने न तो इस घटना का उल्लेख ही किया है और न पार्श्वनाथ के विवाह का समर्थन ही किया है।

श्वेताम्बर परम्परा—श्वेताम्बर सम्मत 'समवायाग सूत्र' न०१९ मे आगारवास का उल्लेख करते हुए १९ तीर्थकरो का घर मे रहकर और भोग भोगकर दीक्षित होना बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि शेष पाच तीर्थंकर कुमार अवस्था में ही दीक्षित हुए थे। इसी आशय का समर्थन इस सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति मे किया है। उन्होने लिखा है—शेषास्तु पच कुमार भाव एवेत्याह' यह लिखकर 'वीर अरिट्ठणेमी' नामक गाथा उद्धृत की है।

'स्थानांग सूत्र' के ४७१ वें सूत्र में पांच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित लिखा है।

'आवश्यक निर्युक्ति' गाथा नं० २४३-२४४ में पाच तीर्थकरो को कुमार प्रव्रजित लिखा है। वे गाथायें इस प्रकार है—

'वीरं अरिट्ठनेमि पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ।।२४३।।
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया ।।२४४।।

इन गाथाओ में बतलाया गया है कि महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ और वासुपूज्य ये पाच तीर्थंकर राजवशों, विशुद्धवशो और क्षत्रियकुलो मे उत्पन्न हुए थे। वे न विवाहित हुए, न उनका राज्याभिषेक हुआ बल्कि वे कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए।

इसी प्रकार गाथा न० २४८ में भी इसी आशय की पुष्टि की है। वह इस प्रकार है—

'वीरो अरिट्ठणेमी पासो मल्लीवासुपुज्जो य।
पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिम वयंसि ।।२४८।।

इसमें बताया है कि ये पाच तीर्थकर प्रथम वय मे प्रव्रजित हुए और शेष पश्चिम वय मे।

इसके टीकाकार मलयगिरि ने इसकी टीका करते हुए बताया है कि—'**प्रथमवयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिताः, शेषाः पुन ऋषभस्वामि प्रभृतयो 'मध्यमें वयसि' यौवनत्वलक्षणे वर्तमानाः प्रव्रजिता.**।'

पश्चात्कालीन टीकाकारो ने 'कुमार प्रव्रजित' का अर्थ 'जिन्होने राजपद प्राप्त नही किया' यह किया है। समवायांग सूत्र मे कुमार शब्द का अर्थ अविवाहित ब्रह्मचारी किया है। आवश्यक निर्युक्तिकार को भी कुमार शब्द का यही अर्थ अभिप्रेत था, जिसे उन्होने 'गामायारा विसया निसेविता जे कुमार वज्जेहि' इस गाथा द्वारा पुष्ट किया है। इसमें बताया है—कुमार प्रव्रजितो को छोडकर अन्य तीर्थकरो ने भोग भोगे।

श्वेताम्बर मुनि कल्याण विजय जी ने 'श्रमण भगवान महावीर' नामक पुस्तक के पृष्ठ १२ पर इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार के आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'यद्यपि पिछले टीकाकार 'कुमार प्रव्रजित' का अर्थ 'राजपद नही पाए हुए' ऐसा करते है। परन्तु आवश्यक निर्युक्ति का भाव ऐसा नही मालूम होता। निर्युक्तिकार 'ग्रामाचार' शब्द की व्याख्या मे स्पष्ट लिखते है कि 'कुमार प्रव्रजितो को छोड अन्य तीर्थकरो ने भोग भोगे।' (गामायारा विसया ते भुत्ता कुमाररहिएहि) इस व्याख्या से यह ध्वनित होता है कि आवश्यक निर्युक्तिकार को 'कुमार प्रव्रजित' का अर्थ 'कुमारावस्था में दीक्षा लेने वाला' ऐसा अभिप्रेत है।'

इसी प्रकार प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० दलसुख मालवणिया 'स्थानाग - समवायाग' (पृ०३८) पर विचार करते हुए कुमार शब्द का अर्थ बाल ब्रह्मचारी करते है और दिगम्बरो की अविवाहित मान्यता को साधार मानते हैं। वे लिखते है—

'समवायाग मा ओगणीसनो आगारवास (नहि के नृपतित्व) कहे नार सूत्र मूकीओ, तो प्रेम ज कहेयुं पड़े छे के त्यां कुमारनो अर्थ बाल ब्रह्मचारीज लेवो जोईए, अने वाकीनानो विवाहित, आ प्रमाणे दिगम्बरोनी मान्यताने पण आगमिक आधार छे जो एम मानवु पड़े छे।'

इन सब प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन श्वेताम्बर साहित्य में पाच तीर्थंकरों को अविवाहित ही स्वीकार किया गया है।

श्वे० आगमसाहित्य में सर्वप्रथम 'कल्पसूत्र' में इन तीर्थंकरों के विवाह की कल्पना की गई है और उसी का अनुसरण देवभद्र सूरि, हेमचन्द्र आदि पश्चात्कालीन श्वेताम्बर आचार्यों ने किया और कई टीकाकारों ने समवायांग, स्थानांग और आवश्यक निर्युक्ति की मूल भावना के विरुद्ध शब्दों को तोडकर अपनी निजी मान्यतापरक अर्थ किया। उदाहरण के तौर पर आवश्यक निर्युक्ति की गाथा २४४ के 'ण इत्थियाभिसेया' पद का अर्थ 'अभिषेक

की इच्छा नहीं की' किया है। कुछ तो इससे भी दो कदम आगे बढ गये और उन्होने 'इत्थियाभिसेया' के स्थान पर 'इच्छियाभिसेया' यह संशोधित पद लिखकर अपनी मान्यता की पुष्टि की।

पार्श्वनाथ का वैराग्य और दीक्षा—पार्श्वनाथ जब तीस वर्ष के हुए, तब एक दिन अयोध्या के राजा जयसेन ने भगली देश में उत्पन्न हुए घोड़े आदि की भेंट के साथ अपना दूत पार्श्वनाथ के पास भेजा। पार्श्वनाथ ने भेंट स्वीकार करके राजदूत का यथोचित सम्मान किया और उससे अयोध्या की विभूति के बारे में पूछा। राजदूत ने भगवान ऋषभदेव और उनकी अयोध्या के वैभव का वर्णन करते हुए वर्तमान अयोध्या की श्रीसमृद्धि का वर्णन किया। भगवान ऋषभदेव की चर्चा सुनकर पार्श्वनाथ गहरे चिन्तन मे डूब गये—मुझे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो अवश्य हुआ, किन्तु उससे क्या लाभ हुआ। मैंने अब तक आत्मकल्याण नही किया। धन्य है भगवान ऋषभदेव, जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया। मैंने अब तक जीवन व्यर्थ खोया, किन्तु अब मुझे जीवन के एक-एक क्षण को आत्म कल्याण के लिये समर्पित करना है।

यह विचार आते ही उनके मन में देह और भोगो के प्रति निर्वेद उत्पन्न हो गया। उन्होने घरवार छोड़कर संयम धारण करने का निश्चय कर लिया। तभी लौकान्तिक देव आये और उन्होने प्रभु के विचार की सराहना की और प्रार्थना की—'भगवन्! अब तीर्थ-प्रवर्तन की वेला आ पहुँची है। अज्ञान तप और हिंसा मे आस्था रखने वाले मानव को आपके मार्ग-दर्शन की आज आवश्यकता है। प्रभो! सन्तप्त प्राणियो पर दया करे।' इस प्रकार प्रार्थना करके भगवान को नमस्कार किया और वे अपने स्थान को लौट गये।

तभी इन्द्र और देवो ने आकर भगवान का कल्याण अभिषेक किया और भगवान को वस्त्राभरणों मे अलकृत किया। भगवान ने माता-पिता और परिजनों से दीक्षा लेने की अनुमति ली और देव निर्मित विमला नामक पालकी में विराजमान होकर अश्व वन मे पहुँचे। वहाँ तेला का नियम लेकर एक शिलातल पर उत्तराभिमुख होकर पर्यङ्कासन से विराजमान हो गये और 'ॐ नम सिद्धेभ्य' कहकर केशलुचन किया और तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षा लेली। उस दिन पौष कृष्णा एकादशी का प्रात. काल का समय था। इन्द्र ने भगवान के पवित्र केशों को रत्न मजूषा मे रक्खा और क्षीरसागर में उनका क्षेपण कर दिया। दीक्षा लेते ही भगवान ने सामायिक चारित्र धारण किया और विशुद्धता के कारण चतुर्थ मन पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

भगवान पारणा के दिन आहार के लिये गुल्मखेट नगर में गये। वहाँ श्याम वर्ण वाले धन्य राजा ने नवधा भक्तिपूर्वक भगवान को पडगाह कर परमान्न आहार दिया। देवो ने पचाश्चर्य किये—शीतल सुगन्धित पवन बहने लगी, सुरभित जल की वृष्टि हुई, देव-दुन्दुभि हुई, देवों ने पुष्प-वर्षा की और जय-घोष किया-धन्य यह दान, धन्य यह दाता और धन्य यह सुपात्र। भगवान आहार लेकर बिहार कर गये।

पार्श्वनाथ के वैराग्य का कारण क्या था, इस सम्बन्ध में तीन मत मिलते हैं। एक तो उत्तर पुराण का मत जो ऊपर दिया गया है। इस परम्परा में पुष्पदन्त है। दूसरा मत है पद्मकीर्ति का, जिन्होने कमठ तापस के साथ घटित घटना तथा सर्पों की मृत्यु को पार्श्वनाथ के वैराग्य का कारण बताया है। हेमचन्द्र ने इसी परम्परा का अनुकरण किया है। तीसरा मत है वादिराज का जिन्होने पार्श्वनाथ की स्वाभाविक विरक्त प्रवृत्ति को मुख्य आधार माना है। देवभद्र सूरि, भावदेव सूरि और हेमविजय गणि ने वसन्त ऋतु में उद्यान मे नेमिनाथ के भित्तिचित्रों को देखकर पार्श्वनाथ को वैराग्य हुआ माना है। किन्तु उत्तर पुराणकार की मान्यता है कि जब पार्श्वनाथ कमठ तापस से मिले थे, उस समय पार्श्वनाथ की आयु केवल सोलह वर्ष की थी और उन्होने तीस वर्ष की आयु में दीक्षा ली। ऐसी दशा में कमठ की घटना उनके वैराग्य का कारण नहीं बन सकती थी।

भगवान को दीक्षा लिए हुए चार माह व्यतीत हो गये। तब उन्होने जिस वन में दीक्षा ली थी, उसी वन में जाकर देवदारु वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वे सात दिन का योग लेकर ध्यानमग्न हो गए। तभी सम्बर देव अपने विमान द्वारा आकाशमार्ग से जारहा था। अकस्मात् उसका विमान रुक गया। देव ने अपने विभगावधि ज्ञान से देखा तो उसे अपने पूर्वभव का वैर स्मरण हो आया। वह क्रोध में फुकारने लगा। उसने भीषण गर्जन तर्जन करके प्रलयंकर वर्षा करना प्रारंभ कर दिया। फिर उसने प्रचण्ड गर्जन करता हुआ पवन प्रवाहित किया। पवन इतना प्रबल वेग से बहने लगा, जिसमें वृक्ष,

सम्बर द्वारा पार्श्वनाथ के ऊपर घोर उपसर्ग

नगर, पर्वत तक उड़ गए। जब इतने पर भी पार्श्वनाथ ध्यान से विचलित नही हुए, तब वह अधिक क्रोधित होकर नाना प्रकार के भयंकर शस्त्रास्त्र चलाने लगा। वे शस्त्र तप के प्रभाव से तीर्थंकर के शरीर पर पुष्प बनकर गिरते थे। जब घातक शस्त्र भी निष्फल हो गये, तब सम्बर ने माया से अप्सराओं का समूह उत्पन्न किया। कोई गीत द्वारा रस संचार करने लगी, कोई नृत्य द्वारा वातावरण मे मादकता उत्पन्न करने लगी। अन्य अप्सरायें नाना प्रकार के हाव भाव और चेष्टाये करने लगी। किन्तु आत्म ध्यानी वीतराग पार्श्व जिनेन्द्र अन्तर्विहार में मग्न थे, उन्हें बाह्य का पता ही नही था। किन्तु देव भी हार मानने वाला नही था। उसने भयानक रौद्रमुखी हिंसक पशुओ द्वारा उपसर्ग किया, कभी भयंकर भूत-प्रेतों की सेना द्वारा उत्पात किया; कभी उसने भीषण उपल वर्षा की। उसने पार्श्वनाथ पर अचिन्त्य, अकल्प्य उपद्रव किये, सारी शक्ति लगादी उन्हे पीड़ा देकर ध्यान से विचलित करने की किन्तु वह धीर वीर महायोगी अविचल रहा। वह तो बाह्य से एकदम निर्लिप्त, शरीर से निर्मोह होकर आत्म रस में विहार कर रहा था।

सम्बर के द्वारा किये गये भयानक उपसर्गों की निष्फलता का सजीव चित्रण करते हुए आचार्यप्रवर सिद्धसेन दिवाकर ने 'कल्याण मदिर' स्तोत्र में लिखा है—

'प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषादुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१॥

अर्थात्, हे नाथ! उस दुष्ट कमठ ने क्रोधावेश में जो धूल आपके ऊपर फेंकी, वह आपकी छाया पर भी आघात नही पहुँचा सकी।

इस प्रकार उस दुष्ट सम्बर देव ने सात दिन तक पार्श्वनाथ के ऊपर घोर उपसर्ग किये। यहाँ तक कि उसने छोटे मोटे पर्वत तक लाकर उनके समीप गिराए। अवधिज्ञान मे यह उपसर्ग जानकर नागेन्द्र धरणेन्द्र अपनी इन्द्राणी के साथ वहाँ आया। वह फणा रूपी मण्डप से सुशोभित था। धरणेन्द्र ने भगवान को चारो ओर से घेरकर अपने फणो के ऊपर उठा लिया। पद्मावती देवी भगवान के ऊपर वज्रमय छत्र तानकर खडी हो गई

आचार्य पद्मकीर्ति ने 'पासनाह चरिउ' मे इस घटना का सजीव वर्णन करते हुए कुछ ऐसा विवरण उपस्थित किया है जो संभवत किसी जैन ग्रन्थ में उपलब्ध नही होता। यद्यपि वह विवरण परम्परा के अनुकूल नहीं है, किन्तु वह है अत्यन्त रोचक। अतः पाठको की जानकारी के लिये यहाँ दिया जा रहा है—

'घोर और भीषण उपसर्ग करने वाले तथा विपुल शीतल जल की वृष्टि करने वाले असुर की लगातार सात रात्रियाँ व्यतीत हुई, तब भी उसका मन द्वेष रहित नही हुआ। घनो द्वारा बरसाया गया जल ज्यो-ज्यो गिरता था, त्यो-त्यो वह जिनेन्द्र के कन्धे तक पहुँचता था। जब जल जिनेन्द्र के कन्धे को पार कर गया तब धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ। उसने तत्काल ही अवधि ज्ञान का प्रयोग किया और समस्त कारण की जानकारी की। जिसके प्रसाद से मुझे नीरोगता और देवत्व की प्राप्ति हुई, उसके ऊपर महान् उपसर्ग उपस्थित है। वह उसी क्षण नाग-कन्याओ से घिरा हुआ चल पडा। मणि किरणो से शोभित तथा मन मे मान धारण किये हुए वह नाग पाताल से निकला तथा मगल ध्वनि करता हुआ और नागकन्याओ से घिरा हुआ तत्काल वहाँ आया। उसने जल में विकसित कमल निर्मित किया। उस कमल पर नागराज अपनी पत्नियो के साथ आरूढ़ हो गया।

नागराज ने जिनवर की प्रदक्षिणा दी, दोनो पाद-पकज में प्रणाम किया तथा वन्दना की। फिर उसने जिनेन्द्र को जल से उठाया। उसने जिनवर के दोनों चरणो को प्रसन्नता से अपनी गोदी मे रखा तथा तीर्थंकर के मस्तक के ऊपर अपना लहलहाता हुआ विशाल फण-मण्डप फैलाया। वह सात फणों से समन्वित था। उस नाग ने फणों के द्वारा पटल को छिद्र रहित बनाया और आकाश से गिरते हुए जल का अवरोध किया। आकाश से जैसे जैसे जल गिरता था, वैसे वैसे वह कमल बढ़ता जाता था। असुर ने नागराज और उसकी पत्नियों को देखा, वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर नागराज से बोला—'मेरे साथ कलह करना तुम्हारे लिये उपयुक्त नही है। मैं तुम्हारे और अपने इस शत्रु के सिर पर अभी बज्र पटकता हूँ।' यह कहकर उसने भीषण बज्र फेंका। नागराज ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तब उसने परशु, भाला और शर समूह छोड़ा। वे भी नागराज के पास तक नही पहुँचे। तब वह पर्वत शिखरों से

फण मण्डप को कुचलने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु इससे नागराज तनिक भी विचलित नही हुआ। असुर के पास जो भी भीषण शस्त्र थे, उन सबको उसने फेंका।

तभी पद्मावती देवी धवल छत्र धारण किये हुए आकाश में प्रगट हुई। महासुर कमठ जिस विशाल और भयंकर शस्त्र को छोडता, वह जल रूप परिवर्तित होजाता या नभ में चक्कर लगाता या उसके सौ-सौ टुकड़े हो जाते। तभी शुक्ल ध्यान में लीन रहनेवाले पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की प्राप्ति होगई। इसी समय कमठासुर के मन में भय के साथ-साथ महान् चिन्ता उत्पन्न हुई। तभी सुरेश्वरो के आसन कम्पायमान हुए। भवनवासियो के भवनो मे शख स्वयं बज उठे। ज्योतिष्क देवों के भवनों में सिह-गर्जना होने लगी। कल्पवासी देवों के गृहो में घण्टे बजने लगे। व्यन्तर देवो के आवासो में पट-पटह स्वयं बजने लगे। वे सब विमानों मे आरूढ़ होकर मन और पवन की गति से चले और वहाँ आये, जहाँ जिनेन्द्र विराजमान थे।

इसी समय इन्द्र ने रौद्र जल देखा मानो वन मे भीषण समुद्र हो। उसे देखकर सुरेन्द्र मन में विस्मित हुआ। उसे ज्ञात हो गया कि कमठासुर ने उपसर्ग किया है। उसने क्रोधयुक्त होकर महायुध बज्र को आकाश मे घुमाकर तथा पृथ्वी पर पटक कर छोडा। उस असुर देव का साहस छूट गया, वह तीनो लोको मे भागता फिरा। वह नभ मे भागने लगा, समुद्र मे घुस गया। किन्तु वह जहाँ भी गया, वही पर बज्र जा पहुँचा। तब वह कही त्राण न पाकर जिनेन्द्र की शरण मे आया और उन्हे प्रणाम किया। उसी क्षण वह महासुर भयमुक्त होगया, बज्र भी कृतार्थ हो नभ मे चला गया। सुरेन्द्र भगवान के समीप आया। उसने भगवान की तीन प्रदक्षिणाए दी और जिनेन्द्र के चरणो में वन्दना की। उसने समवसरण की रचना की। इसी समय कमठासुर ने जिनवर के चरणो में सिर रखते हुए प्रणाम किया। उसने बार-बार भगवान की स्तुति की और सम्यक्त्व ग्रहण करके दस भवो के वैर का त्याग किया।'

भगवान के शुक्ल ध्यान के प्रभाव से उनका मोहनीय कर्म क्षीण होगया, इसलिये कमठ शत्रु का सब उपसर्ग दूर होगया। पार्श्वप्रभु ने द्वितीय शुक्ल ध्यान के द्वारा अवशिष्ट तीन घातिया कर्मों को भी जीत लिया, जिससे उन्हे चैत्र कृष्णा चतुर्दशी के दिन प्रातःकाल के समय विशाखा नक्षत्र में लोक-अलोक को

केवलज्ञान कल्याणक प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की।

सम्बर नामक ज्योतिष्क देव भी काललब्धि पाकर शान्त हो गया और उसने सम्यग्दर्शन सम्बन्धी विशुद्धता प्राप्त करली। यह देख उस वन मे रहने वाले सातसौ तपस्वियो ने सयम धारण कर लिया वे सम्यग्दृष्टि होगये और भगवान पार्श्वनाथ के चरणो में नमस्कार किया। ये सातसौ तपस्वी महीपाल तापस के शिष्य थे। उन्होने भगवान पार्श्वनाथ के चरणों में जिन-दीक्षा लेली। आचार्य समन्तभद्र ने भी 'स्वयभूस्तोत्र'[1] की पार्श्वनाथ स्तुति में सातसौ तापसो द्वारा दिगम्बर दीक्षा लेने का उल्लेख किया है।

इसी समय गजपुर नरेश स्वयभू को ज्ञात हुआ कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। वह अपने परिजनों के साथ वैभवपूर्वक वहाँ आया। जिनेन्द्र की परम ऋद्धि को देखकर उसका मन प्रव्रज्या पर गया। जिनवर को प्रणाम कर उसने उसी क्षण दीक्षा लेली। त्रिलोकीनाथ ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। वहाँ उनका प्रथम उपदेश हुआ। मुनि स्वयम्भू भगवान के प्रथम गणधर बने। स्वयम्भू के साथ उनकी कुमारी कन्या प्रभावती ने आर्यिका दीक्षा लेली। वह भगवान के आर्यिका सघ की मुख्य गणिनी हुई।

कल्लुरगड्डु ग्राम (जिला शिमोगा, मैसूर) में सिद्धेश्वर मन्दिर के पास एक शिलालेख सन् ११२२ का उपलब्ध हुआ है। उसमें बताया है कि जब भगवान नेमिनाथ का निर्वाण हुआ, उस समय गगवंशी राजा विष्णुगुप्त अहिच्छत्र में राज्य कर रहा था। उसने इन्द्रध्वज पूजा की। उसकी स्त्री पृथ्वीमती थी। उसके दो पुत्र थे—भगदत्त और श्रीदत्त। भगदत्त कलिंग देश पर और श्रीदत्त अहिच्छत्र पर राज्य कर रहा था। जब भगवान पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हुआ, तब इस राजा के वशज प्रियबन्धु ने भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में आकर पूजा की। तब इन्द्र ने प्रसन्न होकर इस राजा को पाच आभूषण दिये और अहिच्छत्रपुर का नाम विजयपुर रखा।

---

१. यमीश्वर वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषव.।
बनौकस: स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥१३४॥

भगवान पार्श्वनाथ का चतुर्विध संघ—भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में स्वयम्भू आदि १० गणधर थे। ३५० मुनि पूर्व के ज्ञाता, १०६०० शिक्षक, १४०० अवधिज्ञानी, १००० केवलज्ञानी, १००० विक्रियाऋद्धिधारी, ७५० मनःपर्ययज्ञानी और ६०० वादी थे। इस प्रकार कुल १६००० मुनि थे। सुलोचना[1] आदि ३६००० आर्यिकायें थी। इनके अतिरिक्त १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें तथा असंख्यात देव-देवियाँ और सख्यात तिर्यंच थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान पार्श्वनाथ देश के विभिन्न क्षेत्रों में विहार करके ६६ वर्ष ७ माह तक धर्मोद्योत करते रहे। जब उनकी आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे छत्तीस मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर जाकर प्रतिमा योग धारण कर विराजमान होगये। अन्त मे श्रावण शुक्ला सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय अघातिया कर्मों का क्षय करके मुक्त हो गये। तभी इन्द्रो ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक का उत्सव किया।

पार्श्वनाथ और सम्बर के भवान्तर

भगवान पार्श्वनाथ जन्म-जन्मान्तरो की निरन्तर साधना के द्वारा ही भगवान बने। उन पूर्व जन्मो का विवरण जानना रुचिकर होगा। वे पहले मरुभूति मन्त्री बने, फिर सहस्रार स्वर्ग मे देव बने। वहाँ से आकर वे विद्याधर हुए। तब अच्युत स्वर्ग मे देव हुए। आयु पूर्ण होने पर वे वज्रनाभि चक्रवर्ती हुए। वहाँ छह खण्डो का राज्य-वैभव और भोगो का उपभोग करते हुए आयु पूर्ण होने पर मध्यम ग्रैवेयक मे अहमिन्द्र बने। देव पर्याय के पश्चात् वे आनन्द नामक राजा हुए। इसी पर्याय में उन्होने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। अन्त में समाधिमरण करके वे आनत स्वर्ग के इन्द्र बने। इन्द्र पद का भोग करते हुए भी वे भोग में लिप्त नही हुए, अपितु उनका अधिक समय धर्म-श्रवण, तीर्थंकरो के उपदेश-श्रवण, तीर्थ-वन्दन आदि मे ही व्यतीत होता था। जब उनकी आयु समाप्त हुई, तब वे काशी मे अश्वसेन के पुत्र पार्श्वनाथ हुए। इस प्रकार उनकी जो साधना मरुभूति के जन्म मे प्रारम्भ हुई थी, वह पार्श्वनाथ के रूप मे पूर्ण हुई।

इस आध्यात्मिक अभ्युदय के विरुद्ध नैतिक अधःपतन का एक घिनौना व्यक्तित्व कमठ के रूप में उभरा, जिसने पार्श्वनाथ के विभिन्न जन्मो में उनसे अकारण वैर करके उनका अहित करने का प्रयत्न किया किन्तु वे अपनी आध्यात्मिक साधना की बुलन्दी पर चढ़ते गये और अन्त मे कमठ का वह अवाछनीय व्यक्तित्व पार्श्वनाथ की शरण में आकर एकदम निखर उठा। तब उसने क्षुद्रता का बाना उतार फेंका। क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति भी विवेक जागृत करके अपने जीवन की सुधार सकता है, कमठ का इतिहास इसका एक समर्थ उदाहरण है। मरुभूति के जीवन मे उसी के सहोदर कमठ ने विष घोलने का प्रयत्न किया। यहाँ तक कि सहोदर के स्नेह मे आकुल मरुभूति को अविवेकी और क्रोधान्ध कमठ ने पत्थर द्वारा मार दिया। मरुभूति तो मरकर देव बना अपने शान्त परिणाम के कारण, किन्तु दुष्ट कमठ अपने ही क्रोध मे जलकर मरा और कुक्कुट सर्प बना। वहाँ आयु पूरी करके पाँचवें नरक मे उत्पन्न हुआ। वहाँ से निकल कर वह अजगर बना। वह क्रोध के कारण पुनः नरक मे गया। आयु समाप्त होने पर वह भील हुआ। फिर नरक मे पहुँचा। तब वहाँ से आकर सिंह बना। फिर नरक मे गया। वहाँ से निकलने पर वह महीपाल राजा बना और तपस्या करके सम्बर देव हुआ। किन्तु इतने जन्मो के बाद भी सस्कार के रूप मे पाले हुए क्रोध और वैर के कारण उसने भगवान पार्श्वनाथ को दुःख पहुँचाने के अथक और अनेक प्रयत्न किये। पार्श्वनाथ तो अपनी असीम धीरता, शान्ति और क्षमा द्वारा वीतरागता के साकार स्वरूप बनकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये। सम्बर अपने दैवी बल की निस्सारता का अनुभव करके पार्श्वनाथ के चरणो मे आ गिरा और रो रोकर, प्रायश्चित द्वारा अपने जन्म जन्मान्तरो से सचित क्रोध और वैर के मैल को आसुओ के रूप में बहाता रहा। हिंसा अहिंसा के सामने हार मान गई, उसने सदा ही हार मानी है और यह अहिंसा का ही प्रभाव है कि क्षुद्र सम्बर का हृदय-परिवर्तन हुआ।

भगवान पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम धरणेन्द्र और यक्षिणी का नाम पद्मावती है। तीर्थंकरों के शासन देवों और शासन देवियो में ये दोनो ही सर्वाधिक प्रसिद्ध है, विशेषतः पद्मावती की ख्याति सबसे अधिक है। यही

---

१. पासनाहचरिउ के अनुसार मुख्य आर्यिका का नाम प्रभावती था।

यक्ष-यक्षिणी

कारण है कि शासन देवो और देवियो की उपलब्ध मूर्तियो मे पद्मावती देवी की मूर्तियो की सख्या सर्वाधिक है। यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि पद्मावती की मूर्तियो मे सबसे अधिक वैविध्य मिलता है। सभवत. इसका कारण यही रहा है कि पद्मावती की बहुमान्यता के कारण कलाकारो ने कल्पना से काम लिया है। शास्त्रानुसार दिगम्बर परम्परा मे धरणेन्द्र और पद्मावती का रूप इस प्रकार मिलता है—

धरणेन्द्र का रूप—

ऊर्ध्वद्विहस्तधृतवासुकिरुद्भटाधः सव्यान्यपाणिफणिपाशवरप्रणन्ता।
श्रीनागराजककुदं धरणोऽभ्रनीलः, कूर्मश्रितो भजतु वासुकिमौलिरिज्याम् ।।

अर्थ– नागराज के चिन्हवाला भगवान पार्श्वनाथ का शासनदेव धरणेन्द्र नामक यक्ष है। वह आकाश के वर्ण वाला, कछुए की सवारी वाला, मुकुट मे सर्प के चिन्ह वाला और चार भुजाओ वाला है। उसके ऊपरी दोनो हाथो मे सर्प तथा नीचे के बाये हाथ म नाग पाश तथा दायाँ हाथ वरदान मुद्रा मे है।

पद्मावती देवी का रूप इस प्रकार बताया है—

देवी पद्मावती नाम्ना रक्तवर्णा चतुर्भुजा।
पद्मासनाङ्कुशं धत्ते स्वक्षसूत्र च पङ्कजम् ।।
अथवा षड्भुजादेवी चतुर्विशति सद्भुजाः।
पाशासिकुन्तवालेन्दु - गदामुसलसयुतम् ।।
भुजाषट्क समाख्यातं चतुर्विशतिरुच्यते।
शङ्खासिचक्रवालेन्दु-पद्मोत्पल शरासनम् ।।
शक्ति पाशाङ्कुश घण्टां बाण मुसलखेटकम्।
त्रिशूल परशुं कुन्त वज्रमाला फल गदाम् ।।
पत्र च पल्लवं धत्ते वरदा धर्मवत्सला।

अर्थ–पार्श्वनाथ तीर्थंकर की शासनदेवी पद्मावती देवी है। वह लाल वर्ण वाली, कमल के आसन वाली और चार भुजाओ मे अकुश, माला, कमल और वरदान मुद्रा है। अथवा वह छह अथवा चौबीस भुजा वाली भी होती है। छह हाथो मे पाश, तलवार, भाला, बालचन्द्र, गदा और मूसल धारण करती है। तथा चौबीस हाथो मे क्रमश शख, तलवार, चक्र, बालचन्द्र, सफेद कमल, लाल कमल, धनुष, शक्ति, पाश, अकुश, घण्टा, बाण, मूसल, ढाल, त्रिशूल, फरशा, भाला, वज्र, माला, फल, गदा, पत्र, पत्र गुच्छक और वरदान मुद्रा होती है।[1]

आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार पद्मावती कुक्कुट सर्प की सवारी करने वाली है तथा कमल के आसन पर बैठती है। उसके सिर के ऊपर सर्प के तीन फणो वाला चिन्ह होता है।

पद्मावती कल्प मे चार भुजाओ मे पाश, फल, वरदान और अकुश होते है।

श्वेताम्बर ग्रथ निर्वाणकालका, आचार दिनकर आदि के अनुसार पार्श्वनाथ तीर्थंकर के यक्ष का नाम 'पार्श्व' है। वह हाथी के मुख वाला, सिर के ऊपर सर्प फण, कृष्ण वर्ण वाला और चार भुजा वाला है। उसके दोनो दाये हाथो मे बिजौरा और साप होता है (आचार दिनकर म गदा) तथा बाये हाथो मे नेवला और सर्प धारण करता है। श्वेताम्बर ग्रन्थो मे उसकी सवारी कुक्कुट सर्प बताई है।

इसी प्रकार पार्श्वनाथ की यक्षी का नाम पद्मावती है। वह सुवर्ण वर्ण वाली, कुक्कुट सर्प की सवारी और चार भुजाओ वाली है। उसके दाये हाथो मे कमल और पाश है तथा बाये हाथो मे फल और अकुश होते है। (आचार दिनकर के अनुसार बाये हाथो मे पाश और कमल होते है।)

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थो मे पद्मावती देवी का जो उपर्युक्त स्वरूप बतलाया है, उसके अनुरूप पद्मावती देवी की कुछ मूर्तियाँ अवश्य मिलती है, किन्तु परम्परा से हटकर भी अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध होती है। कुछ

१ ठक्कुर फेरु कृत वास्तुसार प्रकरण

मूर्तियाँ अष्टभुजी, बारहभुजी और षोडशभुजी भी मिलती है। प्रायः पद्मावती की मूर्तियो के सिर के ऊपर फणावलियुक्त पार्श्वनाथ मूर्ति विराजमान होती है और जो पद्मावती मूर्ति पार्श्वनाथयुक्त नही होती, उसके ऊपर सर्प फण बना होता है। इससे पद्मावती देवी की मूर्ति की पहचान हो जाती है। किन्तु कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ मिलती है, जिनकी एक गोद मे बालक और दूसरी ओर उगली पकड़े हुए एक बालक खड़ा है। बालको को देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि ऐसी मूर्ति अम्बिका देवी की होनी चाहिये। किन्तु सिर पर सर्प फण होने के कारण ऐसी मूर्ति पद्मावती देवी की मानी जाती है। ऐसी अद्भुत मूर्तियाँ देवगढ में मिलती है। इसका एकमात्र कारण कलाकारो की स्वातन्त्र्यप्रियता ही कही जा सकती है। वे बधे हुए ढर्रे से बंधे नहीं रह सके और उन्होने अपनी कल्पना की उड़ान से पद्मावती देवी को नये नये रूप दिये, नये आयाम दिये और नया आकार प्रदान किया। जो व्यक्ति शास्त्रो में उल्लिखित रूप के अनुकूल पद्मावती देवी की अनेक मूर्तियो को देखकर सन्देह और भ्रम में पड जाते है, उन्हे इस तथ्य को हृदयगम करना चाहिये कि कलाकार कोई बन्धन स्वीकार नही करता, वह स्वतन्त्रचेता होता है, स्वातन्त्र्य प्रिय होता है। इसीलिये कलाकारों की नित नवीन कल्पनाओ में से पद्मावती देवी के नानाविध रूप उभर कर आये।

भगवान पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव

भगवान पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावक था। उनकी साधना महान थी। उनकी वाणी ने करुणा, शुचिता और शान्ति-दान्ति का सगम था। उन्होने अपने उपदेशो मे अहिसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इस चातुर्याम सवर पर अधिक बल दिया था। उनके सिद्धान्त सर्वथा व्यावहारिक थे। इसी कारण उनके व्यक्तित्व और उपदेशो का प्रभाव जन-जन के मानस पर अत्यधिक पडा। इतना ही नहीं, तत्कालीन वैदिक ऋषिगण, राजन्य वर्ग और पश्चात्कालीन धर्मनेताओ पर भी गहरा प्रभाव पडा। इतिहासकारो ने उनके धर्म के सम्बन्ध में लिखा है—

"श्री पार्श्वनाथ भगवान का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना यह चातुर्याम सवरवाद उनका धर्म था। इसका उन्होने भारत भर मे प्रचार किया। इतने प्राचीन काल मे अहिसा को इतना सुव्यवस्थित रुप देने का यह सर्वप्रथम उदाहरण है।

"श्री पार्श्वनाथ ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन तीनो नियमो के साथ अहिसा का मेल बिठाया। पहले अरण्य मे रहने वाले ऋषि-मुनियो के आचरण मे जो अहिसा थी, उसे व्यवहार मे स्थान न था। तथा तीन नियमो के सहयोग से अहिसा सामाजिक बनी, व्यावहारिक बनी।"

ठाणाग २०१ अ० के अनुसार उस चातुर्याम मे १ सर्व प्राणातिपात विरति (सव्वाओ पाणाइवायओ वेरमण) २ सर्व मृषावाद विरति (सव्वाओ मुसावायओ वेरमण), ३ सर्वअदत्तादान विरति (सव्वाओ अदत्तादाणाओ वेरमण), ४ सर्व बहिरादान विरति (सव्वाओ वहिद्धदाणाओ वेरमण) ये चार व्रत थे। भगवान महावीर ने चातुर्याम के स्थान पर पच शिक्षिक या पच महाव्रत बतलाये थे। ये पचमहाव्रत चातुर्याम के ही विस्तृत रुप थे। मूल दृष्टिकोण में कोई अन्तर नही था।

"इसी चातुर्याम का उपदेश भगवान पार्श्वनाथ ने दिया था और उन्होने इसी के द्वारा अहिसा का भारतव्यापी प्रचार किया था। ईसवी सन् से आठ शताब्दी पूर्व भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का जो उपदेश दिया था वह काल अत्यन्त प्राचीन है और वह उपनिषद् काल, बल्कि उससे भी प्राचीन ठहरता है[1]।"

भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का प्रभाव अत्यन्त दूरगामी हुआ। उनके बाद जितने धर्म संस्थापक हुए, उन्होंने अपने धर्म सिद्धान्तो की रचना में पार्श्वनाथ के चातुर्यामो से बड़ी सहायता ली। इनमें आजीवक मत के संस्थापक गोशालक और बौद्ध मत के सस्थापक बुद्ध मुख्य हैं। म० बुद्ध के जीवन पर तो पार्श्वनाथ के चातुर्याम की गहरी

१. डॉ० हर्मन जैकोबी (परिशिष्ट पर्व पृ० ६)

छाप थी। वे प्रारम्भ में पार्श्वापत्य अनगार पिहिताश्रव से दीक्षा लेकर जैन श्रमण भी बने थे, इस प्रकार के उल्लेख रत्नकरण्ड श्रावकाचार १-१० आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते है। जैन साहित्य मे बताया गया है कि भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ मे सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर में पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ। वह बहुश्रुत एव शास्त्रज्ञ था। किन्तु मत्स्याहार करने के कारण वह दीक्षा से भ्रष्ट होगया और रक्ताम्बर धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि बुद्ध पार्श्वापत्य सम्प्रदाय मे दीक्षित हुए थे। यह भी कहा जाता है कि वे छह वर्ष तक जैनश्रमण रहे किन्तु तपस्या की कठिनाईयो से घबडा कर उन्होने जैन मार्ग का परित्याग कर दिया। 'दीघ निकाय' मे स्पष्ट उल्लेख है कि मैने जैन श्रमणोचित तप किये, केश लु चन किया।

बौद्ध विद्वान् आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' निबन्ध मे लिखा है—"निर्ग्रन्थों के श्रावक 'वप्प' शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थो का चातुर्याम धर्म शाक्य देश मे प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख कही नही मिलता कि उस देश में निर्ग्रन्थो का कोई आश्रम हो। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण बीच बीच मे शाक्य देश मे जाकर अपने धर्म का उपदेश करते थे।''' तब बोधिसत्व 'उद्रक रामपुत्र का आश्रम छोडकर राजगृह चले गये। वहाँ के श्रमण सम्प्रदाय में उन्हे शायद निर्ग्रन्थो का चातुर्याम सवर ही विशेष पसद आया क्योकि आगे चलकर उन्होने जिस आर्य अष्टागिक मार्ग का प्रवर्तन किया, उसमे चातुर्याम का समावेश किया गया है।"

कोशाम्बीजी ने जिस वप्प शाक्य का उल्लेख किया है, वह बुद्ध का चाचा था[1] और वह पार्श्वनाथ के धर्म का अनुयायी था। इससे स्पष्ट है कि तथागत बुद्ध के कुल पर भी पार्श्वनाथ के धर्म की गहरी छाप थी। बुद्ध उसी धर्म की छाया मे बढे और उस धर्म के सस्कारो ने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला।

उस समय वैदिक सम्प्रदाय मे पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा के लिये हिंसामूलक यज्ञ किये जाते थे तथा शरीर को केवल कष्ट देने को ही तप माना जाता था। किन्तु पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म ने वैदिक धर्मानुयायियो के मानस को झकझोर डाला। वेदो की आधिदैविक मान्यता जनता के मन को सन्तुष्ट नही कर पा रही थी। श्रमण निर्ग्रन्थो का तप यज्ञ आर्यो को अपने पशु यज्ञो की अपेक्षा और अज्ञान तप की अपेक्षा अधिक प्रभावक और आकर्षक प्रतीत होता था। यही कारण था कि महीपाल तपस्वी के सात सौ शिष्यो ने पार्श्वनाथ के चरणो मे आकर श्रमण दीक्षा ले ली। यह अज्ञान तप पर पार्श्वनाथ के श्रमणो के ज्ञान तप की सार्वजनिक विजय थी।

किन्तु इससे भी अधिक प्रभाव पड़ा मूल वैदिक मान्यताओ और विचारधारा पर। यह प्रभाव बडे सहज रूप मे पडा, जिसकी कल्पना दोनो पक्षो मे से किसी ने भी नही की होगी। पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ वनो मे रहते थे। उनके रहने और ध्यान के स्थानो को निषद्, निषदी आदि नामो से पुकारा जाता था। वैदिक आर्य उनके सिद्धान्तो और आचरण से आकर्षित होकर उनका उपदेश सुनने वहाँ जाते थे। उन निषदो के समीप बैठकर उन्होने जो उपदेश ग्रहण किया और प्रकृति के तत्वो की पूजा के स्थान पर अध्यात्म को ग्रन्थो मे गुम्फित किया, उन ग्रन्थो का नाम ही उन्होने आभार की भावना से उपनिषद् रख दिया। निष्पक्ष दृष्टि से उपनिषदो का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपनिषदो मे जिस अध्यात्म की विस्तृत चर्चा की गई है, उसका मूल स्रोत वेद नही, कोई और ही है और वह वस्तुत. पार्श्वनाथ के श्रमणो का उपदेश है।

पार्श्वनाथ ने भारत के अनेक भागो में विहार करके अहिंसा का जो समर्थ प्रचार किया, उससे अनेक अनार्य और आर्य जातियाँ उनके धर्म मे दीक्षित हो गई। नाग, द्रविड़ आदि जातियो मे उनको मान्यता असदिग्ध थी। वेदो और स्मृतियो मे इन जातियो का वेदविरोधी व्रात्य के रूप मे उल्लेख मिलता है।

वस्तुत व्रात्य श्रमण सस्कृति की जैन धारा के अनुयायी थे। इन व्रात्यो मे नाग जाति सर्वाधिक शक्तिशाली थी। तक्षशिला, उद्यानपुरी, अहिच्छत्र, मथुरा, पद्मावती, कान्तिपुरी, नागपुर आदि इस जाति के प्रसिद्ध केन्द्र थे। पार्श्वनाथ नाग जाति के इन केन्द्रो मे कई बार पधारे थे। एक बार वे नागपुर (वर्तमान हस्तिनापुर) मे पधारे।

---

१ अगुत्तर निकाय

वहाँ का एक व्यापारी बन्धुदत्त अनेक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं से गुजरता हुआ एक बार भीलों द्वारा उसके साथियों सहित पकड़ लिया गया और बलिदान के लिये देवता के आगे ले जाया गया। उसकी पत्नी प्रियदर्शना को भील सरदार ने अपने आवास में धर्म-पुत्री के रूप में रक्खा था। प्रियदर्शना को अपने पति के दुर्भाग्य का कुछ भी ज्ञान नहीं था और जब भी उसने भील सरदार से अपने पति के सम्बन्ध में कुछ कहने का प्रयत्न किया, भील सरदार व्यस्तता के कारण उसकी बात नहीं सुन सका। एक दिन सरदार अपनी धर्म-पुत्री को अपने जातीय उत्सव को दिखाने ले गया। उस उत्सव में बन्धुदत्त का बलिदान होना था। बलिदान का क्रूर दृश्य वह न देख सके, इसलिये प्रियदर्शना की आंखो पर पट्टी बाध दी गई। जब उसने देवता के आगे खडे अपने पति को प्रार्थना करते हुए सुना तो उसने पट्टी उतार फेंको और दौडकर अपने पति के साथ खड़ी हो गई तथा वह भी बलिदान के लिये तैयार हो गई। भील सरदार को आखिर बन्धुदत्त और उसके साथियो को छोडना पड़ा। किन्तु भील सरदार के समक्ष समस्या थी कि देवता को नर-मांस के बिना प्रसन्न कैसे किया जाय, जिसका उत्तर बन्धुदत्त ने अहिंसात्मक ढग से दिया और देवता को फल-फूलों से सन्तुष्ट किया। भील सरदार अहिंसा की इस अपरिचित विधि से बडा प्रभावित हुआ। वह बन्धुदत्त के आग्रह से उसके साथ नागपुर गया और वहाँ पधारे हुए भगवान पार्श्वनाथ के दर्शन किये। भगवान का उपदेश सुनकर वह भील सरदार सदा के लिये जैन धर्म और अहिंसा का कट्टर उपासक बन गया। इस प्रकार न जाने कितने व्यक्ति, जातियाँ और प्रदेश पार्श्वनाथ का उपदेश सुनकर उनके धर्म में दीक्षित हो गये।

भगवान पार्श्वनाथ का सर्वसाधारण पर कितना प्रभाव था, यह आज भी बगाल-बिहार-उड़ीसा में फैले हुए लाखों सराको, बगाल के मेदिनीपुर जिले के सद्गोपों, उडीसा के रगिया जाति के लोगों, अलक बाबा आदि के जीवन-व्यवहार को देखने से पता चलता है। यद्यपि भगवान पार्श्वनाथ को लगभग पौने तीन हजार वर्ष व्यतीत हो चुके है और ये जातियाँ किन्हीं बाध्यताओं के कारण जैन धर्म का परित्याग कर चुकी है किन्तु आज भी ये जातियाँ पार्श्वनाथ को अपना आद्य कुलदेवता मानती है, पार्श्वनाथ के उपदेश परम्परागत रूप से इन जातियों के जीवन में अब तक चले आ रहे है। पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों के सस्कार इनके जीवन में गहरी जड जमा चुके है। इसीलिये ये लोग अहिंसा में पूर्ण विश्वास करते हैं, मास-भक्षण नहीं करते, रात्रि-भोजन नहीं करते, जल छानकर पीते है, जैन तीर्थों की यात्रा करते हैं, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर की उपासना करते है, अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करते हैं। जिन प्रान्तो में ये लोग रहते है, वहाँ मासाहार सामान्य बात है, जिस धर्म के ये अनुयायी है, उसमें बलि साधारण बात है, किन्तु ये लोग इतने लम्बे समय से अपने सस्कारो की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते चले आ रहे है। यह उनकी दृढ आस्था और विश्वास का प्रमाण है। यह आस्था और विश्वास उस महापुरुष के प्रति है, जिसने पौने तीन हजार वर्ष पूर्व इन्हे एक प्रकाश दिया था। उस प्रकाश को ये लोग आज तक अपने हृदय में सजा कर रक्खे हुए है। इन जातियों के अतिरिक्त सम्मेद शिखर के निकट रहने वाली भील जाति पार्श्वनाथ की अनन्य भक्त है। इस जाति के लोग मकर सक्रान्ति के दिन सम्मेद शिखर की सभी टोकों की बन्दना करते है और पार्श्वनाथ टोंक पर एकत्रित होकर उत्सव मनाते है, गीत नृत्य करते है।

इन जातियो ने अपने आराध्य पार्श्वनाथ के प्रति अपने हृदय की श्रद्धा और आभार प्रगट करने के लिये सम्मेद शिखर का नाम पारसनाथ हिल रख दिया है और वह नाम अब बहुत प्रचलित हो गया है।

सर्व साधारण के समान राजन्यवर्ग पर भी भगवान पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव था। ऐसे साहित्यिक साक्ष्य और पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध होते है, जिनसे ज्ञात होता है कि गजपुर नरेश स्वयंभू ने भगवान के समीप प्रव्रज्या ग्रहण की; अहिच्छत्र के नगवशी नरेश प्रियबन्धु ने भगवान के दर्शन किये और उनका अनुयायी बना। उस समय जितने व्रात्य क्षत्रिय राजा थे वे पार्श्वनाथ के उपासक थे। जब भगवान शौरीपुर पधारे तो वहाँ का राजा प्रभंजन उनका भक्त बन गया। बाराणसी नरेश अश्वसेन और महारानी वामादेवी ने भगवान के निकट दीक्षा ग्रहण कर ली। बज्जि सघ के लिच्छवी आदि आठ कुल उनके भक्त थे। उस सघ के गणपति चेटक, क्षत्रियकुण्ड के गणपति भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ भी पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के उपासक थे। पाचाल नरेश दुर्मुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित् पार्श्वनाथ के समकालीन थे और पार्श्वनाथ के भक्त थे। पार्श्वनाथके तीर्थ में उत्पन्न हुए कलिंग नरेश

करकण्डु पार्श्वनाथ के अनुयायी थे और उन्होने तेर (जिला उस्मानाबाद) में लयण स्थापित किये और पार्श्वनाथ भगवान की मूर्तियों की स्थापना की।

इस प्रकार अनेक नरेश पार्श्वनाथ के काल में और उनके पश्चात्काल में पार्श्वनाथ को अपना इष्टदेव मानते थे।

भगवान पार्श्वनाथ का बिहार जिन देशों में हुआ था, उन देशो में अ ग, वग, कलिग, मगध, काशी, कोशल, अवन्ति, कुरु, पुण्ड्र, मालव, पाँचाल, विदर्भ, दशार्ण सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, लाट, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, और आभीर आदि देश थे। ऐसे भी प्रमाण मिलते है कि वे तिब्बत[1] में भी पधारे थे। भगवान ने जिन देशों मे बिहार किया था, वहाँ सर्वसाधारण पर उनका व्यापक प्रभाव पडा था और वे उनके भक्त बन गये थे।

उनके लोकव्यापी प्रभाव का ही यह परिणाम है कि तीर्थंकर मूर्तियो में सर्वाधिक मूर्तियाँ पार्श्वनाथ की ही उपलब्ध होती है और उनके कारण पद्मावती देवी की भी इतनी ख्याति हुई कि आज भी शासन देवियों में सबसे अधिक मूर्तियाँ पद्मावती की ही मिलती है।

पार्श्वनाथ की जन्म नगरी-काशी—काशी की तीर्थक्षेत्र के रूप मे प्रसिद्धि सातवे तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल से ही हो गई थी। किन्तु यह सर्वमान्य तीर्थ बना पार्श्वनाथ के कारण। पार्श्वनाथ काशी के वर्तमान भेलूपुरा मुहल्ले में काशी नरेश अश्वसैन की महारानी वामादेवी की पवित्र कुक्षि से उत्पन्न हुए थे। यहाँ पन्द्रह माह तक कुवेर ने रत्न वर्षा की थी। यहीं देवो और इन्द्रो ने उनके गर्भ-जन्म कल्याणको के महोत्सव मनाये थे।

उस काल मे गगा का सम्पूर्ण प्रदेश वानप्रस्थ तपस्वियो का केन्द्र था। वाराणसी तथा गगा-तट के अन्य प्रदेशो मे अनेक प्रकार के तापस नाना नाम रूप धारण करके विचित्र क्रियाओ मे रत रहते थे। नानाविध वेष धारण करने और विचित्र-विचित्र प्रकार की क्रियाये करने का उनका उद्देश्य जनता को अपनी ओर आकर्षित करना और अपने आपको महान तपस्वो सिद्ध करके जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त करना था। उन तापसो की इन क्रियाओं से विवेक और धर्म का कोई सम्बन्ध नही था। होत्तिय तापस अग्निहोत्र करते थे। कोत्तिय भूमि पर सोते थे। पोत्तिय वस्त्र पहनते थे। जण्णई यज्ञ करते थे। थाल अपना सब सामान साथ लेकर चलने थे। हुंवाट्ठ कुण्डिका लेकर चलने थे। दन्तुक्खलिय दात से पीस कर कच्चा अन्न खाते थे। मियतुद्धय जीव हत्या करते थे। इसी प्रकार अंबुवासी बिलवासी, जलवासी, रक्खमूला, सेवालभक्खी आदि न जाने कितने प्रकार के तापस इस क्षेत्र मे सक्रिय थे। इन सबका बडा रोचक और विस्तृत वर्णन श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ 'उववाई सूत्र' मे मिलता है।

उस समय नाग-पूजा और यक्ष-पूजा बहुत प्रचलित थी। इतिहासकारो ने इसके मूल स्रोत और कारणो के सम्बन्ध मे विभिन्न मत प्रगट किये है। कुछ विद्वानो का मत है कि नाग जाति और उसके वीरो के शौर्य की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए नाग-पूजा प्रचलित हो गई। किन्तु नाग-पूजा का यह कोई युक्तियुक्त कारण नही लगता। भारत मे नाग जाति अत्यन्त प्राचीन काल से मिलती है। नाग जाति अत्यन्त सुसस्कृत, समृद्ध और सुन्दर जाति थी। नाग कन्याओ के सौन्दर्य की चर्चा प्राचीन साहित्य में अनेक स्थलो पर मिलती है। रामायण और महाभारत मे अनेक नाग कन्याओ के विवाह की चर्चा आई है। राम-पुत्र लवणाकुश का विवाह एक नाग-कन्या के साथ हुआ था। अर्जुन की दो रानियाँ—चित्राङ्गदा और उलूपी नाग-कन्याये थी। शूरसेन प्रदेश के अधिपति शूर की माता और उग्रसैन की रानी नाग जाति की थी। नाग जाति के उपद्रवो को समाप्त करने के लिए श्रीकृष्ण और अर्जुन ने खाण्डव वन का दाह किया था। उस वन में नाग लोग रहते थे। खाण्डव वन में चारो ओर से आग लगने पर उस वन के बीच मे बसे हुए नागों की बस्तियाँ जलकर भस्म हो गईं और उनके साथ अनेक नाग स्त्री-पुरुष जल मरे। सयोग से उन नागो का सरदार तक्षक उस समय कही बाहर गया हुआ था। जब उसे इस कुटिल षड्यन्त्र का पता चला तो वह क्रुद्ध हो उठा। वह बल-संचय करने के लिए उत्तरापथ की ओर चला गया और विशाल वाहिनी लेकर उसने हस्तिनापुर के ऊपर आक्रमण कर दिया। उस समय हस्तिनापुर में अर्जुन का पौत्र परीक्षित शासन कर रहा था। परीक्षित ने प्रतिरोध करने का प्रयत्न किया। किन्तु सफल नही हो सका और

१. मेजर जनरल फर्लांग

वह तक्षक के हाथों मारा गया। इसका प्रतिशोध परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने बड़ी क्रूरतापूर्वक लिया। उसने नाग जाति का विध्वंस करना आरम्भ कर दिया। नाग जाति के बड़े-बड़े केन्द्र नष्ट हो गये, बड़े-बड़े वीर मारे गये। अन्त में जनमेजय की शर्तों पर दोनों पक्षों मे समझौता हुआ। किन्तु जनमेजय की मृत्यु के पश्चात् नाग जाति एक वार पुन: प्रबल हो उठी और उसने अनेक सत्ता केन्द्र बना लिये। इससे यह तो सिद्ध होता है कि नाग मनुष्य थे, सर्प नही, जैसा कि हिन्दू पुराणो में वर्णन किया गया है। किन्तु इस प्रकार के उल्लेख हमें कहीं नहीं मिलते कि वीर नागों की पूजा भी की जाती थी।

वस्तुत: नाग-पूजा का प्रचलन भगवान पार्श्वनाथ के काल से प्रारम्भ हुआ है। यहां दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि पार्श्वनाथ से पूर्व नाग-पूजा प्रचलित थी, इस प्रकार के उल्लेख किसी पुराण ग्रन्थ में नहीं मिलते। दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि पार्श्वनाथ के जीवन-काल में काशी में नाग-पूजा का अत्यधिक प्रचलन था। यदि हम पार्श्वनाथ के जीवन पर गहराई से विचार करे तो हमें इसका उत्तर सहज ही मिल जाता है। पार्श्वनाथ काशी के ही राजकुमार थे। उनके प्रति जनता के मन में अपार प्रेम और श्रद्धा थी। जनता उन्हें अपना आराध्य मानती थी। उनकी रक्षा धरणेन्द्र ने नाग का रूप धारण करके की थी, भोली जनता ऐसा समझती थी। इसलिये कृतज्ञता प्रगट करने के लिये जनता उस नाग की पूजा करने लगी। काशी में नाग-पूजा के प्रचलन का यही रहस्य था। वहीं से प्रारम्भ होकर नाग-पूजा देश के अन्य भागो मे फैल गई। नाग-पूजा जनता की अत्यधिक श्रद्धा का परिणाम थी। सर्व साधारण की श्रद्धा के आखे नही होती। तब न केवल स्वतन्त्र नाग-पूजा ही चल पडी, वरन् पार्श्वनाथ की मूर्तियो के साथ भी नागेन्द्र जुड़ गया। इसका कारण धरणेन्द्र द्वारा पार्श्वनाथ की रक्षा करने की घटना की स्मृति को सुरक्षित रखना था। यहाँ तक तो कुछ समझ मे आने लायक बात मानी भी जासकती है किन्तु पार्श्वनाथ के साथ नाम-साम्य के कारण सुपार्श्वनाथ की मूर्तियो पर भी सर्प-फण लगाये जाने लगे। जबकि सुपार्श्वनाथ का लाछन स्वस्तिक माना गया है। इसी प्रकार पार्श्वनाथ के समान धरणेन्द्र और पद्मावती की असख्य मूर्तियां बनने लगी। इसे पार्श्वनाथ के प्रति जनता की अतिशय श्रद्धा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

काशी मे यक्ष-पूजा का बहुत प्रचलन था, इसका कारण पार्श्वनाथ के प्रति जनता के असीम प्रेम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नही है। धरणेन्द्र और पद्मावती पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षिणी माने गये है। वे पार्श्वनाथ के अनन्य सेवक माने जाते हैं। एक ओर तो जनता ने उनके नाग रूप की पूजा प्रारम्भ की, दूसरी ओर उनके यक्ष की पूजा की जाने लगी। काशी मे उस समय प्रचलित नाग-पूजा और यक्ष-पूजा का यही रहस्य है और वह पार्श्वनाथ की जीवन घटना के साथ ऐसा सम्बन्धित है कि उन्हे उससे पृथक करके देखना सम्भव नही है।

काशी ऋषभदेव भगवान के काल से ही एक प्रसिद्ध जनपद रहा है। वहा अनेक सास्कृतिक, पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाये हुई है। कर्मयुग के प्रारम्भ में काशी नरेश अकपन की पुत्री सुलोचना के स्वयवर के कारण स्वयवर प्रथा का जन्म हुआ और इस प्रकार काशी ने कन्याओ को अपना मनोभिलषित वर चुनने की स्वतन्त्रता प्रदान करके नारी-स्वतन्त्रता के नये आयाम प्रस्तुत किये। भारत में स्वयवर प्रथा का प्रारम्भ इसी घटना से हुआ है और वह सुदीर्घ काल तक भारत मे प्रचलित रही। इतिहास में सभवत. सयोगिता-स्वयम्वर के पश्चात् यह प्रथा समाप्त हो गई। कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ – विशेषत· मुस्लिम शासको के अनाचार और बलात्कार रहे। किन्तु एक लम्बे समय तक यह प्रथा भारत में लोकप्रिय रही।

नौवे चक्रवर्ती पद्म ने काशी को सम्पूर्ण भारत की राजधानी बनाकर इसे राजनैतिक महत्त्व प्रदान किया।

जैन धर्म के प्रभावक आचार्य समन्तभद्र को यहाँ कड़ी साम्प्रदायिक परीक्षा मे से गुजरना पड़ा था। उनके समक्ष धर्मान्ध नरेश शिवकोटि ने दो विकल्प रक्खे-धर्म-परिवर्तन अथवा मृत्यु। आचार्य के सिर पर नंगी तलवारें तनी हुई थीं। किन्तु उनके समक्ष प्रश्न मृत्यु का नहीं; आत्मश्रद्धा का था। अपने जीवन से भी अधिक उन्हें प्रिय थे वे सिद्धान्त और वह धर्म, जिसके प्रति वे सर्वान्तःकरण से समर्पित थे। उनके मन में भय की तनिक सी भी रेखा नही थी। उनका हृदय तो उन मोहान्ध व्यक्तियों के प्रति अपार करुणा से भरा हुआ था, जिन्हें सत्य और असत्य के बोध

भेद करने की तनिक भी बुद्धि नही थी और जो केवल अपने साम्प्रदायिक आग्रह को ही सत्य का निर्णायक मान बैठे थे। आचार्य उनके कल्याण की कामना मन मे सजोये अपने आराध्य प्रभु के स्तवन में निरत हो गये। एक योगी की उपासना सर्वसाधारण से सर्वथा भिन्न रहती है। उसकी इच्छा-शक्ति के समक्ष निर्जीव पाषाण भी द्रवित हो जाते हैं। महायोगी समन्तभद्र जब चन्द्रप्रभ तीर्थकर की स्तुति कर रहे थे, उनकी इच्छा-शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। उनके मानस नेत्रो के आगे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र विराजमान थे। उनकी रोम-रोम में चन्द्रप्रभ भगवान एकाकार होगये। उनकी महान इच्छा-शक्ति के आगे शिवलिंग के पाषाण का हृदय फूट गया और उसके अन्तर से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रस्फुटित हुई, मानो शिवलिंग के अन्तर में चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र की भक्ति समा नही पाई और उसने जिनेन्द्रप्रभु को अपने शीर्ष पर विराजमान करके अपनी प्रभु-भक्ति को एक आकार प्रदान किया। जब पाषाण का कठोर हृदय प्रभावित होसकता है तो क्या मानवों के हृदय अप्रभावित रह सकते थे। राजा और प्रजा सभी चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र और उनके अनन्य उपासक योगी समन्तभद्र के चरणो में नत होगये और सबने उनसे सत्य की दीक्षा ली। सम्पूर्ण राजा-प्रजा ने एक साथ धर्म-दीक्षा ली हो, ऐसी घटनाये विरल ही है। यह उन विरल घटनाओं मे प्रमुख घटना है और आज भी इस घटना की स्मृति को फटे महादेव अपने भीतर सजोये हुए है, जिनका नाम कुछ समय पूर्व तक समन्तभद्रेश्वर था।

इसी नगर मे सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ था और यही पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने जन्म लिया था। पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके माता-पिता ने भी दीक्षा ले ली।

इस प्रकार यहाँ न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण घटनाये घटित हुईं।

काशी एक समृद्ध नगर था। वह व्यापारिक केन्द्र भी था। जल और स्थल दोनो मार्गों द्वारा भारत के प्रसिद्ध नगरो के साथ काशी जनपद का सम्बन्ध था। काशी से राजगृह, श्रावस्ती, तक्षशिला, वेरजा, और मथुरा तक स्थल मार्ग था। काशी से ताम्रलिप्ति होकर पूर्वी समुद्र के लिये जल मार्ग था। इसीलिये प्राचीन भारत की समृद्ध नगरियो मे काशी की गणना की जाती थी।

वस्तुत काशी जनपद और उसकी प्रमुख नगरी वाराणसी सभी दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण नगरी थी।

पार्श्वनाथ की निर्वाण भूमि— सम्मेद शिखर

सम्मेद शिखर ससार के सम्पूर्ण तीर्थक्षेत्रो मे सबसे महत्त्वपूर्ण तीर्थ है। इसीलिये इसे तीर्थराज कहा जाता है। इसका महत्त्व शास्त्रों मे इतना बताया है—"एक बार बन्दै जो कोई, ताहि नरक पशु गति नही होई।।" सभवतः हिन्दी कवि सम्मेद शिखर का माहात्म्य पूर्ण रूप से प्रदर्शित नही कर सके है। सम्मेद शिखर की वन्दना करने का फल केवलमात्र नरक और पशुगति से ही छुटकारा मिलना नही है, यह तो सभी कल्याणक तीर्थो की वन्दना का फल होता है। सम्मेद शिखर की वन्दना का वास्तविक फल तो यह है कि उसकी एकवार वन्दना और यात्रा करने से परम्परा से ससार के जन्म-मरण से भी छुटकारा मिल जाता है। यहाँ अभव्य और दूरान्दूर भव्य के भाव वन्दना करने के हो ही नही सकते। यदि ऐसा कोई व्यक्ति लोक दिखावे के लिये सम्मेद शिखर की यात्रा के लिये जाता भी है तो उसकी वन्दना नही हो सकती, कोई न कोई बाधा या अन्तराय आ ही जाता है। इस प्रकार के उदाहरण हमे मिलते है।

इसे तीर्थराज कहने का विशेष कारण है। शास्त्रो मे कथन है कि सम्मेद शिखर और अयोध्या अनादि धन तीर्थ है। अयोध्या मे सभी तीर्थंकरो का जन्म होता है और सम्मेद शिखर मे सभी तीर्थंकरो का निर्वाण होता है। किन्तु इस हुण्डावसर्पिणी काल में काल-दोष से इस शाश्वत नियम का व्यतिक्रम होगया। अयोध्या में केवल पाच तीर्थंकरो का ही जन्म हुआ और सम्मेद शिखर मे बीस तीर्थंकरो का निर्वाण हुआ। ऋषभदेव, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीर तीर्थंकर का निर्वाण क्रमशः कैलाश, चम्पापुरी, गिरनार और पावापुरी मे हुआ, शेष तीर्थंकरो का निर्वाण सम्मेद शिखर पर हुआ। इनके अतिरिक्त असख्य मुनियो ने भी यहाँ से मुक्ति प्राप्त की।

बीस तीर्थंकरो ने सम्मेद शिखर से निर्वाण प्राप्त किया, इस प्रकार के उल्लेख सभी जैन शास्त्रो मे मिलते है। शास्त्रीय मान्यता यह भी है कि जहाँ से तीर्थंकरो ने मुक्ति प्राप्त की, उस स्थान पर सौधर्मेन्द्र ने स्वस्तिक बना दिया जिससे उस स्थान की पहचान हो सके। यतिवर मदनकीर्ति ने 'शासन चतुस्त्रिंशिका' नामक ग्रन्थ में यहाँ तक लिखा

है कि सम्मेद शिखर पर सौधर्मेन्द्र ने बीस तीर्थंकरों को प्रतिमाये स्थापित की। वे प्रतिमाये अद्भुत थीं। उनका प्रभा मण्डल प्रतिमाओं के आकार का था। श्रद्धालु भव्य जन ही इन प्रतिमाओ के दर्शन कर सकते थे। जिनके हृदय मे श्रद्धा नही होती थी, वे इस प्रभा-पुंज को देख नही पाते थे।

अनुश्रुति यह भी है कि महाराज श्रेणिक बिम्बसार ने सम्मेद शिखर पर बीस मन्दिर बनवाये थे। इसके पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी में महाराज मानसिंह के मत्री तथा प्रसिद्ध व्यापारी गोधा गोत्रीय रूपचन्द्र खण्डेलवाल के पुत्र नानू ने बीस तीर्थंकरों के मन्दिर बनवाये। नानू के बनवाये हुए वे ही मन्दिर या टोके अब तक वहाँ विद्यमान हैं। मंत्रीवर्य नानू ने इन मन्दिरो (टोंकों) मे चरण विराजमान किये थे।

सम्मेद शिखर जाने के लिये दिल्ली या कलकत्ता की ओर से आने वाले यात्रियो के लिये पारसनाथ स्टेशन पर उतरना सुविधाजनक रहता है। गिरीडीह भी उतर सकते है। ईसरी में तेरहपंथी और बीसपंथी धर्मशालायें बनी हुई हैं। यहाँ चार दिगम्बर जैन मन्दिर है। यहाँ से मधुवन १४ मील है। क्षेत्र की बस और टैक्सियाँ चलती हैं। मधुवन में दिगम्बर जैन तेरहपथी कोठी और बीसपंथी कोठी की विशाल धर्मशालाये, मन्दिर बने हुए है। ये कोठियाँ सम्मेद शिखर की तलहटी में है।

सम्मेद शिखर की यात्रा के लिये दो मार्ग है-नीमियाघाट होकर अथवा मधुवन होकर। नीमियाघाट पर्वत के दक्षिण की ओर है। इधर से यात्रा करने पर सबसे पहले पार्श्वनाथ टोक पडती है। किन्तु मधुवन की ओर से यात्रा करना ही सुविधाजनक है। कुल यात्रा १८ मील की पड़ती है जिसमे ६ मील चढाई, ६ मील टोको की वन्दना और ६ मील उतराई। यात्रा के लिये रात्रि मे प्राय: दो बजे उठकर शौच, स्नानादि से निवृत्त होकर तीन बजे चल देते है। साथ में लाठी और लालटेन लेने से सुविधा रहती है। असमर्थ स्त्री-पुरुष डोली लेते है तथा बच्चो के लिये भील ले लेते है।

मधुवन मे डोली वाले, भील, लाठी, लालटेन आदि मिल जाते है। शौच आदि से यहीं निवृत्त हो लेना चाहिये। यदि मार्ग मे बाधा हो तो मधुवन से २॥ मील चलकर गन्धर्व नाला पड़ता है, यहाँ निवृत्त हो लेना चाहिये। इसके पश्चात् मल, मूत्रादि पर्वत पर जाकर नही करना चाहिये। इसका कारण पर्वत की पवित्रता है। गन्धर्व नाले से कुछ आगे चलने पर दो रास्ते मिलते है। एक रास्ता सीतानाले की ओर जाता है और दूसरा पार्श्वनाथ टोंक को। बाईं ओर के रास्ते पर जाना चाहिये। आगे सीतानाला मिलता है। यहाँ अपनी सामग्री धोलेनी चाहिये एवं अभिषेक के लिये जल ले लेना चाहिये। यहाँ से आगे एक मील तक पक्की सीढियाँ बनी हुई है।

पहाड़ पर ऊपर चढने पर सर्वप्रथम गौतम स्वामी की टोक मिलती है। यहाँ यात्रियों के विश्राम के लिये एक कमरा भी बना हुआ है। टोक से बाये हाथ की ओर मुडकर पूर्व दिशा की १५ टोको की वन्दना करनी चाहिये। भगवान अभिनन्दननाथ की टोक से उतर कर जल मन्दिर मे जाते है। यहा एक विशाल जिन मन्दिर बना हुआ है। उसके चारों ओर जल भरा हुआ है। यहाँ से गौतम स्वामी की टोक पर पहुँचते है, जहाँ से यात्रा प्रारम्भ की थी। इस स्थान से चारों ओर को रास्ता जाता है। पहला जल मन्दिर को, दूसरा मधुवन को, तीसरा कुन्थुनाथ टोंक को और चौथा पार्श्वनाथ टोक को। अत: यहाँ से पश्चिम दिशा की ओर जाकर शेष नौ टोको की वन्दना करनी चाहिये। पर्वत पर श्वेताम्बर समाज ने ऋषभानन, चन्द्रानन आदि टोकें और चरण नवीन बना दिये है। अन्तिम टोक पार्श्वनाथ भगवान की है। यह टोक सबसे ऊँची है और मन्दिर के समान है। यहाँ बैठकर पूजन करनी चाहिये। यहाँ खड़े होकर देखे तो चारो ओर का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोरम प्रतीत होता है। मन में प्रफुल्लता भर जाती है। यात्री यहाँ आकर अपनी सारी थकावट भूल जाता है। यहाँ से वापिस मधुवन को लौट जाते है। कुछ यात्री पर्वत की तीन, सात या इससे भी अधिक वन्दना करते हैं।

सप्तविंशतितम अध्याय

भगवान महावीर

पूर्व भव—भगवान महावीर तीर्थंकर थे किन्तु तीर्थंकर पद तक पहुँचने के लिए जन्म-जन्मान्तरों में साधना को न जाने कितनी ऊबड खाबड घाटियो में से गुजरना पडा । इन घाटिया मे कही वे गिरे, कही सम्हल कर आगे बढ़े । जब एक बार वे अपने पैर जमाकर ठोस भूमि मे सावधानी के साथ खडे हुए और आगे बढना प्रारम्भ किया तो वे साधना की उच्च से उच्चतर भूमिका पर चढते गये और अन्त मे एक दिन अपना लक्ष्य प्राप्त करना उन्होने सुनिश्चित कर लिया । यह लक्ष्य द्विमुखी था—एक मुख था जगत का कल्याण करना और दूसरा मुख था आत्म-कल्याण करना । फिर एक दिन महावीर तीर्थंकर के रूप मे उनका जन्म हुआ । उनका उस नानाविध रूप रग वाली जन्म-परम्परा को जानना अत्यन्त रुचिकर होगा क्योकि उसके जाने बिना एक तीर्थंकर की पूर्व साधना अनजानी रह जायगी और यह भी अनजाना रह जायगा कि तीर्थंकर जैसे महानतम पद की प्राप्ति के लिए कितनी उच्च स्तरीय नैतिक भूमिका और अनवरत आध्यात्मिक प्रयास की आवश्यकता पडती है ।

किसी जीव की पिछली जन्म-परम्परा की कोई आदि नही है । किन्तु जिस जन्म से महावीर के जीव की जीवनदृष्टि मे साधारण सा भी परिवर्तन आया था, उसी जन्म से इस शृखला का प्रारम्भ करते है ।

इस जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र मे सीता नदी के उत्तर किनारे पर पुष्कलावती नामक एक देश था । उसकी पुण्डरीकिणी नगरी मे मधु नामक गहन वन था । उस वन मे भीलो की एक बस्ती थी । पुरूरवा वहाँ के भीलो का सरदार था । कालिका उसकी स्त्री थी । एक दिन पति-पत्नी वन मे घूमने निकले । पुरूरवा ने एक झाड़ी मे दो चमकती हुई आखे देखी । पुरूरवा ने समझा—वहाँ हिरण बैठा है । उसने धनुष पर बाण चढाया और ज्यो ही शर-सधान के लिए उद्यत हुआ, कालिका ने बाण पकड लिया और बोली—'क्या गजब करते हो । वे तो वन देवता है' । पुरूरवा आतक से विजडित हो गया । वह आतकित होकर वन देवता के निकट पहुँचा । दोनो ने वन देवता के चरणो मे झुक कर नमस्कार किया और उनके आगे वन्य फल फूल चढाये । वे वन देवता नही, सागरसेन नामक दिगम्बर मुनि थ । उन्होंने आशीर्वाद दिया-धर्म-लाभ हो । सुनकर भीलराज कुछ आश्वस्त हुआ—'वनदेवता ने मेरा अपराध क्षमा कर दिया है, व मुझसे अप्रसन्न नहीं है । मुनिराज अवधिज्ञानी थे । वे समझ गये—यह सरल प्राणी निकट भव्य है, इसकी मनोभूमि धर्म के बीज डालने के लिये उपयुक्त है । इसमे डाला हुआ बीज अवश्य उगेगा । वे बोले—भीलराज ! यह मनुष्य-जीवन बडा दुर्लभ है, किन्तु तुम हो जो इसे दासता में ही गवाये दे रहे हो ।' दासता की बात सुनकर वह स्वतन्त्रचेता सरदार क्षुब्ध हो उठा । वह कहने लगा—'कौन कहता है कि मैं दास हूं । मै भीलो का सरदार हूँ । इस बन मे कोई पक्षी भी मेरी इच्छा के बिना नही उड सकता ।' मुनिराज मुस्कराये, मानो उषाकाल की कली खिल उठी हो । वे बोले—'ठीक है, तुम भीलो के सरदार हो । किन्तु क्या तुम अपनी तीन अगुल की जीभ के दास नही हो । क्या उसी की तृप्ति के लिये ही तुम जीवो को नही मारते फिरते हो !' सरदार की समझ में यह बात नही आई । वह बोला-'अगर शिकार न करूं तो पेट कैसे भरूं ?' मुनिराज सुनकर बोले—'पेट भरने के लिये प्रकृति ने फल-फूल, अन्न प्रचुर मात्रा में उत्पन्न किये है । क्यो नहीं तुम उनसे पेट भरते हो । पेट भरने का साधन केवल मास ही तो नही है ।' भीलराज असमजस मे पड़ गया । कुछ देर सोचता रहा, फिर बोला—'देवता ! तुम जानते हो, मैं

भीलों का सरदार हूँ। शिकार और हत्या छोड़ दूगा तो सरदार कैसे रहूंगा।' मुनिराज उसकी चिन्ता के अन्तस् को समझ गये। वे कहने लगे—'भव्य! दूसरों को मारने की अपेक्षा अपनी इच्छाओ को मारना कही कठिन है। दूसरों को जीतना आसान है लेकिन खुद को जीतना कठिन है। तू सरदार है अभी सिर्फ भीलो का। अगर तू अपने आपको, अपनी इच्छाओ को जीतले तो तू लोक का सरदार बन जायेगा, तू एक दिन लोकपूज्य बन जायेगा। तू मेरे वचनो पर विश्वास कर। हिसा और मांसभक्षण करना छोड़ दे। तेरा हित होगा।' पुरूरवा और कालिका दोनो ने वन देवता के बचनो पर विश्वास किया और उनके उपदेश को स्वीकार करके शिकार करना और मास खाना छोड़ दिया। वे अहिंसाव्रती बन गये। अब वन्य पशु पक्षी उससे भयभीत नही होते थे, वे निर्भय होकर उसके निकट आ जाते थे। भीलराज के हृदय पर इस परिवर्तन का गहरा प्रभाव पड़ा। वह अधिक निष्ठा से अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने लगा। उसके जीवन का दृष्टिकोण ही बदल गया। आयु पूर्ण होने पर वह प्रथम स्वर्ग मे महर्द्धिक देव हुआ। भील के जीवन में उस जीव ने महान् लक्ष्य के लिये अपनी साधना का प्रारम्भ एक साधारण व्रत से किया था। इसे इस रूप में कहना उचित होगा कि महान प्रासाद के लिये नीव मे एक पाषाण रक्खा। कई जन्मों के ऐसे पाषाणो पर ही तो एक दिन वह महा प्रासाद खड़ा हो सका।

वह देव सामान्य देवो से भिन्न था, उसका आचरण भिन्न था, उसकी रुचि और प्रवृत्ति भिन्न थी। उसके मानस में वन देवता द्वारा पूर्व जन्म मे डाले हुए सस्कार बद्धमूल होकर बढ़ रहे थे। विषय भोग उसे प्रिय न थे, प्रिय था धर्माचरण।

अपनी आयु पूर्ण होने पर वह प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के चक्रवर्ती पुत्र भरत की रानी अनन्तमती के गर्भ से मरीचि नामक पुत्र हुआ। जब ऋषभदेव ने ससार, शरीर और भोगो से विरक्त होकर मुनि-दीक्षा ली तो उनकी देखादेखी और गुरुभक्ति से प्रेरित होकर ४००० राजाओं ने भी मुनिवेष धारण कर लिया। उनमे मरीचि भी था। उसने भगवान ऋषभदेव की जीवन-चर्या को देखकर तपश्चरण करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु जिसकी जड़ नही, वह पेड़ कैसे बनेगा। वह तपश्चरण का भार अधिक समय तक नही सम्हाल सका, सर्दी-गर्मी का कष्ट भी सहन नही कर सका। वह मार्ग से च्युत हो गया और भटक कर उसने स्वतन्त्र मत का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। अपनी तपस्या के बल पर वह ब्रह्म स्वर्ग मे देव बना। वह वहाँ भोगो मे लीन रहने लगा।

देव की आयु पूर्ण होने पर वह अयोध्या मे बेदपाठी कपिल की स्त्री काली से जटिल नामक पुत्र हुआ। इस जन्म मे भी उसने सत्य धर्म के विरुद्ध प्रचार किया। आत्मा को जाने बिना सन्यासी बनकर भी कोई लाभ नही। उसने तपस्या भी की किन्तु उसे आत्मिक लाभ कुछ नही मिल सका। इतना लाभ अवश्य मिला कि यह मरकर सौधर्म स्वर्ग मे देव बना। वह आयु पूर्ण होने पर स्थूणागार नगर मे भरद्वाज ब्राह्मण को पुष्पदत्ता स्त्री से पुष्पपुत्र नामक पुत्र हुआ। यहाँ भी उसने सन्यासी बन कर उसी प्रकृति तत्व का उपदेश दिया। आत्म तत्त्व वह स्वयं नहीं समझता था, फिर वह आत्म तत्व का उपदेश क्या करता। वहाँ आयु पूर्ण होने पर अपनी मन्द-कषाय के कारण पुन: सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। इसके पश्चात् वह सूतिका गांव मे अग्निभूत ब्राह्मण और उसकी स्त्री गौतमी का अग्निसह पुत्र हुआ। वहाँ से वह स्वर्ग मे देव बना। वहाँ से आकर मन्दिर नामक गाँव मे गौतम ब्राह्मण और कौशिकी से अग्निमित्र नामक पुत्र हुआ। यहाँ भी वह परिव्राजक बना। वहाँ से मरकर वह माहेन्द्र स्वर्ग मे देव बना। वहाँ से च्युत होकर वह मन्दिर नगर में शालकायन ब्राह्मण की मन्दिरा स्त्री से भरद्वाज पुत्र हुआ। यहाँ वह त्रिदण्डी बन गया। इस जन्म के पश्चात् माहेन्द्र स्वर्ग मे देव बना। इसके पश्चात् वह अनेक योनियों में भ्रमण करता रहा। फिर एक बार वह राजगृह नगर में वेदज्ञ शाण्डिल्य ब्राह्मण की पारशरी स्त्री से स्थावर नामक पुत्र हुआ। वह परिव्राजक बना और मरकर माहेन्द्र स्वर्ग मे देव हुआ।

वहाँ से च्युत होकर वह राजगृह नगर में विश्वभूति नरेश की जैनी नामक स्त्री से विश्वनन्दी नामक पुत्र हुआ। राजा विश्वभूति के छोटे भाई का नाम विशाखभूति था, लक्ष्मणा उसकी स्त्री थी। उनके पुत्र का नाम विशाखनन्द था। वह मूर्ख था। एक दिन विश्वभूति अपने महल की छत पर बैठा हुआ शरद की शोभा निहार रहा, था। उसने देखा कि आकाश में मेघ का एक टुकड़ा आया। थोड़ी देर में बादल अदृश्य हो गया। इससे राजा को लगा

—संसार के सभी पदार्थ इसी प्रकार क्षणभंगुर है, किन्तु केवल एक ही वस्तु स्थायी है और वह है आत्म तत्त्व। उसी आत्म तत्त्व की प्राप्ति का मैं यत्न करूँगा। वह विरक्त होगया। उसने राज्य-भार अपने भाई को दे दिया और युवराज पद अपने पुत्र को दे दिया। राज्य की व्यवस्था करके उसने मुनि-दीक्षा ले ली और अपने गुरु श्रीधर के सान्निध्य में अन्तर्बाह्य तप करना प्रारम्भ कर दिया।

एक दिन कुमार विश्वनन्दी अपने मनोहर उद्यान मे अपनी स्त्रियों के साथ क्रीडा कर रहा था। विशाखनन्द उस उद्यान को देखकर उस पर मोहित होगया। वह सोचने लगा कि किस प्रकार यह उद्यान मेरा हो। वह अपने पिता के पास गया और उसने अपनी इच्छा प्रगट की कि वह उद्यान मुझे दे दीजिये अन्यथा मैं घर-बार छोड़कर चल दूंगा। पिता ने उसे आश्वासन दिया—तुम चिन्ता न करो, तुम्हे वह उद्यान मिल जायगा। वह विश्वनन्दी को बुलाकर कहा—पुत्र ! मैं विरोधी राजाओ का दमन करने जा रहा हूं। तुम तब तक इस राज्य का भार ग्रहण करो। पितृव्य के वचन सुनकर सुयोग्य पुत्र (भतीजे) विश्वनन्दी ने कहा—पूज्य ! आप यहाँ निश्चिन्त रहिये। मेरे रहते आपको कष्ट करने की आवश्यकता नही। मै विरुद्ध राजाओ का मान मर्दन करके शीघ्र लौटूंगा। मुझे आपका आशीर्वाद चाहिये।'

सरल विश्वनन्दी नही समझ सका कि उसे स्नेह के आवरण में किस प्रकार ठगा जा रहा है। वह सेना लेकर दिग्विजय के लिए चल दिया। उसके जाते ही विशाखभूति ने अपने पुत्र विशाखनन्द को विश्वनन्दी का उद्यान दे दिया। विश्वनन्दी को मार्ग मे ही इस घटना का पता चल गया। उसे बडा क्षोभ हुआ और वह मार्ग से ही लौट आया और अन्यायपूर्ण ढग से उसके उद्यान पर अधिकार करने वाले विशाखनन्द को मारने को उद्यत हो गया। विशाखनन्द कैथ के एक पेड़ पर चढ गया। विश्वनन्दी ने क्रोध मे भरकर उस वृक्ष को जड़ से उखाड़ लिया और उसी वृक्ष को लेकर विशाखनन्द को मारने दौडा। विशाखनन्द अत्यन्त भयभीत होकर वहाँ से भागा और एक पाषाण स्तम्भ के पीछे छिप गया। किन्तु विश्वनन्दी ने मुक्को के प्रहार से उस स्तम्भ को तोड दिया। विशाखनन्द अपने प्राण लेकर वहाँ से फिर भागा। विश्वनन्दी को उसकी करुण दशा पर दया आई और उसने अभय दान देते हुए कहा— डरो मत। विशाखनन्द निर्भय होकर उसके पास लौटा। विश्वनन्दी ने स्नेह प्रदर्शित करते हुए अपना उद्यान भाई को दे दिया। ससार के विचित्र स्वभाव को देखकर उसे ससार से ही विराग हो गया और सम्भूत नामक मुनिराज के समीप मुनि-दीक्षा ले ली। अपने अन्याय के परिणामस्वरूप अपने प्रिय भतीजे द्वारा राज-पाट का त्याग कर मुनि-दीक्षा लेने से विशाखभूति को हार्दिक पश्चाताप हुआ और उसने भी राज्य का परित्याग करके सयम धारण कर लिया।

विश्वनन्दी आत्म-शोधन के लिये घोर तप करने लगा। तप के कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया। एक बार मुनि विश्वनन्दी विहार करते हुए मथुरा पधारे। वे आहार के लिये प्रतिग्रह करने पर एक श्रावक के घर प्रविष्ट हुए। निर्बलता के कारण उनके पैर कॉप रहे थे। उधर विशाखनन्द राज्य पाकर दुर्व्यसनो में आकण्ठ निमग्न हो गया। परिणाम यह हुआ कि उसे राज्यच्युत होना पड़ा। वह राजदूत बन कर मथुरा पहुँचा। वह एक वेश्या की छत पर बैठा हुआ था। तभी एक सद्य प्रसूता गाय के धक्के से मुनि विश्वनन्दी गिर गये। विशाखनन्द यह दृश्य देखकर अट्टहास करता हुआ मुनि का उपहास करने लगा —'पाषाण के स्तम्भ को अपने मुष्टिका प्रहार से चूर करने वाले तुम्हारा वह बल कहाँ गया ?' उसके ये वचन सुनकर और उपहास से कुपित होकर मुनि ने मन मे दुःसकल्प किया—तुने मेरा उपहास उड़ाया है। मै इस अपमान का बदला अवश्य लूंगा। वे यह निदान करके समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हुए और वे महाशुक्र स्वर्ग मे देव हुए। विशाखभूति मुनि भी सन्यास मरण करके उसी स्वर्ग में देव हुए। दोनो देवो में परस्पर बडा प्रेम था। अपनी आयु पूर्ण करके विशाखभूति का जीव सुरम्यदेश के पोदनपुर नगर में प्रजापति नरेश की जयावती रानी से विजय नामक पुत्र हुआ और विश्वनन्दी का जीव उन्ही नरेश की दूसरी रानी मृगावती से त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ। ये दोनों ही भावी बलभद्र और नारायण थे।

विजयार्ध-पर्वत की उत्तर श्रेणी में अलकापुर का नरेश मयूरग्रीव विद्याधरो का अधिपति था। उसकी रानी का नाम नीलाजना था। दुराचारी विशाखनन्द का जीव अनेक योनियों मे जन्म-मरण करता हुआ किसी प्रबल पुण्य-योग से उन दोनों के अश्वग्रीव नामक पुत्र हुआ।

उसी विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल नामक नगर था। उस नगर का अधिपति ज्वलनजटी नामक विद्याधर नरेश था जो अत्यन्त प्रतापी और शूरवीर था। उसने दक्षिण श्रेणी के समस्त विद्याधर राजाओ को अपना वशवर्ती बना लिया था। उसकी रानी का नाम वायुवेगा था। उनके अर्ककीर्ति नामक पुत्र और स्वयप्रभा नामक पुत्री थी। स्वयप्रभा के शरीर में स्त्रियोचित समस्त शुभ लक्षण थे। जब वह विवाह योग्य हो गई तो पिता को उसके विवाह की चिन्ता हुई। उसने निमित्त शास्त्र मे निष्णात अपने सम्भिन्न श्रोता नामक पुरोहित से इस सम्बन्ध मे परामर्श किया। पुरोहित कन्या के ग्रहो और लक्षणो पर विचार करके बोला—सुलक्षणा कन्या प्रथम नारायण की पट्टमहिषी बनेगी और इसके पुण्य प्रताप से आप समस्त विद्याधरो के एकछत्र सम्राट बनेगे।

इधर विजय और त्रिपृष्ठ दोनो भाइयो का प्रभाव दिनो-दिन विस्तृत हो रहा था। अनेक राजा उनके प्रभाव के कारण और अनेक राजा उनके बल-विक्रम के कारण उनके आधीन होते जा रहे थे। लोगो पर यह प्रगट हो गया कि ये दोनों भाई ही इस युग के प्रथम बलभद्र और नारायण है। यह समाचार ज्वलनजटी के कान में भी पहुँचा। उसने इन्द्र नामक मत्री को प्रजापति नरेश के पास अपनी पुत्री स्वयप्रभा का सम्बन्ध स्वीकार करने के लिये भेजा। पोदनपुर नरेश उस समय पुष्पकरण्डक नामक वन मे विहार करने के लिये गये हुए थे। मत्री वन मे उसके पास पहुँचा। उसने लाये हुए उपायन भेट किये, अपने स्वामी का पत्र दिया तथा अपने उचित स्थान पर बैठ गया। पोदनपुर नरेश ने पत्र खोल कर पढा, जिसमे बडे विनय के साथ उन्हे स्मरण दिलाया कि मै विद्याधर नरेश नमि के वश मे तथा आप भगवान ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली के वश मे उत्पन्न हुए है। इन दोनो वशो का वैवाहिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। मेरी पुत्री स्वयप्रभा रमणियो मे रत्न के समान है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि मेरी पुत्री का मगल विवाह कुमार त्रिपृष्ठ के साथ हो। आशा है, आप मेरी इच्छा से सहमत होगे।

महाराज प्रजापति पत्र पढ कर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। उन्होने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति देते हुए कहा—जो मेरे बन्धु को इष्ट है, वह मुझे भी इष्ट है। महाराज ने मत्री का बडा सम्मान करके उसे विदा किया। उसने जाकर अपने स्वामी को यह हर्ष समाचार सुनाया। कुछ समय पश्चात ज्वलनजटी अपने पुत्र अर्ककीर्ति के साथ पोदनपुर आया और उसने अपनी पुत्री स्वयप्रभा का विवाह कुमार त्रिपृष्ठ के साथ बड समारोह के साथ कर दिया तथा कुमार को सिंहवाहिनी और गरुडवाहिनी नामक दो विद्याये प्रदान की।

जब इस विवाह का समाचार अपने गुप्तचरो द्वारा अश्वग्रीव ने सुना तो वह क्रोध से जलने लगा। उसने अस्त्र-शस्त्रो से सुसज्जित सैनिको की एक विशाल सेना लेकर आक्रमण करने के उद्देश्य से कूँच कर दिया। वह रथावर्त नामक पर्वत पर पहुँचा। अश्वग्रीव के आक्रमण की बात सुनकर त्रिपृष्ठकुमार भी चतुरगिणी सेना लेकर शीघ्र हो वहाँ आ पहुंचा। दोनो सेनाये बिगुल बजते ही परस्पर जूझ गई। अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ मे भी भयकर युद्ध छिड गया। अश्वग्रीव तीन खण्ड भूमि की सत्ता का अब तक भोग कर रहा था। अधिकांश नरेश उसके पक्ष मे थे, वह स्वय भी अनेक विद्याओ का स्वामी था। किन्तु त्रिपृष्ठ के सामने उसकी एक न चली। उसने माया युद्ध मे भी त्रिपृष्ठ से पराजय प्राप्त की। तब उसने क्रुद्ध होकर त्रिपृष्ठ पर चक्र चला दिया। किन्तु चक्र उसकी प्रदक्षिणा देकर शीघ्र ही उसकी दाहिनी भुजा पर आकर स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठ ने उसे क्रोधवश शत्रु पर चला दिया। चक्र प्रबल वेग से अग्नि स्फुलिंग बरसाता हुआ शत्रु की ओर आकाश मार्ग से चला। शत्रु-सेना चक्र को आता देखकर भय से विजडित होगई। चक्र ने आते ही अश्वग्रीव का सर धड से अलग कर दिया। अश्वग्रीव की भागती हुई सेना को त्रिपृष्ठ ने अभयदान दिया। इसके पश्चात् वह विशाल सेना लेकर दिग्विजय के लिये निकला और जल्दी हो भरत क्षेत्र के तीनो खण्डों को जीत कर वापिस लौटा। सब नरेशो ने त्रिपृष्ठ को नारायण और विजय का बलभद्र स्वीकार किया। त्रिपृष्ठ ने विजयार्ध पर्वत पर जा कर अपने श्वसुर ज्वलनजटी को दोनो श्रेणियो के विद्याधरो का सम्राट घोषित किया तथा स्वयप्रभा को अपनी पट्टमहिषी के पद पर अभिषिक्त किया।

दोनों भाइयो ने चिरकाल तक राज्य लक्ष्मी का भोग किया। उनमें परस्पर बड़ा प्रेम था। त्रिपृष्ठ बहुत आरम्भ और परिग्रह का धारक होने के कारण मरकर सातवे नरक में नारकी बना।

त्रिपृष्ठ का जीव नरक के भयकर दुःखों का भोग करता हुआ आयु पूर्ण करके गंगा नदी के तटवर्ती सिंह-

गिरि पर्वत पर सिंह बना। वहाँ भी वह निरंतर पाप करता हुआ मरकर पुनः प्रथम नरक में गया। वहाँ दुःख भोगता रहा और अन्त मे वह आयु पूर्ण करके सिन्धुकूट की पूर्व दिशा में हिमवत् पर्वत के शिखर पर देदीप्यमान अयालो वाला सिंह हुआ। एक दिन वह एक हरिण को मारकर खा रहा था। उसी समय चारण ऋद्धिधारी मुनि अजितजय अमितगुण मुनि के साथ आकाश मार्ग से विहार कर रहे थे। उन्होने उस सिंह को देखा। उन्हें तीर्थंकर भगवान के वचनो का स्मरण हो आया। वे दयावश आकाश से उतर कर उस सिंह के निकट पहुँचे। वे शिलातल पर विराजमान होकर गम्भीर स्वर मे उसे सबोधित करते हुए बोले—"बनराज! तू तिर्यञ्च योनि पा कर भी पापों में डूबा हुआ है। क्या तुझे अपने त्रिपृष्ठ जीवन का स्मरण है। तूने नारायण बनकर पाँचो इद्रियो के यथेच्छ भोग भोगे किन्तु तुझे उनसे तृप्ति नही हुई। तू धर्म से विमुख रहा, तुझे सम्यग्दर्शन प्राप्त नही हुआ। परिणामस्वरूप तू सप्तम नरक मे उत्पन्न हुआ। वहाँ तूने घोर मे घोर कष्ट सहे, जलती हुई भयानक अग्नि मे, खौलते हुए तेल मे डाला गया, तपते हुए लोह स्तम्भो के साथ बांधा गया, भयकर यातनाये दी गयी। किन्तु तेरे करुण आक्रन्दनो, दीनता भरे विलापो और याचना भरे वचनो पर किसी ने ध्यान नही दिया, किसी ने तेरी सहायता नही की। किसी ने तुझे शरण नही दी। आयु पूर्ण कर तू भयंकर सिंह बना। उस जीवन मे तूने भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि की यातनाये सही, तुझे व्याध के बाणो, प्रतिद्वन्द्वी सिंहो द्वारा किये गए भयकर प्रहारो से अत्यन्त कष्ट हुआ। किन्तु तुझे वहाँ भी धर्म की सुधि नही आई। वहाँ से मर कर पुन नरक मे गया और नरक के घोर कष्ट सहन किए। वहाँ से निकल कर तू पुन सिंह बना। इस जन्म में भी तू पापो मे लिप्त रहा, स्वय को भूला रहा। अपने अज्ञान और क्रूर परिणामो के कारण तू तत्त्व को नही पहचान पाया। तेरे इन क्रूर परिणामो के नोचे तेरी आत्मा की महान विभूति छिप गई है। तू अपनी विभूति को पहचान, एक दिन तू लोकपूज्य बन जाएगा।"

मुनिराज के इन प्रेरक बचनो को सुनकर उस विकराल सिंह को जाति स्मरण ज्ञान हो गया। मुनिराज ने जिन जन्मों का वर्णन किया था, वे उसके समक्ष मे स्पष्ट हो गए। इन जन्मो मे उठाए हुए भयकर दुःखो का स्मरण करके वह भय से कापने लगा, उसकी आखो से पश्चात्ताप की अश्रुधारा बहने लगी। मुनिराज ने देखा कि अब इसे अपने कृत्यों पर भारी पश्चात्ताप हो रहा है, इसके हृदय पर जमा हुआ पाप अब आसू बनकर बह रहा है। निश्चय ही अब इसके हृदय मे धर्म के बीच अकुरित होंगे। यह विचार कर दयालु मुनिराज पुन कहने लगे—"हे भव्य! पुरूरवा भील क जीवन मे तूने अहिंसा व्रत अगीकार किया था। किन्तु मरीचि के जन्म में तू दिग्भ्रान्त हो गया और अपने पितामह भगवान ऋषभदेव के उपदेशो के विरुद्ध ही विद्रोह कर दिया तथा धर्म से विपरीत उपदेश देने लगा। परिणामस्वरूप तू असख्यात वर्षो तक विभिन्न योनियो मे जन्म-मरण के दुःख उठाता रहा। निमित्त पाकर विश्वनन्दी की पर्याय मे तूने सयम भी धारण किया, किन्तु क्रोध पर विजय न पा सका और निदान बन्ध करके तू त्रिपृष्ठ नारायण हुआ। जो गई सो गई, अब तू अपने भविष्य को सुधार। पापो से हृदय से घृणा हो जाय तो तेरा भविष्य समुज्ज्वल बन जाएगा। भव्य! तेरा भविष्य अवश्य समुज्ज्वल बनेगा, तू दसवे भव मे अन्तिम तीर्थंकर बनेगा। मैंने यह बात श्रीधर तीर्थंकर प्रभु से सुनी है। अब तू मिथ्यात्व से विरक्त होकर आत्म-हित की ओर उन्मुख हो जा।

मुनिराज के इन वचनो को सुनकर सिंह ने उन्हे हृदय से स्वीकार किया। उसने भक्तिपूर्वक मुनि युगल की पाद वन्दना की, उनकी प्रदक्षिणा दी और हृदय से श्रावक के व्रत ग्रहण किए। मुनि-युगल सिंह को आशीर्वाद देकर आकाश-मार्ग से बिहार कर गए। अब सिंह का जीवन एकदम बदल गया। उसने हिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया। वह दया-मूर्ति बन गया। अब हिरण आदि उससे भयभीत नही होते थे।

वह अपने व्रत और शान्त परिणामो के कारण मरकर पहले स्वर्ग में सिंहकेतु नामक महर्द्धिक देव हुआ। वहाँ आयु पूर्ण होने पर वह विदेह क्षेत्र के मगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में कनकप्रभ नगर के अधिपति कनक पुख और उसकी महारानी कनकमाला का कनकोज्वल नामक पुत्र हुआ। जब वह विवाह योग्य हुआ तो उसका विवाह कनकवती नामक राजकुमारी के साथ कर दिया गया। एक दिन वह अपनी स्त्री के साथ वन-विहार के लिए गया। वहाँ उसे प्रियमित्र नामक अवधिज्ञानी मुनि के दर्शन हुए। उसने मुनिराज की भक्ति पूर्वक वदना की और उनकी प्रदक्षिणा देकर वह यथास्थान बैठ गया। भव्य जानकर मुनिराज ने उसे धर्म का स्वरूप समझाया।

मुनिराज के उपदेश को सुनकर उसके हृदय में भोगों के प्रति विराग उत्पन्न हो गया। उसने सभी प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके तत्काल वही सयम धारण कर लिया। सिंह की पर्याय मे उसे धर्म की जो रुचि जागृत हुई थी, वह इस जन्म मे और भी अधिक बढ गयी। वह धर्म-साधना में निरन्तर सावधान रहता था। अन्त मे वह संन्यास मरण करके सातवे स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ भी उसकी प्रवृत्ति धर्म की ही ओर रहती थी। वहाँ आयु पूर्ण होने पर साकेत नगर के नरेश वज्रसेन की शीलवती रानी के हरिषेण नामक पुत्र हुआ। अब तो उसकी दृष्टि ही बदल गई थी। अतः वह भोगो मे आसक्त नही हुआ, अपितु वह अपनी व्रत-साधना को बराबर बढाता रहा। उसे स्वय ही भोगों से अरुचि हो गई और श्रुतसागर मुनिराज के समीप दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। व्रतो की निरन्तर शुद्धि बढ़ाते हुए वह आयु के अन्त में महाशुक्र स्वर्ग मे महर्द्धिक देव हुआ। वहाँ पर तीर्थ बन्दना, तीर्थंकरो का उपदेश श्रवण आदि धार्मिक कृत्यो में ही समय व्यतीत करता था। आयु के अन्त मे इसी धर्म-भाव के साथ मरण करके घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी मे राजा सुमित्र और उसकी रानी मनोरमा से प्रियमित्र नामक पुत्र हुआ। जब उसका राज्याभिषेक हो गया, तब कुछ समय पश्चात् उसके शस्त्रागार मे चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। अपनी विशाल वाहिनी लेकर वह दिग्विजय के लिए निकला। उस चक्ररत्न को सहायता से उसने थोडे ही समय में समस्त पृथ्वी के राजाओ को जीत लिया और वह सम्पूर्ण पृथ्वी का एकच्छत्र सम्राट् चक्रवर्ती बन गया। चक्रवर्ती पद पर रहकर उसने यथेच्छ भोग भोगे किन्तु उसकी तृप्ति नही हो पाई। एक दिन क्षेमंकर भगवान का उपदेश सुनकर इन क्षणभगुर भोगो से विरक्त हो गया। उसने अपने पुत्र सर्वमित्र का राज्याभिषेक करके एक हजार राजाओ के साथ दीक्षा ले ली। मुनिराज प्रियमित्र ने निष्ठापूर्वक महाव्रतो का पालन किया और कर्म क्षय करने के लिए घोर तप करने लगे। आयु समाप्त होने पर सहस्रार स्वर्ग मे सूर्यप्रभ नामक देव हुआ।

वह देव आयु के अन्त मे स्वर्ग से च्युत होकर छत्रपुर नरेश नन्दिवर्धन तथा उनकी रानी वीरवती से नन्द नामक पुत्र हुआ। जन्म से ही उसकी रुचि धर्म की ओर थी। वह घर मे रहकर भी भोगो के प्रति अनासक्त था। वह गृहस्थ दशा में भी अनासक्त कर्मयोग का साधक था। वह राग में भी विराग की उपासना करता रहता था। एक दिन उसने प्रोष्ठिल नामक निर्ग्रन्थ गुरु का उपदेश सुनकर भोगो का त्याग कर दिया और मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होने अल्प समय मे ही ग्यारह अ गो का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसके साथ ही उन्होंने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते रहने और उन्हे जीवन का शृगार बनाने के कारण महापुण्यशाली तीर्थंकर नामक नाम कर्म का बन्ध किया। उनके मन मे आत्म कल्याण की भावना के साथ ससार के दुखी प्राणियो को देखकर यह भावना बनी रहती थी कि मैं इन प्राणियो का दुःख किस प्रकार दूर करू । उनकी लोक-कल्याण की भावना इस सीमा तक बढ गई थी कि वे ससार के सम्पूर्ण प्राणियो मे आत्मौपम्य के दर्शन करने लगे। उनकी साधना सर्वसत्त्व समभाव तक बढ गई थी। इस साधना को विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव कहा जा सकता है। इस मैत्री भाव के कारण वे परम ब्रह्म के अनन्य साधक बन गये। इस साधना के साथ वे चारो प्रकार की आराधनाओ के भी आराधक थे। इसी आराधना को लेकर उन्होने सन्यास मरण किया और वे अच्युत स्वर्ग मे देवेन्द्र बने।

गर्भ कल्याणक

वज्जिसघ का लिच्छवि गणराज्य वैशाली में स्थित था। वह सर्वाधिक शक्तिशाली गणराज्य था। उसके गणप्रमुख महाराज चेटक थे। उनकी बड़ी पुत्री त्रिशला, जिन्हे प्रियकारिणी भी कहा जाता था, वैशाली के उपनगर (अथवा जिला) कुण्डपुर के गणप्रमुख महाराज सिद्धार्थ को व्याही गई थी। उनके राजप्रासाद का नाम नन्द्यावर्त था। वह सात खण्ड का था। जब उपर्युक्त अच्युतेन्द्र की आयु मे छह माह शेष रहे, तब लोकोत्तर विभूति तीर्थंकर महावीर के पुण्यप्रभाव से सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने नन्द्यावर्त प्रासाद और कुण्डपुर नगर में रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ किया जो महावीर के जन्म पर्यन्त अर्थात् पन्द्रह माह तक निरन्तर होती रही। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को जबकि चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र मे था, महारानी त्रिशला सात खण्ड वाले नन्द्यावर्त प्रासाद में हस तूलिका आदि से सुशोभित रत्न पर्यङ्क पर सो रही थी। जब उस रात्रि के रौद्र, राक्षस और गन्धर्व नामक तीन प्रहर व्यतीत हो गये और मनोहर नामक चौथे प्रहर का अन्त होने

का आया, तब उन्होंने अर्ध निद्रित दशा में अत्यन्त शुभपरिणामी सोलह स्वप्न देखे। इन सोलह स्वप्नों मे उन्होने (१) श्वेत ऐरावत गज (२) श्वेत वृषभ (३) आकाश की ओर उछलता हुआ स्वर्ण अयालो वाला शुक्ल वर्ण सिंह (४) कमलासना और स्वर्ण कलशों द्वारा गजो द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी (५) दो सुगन्धित पुष्पमालायें (६) तारावलि मण्डित पूर्ण चन्द्र (७) उदित होता हुआ सूर्य (८) कमल पत्रों से आच्छादित दो स्वर्ण कलश (६) पद्मसरोवर में क्रीडा करती हुई दो मछलियाँ (१०) पद्मसरोवर (११) लहरों से आन्दोलित समुद्र (१२) स्वर्ण का ऊँचा सिंहासन (१३) स्वर्ग का विमान (१४) पृथ्वी को भेदकर निकलता हुआ नागेन्द्र का भवन (१५) दीप्तिमान रत्न राशि और (१६) जलती हुई धूमरहित अग्नि देखी। और अन्त में एक हाथी को मुख मे प्रवेश करते देखा। प्रातःकाल बन्दी जनो के मगल गान को सुनकर महारानी सुख शैया का त्याग कर उठी और स्नानादि से निवृत्त होकर और मगल वस्त्राभूषणो से सुसज्जित होकर वे अपने पति सिद्धार्थ महाराज के पास पहुँची। महाराज ने प्रेमपूर्वक उनकी अभ्यर्थना की और उनके सकेतानुसार वे सिंहासन पर पति के वाम पार्श्व मे आसीन होकर महाराज को रात्रि में देखे हुए स्वप्न सुनाने लगी तथा उनमे इन स्वप्नो का फल पूछा। महाराज ने निमित्तज्ञान द्वारा स्वप्नो के सम्बन्ध मे विचार किया और बोले—'देवि! तुम्हारे गर्भ से लोक का कल्याण करने वाले लोकपूज्य तीर्थंकर का जन्म होगा।' उन्होंने विस्तारपूर्वक एक एक स्वप्न का फल बताया। स्वप्न-फल सुनकर महारानी का मन-मयूर आल्हाद से नृत्य कर उठा—मै लोकपूज्य तीर्थंकर की जननी बनूँगी। तीर्थंकर की जननी बनना स्त्री का सर्वोत्कृष्ट सौभाग्य है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर के कारण उनकी जननी को जगन्माता कहलाने का गौरव प्राप्त होता है।

महारानी ने जब स्वप्नो के अन्त में विशाल धवल गजराज को मुख मे प्रवेश करते हुए देखा, तभी अच्युतेन्द्र अपनी आयु पूर्ण करके गर्भ मे अवतरित हुआ। तीर्थंकर भगवान के गर्भावतरण को अपने ज्ञान द्वारा जानकर इन्द्र और देवगण अत्यन्त भक्ति भावना से कुण्डपुर के राजप्रासाद मे आये। उन्होने दिव्य मणिमयाभूषणो, गन्धमाल्य तथा वस्त्रादिक से जननी का पूजन किया, और अभिषेक किया और गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये। इन्द्र ने माता की सेवा करने के लिए देवियो को नियुक्त कर दिया।

जन्म कल्याणक—नौ माह पूर्ण होने पर उच्च ग्रहो द्वारा लग्न के दृष्टिगोचर होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी सोमवार को उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्र पर चन्द्र की स्थिति होने पर अर्यमा नाम के शुभ योग मे निशा के अन्त भाग मे महारानी त्रिशला ने तीर्थंकर महावीर को जन्म दिया। इन ग्रह नक्षत्रो के आधार पर ज्योतिर्वेत्ताओ ने तीर्थंकर महावीर की जन्म कुण्डली बनाई है जो इस प्रकार है—

जन्म चैत्र सुदी १३ सोमवार, ई० पू० ५६६
नक्षत्र उत्तरा फाल्गुनि, सिद्धार्थी सवत्सर (५३)

राशि—कन्या

महादशा-बृहस्पति | दशा-शनि | अन्तर्दशा-बुध
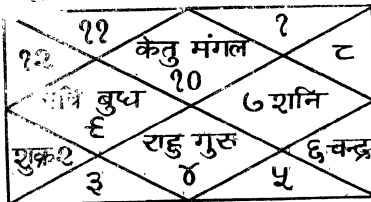
इस जन्म कुण्डली में ग्रह अत्यन्त उच्च दशा में स्थित हैं। इन ग्रहो में उत्पन्न होने वाला बालक निश्चय ही लोकपूज्य महापुरुष होता है। महावीर भी ऐसे महापुरुष थे जिनकी समानता तीर्थंकरो के अतिरिक्त अन्य कोई मानव नही कर सकता। उपर्युक्त अच्युतेन्द्र ही आयु पूर्ण होने पर महारानो त्रिशला के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। जिस समय वह महाभाग बालक उत्पन्न हुआ, उस समय समस्त प्रकृति आनन्द मे भर उठी। दिशायें निर्मल हो गईं। शीतल मद सुरभित पवन बहने लगा। आकाश से फुहारे बरसने लगीं। बदीजन मगल पाठ कर रहे थे। सौभाग्यवती ललनाएं नृत्य कर रही थी। वाद्यो की मगल ध्वनि हो रही थी। मानव समाज हर्षोत्फुल्ल था। तीर्थंकर महावीर जब उत्पन्न हुए थे, उस समय तीनो लोको के जीवो को शाति का अनुभव हुआ था। आल्हाद के इस अवसर पर देव और इन्द्र ही पीछे क्यो रहते। चारो जाति के देव और उनके इन्द्र तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ जानकर भगवान के दर्शन करने और उनका जन्म कल्याणक मनाने के लिए कुण्डग्राम मे एकत्रित हुए।

सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से शची प्रसूतिगृह में गई। उसने जाकर तीर्थंकर प्रभु और माता को नमस्कार किया। शची भक्तिप्लावित नयनो से कभी तीर्थंकर बालक को देखती, जिसका रूप त्रिभुवनमोहन था और जिसके तेज से सारा नन्द्यावर्त्त प्रासाद आलोकित था। फिर वह तीर्थंकर माता की ओर देखती और मन मे सोचती—नारी पर्याय तो इनकी धन्य है, सार्थक है, जिनके गर्भ से त्रिलोकपूज्य बालक ने जन्म लिया है। इससे इनका मातृत्व भी महनीय हो गया है और जो जगन्माता के उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो गई है। कितनी पुण्याधिकारिणी है ये। हे जगन्मात.! तुम्हे लाख बार प्रणाम है, कोटि कोटि प्रणाम है।

तभी शची को भक्ति तरंगित क्षणो मे अपने कर्तव्य का स्मरण हो आया—बाहर असख्य देव देवियां प्रतीक्षारत खड़े है। उसने माता को माया निद्रा मे सुलाकर और उनके बगल मे मायामय बालक सुलाकर लोकवन्द्य प्रभु को अपने अक मे ले लिया। प्रभु का अग स्पर्श होते ही शची का सम्पूर्ण गात रोमाचित हो आया। मन अपूर्व पुलक से भर उठा। प्रभु को पाकर मानो वह अपने को भूल गई। इसी अर्धमूर्च्छित दशा मे बाल प्रभु को लाकर सौधर्मेन्द्र को दे दिया। किंतु उसके गात मे जो स्पर्शजन्य पुलक भर गई, वह तो जैसे सस्कार बनकर गात मे स्थाई बन गई।

इन्द्र ने बाल प्रभु को अक में लिया तो जैसे उसकी भी वही दशा होगई। वह प्रभु के अनिन्द्यरूप को निर्निमेष निहारता रहा किन्तु तृप्ति नही हो पाई। रूप का असीम विस्तार और चक्षुओं की सीमित परिधि! तब उसने हजार नेत्र बनाकर प्रभु की रूप माधुरी का पान करना प्रारम्भ किया। भक्ति की महिमा अचिन्त्य है। फिर इन्द्र भगवान को गोद मे लेकर ऐरावत हाथी पर बैठा। ऐशानेन्द्र भगवान के ऊपर छत्र तानकर खड़ा हो गया और सानत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र चमर ढोरने लगे। वे भगवान को लेकर सुमेरु पर्वत पर पहुँचे और वहां क्षीरसागर के जल से पूर्ण १००८ कलशो से भगवान का अभिषेक किया। सौधर्मेन्द्र की शची ने भगवान का शृंगार किया और भगवान को लेकर देव समूह पुन. कुण्डग्राम लौटा। वहां आकर शची बालक को लेकर प्रसूति गृह में गई और बालक को माता के पास सुला दिया। इन्द्र ने महाराज सिद्धार्थ को देवो द्वारा मनाये गये जन्म महोत्सव के समाचार सुनाये, उनकी पूजा की और आनन्द नाटक किया। इस प्रकार जन्म कल्याणक महोत्सव मनाकर देवगण अपने-अपने स्थानो को वापिस चले गये।

पुत्र जन्म की खुशी मे महाराज सिद्धार्थ ने राज्य के कारागार से वन्दियो को मुक्त कर दिया। उन्होंने याचको और सेवको को मुक्तहस्त दान दिया। राज्य भर में दस दिन तक नागरिको ने पुत्र-जन्मोत्सव बड़े उल्लास और समारोह के साथ मनाया।

भगवान महावीर कुण्डपुर मे उत्पन्न हुए थे। जैन वाङ्मय मे कुण्डपुर की स्थिति स्पष्ट करने के लिए 'विदेह कुण्डपुर' अथवा 'विदेह जनपद स्थित कुण्डपुर' नाम दिये गये है। सभवतः इसका कारण यह रहा कि उस समय कुण्डपुर नाम के कई नगर थे। यह कुण्डपुर विदेह देश मे स्थित था। यह विदेह देश गण्डकी नदी से लेकर चम्पारण्य तक का प्रदेश था। इसे तीरभुक्त भी कहा जाता था। यह देश गगा और हिमालय के मध्य मे था। इसकी सीमायें इस प्रकार थी—पूर्व में कौशिकी (कोसी), पश्चिम

जन्म नगरी वैशाली

में गण्डकी, उत्तर में हिमालय और दक्षिण में गंगा नदी । इसका क्षेत्रफल इस प्रकार बताया गया है—पूर्व से पश्चिम की ओर २४ योजन तथा उत्तर से दक्षिण की ओर १६ योजन। वैशाली, मिथिला, कुण्डपुर आदि नगर इसी विदेह अथवा तीरभुक्त प्रदेश में थे।

दिगम्बर साहित्य के समान श्वेताम्बर साहित्य में भी महावीर को विदेहवासी, विदेह के दौहित्र और उनकी माता त्रिशला को विदेहदत्ता कहा गया है। श्वेताम्बर साहित्य में कुण्डपुर के कई नाम मिलते हैं, जैसे कुण्डग्राम, क्षत्रिय कुण्ड, उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर, कुण्डपुर सन्निवेश, कुण्डग्राम नगर, क्षत्रिय कुण्डग्राम । श्वेताम्बर साहित्य में महावीर को एक ओर विदेहवासी और विदेह के दौहित्र बताया है तो दूसरी ओर उन्हें वैशालिक भी कहा गया है। ये दोनों कथन परस्पर विरोधी नहीं हैं। उस समय कुण्डग्राम वैशाली नगरी में सम्मिलित था। इसलिए महावीर को जनपद विदेह की दृष्टि से विदेह कहा गया और कुण्डग्राम वैशाली का एक उपनगर था, इसलिए उन्हें वैशालिक कहा गया। साराशत कुण्डग्राम विदेह जनपद में था और वह वैशाली का एक उपनगर था।

प्राचीन वाङ्मय के अनुसार वैशाली और कुण्डग्राम की स्थिति इस प्रकार थी—दक्षिण पूर्व में वैशाली अवस्थित थी, उत्तर पूर्व में कुण्डपुर था और पश्चिम में वाणिज्यग्राम था। वस्तुत वैशाली के तीन भाग या तीन जिले थे–वैशाली, कुण्डग्राम और वाणिज्यग्राम। वैशाली और कुण्डग्राम निकट अवस्थित थे। ये दोनों गण्डक नदी के पूर्वी तट पर थे तथा वाणिज्यग्राम गण्डक के पश्चिमी तट पर स्थित था।

कुण्डपुर के दो भाग थे- क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश और ब्राह्मण कुण्डपुर सन्निवेश। क्षत्रिय कुण्डपुर उत्तर में था और ब्राह्मण कुण्डपुर दक्षिण में था। क्षत्रिय कुण्डपुर में प्राय ज्ञातृवंशी क्षत्रिय रहते थे और ब्राह्मण कुण्डपुर में प्राय ब्राह्मण रहते थे। ब्राह्मण कुण्डग्राम के उत्तर-पूर्व में बहुशाल चैत्य था। क्षत्रिय कुण्डपुर के उत्तर-पूर्व में कोल्लाग सन्निवेश था। इसमें भी ज्ञातृवंशी क्षत्रिय रहते थे। क्षत्रिय कुण्डपुर के बाहर ही ज्ञातृखण्ड वन था। यह भी ज्ञातृवंशी क्षत्रियों का था और इसी वन या उद्यान में भगवान महावीर ने दीक्षा ली थी।

वाणिज्यग्राम में प्राय. बनिये-व्यापारी रहते थे। इसके ईशानकोण में द्युति पलाश चैत्य और उद्यान था। ये दोनों भी ज्ञातृवंशी क्षत्रियों के थे।

कुण्डपुर के निकट ही कर्मार ग्राम आबाद था। यहाँ प्राय लुहार आदि कर्मकरों की वस्ती थी। इसी गाँव को शास्त्रों में कूर्मग्राम अथवा कूल ग्राम कहा गया है, जहाँ भगवान महावीर का प्रथम आहार हुआ था।

वैशाली गणराज्य को वज्जि संघ अथवा लिच्छवी गणसंघ कहा जाता था। इस संघ में विदेह का वज्जि संघ और वैशाली का लिच्छवी संघ सम्मिलित था। दोनों की पारस्परिक सन्धि के कारण विदेह के गणप्रमुख चेटक को इस संघ का गणप्रमुख चुना गया और इस संघ की राजधानी वैशाली बनी। इस संघ में अष्टकुल के नौ गण थे। अष्टकुलों के नाम शास्त्रों में इस प्रकार मिलते हैं– भोगवंशी, इक्ष्वाकुवंशी, ज्ञातृवंशी, कौरववंशी, लिच्छविवंशी, उग्रवंशी, विदेह कुल और वृजकुल। ये सभी लिच्छवी थे और इनमें ज्ञातृवंशी सर्वप्रमुख थे। लिच्छवी होने के कारण ही ये अष्टकुल परस्पर संगठित रहे। इस संघ में शासन का अधिकार इन अष्टकुलों को ही प्राप्त था। शेष नागरिकों को शासन में भाग लेने का अधिकार नहीं था। लिच्छवी गण ही अपने सदस्यों को चुनता था। प्रत्येक सदस्य को राजा कहा जाता था। ऐसे राजाओं की संख्या ७७०७ थी। कहीं कहीं इनकी संख्या १ लाख ६८ हजार बताई है। जब नवीन राजा का चुनाव होता था, उस समय उस राजा का अभिषेक एक पुष्करिणी में किया जाता था। इस पुष्करिणी का नाम अभिषेक पुष्करिणी अथवा मंगल पुष्करिणी था। इस पुष्करिणी में लिच्छवियों के अतिरिक्त अन्य किसी को स्नान मज्जन करने का अधिकार नहीं था। इस पर सशस्त्र प्रहरी रहते थे। यहाँ तक कि इसमें कोई पक्षी भी चोंच नहीं मार सकता था। इसके लिये इसके ऊपर लोहे की जाली रहती थी। समय-समय पर इसका जल बदला जाता था।

लिच्छवी संघ में सभी निर्णय सर्वसम्मत होते थे। यदि कभी कोई मतभेद होता था तो उसका निर्णय छन्द (वोट) के आधार पर होता था। शलाका ग्राहक छन्द शलाकायें लेकर सदस्यों के पास जाते थे। ये शलाकायें दो प्रकार की होती थीं—काली और लाल। लाल शलाका प्रस्ताव के समर्थन के लिये होती थी और काली शलाका

विरोध के लिये । जब सब सदस्यों को शलाकाये मिल जाती तो बाकी बची हुई शलाकाओं की गणना गणपति करते थे और छन्द-निर्णय घोषित कर देते थे । इस निर्णय को सभी स्वीकार करते थे । गण परिषद के राजभवन का नाम सथागार था जहाँ परिषद की बैठके होती थी ।

वज्जी-सघ के निकट ही मल्ल गणसघ और काशी कोल गणसघ थे । इन सघो मे से किसी सघ के ऊपर आपत्ति आने पर सन्धि के अनुसार तीनो सघों की युद्ध उद्वाहिका की सन्निपात भेरी की विशेष बैठक होती थी । इसमें महासेनापति का निर्वाचन किया जाता था । वह फिर अपनी युद्धउद्वाहिका का सगठन करता था ।

वैशाली का वैभव अपार था । उसमें ७७७७ प्रासाद, ७७७७ कूटागार, ७७७७ आराम और ७७७७ पुष्करिणियाँ थी । उसमे ७००० सोने के कलश वाले महल, १४००० चादी के कलश वाले महल तथा २१००० ताबे के कलश वाले महल थे । इन तीनो प्रकार के महलो मे क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य कुल के लोग रहते थे ।

वैशाली मे न्याय व्यवस्था इतनी सुन्दर थी कि कोई अपराधी दण्ड पाये बिना बच नही सकता था और निरपराधी दण्ड पा नही सकता था । विवाह के सम्बन्ध में भी वहाँ बडे कडे नियम थे । वैशाली मे उत्पन्न कोई स्त्री वैशाली से बाहर विवाह नही कर सकती थी । प्रार्थना करने पर किसी लिच्छवी के लिये पत्नी का चुनाव लिच्छवी गण करता था । अन्य नगरो की तरह यहाँ भी दास प्रथा थी, किन्तु एक बार जो दास वैशाली में आ जाता था, वह फिर बाहर नही जा सकता था और उसके साथ मनुष्योचित व्यवहार होता था । इस गण सघ मे एक नियम प्रचलित था कि नगर की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या विवाह नही कर सकती थी । उसे नगरवधू या नगर शोभिनी बनाकर सर्वभोग्या बना दिया जाता था । उसे गण की ओर से नृत्य, गान, वार्तालाप और स्वागत करने की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी । १८ वर्ष की अवस्था होने पर उसे गण परिषद जनपद कल्याणी का सम्मानपूर्ण पद प्रदान करता था और मगल पुष्करिणी मे मगल स्नान का महोत्सव किया जाता था । तब वह नगरवधू घोषित की जाती थी । गण की ओर से उसे अलकृत प्रासाद और धन धान्य प्रचुर परिमाण मे दिया जाता था, जिससे वह वैभवपूर्ण जीवन बिताती हुई नागरिको का यथेच्छ मनोरजन कर सके ।

वैशाली के लिच्छवी स्वातन्त्र्यप्रिय और मौजी स्वभाव के थे । उनमे परस्पर मे बडा प्रेम था । यदि कोई लिच्छवी बीमार पड जाता था तो अन्य सभी लिच्छवी उसे देखने आते थे । उत्सव के वे बडे शौकीन थे । सुन्दर रगीन वस्त्र पहनने का उन्हे बडा शौक था । इसीलिये बुद्ध ने एक बार आनन्द से कहा था—आनन्द ! जिन्होने त्रायस्त्रिश स्वर्ग के देव नही देखे है, वे वैशाली के इन लिच्छवियो को देखले । वे बड़े शिष्ट, विनयशील, सुसस्कृत और सुरुचि सम्पन्न थे ।

वैशाली के गणपति का नाम चेटक था । उनकी रानी का नाम सुभद्रा था । उनके १० पुत्र और ७ पुत्रियाँ थी ! उनका पुत्र सिहभद्र वैशाली गण का सेनापति था । ७ पुत्रियो मे सबसे बडी त्रिशला थी जो कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ को विवाही गई थी । इन्ही के पुत्र महावीर तीर्थंकर थे । वे कुण्डग्राम सन्निवेश के गणपति थे और राजा कहलाते थे । मृगावती का विवाह वत्सनरेश शतानीक के साथ हुआ था । सुप्रभा का विवाह दशार्ण देश के हेमकच्छ के नरेश दशरथ के साथ, प्रभावती का विवाह कच्छदेश की रोरुक नगरी के नरेश उदायन के साथ तथा चेलना का विवाह मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसार के साथ हुआ था । ज्येष्ठा और चन्दना ने दीक्षा लेली ।

वैशाली सघ अत्यन्त वैभवसम्पन्न और विकसित था । इसका विनाश श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु ने किया । युद्ध मे वैशाली पराजित होने वाला नहा था, अतः अजातशत्रु ने अपने चरो द्वारा वैशाली मे फूट डाल दी । इससे वैशाली निर्बल होगई और युद्ध में पराजित होगई । अजातशत्रु ने वैशाली को समाप्त कर दिया । इसके कुछ समय पश्चात् वैशाली पुन स्वतन्त्र हो गई यद्यपि उसका वैभव और शक्ति पहले जैसी नही हो पाई । फिर इसका विनाश गुप्त वश के सम्राट् समुद्रगुप्त ने किया । उसने तो वैशाली को बिलकुल खण्डहर ही बना दिया । इसके बाद वैशाली कभी पनप नही पाई । यह कितनी विडम्बना है कि वैशाली का विनाश करने वाले अजातशत्रु और समुद्रगुप्त दोनो ही सम्राट् वैशाली के ही दौहित्र थे । उन दोनो की माताये वैशाली की पुत्रियाँ थी । दोनों ही सम्राटो ने अपनी ननिहाल को बर्बाद कर दिया । इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त

को साम्राज्य-प्राप्ति में लिच्छवियों की सहायता का सबसे बडा योगदान मिला था और समुद्रगुप्त अपने आपको लिच्छवि दौहित्र कहकर गर्व करता था।

महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ था। वे कुण्डपुर के राजा थे। इस विषय मे दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराये एकमत है। दिगम्बर परम्परा के उत्तर पुराण(७४।२५२)में उन्हे 'राज्ञ कुण्डपुरेशस्य' कहा है। षट्खण्डागम भाग ६ (४।१।४४) मे 'कुण्डपुर वरिस्सर' बताया है। श्वेताम्बर परम्परा के त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित में (१०।३।४) 'सिद्धार्थोऽस्ति महीपतिः' कहा है। कल्पसूत्र मे (२।५०, ४।६८, ४।७२, ४।८६) में 'सिद्धत्थे राया' 'सिद्धत्थेण रण्ण' 'सिद्धत्थस्स रण्णो' आदि वाक्यो का प्रयोग किया गया है। इन उल्लेखो से इस विषय में कोई सन्देह नही रह जाता कि सिद्धार्थ कुण्डपुर के राजा थे। वे अत्यन्त वैभवसम्पन्न थे। वैशाली के गणप्रमुख महाराज चेटक ने अपनी पुत्रियो का विवाह उस युग के प्रसिद्ध राजाओ के साथ किया था। यदि सिद्धार्थ वस्तुतः साधारण स्थिति के क्षत्रिय होते तो चेटक कभी अपनी ज्येष्ठ पुत्री का विवाह उनके साथ न करते। कल्पसूत्र और आचाराग मे सिद्धार्थ के तीन नाम दिये गए है—(१) सिद्धार्थ, (२) श्रेयान्स और (३) यशस्वी।

महावीर के माता-पिता

महावीर की माता त्रिशला महाराज चेटक की राजकुमारी थी। उनका विवाह राजा सिद्धार्थ के साथ हुआ था। अत वे राजदुहिता एव राजरानी थी। हरिवशपुराण २।१६ मे उन्हे राजा सिद्धार्थ की पटरानी बताया है। दिगम्बर ग्रन्थो मे उनके दो नाम मिलते है--(१) त्रिशला, और (२) प्रियकारिणी। श्वेताम्बर ग्रन्थो में उनके तीन नाम आये है—(१) त्रिशला, (२) प्रियकारिणी और (३) विदेहदिन्ना। वस्तुत. विदेहदिन्ना कोई नाम नही था। वे विदेह की पुत्री थी, इसलिए उन्हे विदेहदिन्ना, विदेहदत्ता आदि कहा गया है।

वंश और गोत्र—महाराज सिद्धार्थ और महावीर का गोत्र काश्यप था। महारानी त्रिशला के पितृपक्ष का गोत्र वाशिष्ठ था। जहां तक महावीर के वश का सम्बन्ध है, दिगम्बर परम्परा मे उन्हे नाथ वश मे उत्पन्न बताया है। सस्कृत ग्रन्थो मे नाथान्वय शब्द का प्रयोग किया गया है और प्राकृत ग्रन्थो मे 'णाह' कुलोत्पन्न बताया है। षट्खण्डागम के चतुर्थ वेदना खण्ड भाग ६ (४।१।४४) मे'कुडलपुर पुरवरिस्सर सिद्धत्थक्खत्तियस्स णाह कुले' दिया गया है। जय धवला के 'पेज्ज दोस विहत्ती' अधिकार में भी यह गाथा उद्धृत की गयी है। 'तिलोयपण्णती' ग्रन्थ मे तीर्थकरो के वशों का वर्णन करते हुए 'णाहोग्गवंसेसु वीरपासा' इस वाक्य द्वारा महावीर का णाहवश और पार्श्वनाथ का उग्रवश बताया है। णाह इस प्राकृत शब्द का सस्कृत रूप नाथ बनता है।

धनञ्जयकृत 'अनेकार्थनाममाला' नामक कोष में महावीर के पर्यायवाची शब्द देते हुए नाथान्वय शब्द का प्रयोग किया गया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सन्मतिर्महतिर्वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ॥११५॥

इसमे नाथान्वय शब्द विशेष महत्वपूर्ण है। वस्तुत. नाथवश अत्यन्त प्राचीन है। भगवान ऋषभदेव ने जिन चार वशो की स्थापना की थी, उनमें नाथवश भी था। इन चार वशो में कुरु, हरि, नाथ, और उग्रवश सम्मिलित थे। दिगम्बर परम्परा के सभी शास्त्रों मे महावीर के वश का नाम नाथवश ही मिलता है।

किन्तु श्वेताम्बर साहित्य मे सर्वत्र उन्हे ज्ञातृवशी लिखा है। कल्पसूत्र, आचाराग, उत्तराध्ययन, सूत्रकृताग आदि प्राकृत ग्रन्थो मे 'णाय कुलसि, णाये, णायपुत्ते, णायकुलचदे' आदि शब्दो का प्रयोग किया गया है। हेमचन्द्र आदि संस्कृत ग्रन्थकारो ने उन्हे 'ज्ञातवंश्य' लिखा है। टीकाकारो ने णाय का अर्थ भी ज्ञातृ किया है।

बौद्ध साहित्य मे तो महावीर के लिए सर्वत्र 'निगठ नातपुत्त' शब्द दिया है, जिसका अर्थ होता है निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्त।

इस वश-भेद का कारण क्या था, इस सम्बन्ध में विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि महावीर वस्तुत नाथवशीय थे। प्राकृत ग्रन्थो मे नाथ के लिये 'णाह' शब्द का प्रयोग होता आया है। किसी भूल या प्रमाद के परिणामस्वरूप श्वेताम्बर ग्रन्थों में 'णाह' के स्थान पर 'णाय' शब्द प्रयुक्त होने लगा। बौद्ध साहित्य में उसीके

अनुकरण पर नात शब्द का प्रयोग होने लगा। इससे नाथ वंश बदलते-बदलते ज्ञातृवश बन गया और महावीर ज्ञातृवशी बन गये।

नामकरण—सौधर्मेन्द्र ने सुमेरु पर्वत पर भगवान का अभिषेक करने के बाद उनके दो नाम रक्खे—वीर और वर्धमान। ये दोनो ही नाम सार्थक थे। वे वीर थे। उनके उत्पन्न होने पर उनके पिता सिद्धार्थ को श्री, विभूति, प्रभाव, धन-धान्य आदि सभी मे वृद्धि हुई थी। इसलिए उनका वर्धमान नाम वस्तुत सार्थक था। श्वेताम्बर साहित्य मे भगवान का नामकरण पिता सिद्धार्थ ने किया, ऐसा उल्लेख मिलता है।

एक दिन बाल भगवान रत्नजडित पालने मे झूल रहे थे। तभी वहाँ सजय और विजय नामक दो चारण मुनि आए। उन्हे किसी जैन सिद्धान्त मे सन्देह उत्पन्न हो गया था। किन्तु बाल भगवान के देखते ही उनका सन्देह दूर हो गया। तब उन्होंने बडी भक्ति से बालक का नाम सन्मति रक्खा।

बाल लीलाएं—इन्द्र की आज्ञा से कुबेर प्रतिदिन भगवान की आयु और इच्छा के अनुसार स्वर्ग की सारभूत भोगोपभोग सामग्री स्वय लाया करता था और सदा खर्च कराया करता था। कुमार वर्धमान बाल्यावस्था मे ही गम्भीर, शान्त, उदात्त एव सयम के धारक थे। वर्धमान की खेलकूद मे विशेष रुचि नही थी, फिर भी वे समवयस्क बालको के साथ कभी कभी खेलकूद मे भाग लिया करते थे। कभी कभी देव भी बाल रूप धारण करते थे। इससे उनके मन मे बडा सन्तोष होता था। एक दिन कुमार वर्धमान अपने बाल साथियो के साथ आमली क्रीडा का खेल खेल रहे थे। इस खेल मे किसी एक वृक्ष को केन्द्र मान लिया जाता है। सब बालक एक साथ उस वृक्ष की ओर दौडते है। जो बालक सबसे पहले उस वृक्ष पर चढकर उतर कर आता है, वह विजयी माना जाता है और वह पराजित बालको के कन्धे पर चढ कर वहाँ तक जाता है जहाँ से दौड प्रारम्भ हुई है।

एक दिन सौधर्म इन्द्र की सभा मे चर्चा चल रही थी कि इस समय भूतल पर सबसे अधिक शूरवीर कौन है। इन्द्र कहने लगा—इस समय सबसे अधिक शूरवीर वर्धमान स्वामी है। कोई देव दानव उन्हे पराजित नही कर सकता। यह सुनकर सगम नामक एक देव को इन्द्र की बात पर विश्वास नही हुआ। वह उनके बल की परीक्षा लेने के लिये प्रमद वन मे आया जहाँ कुमार वर्धमान अपने बाल सखाओ के साथ खेल रहे थे। उस देव ने माया से एक विशाल साप का रूप धारण कर लिया और उस वृक्ष की जड से स्कन्ध तक लिपट गया। उस भयकर साप को देखकर सभी बालक भय के मारे वहाँ से अपने प्राण बचाकर भाग गये। केवल कुमार वर्धमान ही वहाँ रह गये। वे सातिशय बल के धारी थे। उनके मन मे आतंक या भयनाममात्र को भी न था। वे निर्भय होकर उस सर्प के ऊपर चढकर इस प्रकार कीडा करने लगे, मानो वे माता के पलग पर ही क्रीडा कर रहे हो। वे बहुत समय तक सप के साथ नाना प्रकार की क्रीडा करते रहे। अन्त में सगम देव ने अपनी पराजय स्वीकार करली (उत्तरपुराण)। असग कवि ने महावीर चरित्र मे इस घटना का सजीव चित्रण करते हुए लिखा है कि—

> वटवृक्षमथैकदा महान्तं
> सह डिभैरधिरुह्य वर्धमानम्।
> रममाणमुद्वीक्ष्य सगमाख्यो।
> विबुधस्त्रासयितुं समाससाद। १७।६५-६८

सगम देव ने पराजित होकर अजमुख मानव रूप धारण करके कुमार वर्धमान को एक कन्धे पर तथा उनके एक बालसखा पक्षधर को दूसरे कन्धे पर बैठा लिया तथा दूसरे बालसखा काकधर का उगली पकडकर उन्हे सादर घर तक पहुँचाया। इन दोनो सखाओ के नाम चामुण्डराय पुराण मे मिलते है। इस अजमुख देव का नाम पुरातत्त्व वेत्ता हरिनैगमेश बतलाते है तथा हरिनैगमेश द्वारा कुमार वर्धमान और उनके दो बालसखाओ को कन्धे पर बैठाने तथा उगली पकड़ने का दृश्य कुषाणकालीन एक शिलाफलक पर अकित है और मथुरा सग्रहालय में सुरक्षित है।

सगम देव वर्धमान कुमार के शौर्य, साहस और निर्भयता से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने बड़ी भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति की और कहा—प्रभो! आपका बल विक्रम अतुलनीय है। आप ससार मे अजेय है। सचमुच ही आप महावीर हैं। तभी से आपका नाम ससार मे महावीर के रूप मे विख्यात हो गया।

महावीर अत्यन्त साधनामय और अनासक्त जीवन लेकर उत्पन्न हुए थे। आठ वर्ष की आयु में उन्होंने अणुव्रत धारण कर लिये थे। वे तीर्थंकर थे। तीर्थंकर जन्मजात ज्ञानी होते है। वे ससार के जीवो को कल्याण की शिक्षा देने के लिये उत्पन्न होते है। इसलिये जगद्गुरु कहलाते है। उन्हे अक्षर-ज्ञान देसके, ऐसा कोई गुरु नही होता। सारा संसार और उसका स्वभाव ही उनकी पुस्तक होती है। वे अपने अन्तर्मन से उसे गहराई से देखते है, विवेक की बुद्धि से उस पर गहन मनन और चिन्तन करते है और आत्मा के समग्र उपयोग से उसका सारतत्व ग्रहण करके निरन्तर अमृतत्व की ओर बढ़ते जाते है।

महावीर चिन्तनशील अनासक्त योगी थे। वे जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीन ज्ञानों के धारक थे। तीन ज्ञानधारक को अल्पज्ञानी जन क्या पढ़ा सकता है। श्वेताम्बर आगम आवश्यक चूर्णि भाग १ मे बताया गया है कि जब महावीर आठ वर्ष के हुए, तब माता-पिता ने शुभ मुहूर्त देखकर बालक महावीर को अध्ययन के लिये कलाचार्य के पास भेजा। सौधर्मेन्द्र को अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात हुआ कि तीर्थकर महावीर को कलाचार्य के पास पढने के लिये भेजा जा रहा है तो उसे बडा आश्चर्य हुआ। वह एक क्षण का भी बिलम्ब किये बिना एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके कलाचार्य के गुरुकुल मे जा पहुँचा, जहाँ बालक महावीर और उनके माता पिता थे। इन्द्र विद्यागुरु और जनसाधारण को तीर्थकर की योग्यता से परिचित कराना चाहता था। इन्द्र ने प्रभु को मन ही मन नमस्कार किया और अत्यन्त विनय के साथ प्रभु से व्याकरण सम्बन्धी जटिल प्रश्न पूछने लगा। प्रभु ने उन प्रश्नो के यथार्थ और युक्तिसगत उत्तर देकर सबको स्तब्ध कर दिया। आचार्य ने भी अपनी कुछ शकाये प्रभु के समक्ष रक्खी, जिनका समाधान प्रभु ने क्षण भर मे कर दिया। तब आचार्य बोले—जो बालक सभी विषयो का ज्ञाता है, उसे मै क्या ज्ञान दे सकता हूँ। तब ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र बोला—जो बालक आपके समक्ष उपस्थित, है वह सामान्य बालक नही है। वह तीन ज्ञान का धारी तीर्थंकर है। 'वह गुरूणा गुरु है। वह ससार मे पढ़ने नही पढाने आया है।' यह कह कर इन्द्र ने और साथ ही आचार्य ने बाल प्रभु के चरणो में नमस्कार किया। महाराज सिद्धार्थ और माता त्रिशला प्रसन्न होकर बोले—"मोह मे हम यह भूल ही गये थे कि कुमार तो जगद्गुरु है।

आवश्यक चूर्णि भाग १ मे यह भी उल्लेख है कि वृद्ध ब्राह्मण ने बालक महावीर के साथ हुए प्रश्नोत्तरों का सग्रह करके 'ऐन्द्र व्याकरण' की रचना की।

चिरकुमार महावीर—बालक महावीर धीरे-धीरे बाल्यावस्था और किशोर वय पारकर यौवन अवस्था में पहुँचे। सात हाथ उन्नत उनकी देहयष्टि थी। उनके शरीर पर १००८ शुभ लक्षण सुशोभित थे। जन्म से ही स्वेद रहितता, निर्मल शरीर, दुग्ध के समान धवल रक्त, वज्रवृषभनाराच सहनन, समचतुरस्र सस्थान, अनुपम रूप, चम्पक पुष्प के समान शरीर मे सुगन्धि, अनन्त बलवीर्य और हितमित मधुर भाषण ये असाधारण दस विशेषताये थी। उनके शरीर का वर्ण तप्त स्वर्ण के समान था। वे तेज, ओज और सौन्दर्य की खान थे। उनका रूप लावण्य कामिनियो की स्पृहा की वस्तु था। एक ही शब्द मे कहे तो वे त्रिलोकसुन्दर थे।

वे राजकुमार थे। गणराज्य के नियमानुसार उन्हे कुमारामात्य के सम्पूर्ण अधिकार और भोग की सम्पूर्ण सामग्री उपलब्ध थी। बल और पौरुष मे सम्पूर्ण वज्जिगण में कोई उनकी समानता नही कर सकता था। सौन्दर्य मे वे देवकुमारो को लज्जित करते थे। उनकी अवस्था भी विवाह योग्य थी। किन्तु उनकी वृत्ति आत्मकेन्द्रित थी। काम और कामिनी की कामना उनके मन मे क्षण भर के लिये भी कभी न जागी। क्योकि वे योगी थे। योगी की पहचान ही यह है कि जब ससार के प्राणी ससार-व्यवहार मे जागृत रहते है, उस समय योगी ससार व्यवहार मे सोया रहता है किन्तु वह आत्म-दर्शन में सदा जागृत रहता है। जो सदा आत्मानुभव का रसास्वाद करता रहता है, उसे कामिनियों का कमनीय रूप और काम की स्पृहा कब आकर्षित कर सकती है!

महावीर की स्वय की तो साधना थी ही, फिर उनका पारिवारिक वातावरण और पृष्ठभूमि भी उनकी साधना में सहायक थी। 'आचारांग सूत्र' में स्पष्ट उल्लेख है—'समणस्स ण भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा या वि होत्था।' अर्थात् श्रमण भगवान महावीर के माता पिता पार्श्वापत्य सम्प्रदाय के श्रमणोपासक थे।

'कल्पसूत्र' में महाराज सिद्धार्थ की दिनचर्या की एक संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत की गई है। उसमें लिखा है—'सूर्योदय के अनन्तर सिद्धार्थ राजा अवृनशाला अर्थात् व्यायामशाला में जाते थे। वहाँ वे कई प्रकार के दण्ड, बैठक, मुद्गर चालन आदि व्यायाम करते थे। उसके अनन्तर वे मल्लयुद्ध करते थे। इसमे उनका पर्याप्त परिश्रम हो जाता था। इसके पश्चात् शतपक्व तैल-जो सौ प्रकार के द्रव्यो से निकाला जाता था—और सहस्रपक्व तैल-जो एक हजार द्रव्यों से तैयार किया जाता था—उससे मालिश करवाते थे। यह मालिश रस रुधिर आदि धातुओ को प्रीति करने वाला, दीपन करने वाला, बल की वृद्धि करने वाला और सब इन्द्रियो को आल्हाद देने वाला होता था। व्यायाम के पश्चात् वे स्नान करते थे। उपरान्त वे देवोपासना (देव पूजा) में समय लगाते थे। फिर शुद्ध सात्विक भोजन करके राजकाज में प्रवृत्त होते थे।'

ऐसे शुद्ध सात्विक वातावरण मे महावीर की आत्मिक साधना सतत सतेज होती जा रही थी। एक दिन कलिंग नरेश जितशत्रु अपनी अनिद्यसुन्दरी और यशोदया की सुकुमारी कन्या यशोदा को लेकर कुण्डग्राम पधारे। इन्द्र के समान बल और ऐश्वर्य के धारक एवं अपने सुहृद् बन्धु के आगमन से महाराज सिद्धार्थ अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होने अपने बहनोई जितशत्रु का हार्दिक स्वागत किया। जितशत्रु महावीर के जन्मोत्सव के पुण्य अवसर पर भी आये थे। उन्होने तभी मन में सकल्प कर लिया था कि यदि भाग्य से मेरे घर मे पुत्री का जन्म होगा तो मैं उसका विवाह कुमार वर्धमान के साथ करूँगा। उनकी कामना सफल हुई और कुछ वर्षों के अनन्तर सुरबाला सी कमनीय यशोदा नामक कन्या ने जन्म लिया। कन्या क्या थी, मानो रति ही मानवी बनकर अवतरित हुई थी। अपनी उसी कन्या को लेकर जितशत्रु मन में कामना सजोये राजकुमार के लिए समर्पित करने आये थे। उन्होने महाराज सिद्धार्थ से अपना मनोरथ निवेदन किया। सुनकर महाराज अत्यन्त आल्हादित हुए। महारानी त्रिशला भी राजकुमारी यशोदा के गुण, शील और सौन्दर्य पर मोहित थी। उनके मन में ऐसी सुलक्षणा और शुभ्र तारिका सी कुमारी को अपनी पुत्र-वधू बनाने की ललक जाग उठी। किन्तु 'विधना के मन कछु और है, मेरे मन कछु और।'

एक दिन अनुकूल अवसर देखकर महाराज सिद्धार्थ अपने प्रिय पुत्र से बोले—'प्रियदर्शी कुमार! अब तुम्हारी वय विवाह योग्य हो चुकी है। हमारी इच्छा है कि तुम अब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो जिससे वश परम्परा चले।' कुमार अत्यन्त विनय और शालीनता के साथ कहने लगे—'पूज्यपाद! इस नश्वर जीवन के क्षण क्या भोगो के लिए समर्पित करने से सार्थक हो पायेगे? मै इसी जीवन में अमृतत्व की प्राप्ति के लिये साधना करना चाहता हूँ। मैं विवाह नही, आपका आशीर्वाद चाहता हूँ कि मैं अपने लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्र कर सकूं।' सुनकर पिता की उमग और माता की ललक पर तुषारपात होगया। महाराज जितशत्रु निराश हो गये। और किशोरी यशोदा! उसके सुख-स्वप्न ही मानो टूट गये। कितनी हसरते लेकर आई थी वह यहाँ पर लेकिन सारी हसरतें बिखर गई, सारी तमन्नाये मुरझा गईं।

राजकुमारी यशोदा को कुमार महावीर के निश्चय से हार्दिक दुख हुआ। उसने सासारिक भोगों से विरक्त होकर बाद में आर्यिका दीक्षा ले ली। कलिग नरेश जितशत्रु भी महावीर के निर्णय से निराश होकर ससार से विरक्त हो गये। किन्तु लगता है, उन्होने तत्काल दीक्षा नही ली। जैन शास्त्रो मे ऐसे उल्लेख मिलते है कि तोषल नरेश जितशत्रु ने तीर्थंकर महावीर को अपने प्रदेश में धर्म प्रचार के लिए निमन्त्रण दिया। फलत प्रभु महावीर तोषल गये और वहाँ से वे मोषल गये और फिर कुमारी पर्वत पर भगवान का धर्मोपदेश हुआ। वहाँ जितशत्रु ने प्रभु के चरण सान्निध्य में दीक्षा ले ली और घोर साधना द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गये।

जैन शास्त्रो के इस उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान महावीर द्वारा दीक्षा लेने के बहुत वर्षों के पश्चात् जितशत्रु ने दीक्षा ली थी। सम्भव है, कुमारी यशोदा ने भी अपने पिता के साथ ही सयम धारण किया हो किन्तु यह तो निश्चित है कि जब जितशत्रु अपनी पुत्री के विवाह सम्बन्ध के लिये कुण्डग्राम आये थे, तभी राजकुमारी ने अपने मन में महावीर को पति रूप में स्वीकार कर लिया था और अपने आराध्यदेव द्वारा प्रस्ताव अस्वीकार किये जाने पर वह अन्य किसी राजकुमार के साथ विवाह करने के लिए उद्यत नही हुई और उसने आजीवन कौमार्य व्रत धारण कर लिया।

दिगम्बर परम्परा के सभी शास्त्र महावीर को अविवाहित मानते हैं। प्रसिद्ध ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती मे स्पष्ट उल्लेख है —

'णेमी मल्ली वीरो कुमार कालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि ।।४।६७०

अर्थात् भगवान नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पाच तीर्थकरो ने कुमार काल में और शेष तीर्थकरो ने राज्य के अन्त में तप को ग्रहण किया।

इसी के अनुकरण पर पद्मपुराण मे इस सम्बन्ध में लिखा है—

वासुपूज्यो महावीरो मल्लि: पार्श्वो यदुत्तमा:।
कुमार निर्गता गेहात्पृथिवीपतयोऽपरे ।।२०।६७

इन शास्त्रीय उल्लेखों से दो बातो पर प्रकाश पडता है—(१) ये पाँच तीर्थकर राज्य का भोग किये बिना दीक्षित हो गये। (२) इन्होने कुमारकाल में अर्थात् अविवाहित दशा में ही दीक्षा ग्रहण की।

ये पाचो तीर्थंकर पचबालयति के रूप मे प्रसिद्ध रहे है। पुरातात्त्विक साक्ष्य भी इसका समर्थन करते है। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी मे निर्मित खण्डगिरि गुफाओ मे, कुषाण काल मे निर्मित मथुरा कलाकृतियो मे तथा पश्चात्कालीन मूर्तियो में पचबालयतियो की मूर्तिया उपलब्ध होती है। इससे यह स्वीकार करने में कोई सन्देह नही रहता कि उपर्युक्त पाच तीर्थकर अविवाहित रहे, यह मान्यता परम्परागत रही है।

दिगम्बर शास्त्रों के आधार और अनुकरण पर निर्मित प्राचीन श्वेताम्बर आगमो मे भी इसी मान्यता का समर्थन प्राप्त होता है। भगवती सूत्र, समवायाग, स्थानाग और आवश्यक निर्युक्ति मे यशोदा के साथ महावीर के विवाह होने और उनके प्रियदर्शना नामक पुत्री के होने का कोई उल्लेख नही मिलता और पाच कुमार प्रव्रजित तीर्थकरो मे महावीर का नाम मिलता है। महावीर के विवाह की सर्वप्रथम चर्चा कल्पसूत्र मे आई है। उसके पश्चात् बने हुए आगम ग्रन्थो, निर्युक्तियो और सस्कृत के चरित्र ग्रन्थो मे कल्पसूत्र का ही अनुकरण किया गया है और इस नवीन कल्पना के समर्थन के लिए कुमार शब्द का अर्थ बदलने का भारी प्रयत्न किया गया है।

समवायाग सूत्र न० १९ मे १९ तीर्थकरो का घर मे रहकर और भोग भोगकर दीक्षित होना लिखा है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने भी अपनी वृत्ति मे 'शेषास्तु पच कुमारभाव एवेत्याह' कहकर इसे और स्पष्ट किया है। स्थानाग सूत्र के ४७९ वे सूत्र मे भी पाँच तीर्थकरो को कुमार प्रव्रजित लिखा है। आवश्यक निर्युक्ति मे तो इसे और अधिक स्पष्ट किया है। वे गाथाये इस प्रकार है—

वीर अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ।।२४३।।
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
ण य इत्थिआभिसेआ कुमार वासंमि पव्वइया ।।२४४।।

इन गाथाओ को अधिक सुस्पष्ट करने के लिए आवश्यक निर्युक्ति मे दो गाथाये और दी गई है जो इस प्रकार है—

वीरो अरिट्टणेमी पासो मल्ली वासुपुज्जो य।
पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिमवयंसि ।।२४८।।

इस गाथा मे आये हुए 'पढमवए' पद का अर्थ करते हुए टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है—प्रथमवयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिता., शेषा. पुन ऋषभस्वामिप्रभृतयो मध्यमे वयसि,यौवनत्व लक्षणे वर्तमाना: प्रव्रजिता:।

निर्युक्तिकार ने एक स्थान पर तो और भी स्पष्ट लिखा है—गामायारा विषया निसेविता जे कुमार वज्जेहि।' इसमे बताया गया है कि पाच तीर्थकरो ने विषय भोगो का सेवन नही किया।

दिगम्बर परम्परा के शास्त्र और उनके आधार पर बने इन श्वेताम्बर आगमो मे इस विषयक ऐकमत्य सिद्ध करता है कि उक्त तीर्थकरो ने विवाह नही किया। किन्तु बाद मे बने हुए कल्पसूत्र आदि ग्रन्थो में महावीर को

विवाहित मानने की जो कल्पना की गई है, उसका कोई शास्त्रीय या परम्परामान्य आधार खोजने पर भी नही मिलता। प्राचीन आगम ग्रन्थों को अप्रामाणिक स्वीकार करके ही कल्पसूत्र की कल्पित बात को माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, कल्पसूत्रकार म० बुद्ध के जीवन चरित्र और तत्सम्बन्धी बौद्ध ग्रन्थो से अत्यधिक प्रभावित रहा है। उसकी दृष्टि में बुद्ध द्वारा स्त्री पुत्र का त्याग अत्यधिक अनुकरणीय लगा प्रतीत होता है। इसी आदर्श को महावीर जीवन में प्रदर्शित करने की धुन में वह महावीर के विवाह को कल्पना कर बैठा। इतना ही नहीं; उसे महावीर की एक पुत्री प्रियदर्शना के नाम से कल्पित करनी पड़ी। किन्तु आश्चर्य है, कल्पसूत्रकार पत्नी यशोदा और पुत्री प्रियदर्शना की कल्पना का निर्वाह नहीं कर सका। इन दोनों को वह आगे चलकर बिल्कुल भुला बैठा। इसीलिये महावीर के दीक्षाकाल मे या उसके आगे पीछे कही भी यशोदा और प्रियदर्शना का नामोल्लेख नही मिलता। कल्पसूत्र में प्रियदर्शना का विवाह जमालि के साथ हुआ बताया है। जमालि की आठ स्त्रियाँ बताई गई है, किन्तु उनमे प्रियदर्शना का नाम न पाकर बड़ा आश्चर्य होता है। ये सारी असगतिया महावीर के विवाह की कल्पना के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। वस्तुत श्वेताम्बरो की प्राचीन परम्परा दिगम्बर परम्परा के समान महावीर को अविवाहित ही स्वीकार करती है।

महावीर ने राज्य शासन मे भाग लिया या नही, यदि लिया तो वह किस रूप मे, इस बात के कोई सकेत प्राप्त नही होते। वैशाली में उत्खनन के फलस्वरूप कुछ ऐसी सीलें प्राप्त हुई है जिन पर कुमारामात्य लिखा हुआ है। किन्तु इन सीलो का सम्बन्ध कुमार महावीर से था, इसका कोई प्रमाण नही है क्योंकि वैशाली गणतत्र के शासन में महाराज सिद्धार्थ का कोई महत्वपूर्ण स्थान था, यह सिद्ध होना अभी शेष है। महाराज सिद्धार्थ कुण्डग्राम के गणप्रमुख थे और कुण्डग्राम एक स्वतत्र जिला था। सभवत कुण्डग्राम गण के राजा वैशाली सघ को सस्थागार के सदस्य होते थे। किन्तु इस नाते महावीर को वैशाली सघ में कुमारामात्य का महत्वपूर्ण पद प्राप्त था, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। सभवत: कुमारामात्य का पद गणप्रमुख चेटक के दस पुत्रो को प्राप्त था और उन्हे अमात्य के अधिकार प्राप्त थे। कुण्ड ग्राम में जिसका वर्तमान नाम वासुकुण्ड है, अभी तक उत्खनन कार्य नहीं हुआ है और न वहाँ से अब तक कोई महावीर कालीन सामग्री उपलब्ध हुई है। इसलिए वैशाली से प्राप्त गुप्त काल की कुमारामात्य सम्बन्धी सीलो के साथ महावीर का कोई सम्बन्ध था, यह विश्वासपूर्वक कहना कठिन है। प्रमाण के बिना केवल कल्पना के वल पर पक्ष और विपक्ष दोनों ही ओर तर्क दिये जा सकते है।

कुमारामात्य और महावीर

प्रारम्भ से ही महावीर की प्रवृत्ति भोगो की ओर नही थी। वे प्राय. एकान्त मे बैठ कर ससार के स्वरूप पर गहन विचार किया करते और विचार करते करते आत्म चिन्तन मे लीन हो जाते। उनकी प्रकृति अन्तर्मुखी थी। उन्हे सभी प्रकार की सुख सामग्री उपलब्ध थी, किन्तु सुख साधनो में उनकी आसक्ति नही थी। वे अन्तश्चक्षुओ से देखते-भोगो मे अतृप्ति छिपी हुई है, यौवन का परिणाम बुढापा है, जीवन का अन्त मृत्यु है, संयोग मे वियोग का भय छिपा है, शरीर के रोम रोम में रोग झाक रहे है। प्राणी सुख प्राप्ति का प्रयत्न करता है और दु ख प्राप्त होता है। इष्ट की सयोजना मे अनिष्ट हाथ आता है। इसका सारा प्रयत्न क्षणभगुर के लिये है। मै अमरत्व के लिए पुरुषार्थ करूँगा। मेरा काम्य सुख है किन्तु ऐसा सुख जो अविनश्वर हो, स्वाधीन हो।

जीवन्त स्वामी की प्रतिमा

उनकी चिन्तनधारा ने उन्हे भोगो के प्रति उदासीन बना दिया। वे अपना अधिक समय साधना में व्यतीत करने लगे। वे अपने प्रासाद के एकान्त कक्ष मे ध्यानलीन हो जाते और अमरत्व की राह खोजते रहते। उनको इस योग साधना की ख्याति दूर दूर तक फैल गई। जन जन के मन मे उनके प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। श्रद्धातिरेक मे अनेक लोगो ने उनके जीवन काल में ही उनकी मूर्तियाँ बनाकर उनको पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। ये मूर्तियाँ जीवन्त स्वामी की मूर्तियाँ कहलाती थी। जीवन्त स्वामो की एक चन्दन-मूर्ति सिन्धु सौवीर नरेश राजा उदायन की महारानी प्रभावती के पास भी थी। मृत्यु काल निकट जानकर महारानी ने वह मूर्ति अपनी एक प्रिय दासी को दे दी जिससे उसकी पूजा होती रहे और स्वय ने दीक्षा ले ली। अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत इस मूर्ति को प्राप्त

करने के लिए अत्यन्त उत्सुक था। वह महाराज उदायन की अनुपस्थिति में सिन्धु सौवीर की राजधानी वीतभय नगर में पहुँचा और दासी से गुप्त विवाह करके उस मूर्ति को ले आया। किन्तु इस घटना को सूचना मिलते ही महाराज उदायन ने चण्डप्रद्योत पर आक्रमण करके उसे बन्दी बना लिया किन्तु मूर्ति वहीं अचल हो गई। दासी किसी प्रकार बच निकली। मार्ग में जब उदायन को ज्ञात हुआ कि चण्डप्रद्योत जैनधर्मानुयायी है तो उसने उसे मुक्त कर दिया। इसके पश्चात् जीवन्त स्वामी की वह प्रख्यात मूर्ति कहाँ गई, इसकी कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं होती।

कुछ वर्ष पूर्व अकोटा से चन्दन की लकड़ी की बनी हुई जीवन्त स्वामी (महावीर) को मूर्ति प्राप्त हुई थी जो आजकल बड़ौदा के सग्रहालय में सुरक्षित है। यह प्रतिमा उस समय की बनी मानी जाती है, जब राजकुमार महावीर मुनि-दीक्षा लेने से एक वर्ष पूर्व अपने प्रासाद मे ध्यानमग्न खडे थे। इसलिये इस मूर्ति मे मुकुट, रत्नहार, आभूषण और शरीर के निचले भाग में वस्त्र दिखाये गये हैं। जीवन काल में बनाई हुई प्रतिकृति होने के कारण यह 'जीवन्त स्वामी की प्रतिमा' कहलाई। अर्थात् यह उनके जीवन काल मे बनी थी। इसके बाद को ऐसी बनी हुई मूर्तियाँ 'जीवन्त स्वामी प्रतिमायें' कहलाईं। ऐसी प्रतिमायें और भी कई मिलती है।

वैराग्य और दीक्षा—भगवान अब प्राय: तीस वर्ष के हो गये थे। एक दिन वे आत्म-चिन्तन में निमग्न थे। वे जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान के धारक थे। उन्होने अवधिज्ञान से अपने पूर्वभवो को देखा। उन्होने पूर्वभवो का ज्ञान करके विचार किया कि जीवन के ये अमूल्य तीस वर्ष मैंने परिग्रह के इस निस्सार भार को वहन करते हुए अकारण ही गंवा दिये, किन्तु अब मै एक क्षण भी इस भार को वहन नही करूँगा। मुझे आत्म कल्याण का मार्ग खोजना है और आत्म साधना द्वारा आत्मसिद्धि का लक्ष्य प्राप्त करना है।

उनके मन मे निर्वेद की निर्मल धारा प्रवाहित होने लगी। तभी लौकान्तिक देव भगवान की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होने भगवान के चरणो मे नमस्कार करते हुए कहा—प्रभो! अब तीर्थ-प्रवर्तन का काल आ पहुँचा है। जगत के प्राणी अज्ञान और मिथ्या विश्वासो के कारण राह भटक गये है। आप कर्म क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त करे और ससार के सन्तप्त प्राणियो को सुख एव शान्ति का मार्ग दिखावे। यह निवेदन करके और भगवान को नमस्कार करके लोकान्तिक देव अपने आवास को लौट गये।

तभी चारो जाति के देव और इन्द्र आये। इन्द्र ने भगवान को सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। तब उनका कल्याण अभिषेक किया और स्वर्ग से लाये हुए अनर्घ्य रत्नालकार और वस्त्र पहनाये और उन्हे चन्द्रप्रभा नामक शिविका मे आरूढ किया। अभिनिष्क्रमण करने से पूर्व भगवान ने मधुर वचनो से बन्धुजनो को सन्तुष्ट किया और उनसे विदाली। तदनन्तर वे पालकी मे सवार हुए। उस पालकी को सबसे पहले भूमिगोचरी राजाओ ने, फिर विद्याधर राजाओं ने उठाया और सात-सात पग चले। फिर उसे इन्द्रों ने उठाया और उसे आकाशमार्ग से ले चले। भगवान के दोनो ओर खडे होकर इन्द्र चमर ढोल रहे थे। अभिनिष्क्रमण की इस पावन वेला में असख्य देव-देवियाँ, मनुष्य और स्त्रियाँ भगवान के साथ चल रहे थे। इस प्रकार भगवान ज्ञातृ षण्ड वन मे पहुँचे जो कुण्डग्राम (क्षत्रिय कुण्ड) के पूर्वोत्तर भाग मे ज्ञातृवशी क्षत्रियो का उद्यान था। वहाँ पहुँच कर भगवान पालकी से उतर पड़े और एक शिला पर उत्तराभिमुख होकर बेला का नियम लेकर विराजमान हो गये। इस प्रकार मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन, जबकि निर्मल चन्द्रमा हस्त और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के मध्य था, सन्ध्या के समय उन्होने वस्त्र, आभूषण और माला आदि उतार कर फेंक दिये, 'ॐनम: सिद्धेभ्य' कहकर केशलुचन किया। और आत्म ध्यान में लीन हो गये। भगवान ने जो वस्त्राभूषण आदि उतार कर फेंके थे, सौधर्मेन्द्र ने वे उठा लिये तथा लुचन किये हुए केशो का भी इन्द्र ने अपने हाथ से उठाकर मणिमय पिटारे मे रक्खा और देवो के साथ स्वय जाकर उन्हे क्षीरसागर मे पधरा दिया। सब देव भगवान की स्तुति करके अपने-अपने स्थान को चले गये।

भगवान ने एकाकी ही दीक्षा ली थी। सयम धारण करते समय वे अप्रमत्त नामक सातवे गुणस्थान में स्थित थे। उस समय उनकी आत्मा मे निर्मल परिणामो के कारण परम विशुद्धि थी। फलत. उन्हे तत्काल मन: पर्यय ज्ञान प्रगट हो गया। उन्होने वस्त्रालकार उतार कर बाह्य परिग्रह का ही त्याग नही किया, बल्कि उन्होने आभ्यन्तर परिग्रह का भी त्याग कर दिया। बाह्य परिग्रह का त्याग तो आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग का अनिवार्य फल था।

अन्त. परिग्रह के त्याग का प्रारम्भ बाह्य परिग्रह के त्याग से होता है। बाह्य परिग्रह बना रहे और अन्त: परिग्रह समाप्त हो जाय, ऐसा कभी सभव नही हो सकता। अन्त:परिग्रह के त्याग को भावना मन मे जागृत होते ही बाह्य परिग्रह का त्याग करने की प्रवृत्ति तो स्वत. होती है। बाह्य परिग्रह की रक्षा करके उसकी आसक्ति से कैसे बचा जा सकता है। तब न बाह्य परिग्रह का ही त्याग हुआ और न अन्त:परिग्रह का त्याग ही हो पायगा। इसीलिये जैन साधु को निर्ग्रन्थ कहा जाता है। बौद्ध ग्रन्थों मे महावीर को निगण्ठ नातपुत्त कहा गया है। क्योंकि वे अन्त.बाह्य परिग्रह से रहित थे। श्वेताम्बर ग्रन्थो में इन्द्र द्वारा महावीर के कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र डालकर उनकी नग्नता छिपाने की कल्पना की गई है। सौधर्मेन्द्र सम्यग्दृष्टि और एकभवावतारी होता है। वह साधु के सयम के विरुद्ध कोई कार्य कर सकता है, ऐसी तो कल्पना भी नही की जा सकती। यदि कोई अज्ञानी ऐसा सयमविरोधी कार्य करता है तो साधु उसे उपसर्ग मानता है। यह तो सामान्य साधु की भी चर्या है। फिर महावीर तो तीर्थंकर थे जो परम विशुद्धि के धारक थे। उनके लिये ऐसी संयम विरोधी कल्पना की गई, यही आश्चर्य है।

पारणा के दिन भगवान आहार के लिये वन से निकले। वे विहार करके कूलग्राम पहुँचे। वहाँ के राजा कूल ने नवधा भक्ति के साथ भगवान का प्रतिग्रह किया। उसने भक्तिपूर्वक भगवान की तीन प्रदक्षिणायें दी, उनके चरणो में नमस्कार किया और उच्च आसन पर बैठाया। अर्घ आदि से उनकी पूजा की और मन, वचन, काय की शुद्धि के साथ परमान्न (खीर) आहार दिया। भगवान के आहार के उपलक्ष्य में देवो ने उस राजा के घर में पचाश्चर्य किये—शीतल मन्द सुगन्धित पवन बहने लगा, सुगन्धित जल की वर्षा हुई, रत्नवर्षा हुई, देव-दुन्दुभि बजने लगी और आकाश मे देवो ने जयध्वनि की—धन्य यह दान, धन्य यह दाता और धन्य यह सुपात्र।

भगवान आहार के पश्चात् वहाँ से बिहार कर गये।

रुद्रकृत उपसर्ग

एक बार बिहार करते हुए भगवान उज्जयिनी पहुँचे और नगर के बाहर अतिमुक्तक नामक श्मशान मे प्रतिमा योग धारण करके विराजमान हो गए। भगवान को देखकर महादेव नामक रुद्र ने उनके धैर्य की परीक्षा करनी चाही। उसने रात्रि मे भगवान के ऊपर भयानक उपसर्ग किये। उसने अपनी विक्रिया के बल से भयंकर बैतालों का रूप धारण किया। वे भयानक और हृदय को कपित करने वाली लीलाएँ करने लगे। कभी वे किलकारी लगाते, कभी वीभत्स रूप धारण करके अट्टहास करते, कभी भयकर नृत्य करने लगते और कभी एक दूसरे के उदर को फाड़कर उसके अन्दर घुस जाते। कभी वह रुद्र सिह अथवा व्याघ्र का रूप धारण करके वीभत्स गर्जना करने लगता, कभी विकराल सर्प बनकर फुकारने लगता। कभी वह सुन्दर देवी का रूप धारण करके नाना प्रकार के अश्लील हाव भाव दिखाता और अपनी मोहिनी द्वारा उन्हे ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न करता। इस प्रकार उसने भगवान की समाधि भग करने की नाना प्रकार की चेष्टाये की किन्तु भगवान तो इन सब उपद्रवो से अप्रभावित रहकर आत्म-ध्यान में सुमेरु पर्वत की तरह अचल रहे। तब रुद्र अत्यन्त लज्जित होकर भगवान के चरणो मे नतमस्तक हो गया और अत्यन्त विनय एव भक्ति से भगवान की भावभरी स्तुति करने लगा—'प्रभु ! धन्य है आप। आपकी धीरता और वीरता अनुपम है। आप योगियो के मुकुटमणि हैं। आप वस्तुत: महति और महावीर है। नाथ ! आप महान् हैं। प्रभो ! मुझ अज्ञानी की अविनय को आप क्षमा करे। आप तो क्षमामूर्ति है और मैं कुटिल, पामर और अधम हूँ। मैंने आप के प्रति अक्षम्य अपराध किये है, मेरी दुष्टता की सीमा नही है। मेरा उद्धार कैसे होगा !'' यो कहकर प्रायश्चित के उद्वेग से उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। बहुत देर तक वह अपने अपराधो को आँखों की राह बहाता रहा। जब हृदय का भार कुछ कम हो गया तो वह भक्ति के उद्रेक से नृत्य करने लगा। उसके इस भक्ति नृत्य मे पार्वती ने भी साथ दिया। फिर वह भगवान को नमस्कार करके चला गया।

भगवान की साधना निरन्तर सतेज हो रही थी। वे आत्म-विजय की राह मे निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जा रहे थे। वे एक बार बिहार करते हुए कौशाम्बी पधारे। तभी एक हृदयद्रावक घटना घटित हुई। वैशाली

चन्दनबाला का उद्धार

के गणप्रमुख चेटक की सबसे छोटी पुत्री चन्दनबाला—जिसे प्यार में चन्दना भी कहते थे—अपनी सखियो के साथ राजोद्यान मे विहार करने के लिए गई। वह क्रीडा मे रत थी। वह एक सुकुमार कली थी जो पुष्प बनने की ओर उन्मुख थी। उसका रूप अत्यन्त स्निग्ध, प्रशान्त किन्तु उन्मादक था। वह अनिन्द्य सुन्दरी और मोहिनी थी। तभी एक विद्याधर अपने विमान मे उद्यान के ऊपर से गुजरा। अकस्मात् ही उसकी दृष्टि उद्यान की ओर गई। वहाँ एक भुवनमोहिनी रूप-सी बाला को देखकर वह कामविह्वल हो गया। वह नीचे उतरा और बलात् चन्दना का अपहरण करके विमान द्वारा भागा। असहाय चिड़िया बाज के पजो में फसी तडपती रही। उसने करुणाजनक रुदन किया। किन्तु वह अपने शीलव्रत पर दृढ़ थी और उसे अपने धर्म पर दृढ आस्था थी। तभी विद्याधर की पत्नी विद्याधरी रौद्र रूप धारण करके आती हुई दिखाई दी। विद्याधर का सम्पूर्ण पौरुष अपनी विद्याधरी को देखते ही हिम के समान गलित हो गया। उस कामातुर की दशा दयनीय हो गई। कामातुर अब चिन्तातुर हो गया। वह चन्दना को एक भयानक जगल में उतारकर अपने प्राण बचाकर भागा। पापियो में साहस नही होता।

बेचारी चन्दना उस निर्जन वन मे रुदन करती हुई घूम रही थी। एक भील कही से आ निकला और एक सुन्दरी को एकाकी देखकर पुरस्कार के लोभ में उसे भेंट करने अपने सरदार के पास ले गया। भील सरदार भी उस अक्षतयौवना को देखकर उसके ऊपर मोहित हो गया। वह नाना उपायो से चन्दना को मोहित करने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु शीलाग्रही चन्दना को वह किसी प्रकार विचलित न कर सका। तब वह दुष्ट उसे अनेक प्रकार के त्रास देने लगा। किन्तु जिसे धर्म पर दृढ आस्था है, वह शारीरिक कष्टो की कब चिन्ता करता है। उसका तो विश्वास होता है कि शरीर नाशवान है, वह एक दिन नष्ट होगा ही। वह पुनः मिल सकता है। किन्तु यदि धर्म नष्ट हो गया तो वह पुन नही मिलता। उसका पुन मिलना असभव नही तो बहुत कठिन है। चन्दना कष्टो से तनिक भी विचलित नही हुई। उसे अहर्निश चिन्ता थी अपने धर्म की, शील की।

भीलराज सभी उपाय करके हार गया। अन्त मे निराश होकर उसने चन्दना को दासो के एक व्यापारी के हाथ बेच दिया। वह व्यापारी दासो के रेवड के साथ जजीरों मे बाध कर चन्दना को हाकता हुआ कौशाम्बी ले पहुँचा और उसे दासो के हाट में खडा कर दिया। उस नरपिशाच को चन्दना के सौदे में अच्छा मुनाफा मिलने की आशा थी। वह सोचता था—यह दासी तो राजरानी बनने योग्य है। रूप है, यौवन है, सुकुमारता है, अग सौष्ठव है। राजमहालय का कचुकी अच्छा मूल्य देकर इसे क्रय कर लेगा। चन्दना पूर्व जन्म मे सचित अशुभ कर्मों का विपाक समझ कर शान्ति और धैर्य के साथ इन कष्टो और अपमानो को सहन कर रही थी। तभी जिनालय मे दर्शन-पूजन से निवृत्त होकर सेठ वृषभदत्त उधर से निकले। वे एक धर्मपरायण व्यक्ति थे। उनकी दृष्टि कुमारी चन्दना पर पडी। देखते ही मन मे करुणा जागृत हुई। वे सोचने लगे—अवश्य ही यह कन्या किसी सम्भ्रान्त कुल की है। दुर्दैव से यह इन नरपिशाचो के हाथो मे पड गई है। यह सोचकर वे दासो के उस सौदागर के पास पहुँचे और यथेच्छित मूल्य देकर और उसे अपनी धर्मपुत्री मानकर ले आये। घर ले जाकर अपनी निस्सन्तान पत्नी सुभद्रा से बोले—'दुर्भाग्यवश हमारे कोई सन्तान नही थी, किन्तु भाग्य ने हमें एक सुलक्षणा कन्या दे दी है। इसे किसी प्रकार का कष्ट न हो, इसका पूरा ध्यान रखना।' वे श्रेष्ठी चन्दना से पुत्रीवत् व्यवहार करते और उसकी प्रत्येक सुख-सुविधा का ध्यान रखते थे। किन्तु सेठानी श्रेष्ठी के इस व्यवहार को कपट व्यवहार समझती थी। वह सोचती थी कि श्रेष्ठी इस सुन्दर युवती को पत्नी बनाने के लिए लाया है। इसके रहते मेरी स्थिति दयनीय हो जायगी और मेरा पद, मान, अधिकार सब कुछ मेरी इस सपत्नी को मिल जायगा। यह राजरानी बनकर शासन करेगी और मेरे साथ दासीवत् व्यवहार होने लगेगा। वह यह सोचकर सापत्न्य द्वेष से दिनरात जलने लगी और चन्दना से प्रतिशोध लेने एव उसका अपमान करने के लिये उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगी।

तभी व्यापारिक कार्यवश श्रेष्ठी को परदेश जाना पड़ा। किन्तु चलते-चलते भी वे अपनी इस धर्मपुत्री का पूरा ध्यान रखने के लिए सेठानी को निर्देश दे गये। श्रेष्ठी के जाते ही सेठानी ने अपना कल्पित सापत्न्य द्वेष निकालना प्रारम्भ किया। उसने कैंची से चन्दना के केश काट दिये, जिससे उसका सौन्दर्य विरूप हो जाय। वह उसे मिट्टी के सकोरे में काजी मिश्रित कोदो का भात खाने के लिए दिया करती थी। सभवतः इससे उसका उद्देश्य यह था कि चन्दना का स्वास्थ्य खराब हो जाय। क्रोधवश वह चन्दना को सदा लोहे की साकल से बाधे

रखती थी। किन्तु चन्दना इन कष्टों और अपमानों को अपने कर्मों का अनिवार्य फल मानकर शान्ति और धैर्य के साथ सहन किया करती थी।

एक दिन भगवान महावीर वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी मे आहार के निमित्त पधारे। वे श्रेष्ठी वृषभदत्त के प्रासाद के सामने से निकले। भगवान को चर्या के लिए आते हुए देखकर चन्दना का रोम रोम हर्ष से भर उठा। उसे अभी कोदों का भात दिया गया था। वह भक्तिविह्वल होकर भगवान के प्रतिग्रह के लिये आगे बढ़ी। वह भूल गई अपनी दुर्दशा; वह भूल गई कि त्रिलोकवन्द्य भगवान के उपयुक्त आहार वह नहीं दे सकेगी। वह तो त्रिलोकनाथ प्रभु को अपने सात्विक हृदय की भक्ति का अर्घ्य चढाने के लिए आतुर हो उठी। जन्म जन्मान्तरों से सचित प्रभु-भक्ति आल्हाद में उसके नेत्रो से प्रवाहित होने लगी। उसका मुखमण्डल प्रभु दर्शन के हर्ष से सद्य. विकसित पुष्प के समान मोद से खिल उठा। उसके कमनीय कपोलो पर हर्ष की आभा तैरने लगी। अवरुद्ध पुण्य का स्रोत तीव्र वेग से खुल गया। उसकी लोहे की बेड़ियां टूट कर अलग जा पड़ी। केशविहीन सिर पर काले कुन्तल लहराने लगे। उसका मिट्टी का सकोरा स्वर्ण पात्र बन गया। कोदो का भात सुरभित शालो चावलो का भात बन गया। उसके जीर्ण शीर्ण वस्त्र बहुमूल्य चीनाशुक बन गये। उसने नवधा भक्ति के साथ आगे बढकर भगवान को पडगाया और विधिपूर्वक उन्हे आहार दिया। भगवान ने राजमहालयो के राजसी आहार की उपेक्षा करके एक हतभाग्य दासी द्वारा दिये हुए आहार को निर्विकार भाव से ग्रहण किया। अब तो चन्दना न हतभाग्य थी और न दासी थी। देवो ने उसके पुण्ययोग की सराहना की। आकाश मे देव दुन्दुभि बजने लगी। शीतल मन्द सुगन्धित पवन वहने लगा। सुगन्धित जल की वर्षा हुई। देवो ने रत्नवर्षा की तथा इस पुण्यप्रद दान, दाता और पात्र की जयजयकार की। भगवान आहार करके मौन भाव से बिहार कर गये।

चन्दना द्वारा भगवान को दिये गये इस आहार को चर्चा सम्पूर्ण कौशाम्बी मे होने लगी। इसकी गूज राज प्रासाद मे भी सुनाई दी। वत्स देश को पट्टमहिषी मृगावती ने भी यह चर्चा सुनी। वह उस महाभाग्य रमणीरत्न से मिलने को उत्सुक हो उठी, जिसे भगवान को आहार देने का पुण्य योग मिला। वह रथ मे आरूढ होकर सेठ वृषभदत्त के आवास पर पहुँची। सेठ वृषभदत्त भी अपनी व्यापार यात्रा से लौट आये थे। उन्होंने सब कुछ देखा सुना। वे अपनी धर्मपुत्री के सौभाग्य पर अत्यन्त हर्षित हुए, किन्तु अपनी पत्नी द्वारा उसके साथ किये गये दुर्व्यवहार पर बहुत कुपित हुए। उन्होंने अपनी पत्नी की कड़े शब्दो द्वारा भर्त्सना की। महारानी मृगावती जिस महाभाग रमणी से मिलने आई थी, उससे मिली। किन्तु वह आश्चर्य और हर्ष से भर उठी। उसने देखा, वह रमणी तो उसकी छोटी बहन चन्दनबाला है। वह उससे गले मिली। दोनो बहनें बडी देर तक हर्ष विषाद के आसू बहाती रहीं। मृगावती अपनी बहन के दुर्विपाक को कहानी सुनकर अत्यन्त दुखित हुई। वह बोली—'प्रिय बहन! जो होना था, वह हो गया उसे एक दुःस्वप्न समझकर भूलने की कोशिश करो। तुम मेरे साथ चलो। मै पिता जी को समाचार भिजवाय देती हूँ। चन्दना भी अपने धर्मपिता श्रेष्ठी से आज्ञा लेकर अपनी बडी बहन के साथ चली गई। कुछ समय पश्चात् वह अपने बन्धु बान्धवों से जा मिली। किन्तु उसने इतनी अल्पवय मे ही जो कष्ट झेले और ससार के वास्तविक रूप के दर्शन किये, उससे उसका मन भोगो से विरक्त हो गया। वह राजमहलों के सुख सुविधापूर्ण वातावरण मे भी विरक्त जीवन बिताने लगी और एक दिन भगवान महावीर को केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् वह राजसी जीवन का परित्याग करके भगवान के समीप आर्यिका बन गई और अपनी कठोर साधना एव योग्यता के कारण आर्यिका सघ की गणिनी के पद पर प्रतिष्ठित हुई।

भगवान विभिन्न देशो मे बिहार करते हुए विविध प्रकार के कठोर तप करते रहे। वे मौन रहकर आत्म विकारों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे। इस प्रकार कठोर साधना करते हुए लगभग बारह वर्ष का लम्बा काल बीत गया। किन्तु अनादिकाल से आत्मा पर जमे हुए कर्मों के मलिन सस्कारो को मिटाने के लिये बारह वर्ष का काल होता ही कितना है। जैसे सागर में एक बूद। भगवान विहार करते हुए जृम्भिक ग्राम के बाहर ऋजुकूला नदी के तट पर पहुंचे। वहाँ मनोरम वन में शालवृक्ष के नीचे एक शिला पर वेला (दो दिन का उपवास) का नियम लेकर प्रतिमा-

केवल ज्ञान कल्याणक

योग से ध्यानारूढ हो गये। कर्मों के मैल को साफ करने के लिये यह अन्तिम अमोघ प्रयत्न था। ध्यान में उनका सम्पूर्ण उपयोग आत्मा में केन्द्रित हो गया। इन्द्रियो और मन की गति निश्चल हो गई। तन भी निस्पन्द था। अब तो आत्मा को आत्मा के लिए आत्मा में ही सब कुछ पाना था। आत्मा की गुप्त और सुप्त समस्त शक्तियो को उजागर करना था। आत्मा की विशुद्धता निरन्तर प्रतिक्षण बढती जा रही थी। वे क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके शुक्ल ध्यान को बढाते जा रहे थे। अन्त में आत्मा के परम पुरुषार्थ ने कर्मो पर विजय प्राप्त कर ली। उस समय वैशाख शुक्ला दशमी का पावन अपराण्ह काल था, चन्द्रमा हस्त और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रो के मध्य में स्थित था। उस समय भगवान ने ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय नामक चारो घातिया कर्मो का क्षय कर दिया। फलत: उन्हे अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल और अनन्त वीर्य नामक चार आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त हो गई; उन्होंने अनन्तचतुष्टय प्राप्त कर लिए। अब वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो गये। सूर्य उदित होता है तो कमल स्वयं खिल उठते है। जिस शरीर के भीतर स्थित आत्मा मे केवल ज्ञान का सूर्य उगा तो वह शरीर भी साधारण से असाधारण हो गया। वह परमौदारिक हो गया और भूमि से उठकर आकाश में स्थित हो गया अर्थात् भूमि से चार अगुल ऊपर उठ गया। अन्य चौबीस अतिशय प्रगट हो गये। वह शरीर महिमा का निधान बन गया।

आत्मा के इस अलौकिक चमत्कार की मोहिनी से आकर्षित होकर वहाँ चारो जातियों के देव और इन्द्र श्रद्धा और भक्ति से भरे हुए आये और आकर भगवान की पूजा की, स्तुति की और केवल ज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाया। तब सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की।

भगवान महावीर समवसरण के मध्य में गन्धकुटी मे सिंहासन पर विराजमान थे। सप्त प्रातिहार्य विद्यमान थे। समवसरण में श्रोता उपस्थित थे। किन्तु भगवान का दिव्य ध्वनि नही हो रही थी। अष्ट प्रातिहार्य मे यह कमी असामान्य थी। तीर्थंकर प्रकृति के उदय होने पर अष्ट प्रातिहार्य अनिवार्य होते है। सभी श्रोता भगवान का उपदेश सुनने के लिए उत्सुक थे। किन्तु भगवान मौन थे। छद्मस्थ दशा मे बारह वर्ष तक भगवान मौन रहे थे और केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी भगवान का मौन भंग नहीं हो रहा था। धर्म के नाम पर पनापित अनाचार और मूढताओ से मानव ऊबा हुआ था। देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सभी प्राणी चातक के समान भगवान के मुख की ओर निहार रहे थे कि कब कल्याण मार्ग की अमृत वर्षा होती है। यह स्थिति छियासठ दिन तक रही। श्रोता समवसरण मे आते और निराश लौट जाते। स्थिति असामान्य थी। सौधर्मेन्द्र को इस स्थिति से चिन्ता हुई। उसने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर ज्ञात किया—भगवान की वाणी झेल सके, ऐसा कोई गणधर जब तक न हो तब तक भगवान की दिव्य ध्वनि कैसे खिरेगा और मुख्य गणधर बनने की पात्रता केवल इन्द्रभूति गौतम मे है। वह ब्राह्मण वेद वेदाङ्ग का प्रकाण्ड विद्वान है, किन्तु वह महाभिमानी है। एक बार उसे भगवान के निकट लाना होगा। तभी दिव्य ध्वनि का अवरुद्ध स्रोत प्रवाहित हो सकेगा।

गणधर का समागम

यह विचार करके इन्द्र वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके इन्द्रभूति गौतम के आवासीय गुरुकुल मे पहुँचा, जहाँ इन्द्रभूति पाच सौ शिष्यो को शिक्षण देता था। इन्द्र ने जाकर गौतम को आदरपूर्वक नमस्कार किया और बोला— 'विद्वन्! मै आपकी विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर आपके पास आया हूँ। मेरे गुरु ने मुझे एक गाथा सिखाई थी। उस गाथा का अर्थ मेरी समझ मे अच्छी तरह से नहीं आ रहा है। मेरे गुरु अभी मौन धारण किये हुए है। इसलिये आप कृपा करके मुझे उस गाथा का अर्थ समझा दीजिये।

इन्द्रभूति सुनकर बोले—'मैं तुम्हे गाथा का अर्थ इस शर्त पर बता सकता हूँ कि तुम गाथा का अर्थ समझ कर मेरे शिष्य बन जाओगे।'

इन्द्र ने गौतम की शर्त स्वीकार कर ली और उनके समक्ष निम्नलिखित गाथा प्रस्तुत की—

'पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।
अट्ठय पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य ॥

—षट्खण्डागम पु० ६ पृ० १२६

इन्द्रभूति इस गाथा को पढते ही असमंजस मे पड़ गये। उनकी समझ में ही नही आया कि पंच अस्तिकाय,

छह जीवनिकाय, आठ प्रवचन मातृका कौन-कौन सी है। किन्तु अहंकारवश वे यह बात दूसरे के समक्ष स्वीकार कैसे कर सकते थे। अत. उन्होंने विचार कर उत्तर दिया—तुम मुझे अपने गुरु के पास ले चलो। मैं उन्ही के सामने तुम्हें इस गाथा का अर्थ समझाऊँगा।

इन्द्र इसीलिये तो आया ही था। वह इन्द्रभूति को लेकर चल दिया। साथ में उनके ५०० शिष्य भी थे। उस समय भगवान राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर समवसरण में विराजमान थे। इन्द्र इन्द्रभूति को लेकर वहाँ पहुँचा, जहाँ समवसरण लगा हुआ था। इन्द्रभूति ने समवसरण के प्रवेश द्वार से जैसे ही प्रवेश किया, उनकी दृष्टि मानस्तम्भ के ऊपर पडी। मानोन्नत जनो के मान को गलित करने की अद्भुत क्षमता थी इस मानस्तम्भ में। उन्होने मानस्तम्भ की ओर क्या देखा, वे देखते ही रह गये, जैसे किसी मोहिनी ने उन्हे कीलित कर दिया हो। प्रतिक्षण उनके भावो मे परिवर्तन हो रहा था। उनका ज्ञानमद विगलित होरहा था और क्षण प्रतिक्षण उनके अन्तस् मे विनय, विनम्रता और शालीनता पैदा होरही थी। जब उनकी दृष्टि मानस्तम्भ के ऊपर से हटी, तब उनका हृदय विनय से भरा हुआ था। वे आगे बढे। उन्होने समवसरण की विभूति का अवलोकन किया और मन मे भक्ति जागृत हुई-धन्य है वह महाभाग, जिसकी विभूति की सीमा नही, देव और इन्द्र जिसकी अर्हनिश वन्दना करते है! कौन है वह चराचर वन्दित, जिसकी महिमा का पार नही है। इन्द्रभूति समवसरण की विभूति चारो ओर निहारते हुए विनीत भाव से आगे बढे। अब गन्धकुटी मे विराजमान भगवान के दर्शन होने लगे। भगवान के दर्शन हुए मानो मन और सम्पूर्ण इन्द्रियो की सम्पूर्ण शक्ति आखो में आसमायी हो। वे जब भगवान के समक्ष पहुंचे, तब तक इन्द्रभूति गौतम मे असाधारण परिवर्तन दिखाई देने लगा था। वे अहकारी इन्द्रभूति नही रह गये, वरन् वे विनम्र और श्रद्धा की मूर्ति बन गये थे। वे आगे बढे और भगवान के सामने जाते ही प्रणिपात करते हुए बोले--भगवन्! मै ज्ञान के अहकार मे सज्ज्ञान को भूल गया था। मुझे अपने चरणो मे शरण दीजिये और मेरा उद्धार कीजिये।' यह कह कर उन्होंने विधिपूर्वक मुनि-दीक्षा ले ली। दीक्षा लेते ही उन्हे परिणामो की विशुद्धि के कारण आठ ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई, चार ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान) प्राप्त हो गये।

गौतम स्वामी द्वारा सयम धारण करते ही भगवान को ६६ दिन से रुकी हुई वाणी-दिव्य ध्वनि प्रकट हुई। भगवान की दिव्यध्वनि मे प्रकट हुआ--'गौतम। तुम्हारे मन मे शका है कि जीव है या नही? इस विषय को लेकर भगवान की दिव्य ध्वनि मे जीवतत्त्व का विस्तृत विवेचन हुआ। महावीर भगवान के उपदेश मे उन्हे श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पूर्वाण्ह काल मे समस्त अगो के अर्थ और पद स्पष्ट जान पडे। उसी दिन अपराण्ह कालमे अनुक्रम से पूर्वो के अर्थ और पदो का स्पष्ट बोध होगया। बोध होने पर उन्होने उसी रात्रि के पूर्व भाग मे अगो की और पिछले भाग मे पूर्वो की ग्रन्थ रचना की। ये भगवान के प्रथम और मुख्य गणधर बने।

धर्मचक्र प्रवर्तन अथवा तीर्थ स्थापना—षट्खण्डागम भाग १ पृ० ६२-६३ मे भगवान महावीर के प्रथम उपदेश को तीर्थ-प्रवर्तन की सज्ञा दी है। इस सिद्धान्त ग्रन्थ का तत्सम्बन्धी अवतरण इस प्रकार है—

इम्मिस्से वसप्पिणीए चउत्थ समयस्स पच्छिमे भाए।
चोतीस वास सेसे किंचि विसेसूणए सते ॥५५॥
वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावण बहुले।
पाडिवद पुव्व दिवसे तित्थुप्पत्ती हु अभिजिम्हि ॥५६॥
सावण बहुल पडिवदे रुद्द मुहुत्ते सुहोदार रविणो।
अभिजिस्स पढम जोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो ॥५७॥

अर्थात् इस अवसर्पिणी कल्पकाल के दु.षमा सुषमा नाम के चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चोतीस वर्ष बाकी रहने पर वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण मास में प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष मे, प्रतिपदा के दिन प्रातः काल के समय आकाश में अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर धर्म-तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन रुद्र मुहूर्त मे सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित नक्षत्र के प्रथम योग में जब युग की आदि हुई, तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

इस विवरण से मिलता जुलता विवरण धर्मतीर्थ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे तिलोयपण्णत्ती, में इस प्रकार दिया है—

सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि।
विपुलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥१।६५

अर्थात् देव और विद्याधरो के मन को मोहित करने वाले और सार्थक नाम वाले पचशैलनगर (राजगृह, मे पर्वतो में श्रेष्ठ विपुलाचल पर्वत पर श्री वीरजिनेन्द्र अर्थकर्ता हुए।

'एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि।
तेत्तीसवास अडमास पण्णरस दिवससेसम्मि ॥१।६८
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि वहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥१।६९

अर्थात् यहाँ अवसर्पिणी के (चतुर्थ काल के अन्तिम भाग में तेतीस वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर) प्रथम मास श्रावण में कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

(श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन ही युग का प्रारम्भ हुआ था) यह भी एक संयोग था कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को ही भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि हुई। इस प्रकार धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति या धर्म प्रवर्तन की तिथि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा है।

भगवान महावीर के ११ गणधर थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्म, मण्डिकपुत्र, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास। ये सभी गणधर ब्राह्मण थे, उपाध्याय थे। ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के ज्ञाता थे। ये वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी थे। सबके समचतुरस्र संस्थान था। गणधर बनने पर सबको आमर्षौषधि आदि आठ लब्धियाँ प्राप्त हो गई थी और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान इन चार ज्ञानो की उत्पत्ति होगई थी। ये सभी अपने शिष्य समुदाय के साथ भगवान के निकट दीक्षित हुए थे। इन गणधरो के सम्बन्ध मे श्वेताम्बर साहित्य मे विस्तृत परिचय मिलता है। संक्षेप में इनके सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य इस प्रकार है—

भगवान के गणधर

इन्द्रभूति— माता प्रिथिवी, पिता वसुभूति, गोत्र गौतम। मगध मे गोर्वर ग्राम के रहने वाले थे। इनके ५०० शिष्य थे। इनके मन मे शका थी कि जीव है या नही। इनकी शका के समाधान रूप मे ही भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी थी। इनकी कुल आयु ९२ वर्ष की थी, जिसमे ५० वर्ष गृहस्थ दशा के, ३० वर्ष छद्मस्थ दशा के और शेष १२ वर्ष केवलज्ञान दशा के थे।

अग्निभूति—माता, पिता, गोत्र और जन्म स्थान इन्द्रभूति के समान। इनके शिष्यो की संख्या ५०० थी। इनके मन मे शका थी कि कर्म है या नही। ये भगवान के द्वितीय गणधर बने। इनकी कुल आयु ७४ वर्ष की थी, जिसमे ४६ वर्ष गृहस्थ दशा के, १२ वर्ष छद्मस्थ दशा के और १६ वर्ष केवली दशा के थे।

वायुभूति—माता, पिता, गोत्र और स्थान पूर्ववत्। इनके ५०० शिष्य थे। इन्हे सन्देह था कि शरीर और जीव भिन्न-भिन्न नही, एक ही है। इनकी आयु ७० वर्ष की थी, जिसमे ४२ वर्ष गृहस्थ दशा के, १० वर्ष छद्मस्थ दशा के और १८ वर्ष केवली दशा के थे।

व्यक्त—माता वारुणी, पिता धनमित्र, कोल्लाग सन्निवेश और भारद्वाज गोत्र। इनके ५०० शिष्य थे। इन्हे शका थी कि पृथ्वी आदि भूत है या नही। इनकी कुल आयु ८० वर्ष की थी, जिसमे ५० वर्ष गृहस्थ दशा में, १२ वर्ष छद्मस्थ दशा मे और १८ वर्ष केवली दशा मे व्यतीत किये।

सुधर्म—माता का नाम भद्रिला, पिता धमिल, स्थान कोल्लाग सन्निवेश और गोत्र अग्नि वैश्यायन। इनके ५०० शिष्य थे। इन्हे विश्वास था कि जो इस जन्म में जैसा है, वह आगामी जन्म मे भी वैसा ही रहेगा। इनकी आयु १०० वर्ष की थी, जिसमे ५० वर्ष गृहस्थ अवस्था के, ४२ वर्ष छद्मस्थ और ८ वर्ष अरहन्त दशा के थे।

मण्डिक पुत्र—माता विजयदेवी, पिता धनदेव, स्थान मौर्य सन्निवेश, वशिष्ठ गोत्र। इन्हे शका थी कि वन्ध-मोक्ष है या नही। इनको कुल आयु ८३ वर्ष की थी, जिसमे ५३ वर्ष गृहस्थी मे वीते, १४ वर्ष छद्मस्थ रहे और १६ वर्ष केवली रहे। इनके शिष्यो की सख्या ४५० थी।

मौर्यपुत्र—माता-पिता, स्थान और गोत्र मण्डिक पुत्र के समान। इन्हे देवो के अस्तित्व मे सन्देह था। इनके ४५० शिष्य थे। इनकी आयु ६५ वर्ष की थी, जिसमे ६५ वर्ष गृहस्थी मे, १४ वर्ष छद्मस्थ पर्याय मे और १६ वर्ष केवली पर्याय मे व्यतीत हुए।

अकम्पित—माता का नाम जयन्ती, पिता का नाम देव, जन्म स्थान मिथिला, और गोतम गोत्र। इनके ३०० शिष्य थे। इनके मन मे शका थी कि नारकी है या नहीं। इनकी कुल आयु ७८ वर्ष थी, जिसमें ४८ वर्ष गृहस्थ, ६ वर्ष तक छद्मस्थ और २१ वर्ष केवली रहे।

अचलभ्राता—नन्दा माता, वसु पिता, कोशल के रहने वाले और हारीतस गोत्र। इनके कुल ३०० शिष्य थे। पुण्य के बारे मे इन्हे सन्देह था। इनकी आयु ७२ वर्ष थी, जिसम ४६ वर्ष गृहस्थ, १२ वर्ष छद्मस्थ और १४ वर्ष केवली रहे।

मेतार्य—माता वरुण देवता, पिता दत्त, स्थान वत्स जनपद मे तुगिक सन्निवेश और कौण्डिन्य गोत्र। इनके ३०० शिष्य थे। इनके मन मे परलोक के सम्बन्ध मे सशय था। इनकी आयु ६२ वर्ष की थी, जिसमे ३६ वर्ष गृहस्थ दशा मे, १० वर्ष छद्मस्थ दशा म और १६ वर्ष केवली दशा म बिताये।

प्रभास—माता अतिभद्रा, पिता वल, राजगृह निवासी और कोण्डिन्य गोत्र। इनके ३०० शिष्य थे। इन्हे मोक्ष के बारे मे शका थी। इनकी आयु ४० वर्ष की थी, जिसमे १६ वर्ष कुमार काल, ८ वर्ष छद्मस्थ काल और १६ वर्ष केवली दशा का काल था।

इन गणधरो मे इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति सहोदर थे। इसी प्रकार मण्डिक पुत्र और मौर्यपुत्र की माता एक थी, किन्तु पिता पृथक् थे। ये सभी केवलज्ञानी बने और अन्त मे राजगृह से मुक्त हुए। भगवान महावीर के जीवन काल मे ६ गणधर मुक्त हुए और भगवान के निर्वाण-गमन के पश्चात् इन्द्रभूति और सुधर्म मुक्त हुए।

जिस दिन भगवान महावीर का निर्वाण प्राप्त हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ। जिस दिन गौतम गणधर को निर्वाण प्राप्त हुआ, उसी दिन सुधर्म को केवलज्ञान हुआ। जिस दिन सुधर्म मुक्त हुए, उसी दिन जम्बू स्वामी का केवलज्ञान प्राप्त हुआ। फिर उनके पश्चात् कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ।

दिगम्बर साहित्य मे इन गणधरो के सम्बन्ध मे विस्तृत विवरण उपलब्ध नही होता। किन्तु मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र द्वारा विरचित 'गौतम चरित्र' मे गौतम गणधर के जीवन के सम्बन्ध मे इस प्रकार विवरण उपलब्ध होता है—

मगध देश मे एक ब्राह्मण नगर था। इस नगर मे अनेक ब्राह्मण विद्वान निवास करते थे। इसी नगर मे सदाचार परायण, बहुश्रुत और सम्पन्न शाण्डिल्य नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसके रूप और शील मे सम्पन्न स्थण्डिला और केसरी नामक दो पत्नियाँ थी। एक दिन रात्रि मे सोते हुए अन्तिम प्रहर मे स्थण्डिला ब्राह्मणी ने शुभ स्वप्न देखे। तभी पाँचवे स्वर्ग से एक देव आयु पूर्ण होने पर माता स्थण्डिला के गर्भ मे आया। गर्भावस्था मे माता की रुचि धर्म की ओर विशेष बढ गई थी।

नौ माह पूर्ण होने पर माता ने एक सुदर्शन पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के उत्पन्न होने पर उसके पुण्य का प्रभाव प्रकृति पर भी पडा। दिशाये निर्मल हो गई, सुगन्धित वायु बहने लगी, आकाश में देव लोग जय-जयकार कर रहे थे। पुत्र उत्पन्न होने से ब्राह्मण दम्पति को अपार हर्ष हुआ। शाण्डिल्य ब्राह्मण ने पुत्र-जन्म के हर्ष मे याचको को मनमाना धन दान दिया। निमित्तज्ञ ने पुत्र के ग्रहलग्न देखकर भविष्यवाणी की—'यह बालक बड़ा होने पर समस्त विद्याओ का स्वामी होगा और सारे ससार मे इसका यश फैलेगा।

बालक अत्यन्त सुदर्शन था। उसका मुख अत्यन्त तेजस्वी था। माता पिता ने उसका नाम इन्द्रभूति रक्खा।

जब बालक तीन वर्ष का हुआ, माता स्थण्डिला ने द्वितीय पुत्र को जन्म दिया। यह जीव भी पाँचवे स्वर्ग से आया था। यह भी वैसा ही सुन्दर ओर तेजस्वी था। इस बालक का नाम गार्ग्य रक्खा गया, जो बाद मे अग्निभूति के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इसके कुछ काल पश्चात् शाण्डिल्य ब्राह्मण की द्वितीय पत्नी केसरी ने वैसे ही तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम भार्गव रक्खा गया। यह भी पाँचवे स्वर्ग से आया था। यह पुत्र बाद मे वायुभूति के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तीनो भाइयो ने समस्त वेद-वेदाङ्ग और सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन किया और वे उनमे पारगत हो गये। उन्होने अपने-अपने गुरुकुल खोल लिये और शिष्यो को पढाने लगे। तीनो के शिष्यों की सख्या पाच-पाच सौ थी। किन्तु इन्द्रभूति में एक दुर्बलता भी थी। उन्हे अपनी विद्वत्ता का बडा अभिमान था।

इसके पश्चात् देवराज इन्द्र छद्मरूप धारण करके उन्हे अपने साथ भगवान महावीर के पास ले गया। वहाँ जाकर इन्द्रभूति का मान गलित हो गया और वे भगवान के चरणो मे जैनेश्वरी दीक्षा लेकर भगवान के प्रथम और मुख्य गणधर बने, इसका वर्णन पूर्व मे किया जा चुका है।

आर्ष ग्र थ जयधवला मे इन्द्रभूति गोतम गणधर की विशेषताओ पर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार आचार्य वीरसेन ने बताया है—

'जो आर्यक्षेत्र मे उत्पन्न हुए है, मति-श्रुत-अवधि और मन पर्यय इन चार निर्मलज्ञानो से सम्पन्न है, जिन्होने दीप्त, उग्र और तप्त तप को तपा है, जो अणिमा आदि आठ प्रकार की वैक्रियिक लब्धियो से सम्पन्न है; जिनका सर्वार्थसिद्धि मे निवास करने वाले देवो से अनन्त गुना बल है, जो एक मुहूर्त मे बारह अ गो के अर्थ और द्वादशाग रूप ग्रथो के स्मरण और पाठ करने मे समर्थ है, जो अपने पाणिपात्र म दी गई खीर को अमृत रूप से परिवर्तित करने मे या उसे अक्षय बनाने मे समर्थ हे, जिन्हे आहार और स्थान के विषय मे अक्षीण ऋद्धि प्राप्त है, जिन्होने सर्वावधि ज्ञान से अशेष पुद्गल द्रव्य का साक्षात्कार कर लिया है; तप के बल से जिन्होने उत्कृष्ट विपुल मति मन.पर्ययज्ञान उत्पन्न कर लिया है, जो सात प्रकार के भय से रहित है, जिन्होने चार कषायो का क्षय कर दिया है, जिन्होने पाँच इद्रियों को जीत लिया है, जिन्होने मन-वचन-काय रूप दण्डो को भग्न कर दिया है, जो छहकायिक जीवो की दया पालने मे तत्पर है, जिन्होने कुल मद आदि आठ मदो का नष्ट कर दिया है, जो क्षमादि दस धर्मो म निरन्तर उद्यत है, जो आठ प्रवचन मातृक गणो का अर्थात् पाच समितियो और तीन गुप्तियो का परि-पालन करते है, जिन्होने क्षुधा आदि बाईस परीषहो के प्रसार को जीत लिया है, और जिनका सत्य ही अलकार है, ऐसे आर्य इद्रभूति के लिये उन महावीर भट्टारक ने अर्थ का उपदेश दिया। उसके अनन्तर उन गोतम गोत्र मे उत्पन्न हुए इन्द्रभूति ने एक अन्तर्मुहूर्त म द्वादशाग के अर्थ का अवधारण करके उसी समय बारह अग रूप ग्रथो की रचना की और गुणो म अपने समान सुधर्माचार्य को उसका व्याख्यान किया। तदनन्तर कुछ काल के पश्चात् इन्द्रभूति भट्टारक केवलज्ञान को उत्पन्न करके और बारह वर्ष तक केवलि बिहार रूप मे बिहार करके मोक्ष को प्राप्त हुए।'

इस विवरण मे गणधर इन्द्रभूति गौतम के सम्बन्ध म सभी ज्ञातव्य बातो पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु आश्चर्य है कि शेष गणधरो के सम्बन्ध मे विशेष जानकारी प्राप्त नही होती।

भगवान का धर्म संघ—भगवान महावीर क चतुर्विध सघ मे ११ गणधर थे। इनके अतिरिक्त ३११ ग्यारह अगो और १४ पूर्वो के ज्ञाता, ६६०० शिक्षक, १३०० अवधिज्ञानी, ७०० केवलज्ञानी, ६०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ५०० मन पर्ययज्ञानी और ४०० अनुत्तरवादी थे। इस प्रकार सब मुनियो की सख्या १४००० थी। चन्दना आदि ३६०००आर्जिकायें थी। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकाये थी। इनके अतिरिक्त असख्यात देव देविया और सख्यात तिर्यञ्च उनके भक्त थे।

भगवान की दिव्य ध्वनि अर्थात् उपदेश अर्धमागधी भाषा मे होता था। कुछ विद्वानो का मत है कि अर्ध-मागधी भाषा आधे मगध मे बोली जाने वाली भाषा होती है और यह लोक भाषा होती है। भगवज्जिनसेन[1] ने

---

१. आदि पुराण पर्व २३ श्लोक ६६ स ७३

भगवान की दिव्य ध्वनि

दिव्य ध्वनि के सम्बन्ध मे विस्तार से बताया है और कहा है कि भगवान की दिव्य ध्वनि बादलो की गर्जना के समान और गम्भीर होती है। दिव्य ध्वनि सुनकर श्रोताओ के मन का मोह और सन्देह दूर हो जाता है। भगवान यद्यपि एक ही भाषा मे बोलते है, किन्तु भगवान के माहात्म्य के कारण वह १८ महाभाषा और ७०० लघुभाषाओं के रूप मे परिणत हो जाती है और प्रत्येक श्रोता उसे अपनी-अपनी भाषा मे समझ लेता है। जैसे जल तो एक ही प्रकार का होता है, किन्तु विभिन्न प्रकार के वृक्षो की जडो मे पहुँच कर वृक्ष स्वभाव के अनुसार रसवाला हो जाता है। इसके लिये एक दूसरा उदाहरण भी दिया है। जैसे स्फटिक मणि एक ही प्रकार की होती है किन्तु उसके पास जिस रग का पदार्थ रख दिया जाता है, वह मणि उस पदार्थ के सयोग से उसी रंग वाली प्रतीत होने लगती है। इसी प्रकार भगवान की दिव्य ध्वनि भी एक प्रकार की होती है, किन्तु श्रोता जिस भाषा को समझता है, दिव्य ध्वनि उसके कानो मे उसी भाषा मे सुनाई पडती है। कुछ लोगो की धारणा है कि देवो द्वारा वह दिव्य ध्वनि सर्व भाषा रूप परिणत की जाती है। किन्तु आचार्य की मान्यता है कि ऐसा मानने पर यह माहात्म्य भगवान का न मानकर देवो का मानना पड़ेगा। कुछ लोग यह भी मानते है कि दिव्य ध्वनि अनक्षरी होती है किन्तु अनक्षरी का अर्थ लोक कैसे समझेगा। इसलिये वस्तुत वह अक्षर रूप ही होती है, अनक्षरी नही।

जब भगवान की दिव्यध्वनि होती है, उस समय बोलते समय भगवान के मुख पर कुछ भी विकार उत्पन्न नही होता। न तो उस समय भगवान के तालु ओठ आदि ही हिलते है, न उनके मुख की कान्ति बदलती है। वह बिना किसी प्रयत्न और इच्छा के ही होती है। उसके अक्षर स्पष्ट होते है। जब वह दिव्य ध्वनि भगवान के मुख से निकलती है तो लगता है जैसे किसी पर्वत की गुफा के अग्रभाग से प्रतिध्वनि निकल रही हो[1]।

तत्कालीन राजन्य वर्ग पर भगवान का प्रभाव

भगवान महावीर लोकोत्तर महापुरुष थे। उनके व्यक्तित्व और देशना का प्रभाव उस काल मे निर्धन से लेकर राजाओ और झोपडो से लेकर राजमहालयो तक समान रूप मे पडा था। प्रभाव पडने का अर्थ था कि वे भगवान के धर्म मे दीक्षित हो गये थे। भगवान महावीर के देशना-काल से पूर्व पार्श्वापत्य धर्म का व्यापक प्रचार था। तत्कालीन क्षत्रिय वर्ग और राजन्य वर्ग प्राय पार्श्वापत्य धर्म का अनुयायी था। भगवान के मातामह और वैशाली के गण प्रमुख महाराज चेटक और कुण्डग्राम के गण प्रमुख और भगवान के पिता महाराज सिद्धार्थ भी पार्श्वापत्य थे। अन्य अनेक राजा भी इस धर्म के अनुयायी थे। किन्तु भगवान महावीर के उपदेश और धर्म-देशना को सुनकर वे सभी महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म मे दीक्षित हो गये। पार्श्वापत्य और महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म भिन्न-भिन्न नही थे। ऋषभदेव से लेकर तीर्थकरो की परम्परा द्वारा एक ही धर्म का उपदेश दिया गया। अत किसी तीर्थंकर ने किसी नवीन धर्म की न तो स्थापना की और न किसी नये सत्य की उद्भावना ही की। दो तीर्थकरो के अन्तराल काल मे धर्म की जो ज्योति धूमिल पड गई थी, उसी ज्योति को आगामी तीर्थंकर ने अपने काल मे अपने प्रभाव और धर्मोपदेशो से प्रज्वलित और प्रदीप्त किया। पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् महावीर हुए। इस अन्तराल मे धर्म के प्रति लोक-रुचि मे कुछ ह्रास आना स्वाभाविक था। महावीर ने पुन. धर्म के प्रति लोक-रुचि को जागृत किया। अतएव पार्श्वनाथ और महावीर दोनो एक ही परम्परा के समर्थ महापुरुष और तीर्थंकर थे। इसीलिये यह कल्पना भी नही की जा सकती कि महावीर ने किसी नवीन धर्म की स्थापना की।

श्रेणिक बिम्बसार

राजाओ मे भगवान महावीर का सर्वप्रमुख भक्त मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार था।

वह शिशुनागवशी था। इतिहासकारो ने इस वश के राजाओ का प्रामाणिक इतिहास दिया है। मि० विन्सैण्ट स्मिथ के अनुसार इस वश के श्रेणिक से पूर्ववर्ती राजाओ का राज्य-काल कुल मिलाकर १२६ वर्ष होता

---

१. आदि पुराण पर्व २४ श्लोक ८१-८४

है, जबकि पार्जीटर के अनुसार यह काल १३६ वर्ष है। किन्तु इन दोनो मतो के विरुद्ध श्री त्रिभुवनदास गेल० शाह Ancient India, Vol I में यह काल २२६ वर्ष बताते हैं। इन्होने इस वश के राजाओ का विस्तृत इतिहास और उनकी काल-गणना दी है। आपकी मान्यता का सार इस प्रकार है—

काशी में वृहद्रथ वश के राजा अश्वसेन राज्य करते थे जो भगवान पार्श्वनाथ के पिता थे। अश्वसेन की मृत्यु के पश्चात् काशी की गद्दी पर शिशुनाग नामक एक क्षत्रिय राजा बैठा। इसी राजा से शिशुनाग वश चला। मत्स्य पुराण मे शिशुनाग वश के राजाओं का राज्य-काल ३३३ वर्ष बताया है। शिशुनाग वश के पश्चात् मगध की गद्दी नन्द वश के राजाओ के अधिकार में आ गई। उनका राज्य-काल १०० वर्ष है।

अश्वसेन इक्ष्वाकुवशी थे किन्तु शिशुनाग वैशाली के लिच्छवी[1] सम्वृज्जि वश का था। शिशुनाग ने काशी के राज्य पर बलात् अधिकार कर लिया। इससे कोशल नरेश वृत्त को बहुत क्षोभ हुआ क्योकि वह भी इक्ष्वाकुवशीय था और वश के नाते काशी पर अपना अधिकार मानता था। उसने काशी के ऊपर कई बार आक्रमण किया, किन्तु शिशुनाग पर विजय प्राप्त नही कर पाया। कुछ समय के पश्चात् मगध के मल्ल क्षत्रियो ने शिशुनाग को मगध का शासन सूत्र सम्हालने का अनुरोध किया। तदनुसार शिशुनाग अपने पुत्र काकवर्ण को काशी का शासन सुपुर्द करके मगध चला गया। शिशुनाग की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर कोशल नरेश ने काकवर्ण के ऊपर आक्रमण करके काशी के ऊपर अधिकार कर लिया। शिशुनाग का जब इसकी सूचना मिली तो उसने कोशल नरेश के ऊपर भयानक वेग से आक्रमण कर दिया और पुन काशी पर अधिकार करके उसे मगध राज्य मे मिला लिया। शिशुनाग की मृत्यु के पश्चात् इस वश म काकवर्ण, क्षेमवर्धन और क्षेमजित हुए। फिर प्रसेनजित हुआ। इसके समय मे मगध की राजधानी कुशाग्रपुर थी। राजधानी मे सभी मकान और महल लकडी के बने हुए थ। किन्तु कभी कभी इन मकानो मे आग लग जाती थी। इस कठिनाई मे परेशान होकर प्रसेनजित ने वैभारगिरि के शिखर के ऊपर एक भव्य प्रासाद बनवाया। प्रजा भी पर्वत के ऊपर भवन बनाकर रहने लगी। किन्तु राजधानी पर्वत के ऊपर होने के कारण व्यापार और यातायात की बडी असुविधा होने लगी। तब श्रेणिक ने पहाडो की तलहटी मे राजगृह नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया।

श्रेणिक को राज्याधिकार किस प्रकार मिला, इसके सम्बन्ध मे बडा रोचक विवरण मिलता है। प्रसेनजित के बहुत से पुत्र थे। प्रसेनजित ने अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित करने के लिये दो उपाय किये। उसने मिठाई से भरी टोकरियाँ और पानी से भरे कच्चे घड़े रखवा दिये। उन सबका मुख बाध दिया गया। तब उसने अपने सब पुत्रो को बुलाया और उनसे टोकरी और घडे बिना तोडे या बिना खोले मिठाई खाने और पानी पीने का आदेश दिया। सभी राजकुमार किंकर्तव्यविमूढ बने एक दूसरे का मुख देखने लगे। उन्हे कोई उपाय नही सूझा। किन्तु श्रेणिक ने पहले टोकरी को खूब हिलाया, जिससे मिठाई टूट गई और छेदो मे से टुकडे निकलकर गिरने लगे। उसने मजे से मिठाई खाई। फिर उसने घड के चारो ओर कपडा लपेट दिया। जब कपडा भीग गया तो उसने एक पात्र मे वह निचोड लिया। इस प्रकार कई बार करने पर पात्र जल से भर गया। तब उसने जल पीकर अपनी पिपासा शान्त की।

राजा ने दूसरी परीक्षा इस प्रकार ली—उसने राजकुमारो को एक कक्ष मे दावत दी। ज्यो ही राजकुमार भोजन करने लगे, तभी उनके ऊपर शिकारी कुत्ते छोड दिये गये। राजकुमार अपने प्राण बचाकर भागे, किन्तु श्रेणिक निश्चिन्ततापूर्वक भोजन करता रहा। जब कुत्ते उसकी ओर आते, वह अन्य राजकुमारो की थाली मे से भोज्य पदार्थ कुत्तो की ओर फेंक देता। कुत्ते उन्हे खाने लगते। इस प्रकार उदरपूर्ति करके श्रेणिक उठ खडा हुआ। राजा उसकी सूझ-बूझ और आपत्तिकाल मे भी तत्क्षण बुद्धि को देखकर बडा प्रसन्न हुआ। वह समझ गया कि यदि श्रेणिक राजा बना तो प्रजा उससे सन्तुष्ट और सुरक्षित रहेगी। इस प्रकार श्रेणिक पिता की मृत्यु के पश्चात् राज्यासीन हुआ।

---

१. The journal of the Orissa Bihar Research Society, Vol. 1 p. 76 तारानाथ नन्द राजाओ को भी इसी वंश का बताते है।

दि० जैन शास्त्रों में श्रेणिक का चरित्र अत्यन्त विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है। जैन शास्त्रों के अनुसार मगध देश के राजगृह नगर का नरेश उपश्रेणिक था। उसकी रानी का नाम सुप्रभा था। उससे श्रेणिक उत्पन्न हुआ था। निमित्त-ज्ञानियों ने बताया कि जो पुत्र सिंहासन पर बैठकर भेरी बजायगा, कुत्तों को खीर खिलायगा और स्वयं भी खायेगा, वही इस राज्य का उत्तराधिकारी होगा। एक दिन श्रेणिक ने इसी प्रकार किया। राजा को विश्वास होगया कि मेरा यही पुत्र मेरा उत्तराधिकारी बनेगा। किन्तु इसके अन्य भाई इसका कोई अनिष्ट न करदें, इस भय से और इसकी सुरक्षा की दृष्टि से राजा ने अपमानित करके श्रेणिक को राज्य से निकाल दिया। श्रेणिक अनेक नगरों में भ्रमण करता रहा। इस प्रवास में कांचीपुर नरेश वसुपाल की पुत्री वसुमित्रा, और राजा के मंत्री सोमशर्मा की पुत्री अभयमती के साथ उसने विवाह किया। अभयमती से अभयकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

पिता ने संसार से विरक्त होकर मुनि दीक्षा ले ली और अपने पुत्र चिलात को राज्य सौंप दिया। चिलात ने राज्य पाकर प्रजा के ऊपर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। इससे प्रजा में घोर असन्तोष व्याप्त होगया। यह देखकर मंत्रियों ने श्रेणिक के पास कांचीपुर समाचार भेजा और शीघ्र आकर राज्य भार ग्रहण करने का अनुरोध किया। समाचार पाकर श्रेणिक तुरन्त राजगृह पहुँचा और चिलात को हटाकर शासन सूत्र ग्रहण किया। इसके पश्चात् वैशाली के गण प्रमुख महाराज चेटक की पुत्री चेलना कुमारी के साथ अभयकुमार के बुद्धि कौशल द्वारा श्रेणिक का विवाह सम्पन्न हुआ। चेलना जैनधर्मानुयायी थी और श्रेणिक के ऊपर बुद्ध का प्रभाव था, किन्तु चेलना के प्रयत्न से श्रेणिक भी जैनधर्मानुयायी बन गया। चेलना के दो पुत्र हुए—वारिषेण और कुणिक।

श्रेणिक जिस घटना के कारण जैन धर्म के प्रति श्रद्धानी बना, वह कथा अत्यन्त रोचक है। एक बार श्रेणिक शिकार खेलने वन में गया। वहाँ ध्यानस्थित यमधर मुनि को देखकर उसे बड़ा क्रोध आया। वह सोचने लगा—इसने अपशकुन कर दिया है, जिससे मुझे कोई शिकार नहीं मिला। क्रोध में भरकर उसने पांच सौ शिकारी कुत्ते मुनि के ऊपर छोड़ दिये। किन्तु मुनि के तप के प्रभाव से वे कुत्ते मुनि के समीप पहुंचकर शान्त हो गये और मुनि की तीन प्रदक्षिणा देकर मुनि के समीप बैठ गये। यह दृश्य देखकर तो राजा को मुनि के ऊपर और भी अधिक क्रोध आया। उसने मुनि को लक्ष्य करके बाण चलाये, किन्तु वे पुष्पमाल बन गये और मुनि के चरणों में आ गिरे। राजा के मन में उस समय इतनी तीव्र कषाय थी कि उसने उसी समय सप्तम नरक गति का और उत्कृष्ट आयु तेतीस सागर की आयु का बंध कर लिया। किन्तु श्रेणिक के मन पर मुनि के तप, साधना और अतिशय का स्वतः ऐसा अद्भुत प्रभाव पड़ा कि वह भक्ति से मुनि की प्रदक्षिणा देकर और उनके चरणों की वन्दना करके मुनि के निकट बैठ गया। दयालु मुनि ने ध्यान समाप्त करके राजा को जैन धर्म का उपदेश दिया जिसे सुनकर श्रेणिक नरेश के मन में जैन धर्म के प्रति निर्मल और प्रगाढ श्रद्धा उत्पन्न हो गई और क्षायिक सम्यग्दर्शन हो गया। सम्यग्दर्शन के कारण श्रेणिक का नरक गति का बन्ध सप्तम नरक के स्थान पर प्रथम नरक का रह गया और तेतीस सागर की आयु के स्थान में चौरासी हजार वर्ष की आयु रह गई। इसके पश्चात् वह भगवान महावीर का अनन्य भक्त बन गया। यद्यपि वह कभी-कभी गृध्रकूट पर्वत पर म० बुद्ध के पास भी जाता था, ऐसे कुछ उल्लेख बौद्ध शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं किन्तु ऐसा वह राजनयिक कारणों से करता था, जिससे बौद्ध जगत की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त कर सके। वह भक्तिवश ऐसा नहीं करता था।

जब भगवान महावीर का पदार्पण राजगृह में विपुलाचल पर होता था, तब वह भगवान के दर्शन करने अवश्य जाता था। जैन शास्त्रों में वह विपुलाचल पर भगवान के समवसरण में प्रधान श्रोता बताया गया है तथा दिगम्बर परम्परा में भगवान के मुख्य गणधर गौतम स्वामी से उसने अनेक तत्व सम्बन्धी प्रश्न किये हैं। जैन शास्त्रों के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि गौतम स्वामी ने जैन तत्वज्ञान और कथानकों का निरूपण श्रेणिक की जिज्ञासा के समाधान स्वरूप ही किया है। यहाँ तक कि जैन शास्त्रों में उसे अवसर्पिणी काल का भावी प्रथम तीर्थंकर बताया है, जिसका नाम पद्मनाभ होगा।

भगवान महावीर का प्रभाव न केवल श्रेणिक के ऊपर ही था, अपितु उसका सारा परिवार भी भगवान का अनन्य भक्त था। श्रेणिक के पुत्र वारिषेण, चिलात और अभयकुमार तथा महादेवी चेलना भगवान की भक्त थी

और इन सबने भगवान के पास यथा-समय जिन-दीक्षा लेकर आत्म कल्याण किया।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे श्रेणिक की अनेक रानियाँ और पुत्र बताये हैं। अन्तगड दशाङ्ग भाग-२ अध्याय १३ में बताया है कि श्रेणिक की १३ रानियाँ अपने पति की आज्ञा लेकर जैन आर्यिका बन गई। उनके नाम इस प्रकार थे—नन्दा, नन्दमती, नन्दोत्तरा, नन्दसेना, मरुया, सुमरुया, महामरुया, मरुदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमना और भूतदत्ता। इसी ग्रन्थ के राग ३ अध्याय १० में बताया है कि निम्नलिखित १० रानियाँ श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् जैन साध्वी हो गई—काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेन कृष्णा और महासेन कृष्णा।

भगवती सूत्र, कल्पसूत्र, आदि अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थो के अध्ययन से पता चलता है कि श्रेणिक की यो तो अनेक रानियाँ थी; किन्तु उनमें मुख्य रानियो में सुनन्दा, धारिणी, चेलना और कोशल देवी के नाम उल्लेखनीय थे। इसी प्रकार इनके पुत्रों में अभयकुमार, मेघकुमार, कुणिक (अजातशत्रु), हल्ल, विहल्ल, नन्दिषेण मुख्य थे। ये सभी रानिया और पुत्र (अजातशत्रु को छोडकर) भगवान महावीर के समीप दीक्षित हो गये थे।

बौद्ध शास्त्रो में 'महावग्ग' के अनुसार श्रेणिक की ५०० रानियाँ थी, किन्तु केवल क्षेमा नामक एक रानी के बौद्ध भिक्षुणी बनने का उल्लेख है।

इस सब विवरण से ज्ञात होता है कि राजगृह के राजपरिवार पर भगवान महावीर का महान प्रभाव था और उस राज परिवार के सभी स्त्री और पुरुष महावीर के अनुयायी थे।

वैशाली का राजपरिवार

उस काल मे वैशाली गणतन्त्र अत्यन्त समृद्ध था। राजनैतिक दृष्टि से समस्त भारत में उसका महत्वपूर्ण स्थान था। वैशाली गणतन्त्र के गणप्रमुख का नाम चेटक था। उनके सात पुत्रियाँ और दस पुत्र थे। चेटक के माता-पिता का नाम यशोमति और केक था। उनकी पुत्रियो के नाम इस प्रकार थे—प्रियकारिणी (त्रिशला), सुप्रभा, प्रभावती, प्रियावती, (सिप्रादेवी) सुज्येष्ठा, चेलना और चन्दना। दस पुत्रों में एक सिंहभद्र नामक पुत्र था, जो अपनी वीरता और योग्यता के कारण वैशाली गणतन्त्र की सेना का सेनाध्यक्ष था। इस परिवार का धर्म क्या था, इसका न केवल जैन शास्त्र, बल्कि बौद्ध ग्रन्थ एक ही उत्तर देते है कि यह परिवार निर्ग्रन्थो का भक्त था और जैन धर्म का अनुयायी था। जैन शास्त्रो मे ऐसे उल्लेख मिलते है कि महाराज चेटक पार्श्वापत्य धर्म को मानते थे। उनकी प्रतिज्ञा थी कि मैं अपनी पुत्रियो का विवाह जैन के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति के साथ नही करूंगा। अपनी इस प्रतिज्ञा का पालन उन्होने पूर्णत किया। उन्होंने अपनी बडी पुत्री प्रियकारिणी का विवाह कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ के साथ किया, प्रभावती सिन्धु-सौवीर के राजा उदायन के लिए दी, सिप्रादेवी (अपर नाम मृगावती) वत्स नरेश शतानीक के साथ विवाही गई तथा सुप्रभा कही-कही इसका नाम शिवादेवी भी मिलता है दशार्ण देश के हेमकच्छ के नरेश दशरथ को दी गई। इसका अर्थ यह है कि ये सारे राजा जैन थे और भगवान महावीर के अनुयायी थे। चूकि श्रेणिक उस समय बौद्ध धर्म का अनुयायी था, अत महाराज चेटक ने चेलना का विवाह उसके साथ नही किया। बाद मे श्रेणिक के पुत्र अभय कुमार की योजना से चेलना गुप्तरीति से गुप्त मार्ग द्वारा राजगृही पहुँची और उसका विवाह श्रेणिक के साथ हो गया। किन्तु चेलना की बुद्धिमानी से श्रेणिक जैन धर्मानुयायी हो गया और भगवान महावीर का भक्त बन गया। शेष दो पुत्रियाँ-ज्येष्ठा और चन्दना भगवान के पास दीक्षित हो गई।

सिद्धार्थ

सिद्धार्थ कुण्डग्राम के गणप्रमुख थे और राजा की उपाधि से विभूषित थे। उनके पिता का नाम सर्वार्थ और माता का नाम सुप्रभा था। सिद्धार्थ की महारानी त्रिशला थी। यह परिवार महावीर के जन्म से पूर्व पार्श्वापत्य धर्म का अनुयायी था, किन्तु महावीर भगवान की केवल ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् यह उनका अनुयायी बन गया। जब महावीर का जन्म हुआ था, उस समय उनके दादा-दादी जीवित थे, इस प्रकार का कोई उल्लेख देखने में नही

आया। दिगम्बर परम्परा में भगवान के माता और पिता की दीक्षा अथवा मृत्यु का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

उदायन

सिन्धु-सौवीर नरेश उदायन के साथ प्रभावती का विवाह हुआ था। उसकी राजधानी वीतभयपट्टन थी। प्रभावती प्रतिदिन जीवन्त स्वामी की प्रतिमा की पूजा किया करती थी। जब उसे अपनी आसन्न मृत्यु के बारे में निश्चय हो गया तो उसने वह प्रतिमा अपनी एक प्रिय दासी को सोंप दी और वह आर्यिका बन गई। एक दिन गान्धार से एक व्यापारी सिन्धु देश आया। वहाँ आकर वह बीमार पड़ गया। उसका उपचार उस दासी ने किया, जिससे प्रसन्न होकर उस व्यापारी ने कुछ अद्भुत गोलियाँ दीं। एक गोली खाते ही वह अनिन्द्य सुन्दरी बन गई। जब उसने दूसरी गोली खाई तो एक देवी उसके समक्ष प्रकट हुई और बोली—पुत्री! बता, तेरी क्या इच्छा है। दासी बोली—आप मेरे उपयुक्त कोई पति तलाश कर दीजिये। देवी बोली—तेरा विवाह अवन्ती नरेश चण्डप्रद्योत के साथ होगा। यथासमय चण्ड प्रद्योत आया और वह अपने हाथी अनलगिरि पर बैठा कर उस दासी तथा उस मूर्ति को ले गया। कुछ दिनों पश्चात् यह समाचार राजा उदायन को ज्ञात हुआ। उसने चण्ड प्रद्योत को दासी और मूर्ति वापिस देने का सन्देश भेजा किन्तु उसने देने से इनकार कर दिया। इस उत्तर से क्रुद्ध होकर उदायन ने अवन्ती पर आक्रमण करके चण्ड प्रद्योत को पराजित कर दिया। चण्ड प्रद्योत बन्दी बना लिया गया। दासी भागने में सफल होगई किन्तु मर गई। उदायन ने मूर्ति को ले जाना चाहा, किन्तु वह वहाँ से हिली तक नहीं। तभी प्रभावती जो देवी बनी थी, राजा के समक्ष प्रगट हुई और बोली—'राजन्!' इस मूर्ति को पट्टन ले जाने का प्रयत्न छोड़ दो क्योंकि तुम्हारी राजधानी तूफान में नष्ट होने वाली है।

उदायन चण्डप्रद्योत को बन्दी बनाकर अपने साथ लेगया। उसने चण्ड के माथे पर एक स्वर्ण पत्र बाँध दिया जिसपर अंकित था—मम दासीपतिः। मार्ग में दशपुर में सेना ने पडाव डाला। उस दिन पर्यूषण पर्व था। उदायन ने रसोइया को बुलाकर कहा—'पर्यूषण के कारण आज मेरा उपवास है। तुम चण्ड प्रद्योत से पूछ लो, वे क्या भोजन करेंगे।' रसोइया ने जाकर यह बात चण्ड प्रद्योत को बताई। उसके मन में सन्देह उत्पन्न होगया कि कहीं यह कोई कुटिल चाल तो नहीं है। मेरे भोजन में विष मिलाकर कहीं मुझे मारना तो नहीं चाहता। यह सोचकर वह बोला —'मैं भी जैन हूँ। आज मेरा भी उपवास है।' रसोइया ने यह समाचार राजा उदायन को दिया। सुनते ही वह चण्ड प्रद्योत के निकट आया और अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा मांगते हुए बोला—'बन्धुवर! मैं अपने कृत्य पर लज्जित हूँ। मुझे ज्ञात नहीं था कि तुम तो मेरे धर्म-बन्धु हो।' यह कहकर उसने चण्ड प्रद्योत का आदरपूर्वक मुक्त कर दिया और वीतभय पट्टन लौट गया।

इस घटना से ज्ञात होता है कि राजा उदायन एक कट्टर जैन श्रावक था। रत्नकरण्ड श्रावकाचार तथा कथाकोषों में सम्यग्दर्शन के तृतीय अंग निर्विचिकित्सा अंग के उदाहरण में उदायन का नाम दिया है। एक देव उनकी परीक्षा लेने दिगम्बर मुनि का वेष बनाकर आया। राजा उदायन और रानी प्रभावती ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। तभी मुनिवेषधारी देव ने उनके ऊपर वमन कर दिया। किन्तु राजदम्पति ने कोई ग्लानि नहीं की बल्कि अपना अशुभोदय समझकर मुनि की वैयावृत्य की। देव ने प्रगट होकर उनके सम्यग्दर्शन की बड़ी प्रशंसा की।

शतानीक

वत्सनरेश शतानीक के साथ सिप्रादेवी (मृगावती) का विवाह हुआ था। उसकी राजधानी कौशाम्बी थी। शतानीक ललितकला का शौकीन था। उसके दरबार में उसका एक कृपापात्र चित्रकार रहता था। किसी कारणवश शतानीक ने अप्रसन्न होकर उसे निकाल दिया। चित्रकार के मन में प्रतिशोध की आग जलने लगी। उसने महारानी मृगावती का एक सुन्दर चित्र बनाया और जाकर अवन्ती नरेश चण्ड प्रद्योत को भेंट किया। प्रद्योत उसे देखते ही मृगावती पर मोहित हो गया। उसने शतानीक को सन्देश भेजा—तुम या तो मृगावती को मुझे सोंप दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार होजाओ। शतानीक ने युद्ध करना पसन्द किया। दोनों नरेशों में युद्ध हुआ। इसी युद्ध के दौरान किसी

रोग या घटना में शतानीक की मृत्यु होगई। उस समय शतानीक का पुत्र उदयन केवल ६-७ वर्ष का था। शतानीक की मृत्यु होने पर चण्ड प्रद्योत उस समय तो लौट गया किन्तु कुछ माह बाद वह फिर कौशाम्बी पर चढ दौडा। उसने मृगावती के पास सन्देश भेजा—या तो मेरी इच्छा पूरी करो, अन्यथा युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। मृगावती बडी समझदार थी। उसने उत्तर दिया—'मुझे आपका आदेश स्वीकार है, किन्तु उदयन अभी निरा बालक ही है। वह कुछ बडा हो जाय और आपके हाथों उसका राज्याभिषेक हो जाय, तब तक आप प्रतीक्षा करे।' चण्ड प्रद्योत ने यह शर्त स्वीकार कर ली।

इस अवसर का लाभ मृगावती ने युद्ध की तैयारी के लिए उठाया। उसने इस अवधि मे दुर्ग, खाई और प्राचीर बनवाये। उदयन अब तेरह वर्ष का हो गया था। मृगावती उसका राज्याभिषेक करने की तैयारी करने लगी। तभी चरो द्वारा चण्ड प्रद्योत को मृगावती की युद्ध सम्बन्धी तैयारियो का पता लगा। वह क्रोध से आग बबूला हो गया। उसने विशाल सेना लेकर कौशाम्बी को घेर लिया। मृगावती ने नगर के सभी फाटक बन्द करा दिये। तभी कौशाम्बी मे भगवान महावीर का पदार्पण हुआ। उनके उपदेश से चण्ड प्रद्योत युद्ध से विरत हो गया। इतना ही नही, उसने अपने हाथों से उदयन का राज्याभिषेक किया। इसके पश्चात् मृगावती भगवान के सघ में आर्यिका बन गई।

कुछ वर्ष पश्चात् उदयन ने कौशल से चण्ड प्रद्योत की राजकुमारी वासवदत्ता के साथ विवाह किया। उदयन ललित कलाओं—विशेषत वीणावादन मे उस युग का सर्वश्रेष्ठ निपुण व्यक्ति माना जाता था। किन्तु दुर्भाग्य मे उसके कोई सन्तान नही थी। वह अपना अधिकाश समय धर्माराधना मे व्यतीत किया करता था। एक बार उसने किसी सेवक को उसके अपराध के लिए कडी भर्त्सना की। इस अपमान से क्षुब्ध होकर सेवक प्रतिशोध लेने की भावना से अवन्ती चला गया और छद्मरूप से जैन मुनि बन गया। कुछ दिन पश्चात् वह अपने गुरु के साथ विहार करता हुआ कौशाम्बी आया। दोनों मुनि जिनालय मे ठहरे। एक दिन उदयन प्रोषधोपवास का नियम लेकर जिनालय मे अपना समय धार्मिक अनुष्ठान मे व्यतीत करने के लिए ठहरा। जब उदयन और गुरु दोनो सो रहे थे, उस मायावी साधु ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अवसर उपयुक्त समझा और उसने सोते हुए राजा की छुरा घोप कर हत्या कर दी। हत्या करके वह तो भाग गया। जब गुरु की नीद खुली और राजा को मृत पड़ा हुआ देखा तो लोकनिन्दा के भय से उन्होंने उसी छुरे से आत्म-हत्या कर ली।[१]

इस प्रकार तथ्यों के प्रकाश मे यह सिद्ध होता है कि कौशाम्बी का राजपरिवार भगवान महावीर का कट्टर भक्त था।

दशरथ

चेटक ने अपनी एक पुत्री सुप्रभा का विवाह दशार्ण देश के नरेश दशरथ के साथ किया था। इससे यह तो प्रगट ही है कि वह नरेश जैन था और महावीर का भक्त था, किन्तु तत्कालीन राजनीति मे उसका क्या योगदान था अथवा राजनैतिक जगत मे उसकी क्या स्थिति थी, इतिहास ग्रन्थो से यह ज्ञात नही होता।

श्वेताम्बर ग्रन्थो मे इस पुत्री का नाम शिवादेवी दिया है और उसका विवाह अवन्ती नरेश चण्ड प्रद्योत के साथ हुआ बताया है। चण्ड प्रद्योत उस युग का प्रचण्ड और शक्तिशाली नरेश था। कल्पसूत्र में उल्लेख मिलता है कि उसने अपने शौर्य द्वारा चौदह राजाओं को अपने आधीन बनाया था। एक बार अवन्ती मे भयानक अग्नि का प्रकोप हुआ, किन्तु शिवादेवी ने अपने शील के माहात्म्य से उसे बुझा दिया था। सभवत प्रद्योत अपने प्रारम्भिक जीवन मे तापसो का अनुयायी था, किन्तु सिन्धु-सौवीर नरेश द्वारा क्षमा प्रदान करने पर वह कट्टर जैन बन गया था। प्रद्योत तो वस्तुत वश का नाम था, उसका नाम तो महासेन था और अपनी प्रचण्डता के कारण वह चण्ड प्रद्योत कहलाने लगा था। उसने अपने जीवन मे दो काम इतने अविवेकपूर्ण किये, जिनके कारण उसे अपयश का भागी

१ Ancient India, Vol, 1 p, 116 by Tribhuban, L, Shah,

बनना पड़ा। एक तो सिन्धु-सौवीर के वीतभयपट्टन से जीवन्त स्वामी की प्रतिमा का अपहरण, जिसके कारण उसे बन्दी बनना पड़ा और सिर पर 'मम दासीपतिः, इस लेख से अंकित स्वर्णपत्र लगाना पड़ा। दूसरा अविवेकपूर्ण कार्य मृगावती के शील हरण का प्रयत्न। जिसका परिणाम यह हुआ कि भगवान महावीर के उपदेश से उसे न केवल अपने कुटिल इरादों को छोड़ना पड़ा, वरन् अपने हाथो से मृगावती के पुत्र उदयन को राजमुकुट पहनाना पड़ा। इतना ही नहीं, उसके कुत्सित इरादों से क्षुब्ध होकर उसकी शिवादेवी आदि आठों रानियाँ महावीर भगवान के चरणसान्निध्य में आर्यिका बन गई और मृगावती ने भी दीक्षा ले ली। उदयन ने भी अपनी माता के अपमान का भयानक प्रतिशोध लिया। उसने चण्ड प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के साथ गुप्तरीति से विवाह करके उसका अपहरण कर लिया। यदि चण्ड प्रद्योत अपने जीवन में ये अविवेकपूर्ण कार्य न करता तो सम्भवतः इतिहास में उसका गौरव-पूर्ण स्थान होता।

संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार कवि भास ने चण्ड प्रद्योत की महारानी मृगावती को वैदेही कहा है क्योंकि वह विदेह की राजकन्या थी।

चण्ड प्रद्योत ने अवन्ती पर ४८ वर्ष तक शासन किया। उसकी मृत्यु उसी दिन हुई, जिस दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ और उसी दिन अवन्ती के राजसिंहासन पर पालक राज्यासीन हुआ। वह चण्ड के दो अनुजों में छोटा था। चूँकि बड़ा भाई गोपाल जैन साधु हो गया था, अतः पालक राजा बना।

जीवन्धरकुमार

हेमागद देश के राजपुर नगर के नरेश जीवन्धरकुमार जैन धर्मानुयायी थे। एक बार विहार करते हुए भगवान महावीर वहाँ के सुरमलय नामक उद्यान में पधारे। जीवन्धरकुमार सपरिवार भगवान के दर्शनों के लिए गये। वहाँ भगवान का कल्याणकारी उपदेश सुनकर उन्हें भोगों से अरुचि हो गई और वे भगवान के समीप मुनि बन गये। उनके साथ उनके भाई नन्दाढ्य, मधुर आदि ने भी दीक्षा ले ली। जीवन्धर की माता विजया तथा उनकी आठो रानियाँ चन्दना के पास आर्यिका बन गई। भगवान के मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद मुनि जीवन्धर विपुलाचल पर पहुँचे। वहाँ समस्त कर्मों का नाश करके वे भी मुक्त हो गये। इस प्रकार सुदूर हेमागद देश (वर्तमान कर्नाटक) का राज परिवार भी भगवान का भक्त था।

उपर्युक्त राजाओं के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों और नगरों के अनेक नरेश समय-समय पर भगवान महावीर का उपदेश सुनने के लिये आते थे। अनेक राजपरिवारों में जैनधर्म कुलधर्म था। अग, बग, कलिंग, मगध, वत्स, काशी, कोशल, अवन्ती, शूरसेन, नागपुर, अहिच्छत्र, सुदूर-सिन्धु-सौवीर, चेर, पाण्ड्य आदि अनेक देशों के राजा भगवान के भक्त थे। वज्जि सघ, मल्ल सघ, काशी-कोल सघ, यौधेय आदि गणतन्त्रों में महावीर की मान्यता सर्वाधिक थी। भगवान का निर्वाण होने के समय इन गणसघों के प्रतिनिधि पावा में एकत्रित हुए थे और उन्होंने अपने गणसघों की ओर से भगवान का निर्वाण महोत्सव मनाया था।

अन्य नरेश-गण

भगवान जब श्रावस्ती पधारे थे, तब वहाँ के राजा प्रसेनजित ने भगवान का पाद-वन्दन किया था और उसकी महारानी मल्लिका ने एक सभागृह बनवाया था, जिसमें तत्वचर्चा होती रहती थी।

पोलाशपुर में जब भगवान का पदार्पण हुआ, तब वहाँ के राजा विजयसेन ने समवसरण में भगवान का उपदेश श्रवण किया था और भगवान की बड़ी भक्ति की थी। राजकुमार ऐमत्त तो भगवान का उपदेश सुनकर मुनि बन गया था।

चम्पा नरेश कुणिक अजातशत्रु (श्रेणिक बिम्बसार का पुत्र) भगवान के चम्पा में पधारने पर नंगे पैरों और राजचिन्हों से रहित होकर भगवान की अभ्यर्थना करने नगर के बाहर गया था। जब तक भगवान का समव-

सरण वहाँ रहा, वह नियमित रूप से भगवान का उपदेश सुनने जाता रहा और जब भगवान का विहार हुआ तो वह कौशाम्बी तक भगवान के साथ गया।

काशी नरेश जितशत्रु ने वाराणसी पधारने पर भगवान की बड़ी भक्ति की थी और राजकुमारी मुण्डिका ने श्राविका के व्रत ग्रहण किये।

भगवान जब कलिंग पधारे तो वहाँ के नरेश जितशत्रु ने बड़ा आनन्दोत्सव मनाया और वह कुमारी पर्वत पर भगवान के निकट मुनि-दीक्षा लेकर अन्त में मुक्त हुआ। उसकी पुत्री राजकुमारी यशोदा ने भी चन्दना के निकट आर्यिका के व्रत ग्रहण किये। जब भगवान का विहार पोदनपुर की ओर हुआ, तब वहाँ का राजा विद्रदाज भगवान का भक्त बन गया।

भगवान शूरसैन देश में पधारे। मथुरा में भगवान का समवसरण था। वहाँ का राजा उदितोदय भगवान का उपदेश सुनकर उनका भक्त बन गया।

काम्पिल्य नरेश जय भगवान के पधारने पर उनके निकट निर्ग्रन्थ मुनि बन गया और प्रत्येक बुद्ध हुआ।

महावीर का लोकव्यापी प्रभाव—भगवान महावीर के धर्म-विहार और प्रभाव का प्रामाणिक इतिहास मिलता है। आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' में इस इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है। हरिवंश पुराण में वर्णित यह इतिहास प्रामाणिक तो है ही, उससे भारत के सभी भागों में भगवान महावीर के अलौकिक प्रभाव-विस्तार पर भी अधिकृत प्रकाश पड़ता है। उसका सार इस प्रकार है—

राजा श्रेणिक प्रतिदिन तीर्थंकर भगवान की सेवा करता था। वह गौतम गणधर को पाकर उनके उपदेश से सब अनुयोगों में निष्णात हो गया था। उसने राजगृह नगर को जिन मन्दिरों से व्याप्त कर दिया था। राजा के भक्त सामन्त, महामंत्री, पुरोहित तथा प्रजा के अन्य लोगों ने समस्त मगध देश को जिनमन्दिरों से युक्त कर दिया। वहाँ नगर, ग्राम, घोष, पर्वतों के अग्रभाग, नदियों के तट और वनों के अन्त प्रदेशों में सर्वत्र जिनमन्दिर ही जिनमंदिर दिखाई देते थे। इस प्रकार वर्धमान जिनेन्द्र ने पूर्वदेश की प्रजा के साथ-साथ मगध देश की प्रजा को प्रबुद्ध कर विशाल मध्यदेश की ओर गमन किया। मध्य देश में धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होने पर समस्त देशों में धर्म विषयक अज्ञान दूर हो गया। जिस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अनेक देशों में विहार कर उन्हें धर्म से युक्त किया था, उसी प्रकार भगवान महावीर ने भी वैभव के साथ विहार कर मध्य के काशी, कोशल, कुसन्ध्य, अस्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त, पंचाल, भद्रकार, पटच्चर, मोक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन और वृकार्थक, समुद्र तट के कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कम्बोज, वाल्हीक, यवन, सिन्धु, गान्धार, सौवीर, सूर, भीरु, दशेरुक, वाडवान, भरद्वाज और क्वाथतोय तथा उत्तर दिशा के तार्ण, कार्ण और प्रच्छाल आदि देशों को धर्म से युक्त किया।

भगवान महावीर के धर्म विहार के इस व्यवस्थित और प्रामाणिक इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीर ने भारत के अनेक प्रदेशों में विहार किया था। उन्होंने जहाँ जहाँ विहार किया था, वहाँ जैन धर्म के मानने वालों की संख्या बहुत हो गई। भगवान के धर्मोपदेश का परिणाम बहुमुखी था। सर्वसाधारण के मानस में हिंसा के प्रति संस्कार बद्धमूल हो गये थे, धार्मिक क्षेत्र में हिंसामूलक क्रियाकाण्डों को अभ्युदय और निश्रेयस के लिए अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार कर लिया गया था, उनके प्रति जनमानस में वितृष्णा और क्षोभ उत्पन्न हो गया। लोक मानस में एक अद्भुत उद्वेलन उत्पन्न हो गया। यह एक असाधारण उपलब्धि थी। उस स्थिति की कल्पना कर, जब देश के बहुसंख्यक वर्ग का यह विश्वास था कि हिंसामूलक यज्ञ यागादि से सभी प्रकार की इह-लौकिक कामनायें पूर्ण हो जाती है। मंत्रों के अधिष्ठातृ देव इन्द्र, वरुण, ऋत, अग्नि, वायु आदि आलभन द्वारा ही प्रसन्न हो सकते हैं। उसका यह विश्वास एक-बारगी ही हिल गया, जब महावीर की समर्थ वाणी 'सत्वेषु, मैत्री' की उद्घोषणा करती हुई सारे देश और विदेशों में गूँज उठी। समस्त जनता के एकमात्र विश्वास को चामत्कारिक ढंग से एक साथ किसी ने परिवर्तित कर दिया हो, संसार में ऐसे उदाहरण प्राय मिलते नहीं। विश्वास भी वह जो बहुसंख्यक समर्थ सम्प्रदाय का हो। उस विश्वास के विरुद्ध उठी आवाज उस सम्प्रदाय के विरुद्ध उठी आवाज मान ली जाती है। किन्तु महावीर ने किसी का विरोध नहीं किया। उन्होंने कोई बात निषेधात्मक अथवा विरोधात्मक

नही कही। विरोध से विरोध उत्पन्न होता है। विरोध कषाय में से निपजता है और उससे फिर कषाय निपजती है। महावीर तो विरोधो में समन्वय का अमृत तत्व लेकर आये। विरोध आये और वे समन्वय के चरणों मे झुक गये। जिसके मन मे सम्पूर्ण मानव समाज, मानव ही क्यो, विश्व के प्राणीमात्र की मगल कामना हो, कल्याण-कामना हो, उसका विरोध ही क्यो होगा। जिसने निजता का सर्वथा त्याग कर दिया, उसकी निजता की परिधि असीम अनन्त बन जाती है। जिसके भीतर और बाहर ग्रन्थि नही रही, उसका भीतर और बाहर स्वच्छ और निर्मल होता है, उसकी अहंता और ममता नि शेष हो जाती है, वही तो निर्ग्रन्थ कहलाता है। महावीर ऐसे ही निर्ग्रन्थ थे, निर्ग्रन्थ ही नही, महा निर्ग्रन्थ थे। वे जो कहते थे, किसी विशेष जाति, वर्ग, वर्ण, देश, काल और प्राणी के लिए नही कहते थे। वे सबके लिये, सबके हित के लिये, सबके सुख के लिए कहते थे, सबकी भाषा मे कहते थे, सबके बीच में बैठकर कहते थे। इसलिए उनके निकट सब पहुँचते थे, उनकी बात सब सुनते थे, सब समझते थे और सुनकर सब मानते थे।

अहिसा माने आत्मौपम्य दर्शन अर्थात् तुम्हारी आत्मा मे जो अमृतत्व की शक्ति छिपी है, तुम्हारी आत्मा को सुख-दु ख की जो अनुभूति होती है, वही शक्ति दूसरी आत्मा मे भी छिपी हुई है, दूसरी आत्मा को सुख-दु ख की वैसी ही अनुभूति होती है। वह शक्ति एक आत्मा अपने भीतर से प्रगट कर सकती है, तो दूसरी आत्मा भी अपने भीतर की उस शक्ति को प्रगट कर सकती है और इस तरह सभी आत्माये उस शक्ति को प्रगट कर सकती है। शुद्ध सकल्प की आवश्यकता है। इस स्वावलम्बी सकल्प मे किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा कहाँ ठहरती है। हमारी शक्ति हमारे ही प्रबल पुरुषार्थ द्वारा जागेगी। स्वावलम्बन के इस तत्व से ही स्वाधीनता की उपलब्धि हो सकती है। स्वाधीनता का यही मूल तत्व, स्वावलम्बन का यही तत्व दर्शन महावीर के उपदेशो का सारतत्व था। जिसे अमृतत्व की उस शक्ति को उजागर करना है, वह दूसरो का विरोध क्यो करेगा। उसकी तो जीवन-दृष्टि मे ही आमूल परिवर्तन आ जायगा। वह मन से, वचन से और कर्म से कोई ऐसी भावना, वचन या कार्य नही करेगा, जिससे दूसरे को पीडा हो, दूसरे का अहित हो, दूसरे का अकल्याण हो।

महावीर के उपदेशो का लोक जीवन पर जो प्रभाव पडा, उसमे तत्कालीन समाज मे प्रचलित विभिन्न सम्प्रदाय और धर्म, देश और जातियाँ भी अछूते नही रहे। इतिहासकार भी यह स्वीकार करते है कि वैदिक ब्राह्मणो को महावीर की अहिसा और जीवन सिद्धान्तो से प्रभावित होकर यज्ञ यागादि का रूप बदलना पडा। तब जो वैदिक साहित्य निर्मित हुआ, उसमे ज्ञान यज्ञ को प्रमुखता दी गई, कर्मयोग को महत्व दिया गया और आधिभौतिक स्वरो के स्थान पर आध्यात्मिक स्वर गूजने लगे। आचार और विचार दोनो ही क्षेत्रो मे अहिसा को मान्यता दी गई।

महावीर के सिद्धान्त आत्मवाद पर आधारित थे। वे आत्मा की अनन्त शक्तियो पर विश्वास करते थे। अचेतन को चेतन पर हावी नही होने देना चाहते थे और इसी प्रकार एक आत्मा पर अन्य किसी आत्मा का अधिकार स्वीकार नही करते थे। आत्मा के ऊपर किसी अन्य आत्मा के अधिकार का अर्थ आत्मा की शक्तियो पर अविश्वास मानते थे। उनका यह सन्देश था कि आत्मा अपने उत्थान और पतन का स्वय उत्तरदायी है। यह सन्देश सार्वत्रिक और सार्वकालिक था। यह किसी वर्ग, वर्ण, जाति और देश से अतीत था। उन्होने आत्मा को वर्ण, जाति और वर्ग की सीमाओ मे नही जकड़ा, आत्मा की शक्ति को भी इन बन्धनो में नही बाँधा। महावीर के इस सिद्धान्त ने सभी वर्णों, सभी जातियो, सभी लिंगो और सभी क्षेत्रो के निवासियो मे अपना चरम और परम उत्कर्ष करने का आत्म विश्वास जगाया और सदियों की हीन भावना और परतन्त्रता के सस्कारो से सभी ने मुक्ति प्राप्त की। महावीर के इस आत्म समभावी शाश्वत सन्देश ने अन्त्यजो, शूद्रो से लेकर ब्राह्मणो तक, स्त्रियो और पुरुषो, यहाँ तक कि पशु पक्षियो तक में आत्मिक विकास की स्पृहा जगा दी। परिणाम यह हुआ कि महावीर के चरणो में ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य वर्ण के पुरुष भी आये और भील तथा शूद्रो ने भी आत्म कल्याण किया। स्त्रियो ने भी आर्यिका दीक्षा लेकर अपने चरम आत्मोत्कर्ष के लिए पथ प्रशस्त किया। यहाँ तक कि मेढक भी मुह मे कमल की पखुड़ी दबाये भगवान की पूजा की भावना के अतिरेक से भगवान के समवसरण की ओर चल पड़ा। महत्व शरीर का

नहीं; आत्मा का है। मूल्य बाह्य क्रियाकाण्ड का नहीं; भावना का है। महावीर ने सबके कल्याण, हित और सुख की बात कही, इसलिए भगवान सबके ही गये, सब उनके हो गये।

लोक मानस मे चिरकाल से बद्धमूल संस्कारो के लिये महावीर का जीव-साम्य का सिद्धान्त एक युगान्तरकारी क्रान्ति का आव्हान लेकर आया था। जो जातीय दंभ में डूबे हुए थे, उनके सस्कार एकबारगी ही इस सिद्धान्त को पचा नही पाये। वे रोष और विरोध लेकर महावीर के निकट आये और उनकी अनन्त करुणा की छाया मे आते ही उनके शिष्य बन गये। भगवान महावीर के निकट सर्वप्रथम जिन ४४११ व्यक्तियों ने शिष्यत्व ग्रहण किया था, वे विरोध करने और भगवान को पराजित करने के उद्देश्य से ही आये थे और वे सभी ब्राह्मण थे। चन्दना आदि अनेक महिलाओ ने भी भगवान के निकट आर्यिका-दीक्षा ली। अनेक क्षत्रिय नरेश और उनकी रानियाँ भगवान के धर्म-परिवार मे सम्मिलित हुए। जम्बूकुमार आदि अनेक वैश्यो ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया।

इस देश के ही नही, अन्य देशो के अनेक व्यक्ति भी भगवान के निकट आकर दीक्षित हुए थे। उस समय भारत की भौगोलिक सीमाये वर्तमान की अपेक्षा काफी विस्तृत थी। उस समय गान्धार आदि देश भारत मे ही सम्मिलित थे। इसलिये विदेश शब्द का प्रयोग वर्तमान काल की अपेक्षा प्रयुक्त किया गया है। राजकुमार अभयकुमार का एक मित्र आर्द्रक पारस्य (ईरान) का राजकुमार था। वह भगवान का भक्त हो गया था। ग्रीक देश के लगभग पाँच सौ योद्धा भगवान के भक्त बन गये थे। फणिक देश (Phoenccia) के वणिक् भी भगवान के भक्त हो गये थे। वहाँ का एक व्यापारी तो भगवान के सघ में मुनि बन गया था।

इस प्रकार हम देखते है कि लोक जीवन पर भगवान महावीर का अकल्प्य प्रभाव था और सारा देश भगवान महावीर के जयघोषो से गूज उठा था। उनकी जयघोष केवल उनके अलौकिक और दिव्य व्यक्तित्व की जयघोष नही थी, वस्तुत यह जयघोष उनके सिद्धान्तो की जयघोष थी।

श्वेताम्बर आगमो के अनुसार भगवान महावीर के ४२ विरक्त वर्षों मे चातुर्मास इस प्रकार हुए—अस्थिग्राम मे १, चम्पा और पृष्ठ चम्पा मे ३, वैशाली और वाणिज्य ग्राम मे १२, राजगृह और नालन्दा मे १४ मिथिलानगरी मे ६, भद्दिया नगरी मे २, आलभिका और श्रावस्ती मे १-१, वज्रभूमि में १, और पावापुरी में १ इस प्रकार भगवान ने कुल ४२ चातुर्मास किये।

इन चातुर्मासो के काल मे भगवान की वाणी से असख्य नर-नारियो को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। अनेक मुनि और आर्यिका बन गये, अनेक ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई, अनेक लोगो को धर्म मे आस्था दृढ हुई, अनेक ने अनेक प्रकार के व्रत-नियम लेकर जीवन-शुद्धि की और अनेक भगवान के धर्म के दृढ श्रद्धानी बने। इन सबका नाम यहाँ देना न तो सभव ही है और न सभी के नाम शास्त्रो मे मिलते है। किन्तु यहाँ कुछ व्यक्तियो के नाम दिये जा रहे है।

ब्राह्मण कुण्ड के ऋषभ-दत्त और देवानन्दा ने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। क्षत्रियकुण्ड के राजकुमार जमालि और उसकी स्त्रियो ने एक हजार स्त्रियो के साथ दीक्षा ली। कौशाम्बी नरेश शतानीक की बहन जयन्ती ने सयम ग्रहण किया। श्रावस्ती मे सुमनोभद्र और सुप्रतिष्ठ ने दीक्षा ग्रहण की। वाणिज्यग्राम में आनन्द गाथापति ने श्रावक के व्रत धारण किये। आनन्द की सम्पत्ति के सम्बन्ध मे शास्त्रो मे लिखा है कि उसका चार करोड स्वर्ण मान सुरक्षित था, चार करोड़ स्वर्णमान ब्याज पर लगा हुआ था। उसकी अचल सम्पत्ति चार करोड स्वर्णमान मूल्य की थी। उसका पशुधन चार प्रकार का था। गाय आदि चार प्रकार के पशुधन की सख्या प्रत्येक की १०-१० हजार थी। पर्व दिनों मे वह प्रोषध भवन मे अपना समय धर्म ध्यान मे व्यतीत करता था।

राजगृही के प्रमुख सेठ गोभद्र के पुत्र शालिभद्र ने अपनी ३२ स्त्रियों के साथ सयम धारण किया। कहते है, इन्होने एक भव्य जिनालय राजगृही मे बनवाया था, जिसके अवशेष राजगृही के मनियारमठ मे अब तक मिलते है। शालिभद्र के साथ उनके बहनोई धन्ना सेठ ने भी दीक्षा ले ली। ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर शास्त्रो के सुकुमाल सेठ और श्वेताम्बर शास्त्रों के शालिभद्र दोनो एक ही व्यक्ति थे। दोनो की जीवन-घटनाएँ एक ही है। उनकी सम्पत्ति और वैभव का कोई परिमाण नहीं था। एक व्यापारी से जिन रत्नकबलों को राजा श्रेणिक नही खरीद सका

वे रत्नकंबल सुकुमाल की माता भद्रा ने खरीद लिए और अपनी पुत्र-वधुओं के लिए उनकी जूतियाँ बनवा दीं।

चम्पा में राजकुमार महाचन्द्र ने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। सिन्धु सौवीर के नरेश उद्रायण भगवान के भक्त बन गये। वाराणसी में वहाँ के नरेश जितशत्रु, चुल्लिनी पिता, उनकी भार्या श्यामा, सुरादेव और उनकी पत्नी धन्या ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये। आलभिया के नरेश जितशत्रु भगवान के भक्त बन गए। राजगृह में मकाई, किकत अर्जुन माली, काश्यप, गाथापति वरदत्त आदि ने संयम धारण किया। नन्दन मणिकार ने श्रावक के व्रत ग्रहण किए राजगृह में राजा श्रेणिक के परिवार के अनेक राजकुमार और रानियों ने दीक्षा ली। काकन्दी का राजा जितशत्रु भगवान का भक्त बना। सार्थवाह धन्यकुमार अपनी सुन्दर ३२ स्त्रियों का त्याग करके मुनि बना पोलासपुर के सद्दाल पुत्र ने दीक्षा ली। राजगृह के महाशतक गाथापति ने श्रावक धर्म ग्रहण किया। राजगृही में अनेक वैदिक परिव्राजक दीक्षित हुए। उत्कृष्ट कोटि का विद्वान स्कन्दक मुनि बन गया। चम्पा में मगध सम्राट कुणिक ने भगवान के कुशल समाचार जानने के लिए कर्मचारी नियत कर रक्खे थे। भगवान के कुशल समाचार सुनकर ही वह भोजन करता था। भगवान जब चम्पा पधारे, तब वह भगवान की वन्दना करने के लिए गया। यहाँ पर श्रेणिक के १० पौत्रों और पालित जैसे प्रमुख व्यापारी ने मुनि-दीक्षा ली। कुणिक के भाई हल्ल, वेहल्ल और १० रानियों ने दीक्षा ले ली। काकन्दी में गाथापति खेमक और धृतिधर ने प्रभु के पास मुनि दीक्षा ली। चम्पा में जब भगवान पुन. पधारे उस समय अजातशत्रु और वैशाली में युद्ध चल रहा था। उस समय काली आदि १० रानियों ने अजातशत्रु की आज्ञा लेकर आर्या चन्दना के निकट आर्या-दीक्षा ले ली।

जब भगवान हस्तिनापुर पधारे, वहाँ हस्तिनापुर का नरेश शिव राजर्षि, जो तापसी बन गया था, भगवान का उपदेश सुनकर मुनि बन गया। पृष्ठ चम्पा का राजा शाल और युवराज महाशाल मुनि बन गया। दशार्णपुर के राजा ने मुनि-दीक्षा ले ली। वाणिज्य ग्राम का विद्वान् और वेद-वेदाग का ज्ञाता गोमिल्ल भगवान का उपदेश सुन कर उनका उपासक बन गया। कम्पिलपुर का अम्बड नामक परिव्राजक अपने सात सौ शिष्यों के साथ भगवान का उपासक बन गया। राजगृह में कालोदायी तैर्थिक मुनि बना। वाणिज्यग्राम के ही प्रसिद्ध धनपति सुदर्शन ने श्रमण-दीक्षा अंगीकार की। साकेत नरेश शत्रुंजय भगवान का भक्त था। वहाँ कोटिवर्ष का म्लेच्छ नरेश किरातराज आया हुआ था। वह भगवान का उपदेश सुनकर दीक्षित हो गया। मिथिला का राजा जितशत्रु भगवान का उपासक था। पावा में पुण्यपाल नरेश ने भगवान के चरणों में संयम धारण करके आत्मकल्याण किया।

इस प्रकार न जाने कितने नर-नारियों ने भगवान का उपदेश सुनकर आत्म-कल्याण किया।

बौद्ध ग्रन्थ 'दीघनिकाय' के 'सामञ्ज फलसुत्त' में महावीर (निग्गठ नातपुत्त) के अतिरिक्त छह और तैर्थिकों का उल्लेख मिलता है। ये सभी अपने को तीर्थंकर या अर्हत कहते थे। ये प्रभावशाली धर्मनायक थे। इन्होंने नवीन पन्थों की स्थापना की थी। अथवा प्राचीन मतों के नेता बन गये थे। इन पन्थों या मतों का सविस्तर विवरण दिगम्बर परम्परा के भावसंग्रह, श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, भगवती सूत्र, गुणचन्द्र विरचित महावीर चरिय तथा बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय, मज्झिम निकाय आदि में विभिन्न रूपों में मिलता है। इन तैर्थिकों के नाम इस प्रकार थे - पूर्ण काश्यप, मक्खली गोशालक, अजित केशकम्बल, प्रबुद्ध कात्यायन, संजय बेलट्ठिपुत्र और गौतमबुद्ध। इन धर्मनायकों में सभी का जीवन-परिचय तो नहीं मिलता, किन्तु इनके द्वारा प्ररूपित या प्रचारित मतों का विवरण अवश्य मिलता है। इनका परिचय इस प्रकार है—

महावीर के समकालीन तैर्थिक

पूर्णकाश्यप—अनुभवों से परिपूर्ण मानकर जनता इन्हें पूर्ण मानती थी और इनका गोत्र काश्यप था। ये नग्न रहते थे। इनके अनुयायियों की संख्या ८० हजार थी। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार ये एक प्रतिष्ठित गृहस्थ के पुत्र थे। एक दिन इनके स्वामी ने इन्हें द्वारपाल का काम सौंपा। इसे इन्होंने अपना अपमान समझा और ये विरक्त होकर वन में चले गए। मार्ग में चोरों ने इनके वस्त्र छीन लिए। तबसे ये नग्न रहने लगे। एकबार लोगों ने इन्हें पहनने के लिये वस्त्र दिए। किन्तु इन्होंने वस्त्र वापिस करते हुए कहा—वस्त्र धारण करने का प्रयोजन लज्जा निवारण है। उल्लेख मिलते हैं कि सारिपुत्र और मौद्गलायन अपने गुरु संजय परिव्राजक को छोड़कर बुद्ध के संघ में आये।

और लज्जा-निवारण का मूल पाप-प्रवृत्ति है। मैं पाप-प्रवृत्ति से मुक्त हूँ। उनकी यह निस्पृहता देखकर लोग उनके अनुयायी बनने लगे।

उनका सिद्धान्त था अक्रियावाद। उनका मत था—कोई भी क्रिया की जाय, चाहे हिंसा की जाय, असत्य भाषण किया जाय, दान दिया जाय, यज्ञ किया जाय, उसमें न पाप लगता है, न पुण्य। कोई क्रिया सम्यक् या मिथ्या नही होती। क्रिया करने की जीव की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। उससे कोई कर्म-बन्ध नही होता।

भावसंग्रह में उसका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

मस्करी गोशालक पार्श्वनाथ परम्परा के मुनि थे। जब भगवान महावीर का प्रथम समवसरण लगा, गोशालक उसमे उपस्थित थे। वे अष्टाग निमित्तो और ग्यारह अंगों के धारी थे। प्रथम समवसरण में भगवान का उपदेश नही हुआ, अत वे वहाँ से रुष्ट होकर चले गये। सम्भवतः उनके रोष का कारण यह हो कि वे गणधर बनना चाहते थे किन्तु उनकी वह इच्छा पूर्ण नही हुई। वे पृथक् होकर श्रावस्ती मे पहुँचे और वहाँ आजीवक सम्प्रदाय के नेता बन गये। वे अपने आपको तीर्थकर कहने लगे और विपरीत उपदेश देने लगे। उनका मत था—ज्ञान मे मुक्ति नही होती, अज्ञान से मुक्ति होती है। देव (भगवान) कोई नही है। अतः शून्य का ध्यान करना चाहिए।

मंखलि गोशालक

श्वेताम्बर शास्त्रो के अनुसार उनके पिता का नाम मखली और माता का नाम सुभद्रा था। वे चित्रफलक लेकर घूमा करते और उससे अपनी आजीविका करते। एक बार वे सरवण ग्राम में गोवहुल ब्राह्मण की गोशाला मे ठहरे। कुछ समय पश्चात् सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका नाम गोशालक रक्खा गया। जब वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ, वह अपनी उद्दण्ड प्रकृतिवश माता-पिता से कलह किया करता था। उसने भी एक चित्रपट तैयार कराया और ग्राम-ग्राम मे विहार करता हुआ नालन्दा में उसी तन्तुवायशाला मे ठहरा, जिसमे भगवान महावीर अपना द्वितीय चातुर्मास कर रहे थे। भगवान मासोपवासी थे। उनका पारणा विजय गाथापति के यहाँ हुआ। देवो ने पचाश्चर्य किये। गोशालक भी दर्शको मे उपस्थित था। भगवान का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव देखकर गोशालक भगवान के निकट पहुँचा और वोला—"भगवन्! आज से आप मेरे धर्म गुरु और मैं आपका शिष्य। आप मुझे अपनी चरण-सेवा का अवसर प्रदान करें।" किन्तु भगवान मौन रहे।

वह प्रभु के साथ इस प्रकार लगा रहा और तपस्या करके जब उसे तेजोलेश्या प्राप्त हो गई तो वह अलग हो गया और अपने आपको जिन, केवली और तीथकर कहने लगा। वह आजीवक मत का समर्थक बनकर नियतिवाद का प्रचारक बन गया। एक बार उसने क्रोधवश भगवान के ऊपर तेजोलेश्या छोडी, जिससे भगवान को छह माह तक दाह जन्य वेदना हुई और रक्तातिसार की बाधा हो गई।

गोशालक ने भगवान के ऊपर जो तेजोलेश्या छोडी थी, वह भगवान के अमिट तेज के कारण उन पर कोई असर नही कर सकी, बल्कि वह गोशालक को जलाती हुई उसी के शरीर मे प्रविष्ट हो गई। उसी की तेजोलेश्या उसी के लिए घातक सिद्ध हुई। वह वहाँ से निराश और दाह से पीडित होता हुआ वेदना से आक्रन्दन करता हुआ इधर-उधर फिरने लगा। वह हालाहला कुम्हारिन के कुम्भकारायण मे पहुँचा। वह दाह-शान्ति के लिए कच्चा आम चूसता हुआ, मद्यपान करता हुआ, अनर्गल प्रलाप करता हुआ शीतल जल से अपने शरीर का सिंचन करने लगा। उसने प्रलाप करते हुए आठ चरम बतलाये। किन्तु सातवी रात्रि को उसका मिथ्यात्व दूर हुआ और वह पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा –'मैंने अभिमानवश अपने आपको जिन घोषित किया, यह मेरी भूल थी। वस्तुत. महावीर ही जिन हैं। उसी रात्रि में उसकी मृत्यु हो गई।

गोशालक द्वारा प्रचारित आजीवक सम्प्रदाय उसकी मृत्यु के पश्चात् भी पर्याप्त समय तक जीवित रहा। बराबर पहाडी पर सम्राट् अशोक ने आजीवक साधुओ के लिए तीन गुफाये बनवाई थी। कौशाम्बी के उत्खनन में आजीवकों का एक बिहार निकला है। कहा जाता है, इस बिहार में पाच हजार आजीवक भिक्षु रहते थे। किन्तु आजीवक सम्प्रदाय किन परिस्थितियों मे किस काल में लुप्त हो गया, यह अभी तक निश्चित नहीं

हो पाया। इस सम्बन्ध में इतना तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि आजीवक मत के सिद्धान्तों पर जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव था। उसका स्वय का कोई आधार नही था और निराधार सम्प्रदाय अधिक समय तक जीवित नही रह सकता। आजीवक सम्प्रदाय ने भी सघर्ष की परिस्थिति में अपनी उपयोगिता खोदी और उसके अनुयायी जो सख्या की दृष्टि से अत्यन्त अल्प रह गये थे—जैनधर्म के अनुयायी बन गये।

आजीवक मत के सिद्धान्तो के सम्बन्ध में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नही मिलता। इसका कारण सम्भवतः यह रहा है कि महावीर के काल मे ग्रन्थ-रचना की परम्परा प्रचलित नही हुई थी। गुरु-मुख से शास्त्रो का अध्ययन होता था। इसी कारण गोशालक ने भी किसी ग्रन्थ की रचना नही की थी। किन्तु फिर भी श्वेताम्बर और बौद्ध ग्रन्थो में उसके सिद्धान्तो और उनके साधुओं की चर्चा के बारे में कुछ स्फुट उल्लेख प्राप्त होते है। उनके अनुसार आजीवक साधु नग्न रहते थे, हाथों में भोजन करते थे, शिष्टाचारों को दूर रखकर चलते थे। वे अपने लिए बनवाया आहार नही लेते थे। जिस बर्तन में आहार पकाया गया हो, उसमे से उसे नही लेते थे। एक साथ भोजन करने वाले युगल से, गर्भवती स्त्री से, दुधमुहे बच्चे वाली स्त्री से आहार नही लेते थे। जहाँ आहार कम हो, कुत्ता खड़ा हो, मक्खियां भिनभिनाती हो, वहाँ से आहार नही लेते थे। मत्स्य, मास, मदिरा, मैरेय और खट्टी काजी ग्रहण नही करते थे। वे विविध उपवास करते थे। उनके गृहस्थ लोग अरिहन्त को देव मानते थे, माता-पिता की सेवा करते थे। गूलर, बड, बेर, अजीर और पिलखु इन पाँच फलो का भक्षण नही करते थे। बैलो के नाक कान नही छेदते थे और जिसमे त्रस प्राणियो की हिसा हो, ऐसा व्यापार नही करते थे।

गोशालक नियतिवाद का समर्थक था। उसका सिद्धान्त था—'अपवित्रता के लिए कोई कारण नही होता, कारण के बिना ही प्राणी अपवित्र होते है। प्राणी की शुद्धि के लिए भी कोई कारण नही होता। कारण के बिना ही प्राणी शुद्ध होते है। अपनी सामर्थ्य से कुछ नही होता, न दूसरे के सामर्थ्य से कुछ होता है। पुरुषार्थ से भी कुछ नही होता। सभी प्राणी अवश है, बलहीन हैं, सामर्थ्यहीन है। वे नियति (भाग्य) और स्वभाव के कारण परिणत होते है और सुख-दु:ख का उपभोग करते है।

अजित केशकम्बल

ये उच्छेदवाद के प्रवर्तक थे। केशो का बना कम्बल धारण करने के कारण ही ये अजित केशकम्बली कहलाते थे। इनका सिद्धान्त था—"दान, यज्ञ और हवन आदि मे कोई सार नही है। बुरे या अच्छे कर्मों का फल नही होता। इहलोक-परलोक, स्वर्ग, नरक आदि कुछ भी नही है। मनुष्य चार भूतो का बना हुआ है। जब वह मरता है, तब उसमें रहने वाली पृथ्वी धातु पृथ्वी में, जल धातु जल मे, तेजो धातु तेज मे और वायु धातु वायु मे जा मिलते है तथा इन्द्रिया आकाश मे चली जाती है। जो कोई आस्तिकवाद बतलाते है, उनका कथन मिथ्या और वृथा है। शरीर के नाश के बाद मनुष्य नष्ट हो जाता है। मृत्यु के अनन्तर उसका कुछ भी शेष नही रहता।

कुछ विद्वानो की धारणा है कि अजित केशकम्बली ही नास्तिक दर्शन के आद्य प्रवर्तक थे। आचार्य वृहस्पति ने इनके ही सिद्धान्तो का विकास किया है।

प्रक्रुद्ध कात्यायन

ये पक्रुद्ध वृक्ष के नीचे पैदा होने के कारण पक्रुद्ध कात्यायन या प्रक्रुद्ध कात्यायन कहलाते थे। जैन शास्त्रो मे इनका नाम प्रक्रुद्ध कात्यायन मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ इनका नाम पक्रुद्ध कात्यायन बतलाते है। उनके मतानुसार प्रक्रुद्ध उनका नाम था और कात्यायन उनका गोत्र था। इनका सिद्धान्त था—"सात पदार्थ किसी के द्वारा बनाये हुए नही हैं। वे कूटस्थ और अचल हैं। वे एक दूसरे को सुख-दु:ख नही देते, एक दूसरे पर प्रभाव नही डालते। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख-दु:ख एव जीव ये सात पदार्थ हैं। इन्हे कोई नष्ट नही कर सकता, कोई किसी का सिर नही काट सकता, न कोई किसी के प्राण ले सकता है। अस्त्र-शस्त्र मारने का अर्थ है सात पदार्थों के बीच के अवकाश में अस्त्र-शस्त्र का प्रविष्ट होना। उक्त सातों पदार्थ के सयोग से मनुष्य को सुख होता है और इनके वियोग से दुःख होता है। ये अन्योन्यवादी थे।

संजय बेलट्ठिपुत्र—सम्भवतः संजय इनका नाम था और ये बेलट्ठि के पुत्र थे। बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे

उल्लेख मिलते हैं कि सारिपुत्र और मौद्गलायन अपने गुरु संजय परिव्राजक को छोड़कर बुद्ध के सघ में आये। इन उल्लेखों के कारण ही कुछ विद्वान् इन्ही सजय को उपर्युक्त दोनो बौद्ध धर्म नेताओ के गुरु मानते है। सजय ने विक्षेपवाद का प्रवर्तन किया। इनके सिद्धान्त में परलोक, कर्मफल, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि की मान्यता नही है।

गौतम बुद्ध—ये कपिलवस्तु के शाक्य सघ के गणप्रमुख शुद्धोधन और मायादेवी के पुत्र थे। इनका जन्म लुम्बिनी बन में हुआ था। उनके जन्म लेते ही माता का स्वर्गवास हो गया। उनका विवाह यशोदा नामक राजकुमारी के साथ हुआ था और उनके राहुल नामक एक पुत्र हुआ था। जरा से जर्जरित एक वृद्ध को और एक मृत व्यक्ति को देखकर इन्हे वैराग्य उत्पन्न होगया और वे सत्य को खोज में चुपचाप घर से निकल गये। वे परिव्राजक बने, निर्ग्रन्थ जैन साधु भी बने। किन्तु तप की असह्य कठोरता से घबड़ा गये।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० राधाकुमुद मुकर्जी[1] लिखते हैं—"वास्तविक बात यह ज्ञात होती है कि बुद्ध ने पहले आत्मानुभव के लिए उस काल में प्रचलित दोनो साधनाओ का अभ्यास किया। आलार और उद्रक के निर्देशानुसार ब्राह्मण मार्ग का और तब जैन मार्ग का और बाद मे अपने स्वतन्त्र साधना मार्ग का विकास किया।" ...."वे मगध जनपद के सैनिक सन्निवेश उरुवेला नामक स्थान में गये और वहाँ नदी तथा ग्राम के समीप, जहाँ भिक्षा की सुविधा थी, रहकर उच्चतर ज्ञान के लिए प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न का रूप उत्तरोत्तर कठोर होता हुआ तप था, जिसका जैन धर्म में उपदेश है, जिसके करने से उनका शरीर अस्थिपजर और त्वचा मात्र रह गया। उन्होने श्वास प्रश्वास और भोजन दोनो का नियमन किया एव केवल मूंग, कुलथी, मटर और हरेणुका का अपने अजलिपुट की मात्रा भर स्वल्प यूष लेकर निर्वाह करने लगे।

गौतम बुद्ध एक बार जैन साधु बने थे, इसका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थो मे भी मिलता है। वे अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहते है—"सारिपुत्र! बोधि प्राप्ति से पूर्व मै दाढी, मूछो का लुँचन करता था। मै खडा रह कर तपस्या करता था। उकडू बैठकर तपस्या करता था। मै नंगा रहता था। लौकिक आचारो का पालन नही करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था। बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किये हुए अन्न को और निमन्त्रण को भी स्वीकार नही करता था। गर्भिणी और स्तन पान कराने वाली स्त्री से भिक्षा नही लेता था[2]।"

वे बोध गया मे पहुँचे और वहाँ एक वृक्ष के नीचे बैठ कर गहन चिन्तन मे डूब गये—क्या है सत्य। उन्हें लगा कि अति ही अनर्थ मूलक है, चाहे वह भोगो की अति हो या तप की। मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर है। यह ज्ञान ही उनकी बोधि कहलाता है। इसके बाद वे काशी के निकट सारनाथ (मृगदाव) पहुँचे और वहाँ पचवर्गीय भिक्षुओ को उपदेश देकर अपना प्रथम शिष्य बनाया।

उन्होनें चार आर्यसत्यो पर विशेष बल दिया। आठ मार्ग बताये जो अष्टाङ्गिक मार्ग कहलाते हे। उनका सिद्धान्त क्षणिकवाद है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, क्षणस्थाई हे। जो है, वह अगले क्षण रहने वाला नही है। वह अगले क्षण अपनी सन्तान को अपने संस्कार दे जाता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की सन्तान-परम्परा चलती रहती है। सन्तान-परम्परा की समाप्ति ही उसका निर्वाण कहलाता है।

म० बुद्ध के सिद्धान्तो मे करुणा को विशेष महत्त्व दिया गया है। किन्तु उनकी करुणा मे मासाहार का निषेध नही था। किसी जीव को मारने का तो निषेध किया गया, किन्तु मृत जीव या दूसरे के द्वारा मारे गये जीव का मास ग्रहण करने की उन्होने छूट दे दी। परिणाम यह हुआ कि उनके मत के अनुयायियो मे माँसाहार निर्बाध रूप से प्रचलित हो गया।

इस प्रकार भगवान महावीर के काल में ये छह तैर्थिक थे। ये अपने आपको जिन, तीर्थंकर या अर्हन्त कहते थे। प्रारम्भ में ये सभी पार्श्वापत्य सम्प्रदाय के नग्न साधु बने थे। पश्चात् इन्होने अपने आपको तीर्थंकर या अर्हन्त घोषित करके नवीन सम्प्रदायो की स्थापना की। इनमें से प्रत्येक के अनुयायियो की सख्या हजारो पर थी।

---

१. डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी कृत हिन्दू सभ्यता; डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा अनूदित, पृ० २३६-४०

२. मज्झिम निकाय, महासीहनादसुत्त १।१।२

किन्तु इनके सम्प्रदाय अधिक दिनों तक चल नहीं पाये, प्राय: इनके साथ ही वे समाप्त हो गए। केवल मंखलि गोशालक द्वारा प्रचारित आजीवक सम्प्रदाय और बुद्ध द्वारा स्थापित बोद्ध धर्म ही उनके बाद जीवित रह पाये। आजीवक सम्प्रदाय भी कुछ शताब्दियों तक चला। धीरे-धीरे वह क्षीण होता गया और वह जैन धर्म में विलीन हो गया। इस प्रकार इन तैर्थिको के सम्प्रदायों में केवल बौद्ध धर्म ही जैन धर्म के साथ-साथ जीवित रह सका।

भगवान महावीर का परिनिर्वाण—आचार्य वीरसेन विरचित 'जयधवला'[1] टीका मे भगवान महावीर के निर्वाण के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

२६ वर्ष ५ मास और २० दिन तक ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों और १२ गणो अर्थात् सभाओ के साथ विहार करने के पश्चात् भगवान महावीर ने पावा नगर मे कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन स्वाति नक्षत्र के रहते हुए रात्रि के समय शेष अघाति कर्म रूपी रज को छेदकर निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण'[2] में भगवान के निर्वाण के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्यो पर प्रकाश डाला है जो इस प्रकार है—

भगवान महावीर भी निरन्तर सब ओर के भव्य समूह को सबोधित कर पावा नगरी पहुँचे और वहाँ के मनोहरोद्यान नामक वन मे विराजमान हो गये। जब चतुर्थ काल मे तीन वर्ष साढे आठ मास बाकी रहे, तब स्वाति नक्षत्र मे कार्तिक अमावस्या के दिन प्रात. काल के समय स्वभाव से ही योग निरोध कर घातिया कर्म-रूपी ईन्धन के समान अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर बन्धन रहित हो ससार के प्राणियो को सुख उपजाते हुए निरन्तराय तथा विशाल सुख से सहित निर्बन्ध मोक्ष स्थान को प्राप्त हुए। गर्भादि पाच कल्याणको के महान अधिपति, सिद्धशासन भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के समय चारो निकाय के देवो ने विधिपूर्वक उनके शरीर की पूजा की। उस समय सुरो और असुरो के द्वारा जलाई हुई देदीप्यमान दीपको की पक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। उस समय से लेकर भगवान के निर्वाण कल्याण की भक्ति से युक्त ससार के प्राणी इस भारत क्षेत्र मे प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे।

आचार्य गुणभद्रकृत 'उत्तर पुराण' मे बताया है कि भगवान के साथ एक हजार मुनि मुक्त हुए, किन्तु अन्य आचार्यो का मत है कि भगवान एकाकी ही मुक्त हुए।

'कल्पसूत्र'[3] मे भगवान महावीर के निर्वाण के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया है, जिसका आशय इस प्रकार है—

"भगवान अन्तिम वर्षावास करने के लिए मध्यम पावा नगरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुक सभा मे ठहरे हुए थे। चातुर्मास का चतुर्थ मास और वर्षा ऋतु का सातवा पक्ष चल रहा था अर्थात् कार्तिक कृष्णा अमावस्या आई। अन्तिम रात्रि का समय था। उस रात्रि को श्रमण भगवान महावीर काल धर्म को प्राप्त हुए। वे ससार त्याग कर चले गये। जन्म ग्रहण की परम्परा का उच्छेद करके चले गये। उनके जन्म, जरा और मरण के सभी बन्धन नष्ट हो गए, भगवान सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये, सब दु.खो का अन्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

'महावीर जिस समय काल धर्म को प्राप्त हुए, उस समय चन्द्र नामक द्वितीय सवत्सर चल रहा था। प्रीतिवर्धन मास, नन्दि वर्धन पक्ष, अग्निवेश दिवस (जिसका दूसरा नाम उवसम भी है), देवानन्दा नामक रात्रि (जिसे निरई भी कहते है) अर्थ नामक लव, सिद्ध नामक स्तोक, नाग नामक करण, सर्वार्थसिद्धि नामक मुहूर्त तथा स्वाति नक्षत्र का योग था। ऐसे समय भगवान काल धर्म को प्राप्त हुए। वे ससार छोडकर चले गये। उनके सम्पूर्ण दु.ख नष्ट हो गये।

---

१. जयधवला भाग १, पृ० ८१

२. हरिवंश पुराण ६६।१५-२०

३. कल्पसूत्र १२३-१२७ (श्री अमर जैन आगम शोध संस्थान सिवाना (राज०) से प्रकाशित, पृ० १६८

भगवान के निर्वाण-गमन के समय अनेक देवी देवताओं के कारण प्रकाश फैल रहा था तथा उस समय अनेक राजा वहाँ उपस्थित थे और उन्होंने द्रव्योद्योत किया था, इसका वर्णन करते हुए कल्पसूत्रकार कहते है—

"जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर काल धर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दु:ख पूर्ण रूप से नष्ट हो गए, उस रात्रि मे बहुत से देव और देवियाँ नीचे आ जा रही थी; जिससे वह रात्रि खूब उद्योतमयी हो गई थी।

"जिस रात्रि मे श्रमण भगवान महावीर काल धर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दु:ख नष्ट हो गए, उस रात्रि मे काशी के नौ मल्ल और कोसल के नौ लिच्छवी इस प्रकार कुल अठारह गण राजा अमावस्या के दिन आठ प्रहर का प्रोषधोपवास करके वहाँ रहे हुए थे। उन्होने यह विचार किया कि भावोद्योत अर्थात् ज्ञान-रूपी प्रकाश चला गया है, अत हम सब द्रव्योद्योत करेंगे अर्थात् दीपावली प्रज्वलित करेंगे।"

आचार्य हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' के महावीर चरित भाग के सर्ग १२ में भगवान महावीर के निर्वाण-काल की जो रिपोर्ट प्रस्तुत की है, वह विस्तृत तो है ही, उसमे उस समय घटित सभी घटनाओं का विस्तृत व्यौरा भी दिया गया है। अतः उसका उपयोगी अंश पाठकों को जानकारी के लिए यहाँ दिया जा रहा है—

"भगवान विहार करते हुए अपापा नगरी पहुंचे। अपापापुरी के अधिकारी हस्तिपाल को जब ज्ञात हुआ कि भगवान समवसरण मे पधारे है तो वह भी उपदेश सुनने वहाँ गया। इसके बाद भगवान समवसरण से निकलकर हस्तिपाल राजा की शुल्कशाला मे पधारे। भगवान ने यह जानकर कि आज रात्रि मे मेरा निर्वाण होगा, गौतम का मेरे प्रति अनेक भवों से स्नेह है और उसे आज रात्रि के अन्त मे केवलज्ञान होगा, मेरे वियोग से वह दुखी होगा, भगवान ने गौतम से कहा—"गौतम! दूसरे गांव मे देवशर्मा ब्राह्मण है। उसको तू सम्बोध आ। तेरे कारण उसे ज्ञान प्राप्त होगा।" प्रभु के आदेशानुसार गौतम वहाँ से चले गये।

"भगवान का निर्वाण हो गया। इन्द्र ने नन्दन आदि वनों से लाये हुए गोशीर्ष, चन्दन आदि से चिता चुनी। क्षीर-सागर से लाये हुए जल से भगवान को स्नान कराया, दिव्य अंगराग सारे शरीर पर लगाया। विमान के आकार की शिविका मे भगवान को मृत देह रक्खी। उस समय तमाम इन्द्र और देवी देवता शोक के कारण रो रहे थे। देवता आकाश से पुष्प-वर्षा कर रहे थे। तमाम दिव्य बाजे बज रहे थे। शिविका के आगे देवियां नृत्य करती चल रही थी।

"श्रावक और श्राविकाये भी शोक के कारण रो रहे थे और रासक गीत गा रहे थे। साधु और साध्वियाँ भी शोकाकुल थे।"

"तब इन्द्र ने शोकाकुल हृदय से भगवान का शरीर चिता पर रख दिया। अग्निकुमारों ने चिता मे आग लगाई। वायुकुमारों ने आग को हवा दी। देवताओं ने धूप और घी के सैकड़ों घड़े चिता मे डाले। शरीर के जल जाने पर मेघकुमार देवों ने क्षीर-समुद्र के जल की वर्षा करके चिता को शान्त किया। भगवान के ऊपर की दो दाढ़ सौधर्म और ऐशान इन्द्रों ने ली और नीचे की दोनों दाढ़ चमरेन्द्र और बलीन्द्र ने ली। अन्य दाँत और हड्डियाँ दूसरे इन्द्रों और देवों ने ली। मनुष्यों ने चिता-भस्म ली। जिस स्थान पर चिता जलाई,उस स्थान पर देवों ने रत्नमय स्तूप बना दिया। इस प्रकार देवताओं ने वहाँ भगवान का निर्वाण-महोत्सव मनाया।"

भगवान की निर्वाण-प्राप्ति चरम पुरुषार्थ था। इस अवसर्पिणी काल मे अन्तिम तीर्थंकर का यह निर्वाण कल्याणक था, अतः देवी-देवताओं के अतिरिक्त असंख्य भक्त पुरुष और स्त्रियाँ भगवान को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पण करने और उनका निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाने पावा मे एकत्रित हुए थे। भगवान का निर्वाण कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर मे हुआ था। अतः देवों ने रत्नदीप सजाकर अन्धकार का नाश किया और प्रकाश किया। उसी दिन अमावस्या की रात्रि को भगवान के मुख्य गणधर इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञान हुआ। मनुष्यों ने दीपावली प्रज्वलित करके और देवों ने रत्नदीप सजोकर दीपावली को और गौतम स्वामी का केवलज्ञान महोत्सव मनाया। इस प्रकार दो रात्रियों में दीपावली प्रज्वलित की गई। तभी से मनुष्यलोक मे दीपावली का पावन पर्व प्रचलित हो गया। प्रतिवर्ष मनुष्य भगवान महावीर के निर्वाण का हर्षोत्सव उल्लासपूर्वक मनाने लगे

एवं चतुर्दशी को छोटी दीपावली और अमावस्या को बड़ी दीपावली मनाने लगे। इस प्रकार अब तक भारत में भगवान महावीर के निर्वाण की स्मृति सुरक्षित रूप मे चली आ रही है।

भगवान महावीर के यक्ष-यक्षिणी—भगवान महावीर के सेवक यक्ष का नाम मातंग है और सेविका यक्षिणी का नाम सिद्धायनी अथवा सिद्धायिका है।

प्रतिष्ठा पाठो मे इन यक्ष-यक्षिणी का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

मातंग यक्ष—

**"मुद्गप्रभो मूर्द्धनि धर्मचक्र, बिभ्रत्फल वामकरेऽथ यच्छन्।
वरं करिस्थो हरिकेतुभक्तो, मातङ्गयक्षोऽङ्गतु तुष्टिमिष्टया॥**

—वास्तुसार २४

अर्थात् मातग यक्ष नीला वर्णवाला सिर पर धर्मचक्र धारण करने वाला, वाये हाथ मे विजौरा फल धारण करने वाला और दाया हाथ वरदान मुद्रा में, गज की सवारी करने वाला और भगवान की धर्मध्वजा की रक्षा करने वाला है।

सिद्धायिका देवी—

**"सिद्धायिकां सप्तकरोच्छ्रिताङ्ग-जिनाश्रयां पुस्तकदानहस्ताम्।
श्रितां सुभद्रासनमत्र यज्ञे, हेमद्युति सिंहगति यजेऽहम्॥**

वास्तुसार, २४

अर्थात् सात हाथ ऊंचे महावीर स्वामी की शासनदेवी सिद्धायिका नामक देवी है। वह सुवर्ण वर्णवाली, भद्रासन से बैठी हुई, सिह की सवारी करनेवाली और दो भुजावाली है। उसके वाये हाथ मे पुस्तक और दाया हाथ वरदान मुद्रा मे है।

यद्यपि यहाँ सिद्धायिका देवी को दो भुजावाली बताया है, किन्तु शिल्पकार ने शास्त्रो के इस बन्धन को कब स्वीकार किया है। यद्यपि चक्रेश्वरी, अम्बिका और पद्मावती की अपेक्षा सिद्धायिका की मूर्तियाँ अल्पसख्या मे मिलती है, किन्तु जो मिलती हैं, उनमें सर्वत्र यह देवी द्विभुजी नही मिलती, वह बहुभुजी भी मिलती है। खण्डगिरि मे तो यह षोडशभुजी भी मिली है। शास्त्रो में इन शासन देवताओ का जो रूप निर्दिष्ट किया है, उसे केवल प्रतीकात्मक ही स्वीकार किया जाना उचित होगा, किन्तु मूर्तिकारो ने शास्त्रीय-विधानो की परिधि से आगे बढकर और शास्त्रीय बन्धनो से अपने आपको मुक्त करके अपनी इच्छानुसार इनकी मूर्तियाँ निर्मित की है। इस बात को हमें सदा स्मरण रखना चाहिये।

भगवान महावीर के कल्याणक स्थान

हम पूर्व मे कह आये हे कि भगवान महावीर का जन्म वैशाली गणसघ के क्षत्रिय कुण्डग्राम मे हुआ था। भ्रमवश दिगम्बर समाज ने नालन्दा के निकट कुण्डलपुर को नाम साम्य के कारण कुछ शताब्दियो से भगवान का जन्म स्थान मान लिया है। इसी प्रकार श्वेताम्बर समाज ने लिच्छुआड को जन्म कल्याणक स्थान मान लिया है। दोनों ही समाजो की मान्यता भ्रममूलक है। दोनों ही सम्प्रदायो के शास्त्रो में कुण्डग्राम को विदेह मे माना है, जबकि कुण्डलपुर मगध मे था और लिच्छुआड अग देश में। दिगम्बर शास्त्रो के अनुसार भगवान ने प्रथम पारणा कूलग्राम या कूर्मग्राम के राजा कूल के यहाँ किया था। कुण्डलपुर के निकट कूर्मग्राम नामक कोई स्थान नही है, जबकि वैशाली के निकट कर्मारग्राम नामक सन्निवेश था। इसी प्रकार श्वेताम्बर ग्रन्थो के अनुसार भगवान का प्रथम पारणा कोल्लाग सन्निवेश मे हुआ था। कोल्लाग नामक सन्निवेश उस समय दो थे—एक वंशाली में और दूसरा गया के पास वर्तमान कुलुहा पर्वत। लिच्छुआड़ से ये दोनो ही कोल्लाग काफी दूर पड़ते थे। वैशालीवाला कोल्लाग लगभग चालीस मील पड़ता था और गया

जन्म कल्याणक स्थान

के निकट वाला इससे भी दूर। भगवान ने णाय षण्डबन अथवा ज्ञातखण्डवन में दीक्षा ली थी। कुण्डलपुर या लिच्छुआड के निकट कोई ज्ञातखण्डवन नहीं था, वह तो वैशाली के बाहर ज्ञातृवंशी क्षत्रियों का उपवन था।

श्वेताम्बर शास्त्रों के अनुसार भगवान दीक्षा लेकर कर्मारग्राम, कोल्लाग सन्निवेश, मोराक सन्निवेश होते हुए अस्थिक ग्राम में पहुँचे और वहाँ प्रथम चातुर्मास किया। चातुर्मास के पश्चात् वे मोराक, वाचाला, श्वेतविका होते हुए राजगृह पहुँचे। वे राजगृह गंगा नदी पार करके गये थे। श्वेतविका श्रावस्ती से कपिलवस्तु जाते समय मार्ग में पड़ती थी और वहाँ से राजगृह जाने के लिए गंगा पार करनी पड़ती थी। कुण्डलपुर या लिच्छुआड़ के निकट न तो श्वेतविका नगरी थी और न उधर से राजगृह जाते समय गंगा पार करनी पड़ती थी।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त एक प्रमाण सर्वाधिक सबल है, जो भगवान को वैशाली में उत्पन्न हुआ सिद्ध करता है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उन्हें वैशालिक लिखा है। अतः यह निश्चित है कि भगवान महावीर का जन्म वैशाली के कुण्डग्राम अथवा क्षत्रियकुण्ड में हुआ था, न कि कुण्डलपुर या लिच्छुआड में, जैसी कि निराधार कल्पना कर ली गई है। वैशाली के कुण्डग्राम में, जिसका वर्तमान नाम वासुकुण्ड है, भगवान महावीर के जन्म-स्थान की भूमि वहाँ के निवासियों ने शताब्दियों से सुरक्षित रख छोड़ी है। वह भूमि अहल्य है अर्थात् वहाँ के कृषकों ने उस भूमि पर आज तक हल नहीं चलाया और शताब्दियों से उस भूमि को पवित्र मानकर वहां की जनता प्रतिवर्ष चैत्र सुदी त्रयोदशी को भगवान को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए उस भूमि पर एकत्रित होती है। इसलिये वैशाली के निकटवर्ती वर्तमान वासुकुण्ड (पूर्वकालीन क्षत्रियकुण्ड) को ही भगवान महावीर का जन्म कल्याणक स्थान मानना तर्कसंगत है।

भगवान महावीर के जन्म-स्थान के समान उनके दीक्षा कल्याणक स्थान को भी लोगों ने भुला दिया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के ग्रन्थों में भगवान का दीक्षा स्थान णाय षण्डवन या ज्ञातखण्डवन माना है। ज्ञातखण्डवन क्षत्रियकुण्ड की पूर्वोत्तर दिशा में अवस्थित था और वह ज्ञातृवंशी क्षत्रियों का था। उस स्थान का अन्वेषण करने की आवश्यकता है। यह तो निर्विवाद है कि वह वन वर्तमान वासुकुण्ड के ईशानकोण में कहीं पर था।

दीक्षा कल्याणक स्थान

अन्य कल्याणक स्थानों के समान भगवान का केवलज्ञान कल्याणक स्थान भी अब तक अज्ञात रहा है। दिगम्बर समाज ने तो इस स्थान का बिलकुल ही विस्मरण कर दिया है। श्वेताम्बर समाज ने हजारीबाग जिले में पारसनाथ पहाड़ से दक्षिण-पूर्व में दामोदर नदी के किनारे एक जिनालय बनाकर उसे भगवान का केवल ज्ञानोत्पत्ति स्थान मान लिया है। किन्तु वहाँ न जृम्भिक ग्राम है और न ऋजुबालुका नदी। दामोदर ऋजुबालुका का अपभ्रंश भी नहीं हो सकता। ऐसी स्थिति में यह विचारणीय है कि भगवान के केवल ज्ञानोत्पत्ति का स्थान कौनसा होना चाहिए।

केवल ज्ञान कल्याणक स्थान

इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। वा० कामताप्रसाद झरिया नगर को जृम्भक ग्राम मानते हैं और बाराकर नदी को ऋजुकूला नदी मानते हैं। उनका तर्क यह है कि जृम्भिक ग्राम वज्रभूमि में होना चाहिये। मुस्लिमकाल में जैन उस स्थान की यात्रा करते थे, ऐसे उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि वे स्वयं इस विषय में असंदिग्ध नहीं है। श्री नन्दलाल डे भी झरिया को ही जृम्भिक ग्राम मानते हैं। कुछ लोग सम्मेद शिखर से दक्षिण-पूर्व में लगभग पचास मील पर आजी नदी के पासवाले जमगाम को प्राचीन जृम्भिक ग्राम बताते हैं। वे आजी नदी को ऋजुबालुका का अपभ्रंश मानते हैं और जमगाम को जृम्भिक ग्राम का अपभ्रंश मानते हैं।

आगम ग्रन्थों के अनुसार भगवान अपना बारहवाँ चातुर्मास चम्पा में व्यतीत करके चम्पा से विहार कर जंभियगांव और वहाँ से छम्माणि होकर मध्यमा पावा पहुँचे थे। जंभियगांव से मध्यमा पावा बारह योजन (अड़तालीस कोस) दूर थी। इसलिये मुनि कल्याणविजय जी की धारणा है कि जंभियगांव, जहाँ पर भगवान को केवल ज्ञान हुआ था, चम्पा और मध्यमा पावा के मध्य कहीं होना चाहिये।

डा० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य की मान्यता है कि 'महावीर का कैवल्य प्राप्ति स्थान वर्तमान मुंगेर से दक्षिण की ओर पचास मील की दूरी पर स्थित जमुई गांव है। यह स्थान वर्तमान क्यिल नदी के तट पर है। यह नदी ऋजुकूला का अपभ्रंश है। क्यिल स्टेशन से जमुई गांव अठारह-उन्नीस मील की दूरी पर स्थित है। जमुई से चार मील

की दूरी पर उत्तर की ओर क्षत्रिय कुण्ड और काकली नामक स्थान है। जमुई और राजगृह के बीच सिकन्दरा गाव है। सिकन्दरा और लक्खीसराय के मध्य में आम्रवन है। कहा जाता है कि इस आम्रवन मे भगवान महावीर ने तपश्चरण किया था। आज भी यहां के निकटवर्ती लोग इस वन को पावन मानकर इसके वृक्षों की पूजा करते है। जमुई के दक्षिण मे लगभग ४-५ मील की दूरी पर एक केवाली नामक ग्राम है, जो महावीर के केवल ज्ञानोत्पति स्थान की स्मृति को बनाये रखने के लिये ही प्रसिद्ध हुआ होगा। वहा के निवासी भी कहते है कि यही केवाली भगवान महावीर का केवलज्ञान स्थान है। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन यहाँ सामूहिक रूप से उत्सव भी मनाया जाता है। जमुई से राजगृह लगभग ३० मील की दूरी पर है। जमुई चम्पा के भी निकट है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जमुई का निकटवर्ती केवाली स्थान ही वस्तुत भगवान महावीर का केवल ज्ञान-प्राप्ति स्थान है।

निर्वाण कल्याणक स्थान—भगवान महावीर का निर्वाण पावा में हुआ था। जैन शास्त्रो में इसे मध्यमा पावा बतलाया गया है। दिगम्बर शास्त्रों में भी अनेक स्थलो पर मध्यमा पावा के नाम से ही महावीर के निर्वाण स्थल का उल्लेख मिलता है।

प्राकृत प्रतिक्रमण में इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है—

'पावाए मज्झिमाए हत्थवालिसहाए णमसामि

अर्थात् मध्यमा पावा में हस्तिपाल की सभा में स्थित महावीर को मैं नमस्कार करता हूँ।

प० आशाधर ने क्रिया कलाप (पृ० ५६) मे इसी बात का समर्थन किया है--

'पावाया मध्यमाया हस्तिपालिका मण्डपे नमस्यामि।

श्वेताम्बर आगमो मे तो सर्वत्र मध्यमा पावा के नाम से ही भगवान के निर्वाण-स्थल का उल्लेख मिलता है। 'कल्पसूत्र' मे बताया है—

'तत्थ ण जे से पावाए मज्झिमाए हस्तिवालस्स रन्नो रज्जुगसभाए अपच्छिम अतरावास उवागए।

मध्यमा पावा कहने का आशय यह निकलता है कि उस समय पावा नामक तीन नगर थे। आगम ग्रन्थो और स्थल कोपो के अनुशीलन से इन तीन पावा नगरो की स्थिति पर प्रकाश पडता है। प्रथम पावा उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में सठियाव- फाजिल नगर के स्थान पर मल्लो की पावा थी और यह मल्लगण सघ की एक राजधानी थी। दूसरी पावा भगिदेश की राजधानी थी। वर्तमान हजारीबाग और मानभूम जिले इसी मे सम्मिलित थे। तीसरी पावा मगध मे थी और यह दोनो पावाओ के मध्य मे थी। पहली पावा इसके आग्नेय कोण मे और दूसरी इसके वायव्य कोण में लगभग समदूरी पर थी। इसी कारण यह तीसरी पावा मध्यमा पावा कहलाती थी।

श्वेताम्बर आगमो के अनुसार महावीर पावा मे दो बार पधारे थे। प्रथम बार जृभिक ग्राम मे केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अगले ही दिन यहाँ पधारे। यह जृम्भिक ग्राम से बारह योजन दूर थी। उन दिनो मध्यम पावा मे आर्य सोमिल बडा भारी यज्ञ कर रहा था। उसमे अनेक विद्वान सम्मिलित हुए थे। उन्हे सम्बोधित करने महावीर जृम्भिक ग्राम से चलकर एक दिन रात में पावा पहुँचे। वैशाख शुक्ला १० को जृम्भिक ग्राम में समवसरण लगा और वैशाख शुक्ला ११ को मध्यमा पावा के महासेन उद्यान में दूसरा समवसरण लगा। इसमें इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान अपने ४४०० शिष्यों के साथ भगवान से शास्त्रार्थ करने पहुँचे। किन्तु वहाँ पहुंचते ही वे भगवान के शिष्य बन गये। इस प्रकार प्रथम दिन ही भगवान के ४४११ शिष्य बने। इसी दिन महावीर ने मध्यमा पावा के महासेन उद्यान में चतुर्विध सघ की स्थापना की।

दूसरी बार महावीर चम्पा से बिहार कर मध्यमा पावा पहुंचे। इस वर्ष का वर्षावास हस्तिपाल राजा की रज्जुगशाला में किया और यही उनका निर्वाण हुआ।

श्वेताम्बर ग्रन्थों के इस विवरण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जृम्भिक ग्राम से पावा की दूरी इतनी होनी चाहिए, जिसे एक दिन में पूरा करके पावा पहुँचा जा सके। जृम्भिक (वर्तमान जमुई) से वर्तमान पावापुरी की दूरी लगभग ५०-६० मील के लगभग है।

महावीर के बिहार का जो वर्णन श्वेताम्बर आगमो में मिलता है, उसके अनुसार वे चम्पा में चातुर्मास पूर्ण करके जृम्भिक गाव पहुँचे। वहाँ से मेढिय, छम्माणि होते हुए मध्यमा पावा पहुँचे। वहाँ से राजगृह गये। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मध्यमा पावा चम्पा और राजगृह के मध्य मे अवस्थित थी।

इन विवरणो से यह सिद्ध होता है कि पटना जिले की वर्तमान पावापुरी ही महावीर का निर्वाण स्थान है। वही मध्यमा पावा है।

पावा की स्थिति इतनी स्पष्ट है कि जिसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नही है। किन्तु कुछ वर्षों से कुछ जैनेतर और जैन विद्वान् जैन शास्त्रो के उक्त दृष्टिकोण की विलकुल उपेक्षा करके केवल बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित मल्लों को पावा को ही एक मात्र पावा मान बैठे हैं, जहाँ म० बुद्ध को कर्मारपुत्र चुन्द ने सूकरमद्दव भोजन मे दिया था और जिसे खा कर बुद्ध को रक्तातिसार हो गया और यही रोग उनके लिए साधातिक सिद्ध हुआ। म० बुद्ध के साथ घटित इतनी बडी घटना के कारण मल्लो की इस पावा को बडी ख्याति मिली। इस ख्याति और बौद्ध ग्रन्थो से प्रभावित अनेक विद्वानो ने जैन शास्त्रो की उपेक्षा करके मल्लो की पावा को ही महावीर का निर्वाण स्थान कहना प्रारम्भ कर दिया। हमें आश्चर्य है कि कुछ जैन विद्वान भी उनके दृष्टिकोण से प्रभावित हो गये।

विद्वानो के समक्ष हम कुछ तर्क उपस्थित करते है। आशा है, वे उन पर विचार करके अपना मत निश्चित करेंगे —

१ जैन शास्त्रो मे किसी स्थान पर महावीर का निर्वाण मल्लो की पावा में नही बताया।

२ बौद्ध ग्रन्थो मे जब-जब पावा मे म० बुद्ध की चारिका का वर्णन आया है, सर्वत्र उसको मल्लों की पावा बताया है। किन्तु निग्गठ नातपुत्त के कालकवलित होने की जहाँ भी चर्चा आई है, वहाँ केवल पावा ही दिया है, एक भी स्थान पर मल्लो की पावा नही दिया। आखिर क्यो ?

३ जैन शास्त्रो मे महावीर के निर्वाण प्रसग मे उल्लेख मिलता है कि उस समय नौ मल्ल राजा और लिच्छवी राजा भगवान के निर्वाणोत्सव मे सम्मिलित हुए थे। इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर का निर्वाण मल्ल सघ और लिच्छवी सघ से बाहर कही हुआ था। यदि उनका निर्वाण मल्लो की पावा में हुआ होता तो मल्ल राजाओ के उल्लेख की आवश्यकता न पडती। उल्लेख बाहर वालो का किया जाता है, स्थानीय लोगों का नही।

४ जैन शास्त्रो मे महावीर के निर्वाण स्थान का नाम मध्यमा पावा दिया है। यह पावा अन्य दो पावाओ के मध्य मे थी, इसलिए मध्यमा पावा कहलाती थी। वर्तमान पावापुरी की स्थिति मध्यमा पावा की बन सकती है। क्योकि उसके एक ओर भगिजनपद की पावा थी, दूसरी ओर मल्लो की पावा थी। किन्तु सठियाव (मल्लो की पावा) मध्यमा पावा नही बन सकती। वह तो एक ओर पड जाती है।

५ जैन शास्त्रो मे महावीर का जो बिहार-क्रम दिया है, उसके अनुसार मध्यमा पावा चम्पा और राजगृही के मध्य मे थी। वर्तमान पावापुरी भी चम्पा और राजगृही के मध्य मे पडती है, मल्लो की पावा नही।

इन तर्कों के प्रकाश मे पावापुरी ही भगवान महावीर का निर्वाणस्थान सिद्ध होती है। हमें एक बात बहुत स्पष्टतया समझ लेनी चाहिए। (महावीर के सम्बन्ध मे कोई निर्णय करते समय जैन शास्त्रो को ही प्रमाण स्वरूप मानना है, न कि बौद्ध ग्रन्थो को क्योकि बौद्ध ग्रन्थो मे महावीर के सम्बन्ध मे जो वर्णन किया गया है, वह अप्रामाणिक, इतिहास विरुद्ध और साम्प्रदायिक द्वेष से प्रेरित है।) उदाहरण के लिए जैसे बुद्ध की प्रशसा सुनकर मुह से रक्तवमन करना और उसी में नालन्दा में उनकी मृत्यु होना लिखा है, जो कि स्वीकार्य नही हो सकता। इसी प्रकार महावीर की मृत्यु के तत्काल बाद दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप मे जैनो का सघ-भेद होना और उनका परस्पर विग्रह करना यह सब इतिहासविरुद्ध है। साम्प्रदायिक विद्वेष में इससे बडा उदाहरण इतिहास मे नही मिल सकता, जब चुन्द द्वारा महावीर की मृत्यु का समाचार सुनकर आनन्द इस समाचार को तथागत के लिए भेट स्वरूप कहते है।

हम यहाँ उन सभावनाओं का भी स्पष्टीकरण करना उचित समझते है, जो पावापुरी को महावीर का निर्वाण-स्थान मानने में उठ सकती हैं अथवा उठाई जाती हैं। संभावनाए निम्नलिखित हो सकती है—

१. मल्ल और लिच्छवो मगध राज्य के शत्रु थे। वे शत्रु देश मगध में किस प्रकार आ सकते थे ?

२ पावा राजगृही के बिलकुल निकट है। तब वहाँ हस्तिपाल राजा कैसे हो सकता था ?

३ पावापुरी में पुरातत्व सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध नही होती।

४ मगधवासी होने पर भी अजातशत्रु मगधराज्य में स्थित पावा में महावीर के निर्वाणोत्सव में क्यों सम्मिलित नहीं हुआ।

इन संभावनाओं अथवा शंकाओं का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. मल्ल और लिच्छवी संघ मगध साम्राज्य के शत्र देश थे, यह सत्य है। श्रेणिक विम्बसार ने एक बार वैशाली पर आक्रमण भी किया था और वह उस अभियान में असफल हुआ था। किन्तु शत्रुता इस सीमा तक नही थी कि दोनों ओर के नागरिकों का एक दूसरे प्रदेश में जाना-आना वर्जित हो। पाटलिग्राम में दोनो देशो का सम्मिलित व्यापार था। सीही में आधे भाग में वज्जि संघ का शासन था और आधे भाग पर मगध का। दोनो ओर के नागरिक एक दूसरे के प्रदेश में निर्बाध आते जाते थे। श्रेणिक के काल में युद्ध-काल को छोडकर शान्ति-काल में सम्बन्ध सामान्य थे। दोनो देशो मे शत्रुता हुई अजातशत्रु के काल मे और वह भी हल्ल, विहल्ल द्वारा भाग कर वैशाली में शरण लेने और अजातशत्रु द्वारा उन्हे सचेनक हाथी और रत्नहार समेत वापिस भेजने की माग को वैशाली के गणपति चेटक द्वारा ठुकराये जाने पर। निर्वाण के समय श्रेणिक का शासन था, न कि अजातशत्रु का।

२ श्रेणिक विम्बसार के राज्य मे ८०००० गाव थे। प्रत्येक गाव का जमीदार ही राजा कहलाता था। हस्तिपाल भी ऐसा ही कोई करद राजा रहा होगा। अत· राजगृही के निकट हस्तिपाल राजा के होने मे कोई बाधा नही है।

३. पावापुरी में पुरातत्व सामग्री की कोई कमी नही है। वहाँ का जल मन्दिर और गाव का मन्दिर ही इसके प्रमाण है। जल मन्दिर मे जब सगमरमर के पत्थर लगाये जा रहे थे तो मन्दिर की दीवालो मे पन्द्रह इच से बडी ईंटे मिली। ऐसा प्रत्यक्षदर्शियो का कथन है। इतनी बडी ईंटे गुप्तकाल या इसमे पूर्व काल मे प्रयुक्त होती थी। इससे तो प्रतीत होता है कि यह मन्दिर गुप्तकाल या उससे भी पूर्ववर्ती है। इसी प्रकार गाव के मन्दिर की मरम्मत के समय खुदाई मे एक प्राचीन मन्दिर का अवशेष मिला था। वह पर्याप्त प्राचीन लगता है। इन दोनो मन्दिरो के सम्बन्ध मे जानकारी रखने वाले प्रत्यक्षदर्शी अब भी मिल सकते है।

इनके अतिरिक्त दिगम्बर जैन मन्दिर मे चार मूर्तियाँ विराजमान है जो आठवी शताब्दी की अनुमान की जाती हैं। ये मूर्तियाँ वर्तमान पावा के बाहर पड़ी हुई थी। वहाँ से लाई गई थी, ऐसा ज्ञात हुआ। मुझे इस स्थान की अपनी शोध-यात्रा मे यह भी ज्ञात हुआ कि वहाँ अनेक जैन मूर्तियाँ थी। उनमे से कुछ बेच दी गई और कुछ को लोग उठा ले गये और गावो मे कही किसी पीपल के नीचे विराजमान करके विभिन्न नामो से पूजी जा रही है। लगता है, पावा पुरी के निकट प्राचीन काल मे जैन मन्दिर थे। उन्ही मन्दिरो की ये मूर्तियाँ है।

कुछ ऐसे यात्रा-विवरण मिलते है, जिनमे सिद्ध होता है कि ७-८ वी शताब्दी मे जैन सघ यहा यात्रा करने आते रहे है। इससे इस क्षेत्र की प्राचीनता मे कोई सन्देह नही रह जाता।

दूसरी ओर सठियाव मे आजतक एक भी जैन मूर्ति, शिलालेख अथवा जैन मन्दिरो के कोई चिन्ह तक नही मिले। जो लोग सभावना पर जी रहे है, उन्हे निराशा भी हाथ लग सकती है। सभावना निश्चय-अनिश्चय रूप द्विमुखी होती है।

४. भगवान महावीर के निर्वाण के समय तत्कालीन शासक श्रेणिक विम्बसार पावा में उपस्थित थे और उन्होने जनसमूह के साथ इस महोत्सव में भाग लिया था, इस प्रकार का उल्लेख हरिवंश पुराण ६६/२० में मिलता है। हरिषेण कृत वृहत्कथाकोष के अनुसार श्रेणिक की मृत्यु महावीर-निर्वाण के पश्चात् हुई थी।

इस प्रकार ऐतिहासिक और शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वर्तमान पावापुरी ही महावीर की निर्वाण-भूमि है।

परिशिष्ट

तीथकरों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बात

	तीर्थंकर नाम	चिन्ह	वर्ण	पिता का नाम	माता का नाम	जन्म नगरी	अवगाहना	वंश
१	ऋषभदेव	वृषभ	स्वर्ण	नाभिराय	मरुदेवी	अयोध्या	५०० धनुष	इक्ष्वाकु
२.	अजितनाथ	गज	"	जितशत्रु	विजया	"	४५० "	"
३.	सभवनाथ	अश्व	"	जितारि	सुसेना	श्रावस्ती	४०० "	"
४.	अभिनन्दननाथ	बन्दर	"	सवर	सिद्धार्था	अयोध्या	३५० "	"
५	सुमतिनाथ	चकवा	"	मेघप्रभ	मगला	"	३०० "	"
६	पद्मप्रभ	कमल	रक्त	धरण	सुसीमा	कौशाम्बी	२५० "	"
७.	सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक	हरित	सुप्रतिष्ठ	पृथिवी	वाराणसी	२०० "	"
८	चन्द्रप्रभ	अर्धचन्द्र	धवल	महासेन	लक्ष्मीमती	चन्द्रपुरी	१५० "	"
९.	पुष्पदन्त	मगर	"	सुग्रीव	रामा	काकन्दी	१०० "	"
१०.	शीतलनाथ	श्रीवृक्ष	स्वर्ण	दृढरथ	नन्दा	भद्दलपुर	९० "	"
११.	श्रेयान्सनाथ	गेंडा	"	विष्णु	वेणुदेवी	सिंहपुरी	८० "	"
१२.	वासुपूज्य	भेसा	रक्त	वसुपूज्य	विजया	चम्पा	७० "	"
१३.	विमलनाथ	शूकर	स्वर्ण	कृतवर्मा	जयश्यामा	कपिला	६० "	"
१४	अनन्तनाथ	सेही	"	सिंहसेन	सर्वयशा	अयोध्या	५० "	"
१५.	धर्मनाथ	बज्र	"	भानु	सुव्रता	रत्नपुर	४५ "	कुरु
१६.	शान्तिनाथ	हरिण	"	विश्वसेन	ऐरा	हस्तिनापुर	४० "	इक्ष्वाकु
१७.	कुन्थुनाथ	बकरा	"	सूर्यसेन	श्रीमतीदेवी	"	३५ "	कुरु
१८.	अरनाथ	मत्स्य	"	सुदर्शन	मित्रा	"	३० "	"
१९.	मल्लिनाथ	कलश	"	कुम्भ	प्रभावती	मिथिलापुरी	२५ "	इक्ष्वाकु
२०.	मुनिसुव्रतनाथ	कूर्म	नील	सुमित्र	पद्मा	राजगृह	२० "	यादव
२१.	नमिनाथ	नीलकमल	स्वर्ण	विजय	वप्रिला	मिथिलापुरी	१५ "	इक्ष्वाकु
२२.	नेमिनाथ	शख	नील	समुद्रविजय	शिवदेवी	शौरीपुर	१० "	यादव
२३.	पार्श्वनाथ	सर्प	हरित	अश्वसेन	वर्मिला	वाराणसी	९ हाथ	उग्र
२४.	महावीर	सिंह	स्वर्ण	सिद्धार्थ	प्रियकारिणी	कुण्डलपुर	७ हाथ	ना

तीर्थंकरों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें

क्र०सं०	तीर्थंकर-नाम	आयु	छद्मस्थकाल	गणधर संख्या	मुनि संख्या	आर्यिकाओ की संख्या	तीर्थंकरो का बोधिवृक्ष	यक्ष	यक्षिणी
१.	ऋषभदेव	८४ लाख वर्ष पूर्व	१००० वर्ष	८४	८४०००	३५००००	वट वृक्ष	गोमुख	चक्रेश्वरी
२.	अजितनाथ	७२ " "	१२ वर्ष	९०	१०००००	३२००००	सप्तपर्ण	महायक्ष	रोहिणी
३.	संभवनाथ	६० " "	१४ वर्ष	१०५	२०००००	३२००००	शालवृक्ष	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
४.	अभिनन्दननाथ	५० " "	१८ वर्ष	१०३	३०००००	३३०६००	सरलवृक्ष	यक्षेश्वर	वज्रशृंखला
५.	सुमतिनाथ	४० " "	२० वर्ष	११६	३२००००	३३०४००	प्रियगु	तुम्बुरव	वज्रांकुशा
६.	पद्मप्रभु	३० " "	६ मास	११०	३३००००	४२००००	प्रियगु	मातग	अप्रतिचक्रेश्वरी
७.	सुपार्श्वनाथ	२० " "	९ वर्ष	९५	३०००००	३३०४००	शिरीष	विजय	पुरुषदत्ता
८.	चन्द्रप्रभ	१० " "	३ मास	९३	२५००००	३८००००	नागवृक्ष	अजित	मनोवेगा
९	पुष्पदन्त	२ " "	४ वर्ष	८८	२०००००	३८००००	नागवृक्ष	ब्रह्म	काली
१०.	शीतलनाथ	१ " "	३ वर्ष	८१	१०००००	३८००००	बेल	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
११.	श्रेयान्सनाथ	८४ लाख वर्ष	२ वर्ष	७७	८४०००	१२००००	तुबर	कुमार	महाकाली
१२	वासुपूज्य	७२ " "	१ वर्ष	६६	७२०००	१०६०००	कदम्ब	षण्मुख	गौरी
१३	विमलनाथ	६० " "	३ वर्ष	५५	६८०००	१०३०००	जम्बू	पाताल	गान्धारी
१४.	अनन्तनाथ	३० " "	२ वर्ष	५०	६६०००	१०८०००	पीपल	किन्नर	वैरोटी
१५.	धर्मनाथ	१० " "	१ वर्ष	४३	६४०००	६२४००	दधिपर्ण	किंपुरुष	सोलसाअनतमती
१६.	शान्तिनाथ	१ " "	१६ वर्ष	३६	६२०००	६०३००	नद्यावर्त	गरुड़	मानसी
१७.	कुन्थुनाथ	९५ हजार वर्ष	१६ वर्ष	३५	६००००	६०३५०	तिलक	गधर्व	महामानसी
१८.	अरहनाथ	८४ " "	१६ वर्ष	३०	५००००	६००००	आम्र	कुवेर	जया
१९.	मल्लिनाथ	५५ " "	६ दिन	२८	४००००	५५०००	अशोक	वरुण	विजया
२०.	मुनिसुव्रतनाथ	३० " "	११ मास	१८	३००००	५००००	चम्पक	भृकुटि	अपराजिता
२१.	नमिनाथ	१० " "	९ मास	१७	२००००	४५०००	बकुल	गोमेध	बहुरूपिणी
२२.	नेमिनाथ	१ " "	५६ दिन	११	१८०००	४००००	देवदार	पार्श्व	कूष्माण्डी
२३.	पार्श्वनाथ	१०० वर्ष	४ मास	१०	१६०००	३६०००	देवदार	मातग	पद्मा
२४.	महावीर	७२ वर्ष	१२ वर्ष	११	१४०००	३६०००	शाल	गुह्यक	सिद्धायिनी

तीर्थंकरो को शुद्ध पञ्चकल्याणक तिथियां और नक्षत्र

	तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष	नक्षत्र
१.	ऋषभदेव	आषाढ कृ० २	चैत्र कृ० ९	चैत्र कृ० ९	फाल्गुन कृ० ११	माघ कृ० १४	उत्तराषाढ़
२.	अजिततनाथ	ज्येष्ठ कृ० ३०	माघ शु० १०	माघ शु० ९	पौष शु० ११	चैत्र शु० ४	रोहिणी
३.	संभवनाथ	फाल्गुन शु० ८	कार्तिक शु० १५	मा० शी० शु०१५	कार्तिक कृ० ४	चैत्र शु० ६	मृगशिरा
४	अभिनन्दननाथ	वैशाख शु० ६	माघ शु० १२	माघ शु० १२	पौष शु० १४	वैशाख शु० ६	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	श्रावण शु० २	चैत्र शु० ११	वैशाख शु० ९	चैत्र शु० ११	चैत्र शु० ११	मघा
६	पद्मप्रभु	माघ कृ० ६	कार्तिक कृ० १३	कार्तिक कृ० १३	चैत्र शु० १५	फाल्गुन कृ० ४	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद शु० ६	ज्येष्ठ शु० १२	ज्येष्ठ शु० १२	फाल्गुन कृ० ६	फाल्गुन कृ० ७	विशाखा
८.	चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ० ५	पौष कृ० ११	पौष कृ० ११	फाल्गुन कृ० ७	फाल्गुन कृ० ७	अनुराधा
९.	पुष्पदन्त	फाल्गुन कृ० ९	मा० शी० शु० १	मा० शी० शु० १	कार्तिक शु० २	भाद्रपद शु० ८	मूल
१०	शीतलनाथ	चैत्र कृ० ८	माघ कृ० १२	माघ कृ० १२	पौष कृ० १४	आश्विन शु० ८	पूर्वाषाढ
११.	श्रेयान्सनाथ	ज्येष्ठ कृ० ६	फाल्गुन कृ० ११	फाल्गुन कृ० ११	माघ कृ० ३०	श्रावण शु० १५	श्रवण
१२	वासुपूज्य	आषाढ कृ० ६	फाल्गुन कृ० १४	फाल्गुन कृ० १४	माघ शु० २	भाद्र० शु० १४	शतभिषा
१३	विमलनाथ	ज्येष्ठ कृ० १०	माघ शु० ४	माघ शु० ४	माघ शु० ६	आषाढ कृ० ८	उत्तरा भाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	कार्तिक कृ० १	ज्येष्ठ कृ० १२	ज्येष्ठ कृ० १२	चैत्र कृ० ३०	चैत्र कृ० ३०	रेवती
१५	धर्मनाथ	वैशाखकृ० १३	माघ शु० १३	माघ शु० १३	पौष शु० १५	ज्येष्ठ शु० ४	पुष्य
		रेवती					
१६	शान्तिनाथ	भाद्रपद कृ० ७	ज्येष्ठ कृ० १४	ज्येष्ठ कृ० १४	पौष शु० १०	ज्येष्ठ कृ० १४	भरणी
१७.	कुन्थुनाथ	श्रावण कृ० १०	वैशाख शु० १	वैशाख शु० १	चैत्र शु० ३	वैशाख शु० १	कृत्तिका
१८	अरनाथ	फाल्गुन शु० ३	मा०शी० शु० १४	मा० शी० शु०१०	कार्तिक शु०१२	चैत्र कृ० ३०	रेवती
१९.	मल्लिनाथ	चैत्र शु० १	मा० शी० शु०११	मा० शी० शु०११	पौष कृ० २	फाल्गुन शु० ५	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रतनाथ	श्रावण कृ० २	वैशाख कृ० १०	वैशाख कृ० १०	वैशाख कृ० ९	फाल्गुन कृ० १२	श्रवण
२१	नमिनाथ	आश्विन कृ० २	आषाढ कृ० १०	आषाढ कृ० १०	मा०शी० शु०१	वैशाख कृ० १४	अश्विनी
२२.	नेमिनाथ	कार्तिक शु० ६	श्रावण शु० ६	श्रावण शु० ६	आश्विन शु० १	आषाढ़ शु० ७	चित्रा
		उत्तरा					
२३	पार्श्वनाथ	वैशाख कृ० २	पौष कृ० ११	पौष कृ० ११	चैत्र कृ० ४	श्रावण शु० ७	विशाखा
२४	महावीर	आषाढ़ शु० ६	चैत्र शु० १३	मा० शी०कृ०१०	वैशाख शु० १०	कार्तिक कृ० १४	उत्तरा फाल्गुनी
						स्वाति ३०	

लोहानीपुर मे प्राप्त मौर्यकालीन मूर्ति का सिर पटना सग्रहालय मे सुरक्षित
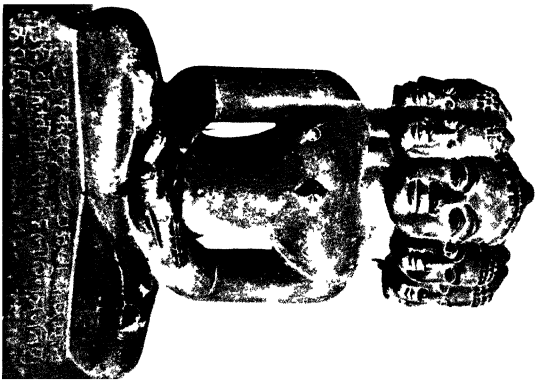
मौयकालीन यक्षिणी मूर्ति

पटना सग्रहालय

भगवान चन्द्रप्रभ की सप्तमुख वाली अदभुत मूर्ति । सप्त मख सप्त भगी अथवा सप्तनय के प्रतीक है ।

—अल्बट एण्ड विक्टोरिया म्यूजियम लन्दन

कुषाण कालीन तीर्थकर मूर्ति

मथुरा संग्रहालय

अभिलिखित जैन आयागपट्ट मथुरा

—कुषाण काल

तीथकर चन्द्रप्रभ प्रयाग सग्रहालय

काल—छठी शताब्दी

वैभारगिरि (राजगृही) मे उ खनन से प्राप्त पाश्वनाथ भगवान की मूर्ति

—८वी शताब्द

देवगढ के मन्दिर न० १२ की भीतरी दीवाल मे लगी हुई तीर्थकर प्रतिमाये

वटेश्वर (शौरीपुर) मे भगवान अजितनाथ की अत्यन्त भव्य मूर्ति

हस्तिनापुर मन्दिर मे भगवान शान्तिनाथ की अभिलिखित मूर्ति
—१२वी शताब्दी

भगवान ऋषभदेव का यक्ष गोमुख
—झांसी
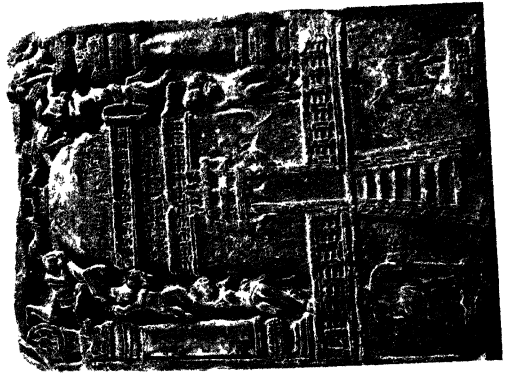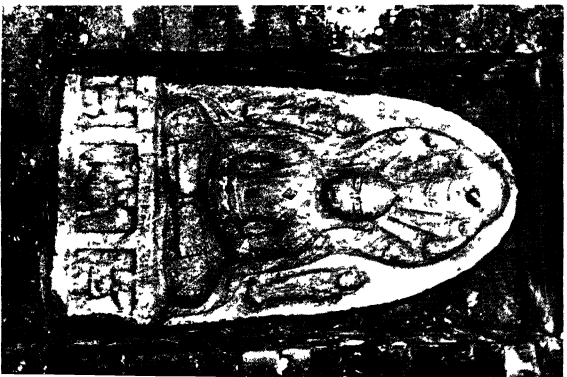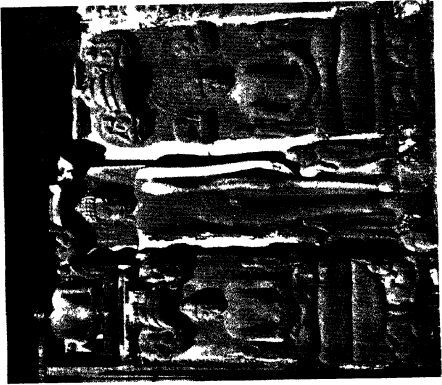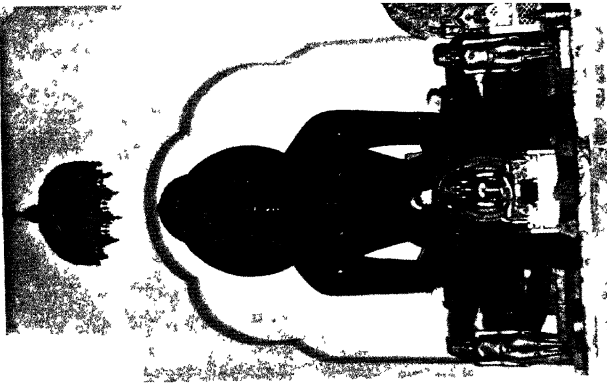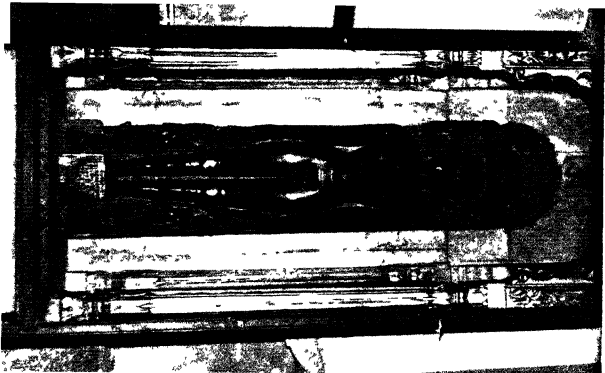
श्री महावीर जी के संग्रहालय में सुरक्षित एक कलापूर्ण मूर्ति

श्री दिगम्बर जैन मन्दिर पावापुरी मे लगभग ८वी शताब्दी की पार्श्वनाथ और चौबीसी की मूर्तियाँ

सीरौन से प्राप्त भगवान नमिनाथ के यक्ष-यक्षी सर्वाण्ह ग्रौर ग्रम्बिका । शीष पर नेमिनाथ विराजमान है

महोबा मे प्राप्त पदमावती देवा की सुन्दर मूर्ति

—काल ६वी शताब्दी